॥ श्रीः ॥

श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्य्यप्रणीतः

श्रीवैष्णवमताब्जभास्करः।

श्रीरामार्चनपद्धतिसहितः।

श्रीमद् अयोध्याजन्मस्थानवासरसिक श्रीयुत पं० रघुवरशरण
विरचितार्थप्रकाशिकाव्याख्यासमलङ्कृत.

सारण्यमण्डलांतर्गत 'सेमरीआ' नगरीयपीठाधीश्वर
श्रीमद्गङ्गादास पवहारिचरणशरण बलभद्रदास-
विरचितान्वयप्रकाशाख्य संस्कृत टीका-
भाषाटीकया समलङ्कृत.।

चतुःसम्प्रदायिवैष्णवधर्मसंरक्षणार्थानित्रयसंस्थापका चार्य्य
श्री १०८ श्रीयुतस्वामिबालानन्दजीमहाराज सिंहा-
सनासीन श्री १०८ श्रीयुतस्वामिरामकृष्णा
नन्दजीमहाराजैः प्रकाशितः।

श्री १०८ श्रीयुतस्वामिबालानन्दजीमहाराजसिंहासनासीन
श्री १०८ श्रीयुतस्वामिरामकृष्णानन्दजीमहाराजैराज्ञा
पितेनमिथिलामण्डलस्थै श्रीमद्गरीष्ठैर्महत्प्र-
वरैः प्रोत्साहितेनबलभद्रदासेन
सम्पादितः।

श्री बाबूनन्दनप्रसादप्रबन्धेन—
'सत्यनामाख्य' यन्त्रालये, काश्यां मुद्रितः।

* प्रमाणपत्र *

❁ श्रीसीतारामजी ❁

* तोनोंअनी के संस्थापक श्री १०८ स्वामी बालानन्दजी महाराज *

के.

सिंहासनासीन

श्री १०८ श्रीयुत् महन्तजी महाराज

जयपुर के मोहर सहित 'प्रमाणपत्र'



❁ श्रीमते रामानुजाय नमः ❁

विदित हो कि हमने श्रीरामानन्द स्वामी कृत श्रीवैष्णवमताब्ज-भास्कर और श्रीरामार्चनपद्धति इन दोनों ग्रन्थों को पण्डित श्रीराम शोभादासजी को लिख लेने की आज्ञा दिया मेरे सामने इनने उक्त ग्रन्थों को लिख लिया और मैंने अपनी मोहर भी उक्त ग्रन्थों के ऊपर लगा दिया है हमारे यहां का उक्त ग्रन्थ ३६४ वर्ष के लिखे हुए ग्रन्थ हैं-जिसको संशय हो सो मेरे पास आकर देख जायँ।

* मिती मार्ग शीर्ष ३ शुक्ल शनिवार श्रीसंवत् १९८५ वि० *

चतुःसम्प्रदाय-वैष्णवों के रक्षक-

तीनों अनी के संस्थापकाचार्य्य-



श्री १०८ स्वामी बालानन्दजी महाराज, जयपुर।

आवश्यक-निवेदन

एक तो अचार्यवर श्रीरामानन्दस्वामीजी के ये दोनों ग्रन्थ-रत्न ही 'गागर में सागर' के समान हैं, अर्थात् आकार-प्रकार की दृष्टि से महज छोटे होते हुए भी विषय की दृष्टि से परम विशाल एवं गम्भीर हैं, अतः इनका अध्ययन खूब विचार पूर्वक समझ समझ कर करना चाहिये; दूसरे, वर्त्तमान परिस्थिति मे कुछ दिनो से उलटी हवा बहजाने के कारण वास्तविक वस्तुस्थिति पर कुछ पर्दा सा पड़ गया है, जिससे कुछ लोगो को भ्रम हो गया और हो सकता है, उसका यहां 'प्रस्तुत-प्रसंग' के रूप में यथायोग्य पर्दाफाश किया गया है। इसमें नूतन-परम्परा-स्थापन से सम्बन्ध रखने वाले सभी मुख्य मुख्य विषयों की आलोचना कर सच्ची वस्तुस्थितियाँ दिखलायी गयी है, अतः विशेषरूप से प्रमाण-संग्रह एवं विवेचन होने के कारण अधिक स्थलो मे जटिलता एव शुष्कता अनिवार्य हो गयी है; इसलिये पाठको को चाहिये, कि कृपया वे सरपट न बाँच कर इसे भी ध्यान-पूर्वक ही पढ़ें। सब से उत्तम तो यह होगा, कि इसमें जिन जिन पुस्तको एवं विषयो की आलोचना की गयी है, उसको सामने रख कर मिलाते हुए ध्यान पूर्वक समग्र का अध्ययन करें, किन्तु जो इसके उचित--साधन एवं आवश्यक-धैर्य की न्यूनाधिक कमी के कारण वैसा करने में विवश हैं, उनको चाहिये, कि सूचीपत्र की सहायता से यथायोग्य आवश्यक-विषय निकाल कर उसी का ध्यान पूर्वक अध्ययन करें। आशा है, पाठक-महानुभाव मेरे इस विनीत-भार को अनिवार्य समझ कर स्वीकार करते हुए मेरी इस धृष्टता के लिये मुझे क्षमा प्रदान करेंगे। इत्यलम्।

बलभद्र दास।

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमतेरामानुजायनमः

श्रीमतेरामानन्दायनमः

प्रकाशकीय-वक्तव्य

प्रिय बन्धुओ !

जिस समय श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवों में नयी-परम्परा सम्बन्धी आवाज उठी, और एक दल ने यह प्रचार शुरू किया, कि हमारा सम्प्रदाय श्रीरामानुजस्वामीजी के सम्प्रदाय से सर्वथा भिन्न है, उस समय मेरी आश्चर्य दृष्टि भी उस पर पड़ी। मैने विचार किया, कि श्रीरामानन्दस्वामी जीके बनाये हुए ग्रन्थों—श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर और श्रीरामार्चनपद्धति—मे गुरु-परम्परा-सम्बन्धी स्पष्ट-परिचय के होते हुए भी स्वयं उनके ही सम्बन्ध में इस मिथ्या-भ्रम के फैलने का यही कारण है, कि इन ग्रन्थों के संस्कृत में होने से सम्प्रदाय मे इनका यथेष्ट-प्रचार नही है। यदि इनका यथायोग्य प्रचार रहा होता, तो इसमें परम्परा-सम्बन्धी ऐसे उत्तम स्पष्टीकरण के होते हुए इस मिथ्या-भ्रम के फैलने की गुञ्जाइश ही नही होती; परन्तु इनकी अनभिज्ञता और अप्रचार के कारण इस भ्रम का क्रमशः विकाश होता गया, अतः मेरी इच्छा हुई कि आचार्यकृत इन ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन और वितरण किया जाय, ताकि उपर्युक्त-भ्रम का मार्जन हो सके।

यद्यपि मेरे यहाँ की वर्तमान-प्रचलित-परम्परा में श्रीरामार्चनपद्धति की परम्परा से आचार्यों के नामो मे न्यूनाधिकता है, फिर भी दोनों एक ही हैं; अर्थात् श्रीजी से प्रारम्भ होकर श्रीरामानुज स्वामीजी से होते हुए श्रीरामानन्द स्वामीजी तक आती हैं, पुनः मेरे यहाँ की परम्परा में पीछे के आचार्यो की नामावली भी सम्मिलित हुई है। मेरे स्थान में जो आज कल दोहाबद्ध परम्परा प्रचलित है, वह सम्वत् १८८० वि० की लिखी हुई है। विचार करने से इसके निर्माण के दो कारण प्रतीत होते हैं; एक तो सर्व साधारण में संस्कृत की अनभिज्ञता बढ़ जाने से भाषाबद्ध परम्परा ही समझने में अधिक सुलभ हुई, दूसरे श्रीरामानन्दस्वामीजी के बाद के आचार्यों की नामावली भी सम्मिलित हो गयी। यही कारण है, कि तब से स्थान में इसी का प्रचार रहा और श्रीरामार्चनपद्धति की परंपरा दब सी गयी। यद्यपि अन्यदृष्टियो से फिरभी ये दोनों ग्रन्थ अत्यन्त महत्व पूर्ण है, किन्तु, संस्कृत में होने के कारण इनके पठन-पाठन का अभाव हो गया

और ये केवल पुस्तकालय में रखे रहे। मेरे यहाँ की दोहाबद्ध-परम्परा में श्रीरामार्चनपद्धति की परम्परा से श्रीरामानन्दस्वामीजी के पूर्व के आचार्यों के नामो में अधिकता है, इससे ज्ञात होता है, कि श्रीरामार्चन पद्धति में संक्षिप्त परम्परा दी हुई है, अतः दोहाबद्ध-परम्परा बनते समय किसी प्रामाणिक-आधार की उपस्थिति होने पर ये नाम सम्मिलित किये गये। फिरभी प्रामाणिकता की दृष्टि से श्रीरामार्चन पद्धति की परम्परा ही प्रथम-मान्य समझी जानी चाहिये, क्योकि एक तो यह स्वयं श्रीरामानन्द स्वामीजी कृत है, दूसरे इसकी प्रति भी बहुत प्राचीन सं० १६२१ वि० की लिखी हुई मौजूद है, जो दूसरी परम्परा के निम्र्माण काल से भी बहुत पहले की है।

मैं आचार्यवर्य के उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों के प्रचार की चिन्ता में था ही, कि पं० रामशोभादासजी मेरे यहाँ के इन प्राचीन हस्त लिखित ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने के लिये आये, और मार्गशीर्ष शुक्ल ३ शनिवार सं० १६८५ वि० को प्रतिलिपि ग्रन्थ समाप्त हो जाने पर मैंने उस पर अपनी मोहर कर दी। पुनः मुझसे इनके प्रकाशन के लिये अनुरोध किया गया और मैंने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया, क्योकि एक तो यह स्वयं मेरा कर्तव्य था, दूसरे मेरी इच्छा भी हो ही रही थी। इसका सम्पादन कार्य पं० बलभद्रदासजी को सौंपा गया था। इनकी इच्छा हुई कि उपलब्ध सभी प्रतियो मे प्राचीन रहने से प्रामाणिक होने के कारण मूल ग्रन्थ तो मेरे यहाँ की प्रति के अनुसार और हिन्दी अनुवाद भी रहेगा ही, परन्तु इसके ऊपर अयोध्या जन्म-स्थान निवासी पं० रघुवर शरणजी कृत अर्थ-प्रकाशिका नाम की बहुत उत्तम टीका है, वह भी सम्मिलित कर लेना बहुत अच्छा होगा, जिसमें सर्वसाधारण और विद्वान् दोनों का यथायोग्य उपकार हो और इससे प्रचार में त्रुटि नहीं, अधिकता ही होगी। मुझे भी यह राय अच्छी जँची और अर्थ-प्रकाशिका-टीका भी सम्मिलित की गयी।

मेरे विचार में इन ग्रन्थों के प्रचार मे दो अड़चनें थीं, एक तो संस्कृत में होने से वर्तमान परिस्थिति में सर्व साधारण के उपकार योग्य न होना, दूसरे विरक्त होने के कारण महात्माओं में धन के अभाव से, ऐसे धार्म्मिक ग्रन्थों को भी क़ीमत पर बेचे जाने के कारण उन्हें खरीदने में असमर्थ रहना, अतः मैंने इसे हिन्दी अनुवाद से युक्त और अमूल्य ही प्रकाशन करना उचित समझा। यद्यपि आजकल के व्यापारिक-युग में सभी क्षेत्रों में व्यापार का दौरदौरा तो है ही, किन्तु धार्म्मिक क्षेत्र भी उसके असर से वंचित नहीं रहने पाया। धर्म-सेवा के नाम पर पुस्तकें लिख

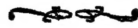
और प्रकाशित कर कीमत पर बेची जाती और इस तरह धन-संग्रह का प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न मार्ग खोला जाता है, ऐसी अवस्था में विरक्त महात्माओं को उससे प्रायः वञ्चित रह जाना पड़ता है, जिससे धार्म्मिक और साम्प्रदायिक ग्रन्थो का वास्तविक प्रचार नही हो पाता और इससे समाज में धार्मिक और साम्प्रदायिक अज्ञानता घुसने की समाई बनी रहती और घुसती भी है। अतः आशा है, कि इस अमूल्य प्रकाशन से बहुत कुछ उपकार भी होगा, और दूसरे महानुभाव भी इस प्रकार समाज की अमूल्य सेवा कर उन्नति में सहायक होगे।

अन्त मे मैं उन महानुभावो को कृतज्ञता पूर्वक धन्यवाद देता हूँ, जिनसे साक्षात् या परम्परया इन ग्रन्थों के प्रकाशन में सहायता मिली है। सब से पहले मिथिला मण्डल के महन्तों को धन्यवाद देता हूँ, जिन की प्रेरणा, परामर्श और आर्थिक-सहायता से इसका प्रकाशन-कार्य शीघ्र अग्रसर हो सका। पुन. प० बलभद्रदासजी को भी मै नहीं भूल सकता, जिन्होंने इसके सम्पादन, संस्कृत अन्वय और हिन्दी अनुवाद लिखने का भार अपने ऊपर लिया और भयंकर-अस्वस्थता से जूझते हुए भी इसे पूरा ही करके छोड़ा। पुनः प० राम शोभादासजी भी नहो भुलाये जा सकते, क्योकि सबसे प्रथम इन्होंने ही प्रचार की दृष्टि से इसकी प्रति लिपि की थी, प्रकाशन के लिये आन्दोलन किया, और उसी प्रतिलिपि के द्वारा इसका सम्पादन-प्रकाशन हुआ। इसके अतिरिक्त और भी जिन जिन महाशयो से इसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष सहायता मिली है मैं हृदय से उनका कृतज्ञ हूँ और जो सद्बुद्धि, विचार और श्रद्धा पूर्वक इसे अध्ययन और मनन कर अपनावेंगे, उनका भी हृदय से कृतज्ञ होऊँगा।

❀ अथ ❀

श्रीवैष्णवताब्ज-भास्करस्य

सूचीपत्रम्





प्रस्तावना-सूची



प्रस्तुत-प्रसंग

विषय-सूची





श्रीः ।

प्रस्तावना ।



श्रीरामजी की लीला विभूतिमें कभी २ प्राकृतिक-विकार जन्य वायुकी प्रवलवेगमय ताड़नासे शान्त-गम्भीर-समुद्रमें भी घात प्रतिघात उत्पन्न होकर तूफान आजाता; और स्वच्छ शन्ति आनन्द मय पृथ्वी पर भी, वही, आँधी-बवण्डर का रूप धारणकर, धूल-गर्दासे सब दिशाओ को भर, मलीन बना, उद्वेग विह्वलता एवं अशान्ति से पूरितकर हाहाकार मचा देता है। यद्यपि इसका प्रवाह बहुत दिनों तक नहीं टिकता—थोड़े समय के लिये आता और चला जाता है फिर भी, वह समय के वक्षस्थल पर अपनी छाप सदाके लिये छोड़ ही जाता है, कितने सम्पत्ति और आदमियों से भरे जहाज सागर गर्भ में डूबकर चौपट होजाते, हरीभरी वाग, वाटिका, वन-उपवन नष्ट-भ्रष्ट हो जाते और कितने सजे-सजाये घर भी उजड़ जाते हैं। समय की चाल पर नजर डालने से सहज ही देख पड़ता है कि, इसी तरह का तूफान और आँधी बवण्डर समाज, नीति और धार्मिकादि क्षेत्रों में भी, समय समय पर आता रहता है।

आवश्यकता वश यहाँ धार्मिक क्षेत्र के विषय में कुछ अधिक स्पष्टता पूर्वक कहने की चेष्टा करूँगा। तात्पर्य यह कि अन्य क्षेत्रों की भाँति धार्म्मिक क्षेत्र में भी कारण विशेषवस समय समय पर इस प्रकारका तूफान और आँधी बवण्डर उठता रहता है, और वह कुछ समय तक हलचल मचा, कोई खास परिस्थिति उत्पन्न कर चला जाता है, इसे धार्म्मिक क्षेत्र का प्राकृतिक-विकार कह सकते हैं। जिस तरह अन्यक्षेत्रों में इस तरह के तूफान और आँधी बवण्डर से बचने के भिन्न भिन्न उद्योग एवं यत्न किये जाते हैं, उसी तरह धार्म्मिक क्षेत्र में भी ऋषि-मुनि, साधु-महात्मा एवं गुरु आचार्यों द्वारा समय समय पर इस प्रकार के उपद्रव से बचने के लिये भिन्न भिन्न उद्योग हुए है, और तज्जन्य परिस्थिति सुव्यवस्थितता आकर शान्ति भी स्थापित हुई है। भिन्न भिन्न स्मृति-संहिता, पुराण-इतिहास एवं दर्शन-भाष्य आदि ग्रंथ उसी के परिणाम-स्वरूप

निर्मित हुए और उसी के द्वारा बराबर आचार्य्य आदर्शों की रक्षा होती आयी।

प्राकृतिक-विकारजन्य-झकोरोंके सिवा एक और भी कारण है, जिससे किसी भी उद्देश से संस्थापित किये गये कार्यों का रूप कुछ हो जाया करता है। जब संस्थापकों के उद्देशकी जानकारी मिटने लगती और क्रमशः कुछ दिनो मे बहुत कुछ मिट भी जाती है, तब अनजानपने के कारण मूल उद्देश मे विकृतता आने लगती और क्रमशः पूरी तरह आजाती है। ऐसी अवस्था मे यदि किसी प्रवाह के कारण एकाङ्ग उन्नति भी होती है, तो उससे भी विकृतता की ही वृद्धि होती है, क्योंकि सामञ्जस्य मे सौष्ठव और सम्पूर्णता मे ही श्रेष्ठता है। अतएव, सम्पूर्णता भी सामञ्जस्य मे ही है ऐसा ही समझना होगा। यदि किसी व्यक्तिका एक अङ्ग–हाथ पाँव, आदि बहुत भी उन्नति करले, यातो हाथ ही बहुत लम्बा हो जाय, या पैर ही बहुत बड़ा या नाक ही काफी लम्बी, तो क्या इस उन्नति को वास्तविक-उन्नति समझना चाहिये? क्या इसमें शाभा या श्रेष्ठता आ सकती है। कदापि नही, बरन् इससे विकृतता की मात्रा और भी बढ़ जायेगी, खरिका के स्थान पर झाड़ू ही उपस्थित हो जायेगा! कहने का तात्पर्य यह, कि हीनता एवं एकाङ्ग वृद्धिता, दोनों सेही विकृतता कुरूपता और पतितता आती है। अन्य क्षेत्रो की भाँति धार्म्मिक क्षेत्र मे भी ऐसी विकृततायें आती रही, और आती रहती हैं, अतएव, इस अनर्थ से बचते हुए अपने को यथोचित–यथा योग्य रूप में स्थित रखने के लिये उपर्युक्त महापुरुषों ने धर्म्म ग्रथो का निम्मार्ण किया है जिसकी जानकारी से यह हो सकता है। इससे यह भी सिद्ध हुआ, कि ऐसी अवस्था में प्राकृतिक-विकारजन्य दूषित झकोरों एवं अज्ञानजन्य विकृतताओं से बचकर शुद्धरूप में स्थिर रखने के लिये महापुरुष पूर्वाचार्यों का मार्ग प्रदर्शन एवं परिचय स्वरूप निर्म्मित उपर्युक्त ग्रन्थ ही आधार, अवलम्ब, संरक्षक एवं उद्धारक होते है।

आजकल सर्वत्र क्रान्ति का ही युग उपस्थित है; जिधर देखिये, उधर ही उसकी आग धधकती हुई भस्मीभूत कर डालने पर तुली हुई है; अतएव, धार्म्मिक-क्षेत्र भी उसका शिकार होने से नही बच सका। इसी का फल है, कि श्री रामानन्दीय श्री वैष्णवोंमें भी क्रान्ति की आगघुस पड़ी, और क्रमशः सुलगती हुई अब विकराल सी हो चली है। ऊपर

जिसको मैने प्राकृतिक-विकार जन्य दूषित झकोरों के नाम से सम्बोधित किया है, जीवन क्षेत्र में उसी को क्रान्ति कहते हैं, अर्थात् क्रान्ति भी इस क्षेत्र का तूफान और आँधी बवण्डर ही है, और यह, तब और भी भयानक, उद्दण्ड और उग्र रूप धारण करता है, जब अज्ञानजन्य उपर्युक्त विकृततायें उपस्थित होकर उसके लिये और भी अनुकूल परिस्थिति तैयार कर देती है। दुर्भाग्यवश, इस वैष्णव समाज मे दोनों विपत्तियों का प्रवेश हो गया है, अतएव, ऐसी अवस्था में यह परम आवश्यक है, कि अपने स्वरूप की जानकारी प्राप्त करते हुए अपनी रक्षा मे सयत्न रहें, और यह अपने पूर्वाचार्य के ग्रन्थो, प्रचलित-परम्पराओ और कुल प्रसिद्ध परिचयो से ही सम्भव हो सकता है।

इस समय श्रीरामानन्दीय श्री वैष्णवो मे क्यों और कैसी क्रान्ति उपस्थित हुई है, यहाँ उसका संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक प्रतीत होत है, क्योंकि इसी के ऊपर तो इस आन्दोलन का सारा दरमदार है।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिये, पहले इस सम्प्रदाय का ही संक्षिप्त-परिचय देना उचित होगा, क्योंकि इसके विना पूर्व रूप ज्ञात नही होगा और विना पूर्व रूप ज्ञात हुए वर्तमान क्रान्ति का स्पष्टी करण ठीक तरह से नही हो सकेगा, क्योंकि दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध है

यह बात संहितादि-ग्रन्थो से सिद्ध है, कि वैष्णवो का चार सम्प्रदाय है सम्प्रदाय उसे कहते हैं, जो अनादिकाल से प्रवर्तित हो। इसी कारण जो मत या मजहब मध्य से निकलता है उसे पंथ कहते हैं। वस, यही सम्प्रदाय और पंथ में भेद है। वैष्णवो का जो चार सम्प्रदाय है, उसका नाम ब्रह्म, रुद्र, सनक और श्री है। इसमें पहले तीन से तो इसका कोई सम्बन्ध विशेष नही : तब रह गया 'श्रीसम्प्रदाय' बस, इस श्रीसम्प्रदाय के ही श्री रामानन्दीय श्री वैष्णव दोनो ही हैं और दोनों के ही पूर्वाचार्य श्री स्वामी रामानुजार्य जी है। यह बात, संहिताओं, इतिहासों साम्प्रदायिक प्रबन्धों गुरुपरम्पराओं और कुल प्रसिद्धियों से भी सिद्ध और मान्य हुआ है कि श्री स्वामी रामानुजाचार्य ही श्री सम्प्रदाय के विशेषप्रचारक हैं, अतएव, इसमें सन्देह नहीं, कि श्री स्वामी रामानुजाचार्य प्रचारित श्री सम्प्रदाय से भिन्न इस नाम के सम्प्रदाय–श्री सम्प्रदाय की नीव डालना, सम्प्रदाय के नाम पर पंथ खड़ा करना है।

श्री रामानन्दीय श्री सम्प्रदाय, श्री रामानुज श्रीसम्प्रदया ही तो है, परन्तु इसमें बृहद्ब्रह्म संहिता के द्वितीयपाद सातवाँ अध्यायोक्त

"रामो ङेन्तो बह्निपूर्वो नमोऽन्तः स्यात् षडक्षर. ।
तारको मन्त्रराजोऽयं संसारविनिवर्त्तकः ॥ ५ ॥
रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माऽभिधीयते ॥ ६ ॥
रामेति किलवर्णाभ्यां ब्रह्मेति प्रतिपाद्यते ।
कारणं सर्वभूतानामवधिः परिकथ्यते ॥ ७ ॥
बृहद्गुणानामाधारो रहितः प्राकृतैर्गुणैः ।
एष सर्वस्य विधृतिः सेतु श्रुत्या प्रकीर्त्तितः ॥ ८ ॥
यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भूतले ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजत्यसौ ॥ ९ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय जातोऽहम् रामसंज्ञया ॥ १० ॥
रमे नीलोत्पलश्यामे रामे कोदण्डभूषिते ।
भक्त्याऽभ्येति पर स्थानं वैकुण्ठाख्यं सुदुर्लभम् ॥११॥
चतुर्थी चात्र निर्दिष्टा तादर्थ्ये कमलोद्भ ! ।
अभ्येति तेन रामं हि सत्यज्याऽन्यप्रयोजनम् ॥१२॥
साधनानां तु संत्यागं नमः शब्दो हि शंसति ।
अनेन शरणापत्तिः परमैकान्तिना मता ॥१३॥

इस प्रमाणानुसार जिस षडक्षर श्रीराम मन्त्र और मन्त्रार्थ द्वारा परमैकान्तिक श्रीवैष्णवोंकी शरणागति कराई जाति है उस षडक्षर श्रीराम मन्त्र के लेने देनेका व्यवहार है। और आचारी श्रीवैष्णवो मे श्रीनारायण अष्टाक्षर मन्त्र लेने देने का व्यवहार होने से पृथक् विभाग हो गया है।

इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि श्री राममन्त्र कीपरम्परा श्री स्वामी रामानुजाचार्य जीके पूर्व से हीं इस सम्प्रदाय में प्रचलित थी, और सो भी मुख्य रीति से, क्योंकि यदि ऐसी बात नहीं रहती, तो, श्री शठकोप स्वामी जी निज-रचित सहस्र-गीति में ऐसा क्यों लिखते —"दशरथस्य सुतं तं बिना अन्यशरणवान्नास्मि" इससे तो यह भी सिद्ध होता है, कि श्री शठकोप स्वामी जी विशेष रूप से श्री रामजीके ही उपासक थे, क्यों कि अन्य का तो वे अस्वीकार सा करते हैं इससे समझना चाहिये। इसी

परम्परा में पीछे आकर श्री स्वामी रामानुजाचार्य जी हुए, जिन्होंने श्री वैष्णव धर्म का पुनरुद्धार कर प्रचार किया। पुनरुद्धारक आचार्य होने की हैसियत से उन्होंने अन्य भगवन्मन्त्रों की शिक्षा दीक्षा भी साधारण लोगों के लिये प्रचार किया।

इनही श्री स्वामीजीके शिष्य श्री स्वामी कूरेशाचार्य जी हुए, जिन्होंने मुख्य रीति से श्री राम जीकी उपासना की, और इसी का प्रचार भी किया; जिसका जीता जागता प्रमाण 'पञ्चस्तवी' मौजूद है। जिन्हें इस विषय मे श्री स्वामी जीका भाव देखना हो, पञ्चस्तवी अवश्य देखें तभी तो ज्ञात होगा, कि श्री स्वामी जी श्री रामजीके कैसे अनन्य उपासक थे। यही से आचारी वैष्णवो और श्री रामानन्दीय वैष्णवों की परम्परा का बिलगाव हुआ है। श्री कूरेश स्वामी जी, श्री स्वामी रामानुजाचार्य जी की अज्ञानुसार अपने अनन्य इष्ट श्री रामजीकी ही उपासना का प्रचार किया श्री कुरेश स्वामी जी के ही पुत्र तथा श्री स्वामी रामानुजाचार्य जी के शिष्य श्री गोविन्दाचार्य्य से तो आचारियो की परम्परा चली और श्री रामानन्दीय वैष्णवों की श्री कूरेश स्वामी जीसे, यही कारण है, कि आचारी-वैष्णवो की आठो गद्दियो में किसी की परम्परा मे श्री स्वामी कूरेशा-चार्य जी नही आते। इस रूप में श्रीरामानुजायचार्य जीके बाद ही दो शाखायें हुई।

श्री स्वामी कूरेशाचार्य जीकी ही परम्परा में श्री स्वामी रामानन्दा चार्यजी हुए जो सचमुच श्री'रामानन्द' थे। इन्होंने श्रीरामजीकी उपासना का विशेष रीति से उत्तर-भरित में प्रचार किया, जिसका इधर खूब जोरों में प्रचार हुआ। श्रीरामजी का अवतार भी इसी देश में हुआ था, अतएव उनकी कीर्त्ति का प्रचार और लोगो का उनकी भक्ति की ओर झुकाव स्वभाविक ही था, इस अनुकूल परस्थिति में श्रीस्वामी रामानन्दा-चार्य जी के द्वारा श्री रामोपासना की प्रचार होते ही बिजली सी दौड़ गयी। चारो ओर श्री रामोपासना की ध्वनि गूंजउठी। काशी, अयोध्या, मिथिला और चित्रकूट आदि स्थान पुनः श्री रामचन्द्र-चन्द्रिका से जगमगा उठा।

इस प्रकार श्री स्वामी रामानन्दाचार्य जीके द्वारा उत्तर भारत में श्री रामोपासना का प्रचार हुआ और तभी से यह सम्प्रदाय श्री रामानन्द

स्वामी जीके नाम से प्रसिद्ध होकर श्रीरामानन्द-सम्प्रदाय कहलाया। यहाँ भी श्रीरामनन्द सम्प्रदाय का तात्पर्य, 'श्री सम्प्रदाय' ही समझना चाहिये। विशेष प्रचारक होने के ही कारण केवल शिष्यो मे श्रद्धा-भक्ति द्वारा श्री रामानन्द' स्वामी जीका नाम भी जोड़ दिया गया, और कोई दूसरी बात नही है। अतएव इसका शुद्धरूप समझना चाहिये श्री रामानन्द श्री सम्प्रदाय' अर्थात् श्री स्वामी रामानन्दाचार्य जी द्वारा प्रचालित श्री सम्प्रदाय'। इसी प्रकार श्री रामानुज-सम्प्रदाय' का भी तात्पर्य समझना चाहिये।

श्री स्वामी रामानुज जीके आचार्य होते हुए भी श्री स्वामी रामानन्द जी क्यों आचार्य माने गये और यह सम्प्रदाय इन्ही के नाम से क्यों प्रसिद्ध हुआ; इसका कारण यह है, श्री स्वामी रामानुजाचार्य जीने जिस वैष्णव-धर्म्म की संस्थापना की थी इन्होंने उसी श्री रामोपासना का मुख्य रीति से प्रचार किया; और तत्सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्म्माण कर उसकी विशेष-रूप मे सस्थापना भी की, बस, यही कारण है, कि आप आचार्य माने गये और इसी से यह सम्प्रदाय आप के ही नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस तरह इस सम्प्रदाय के आचार्य श्री स्वामी रामानन्द जी महाराज, और पूर्वाचार्य श्री स्वामी रामानुजाचार्य जी हुए।

श्री स्वामी रामानन्दाचार्य जीके बनाये दो ग्रन्थों मे 'श्री रामार्चन पद्धति मे तो निज गुरु परम्परा अनुसन्धान पूर्वक श्रीरामजी के अर्चन की विधि, और श्रुतिस्मृति के सारभूत 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर' मे श्री वैष्णव धर्म्म का साङ्ग वर्णन है इसी में आपने अपनी परम्परा एवं परिचय भी दे दिया है और इसकी आवश्यकता थी। क्योंकि, जब आप श्री रामोपासना की विशेष रूप से स्थापना कर रहे थे, तब यदि ऐसा नही करते, तो कुछ का कुछ समझ लेने और इनके नाम पर प्रचार कर देने की पूरी समाई हो जाती। इसी कारण, आपने अपनी परम्परा और उपासना विधि का पूरा परिचय दे दिया ताकि पीछे कोसी तरह का भ्रम या सन्देह न जग पड़े। इस प्रकार हम लोगो का सम्प्रदाय-रामानुजीय होते हुए भी रामनन्दीय हुआं; जैसे सूर्यबंश में रघुबंश।

किन्तु, इतने पर भी, आज यह आन्दोलन खड़ा ही हो गया, कि श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव, श्री रामानुज सम्प्रदायी है या नहीं। यद्यपि इस विवाद के पूर्व कोई भी श्री रामानन्दीय-वैष्णव अपने को रामानुजीय

से भिन्न नहीं मानते थे। किन्तु आठ दश बर्षों से यह एक नया विवाद चल पड़ा है, और इसे लेकर इस समाज में बड़ा कोलाहल और हलचल मचा हुआ है।

यह ऐसा आन्दोलन क्यों खड़ा हुआ,! इस प्रश्न पर बिचार करने से इसके कई कारण समझ पड़ते हैं। एक कारण तो यह, कि वर्त्तमान समय मे रामानुजीय नाम से जो आचारीबैष्णव प्रसिद्ध हो रहे है, उनमें और इस सम्प्रदाय में रीति-रिवाज और चलन-व्यवहार आदि का बहुत कुछ बिलगाव है। दूसरा कारण यह है कि आचारी नाम से जो प्रसिद्ध है इनमें बहुतेरे हम सबों को अपमान करने लगे और जहाँ तहाँ पञ्च सस्कार से युक्त श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवो को फिर से शख चक्र और नारायण मन्त्र देना प्रारम्भ किए और जो इन से नारायण मन्त्र नही लेते उनको साधारणी वैष्ण कहने लगे और नीच दृष्टि से देखने लगे। तीसरा कारण यह है कि पिछले दिन हम सबों मे भजन पूजन की प्रधानता होने के कारण अध्ययन अध्यापन मे शिथिलता आगई और वाद विवाद में कम जोड़ी हो गयी बस,ये लोग घृणा करने लग गये।

वस्तुतः इस बवण्डर का प्रधान कारण है, इस सम्प्रददाय मे कुछ अन धिकारियो का प्रवेश हो जाना,जिन्होने अपनी 'तुम्बाफेरी' यहाँ भी शुरू कर दी। शान्ति प्रिय महात्माओं मे भी क्षुब्धता घहरायी। अचल भी हिल गया कुछलोग जीते जी पूजानेकी धुनमें भी इसमें घुसे हैं जो श्रीरामानुज स्वामी जीको दश गाँलियाँ सुना देता है,बस,वही उस दलका प्रतिष्ठित सेवक गिना जाने लगता है। कुछ लोग आचारियों के अपमान और निन्दा से इसी मे आकर भी प्रतिशोध के भाव से और कोई माग न देखकर इसमे शामिल हो गये हैं और प्रायः लोग भ्रम मे डाले जाकर इनसबों की बातो में राजी हो साथ दे रहे हैं। इन लोगों ने विचारा, कि यदि आचारी लोग हम सबो को नीची नजर से देखते हैं। अपमान करते है, तो हम क्यों इस दुर्दशा के लिये इनके सम्प्रदाय में रहे। अतएव अलग ही होने में निस्तार सोचा गया। किन्तु यह नही सोचा गया, कि इसमें अपनी ही कितनी हानी है, पतन है, कि अपना कुल छोड़कर बन बाटाऊ बन जायँ। परन्तु द्वेषवश आज येही हो रहा है। लोग समझ रहे है, कि रामानुजीय नाम से तो आचारी वैष्णव ही प्रसिद्ध हैं, फिर, इनके अन्तर्गत तो मै पुछल्ला सा हो जाऊँगा, अतएव अलग ही हो जाना ठीक कर

लिया। लेकिन श्री रामानुज स्वामी तो दोनों के लिये एक सा ही हैं, दोनों को उनपर समान अधिकार है, तो क्या, उनके हथियाने से अपना अधिकार छोड़ देना चाहिये या कब्जा जमाना। हां यह बात जरूर है, कि आचारियो से श्रीरामानन्दीय-श्रीवैष्णवो का केवल भ्रातृ सम्बन्ध मात्र है वे कुछ पूर्वाचार्य नहीं हैं। पूर्वाचार्य तो श्री स्वामी रामानुजाचार्य जी ही है, जो उनके भी हैं। यदि आचारी-वैष्णव आचार्य होने का स्वप्न देखें तो यह होने का नहीं। यदि वे एक कहें, तो दो कहने के लिये तैयार रहना चाहिये, इटा का जवाब पत्थरों से भी हो, परन्तु अधिकार छोड़ भागना तो कायरता है, पतन शीलता है। अतएव सभी श्री रामानन्दीय श्री वैष्णवो को चाहिये, कि कभी भी पीछे न हटकर अपने अधिकार पर इस मजबूती से डटे रहें, कि किसी को भी चूँ करने की हिम्मत न हो।

जिस आन्दोलन का ऊपर जिक्र किया गया है, उसका जन्म अयोध्या में हुआ है, क्योंकि आजकल नयी नयीं बातें वहीं से निकला करती हैं, अतएव, यह भी निकल पड़ी। बडा कोलाहल मचा। अशान्ति फैली। यह देखकर वैष्णव भूषण श्री महन्त राम मनोहर प्रसाद जी श्री अयोध्या बड़ा स्थान ने और पूज्यपाद सर्व तन्त्र स्वतन्त्र अखिल वेद वेदान्त निष्णात श्री वैष्णव मुकुट मणि श्री मन्नारायण वंशोद्भव श्री युत पं० श्री रामनारायण दासजी महाराज श्री अयोध्या शृङ्गार भवन ने इसे शांत करना चाहा और अपने समय में अयोध्या के प्राय: प्रसिद्ध स्थानो मे इसका प्रवेश नहीं होने दिया। इधर आन्दोलक लोग भी बैठे नहीं थे, वे लोग बाहर निकल गये और वही अपने मत का प्रचार करना शुरू कर दिया। लोगो का अपनी राय में लाने का अमोघ-अस्त्र इन्होने यही कायम किया था, कि 'देखो' आचारियों ने अपनी अमुक अमुक पुस्तक में मेरी और मेरे इष्टदेव तक की निन्दा की है, पशु तक बना डाला है, भला ऐसो से अपना सम्बन्ध रखेंगे? उसे श्रेष्ठ मानोगे उनके आचार्य को अपना आचार्य स्वीकार करोगे? ये बातें सुन कर सीधे सादे महात्मा लोग क्रोध में आकर कहते, ऐसा; तब इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नही। इस पर से नवीन परम्परा दिखला दी जाती कि देखिये, यह परम्परा खोज में मिली है और यही ठीक है देखिये न उनसे तो हमारी कोई सम्बन्ध ही नही है, फिर क्यों उन्हें समझाने जायँ।

बस, इस प्रकार अपने दल में उन्हें शामिल कर लेते। कहने का तात्पर्य यह; कि लोगो में इर्षा द्वेप जगा और भ्रम में डालकर उन्होंने बहुतों को मिला एक बड़ा दल कायम कर लिया। इधर बड़ा स्थान महन्तजी और शृङ्गार भवन के पण्डित जी का परलोक बास भी हो चुका था, अतः यहाँ भी अब खूब बनपड़ी डबल गिरोह कायम हो गया। किला दखल हुआ, बिजय सहनाई बज उठी।

इस प्रकार जब इनलोगों ने अपनी शक्ति बढ़ा ली तो कुछ सोच बिचार कर इस वर्ष मिथिलापर भी धावा करने का आयोजन शुरू हुआ। मिथिला-प्रान्त श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवों का बड़ा बिशाल क्षेत्र है और यहाँ काफी बड़े बड़े स्थान भी है, वैष्णवों की संख्या भी बहुत है, अर्थात् यहाँ एक बिसाल-वैष्णव मण्डल है। जब जब धर्म्म पर आफत आती है, तो उसकी रक्षा के लिये महात्माओं का अवतार होता है। श्री प्रातः स्मरणीय श्री वैष्णव प्रवर पाषण्ड विध्वन्सक श्री १०८ स्वामी बालानन्द जी महाराजका अवतार ऐसे ही समय मे हुआ था और आपने पाषण्डियों के आक्रमण का मुँहतोड़ उत्तर देकर वैष्णव धर्म्म की रक्षा की थी। उनके पीछे प्रात. स्मरणीय वैष्णव-धर्म्म प्रकाशक श्री १०८ बाबा बोधराम जी महाराज तथा वैष्णव धर्म प्रभाकर श्री १०८ रामलाला जी महाराज हुए जिन सबो के भक्ति प्रवाह से प्लावित विज्ञान ज्योति से आलाकित यह मिथिला प्रान्त जग मगा रहा है। अतएव अज्ञानान्धकार यहाँ फटकने ही नही पाता—उनकी दाल ही नहीं गलती। यहाँ जैसी परम्परा चली आ रही है अर्थात् आचार्य श्री स्वामी रामानन्दाचाय जी महाराज तथा पूर्वाचार्य श्री स्वामी रामानुजाचार्य जी वही मान्य है। भला, अपना कुल बंश अपने नहीं जानेगा तो दूसरों का बताया बिनारों का बनाया सीखेगा! लेकिन वे लोग तो समझ रहे थे, कि वह समय आ गया है, जिसकी ताक में बहुत दिनों से थे। अतएव षड़यन्त्र का स्वरूप दरभगा वैष्णव-सम्मेलन' के रूप में दिखलायी पड़ा। इसी बहाने प्रचार कार्य शुरू हुआ। किन्तु उसके गर्भ मे जो उद्देश घुसा हुआ था अर्थात् मिथिला को भी नव्य पंथी बनाना, यह सभी सन्त. महांत, विद्वान एवं सज्जनो पर विदित हो गया। जिस किसी तरह सम्मेलन समाप्त हुआ, किंतु उनकी जरा भी उद्देश-सिद्धि नही हुई। कई तरह के जाल-रुपयों का चंदा तो धर्म भूषण का प्रचार इत्यादि फैलाये गये, परंतु मिथिला

प्रांत वासी दूरदर्शी महांतों को न फँसा सके। भ्रामक-सौदे का यहाँ कोई ग्राहक ही नहीं था, चालबाजी पकड़ गयी, कलई खुली व्यापार मे पूरा घाटा लगा।

फिर भी दूरदर्शी मिथिला प्रांत वासी महन्तों एवं विद्वानों ने बिचार किया, कि जब द्वेषाभिभूत होकर ये लोग सम्प्रदाय को दूषित करने के लिये इस तरह तुले हुये है, तो, सम्भव है, कि पीछे हम में नहीं तो हमारे शिष्यो-प्रशिष्यो में भ्रम उत्पन्न करा दिया जाय और उन लोगो से अनर्थ हो जाय। इस नव्य-पंथ का जोर जो बढ़ रहा है, वह अधिकतर अपने सम्प्रदाय के जानकारो के ही बिना और जानकारी हो कैसे, आचार्यों के ग्रन्थो का प्रचार रहे, तब तो अत एव, इन सब विषयो पर प्रकाश डालने वाले आचार्यों के ग्रंथों को प्रकाशित कर प्रचार किया जाय। जिसमे मिथिला भी आलोकित रहे। कोई शिष्य-प्रशिष्य तक भी भ्रम मे न पड़े और वह आलोक अन्य मण्डल को भी प्रकाशित करे, ताकि सब सचेत रहे और हो जाय जिससे श्रीवैष्णवमात्र का उपकार हो।

यह विचार उपस्थित होने पर ज्ञानवयो वृद्ध, देशकालज्ञ, श्रीसम्प्रदाय-मर्मज्ञ, वेदान्ती, वैयाकरण, लस्करी पं० श्री सरयू दाय जी महाज ने परामर्श दिया, कि श्रीभाष्यकार श्री रामानुजाचार्य प्रवर्द्धित सिद्धान्त प्रचार काचार्य जगद्गुरु श्रीरामानन्द स्वामीजी कृत "श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर" और "श्रीरामार्चनपद्धति" का श्री अयोध्या जन्म स्थान निवासी विरक्त शिरोमणि, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पण्डित प्रवर श्री रघुवरशरण जी कृत अर्थ प्रकाशिका व्याख्या और हिन्दी टीका के साथ पुनः प्रकाशन किया जाय और एक तत्सम्बन्धी व्यवस्थापत्र पर सम्पूर्ण मिथिला मण्डल तथा अन्य प्रान्तीय भी सन्तो, महान्तो, विद्वानों का हस्ताक्षर करा साथ ही प्रकाशित करा कर प्रचार किया जाय, तो निश्चय है, कि इस 'भास्कर' के प्रकाश के सामने मायान्धकार नही टिकेगा और भटके हुए श्री वैष्णवों की रक्षा होगी।

पण्डित जी की इस सदुक्ति युक्त परामर्श से उपस्थित सभी संत महान्त और विद्वान आनन्द सागर में लहराते हुए बोल उठे, "यह कार्य शाघ्रातिशीघ्र होना चाहिये।" बस, कार्यारम्भ हो गया। उसी का फल-स्वरूप बृहद् हस्ताक्षर युक्त निम्न लिखित व्यवस्थापत्र विज्ञप्ति रूप

में प्रकाशित किया जाता है। आशा है, सभी श्री रामानन्दीय सन्त महन्त विद्वान वैष्णवगण इसे पढ़ कर अपना निष्पक्षपात विचार निम्न लिखित पते से भेजने की कृपा करेंगे।

श्रीयुत् महन्त मनमोहनदास जी,
मु० रामपट्टी, पो० औ० रामपट्टी, जि० दरभङ्गा।

श्री

श्रीमते रामानुजाय नमः * श्रीमते रामानन्दाय नमः।

व्यवस्था पत्र।

अखिल भारत वर्षीय समस्त श्री रामानन्दीय श्री वैष्णवों के यहाँ प्रचलित, अतीवप्राचीन, श्री रामानन्द स्वामिकृत 'श्री रामार्चन पद्धति' गत श्री सद्गुरु परम्परा निम्न लिखित है।

"रामानन्दबुधो दयाजलनिधिं श्रीराघवानन्दनं
श्रीमन्तं मुनिपुङ्गवं च हर्यानन्दं श्रियानन्दकम्।
देवानन्दमथो सदागुणगणै रढ्यं मुनीश वरं
द्वारानन्दमुनिं मुनीश्वरवरं रामेश्वरं सद्गुरम्॥ १॥
श्रीमन्तं मुनीवर्य मेव च सदाचार्यं च गङ्गाधरं
वन्द्यं तं पुरुषोत्तमं च सदयं देवाधिपं सद्गुरम्।
श्रीविद्यागुणवारिधिं मुनिवरं श्रीमाधवाचार्यकं
वैराग्यादिनिधिं गुणैकनिलयं श्रीवोपदेवं कविम्॥२॥
कूरेशं यतिराजमद्भुतगुणं रामानुजं सद्गुरं
पूर्णं श्रीमुनियामुनं मुनिवरं श्रीराममिश्रं तथा।
श्रीमन्तं मुनिपुण्डरीकनयनं नाथं मुनिं श्रीशठ-
देवं श्रीपृतनापतिं जनकजां राम सदा संश्रये॥३॥"

१ श्रीकाकुत्स्थ श्रीरामजी। २ श्रीसीताजी। ३ श्रीविष्वक्सेनजी। ४ श्रीशठकोप स्वामीजी। ५ श्रीनाथ मुनीजी। ६ श्रीपुण्डरीकाक्ष मुनिजी ७ श्रीराममिश्रजी। ८ श्रीयामुनाचार्य्यजी। ९ श्रीमहापूर्णाचार्यजी। १० श्रीरामानुजार्य जी। ११ श्रीकूरेशस्वामीजी। १२ श्रीवोपदेवजी। १३ श्रीमाधवाचार्यजी। १४ श्रीदिवाधिपाचार्यजी। १५ श्रीपुरुषोत्तमाचार्य जी। १६ श्रीगङ्गाधराचार्यजी। १७ श्रीरामेश्वराचार्यजी। १८ श्री द्वारानन्दाचार्यजी।। १९ श्रीदेवानन्दाचार्यजी। २० श्रीश्रियानन्दाचार्य

जी। २१ श्रीहरियानन्दाचार्य्यजी। १२ श्रीद् मद्राघवानन्दाचार्यजी। २१ श्री १०८ श्रीभाष्यकार सिद्धान्त प्रवर्तकाचार्य जद्गुरु श्री १०८ श्री श्रीमद्रामानन्दाचार्यजी। उक्त श्लोकमें अवरोहण क्रम से वार्तिक नाम ये हैं।

श्री रामानन्दीय वैष्णवों! और तीनो सम्प्रदाय के वैष्णव बन्धुओं! तथा अन्यान्य सज्जनों! आप सबो को विदित हो, कि हमारे श्रीसम्प्रदाय में अनन्त ब्रह्माण्ड नायक परात्पर श्रीसीतानाथ जी महाराज ही परमोपास्य देव और परमध्येय है। तथा द्वयादि मन्त्र सहित षडक्षर श्रीराम मन्त्रराज (ब्रह्मतारक ही परम जाप्य है। वेद, पुराण नारद पञ्चरात्र, श्रीमद्वाल्मीकि रामायण, श्रीमहाभारतादिसद्ग्रन्थ और पूर्वोक्त ग्रन्थो के समन्वय रूप श्री-भाष्य वेदार्थसग्रह, गद्यत्रय, श्रीरामाचन पद्धति ओ श्री वैष्णवमताब्जभा-स्करादि निबन्ध गेय है। अनादि वेद प्रतिपाद्य श्री सम्प्रदाय धम प्रवर्तक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र उभय वेदा त सिद्धान्त प्रतिष्ठापकाचार्य श्रीभाष्यकार श्री रामानुजाचार्य सिद्धान्त प्रचारक अद्वितीयज्ञान वैराग्यादिसम्पन्न जगद्गुरु अनन्तश्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्य स्वामीजी महाराज हम सबो का परमा-चार्य है। जैसे निजवंश में "सूर्य्य" और रघु" को उत्कृष्ट होने के कारण एकही श्रीरामजी सूर्य्यवंशी और रघुवंशी कहे जाते है। वैसेही हम श्री वैष्णवगण जिस वंश परम्परा मे हैं उस वंश परम्परा मे श्री रामानुचार्य ओ श्री रामानन्दाचार्य्य जी को षडक्षर श्रीराम मन्त्रराज के अनुष्ठान और प्रचार द्वारा उत्कृष्ठ होने के कारण हम श्रीवैष्णवगण श्रीरामानु जीय और श्रीरामानन्दीय कहे जाते हैं। इसमे प्रमाण पञ्चरात्रान्तर्गत वृहद्ब्रह्म संहिता और श्रीरामार्चन पद्धति प्रभृति अनेको ग्रन्थ विद्यमान है। तथा श्री रामानन्द स्वामि विरचित १ श्रीरामार्चन पद्धति गत श्री मद्गुरु परम्परा और साकेत जन्म स्थान निवासी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्रीसम्प्रदाय मर्मज्ञ विद्वद्वर श्रीरघुवर शरणकृत अर्थ प्रकाशिका. टीका सहित १ 'श्री वैष्णवमताब्जभास्कर' का सिद्धान्त हम सबो को माननीय है-हम सबो का गुरुजन जिसको मानते आते है। तथा अन्यतीन सम्प्रदाय के वैष्णव महानुभाव और समस्त भारत वासी जानते ओ कहते है। यह परम्परा ओ सिद्धान्त भ्रान्ति रहित हैं। जिसकी इच्छा हो वे देख लेवें दिखा लेवें।

अतः अधोलिखित मिथिला मण्डलस्थ श्रीसम्प्रदाय तत्त्वज्ञ नैष्ठिक विरक्त श्रीवैष्णव विद्वद्गण तथा नैष्ठिक विरक्त श्रीवैष्णव महन्त महानु भावों के हस्ताक्षर द्वारा अनुमोदित, एवं अपर प्रान्तीय नैष्ठिक विरक्त

श्रीवैष्णव विद्वद्गण और महन्त महानुभावों के हस्ताक्षर द्वारा समर्थित [1] श्रीरामार्चन पद्धति और श्रीवैष्णवमताब्ज भास्कर प्रकाशित कराया जाता हैं हम आशा करते है कि समस्त श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव बन्धु इस उत्तम ग्रन्थ से स्वयलाभ प्राप्तकर अपने [2] विरक्त गृहस्थ शिष्यों द्वारा गुरु परम्परा और सिद्धान्त का प्रचार कर पूर्वाचार्यों का आदर करेंगे।

[1] चैत्र शुक्ल १० मी उपरान्त एकादशी शनि सम्वत् १९८५ के मुताबिक ता० १८-४-२८ को चोरउत में प्रारम्भ हुआ

हस्ताक्षर

संख्या-हस्ताक्षर	महन्त नाम	स्थान	पोष्ट	जिला
१ द०	महन्त लखन नारायण दास वा० खा०	चोरउत	पुपरी	मुजफ्फरपुर
२ द०	महन्त राजेश्वरादास वा० खा०		पचाढ़ी	दरभंगा
३ द०	महन्त आनन्द दास वा० खा०	मिर्जापुर	राजनगर	दरभगा
४ द०	महन्त मनमोहन दास बा० खा०	रामपट्टी	रामपट्टी	दरभंगा
५ द०	महन्त रामसुन्दर दास बा० खा०	वराही	सुरसर	मुजफ्फरपुर
६ द०	महन्त नन्दकिशोर दास वा० खा०	विड़रख	सुरसर	मुजफ्फरपुर
७ द०	म० रामकृपाल दास वा० खा०	पोखरौनी	पुपरी	मुजफ्फरपुर
८ द०	म० रामदास वा० खा०	बलीराजपुर	बरही	दरभंगा
९ द०	म० बालमुकुन्द दास वा० खा०	अदलपुर	झंझारपुर	दरभंगा
१० द०	म० पं० मिथिलाशरण बा० खा०	नौआही	सुरसर	मुजफ्फरपुर
११ द०	म० सहदेवदास बा० खा०	बसहीया नैपाल तराई		
१२ द०	म० हंसदास बा० खा०	सिमरदही	,,	
१३ द०	म० गंगादास बा० खा०	ओईनी और बोहरबन्द	मधुवनी	दरभंगा
१४ द०	म० हरिभजन दास बा० खा०	अन्धरी		
१५ द०	म० राम जुलुम दास बा० खा०	बनवारी पट्टी		दरभङ्गा
१६ द०	म० मिथिला शरण वा० खा०	श्री सिद्ध बाबा की कुटिया		सीतामढी
१७ द०	म० राम प्रतापदास बा० खा०	रतन सागर		जनकपुर
१८ द०	अ० पलकधारीदास चौधरी	श्री जानकी मन्दिर		जनकपुर

[2] जो कि सम्वत् १९३५ में गणेश प्रसाद द्वारा सूर्य्यप्रभाकर छापाखाना में प्रकाशित किया गया था।

१६ द० पू० सीतल दास बा० खा० श्री जानकी मन्दिर जनकपुर
२० द० म० रामलखन दास गद्दी नशीन बा० खा० सिरसिया
कॉटि, मुजफ्फरपुर
२१ द० म० बीशुनदास सलौना मुंगेर वा० हरिवंश सहाय
२२ द० म० श्याम सुन्दर दास बा० खा० रामपुर बखरी मुंगेर
२३ द० म० लक्ष्मीश्वर दास बा० बहादुर पुर मुजफ्फरपुर
२४ द० म० महाबीर दास गादी सुजा बा० खा बेगुसराय मुंगेर
२५ द० म० प० अवध बिहारी दास बा० खा० पचगामा मगलगढ़ दरभंगा
२६ द० म० अमर दास बा० खा- लालपुर रोसड़ा
२७ द० म० अयोध्या दास चैन पुरा पातेपुर मुजफ्फरपुर
२८ द० म० सियाराम दास बा० खा० बड़ा स्थान सीतामढ़ी
२९ द० म० केशोदास वा० खा० मझउलिया मुजफ्फरपुर
३० द० म० नकुदास जी वा० खा मिर्जापुर राजनगर दरभंगा
३१ द० म० माधवदास बा० खा० सरावेशाम पट्टी ,,
३२ द० अ० राघव दास ,, ,, , ,,
३३ द० म० रघुनन्दन दास वा० वासुदेवसिह ठाहर ,,
३४ द० म० रामेश्वर दास बा० रामसु दर दास अधिकारी ,,
३५ द० म० हरिगोविन्द दास वा० खा० राम पट्टी ,,
३६ द० म० शत्रुघ्न दास ,, ,, कमला वाड़ी लोहट ,,
३७ द० म० बबुए दास ,, ,, फुलकाही पचाड़ी ,,
३८ द० म० राम सुंदर दास ,, ,, कौटोला मधुवनी ,,
३९ द० म० राम दास ,, सुरसर ,, मुजफ्फरपुर
४० द० म० बनवारी दास ,, ,, ,, ,,
४१ द० म० वृन्दावन दास ,, पीपरा सुरसर ,,
४२ द० म० रघुनन्दन दास वा० लक्ष्मीसाह बेलकुटी जनकपुर
४३ द० म० रामभद्र दास ,, रतन सागर जनकपुर
४४ द० म० राजाराम शरण ,, अग्नि कुंड भुलन कुञ्ज जनकपुर
४५ द० म० रामाधीन शरण ,, अग्नि कुण्ड से उत्तर जनकपुर
४६ द० म० सियारघुवरशरण अग्नि कुण्ड स्थान जनकपुर

२७—उक्त महन्त जी अपने स्थान के प्राचीन गुरु परम्परा छपवाकर प्रकाशित किया है।

४७ द० म० अवधविहारी दास पूजारी अग्नि कुण्ड पच्छे आरी भीड़
.तत् शिष्य बलराम दासजी बा० महन्त राजाराम शरण जनकपुर
४८ द० म० गरीवदास जी बा० विहार कुण्ड जनकपुर
वा० महन्त रामावतार शरण
४९ द० म० रामा वतार शरण वा० खा० विहार कुण्ड जनक पुर
५० द० म० राम बुझावन शरण वा० खा० वनियाँ मन्दिर विहार कुण्ड जनकपुर।
५१ द० म० राम जीवन दास वा० खा० विहार कुण्ड जनकपुर
५२ द० म० महाबीर दास वा० म० रामावतार शरण विहार कु०
५३ द० म० रामदानी शरण वा० खा० विहार कुण्ड जनक पुर
५४ द० म० जानकी दास वा० सरयु दास विहारकुण्ड जनकपुर
५५ द० म० सन्तदास बा० सरयू दास विहार कु०
५६ द० म० जानकीदास वा० विहार कुण्ड पण्डित जी की कुटिया
५७ द० पूजारी रामसुदर शरण कुटिया विहार कुण्ड वा० खा० „
५८ द० म० राजकिशोर शरण वा० खा० विहार कुण्ड जनकपुर
५९ द० म० रघुनदन शरण वा० राजकिशोर शरण विहार कुण्ड जनकपुर
६० द० म० सीता शरण चन्द्र कला कुञ्ज जनकपुर
६१ द० म० चुल्हाई दास धुनुप सागर जनकपुर
६२ द० पू० राम किशुन दास पुसा कुटी जनकपुर वा० विन्दा दास
६३ द० म० जगदीश दास रतनसागर के कुटी जनकपुर
६४ द० पू० रामसेवक दास सुवा कुटो जनकपुर
६५ द० म० रामभूषण दास विड़रख कुटी जनकपुर
६६ द० म० चुनी दास पाथराड़ी कुटी जनकपुर वा० सीताराम दास
६७ द० म० रामअधीन शरण लोहना कुटी जनकपु वा० सीताराम दास
६८ द० म० शालीग्राम दासजी वराही कुटी जनकपुर
६९ द० म० मिथिला शरण अचारी कुटी जनकपुर
७० द० म० राम गुलाम शरण रसिक निवास पूर्वारी कुटी"
७१ द० म० युगल किशोर शरण ज्ञानकूप जनकपुर
७२ द० म० राम रंगीली शरण श्रीगुप्तराम जी की कुटी वा० किशोरी
वल्लभ शरण
७३ द० म० श्रीरामभजुदास अग्नि कुण्ड से पश्चिम वा० रामसेवक दास

७४ द० म० राम स्वरूप दास वा० खा० विराम कुञ्ज जनकपुर
७५ द० म० नन्दराम दासजी, वथनाहा श्रीसूर दासजी की कुटी वा० पू० बनवारी दास मुजफ्फरपुर
७६ द० म० गंगादास जी महुआ वा० रामचलित्तर राउत
७७ द० म० मुरलीदास वनरफुला, मुजफ्फरपुर
७८ द० म० किशोरी दास स्थान दीघी दरभंगा
७९ द० म० नरसिंहदास खनहा वा० किशोरी दास
८० द० म० रामवरनदास मनन पट्टी मुजफ्फरपुर
८१ द० पू० सीतलदास मझौलिया पछेआरी स्थान ,,
८२ द० म० रघुनाथ दास मझौलीआ पूर्वारी स्थान ,,
८३ द० म० रामलखन दास भवदेपुर सीतल पट्टी ,,
८४ द० म० रामदुलारी शरण श्री सिद्ध बाबा की छोटी कुटी सीतामढ़ी
८५ द० म० जैकरन दास जानकी स्थान की कुटिया सीतामढ़ी
८६ द० म० महाबीर दास कोट बाजार सीता मढ़ी
८७ द० म० रामधनी दास सीता मढ़ी बा० रामनारायण दास
८८ द० म० महाबीर दास वा० खा० सीता मढ़ी
८९ द० म० पं० सिया विहारी शरण जानकी निवास सीता मढ़ी
९० द० म० सही खाकी राम, कामता दास परसरनी ,,
९१ द० म० सही राम चरित्र दास राम नगरा ,,
९२ द० पू० हरिभजन दास रामनगरा हाल मोकाम चौहट्टा पटना
९३ द० म० राम जीवन दास शुमा जिला मुजफ्फपुर।
९४ द० म० सियाराम दास वड़ा स्थान सीता मढ़ी
९५ द० म० सुखदेव दास वा० खा०
९६ द० म० धर्मदास जी बघाड़ा पुरवारी बा० रामेश्वर पण्डित
९७ द० म० श्री मान् सरयु दास जी बघाड़ी बा० नरसिंह दास
९८ पू० सरयु शरण-बेरई-मोशमात की कुटी रतन सागर के पछियारी भीर जनक पुर
९९ द० पू० विश्रामदास डेपुरा सुरत लालके कुटि रतन सागर उतरवारी भीड़ वा० सरयु शरण
१०० द० राम अज्ञा दास० उत्तर वारी भीर रतन सागर जनक पुर
१०१ द० पू० रघुनाथ शरण० रसिक निवास भीत कुटि जनकपुर

१०२ द० म० जयराम दास० लक्ष्मणजीके मन्दिर बा० खा० जनकपुर।
१०३ द० म० धनुष दास लक्ष्मण दास जी की कुटी गङ्गा सागर जनक-
पुर बा० रामदास
१०४ द० परम हंस विश्वम्भर दास बा० खास स्वर्णमण्डप जनकपुर।
१०५ द० म० रामरतन दास बा० खा० मुरादपुर मोजफ्फरपुर।
१०६ द० म० प्रभुदास जी मोजेवरी बा० रामरतन दास।
१०७ द० पू० रामखेलावन दास कुमता विष्णुपुर।
१०८ द० म० रामरतन दास पतरिआघाट दरभङ्गा राय साहब के मन्दिर
बा० यदुनन्दन शर्म्मा ॥
१०९ द० म० रामप्रभास दास लालबाग बा० रामविराजित दास रामपुरा
दरभङ्गा।
११० द० म० रामप्रियादास बा० खा० हराहीपोखर दरभङ्गा।
१११ द० म० महाबीर दास बा० खा० मौजे झलसी।
११२ द० म० रामदासजी सा० हाजीपुर कोन्हारा घाट।
११३ द० म० रामशीलदास हाजीपुर रामचौरा नीचलीजगह।
११४ द० म० महाबीरदासजी हाजीपुर रामचौरा बा० म० रामशील दास।
११५ द० म० लक्ष्मी दास खाक चौक हरिहरक्षेत्र।
११६ द० म० बलीराम दास हाजीपुर कचहरी के पास।
११७ द० म० जयराम दासजी बघनगरी जगदीशपुर जि० मुजफ्फरपुर।
११८ द० म० बदन दास, मुजफ्फरपुर विसारा।
११९ द० म० लक्ष्मीश्वरदास बहादुरपुर मोजफ्फरपुर।
१२० द० म० शालीग्राम दास, मेघराय के छपरा मुजफ्फरपुर।
१२१ द० म० सरयुदासजी अखाड़ाघाट मुजफ्फरपुर।
१२२ द० म० गरभुदास बा० लक्ष्मीदास अखाड़ाघाट मुजफ्फरपुर।
१२३ द० म० रणछोरदास बा० भागवतदास गुदरी मुजफ्फरपुर।
१२४ द० म० रामहृदयदास बा० अखाड़ा घाट मुजफ्फरपुर।
१२५ द० म० गोपालदास बड़ी ठाकुरबाड़ी दलसीङ्सराय दरभंगा।
१२६ द० म० कौशिल्यादासजी महाराज बा० म० रामनन्दनदास स्थान
अयोध्याबाड़ी गादी सुजा पो० बेगु सराए जि० मुङ्गेर।
१२७ द० म० जगन्नाथदास बा० रोसरा दरभङ्गा।
१२८ द० म० योगीराज शत्रुघ्नदास लक्ष्मीनिया ठाकुरबाड़ी पो०
मंगलगढ़ दरभंगा।

१२९ द० म० रामनारायण दास वा० गोठौली मंगलगढ़ दरभङ्गा।
१३० द० म० रामेश्वर दास वा० भवानीपुर मनसुरचक मुङ्गेर।
१३१ द० म० रामअवतारदास वा० फतेहा वछवाड़ा मुङ्गेर।

अथ अपरप्रान्तीयमहन्त महानुभावों का हस्ताक्षर।

१३२ द० महन्त परशुराम दास स्थान पथार पो० मधुपुर जि० दुमका
१३३ द० म० पं० निर्द्वन्द्व दास वैद्य नाथ धाम देवघर दुमका वड़ी जगह पापड़ीयामठ पुरी।
१३४ द० म० पं० रामदास गुफा घाट वरारी भागलपुर।
१३५ द० म० पं० यदुनन्दन दास चौकी मन्दिर भागलपुर।
१३६ द० म० पं० नरसिंहदास चम्पानाला जगन्नाथ मन्दिर।
१३७ द० म० मणिराम दास सुजापुर भागलपुर।
१३८ द० म० रघुवीरदास मो० पुरानी सराय भागलपुर।
१३९ द० म० श्यामदास सुजापुर भागलपुर।
१४० द० म० रामानुज दास नयावाजार भागलपुर।
१४१ द० म० जगन्नाथ दास नयाचक्का भागलपुर।
१४२ द० म० शत्रुघ्नदास गुरहट्टा भागलपुर।
१४३ द० म० मधुसूदनदास सुजागंज भागलपुर।
१४४ द० म० रामेश्वर दास वौंसी मन्दारमधुसुदन भागलपुर।
१४५ द० म० सीतारामदास सुलतान गंज बड़ा स्थान जालीया काठिया वाड़
१४६ द० म० रामकृष्ण दासजी स्थान बड़हीया मुंगेर।
१४७ द० म० मिथिलाविहारीशरण वा० तत् शिष्य म० सरयुदास लक्ष्मणजी के मन्दिर बड़हीया मुंगेर।
१४८ द० म० धनुषधारी दास मोकामा गङ्गाजी के किनारे पटना।
१४९ द० म० रामप्रताप दास ठरेसरी जी के स्थान पटना।
१५० द० म० रामचेतन दास खुटहा स्थान मुंगेर।
१५१ द० म० श्री मङ्गल दासजी वाढ़ पटना।
१५२ द० म० (श्रीसम्प्रदायमर्मज्ञ अतिवृद्ध श्री जनगविन्दवंशोद्भव परम विरक्त श्रीवैष्णव) श्री गंगादासजी मोजे मीरनगर गादी जनगोविन्द वा० खा जिला पटना
१५३ द० महन्त प्रयाग दास स्थान जनगोविन्द पो० वाढ़ जि० पटना

१५४ द० बाबा भीष्मदासजी के शिष्य महन्त अयोध्यादास बा० खा०
स्थान पटना कदम कुआँ।
१५५ द० म० श्यामदास नागाजी के ठाकुर वाड़ी कदमकुआँ पटनाबा०खा०
१५६ द० म० लक्ष्मणदास सीताकुण्डमुंगेर बा० खास।
१५७ द० म० परमेश्वरदास, मौजा पियारेपुर डा० सरमेरा वाकलम
वैद्यनाथशर्मा पटना
१५८ द० म० खड्ग नारायण दास मो० डेल्हुवा डा० वरबिगहा जि०मुंगेर
बा० सन्तशरण शर्म्मा
१५९ द० म० रामसरव दास
१६० द० म० शत्रुघ्न दासजी मो०डा०सरमेरा पटना बा०श्रीजेसर राउत।
१६१ द० म० रामावतारदास पो० सरमेरा मुंगेर बा बाबुलालसिंह।
१६२ द० म० जगन्नाथ दास बा० वीरपुर अमामा पटना।
१६३ द० म० वनवारी दास रैली पटना बाढ़ बा० म० प्रयागदास।
१६४ द० म० रामसेवक दास बा० पियारेपुर भदा प० गिरमक पटना।
१६५ द० म० रामकिंकर दास बा० चौरा नवादा पटना।
१६६ द० म० बरामदेव दास बा० छातराउत बेगुसराय मुंगेर।
१६७ द० म० कमलदास बा० सिहमा बेगुसराय मुंगेर।
१६८ द० म० गुरुचरण दासजी बा० खा० बदलपुरा बेगुसराय मुङ्गेर।
१६९ द० म० राममनोहरदास बा० वासोपुर मेहदौली मुंगेर।
१७० द० म० रामलखनदास बा० ढीवर बाढ़ पटना।
१७१ द० म० महावीर दासजी बा० सिंगपुर रामपुर गोविन्दपुर मुङ्गेर।
१७२ द० म० जनार्दन दास बा० मौजेथखवा सूर्यगढ़ा मुङ्गेर।
१७३ द० म० रामस्वरूप दास बा० सलेमपुर सूर्यगड़ा मुंगेर।
१७४ द० म० महन्त भजुरामदास जी बा० मौ० मधुरापुर तघटा मुंगेर।
१७५ द० म० रामप्रसाद दासजी बा० मोकामा बा० रामकिंकर दास पो०
मोकामपटना।
१७६ द० म० मोहन गोपेश्वर दास उरफ गोपाल दास बाढ़ पटना।
१७७ द० म० माधव दासजी बा मधुरा पुरवां।
१७८ द० म० जनार्दनदास मौ० मधुरापुर।
१७९ द० म० लीलम्बर दास ,,
१८० द० म० महन्त रामगुलामदास जी बा० निपनियापो० तघटाजि०मुंगेर
१८१ द० म० जगन्नाथ दास बा० बाघा बेगूसराय मुंगेर

१८२ द० म० अवध विहारी दास ।
१८३ द० म० प्रियादास वा० राघोपुर पो० वखतीयार पटना ।
१८४ द० म० हरिहरदास वा० बदलपुरा वेगुसराय मुंगेर ।
१८५ द० म० महन्थ वासुदेव वा० खा० ।
१८६ द० म० राम बालक दास ।
१८७ द० म० लक्ष्मीदास स्थान विश्वनाथ पुर ।
१८८ द० म० राम चरणदास म० हरिद्वार श्रीमान् मौनी जी स्थान ।
१८९ द० महन्त बलराम दास बा० द्वारिका विहृगा-पहलेजा पटना ।
१९० द० म० माधव दास कटहरणी घाट मुंगेर बा० महन्त सुखराम दास-गंगोर जलकौरा-मुङ्गेर ।
१९१ द० म० राम रतन दास बा० सोभीघाट मुंगेर

त्यागी महन्तों का हस्ताक्षर

१९२ द० महन्त सियाराम दास मणिरामदासजी की छावनी ।
१९३ द० महन्त मणिराम दास जी [त्यागी शिरोमणि] वा० खास
१९४ द० म० जनार्दन दास जी (योगिराज)
१९५ द० म० लालदासजी ।
१९६ द० म० अनुपदासजी ।
१९७ द० नागा रघुनाथ दास हनुमान जी के पूजारी बा० छाछी कुआं लखनऊ

काशी मण्डल ।

१९८ द० महन्त सीता शरण काशी राजादरवाजा काशी ।
१९९ द० महान्त जनार्दन दास स्थान वड़ागुद्दर (अस्सी) काशी ।
२०० द० महन्त सियाराम दास जी स्थान रामघाट काशी ।
२०१ द० म० रामदास जी–स्थान कुरुक्षेत्र काशी ।
२०२ द० म० रामकिसुन दास जी काशी ।
२०३ द० म० अयोध्यादास जी स्थान खाकचौक दशाश्वमेध घाट काशी ।
२०४ द० म० भरतदास जी स्थान बाबालोटादासजी के टीला काशी ।
२०५ द० म० लालदास स्थान शङ्खधारा काशी बा० खुद ।
२०६ द० म० खूबदास स्थान काश्मीरी गञ्ज काशी ।
२०७ द० म० रामफूल दास बा० खु० काशी ।

२०८ द० म० बाबा जगन्नाथ दास जी स्थान नरसिंह चौक काशी बा० प्रहलाद मिश्र।

२०९ द० म० काशीदास जी स्थान बूलानारा चौमुहानी काशी।

२१० द० म० रामलखन शरण स्थान पञ्चगंगा काशी।

२११ द० म० रामलखन शरण स्थान हनुमान फाटक बा० खु० काशी।

२१२ द० म रामदास स्थान पीरी काशी।

२१३ द० म० राम बालक दास वेन्दान्ती राम चरणदास बा० खु० काशी।

मिथिला प्रान्तीय तथा अपर प्रान्तीय विद्वानोंका हस्त०

२१४सहि (वैयाकरण शिरोमणि वेदान्ती) पण्डित सरयूदास बा० खास चोरउत

२१५ हस्ताक्षर (चतुर्वेद पारङ्गत परिव्राजक प्रवर पण्डित) ललितकिशोरी शरण अहिल्या स्थान मिथिला।

२१६ हस्ताक्षर (वैराग्यनिधि योगी द्र दार्शनिक पण्डित प्रवर) श्रीराम चैतन्य दास चान्दपुरा पो० पातेपुर जि० मुजफ्फरपुर।

२१७ हस्ताक्षर (वैयाकरणकेशरी दर्शननिधि पण्डित प्रवर) मोहनदास (श्रीसम्प्रदायप्रदीपकार) लगुनिया।

२१८ ह० भक्ति प्रचारक वैयाकरण पण्डित रामदास मकनपुर नौगछिया।

२१९ ह० पं० रामरत्न दास, नैयायिक, वैयाकरण काव्यतीर्थ काशी।

२२० ह० पं० बदरी नारायण दास, व्याकरणाचार्य मीमासाभूषण।

२२१ ह० पं० रामनारायण दास, व्याकरणाचार्य निपनीयाँ, मुङ्गेर।

२२२ ह० पं० रामशोभादास श्रीसम्प्रदायमर्मज्ञ।

२२३ ह० पं० बलभद्रदास स्थान सेमरीआ जि० छपरा।

२२४ हस्ताक्षर न्याय वेदान्ताचार्य पं० श्रीराममनोहरदास स्थान मेहा गार्दा सुजा० पो० परिहाय जि० मुङ्गेर

२२५ ह० (योग दर्शन पारङ्गत योगिराज) जङ्गली बाबा (लक्ष्मी दास) श्रीजानकीमन्दिर सीतामड़ी बा० खास

२२६ ह० (न्याय, व्याकरण, साहित्य, वैद्यक, परीक्षोत्तीर्ण) पं० ब्रह्मचारी रामदास जी स्थान बरीसबन बा० खास

२२७ ह० वैयाकरण नैयायक,साहित्यभूषण, वेदान्ती, उभयवेदान्त निष्णात

श्रीटीलाब्रह्मचारिवंशोद्भव ब्रह्मचारी युक्तितीर्थ श्रीवैष्णव पं० श्रीशत्रुघ्न दास स्थान बाढ़ पटना स्वयमिति

२२८ ह०. पं० बालक दास बा० खुद मरचइया बाबा-पटना

२२९ ह० (अनुष्ठान निरत सदाचार सम्पन्न पं०) महन्त जनकनन्दनी शरण नौगछिया भागल पुर

२३० ह० पुराणविशारद प० महन्त सुखराम दास गंगौर मुंगेर जलकौरा

२३१ ह० म० पण्डित रामदास भूथरी।

२३२ ह० पं० परमहंस वैदेही शरण जनक पुर।

२३३ ह० पं० महन्त श्री रामेश्वर दास खाकचौक दरभंगा।

२३४ द०(वैयाकरण श्रीमद्भागवतभूषण गान संगीताचार्य प० म०) नरसिंह दास चम्पालाला भागलपुर।

२३५ द० (पौराणिक मणि पं० महन्त मणिरामदास सुजापुर भागलपुर

२३६द०(व्याख्यान धुरन्धर पं०महन्त) यदुनन्दनदास चौकिमन्दिर भागलपुर।

२३७ द० पण्डित रामरूप दास भागलपुर बरारी गुफाघाट।

२३८ द० (व्याकरण, साख्य, वेदान्तपरीक्षोत्तीर्ण पं० म०) निर्द्वन्द्वदास वैद्यनाथ धाम।

२३९ द०(वैयाकरण साहित्यभूषण पं०म०) रामानुग्रहशरण पुनारख पटना।

२४० द० (सम्प्रदायतत्वज्ञ पं० म०) धनुषधारीशरण भूपतिपुर पटना।

२४१द० पुराण व्याख्याता दर्शनीय पं० लक्ष्मण दास नयाघाट अयोध्याजी

२४२ पं० रामरूप दास, मिर्जापुर राजनगर दरभङ्गा।

२४३सम्मतिरत्रमहन्तसीतारामदासस्य साधुपाठशालासंस्थापकदुर्गाकुण्डकाशी

विद्वद्विज्ञप्ति।

१-सर्व वैष्णव सम्मति पत्र में जो श्रीगुरु परम्परा लिखा गया है वह सर्व विद्वत्सम्मत है अस्मदि माननीय है तथा सर्व साधारण वैष्णवगण मान्य है इसके विरोधि जन बहिष्करणीय है। इति ललितकिशोरीशरण अहिल्यास्थान मिथिला।

श्रीरामः

२-सिद्धश्रीसम्प्रदायिनां यस्यां परम्परायां सम्मतिः तत्रैव रामचैतन्य दासस्य सम्मतिः-

श्रीरामानन्दस्वामिकृत श्रीरामार्चनपद्धति श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर इन दोनो ग्रन्थो मे जो सिद्धान्त औ गुरुपरम्परा है वे हम श्रीरामानन्दीय• वैष्णो को माननीय है इसके विरुद्ध माननीय नहि । हस्ताक्षर रामचैतन्य दासस्याग्रेऽलम

३–समस्त श्रीरामानन्दीय वैष्णवो को विदित हो कि पं० रघुवरदास जी दर्शन निधि–तथा पं० श्रीभागवतदासजी काव्य व्या० वेदतीर्थ–तथा श्री पं० प्ररोचक सरयूदास जी प्रभृति बहुत से श्रीवैष्णवो से आप रामानन्दी है या नहि इस तरह भर्त्सना देकर हस्ताक्षर करवा लिये है लेकिन उसका अर्थ ये नहि है कि वे लोग रामानुजी नहि है किन्तु रामानुजीय होते हुए हम लोग रामानन्दीय है इस अभिप्राय से ही कतिपय वैष्णवो ने आग्रह वश उनके पत्रपर हस्ताक्षर किये है । क्यों कि रामानन्दीयत्व और रामानुजीयत्व परस्पर विरुद्ध धर्म नहि है जो एकाधिकरण वृत्ति नहि हो किन्तु इन दोनो धर्म को एकाधिकरण वृत्तित्व है जैसे सूर्य्य वंशीयत्व और रघुवंशीयत्व को सामानाधि करण्य है–उसी प्रकार पूर्वोक्त दोनो धर्म को भी सामनाधिकरण्य है– द० पं० राममनोहरदास न्याय वेदान्ताचार्य–

४—महन्त धनुष धारीशरण जी के हस्ताक्षर श्रीरामानुजीय श्रीरामा नन्दीय वैष्णव मे कुछ भेद नहि है भेद दुर्बुद्धि से है–भूपति पुर पटना

५—श्रीः स्वस्ति श्रीसर्वोपमा योग्य सकल गुण गरिष्ठ श्रीमान् महन्त हनूमानशरण जी को लिखित महन्त रघुवीरदास का बहुत करके दण्डवत् आगे जो हमारे यहां श्रीरामानुजी और श्रीरामानन्दी आपस में हम लोग के पूरण विचार न होने के कारण वैमनस हो रहा है अब हाल यह कि श्रीआचार्यन के सद्ग्रन्थन श्रीवैष्णव मताब्ज भास्कर श्रीरामा र्चनपद्धति पञ्चरात्रान्तर्गत बृहद्ब्रह्मसहिता इत्यादि ग्रन्थ को नेत्र कमजोर होने कारण कुछभाग स्वयं देखा और बाकी पढवा कर सुना इस ग्रन्थन से मालुम होता है कि हम सबो को आपस में वैमनस होना उचित न था पर बिच २ मे अनभिज्ञ पुरुषों ने हम सबों का मन वृथा ही संदेह मे कर दीया हम लोगो को ग्रन्थन देख कर निर्विवाद हो जाना चाहिये ये महानुभाव श्रीपं० बलभद्रदास जी आप सबो को परिश्रम देने को जा रहे है ग्रन्थ के साथ स्वयं ग्रन्थ अवलोकन भी किया जाय और पण्डित जी से सुना भी जाय हम दसखत कर देते पर आप लोगों कि अनुमिति

विना (फिरिस्त) व्यवस्था पत्र पर हस्ताक्षर नहि किया है जिस पर मिथिला मण्डलादि महानुभाव महन्त लोगों के हस्ताक्षर है हम लोगं को उचित है हस्ताक्षर कर दें इस चिट्ठी पर हमारा दसखत जा रहा है जो उचित हो सो किया जाय। श्रीमहन्त धनुपधारीशरण जी हमने परसो आदमी भेजा था इसी व्यवस्था पर विचार करने के वास्ते पर सूना कि आप का शरीर से क्लेशित है इस वास्ते पण्डित जी को भेज रहा हूं २४४ द० महन्त रघुवीरदास बा० खास चौहट्टा पटना

६-श्रीमते रामानुजाय नमः श्रीमते रामानन्दाय नमः श्रीरामानन्दीय समस्त श्रीवैष्णव बन्धुओं से नम्रनिवेदन है कि श्रीरामानन्द स्वामि-विरचित श्रीरामार्चन पद्धति और श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर मे जो सिद्धान्त लिखा है वही हम श्रीरामानन्दीय वैष्णवों का मान्य और गृह्य है उक्त ग्रन्थ द्वय के विरुद्ध विषय आचार ग्रन्थ के विरुद्ध होने के वजह त्याज है। जो उक्तग्रन्थ द्वयके विरुद्ध आचार व्यवहार करने कराने वाले हैं उन्हें अपने को श्रीरामानन्दीय वैष्णव नहि कहना चाहिये और न समझना चाहिये इति निवदयति श्रीरामजी दासः स्थान बहोरवन पोष्ट मधुवनरा जिला दरभङ्ग।

* श्रीः *

श्रीमते रामानुजाय नमः श्रीमते रामानन्दाय नमः

(विज्ञापन पत्रम्)

समस्त वैष्णव महानुभावों को विदित हो कि आठ दश महीनों से कतिपय वैष्णव परम्परा सम्बन्धी आन्दोलन मचा रहे है। प्रथम श्रीसीता रामीय मथुरादास जी के नाम से श्रीराम मन्त्रराज परम्परा नामक पुस्तक छपी। तदनन्तर अस्मदादि अविदित श्रीरामानन्दीय वैष्णव महामण्डल के नाम से पूर्वजो की निन्दाओं का प्रकाशक लेख निकालने लगे। कोई यह न समझ लेवें कि (यह लेख) सब श्रीमद्रामनन्दीय श्रीवैष्णव सम्मिलित ये लेख है अतः हम सब श्रीमदयोध्यावासी स्थान धारी तथा अखाड़े वाले श्रीगलता श्रीरेवासा श्रीवाला नन्दजी का स्थान प्रभृति प्राचीनद्वारा गादी स्थानों की तथा श्रीमन्नाभाजीकृत भक्त माल लिखित श्रीरामानु जीयान्तर्गत श्रीमद्रामानन्द स्वामी जी की गुरुपरम्परा और श्रीमद्रामानन्द स्वामी जी कृत श्रीवैष्णव मताब्जभास्कर तथा धाम

क्षेत्रादिरथशिष्ट व्यवहार जिसको आजतक अस्मदादिकों के पूर्वज मानते हैं वही मानते हैं । आगे अनामक मन्त्रीजी से हम सबका यह कथन है कि बहुत कुछ हो चुका विग्रह बढाने का समय नही है । अतः शान्ति के साथ अपने पूर्वजो की भांति चलना चाहिये । अलमतिविस्तरेण ओं शान्तिः ३ । फाल्गुन कृ० ६ सं० १८७७ ।
२४५ हस्ताक्षर महन्त राममनोहर प्रसाद अयोध्या ।
२४६ हस्ताक्षर महन्त रामदास राजगोपाल ।
२४७ ह० महन्त सरयूदास व० हरीद्वारी पट्टी हनुमानगढ़ी ।
२४८ ह० महन्त कमलदास खुदगढ़ी ।
२४९ ह० ईश्वरदास हरिद्वारी पट्टी ।
२५० ह० म० राघवदास पट्टी उज्जैनिया हनुमानगढ़ी ।
२५१ ह० म० गिरधारीदास राघोजी का मन्दिर रामघाट ।
१५२ ह० म० रामकिशोरदास जन्मस्थान व० खुद ।
१५३ ह० म० नारायणदास रतनसिंहासन व० खुद ।
१५४ ह० म० मोहनदास अधिकारी निर्मोहीजन्मभूमि ।
२५५ ह० म० कुञ्जविहारीदास अमरदाथजी का स्थान राम कोट ।
२५६ ह० हितनारायणदास अधिकारी नरहन मन्दिर ।
२५७ ह० म० रामपदारथदास सीढ़ी पुर का मन्दिर रामघाट ।
२५८ निवेदक प० राम नारायणदास राजगोपाल पाठशाला के अध्यापक हरिसिंह प्रेस फैजाबाद ।

***श्रीरामो जयति ***

अथ धर्मो द्विविधःप्रवृत्तिनिवृत्तिभेदात् तत्र निवृत्तिलक्षणस्यैव धर्मस्यतत्त्व ज्ञानद्वारानिःश्रेयसहेतुत्वात् तादृशधर्मोनुष्ठानेनैव स्थूलसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टपर-ब्रह्मस्वरूपावगति रितिवेदविदाम्मतम् तथा च संसारार्णवनिमग्नानां जीवात्म-नां श्रुतिस्मृतिसदाचारोदितयज्ञदानादिकंकर्म कुर्वतामपिश्रीमद्भगवत्प्रपत्तिम न्तरा नतावद् भगवत्प्राप्तिलक्षणा निःश्रेयसंसिद्ध्यतीति बहुश्रुतिस्मृत्यादिभि र्मोक्षसाधनत्वेनभगवद्भक्तिरूपप्रतिपत्तेरेवप्रतिपादितत्वाद् दुःखमयसंसाराब्धि पारं जिगमिषोर्जीवनिवहस्य महानुपकारःकृतोभगवता श्रीरामानुजाचार्य्येण। निरुक्तचिदचिद्विशिष्टब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनेन तस्य विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तःस्फुट एव प्रतीयते किंच बृहद्ब्रह्मसंहितायामपि रामो-लोनक्षिनपूर्णानमोन्तः स्यात्ष

इत्तर' । जारकोमन्त्रराजोऽयं संसारविनिवर्त्तक'इत्यारभ्य 'रामानुजेन मुनिना । कलौसंस्थामुपेष्यति' इत्यादिग्रन्थेन षडक्षरतारकब्रह्मश्रीरामामन्त्रस्य प्रधान प्रचारकत्वेन कालक्रमेण लुप्तप्रायपरमैकान्तिकश्रीवैष्णवधर्मस्य पुनरूज्जीवनेन तस्य श्रीरामोपासकत्व सिद्ध्यत्येव । एवञ्च वेदार्थसंग्रहेपि- 'यथा च सूर्यवंशोद्भव राजसाख्यापूरणं कुर्वतः परस्यैव ब्रह्मणो दाशरथिरूपेण स्वेच्छावतारः इत्यत्र व्यावृत्तं विशेषणसमभिव्याहृतैवकारार्थत्वाभ्युपगमात्साक्षात् परब्रह्मैव त्रिपाद्विभूतित साकेतपुर्यां दाशरथिनाम्ना समवतीर्णं नतुकार्यब्रह्म यस्यतदर्थत्वात् । अत श्रीरामोपासक' श्रीरामानुजाचार्य इति तदीयलेख एव प्रमाणी करोति । तानेव श्रीरामानुजप्रतिपादितान् विषयान्सकलध्यश्रीभाष्यकारश्रीरामानुजाचार्य्यप्रधानशिष्यश्रीकूरेशाचार्य्य शिष्यपरम्पराप्राप्तैःश्रीरामानन्दस्वामिभि प्रणीतः श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर अस्यापि विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त अनन्यश्रीरामोपासकत्वंच तस्यैव सम्यक् प्रतिभाति । अतः श्रीवैष्णवैरस्माभिः श्रीरामानन्दीयैः पठनापाठनादिप्रक्रमेणेदं श्रीवैष्णवमताब्जभास्करग्रन्थरत्नं रक्षणीयमित्येतत्प्राथ्यते ।

नैयायिक पं० रामरत्नदास काव्यतीर्थः (काशी)

२६० श्रीयुत—भगवानदास—चरणाश्रितवदरीनारायणदासमिश्रमीमांसा भूषणव्याकरणाचार्य्यैः मोक्तीवथनाहा नैपालतराई ।

२६१ मुङ्गेरमण्डलान्तर्गतभवानीपुरवास्तव्यैः पं० रामलखनदासैर्व्याकरण शास्त्रिभिः ।

२६२ मुंगेरमण्डलान्तर्गतगौरग्रामनिवासिभिः श्रीयुत माधवदासचरणाश्रितः पं० अवधविहारिदासैर्व्याकरणशास्त्रिभिः ।

२६३ वैयाकरण पं० पुरुषोत्तमदासैः मुजफ्फरपुर मण्डलान्तर्गतचोरउत स्थानवास्तव्यैः ।

(पे० २० वाँ नम्बर १६७ के आगे का छूट
त्यागी पं० रामस्वरूप दास स्थान जालिआ गिरनार के छाया)



श्री मते रामानुजाय नमः
श्री मते रामानन्दाय नमः

॥ प्रस्तुत-प्रसङ्ग ॥



निवेदन

आज आचार्यवर अनन्तश्रीरामानन्दस्वामीजी कृत इन दोनों ग्रन्थ रत्नों—श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर तथा श्रीरामार्चन-पद्धति—को आप महानुभावों के समक्ष उपस्थित करते हुए मुझे इसलिये परम प्रसन्नता हो रही है, कि जिस समय इसके सम्पादन का भार मेरे ऊपर आ पड़ा था, उस समय मैने आशा की थी, कि आप सज्जनों के कर-कमलो में इसे बहुत शीघ्र पहुँचा सकूंगा, किन्तु दुर्भाग्यवश थोड़े ही दिनों के बाद मेरा पुराना दमा उभड़ आया और क्रमशः बढ़ता हुआ इसने ऐसा उग्ररूप धारण कर लिया, कि एक प्रकारसे जीवन की ही आशा जाती रही; किन्तु परमात्मा की कृपा है, कि फिर भी उन्होंने बीच बीच में अवसर देकर किसी प्रकार इसे पूरा करा दिया।

यद्यपि ग्रन्थ पूरा हो गया, किन्तु जैसा मैं अपनी शक्तिभर इसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाना चाहता था, दुःख है, कि अनिवार्य-कारणवश वैसा करने में असमर्थ रहा; कई स्थानों में तो अशुद्ध ही छप गया, कई स्थानों में आवश्यक टिप्पणी की जरूरत थी, जो समय पर विस्मृत हो गयी, प्रूफ-संशोधन में भी काफी अशुद्धियाँ रह गयी, और इसी तरह अब भी रह जाने की बहुत कुछ सम्भावना है। फिर भी जो टूटा-फूटा तैयार हो सका है, उसे आप महानुभावों के सम्मुख उपस्थित कर इन त्रुटियों के लिये क्षमा-याचना करता हुआ आशा करता हूँ, आप इसे सच्चे-हृदय से अपनाकर अनुगृहीत

करेंगे। यदि ईश्वर ने चाहा, और मेरी स्वस्थता में पुनः इसके सम्पादन-प्रकाशन का अवसर आया, तो विश्वास दिलाता हूँ, कि तब अवश्यं शक्तिभर सर्वाङ्गपूर्ण बनाने की चेष्टा करूंगा।

इसके सम्पादन-काल में सबसे मुख्यरूपेण इसी बात की ओर दृष्टि रखी गयी थी, कि श्रीमदाचार्यके इन ग्रन्थों का इस रूप में सम्पादन-प्रकाशन हो, कि जिसमें श्रीरामानन्दीय-श्रीवैष्णव, अपनी परम्परा और सारे कर्म-धर्म का ज्ञान, केवल इन दोनों ग्रन्थों से ही कर सकें, इसी कारण श्रीरघुवरशरणजी कृत अर्थप्रकाशिका जैसी उत्कृष्ट टीका के होते हुए भी हिन्दी अनुवाद दे दिया गया है, और जिन जिन स्थलों में चुस्त-वर्णन थे, वहाँ वहाँ यथासम्भव स्पष्टीकरण भी कर दिये गये है, लेकिन मेरी यह भी इच्छा थी, कि श्रीरामानन्दस्वामीजी ने कौन कौन सी बात किस किस श्रुति-स्मृति, उपनिषद-संहिता, पुराण इतिहास और सम्प्रदायिक-ग्रन्थादिकों के आधार पर लिखी है, इसे भी साथ ही उपस्थित करता जाऊँ, ताकि इन ग्रन्थों के रहस्य का पूरा पूरा प्रकाश हो, किन्तु अस्वस्थता के कारण इस परिश्रम-साध्य-कार्य करने की ओर मेरी हिम्मत न बढ़ सकी और जिस किसी प्रकार मैंने इसकी समाप्ति कर दी, फिर भी इसमें तो सन्देह ही नहीं है, कि हमारे सभी मान्य श्रीवष्णव, इसके विना भी आचार्यवर्य के इन ग्रन्थों को श्रुति-स्मृति उपनिषद-संहिता, और पुराण-इतिहासादिकों के सदृश ही पूज्य मानकर शिरोधार्य करेंगे।

ग्रन्थ—परिचय।

वस्तुतः इन ग्रन्थों का परिचय तो, इनके नामों से ही हो रहा है, अतः खास-रीति से कुछ कहने की आवश्यकता नही; फिर भी विषय स्पष्टीकरण के लिये इसका कुछ दिग्दर्शन करा देना उचित प्रतीत होता है। 'श्रीवैष्णव मताब्ज-भास्कर' शब्द का अर्थ है, श्रीवैष्णव-

सिद्धान्त रूपी कमल का विकाशक सूर्य, अतः इससे स्पष्ट है, कि इस ग्रन्थ में श्रीवैष्णवधर्म्म के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है, और सचमुच है भी यही, दूसरी पुस्तक 'श्रीरामार्चन पद्धति' के नाम से भी, इसका विषय स्पष्ट ही हो रहा है, अर्थात् इसमें श्रीरामजी के अर्चन की सम्यक्‌विधि कही गयी है। यद्यपि श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर' में भी, सिद्धान्त से सम्बन्ध रखने के कारण, अर्चावतार और कालक्षेप के विधि-वर्णन-प्रसङ्ग में श्रीरामजी के अर्चन का भी संक्षेप में कथन हुआ है, परन्तु श्रीवैष्णवों के प्रतिदिन के अनिवार्य-आवश्यक-कर्म का विषय रहने के कारण पुनः उसका स्वतंत्र और सम्यक्-रूप से वर्णन किया गया है, यही श्रीरामार्चनपद्धति है। यह पद्धति ठीक उसी प्रकार बनी हुई है, जैसा कि श्रीवैष्णवमताब्ज भास्कर में इस सम्बन्ध में कहा गया है। यथा अर्चावतारवर्णन-प्रसङ्ग में लिखा हैं—

आवाहनाऽऽसनाभ्यां तु पाद्यार्घ्याऽऽचमनैस्तथा
स्नान वस्त्रोपवीतैश्च गन्ध पुष्प सुधूपकैः ॥ ११८ ॥
दीप नैवेद्य ताम्बूल प्रदक्षिण विसर्जनैः
षोडशाऽर्चा प्रकारैस्तमेतैरर्चेत्सदा सुधीः ॥ ११९ ॥

श्रीवैष्णव मताब्ज भास्कर।

अर्थात्, सुन्दर बुद्धिवाले मनुष्य, आवाहन आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, उपवीत, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप नैवेद्य, ताम्बूल प्रदक्षिण और विसर्जन, इस तरह सोलह प्रकार से उस अर्चावतार का सदा पूजन करते है ॥ ११८ ॥ ११९ ॥

पुनः कालक्षेप की विधि में कहा है:—

प्रातर्मध्याह्नसायं कृतशुचिकृतिभिः श्रीशमभ्यर्च्य रामम्॥१६९॥
रामाय साङ्गाय सपार्षदाय, सीता समेताय सहानुजाय,
आम्नाय वेद्याय विधाय शश्वत् कैङ्कर्यमीर्ष्या रहितः समाहितः१७६

[प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल में शौचादि नित्य-क्रिया से निवृत्त होकर प्रति दिन सीतापति श्री रामजी का पूजन करे ॥ १६९ ॥

निरन्तर कैङ्कर्य-परायण, ईर्ष्या रहित एवं निश्चल मनवाले (वैष्णव), वेदो से जानने योग्य श्री रामजी की, साङ्ग, सपार्षद एवं श्रीसीताजी और भाईयों से युक्त (पूजा करे) ॥ १७६ ॥]

ऊपर के अवतरणों में अर्चन के सम्बन्ध की प्रायः सभी मुख्य मुख्य बातें आ गयी है, अर्थात् त्रिकाल — प्रातः, मध्याह्न और साय-काल — शौच, स्नान, सन्ध्यादिक नित्यकर्म से निवृत्त हो, श्रीरामजी का अङ्ग, पार्षद, श्रीसीताजी और भाइयों से युक्त षोडशोपचार पूर्वक पूजन करे। श्रीरामार्चनपद्धति, ठीक इसी विधि के अनुसार बनी हुई है। सब से प्रबल साम्य तो तब उपस्थित होता है, जब देखते है, कि श्रीवैष्णव मताब्ज भास्कर में जहाँ षोडशोपचार की गणना है, उसमें आरती नही गिनाई गई है, तो श्रीरामार्चनपद्धति में भी आरती की विधि नही कही गयी है, यद्यपि इसकी रीति सर्वत्र प्रचलित है। अतः इसमें सन्देह नही, कि यह, श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर का ही एक अंश है, परिशिष्ट भाग है। ग्रन्थकारने इसका विषय बृहद् देख कर प्रस्तुत-विषय के दब जाने के ख्याल से वहाँ इसका समावेश न कर परिशिष्ट में स्वतन्त्र-रूप से लिख दिया है; यही कारण है, कि सर्वत्र की प्रतियों में श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर के साथ ही श्रीरामार्चन पद्धति भी अवश्य हो पाई जाती हैं।

श्रीरामार्चन-पद्धति में, प्रातःकाल उठने के बाद से लेकर श्री रामजी की पूजासमाप्त तक जितने शौचकृत्य, नित्य-कर्म और पूजन-विधि आदि आये है, उसमें कई बार गुरु-परम्परा के अनु-सन्धान की भी विधि आई है— प्रातःकाल उठने पर, नित्यकर्म के प्रारम्भ में, रहस्यत्रय के अनुसन्धान के पूर्व, श्रीरामजी के अर्चन के प्रारम्भ में, और महानैवेद्य निवेदन होने के बाद, इस प्रकार एक सन्ध्या की

विधि में पंचबार गुरु-परम्परा का अनुसन्धान आता है, अतः त्रिकाल में पन्द्रहबार हुआ। यदि प्रातःकालिक अनुसन्धान, उसी समय के लिये खास मानलें, तौभी प्रतिदिन की विधि में तेरहबार तो आवश्यकता पड़ती ही है, इसके अतिरिक्त भगवान् के निवेदित-नैवेद्य को पूर्वाचार्यों को भी निवेदन करने को कहा गया ह, तो इस तीन बार के सम्मिलित होने से प्रतिदिन गुरु-परम्परा-ज्ञानकी १६ बार आवश्यकता पड़ी,-अतः अर्चन-विधि में अनिवार्य और अतिआवश्यक विषय होने के कारण श्रीरामानन्दस्वामीजी ने श्रीरामार्चन पद्धति में, मङ्गलचरण और भगवद्-स्मरण के बाद, अपनी गुरु-परम्परा भी लिख दी है।

ऊपर कहा जाचुका है, कि इस पद्धति में प्रतिदिन के प्रायः सभी धर्म-कर्मों का वर्णन हुआ है. जो श्रीवैष्णवों के लिये नित्य-उपयोगी है, अतः प्रभात, निद्रा-त्यागने के बाद से ही कर्म-विधान-शुरू किया गया है।

कहा गया है, कि प्रथम मुहुर्त भर रात्रि शेष रहने पर आलस्य रहित होकर उठे, और हाथ-पैर धोकर पूरब मुख बैठ, पूर्व-कथित "श्रीनारायण कृष्ण माधव हरे...." इस श्लोक से भगवन्नामों का अनुसन्धान और उनसे अपने उद्धार के लिये प्रार्थना करता हुआ 'रामानन्द*बुधो' से प्रारम्भ कर 'रामं

---

* कहीं कहीं 'रामानन्द बुधो' के स्थान पर 'रामानन्द मथो' पाठ भी पाया जाता है, यद्यपि प्राचीन-प्रतियों में 'रामानन्द बुधो' ही पाठ है। ज्ञात होता है,- श्रीरामानन्दस्वामीजी के शिष्य-प्रशिष्यों ने, श्रीस्वामीजी कोभी परम्पराक्रम में सम्मिलित करने के लिये 'बुधो' की जगह 'मथो' पाठ बना लिया है; क्योंकि 'बुधो' पाठ रहने से तो यही तात्पर्य होता है, श्रीरामानन्दस्वामीजी के द्वारा पूर्वाचार्यों की सेवा-भावना की गयी है, फिर शिष्य-प्रशिष्य इस कथन से अपने द्वारा श्रीरामानन्दस्वामीजी सहित अपने पूर्वाचार्यों को किस प्रकार सेवा भाव निवेदन कर सकते थे ? अतः 'मथो' कर देने से श्रीरामानन्दस्वामी जी भी स्मरण कर्ता से स्मरणीय-वर्ग में आ गये और उनके बादकी परम्परायें भी इसमें जोड़ने की गुञ्जाइश हो गयी। यही कारण है, कि 'बुधो' के स्थान में 'मथो' पाठ कर, बाद की परम्परा को कन-धारा भी मिला ली गयी, और फिर व्यवहारिक-प्रयोग में इसका प्रचलन हो जाने पर, उस समय की श्रीरामार्चन पद्धति' की प्रति में 'बुधो'

सदा संश्रये' तक तीनो श्लोकों द्वारा गुरु-परम्परा का अनुसन्धान करे।

के स्थान में 'मथो' पाठ लिखा गया, फिर लिखने-पढ़ने में इस पाठ का भी चलन चल गया। इसी से प्राचीन हस्तलिखित-प्रतियों में 'बुधो' पाठ है, परन्तु कुछ छपी और पीछे की लिखी प्रतियों में 'मथो' भी पाठ मिलता है।

इसके अतिरिक्त साम्प्रदायिक-ग्रन्थों में भी ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं, जिससे पूर्वाचार्यों द्वारा किये हुए परम्परा-स्मरण में पीछे के शिष्य-प्रशिष्यों ने आचार्यों की गणना आदिमें पाठफेर कर डाला है,जैसे पूर्वाचार्यों के संक्षिप्त-स्मरण का एक ही श्लोक कई प्रकार से देखने सुनने में आता है:—

"लक्ष्मी नाथ समारम्भां, नाथ यामुन मध्यमाम्।
अस्मदाचार्य पर्यन्तां, वन्दे गुरु परम्पराम्।।"
"सीतानाथ समारम्भां नाथ यामुन मध्यमाम्।
अस्मदाचार्य पर्यन्तां, वन्दे गुरु परम्पराम्।"

इसी को श्रीहरिहरप्रसादजी ने अपने 'तुलसीतत्वभास्कर' में इस प्रकार लिखा है.—

'लक्ष्मीनाथ समारम्भां, पाराशर्यादि मध्यमाम्।
अस्मदाचार्य पर्यन्तां वन्दे गुरु परम्पराम्।।"

और आधुनिक नूतन-परम्परा में इसका ऐसा रूप दिया गया है:—

"सीतानाथ समारम्भां, रामानन्दार्य मध्यमाम्।
अस्मदाचार्य पर्यन्तां, वन्दे गुरु परम्पराम्।"

इस पर विचार करने से सहज ही स्पष्ट हो जाता है, कि भिन्न २ व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न समय में रुचि-वैचित्र्य और कारण-विशेषवश एक ही श्लोक के इतने रूपान्तर हो गये हैं, नहीं तो क्या दूसरे स्वतंत्र श्लोक ही नहीं बन सकते थे?

ठीक इसी प्रकार की एक घटना का उल्लेख, सन् १९०६ ई० की छपी श्रीवरवरमुनि स्वामी जी कृत गीतार्थ-चन्द्रिका की भूमिका में श्रीअनंताचार्यजी ने भी किया है। उसकी भूमिका पृ० ९ में लिखा है:—

"लोक गुरुं गुरुभिस्सहपूर्वैः कूरकुलोत्तम दास मुदारम्।
श्रीनगपत्यभिराम वरेशौ दीप्रशयान गुरुं च भजेहम्।।"

इति स्वयं श्रीवरवरमुनिभी रहस्यत्रय परम्परानुसमधायि। पश्चात्प्रतिवादि भयङ्कर गुरुणा 'दीप्रशयं वरयोगिन मीडे' इति तुरीय चरणे मन्त्रेस्मिन् ऋङ्गीकारीति संप्रदायः।"

पुनः महिमागान युक्त अपने गुरुदेवजी का "गाढ़ा ज्ञान तमो... प्रपद्येऽनिशम्" इस छठे श्लोक से, तथा इच्छारहित एवं निश्चल-मन से व्यूहादिक* का ८ वें श्लोक द्वारा, तथा इसके फल-स्वरूप अर्चिरादि मार्ग एवं सायुज्य मुक्ति का ९ वें और १० वें श्लोक से अनु-सन्धान करें।

इसके बाद शौचादि-क्रिया, स्नान, एवं सन्ध्या-वन्दनादि का कथन कर श्रीरामजी की पूजन-विधि प्रारम्भ की गयी है, और साङ्ग सायुध सपरिवार एवं समहिषी, षोडशोपचार-पूजन प्रकार कहे गये है, तथा इसी प्रकार तीनो कालमें करना विधेय कहा है। अर्चनान्त में जो विसर्जन की विधि कही गयी है, वह यहाँ महानैवेद्य निवेदित हो चुकने

इसका-हिन्दी अनुवाद यही होगा कि:—

'उपर्युक्त "लोक गुरुं" गुरुं च भजेहम्" इस श्लोक को श्रीवरवरमुनि स्वामीजी ने 'रहस्यत्रय' की गुरु परम्परा के अनुसन्धान में लिखा है, जिसमें आपने पूर्व गुरुओके सहित अपने दीक्षागुरु श्रीलोकाचार्यस्वामीजी तथा विद्यागुरु (रहस्यत्रय के अध्यापक) एवं स्वपिता 'श्रीदीप्रशयानजी' का स्मरण किया है। पुनः उनके पश्चात् होनेवाले श्रीप्रतिवादि भयङ्कर स्वामीजी ने इसी श्लोक को अपने स्मरण योग्य बनाने के लिये श्रीवरवर मुनि का नाम भी श्लोक के चौथे चरण में सम्मिलित कर उसका पाठ 'दीप्रशयं वर-योगिन मीडे' कर लिया।" यहाँ 'वरयोगिन' शब्द श्रीवरवरमुनिजी के लिये आया है। इसी प्रकार श्रीरामानन्द स्वामीजी को भी परम्परा में स्मरण करने के लिये 'रामानन्द बुधो' की जगह 'रामानन्द मथो' पाठ कर लिया गया प्रतीत होता है, क्योंकि उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है, कि सम्प्रदाय मे इस तरह का पाठफेर सुविधे और आव-श्यकता से हो जाया करता है।

* 'व्यूहादिक' मे 'व्यूह' शब्द मध्यवर्ती एवं 'आदिक' शब्द से युक्त होने के कारण, इससे परात्पर-वासुदेव (श्रीरामजी) से लेकर लीला-विभूति तक का संकेत किया गया है, अर्थात् इसके द्वारा श्रीरामजी के, परात्पर-वासुदेव (परमकारण रामचन्द्र), पर-वासुदेव, व्यूह—वासुदेवा-दिक और तज्जन्य त्रिदेव, लीला-विभूति, समस्त-अवतार विश्वव्यापक अन्तर्यामी और अर्चावतार आदि रूपों का अनुसन्धान करे।

के बाद जो शयन का विधान किया गया है, उसे ही समझना चाहिये; क्योंकि 'विसर्जन' का अर्थ है समाप्ति, और भगवत्प्रतिमा के अर्चन की समाप्ति, शयन पर ही होती है, अतः यही विसर्जन है।

यहाँ श्रीरामार्चन पद्धति के सम्बन्ध का उपयुक्त-विवेचन, श्रीवैष्णव मताब्ज भास्कर के ही अन्तर्गत-विषय होने के कारण पहिले किया गया है, अतः इसके बाद अब 'भास्कर' के अन्य विषयों का दिग्दर्शन कराना उचित है।

'श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर' के चतुर्थ श्लोक में इस ग्रन्थ के रचे जाने का स्वरूप स्पष्ट-रूप से कथित है। श्रीसुरसुरानन्दजी ने अपने गुरुवर्य श्रीरामानन्दस्वामीजी से संसार-कल्याण के लिये जिज्ञासा-व्याज से १० प्रश्न पूछे हैं, और इन्हीं प्रश्नों के उत्तर स्वरूप इस ग्रन्थ की रचना हुई है, वे प्रश्न ये हैं:-

तत्त्वं किं किंच जाप्यं परमिह विबुधै र्वैष्णवै र्ध्यान मिष्टम्।
मुक्तेः किं साधनं सद्गुरु! अधिकतमो धर्म एकोऽस्तिकश्च॥
धर्म्माणां वैष्णवास्ते गुरुवर! कतिधा लक्षणं किंच तेषां-
कालक्षेपः किमाप्यं कथमुरु शुभदं कुत्रकार्यो निवासः ॥४॥

श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर।

अर्थात्:—

१-हे गुरुवर! तत्व क्या है?
२-विज्ञ-वैष्णवों का सर्वश्रेष्ठ जप क्या है?
३-उनका उत्तम ध्यान क्या है?
४-मुक्ति का साधन क्या है?
५-अनेक धर्मों में अतिश्रेष्ठ धर्म कौन सा है?
६-हे सद्गुरुवर! वैष्णव कितने प्रकार के होते हैं?
७-उनके लक्षण क्या हैं?

८—उनको कहाँ निवास करना चाहिये ?

९-और उन्हें किस प्रकार समय बिताना चाहिये ?

१०-वैष्णवों के लिये मोक्ष-प्रद प्राप्त करने योग्य वस्तु क्या है?*

पुनः श्रीरामानन्दस्वामीजी ने इन प्रश्नों के उत्तर-स्वरूप ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है। जिस प्रकार पहले, ग्रन्थ के आदि में तीन श्लोकों द्वारा श्रीरामजी का, उनके आयुधोंका, और श्रीसीताजी का, मंगलाचरण-स्वरूप स्मरण किया है, और श्रीरामजी से, महिमागान के व्याज अपने सकल मनोरथों की पूर्ति के लिये, आयुधों से, विघ्न-समूहों का विनाश कर सकल कल्याण देने के लिये, और श्रीजानकी जी से, अपने अपराधों को भुला कर प्रेम युक्त अपनाने और सकल साधन-सम्पतियों को देनेके लिये प्रार्थना की है, उसी प्रकार श्रीसुरसुरानन्दजी के प्रश्नों का उत्तर देते समय भी संक्षेप-रूपमें श्रीरामजी, यतिपति (श्रीरामानुज स्वामी जी) युक्त पूर्वाचार्यों (श्रीविष्वक्सेन, श्रीशठकोप प्रभृति), और आचार्य श्रीराघवनन्द स्वामीजी के प्रणाम-स्वरूप पुनः मङ्गला-चरण कर ग्रन्थारम्भ किया है, और क्रमशः सभी प्रश्नों का उत्तर कर ग्रन्थ-समाप्ति की है।:—

---

* यद्यपि श्लोक मे प्रश्न का जो शब्द-क्रम है, उससे ८ वें ९ वे और १० वें प्रश्न में उलट-फेर होगा, क्योंकि शब्द-क्रम में ७ वें प्रश्न के बाद 'कालक्षेपः कथम्' शब्द है, अतः ८ वाँ प्रश्न होगा, कि 'कालक्षेप कैसे करना चाहिये, तदन्तर 'किमाप्यं उरू शुभद' शब्द होने से मोक्षप्रद प्राप्य वस्तु क्या है ? यह ९ वाँ प्रश्न होगा, तब 'कुत्रकार्यो निवासः' कहाँ निवास करना चाहिये, यह १० वाँ प्रश्न होगा, किन्तु शब्द-क्रम से अर्थ-क्रम बलवान होता है,अतः अर्थ की दृष्टि से पहले कहाँ,निवास करना चाहिये, पुनः कैसे कालक्षेप करना चाहिये, और तब मोक्षप्रद प्राप्य क्या है, यह होना चाहिये। क्योंकि पहले निवास होगा, तब तो समय-निर्वाह का सवाल होगा, और मोक्षप्रद-प्राप्य-स्वरूप फल तो सब के अन्त में होना ही चाहिये, इसीसे ऊपर, अर्थ के अनुसार ही प्रश्नों का क्रम रखा गया है, और श्रीरामानन्दस्वामीजी का उत्तर भी अर्थ-क्रम से ही है, अतः शब्दों का उलट-फेर छन्द के लिहाज से मानना उचित है।

(१) प्रश्नः—तत्त्व क्या है ?

इस प्रश्न का उत्तर श्रीस्वामीजीने ६ ठे श्लोक से प्रारम्भ कर ९ वें तक ४ श्लोकों में किया है। कहा है, कि तत्त्व तो(चिदचिद्विशिष्ट रूप से)एक ही है, परन्तु नाम और पदार्थ-भेद से चित् (चेतन), अचित् (अचेतन) और ईश्वर तीन है। पुनः आगे ग्रन्थ में इन तीनों का विवेचन किया गया है। इसी चित् और अचित् से विशिष्ट (विशेषण युक्त) होने के कारण ईश्वर 'चिदचिद्विशिष्ट' कहा गया है। विशेषण दो प्रकार के होते हैं, 'पृथक् सिद्धार्ह' और 'पृथक् सिद्धानर्ह।' पृथक्–सिद्धार्ह–विशेषण उसको कहते है, जो विशेष्य से अलग होने योग्य रहता है। जैसे, यदि कहा जाय,, कि 'दण्ड–कमण्डलु धारी सन्यासी है' तो दण्ड और कमण्डलु विशेषण, सन्यासी-विशेष्य से अलग होने योग्य रहने से 'पृथक्–सिद्धार्ह' होगा, क्योंकि इच्छा एवं आवश्यकतानुसार दण्ड और कमण्डलु, सन्यासी से पृथक् होता या हो सकता है। 'पृथक् सिद्धानर्ह-विशेषण' उसको कहते हैं; जो विशेष्य से अलग होने योग्य नहीं रहता। जैसे, यदि कहें, कि 'दयालु और सहनशील सन्यासो है' तो दया और सहनशीलता विशेषण, सन्यासी–विशेष्य से अलग होने योग्य नही रहने के कारण 'पृथक् सिद्धानर्ह' हागा; क्योंकि दया और सहनशीलता गुण, सन्यासी से पृथक् नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार चित् और अचित् विशेषण भी, ईश्वर-विशेष्य से अलग होने योग्य नही रहने के कारण 'पृथक् सिद्धानर्ह–विशेषण' कहा गया है, और ऐसे ही विशेपण–विशिष्ट होने से ईश्वर की 'चिदचिद्विशिष्ट' संज्ञा कही गयी है।

किन्तु, इससे ऐसा नही समझना चाहिये, कि चिद्विशिष्ट-ईश्वर कोई दूसरा है, और अचिद्विशिष्ट-ईश्वर कोई दूसरा ही, बल्कि दोनों अभिन्न है। जैसे यदि कहा जाय, कि गोपाल, सोहन और मोहन दोनों

के पिता हैं, तो दो व्यक्तियों के पिता होने से गोपाल भी दो नहीं हो जायँगे, बल्कि एक ही है, और रहेंगे। उसी प्रकार चिद्विशिष्ट-ईश्वर और अचिद्विशिष्ट-ईश्वर अभिन्न है अर्थात् भेद-रहित होने से एक। वही ईश्वर, सूक्ष्म-चिदचिद्विशिष्ट-रूप से जगत का कारण है, और स्थूल-चिदचिद्विशिष्ट रूप से स्वयं जगत-रूप कार्य है, इस प्रकार ईश्वर की दो अवस्थायें होती है। यहाँ भी ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट-ईश्वर भिन्न है, और स्थूल चिदचिद्विशिष्ट-ईश्वर भिन्न ही; बल्कि दोनो अभिन्न है, अभेद है, एक ही है। जिस प्रकार दूध का दधि अवस्थान्तर हो जाने पर भी उसमें जो घृत वस्तु है, वह दोनो अवस्थाओं में अभिन्न है, उसी प्रकार सूक्ष्म-चिदचिद्विशिष्ट और स्थूलचिदचिद्विशिष्ट दोनों अवस्थाओं में ईश्वर अभिन्न है, अभेद है, एक है। इस प्रकार चिद्विशिष्ट-ईश्वर और अचिद्विशिष्ट—ईश्वर के अभिन्न होने, तथा सूक्ष्म-चिदचिद्विशिष्ट-ईश्वर और स्थूलचिदचिद्विशिष्ट-ईश्वर के अभिन्न होने से उसे विशिष्टाद्वैत—ईश्वर कहा गया है, और इस सिद्धान्त को 'विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त' कहते हैं। विशिष्टाद्वैत का अर्थ है विशिष्ट—अद्वैत, विशिष्ट का अर्थ विशेषणवाला है, और अद्वैत का अर्थ, द्वैत रहित, एक, अभिन्न है; अर्थात उपर्युक्त चित्—अचित्-पदार्थ में और कार्य-कारण अवस्था में ईश्वर अभिन्न रहने से अद्वैत है, और उपर्युक्त—रीति से ही चित्—अचित् विशेषण—विशिष्ट रहने के कारण वह (ईश्वर) विशिष्टाद्वैत है। इसी चित् (चेतन), अचित् (अचेतन) और ईश्वर तत्त्व को 'तत्वत्रय' कहते है। इस प्रकार तत्त्व का कथन कर विशेषण-विशेष्यरूप से उसका निर्णय करते हुए श्रीस्वामीजी महाराजने अपने मतको विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त बता कर अपने को (पूर्वोक्तमङ्गलाचरण कथित) यतिपति (श्रीरामानुज) सिद्धान्तानुयायी सिद्ध किया है।

(२) प्रश्नः—विज्ञवैष्णवोंका सर्वश्रेष्ठ जप क्या है ?

इस द्वितीय प्रश्न का उत्तर, १० वें श्लोक से ५३ वें तक ४४ श्लोकों में दिया गया है। इसमें रहस्यत्रय का पूर्णरूप से विवेचन है। मूलमन्त्र (श्रीराम षडक्षर मंत्र), द्वयमन्त्र और चरममन्त्र, इन्ही मन्त्र-त्रय को 'रहस्य त्रय' कहते है। इनका क्रमशः अक्षरार्थ, पदार्थ, शब्दार्थ, वाक्यार्थ, पूर्णमन्त्रार्थ, तात्पर्यार्थ, अनुसन्धानार्थ एवं प्रधानार्थ, इसप्रकार हरएक पहलू से विवेचन करके पूर्णरूपेण स्पष्टीकरण कर दिया है। इन्हीं विवेचनों में जीव और ईश्वर के नव-विध-सम्बन्ध का भी कथन हुआ है। इस प्रकार रहस्यत्रय का भलीभाँति विवेचन किया गया है, जो श्रीवैष्णवों के लिये मनन करने योग्य है।

(३) प्रश्नः—उनका उत्तम ध्यान क्या है ?

इस तीसरे प्रश्न का उत्तर ५४ वें श्लोक से ५८ वें तक ५ श्लोकों में किया गया है, जिसमें चार श्लोकों में तो ध्यान ही बतलाया गया है। इसमें सौन्दर्य एवं गुणों का गान करते हुए श्री सीता जी एवं लक्ष्मण जी से युक्त श्री रामजी का स्मरण किया गया है। इससे स्पष्ट है, कि श्रीरामानन्दस्वामीजी ने इस प्रकार त्रिमूर्त्ति ❀ का ध्यान बताकर अपनी उपासना और अर्चा-विग्रह के प्रकार का भी स्पष्टीकरण कर दिया है।

❀ श्रीसीताजी के प्रकृति स्थानीया एव श्रीलक्ष्मणजी के जीव स्थानीय होने के कारण, इनसे युक्त ईश्वर स्थानीय श्रीरामजी का ध्यान, प्रकृति-जीव विशिष्ठ ईश्वर के रूप में, विशिष्टाद्वैत के स्वरूप का ही ध्यान हुआ है, अतः सिद्धान्त के अनुकूल होने से परमोत्तम है। यही कारण है, कि श्रीरामानन्द स्वामी जी के सिद्धान्तप्रचार एवं आज्ञाओं के अनुसार प्रचलन रहने से सभी प्राचीन गादियों और स्थानों में श्रीसीताजी एवं श्रीलक्ष्मणजी से युक्त ही श्रीरामजी की अर्चामूर्त्ति पधराायी हुई पाई जाती है, और बहुत कुछ अब भी पधराई जाती है, किन्तु इससे विरुद्ध आज कितने नूतन-स्थानों में केवल श्रीसीतारामजी (श्रीयुगलसरकार) ही पधराये जाते हैं, जो आचार्य प्रणाली एवं सिद्धान्त के विरुद्ध है।

(४) प्रश्नः—मुक्ति का साधन क्या है ?

इस चतुर्थ-प्रश्न का उत्तर ५९ वें श्लोक से प्रारम्भ कर १११ वें तक प्रायः ५३ श्लोकों में किया गया है। हाँ, यहाँ एक बात अवश्य ध्यान में रखने योग्य है, कि उपर्युक्त जितने प्रश्न किये गये है, वे सब वैष्णव-सम्बन्धी हैं, और श्रीआचार्यदेवजी ने उसका उत्तर भी वैष्णव-दृष्टि से ही किया है। अतः इस प्रश्न का स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये: "वैष्णवों के लिये मुक्ति का साधन क्या है?" और इसीप्रकार अन्य सभी प्रश्नों में भी 'वैष्णव' शब्द नहीं रहने पर अध्याहार से इसे समझना चाहिये। इस प्रश्न का उत्तर वैष्णव धर्म में प्रवेश-रूप-साधनों से ही प्रारम्भ किया गया है, अर्थात् प्रथम, यथाविधि वैष्णव-संस्कारों से युक्त होना कहा गया है। वे वैष्णव-संस्कार पाँच बतलाये गये हैं:-शङ्ख-चक्र से भुजाओं में तप्त-मुद्राङ्कन * उर्ध्वपुण्ड्र धारण, भगवत्सम्बन्धी नाम करण, मन्त्र-दीक्षा, और तुलसी की माला धारण। पुनः श्रीगुरुदेव द्वारा इन पञ्च-संस्कारों के किये जाने की विधि कही गयी है। इस प्रकार संस्कार-युक्त होकर श्रीसीता-लक्ष्मण समेत श्रीरामजी की पराभक्ति—तैलधारावत निरवच्छिन्न-अनुरक्ति —करने को कहा गया है+। पुनः इस पराभक्ति के विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष ये सात उत्पन्न करनेवाले साधनों, और यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि, इन आठ बोध कराने वाले अंगों का संकेत किया गया है×। इसके बाद पराभक्ति के अन्य नव साधनों का, जिसे अपराभक्ति भी कहते हैं,

---

* शास्त्रों की विधि अनुसार बाहुमूल में शङ्ख और चक्र की ही तप्त-मुद्रा होनी चाहिये, और यही श्रीस्वामीजीने भी लिखा है, परन्तु आजकल कुछ लोगों ने धनुष-बाण की तप्त-मुद्रा, बाहु मूल में धारण करने की प्रथा भी प्रचलित की है, (हालाँकि धनुष बाण की तप्त मुद्रा सिर पर धारण करने की शास्त्राज्ञा है), अतः ऐसा करना अशास्त्रीय और सम्प्रदाय-प्रणाली-विरुद्ध है।

+ इससे भी त्रिमूर्ति की आराधना का ही समर्थन है।

× इसका स्पष्टी करण ग्रन्थ के ६५ वें श्लोक की टीका-टिप्पणी में देखिये।

कथन किया गया है; वे नव ये है:—श्रीरामजी की महान-कीर्ति का अनुरागयुक्त श्रवण, गान, स्मरण, पाद-सेवन, (चरणों के मानसिक ध्यान) सम्यक्-अर्चन, वन्दन, दास्य और सख्य—भाव ग्रहण तथा आत्म-समर्पण; इसी को नवधा-भक्ति भी कहतेहै।

पुनः उपर्युक्त अपराभक्ति के बहिरङ्ग-साधन-स्वरूप एकादशी आदि व्रत-जयन्ती और रथयात्रा आदि उत्सवों की विधि और निर्णय कहे गये है। एकादशी, प्रतिमास में दो होती है, अतः वर्ष में २४ हुई, और जिस वर्ष अधिकमास होता है, तब दो और बढ जाती है, इस तरह २६ एकादशी होती है, अतः यह वैष्णवों के लिये सालोंका व्रत है, और श्रीराम-कृष्णादि जयन्ती आदि तो वर्ष में एक ही पडती है, यही कारण है कि एकादशी का निर्णय बहुत विवेचन के साथ विशद-रूप से किया गया है। इसमें भी जहाँ जहाँ पारिभाषिक-शब्दों की उपस्थिति से दुरुहता देख पडी, वहाँ टीका-टिप्पणी द्वारा शक्तिभर स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी है। इसमें एक बात विचारणीय यह है, कि एकादशीमें ही, अन्य सब व्रतों के लिये भी आवश्यक होने के कारण, सब से पूर्व विद्धा—शुद्धा का विचार किया गया है। इसका तात्पर्य यह है, कि व्रतकी तिथि या नक्षत्र जिस दिन हो, उसके पहले दिन की ४ दण्ड शेष—रात्रि (अरुणोदय-काल) केप्रारम्भ से या इसके पहले से ही व्रत वाली तिथि या नक्षत्र शुरू रहे, तब तो शुद्धा होती है, नही तो इस अरुणोदय काल में या इसके बाद यदि पहले दिन वाली ही तिथि या नक्षत्र रह गये, तो विद्धा होती है। जैसे, एकादशी के पूर्व, दशमी तिथि वाले दिनकी चारदण्ड शेष-रात्रि के अन्दर या इससे पूर्व ही एकादशी तिथि शुरूहोगी, तब तो एकादशी शुद्धा होगी, किन्तु यदि इस अरुणोदय कालमें या इसके बाद दशमी रही, तो एकादशी विद्धा होगी, जो करने योग्य नही होती; और तब द्वादशीव्रत किया जाता है। पर जब, एकादशी शुद्धा होती हैं, और उसके दूसरे दिन भी एकादशी तिथि नही रहती या द्वादशी दो दिनों तक नहीं जाती, तो वह ५९ दण्ड तक रहने पर भी इस ग्रन्थ और शास्त्रके अनुसार करणीय है; और इसे ही आचार्य-प्रणाली

समझ कर सभी श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवों को करना चाहिये। * । इसी तरह श्रीरामकृष्णादि सभी जयन्तियों और रथयात्रा, राम-लीला, दोललीलादिक उत्सवादिकों को भी, जैसा कि इस ग्रन्थ में कहा गया है, आचार्य-प्रणाली मान्य समझते हुए करना चाहिये। ये सब निर्णय ९१ वें श्लोक तक है।

इसके बाद ९२ से १०९ वें श्लोक तक १८ श्लोकों में तिङ्गल-सिद्धान्त के १८ भेदों का कथन हुआ है। इससे यह भी सिद्ध होता है, श्रीस्वामीजी तिङ्गल-सिद्धान्त के ही माननेवाले थे, नहीं तो फिर बड़गल-तिङ्गल दोनों के सिद्धान्तों का कथन करते। अतः केवल तिङ्गल-सिद्धान्त की ही गणना करने से आपका तिङ्गल-सिद्धान्त ही समर्थित होता है।

अब उन अठारहों भेदों का स्पष्टीकरण भी कर दिया जाता है, कि 'तिङ्गल' और 'बड़गल' किस प्रकार-भेद से उन सिद्धान्तों को मानते हैं:-

१– तिङ्गल	२—बड़गल
१– निर्हेतुक–कृपा,	१–सहेतुक कृपा।
२--मोक्ष में तारतम्य नहीं है,	२—मोक्ष में तारतम्य है।
३– कर्म, ज्ञान और भक्ति–योग, मुक्ति के स्वतंत्र साधन है,	३—कर्म एवं ज्ञानयोग, भक्ति के सहायक है, और केवल भक्ति-योगही मुक्तिका स्वतन्त्र-साधन है।

❀ यद्यपि श्री रामानन्द स्वामी जीने एकादशी-निर्णय की इसी शास्त्रीय पद्धति की आचार्य-परम्परानुकूल होने के कारण स्वीकृति और आज्ञा की है, अतः आचार्य प्रणाली-निष्ठ श्री रामानन्दीय-श्रीवैष्णवों को इसीके अनुसार मानना-करना परमधर्म है, फिर भी इस सम्प्रदाय के कितने घरानों में, किसी अन्य सम्प्रदाय के प्रभाव, सम्बन्ध या मन्मुखापन के कारण इससे विपरीत अन्तत. ४० या ४५ दण्ड तक एकादशी करने की विधि का प्रचार हो गया है और वे इसी तरह शुद्धा-विद्धा का भी विचार करते हैं, अतः इसे सुधारना चाहिये।

४—श्री जी अणु रूप है,	४—श्रीजी विभु है ।
५—श्री जी पुरुषकार है,	५—श्री जी उपाय है ।
६—भक्तों के दोषों को स्वयं ईश्वर के भोगने को वात्सल्य कहते है ?	६-भक्तों के दोषों को ईश्वर के नही देखने (ख्याल करने) को वात्सल्य कहते है ।
७—दूसरे के दुःखोंको नही सहन करने को दया कहते है ।	७ दूसरे के दुःखों को निराकरण करने को दया कहते है ।
८—स्वभरण-पोषणादि के लिये कुछ भी व्यापार नही कर भगवान की ईच्छा पर निर्भर रहने को 'न्यास' कहते है ।	८—जगत—कर्त्ता श्रीरामजी के ऊपर अपना और अपने आत्मीय-जनों के भरणपोषण का भार समर्पण कर देने को न्यास कहते है ।
९—प्रपत्ति के समर्थ-असमर्थ सभी अधिकारी है,	९—प्रपत्ति के केवल असमर्थ ही अधिकारी है ।
१०—कर्मों के स्वरूपतः परित्याग को त्याग कहते हैं ।	१०-कर्मों के फल के परित्याग को त्याग कहते हैं ।
११—कर्म—योगादि प्रपत्ति के विरोधी हैं ।	११-कर्म-योगादि प्रपत्ति के विरोधी नही है ।
१२—श्रुति-स्मृति-विहितवर्णाश्रमधर्म का अनुष्ठान लोक-संग्रहार्थ करना चाहिये ।	१२-श्रुति-स्मृति-विहित- वर्णाश्रम धर्म का अनुष्ठान भगवदाज्ञा मान कर करना चाहिये ।
१३-न्यास के छः अङ्गों में एकाध की हानि होने पर भी शरणागतीमें न्यूनता नहीं होती ।	१३—न्यास के छः अङ्गों में एकाध की हानि होने पर शरणागती में न्यूनताहोती है ।
१४—उपर्युक्त-न्यासको,श्रीरामजी की प्रसन्नता का हेतु कहते हैं ।	१४—उपर्युक्त न्यास को मोक्षका कारण मानते है ।

१५—अपराधों का प्रायश्चित, की हुई प्रपत्ति के स्मरण को कहते है ।	१५—अपराधों का प्रायश्चित, पुनः प्रपत्ति करने को कहते है ।
१६—निकृष्ट-वर्ण के भगवद्भक्तों का भी आराधन उत्कृष्ट-वर्ण के वैष्णवों को करना चाहिए ।	१६—निकृष्ट-वर्णके भगवद्भक्तों का आराधन, उत्कृष्ट-वर्ण के वैष्णवों को नही करना चाहिए ।
१७—भगवान, जीव में अणुरूप से व्याप्त है, पर सर्वत्र विभु रूप से ।	१७—भगवान जीवमे और सर्वत्र विभु-रूप से ही से व्याप्त है ।
१८—कैवल्य, विराजापार होने पर होता है,	१८—कैवल्य, विरजा के इसी पार अवगाहन करते ही होता है ।

इस प्रकार तिङ्कलों और बड़गलों में सिद्धान्त-सम्बन्धी अठारह भेद है, जिसमें तिङ्कल-सिद्धान्तों के समर्थन-स्वरूप मानने की आज्ञा इस ग्रन्थ में है। और वे क्रमशःप्रति श्लोक में एक एक भेद को रीति से ९२ से १०९ वें श्लोक तक अठारहों भेद, १८ श्लोकों में वर्णित हुए है। इन सिद्धान्तों को सम्प्रदाय का सिद्धान्त समझकर इस ग्रन्थ के द्वारा मनन-पूर्वक इसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

(५)प्रश्नः—अनेकधर्मों में अतिश्रेष्ठ धर्म कौनसा है ?

इस पाँचवें प्रश्न का उत्तर १११ वें श्लोक से १२३ वें तक १३ श्लोकों में किया गया है। यद्यपि प्रश्नके स्वरूप से यह जान पड़ता है, कि अनेक धर्म्मो में सब से श्रेष्ठ-धर्म के विषय मे पूछा गया है, किन्तु आगे पीछे के सम्बन्ध और उत्तर के आकार-प्रकार से जान पड़ता है, कि प्रश्न यह है, कि 'अनेक-विध-वैष्णव धर्म्मों में सब से श्रेष्ठ कौन सा धर्म है ? क्योंकि उत्तर में दान, तप, तीर्थ-निवास एवं जप से भी, अहिंसा को सर्व-श्रेष्ठ पुण्यकार्य—धर्म-कार्य बता कर,

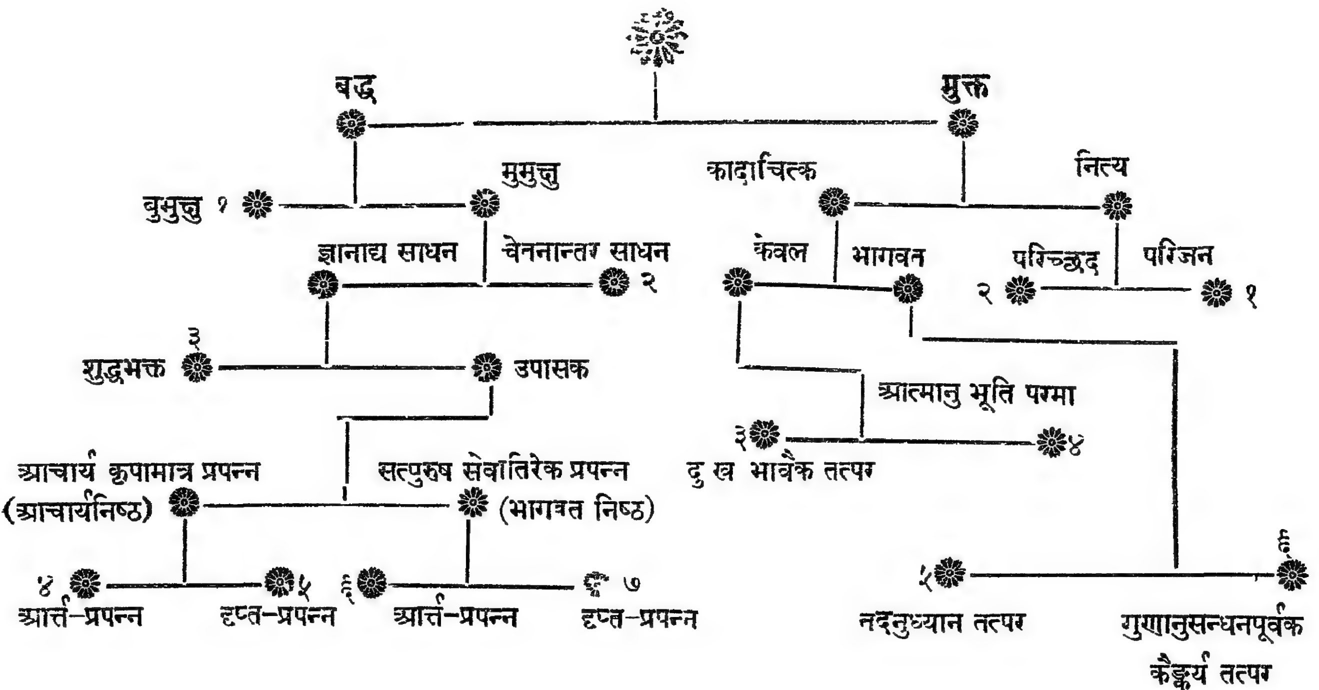
पुनः अहिंसा की प्रशंसा की गयी है, और फिर वैष्णवों के शुभकर्म्मों के फल का त्याग करते हुए उसे श्रीरामजी को समर्पण करने और उनके ही निवेदित-भोगों को भोजन करने का कथन शुरू हो गया है। पुनः अर्चावतार के भेद, पूजा-प्रकार, स्तुति और साष्टाङ्ग-विधि का वर्णन किया गया है, जिसका पूर्ण-विधान श्रीरामर्चन-पद्धति के रूपमें आगे वर्णित हुआ है।

इस प्रश्न के उत्तरको दूसरे प्रकार से यों भी समझ सकते है, कि अहिंसा से युक्त और फल की आशा से रहित होकर श्री रामजीकी भक्तिभाव-पूर्ण षोडशोपचार-पूजा करना, अर्थात् श्रीवैष्णव-धर्म ही सब धर्मों से अतिश्रेष्ठ धर्म है। अथवा उत्तर में परम-प्रधान-रूप से कथित होने के कारण अहिंसा को ही सब से श्रेष्ठ धर्म कह सकते है, और फलेच्छा-रहित भगवत्पूजाराधन-स्वरूप-वैष्णव-धर्म, अहिंसा-प्रधान होने के कारण सब से श्रेष्ठ धर्म है।

(६) वैष्णव कितने प्रकारके होते हैं ?

इस छठे प्रश्न का उत्तर १२४ वें श्लोक से १४५ वें तक २२ श्लोकों में दिया गया है। इसमें जीव के भेदों के कथन द्वारा वैष्णव भेदों की भी गणना की गयी है। कहने का तात्पर्य यह, कि जीवके जिन भेदों से, वैष्णव-धर्म का सम्बन्ध हो सकताहै, उसका तो इस ग्रन्थ में वर्णन हुआ है; परन्तु जिसका सम्बन्ध नही हो सकता है, वह छोड़ दिया गया है। यथा, जीव-भेद में अण्डज, उष्मज एवं स्थावर भी है, और पिण्डज में भी मनुष्य के सिवा पशु आदि है, परन्तु शास्त्र-अवश्या होने के कारण उन सबों को छोड़ कर शास्त्र-वश्या, जो मनुष्य से लेकर ऊपर की ओर उन्नत क्रम-धारा गयी है, अर्थात् मनुष्य से लेकर जितने उन्नत-जीव के प्रकार हैं, उन सबों का ही वर्णन किया गया है, और विष्णु-पारायण होने पर उन सबों की वैष्णव-भेदों में गणना की गयी है। इन सब भेदों का जैसा वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है, उसके स्पष्टीकरण के लिये नीचे उसका चित्र भी दे दिया जाता है:—

जीव


बद्ध
मुक्त
बुभुक्षु १
मुमुक्षु
कादाचित्क
नित्य
ज्ञानाद्य साधन
चेतनान्तर साधन २
केवल
भागवत
परिच्छद २
परिजन १
३ शुद्धभक्त
उपासक
आत्मानुभूति परमा
३ दुःख भावैक तत्पर
४
आचार्य कृपामात्र प्रपन्न (आचार्यनिष्ठ)
सत्पुरुष सेवातिरेक प्रपन्न (भागवत निष्ठ)
४ आर्त्त-प्रपन्न
५ दृप्त-प्रपन्न
६ आर्त्त-प्रपन्न
७ दृप्त-प्रपन्न
५ तदनुध्यान तत्पर
६ गुणानुसन्धनपूर्वक कैङ्कर्य तत्पर

इस प्रकार बद्ध-जीव के ७, एवं मुक्त के ६ भेद हुए। बुभुक्षु (बद्ध-भेद) में परमार्थ-हीनता के कारण यहाँ उसका गौणरूपेण स्थान दिया गया है। इसीसे उसके अर्थ, धर्म एवं काम-परा, और इनके प्रस्तार से बने हुए कई भेदों की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया, बल्कि बुभुक्षु का भी सामान्य रूपसेही स्मरण किया गया है। इसके अतिरिक्त ६ भेदों का पूरा २ वर्णन हुआ है। अब रहा मुमुक्षु इसके छः भेद हुए है, जिसमें चेतनान्तर का उल्लेख नाम लेकर नहीं किया गया है, केवल भेद-वर्णन में द्विविधा कह दिया गया है। शेष का वर्णन ग्रन्थ में ही अच्छी तरह किया गया है।

(७)—वैष्णवों के लक्षण क्या हैं ?

इस सातवें प्रश्न का उत्तर १४५ वें श्लोक से १५२ वें तक ८ श्लोकों में किया गया है; कि ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक, गले में तुलसीजी की माला, भुज-ललाटादि में शङ्खचक्रादि पञ्चायुधों की तप्त-मुद्रा, कटिसूत्र, कौपीन, साफी और अँचला धारण कर भगवन्नामों का उच्चारण एवं चरित्रों का श्रवण—गान करता हुआ सज्जनों की संगति और चक्रादि पञ्चायुधों सयुक्त भागवतों एव भगवान की भक्ति-श्रद्धा-पूर्वक सेवा-अर्चा करना ही वैष्णवोंका लक्षण कहा है, और इसी के साथ साथ इसके फल भी कहे गये है।

(८)-वैष्णवों को कहाँ निवास करना चाहिये?

इस आठवें प्रश्न का उत्तर १५३ से १६६ तक १४ श्लोकों में किया गया है। अन्य वैष्णव-धर्म-ग्रन्थों में जो १०८ दिव्य देश कहे गये है, यहाँ उसी में से ४६ के वर्णन के बाद आदि पद लगाकर उन एकसौ आठों की ओर सङ्केत किये गये है। इन स्थानो में जहाँ भी निवास करे, वहाँ के अध्यक्षदेव (भगवान) की विधिवत् आराधना करने को कहा गया है, इसी से किन किन स्थानों के कौन कौन से आराध्यदेव (अध्यक्ष) हैं, यह भी साथ ही उल्लिखित हुआ है। इससे स्पष्ट है, कि सभी वैष्णवों को सभी दिव्य—देशों में निवास, और वहाँ के भगवान की आराधना, भेद-बुद्धि रहित होकर करनी चाहिये; क्योंकि भगवान में भेद मानना अपराध है। इसका विशेष खुलासा ग्रन्थ में ही देखना उचित है।

(९)—वैष्णवों को कालक्षेप किस प्रकार करना चाहिये?

इस ९ वें प्रश्न का उत्तर १६८ से १७७ तक १० श्लोकों में किया गया है। कहा गया है, कि वैष्णव, उपर्युक्त जिस दिव्य-देश में रहें, जितेन्द्रिय होकर प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल में शौचादि एवं सन्ध्यादिक नित्य क्रिया से निवृत्त होकर प्रतिदिन सीतापति श्रीरामचन्द्रजी की साङ्ग, सायुध सपरिवार षोडशोपचार पूजा कर, अवकाश-काल में श्रीमद्रामायण (वाल्मिकीय), श्रीमहाभारत, श्रीभाष्य एवं श्रीशठकोपस्वामी कृत द्रविड़ प्रबन्ध (सहस्र-गीति) आदि ग्रन्थों के अध्ययन, श्रवण, मनन, एवं चिन्तन करते हुए काल-क्षेप करें। किन्तु, यदि स्वयं पढ़ने में अशक्त हो, तो दूसरों से इन ग्रन्थों का श्रवण, भगवन्नामो का कीर्त्तन, आचार्य की सेवा, श्रीमद्राम-द्वयमन्त्र का अनुसन्धान करते हुए अयोध्या, मथुरा आदि दिव्यदेशों में निवास करें। यदि इसमें भी अशक्त हों, तो मुख्यतः यादवाद्रि (मैलकोटा) अथवा अन्य दिव्य-देशों में, श्रीगुरुजी के उपदेश किये हुए मन्त्रों का जप करते हुए अहङ्कार-रहित होकर निवास करें। भक्त्यादि से युक्त अहङ्कार रहित महात्मा का उपदेश जिसके लिये जैसा हुआ है निरालसी मुमुक्षु-वैष्णवों को निरन्तर वैसा ही पालन करने, और भगवान के लिये तुलसी—पुष्पादि संग्रह और मन्दिर के मार्जन (स्वच्छ, शुद्ध एवं मनोरम बनाने आदि कार्यों) में निरन्तर तन्मय रहते हुए कालक्षेप करना चाहिये।

१०—वैष्णवों के लिये मोक्षप्रद प्राप्य वस्तु क्या है?

इस दशवें प्रश्न का उत्तर १७८ से १८८ तक ११ श्लोकों में किया गया है। बताया गया है कि चेतनों में चेतन, नित्यों में नित्य, अद्वितीय परब्रह्म श्रीरामजी ही, प्राप्य (प्राप्त करने योग्य) है, और उनकी

प्राप्ति, उनका प्रतिक्षण चिन्तन करते हुए, उन्हें जानने में समस्त संशय मिटानेवाले पूजनीय-गुरु (परमतत्त्व के उपदेष्टा) की पूजा करने से होती है। इस प्रकार भगवत-चिन्तन, आराधन, गुरुसेवा और सत्संग से प्रारब्ध-भोग एवं पापों के नष्ट हो जाने पर जीव, श्रीरामजी की निर्हेतुकी-दया से माया सम्बन्ध रहित होता और सुषुम्नानाड़ी द्वारा शरीर से निकल कर अर्चिरादि-मार्ग की प्राप्ति करता है; और क्रमशः विविध देवताओं से पूजित होते हुए श्रीरामजी की सायुज्यादि मुक्ति की प्राप्ति कर उनके (श्रीअयोध्यानाथ श्रीरामजी के) साथ सम्यक्--आनन्द करता है। जिन मोक्ष चाहनेवाले जिज्ञासुओंको, पूर्वोक्त रीति से त्रिकाल सन्ध्या में सदा अनुसन्धान करने योग्य उपर्युक्त 'अर्च्चिरादिमार्ग' का ज्ञान होता है, उनके लिये फिर कोई तत्त्व ज्ञान शेष नहीं रह जाता, और यही वैष्णवों के लिये मोक्ष-पद-प्राप्य वस्तु है।

इन दशों प्रश्नों के उत्तर हो चुकने पर अनुबन्ध-चतुष्टय का भी कुछ कथन करना उचित प्रतीत हुआ। विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी, इन्हीं चारों को अनुबन्ध-चतुष्टय कहते हैं,। अतः इन दशो प्रश्नों के उत्तर स्वरूप जो कुछवर्णन हैं, वही इस ग्रन्थका विषय है, अर्थात् श्रीवैष्णव सिद्धान्त, कर्त्तव्य और उसका फल-कथन; जिज्ञासा-निवृत्ति रूप इन सब विषयों का ज्ञान ही इसका पयोजन है; प्रतिपाद्य प्रतिपादक सम्बन्ध है, और अधिकारी का, अनधिकारी के व्याज से इस प्रकार कथन हुआ है, अर्थात कहा गया है, कि इस गोपनीय रहस्य को, जिसका इस ग्रन्थ में प्रतिपादन हुआ है; गुरु-द्रोही, नास्तिक, शठ, अवैष्णव, सांसारिक विषयों में लोलुप और शून्य-हृदयवालों को कभी भी उपदेश नहीं करना चाहिये, अतः जो गुरु-भक्त, आस्तिक, सज्जन, वैष्णव, अनासक्त और इस विषय के हृदय से आकांक्षी हैं, वे ही अधिकारी समझे गये हैं। अन्त में ग्रन्थ की फलश्रुति--कथन पूर्वक समाप्ति की गयी है।

ग्रन्थ-सम्पादन

यद्यपि सम्पादन काल में इन ग्रन्थों की कई प्रतियाँ हस्तलिखित और छपी हुई उपलब्ध हुईं, और देखने में आईं थीं, किन्तु, आधार-भूत केवल दो ही रखी गयीं, एक श्रीयुतस्वामी बालानन्द जी महाराज के स्थान जयपुर की सं० १६२१ वि० की हस्तलिखित मूल प्रति, और दूसरी सूर्य प्रभाकर प्रेस काशी की स०१९३५ वि० की छपी हुई अयोध्या जन्मस्थान के श्रीरघुवरशरणजी की अर्थ-प्रकाशिका टीका-वाली प्रति। कारण, इसकी जितनी भी प्रतियाँ उपलब्ध हुईं या देखने में आईं, उन सबों में हस्तलिखित की हैसियत से जयपुर वाली, और छपी हुई में काशी की ही प्रति सब से प्राचीन थी, अतएव मान्य समझी गयी। इसके अतिरिक्त यह बात भी थी, कि उन अन्य सब प्रतियो में कोई ऐसी विशेषता नही थी, वरन् वे सब की सब इन्हीं दोनों प्रतियों में गतार्थ सी थी; अतः व्यर्थ-गणना के लिये उनका नाम-प्रवेश करना उचित नही समझकर उपर्युक्त दो ही प्रतियों के आधार पर इनका सम्पादन किया गया है, उसमें मूल-ग्रन्थ तो जयपुर की प्रति के अनुसार रखा गया है, क्योंकि विशेष प्राचीन होने के कारण प्रामाणिकता की दृष्टि से यह प्रथम मान्य था, इसके अतिरिक्त इसका पाठभी दूसरे से शुद्ध था; और टीका अर्थ-प्रकाशिका रखी गयी, एवं अन्वय तथा हिन्दी अनुवाद भी प्रायः अर्थ-प्रकाशिका के ही आधार पर किये गये। किन्तु खेद है, कि दूसरी प्रति के पाठान्तरों के देने की ओर उस समय ध्यान नही गया, और इसकी उचितता प्रायः छप चुकने के बाद प्रतीत हुई। यदि इस ओर पहले से ध्यान आकृष्ट हुआ होता, और वैसा किया जाता, तो सम्पादन के उपर्युक्त औचित्य एवं भेद-ज्ञान से पाठकों को बहुत कुछ सान्त्वना और सहायता पहुँची होती, पर अब तो विवशता है। अतः अब केवल इतना ही किया जा सकता है, कि यहाँ पर उन पाठ-भेदों की

सूची सम्मिलित कर दें, ताकि अब भी, और विशेष कर अगले संस्करण में इससे सहायता ली जा सके। सुविधे के विचार से जयपुरवाली प्रति का 'क' और अर्थ-प्रकाशिका-टीका वाली प्रति का 'ख' वर्ण-सङ्केत मान कर पाठ-भेद दिये जाते है; और वे इस प्रकार है :—

'क' प्रतिः—

"जाप्यस्तत्तारकाख्यो मनुवरमखिलैर्वह्निबीजं यदादौ
रामो ङेप्रत्ययान्तो रसमितशुभदस्वक्षरः स्यान्नमोऽन्तः।
मन्त्रो रामद्वयाख्यः सकृदिति चरमप्रान्वितो गुह्यगुह्यो
भूताक्ष्युत्संख्यवर्णः सुकृतिभिरनिशं मोक्षकामैर्निपेव्यः॥१०॥"

'ख' प्रतिः—

"जाप्यंत्तत्तारकाख्यं मनुवरमखिलैर्वह्निबीजं तदादौ।
रामो ङेप्रत्ययान्तो रसमितशुभदस्वक्षरः स्यान्नमोन्तः॥
मन्त्रां रामद्वयाख्यं सकृदिति चरमप्रान्वितं गुह्यगुह्यं।
भूताक्ष्युत्संख्यवर्णं सुकृतिभिरनिशं मोक्षकामै र्निषेव्यम्॥१०॥"

'क' प्रतिः—

"पौरुषैकसुनिष्ठास्तु हरि स्वातन्त्र्य मेत्य च——॥१३२॥"

'ख' प्रति—

"पुरुषकारक निष्ठास्तु हरि स्वातन्त्र्य मेक्ष्य च—॥१३१॥" *

'क' प्रतिः—

"रामानन्दीयः श्री वैष्णव पूर्वो मताब्ज भास्कर आ
हृत्वाऽज्ञान सुतिमिरं ज्ञानाब्ज हृदि विकाशयतु॥ १९२ ॥"

'ख' प्रतिः—

"श्रीरामानन्दीय वैष्णव मताब्ज भास्करोहि सततम्।
हृत्वा ज्ञानसुतिमिरं हृदि महतां ज्ञानाब्जं विकाशयतु ॥१९१॥"*

---

* 'क' प्रति के श्लोक संख्या १३२ और १९२ के स्थान में 'ख' प्रति में श्लोक संख्या १३१ और १९१ छपा हुआ है, अतः यहाँ भी देखनेवालो के सुभीते के लिये वैसे ही छाप दिये गये है। वस्तुतः 'ख' प्रति में भी 'क' प्रति के समान ही संख्या होती, परन्तु इसमें ('ख' प्रति में) ११ संख्या में दो श्लोक छप गये है, अतः १२ वे श्लोक भी वहाँ ११ वें हो जाने के कारण वहीं से क्रम-संख्या में १ अङ्क की बराबर कमी चली आई है।

बस, दोनों प्रतियों में केवल इतने ही पाठ-भेद है।

यहाँ पर एक बात और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, वह यह कि 'क' प्रति की संख्या १९० तथा 'ख' प्रति की संख्या १८९ का श्लोक दोनों प्रतियों में एक सा ही है, और वह यह है:-

"श्रुत्वा सुरसुरानन्दो रामानन्दादशेषतः।

पृष्टान्सहोत्तरान् प्रश्नान् गुरुन्नत्वाऽपसद्गतिम्॥"

परन्तु इस श्लोक के तीसरे चरण (पृष्टान्सहोत्तरान् प्रश्नान्) को, व्याकरण, कोष एवं साहित्य की शैली एवं नियम से विपरीत पड़ते देखकर काशी निवासी निखिल शास्त्र-निष्णात गोस्वामी श्रीदामोदराचार्य जी महाराज की अनुमति से मैने 'पृष्टवोत्तराणि च प्रश्नान्' इस प्रकार पाठ सुधारने की धृष्टता की है। आप की राय में लेखकों के प्रमाद से ऐसा लिख जाना संभव है, मुझे भी ठीक जँचा। यद्यपि छप जाने पर मैने ऐसा करना उचित नही समझा। अच्छा तो यही होता, कि जैसा पाठ था, वैसा ही रहने देकर इस अनुमति को टिप्पणी में प्रकाशित कर देता; पर अब तो विवशता है। अतः इसकी सूचना अनिवार्य-प्रतीत हुई, जिसमे वास्तविकता का भी लोगों को परिचय हो जाय, और अगले संस्करण में, तथा इस पुस्तक से सम्पादन सशोधन में सहायता लेने वालों को, इसकी सूचना मिल जाय।

किन्तु, इनके अतिरिक्त दो ऐसी प्रतियाँ भी प्राप्त हुईं, जिनकी विलक्षणता का परिचय देना अनिवार्य प्रतीत होता है, उसमें एक तो अयोध्या शृङ्गार-भवन निवासी पं० श्रीरामनारायणदासजी कृत श्रीरामार्चन-पद्धति की भाषाटीका वाली प्रति है, जो सन् १९१४ ई० में लखनऊ में छपी थी, अयोध्या के सेठ छोटेलाल बुकसेलर ने प्रकाशित किया था; और दूसरी, श्रीब्रह्मचारी भगवदाचार्य्य (?) वेदरत्न' जी महाशय कृत 'प्रकाश' नामक हिन्दी-व्याख्या सहित श्रीवैष्णव-मताब्ज भास्कर

की प्रति, जो विद्यार्थी श्रीरामरत्नदासजी श्रीवैष्णव, दरीयापुर मोटी हवेली की पोल, रामजी मन्दिर अहमदाबाद द्वारा सं० १९८६ वि० में प्रकाशित हुई है।

उपर्युक्त भाषाटीका वाली श्रीरामार्चन-पद्धति में अन्य प्रतियों से जो विलक्षणता है, वह मुख्यतः गुरु-परम्परा की है, क्योंकि श्रीरामार्चन-पद्धति की जितनी भी हस्तलिखित एवं छपी हुई प्रतियाँ उपलब्ध एवं प्रचलित है, उन सबों में एक सी ही परम्परा है, जो श्रीरामानन्दस्वामीजी के द्वारा श्रीस्वामीराघवानन्दजी से लेकर श्रीरामजी तक स्मरण-भजन के रूप में लिखी गयीहै , किन्तु इस भाषाटीका वाली पद्धति की गुरु-परम्परा श्रीरामजी से ही नीचे की ओर श्रीरामानन्दस्वामीजी तक आती है, श्लोक भी भिन्न प्रकार के ही है और कुछ नामों में भी अधिकता है, जो अन्य प्रतियों में नहीं है। यद्यपि इससे कई वर्ष पूर्व अयोध्या के सेठ छोटेलाल पुकसेलर ने ही इन्हो पं० रामनारायण दास जी की सम्पादित-संशोधित बृहद्ब्रह्मोक्त रामपद्धति लखनऊ में छपाकर प्रकाशित की थी, जिसमें श्रीरामार्चन-पद्धति भी सम्मिलितहै, और वह ठीक वैसी ही है, जैसी अन्य प्रचलित श्रीरामार्चन-पद्धति की प्रतियाँ है। फिर नहीं मालूम, दूसरी बार भाषाटीका करते समय किस आधार पर दूसरी ही परम्परा सम्मिलित कर दी। यदि उन्हें सचमुच ऐसी कोई प्रति मिली होती,तो अन्य सब तथा स्वयंअपनी पहिलीप्रति केभोविरुद्धहोनेसेचिन्त्य होने के कारणइसकी मान्यताऔरप्रामाणिकता परविनाविचारप्रकाशित किये ही इसे चुपचाप क्यों छपा देते ? भूमिका के रूप में कुछ तो इस सम्बन्धमें उल्लेख करते ? पर ज्ञात तो ऐसा होता है, कि मानो इन्हें दूसरी तरह की परम्परा वाली श्रीरामार्चन-पद्धति के विषय में कुछ मालूम ही नहीं था। इन सब कारणों से बलात् इसी अनिवार्य-अनुमान पर पहुँचना पड़ता है, कि वर्तमान प्रचलित-परम्पराओं और श्रीरामार्चन-पद्धति की परम्परा में कुछ भेद और नामों में न्यूनाधिकता देख कर

आपने इन गड़बड़ियों को दूर करने के विचार से दोनों को मिलाकर एक खास गुरु-परम्परा तैयार की, और इसे पूर्ण और सबों के मानने योग्य समझकर श्रीरामार्चन-पद्धति में, पहली परम्परा निकाल कर, सम्मिलित कर दी, ताकि श्रीरामानन्दस्वामीजी कृत समझकर लोग इसे निःशङ्क-रूप से स्वीकार करें। श्रीरामार्चन-पद्धति की परम्परा के अनुसार श्रीरामानुजस्वामीजी के बाद ही श्रीकूरेशस्वामीजी को लेकर विरागी-श्रीवैष्णवों की परम्परा अलग हो जाती है, जिससे आचारी-श्रीवैष्णवों के साथ सिवा भ्रातृत्व के और कोई सम्बन्ध ही नही रह जाता, क्योंकि आचारी और विरागी दोनों श्री-वैष्णव श्रीरामानुजस्वामीजी के समान-भागी के शिष्य है, बल्कि शिष्यों में श्रीकूरेशस्वामीजी की जेष्ठता-श्रेष्ठता होने के कारण रिश्ते के हिसाब से विरागी-श्रीवैष्णव ही बड़े हुए, जैसा कि नाभाजीने लिखा भी है.—

"कुरुतारक शिष प्रथम भक्तिवपु मंगलकारी"

किन्तु, श्रीकूरेशस्वामीजी से भिन्न दूसरी परम्परा में जिसमें श्रीवरवरमुनिस्वामीजी हुए है श्रीरामानन्दस्वामीजी बताये गये है, जिससे यह बहुत पीछे से फूटी हुई शाखा साबित होती है। पं० श्रीरामनारायण दास जी ने यह समझा होगा, कि दोनों में कुछ कुछ नाम, संक्षिप्त होने के कारण, छूटे हुए है, अतःआपने दोनों को मिलाकर एक कर डाली। नही तो फिर सभी प्रचलित और उपलब्ध हस्तलिखित एवं छपी हुई प्रतियों और इसके पहले की अपनी ही छपाई हुई प्रति से भी, जो सब की सब एक सी है, इसे भिन्नतरह की क्यो बनाते? ज्ञान पड़ता है, आप ने अन्य अनुकूल-सामग्रियों की सहायता से श्रीरामार्चन पद्धति की बहुत कुछ स्वतंत्र रचना कर डाली, अतः पूजा अर्चा की दृष्टि से इसमें कोई हर्ज नहीं मानते हुए भी प्रामाणिकता की दृष्टि से इसे परम-त्याज्य समझना चाहिये।

, "इस ग्रन्थ की मुझे भिन्न भिन्न समय की लिखी हुई ५ प्रतियाँ और २ मुद्रित प्रतियाँ प्राप्त हुई है। एक काश्मीर से, दूसरी प्रति प्रयाग से, तीसरी और चौथी श्रीअवध से, पाँचवी सिन्ध हैदराबाद से, छठी बगसरा (काठियावाड़) से और सातवीं पूना से। इन सातों प्रतियों के अतिरिक्त एक प्रति मेरे पुस्तकालय में है जो कि मेरे परम पूज्य श्री गुरुदेव महाराजजी से प्राप्त हुई है। तथा उन्हीं के श्रीमुख से इस ग्रन्थ का आद्योपान्त मैंने श्रवण भी किया है। इस प्रकार इस 'गुरुदत्त' प्रति के सहित इस ग्रन्थ की आठ प्रतियों के आधार पर इस ग्रन्थ का संशोधन मैंने किया है। इन प्रतियों का क्रमसे क, ख, ग, घ, च, छ, ज यह सांकेतिक नाम मैंने यत्र तत्र टिप्पणियों में व्यवहृत किये है। बाहर से मिली हुई सातों प्रतियाँ अक्रम और अत्यन्त अशुद्ध हैं। किसी में कहीं कोई श्लोक अधिक है, किसी में न्यून है। अतः न्यूनाधिक का ग्रहण और परित्याग मैंने अपने श्रीगुरुदत्त पुस्तक के आधार पर किया है। यही मुझे उचित और सत्य प्रतीत हुआ। श्लोकों में जहाँ २ अधिक थे और जहां २ न्यून थे, उन सबों को मैंने उस स्थल में नीचे टिप्पणी में रख दिया है। इस औचित्य और अनौचित्य का विचार सुज्ञ पाठक स्वयं कर लेंगे।

किसी भी ग्रन्थ के न्यूनाधिक और प्रक्षिप्त पाठों के जानने के लिये बड़ी कठिनता होती है। मुझे भी इस कार्य में कठिनता प्रतीत हुई। परन्तु एक मार्ग मिल गया जिससे सब कठिनताएं दूर हो गईं। वह मार्ग है श्रीराममन्त्र। हमारे सम्प्रदाय का मूल मन्त्र है श्रीराममन्त्र। अतः श्रीरामजी ही हमारे यहाँ परमोपास्य देव हैं। श्रीराममन्त्र के साथ जो श्लोक प्रतिस्पर्द्धा करते मुझे प्रतीत हुए ह, उन्हें अधिक और प्रक्षिप्त समझ कर मैंने छोड़ दिया है और नीचे टिप्पणी में रख दिया है। पाठ-भेद तो बहुत स्थलों में है, उन्हें भी मैंने गुरुदत्त पुस्तक के अनुसार ही रखा है।" प्रकाश टीका—प्रस्तावना पृष्ठ ५-६

इस उपर्युक्त अवतरण का विचार-सुलभता की दृष्टि से, निम्नलिखित पाँच उपविभाग कर सकते हैः—

१—आठ प्रतियों के आधार पर इस ग्रन्थ का संशोधन किया गया है।

२—परमपूज्य श्रीगुरुदेव महाराज जी से प्राप्त हुई (श्री गुरुदत्त) पुस्तक—जिसको उनके श्रीमुख से आद्योपान्त श्रवण किया था—के अनुसार संशोधन में काट-छाँट, अदल-बदल और ग्रहण-त्याग किये गये है।

३—पाठ भेद होने पर श्री गुरुदत पुस्तक के आधार पर ही पाठ रखा गया है।

४—इस सम्प्रदाय का मूलमन्त्र श्रीराममन्त्र, और श्रीरामजी ही परमोपास्यदेव होने से, प्रतिस्पर्द्धा करने वाले श्लोकों को अधिक और प्रक्षिप्त समझ कर छोड दिया और टिप्पणी में रख दिया है।

५—अशुद्ध, अधिक और न्यून पाठ टिप्पणी में रख दिये गये है।

वस्तुतः इन कथनो में किञ्चित् भी सत्यांश नही है, बल्कि चोरी कर मतलब साधने की भूमिका मात्र तय्यार की गई है। अतः इस प्रत्येक उप—विभाग की निस्सारता का स्पष्टीकरण क्रमशः आगे किया जायगा।

(१)आठ प्रतियों क आधार पर इस ग्रन्थ का संशोधन किया गया है।

यह असत्य कथन, केवल लोगों की आँखों में धूल झोककर प्रामाणिकता सिद्ध करने का दाँव-पेंच है, और पाँच हस्तलिखित प्रतियाँ और गुरुदत्त पुस्तक तो केवल असत्य कल्पना ही है। सत्य तो यही है, कि अर्थ—प्रकाशिका टीकावाली तथा पं० राम टहल दास जी द्वारा सम्पादित, केवल इन्ही दोनों प्रतियों से काम लिया गया है, और अपने मतवाद के विरुद्ध होने पर या चोरी पचाने की गरज से ही पाठों में मनमाना काट-छाँट, अदल-बदल और ग्रहण त्याग किया है। अतः अब इसे खराद पर चढाकर सार—असार का विचार उपस्थित किया जाता है। इसमें 'श्री गुरुदत्त' पुस्तक के सम्बन्ध का विचार अभी इसलिये स्थगित रखना

ठीक है, कि उसके लिये क्रमशः आगे आने वाला एक उपविभाग ही कायम है। इसलिये शेष सात-प्रतियों की सत्यता-असत्यता हीं यहाँ खरादी जाती है।

इन सातों प्रतियों के सूचक जो आपने सात वर्ण-सङ्केत ठहराये हैं, पहले उसी का निश्चितीकरण करना ठीक होगा, कि किस प्रति के लिये कौन सा वर्ण-सङ्केत है। ऐसे तो जिस क्रम से आपने लिखा है, उससे सिद्ध ही है, कि काश्मीर की प्रति के लिये 'क', प्रयाग की प्रति के लिये 'ख', श्रीअवध की दोनों प्रतियों के लिये क्रमशः 'ग' और 'घ', सिन्ध हैदराबाद की प्रति के लिये 'च', बगसरा (काठियाबाड़) की प्रति के लिये 'छ' और पूना की प्रति के लिये 'ज' वर्ण-सङ्केत आया है; परन्तु यही तो परिचय नहीं दिया गया है, कि कौन सी प्रति कहाँ से प्राप्त हुई है। यदि हस्तलिखित का नहीं, तो मुद्रित पुस्तकों के सम्बन्ध में भी तो स्पष्ट कर देते, कि उन दोनों में किसकी गणना कहाँ से प्राप्त होने वाली प्रतियों में की गयी है। किन्तु ऐसा न कर इस तरह गोल-मठोल रख दिया गया है, कि जिसमें न तो वास्तविकता का कुछ पता ही चले, और न किसी तरह पकड़ ही हो सके। क्योंकि ऐसे मौके पर इस बात की बहुत कुछ गुञ्जाइश हो गयी है, कि आसानी से यह कह कर खिसक जाय, कि अमुक प्रति मुझे प्रयाग से नहीं अयोध्या से, और अमुक प्रति श्रीअवध से नहीं प्रयाग से, तो अमुक प्रयाग से नहीं काश्मीर से मिली है, इत्यादि। इसी से छपी हुई प्रति का भी कोई पता या परिचय आपने नहीं दिया। फिर भी अपनी इसी पुस्तक के जगह व जगह अङ्कित उच्छ्वासों से ऐसी कहकर निकल जाने की राह भी आपने स्वयं ही बन्द कर डाली है। अतः सात प्रतियों एव उसके नाम पर किये हुए दाव-पेंच का भण्डाफोर हो ही जाता है।

विभिन्न-प्रतियों के वर्ण-सङ्केतों की निश्चितता के लिये मुद्रित पुस्तकों पर ही विचार करना उचित होगा, क्योंकि हस्तलिखित प्रतियों

के सम्बन्ध में किसी प्रकार से मुश्कबन्ध करने की राह निकालने में यहाँ-कठिनाई है। और छपी हुई से तो इस लिये अनिवार्य-बन्धन आ पड़ता है, कि किसी भी संस्करण की सभी प्रतियाँ एक सी होती है, अतः उसमें दूसरी तरह के पाठ-कथन की समाई ही नही हो सकतो। इसी से पहले छपी हुई पुस्तकों पर ही प्रकाश डालना उचित प्रतीत होता है। इससे तो कोई इनकार हो ही नही सकता, कि इसी पुस्तक के इधर-उधर के कथनों से सिद्ध है, कि आपने दो मुद्रित-पुस्तकों की प्राप्ति की स्वीकृति की है, और वे पं० राम टहल दास जी द्वारा सम्पादित तथा पं० श्री रघुवर शरण जी द्वारा की हुई अर्थ प्रकाशिका टीका वाली ही प्रतियाँ हैं। जैसा कि आपकी प्रस्तावना से ही स्पष्ट है:-

" 'इस पर पण्डित श्री रघुवर शरण जी की एक विस्तृत-टीका है, उसी की सहायता से मैंने यह टीका लिखी है।" प्रस्तावना पृ० ६

" 'ख' पुस्तक में १९२ श्लोक हैं। जिसमें दो श्लोक तो अत्यन्त नवीन है। अन्य किसी भी प्रति में नही हैं। तथा उनकी आवश्यकता भी नहीं थी। वे नवीन श्लोक ये हैं:—

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे ।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे ॥१८९॥
यःपठेच्छृणुयाद् भक्त्या सन्दर्भमिदमुत्तमम् ।
सर्वार्थ सिद्धिं सम्प्राप्य लभेदन्ते परं पदम् ॥१९१॥"

" 'ख' पुस्तक तो अभी ही मुद्रित हुआ है, परन्तु उसमें भी मक्षि-का स्थाने मक्षिकानिपात किया गया है। इसमें भी दो स्थल में ११ वीं संख्या रख दी गयी है" इत्यादि- प्रस्तावना पृ० ६—७

अतः यही तो सिद्ध हुआ, कि पं० राम टहल दास जी द्वारा सम्पादित प्रति के लिये ही 'ख' सङ्केत आया है। क्योंकि एक तो इसके सिवा कोई प्रति उस समय छपी ही नहीं

थी, दूसरे, गुण-कर्म्म भी इसीके अनुसार कहे गये है। परन्तु अब विचार करना यह है,कि पं० रघुवर शरणजी कृत अर्थ-प्रकाशिका टीका वाली प्रति का वर्ण-सङ्केत क्या ठहर सकता है? इसके लिये 'ख' प्रति के नियमानुसार यदि टीकाकार के अयोध्यावासी होने के कारण इसकी प्राप्ति वहीं (श्री अयोध्या) से मान लें, (क्योंकि 'ख, प्रति श्रीअवध से प्रकाशित होने पर भी संशोधक के प्रयागवासी होने के कारण इसकी प्राप्ति प्रयाग से ही बताई गई है) तो भी वहाँ से दो प्रतियों की प्राप्ति के कथन होने से सन्देह रह ही जाता है, कि इसका—अर्थ-प्रकाशिका वाली प्रतिका–सङ्केत 'ग' होगा या 'घ'। यद्यपि इसके विरुद्ध भी कहा जा सकता है कि अयोध्या से ही क्यों? यह मुझे काश्मीर,प्रयाग या पूना से मिली है इत्यादि। किन्तु अभी इसका विचार आगे केलिये छोड़ कर यही मान कर आलोचना कर चलें, कि अर्थ-प्रकाशिका वाली प्रति की प्राप्ति श्री अयोध्या से ही हुई। फिर भी यह निश्चित करना रह ही जाता है,कि तो यह'ग'प्रति सिद्ध होती है या 'घ'। इसके लिये सब से उत्तम मार्ग तो यही होगा, कि 'ग' और 'घ' के नाम पर अलग अलग आये हुए पाठान्तरों में से जिससे इस ग्रन्थ का पाठ मिल जाय, वही वर्ण-सङ्केत इस के लिये अभी मान लें।

यद्यपि पाठान्तरों में 'ग' और 'घ' का सम्मिलित उल्लेख कई जगह आया है, और 'घ' से रहित 'ग' भी कई जगह उल्लिखित हुआ है. अतः यदि अर्थ-प्रकाशिका के पाठों से इस 'ग' प्रति के नाम से लिखित-पाठान्तरों की एकता हो जाय, तो अभी इसे 'ग' प्रति ही मान लेना ठीक होगा॥

(१)इसके लिये 'प्रकाश' के ईश्वर-निरूपण प्रकरण के एक श्लोक और उसके पाठान्तरों से,जो १३ वें पृष्ठ में लिखित है, इसका मिलान करें। वह इस प्रकार है:—

"श्रीमानर्च्यः शरण्यो+बहुविधविबुधैर्योगिगम्याङ्घ्रिपद्मोऽ-
स्पृश्यः क्लेशादिभिः सत्समुदितसुयशाः सूरिमान्यो वदान्यः।
शश्वच्छ्रीरामचन्द्रः×सुमहितमहिमा साधुवेदैरशेषै-
र्निर्मृत्युः सर्वशक्तिर्विकलुषविजरो गीर्मनोभ्यामगम्यः॥२॥"

और टिप्पणी में इसके पाठान्तर इस प्रकार दिये गये हैः—

"+'विधिभव प्रमुखै र्योगि', इति 'ग' पुस्तके पाठः।"

"×'शश्वन्नारायणोजः सुमहि'... इति 'ख' 'ग, पुस्तकयोः पाठः।,,

उपर्युक्त अवतरण से सिद्ध है, कि 'बहुविधविबुधैः' का पाठान्तर 'विधिभवप्रमुखै' 'ग' प्रति में है, और 'शश्वच्छ्रीरामचन्द्रः' का पाठान्तर 'शश्वन्नारायणोजः' 'ख' और 'ग' दोनों प्रतियों में है। तो 'ग' प्रति में दोनों ही पाठान्तर होने से सिद्ध हुआ, कि 'ख' प्रति के सिवा ये पाठान्तर केवल 'ग' प्रति में ही है। और 'ख' प्रति का पूर्ण-स्पष्टीकरण ऊपर हो ही चुका है, अतः यदि 'ग' प्रति का पाठान्तर अर्थ-प्रकाशिका की प्रति के पाठ से मिलजाय, तो निश्चय-सिद्ध होजाय, कि अर्थ-प्रकाशिका के सिवा दूसरी कोई 'ग' प्रति हो ही नहीं सकती, क्योंकि उपर्युक्त पाठान्तर के साथ 'ख' के सिवा कोई दूसरी प्रति का, उल्लेख ही नही हुआ है। अतः अब अर्थ प्रकाशिका वाली प्रति के पाठ से उपर्युक्त पाठ और पाठान्तर के मेल और विभेद का विचार करें। अथ प्रकाशिका में यह पाठ इस प्रकार हैः—

"श्रीमानर्च्यः शरण्यो विधिभवप्रमुखैर्योगिगम्याङ्घ्रिपद्मो-
ऽस्पृश्यः क्लेशादिभिः सत्समुदितसुयशाःसूरिमान्यो वदान्यः।
शश्वन्नारायणोऽजः सुमहितमहिमा साधुवेदैरशेषै-
र्निमृत्युः सर्वशक्तिः विकलुषविजरो गीर्मनोभ्यामगम्यः ॥९॥"

उपर्युक्त रेखाङ्कित शब्दों के मिलाने से तो यह स्पष्ट हो ही जाता है, कि अर्थ-प्रकाशिका वाली प्रति का पाठ 'प्रकाश' के पाठ के ऐसान

होकर पाठान्तर के ही समान है, अतः निश्चित हो गया, कि मिलान से अर्थ-प्रकाशिका की प्रति के सिवा दूसरी कोई पुस्तक 'ग' प्रति सिद्ध ही नही हो सकती। अतः अर्थ-प्रकाशिका वाली प्रति ही 'ग' पुस्तक है।

जब यह तय पा चुका, कि पं० राम टहल दासजी द्वारा सम्पादित श्री वैष्णव-मताब्ज भास्कर का ही नामकरण या वर्ण-सङ्केत 'ख' प्रति है, और अर्थ-प्रकाशिका टीका वाली पुस्तक ही 'ग' प्रति, तो अब 'प्रकाश' के पाठों और पाठान्तरों से इन प्रतियों के पाठों का मिलान कर जाँच करनी चाहिये, कि इनके नाम पर आये हुए पाठान्तरों के अतिरिक्त जो केवल दूसरी प्रतियों के ही नाम पर पाठान्तर आये है, वस्तुतः इनसे विभिन्न-पाठ है, या इन्ही के पाठों को दूसरी नामधारी-प्रतियों के नाम पर पेश किये गए है। यदि ऐसा सिद्ध हो, कि वस्तुतः पाठों तो इन्ही प्रतियों के है, किन्तु वर्ण-सङ्केत में नामकही इनके भी, और कही इनके न देकर अन्य प्रतियों के उल्लिखित किये गये है, तो समझना चाहिये, कि अन्य प्रतियों के होने का कथन ही असत्य है। तब तो निश्चितरूप से यह मानना ही पड़ेगा, कि इन्ही प्रतियों को, भिन्न भिन्न नामधारी प्रतियों के रूप में सिर्फ धोखा देने के लिये कथन हुआ है। अतः अब इसकी सत्यता की जाँच कीजिये।

(२) प्रकाश के ५ वें पृष्ट में, जसमें प्रश्न-स्वरूप ग्रन्थ का आरम्भ हुआ है, वह प्रश्न-श्लोक इस प्रकार लिखा गया है:—

"तत्त्वं किं किंच जाप्यं रघुपतिशरणौ * वैष्णवैर्ध्यानमिष्टं, मुक्तेः किं साधनं सत्सुमतिमतिमतो÷धर्म एकोस्ति कश्च।"

इसके पाठान्तर इस प्रकार दिये गये हैं:—

"* 'परमिह विबुधैः' इति 'ख' 'ज' 'च' पुस्तकेषु पाठः।
÷ 'वरमधिकतमो' इति 'क' 'ख' 'ज' पुस्तकेषु पाठः।"

उपर्युक्त पाठान्तरों में 'ख' प्रति का नाम तो आया है, परन्तु 'ग'

प्रति में भी इन पाठान्तरों के ही समान पाठ है, फिर भी उसका उल्लेख नही किया गया है। क्या उसका स्थान यहाँ 'क' 'च' या 'ज' में से तो किसी ने ग्रहण नही कर लिया? नही तो फिर उसका ('ग' प्रति का) भी नामोल्लेख होना चाहिये था !

(३) इसी प्रकार आगे के अन्य उदाहरणों से भी स्पष्ट होगा, कि सर्वत्र ऐसी ही करनी भरी हुई है। उदाहरण के लिये पुनः प्रकाश पृष्ठ ६ के एक श्लोक और उसके पाठान्तरों को लीजिये।

"इत्थ पृष्टस्त्वया यः सकलहितकरः प्रश्नराशिर्गरिष्ठो,
वेद्यः सर्वश्रुतीनां जगति सुरसुरानन्द सद्यः स तुभ्यम्।
प्राचार्य्याचार्यवर्य्यान् यतिपतिसहितान्सादरं तान् प्रणम्य,
सम्यक् छास्त्रानुसार गुरुवरवचसा प्रोच्यते श्रूयतां तत+ ॥५॥"

इसका पाठान्तर इस प्रकार दिया गया है:—

"+'इत्थं तत्त्वादिविज्ञोऽखिलविविदिषया विश्रुतः श्रौतनिष्ठो,
रामानन्दोभिन्द्यो जगति सुरसुरानन्दपृष्टो गरिष्ठः।
प्राचार्य्याचार्यवर्य्यान् यतिपतिसहितान् प्रोक्तवांस्तत्प्रणम्य,
श्रीमाँतस्मै रमेशं शरणमुपगतस्तद्विजिज्ञासुमुख्यैः ॥'
इति 'क' 'ग' 'घ' 'च' पुस्तकेषु पाठः "

यद्यपि इस पाठान्तर के ही समान 'ख' प्रति में भी पाठ है, परन्तु यहाँ उसका उल्लेख नही है। फिर किस तरह विश्वास किया जा सकता है, कि अन्य प्रतियों के नाम ठीक ही दिये गये हैं। इससे तो यही अनुमान होता है, कि 'ख' प्रति को ही 'क' 'घ' 'च' के रूप में तीन विग्रह धारण कराया गया है।

(४) इसी प्रकार प्रकाश' पृष्ठ ८ के मूल श्लोक और पाठान्तर की रहस्यमयी लीला भी देखिये। यहाँ मूल श्लोक का एक चरण इस प्रकार लिखा गया है:—

"÷ पृष्ठानामेकमाद्यं त्रिकमपि शृणु तद्भेदतो नामभेदैः॥६॥"
और पाठान्तर के रूप में इस प्रकार लिखा गया है:-
'❀ प्रश्नानामे' इति 'क' 'च' 'छ' पुस्तकेषु पाठः।"

यद्यपि 'ख' और'ग'दोनों प्रतियों में इस पाठान्तरके समान हीपाठ है, परन्तु यहाँ दोनों में से किसी का भी नामोल्लेख नहीं हुआ है। फिर इस सम्पादन और संशोधन को रहस्यमयी लीला न कहाजाय, तो और क्या कहा जा सकता है ? क्या यहाँ 'ख' और ग' ने ही 'क' 'च'और 'छ' का स्वांगरूप धारण किया है ? नही तो ऐसी बेराह- बहक क्यों ?

(५) इसके आगे प्रकाश' के ११ वें पृष्ठ के ईश्वर निरूपण-प्रकरण के एक लीलाखण्ड को भी देखिये,मूल-श्लोक का प्रथमचरणहै:-
'विश्वजातं यतोऽद्धा यदचितमखिलं लीनमप्यस्ति यस्मिन्"
और इसका पाठान्तर इस प्रकार दिया गया है: —
"। लीनमन्तेऽस्ति' इति 'च' 'छ' पुस्तकयोः पाठः।"

यद्यपि 'ख' प्रति में इस पाठान्तर के ही समान पाठ है, फिर भी उसका नामोल्लेख यहाँ नहीं हुआ है। क्या उसी का नामकरण यहाँ च' 'छ' कर दिया गया है ? इसके अतिरिक्त 'ग' प्रति में न तो 'प्रकाश' के मूल-पाठ के समान 'लीनमप्यस्ति' ही पाठ है न पाठन्तर के ही समान 'लीनमन्तेऽस्ति, बल्कि उसमें 'लीनमत्यस्ति' पाठ है, और यही पाठ जयपुर की प्रति में भी, और आपके श्रीगुरुदेवकृत ' श्रीसम्प्रदायदिक्प्रदर्शन' म भी है, परन्तु इस पाठभेद का आपने कोई जिक्र ही नही किया है। यह मनमौजीपन क्यों ?

(६) पुनः इसी तरह प्रकाश पृष्ट १५ के रहस्यत्रय-प्रकरण के एक रहस्य-खण्ड का भी दर्शन कर कृतार्थ होइये।मूलश्लोक का एक चरण है-:
"स जाप्यस्तारकाख्यो मनुवर इह तैर्वह्निबीजं यदादौ" इत्यादि
और पाठान्तर है:-
जाप्य तत्तारकाख्यं मनुवरमखिलैर्वह्निवीजं तदादौ" इत्यादि
"इति 'क' 'ख' 'च' पुस्तकेपु पाठः।"

• यहाँरेखाङ्कित शब्दों के देखने से पाठ-भेद स्पष्ट ही दृष्टि गोचर हो रहे हैं। इसमें 'ख' प्रति का नाम तो आया है, परन्तु इस पाठान्तर के

समान ही 'ग' प्रति में पाठ रहने पर भी उसका यहाँ नामोल्लेख नहीं हुआ है। क्या 'मृत-सञ्जीवनी' प्राप्ति के लिये ही यहाँ 'ग' को 'कच' का नाटकीय-रूप धारण करा दिया गया है ?

(७)पुनः 'प्रकाश' पृष्ठ ७६ की भी दो एक लीला देखिये। मूल श्लोक है:-

"समुच्यते + चेतनवाचिना तु तत्किङ्करत्वैक फलाधिपत्यम्"

और पाठान्तर इस प्रकार दिया गया है:-

"×-'समुच्यते चेतनजीववाचिना तत्किकरैकत्वप्रयोजनत्वम्' इति 'क' 'ग' पुस्तकयोः पाठः।"

यहाँ पाठान्तर अशुद्ध बना कर ही रख दिया गया मालूम होता है, क्योंकि 'ग' प्रति में उपर्युक्त प्रकार का पाठ न होकर इस प्रकार है:-

"समुच्यते चेतनजीववाचिना तत्किङ्करत्वैकप्रयोजनत्वम्"

अतः कह सकते हैं, कि 'तत्किङ्करत्वैक' के स्थान में 'तत्किकरैकत्व' अशुद्ध बनाया हुआ पाठ देकर पुस्तक की भ्रष्टता प्रदर्शन के लिये ही युक्ति खेली गयी है,। हां, शेष पाठ-भेद अवश्य हैं। किन्तु 'ग' प्रति के ही समान 'ख' प्रति में भी पाठ है, फिर इसका भी नामोल्लेख यहाँ क्यों नहीं किया गया ? क्या वर्ण-समीपी होने के कारण 'ख' का ही नामकरण यहाँ 'क' हो गया है ?

(८) इसी पृष्ठ में आगे चल कर एक मूल-श्लोक-खण्ड इस प्रकार लिखा गया है:-

"÷उपायार्थपरेणात्र त्वखण्डनमसोच्यते।"

और पाठान्तर में उल्लिखित है:-

"-उपायार्थपरेणासावखण्ड०' इति 'क' 'ख' 'छ' पुस्तकेषु पाठः।"

यद्यपि 'ग' प्रति में भी इस पाठान्तर के समान ही पाठ है, परन्तु यहाँ उसका नाम नहीं आया है क्या यहाँ 'ग' ने 'छ' का रूपानुकरण किया है ?

(९) पुनः 'प्रकाश' पृष्ठ ८१ के एक श्लोक का पूर्व-खण्ड इस प्रकार दिया गया है:-

"+सर्वाधीशेश्वरप्राप्तिर्हेतुस्तत्राभिधीयते॥"

और पाठान्तर इस प्रकार उल्लिखित है:-

"×'सत्राधीशेश्वरस्याति'- इति 'घ' 'च' 'छ' पुस्तकेषु पाठः।"

यहाँ भी पाठान्तर अशुद्ध ही मालूम होता है क्योंकि 'सत्रा' दृष्टि-दोष

से 'सर्वा' का ही अशुद्ध छपा हुआ रूप ज्ञात होता है। और 'ख' 'ग' प्रति में ऐसा ही पाठ है भी। यदि यह कहें, कि 'ख' 'ग' में रहने से क्या? हाँ उसके अनुसार तो पाठान्तर दिया नहीं गया है? तो यह भी चलने, का नहीं. क्योंकि एक तो 'सर्त्रा' शब्द का कोई अर्थ नही हो सकता, दूसरे इसके आगे का शब्द 'प्राप्ति' जो कि 'स्याप्ति' के पाठान्तर स्वरूप आया है 'ख' 'ग' प्रति के अनुसार ही है। फिर इस अंश के लिये ये क्यों नहीं पाठान्तर में उल्लिखित हुए? इससे निश्चित हैं. कि 'सर्वा' के स्थान पर प्रेस की भूल से 'सर्त्रा' छप गया है, और 'ख' 'ग' प्रति ही यहाँ 'घ' 'च' 'छ' नाम धारिणी हुई है। नहीं तो पाठान्तर में इनका भी नामोल्लेख अवश्य होना चाहिये था; वह कहाँ पच गया?

(१०) अब इस श्लोक के उत्तर-खण्ड को भी देखिये:-

"×सीता पुरुषकारार्था श्रीत्यनेन पदेन तु ॥ ३ ॥"

इसका पाठन्तर इस प्रकार आवेश-पूर्ण लिखा गया है:—

"*–'लक्ष्मी पुरुषकारार्था' ऐसा पाठ 'छ' पुस्तक में उपलब्ध होता है। परन्तु वह पाठ मूर्ख, दुष्ट और आगृहग्रहगृहीत होने से धिक्कृत और तिरस्कृत है ॥"

यद्यपि इस पाठान्तर के समान ही 'ख' प्रति में पाठ है। और इस मुद्रित प्रति का पं० रामटहलदासजी के द्वारा सम्पादन होने के ही कारण यहाँ उन्हीके सङ्केत में इतनीं अपमान कारक टिप्पणी लिखी गयी है परन्तु वह उलट कर. इनके अपने सिर इसलिये पड़ती है, कि 'ख' के स्थान में उस प्रति का यहाँ नाम 'छ' लिखा गया है। इन सब लगातार गड़बड़ियों के होने का कारण यही है, कि वस्तुतः कोई अन्य पुस्तक रही होती, तब तो सम्पादन में उसे देखकर पाठान्तर देने में सत्यता रहती? कुछ है तो नही ही, अतः कल्पित नामावलियाँ बराबर उलटी-सीधी पड़ा करती हैं।

(११) इसी तरह प्रकाश पृष्ठ ९८ में मूल-श्लोक का पूर्वार्ध इस प्रकार दिया गया है:—

"+प्रोक्ता वत्सक ! मन्त्ररत्नविवृतिः सन्मानसाभीष्टदं,,
सद्वेद्य+सकृदित्यवेहि चरमं निर्णीतवाक्यार्थकम् ॥"

और पाठान्तर इस प्रकार है:—

"†उक्तेत्थं शृणु मन्त्ररत्न विवृतिः" इति 'क' 'ग' 'घ' पुस्तकेषु पाठः।

"×'सद्देयं सकृदेव प्रेतिवरमम्' इति, 'ग' 'च' पुस्तकयोः पाठः।"

यद्यपि 'प्रकाश' के टिप्पणियों के चिन्हों में प्राय: गड़बड़ियाँ रहा करती हैं जैसा कि ऊपर के उद्धरणोंके देखनेसे प्रायः विदितहो चुका होगा, परन्तु शङ्का के देखने से यथार्थ का अनुमान हो जाता है अतः इस प्रमादकी ओर ध्यान देना व्यर्थ है, फिर भी इससे प्रमादी और मनमौजीपन का परिचय तो मिलता ही जाता है। खैर, पाठान्तर में 'ग' प्रति का नामोल्लेख तो हुआ है, परन्तु इसके समान ही पाठ 'ख' प्रति में रहने पर भी यहाँ उसकी गणना नहीं की गयी है। अत: यहाँ भी 'ख' को 'क' 'घ' का रूपानुकरणकर्त्ता मानना ही पड़ेगा।

(१२) इसके आगे पृष्ठ १२६ में एक श्लोक का उत्तरार्ध इस प्रकार दिया हुआ है:—

'×ममर्चनं वन्दनदाससख्यकांन्यात्मार्पणं सा नवधेतिगीयते॥८॥'

और पाठान्तर इस प्रकार है:—

"×समर्चनं वन्दनदाससख्यमात्मा' 'क' 'ख' पुस्तकयोः पाठः।"

यद्यपि 'ग' प्रति में भी इस पाठान्तर के समान ही पाठ है, परन्तु उसकी गणना यहाँ नहीं की गयी है। क्या, यहाँ उसीकी गणना 'क' कर डाली गयी है?

'प्रकाश' पृष्ट १५५ से १५७ तक प्रायः पाठान्तरों की झड़ी सी लगी हुई हैं, अतः वे क्रमसख्या से मिलाकर उद्धृत किये जाते हैं। पहले क्रमशः मूल पाठों को, पश्चात् पाठान्तरों को, उद्धृत करूँगा।

मूल-पाठ क्रमशः इस प्रकार है:

(१३) "×भवन्त्युपायान्तर एव सर्वे स्वातन्त्र्यतो मुक्तिपदप्रदास्ते
सुकर्मसंवेदनभक्तियोगाः प्रपत्तिनिष्ठैः समनुष्ठितास्तु ॥३॥"

(१४) *अणुत्वतो निर्भरतापरैस्तैः श्रीव्याप्तिराद्यैरभिधीयते हि।
प्रपञ्चनिर्मातृविरञ्चि हेतुश्रीरामपादाब्जनिविष्टचित्तैः ॥४॥"

(१५) ×नित्यं सा पुरुषकारभूता श्रीरनपायिनी।
अनुपायान्तरैर्विज्ञैरुच्यते तदुपायता ॥ ५ ॥"

(१६) "×इष्ट वात्सल्यसिन्धोश्च वात्सल्यं दोषभोगिता।
नित्यं समुच्यते तज्ज्ञैः सदाचारपरायणैः ॥ ६ ॥"

इसके पाठान्तर क्रमशः इस प्रकार हैं:-

(१३) "×भवन्त्युपायान्तर एव सर्वे स्वातःऽयतस्ते खलु मोक्षसाधकाः।
सुकर्मसंवेदनभक्तियोगा अनुष्ठितास्तैस्तु प्रपत्तिनैष्ठिकैः॥
इति 'क' 'ख' 'ग' 'छ' पुस्तकेषु पाठः ?"

(१४) "❀अथोच्यते निर्भरतापरैस्तैः श्रीव्यापिरद्धासुबुधैरणुत्वतः।
प्रपञ्च .. . निविष्ट मानसैः"
इति 'ग' 'घ' 'च' 'छ' पुस्तकेषु पाठः।"

(१५) "×'पुरुषकारपरा विनिगद्यते सकमला कमला कमलप्रिया।
इयमसौ कुशलैस्तदुपायता नृभिरुपायसुशून्यपरैःपरैः॥'
इत्येवं छन्दःपरिवर्त्तनेनापि पठितोऽयं श्लोकः 'ख' 'छ' 'ज' पुस्तकेषु।"

(१६) "×विभोश्चवात्सल्यमहार्णवस्य वात्सल्यमिष्टं खलु दोषभोगिता।
समुच्यते तैर्नृभिरस्वतन्त्रैः सदा सदाचारपरायणैर्वरैः॥
इत्येवमपि च्छन्दसा परिवर्त्य पठितोयं श्लोकः 'ख' 'छ' 'ज' पुस्तकेषु।"

यद्यपि इन चारो श्लोकों के पाठान्तरों के ही समान 'ख' और 'ग' दोनो प्रतियों में पाठ है, फिर भी १४ वें उद्धरण के पाठान्तर में 'ख', आर १५ वें एवं १६ वें उद्धरणके पाठान्तरोंमें 'ग' की गणना नहीं की गयी है। ऐसा क्यों ?

(१७)इसीप्रकार'प्रकाश'पृष्ठ१८५में एक श्लोकका उत्तरार्धइस प्रकारहै:-
"❀तद्भोजनानन्तर-भोजनाच्च स्यात्कोटिजन्मार्जितपापनाशः॥"
और पाठान्तर है:—
"❀नृणां तदुच्छिष्टसुभोजनाच्च' इति 'क' 'छ' पुस्तक में पाठ है"।

यद्यपि 'ख' 'ग' दोनों पुस्तकों में इस पाठान्तर के ही समान पाठ है, परन्तु यहाँ एक की भी गणना नही हुई है। अतः कहना ही पड़ेगा, कि 'ख' 'ग' कोही यहाँ 'कछ' की कछनी पहिराये हुए नवीन वेषभूषे में बनाठना कर उपस्थित किया गया है।

(१८) इस प्रकार पाठान्तरों की इतनी लीला के बाद 'प्रकाश' पृष्ट १९२ में दो मूल-श्लोकों के ही वहिष्कार कर दिये गये हैं, और उसकी सूचना टिप्पणी में इस प्रकार दी गयी है:—
"×क' 'च' 'छ' पुस्तकेष्वतः पूर्वमयं श्लोक उपलभ्यते—
"श्वेताद्रौ त्वथ सिंहरूपिणमथो श्रीधर्मपुर्यां तथा,

योगानन्दमशेषदेवसुनुतं श्रीकाकुले तु प्रभुम्।
देवैर्वन्द्यमथान्ध्रनायकमिह श्रीदं तथाद्दोबले,
तस्मिञ्छ्रीगरुडाद्रिसंज्ञ उचिते देवं हिरण्यार्दनम् ॥"

यद्यपि ये दोनों श्लोक 'ख' और 'ग' दोनों प्रतियों में हैं और उन दोनों प्रतियो में इन श्लोकों की संख्या १६३ है। परन्तु यहाँ दोनों में से किसी का भी उल्लेख नही हुआ है। अतः कहना अनिवार्य है, कि 'ख', 'ग' का ही यहाँ 'क' 'च' 'छ' नामकरण कर दिया गया है।

इसके बाद 'प्रकाश' के १९५ और १९६ पृष्ठ में मूल पाठ और पाठान्तरों के नाम पर पुनः विभिन्न श्लोकों की जोड़ी मिलायी गयी है। और प्रकाश में इसका मूलपाठ इस प्रकार रखा गयाहैः—

(१९)*"त्रिकालसन्ध्यादिविधायसक्तैःश्रीरामचन्द्रं चसमर्च्यनित्यम्
भाष्येण रामायणतो हि कालक्षेपो विधेयोऽपि च भारतेन॥२॥"

(२०)"÷स्याच्चेदशक्तःशृणुयात्कुतश्चिद्ग्रन्थानमूञ्छुद्धतमाद्विशुद्धः
श्रीरामसन्नामसुकीर्तनं च द्वयानुसन्धानमथो विदध्यात्॥३॥"

और पाठान्तर इस प्रकार उल्लिखित हैंः—

(१९) " * 'क' 'ग' 'छ' पुस्तक में इस स्थल पर दूसरे प्रकार का श्लोक है। यथाः—

'प्रातर्मध्याह्नसायंकृतशुचि कृतिभिः श्रीशमभ्यर्च्य रामं।
श्रीमद्रामायणेन प्रतिदिनमखिलैर्भारतेन प्रपन्नैः।
शक्तैःश्रीभाष्यतश्च द्रविडमुनि कृतोत्कृष्टदिव्यप्रबन्धैः।
कालक्षेपो निधेयः सुविजितकरणैः स्वाकृतेर्यावदन्तम् ॥"

(२०) "÷'क', 'ख' 'छ', पुस्तक में निम्नलिखित पाठ हैंः—
स्नानादिकर्माणि विधाय तत्र श्रीभाष्यमेव शृणुयादशक्तः ॥
चेदादरान्नामसुकीर्तनं च द्वयानुसन्धानमथो विदध्यात् ॥

यद्यपि उपर्युक्त दोनों पाठान्तर 'ख' 'ग' इन दोनों प्रतियों में हैं, और दोनों प्रतियों में इन श्लोकोंकी संख्या १६८ और १६९ है, फिरभी १९वी संख्या के उद्धरण में 'ख' प्रति का नामोल्लेख छोड़ दिया गया है और २०वीसंख्या के उद्धरण में 'ग' प्रति की गणना नही की गयी है। ये सब गड़बड़ियाँ क्यों? इसीलिये तो, कि वस्तुतः सात प्रतियोंका कथन ही नितान्त-असत्य है? यही कारण है, कि उन वस्तुस्थितिहीन-

प्रतियोंके वर्ण-सङ्केत भी काल्पनिक ही सिद्धहुए; और यहभी साबित हो गया, कि टिप्पणियों में जो भिन्न २ प्रतियोका पाठान्तर-गणना के रूपमें नामोल्लेख हुआ है, वह भी असत्य ही है; नही तो फिर ऐसी गड़बड़ी पड़ती ही क्यों ?

इतने पर भी यदि दुराग्रहवश यह कहा जाय, कि जिन प्रतियों के लिये जो वर्ण,-सङ्केत निश्चित है, उससे काम न लेकर उसकी जगह दूसरे वर्ण-सङ्केत से काम लेने से ही गड़बड़ी पड़ी है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'ख' प्रति के सम्बन्ध में तो प्रस्तावना में ही स्वीकृति है कि यह प्रति अभी मुद्रित हुई है। तो सिवा पं० रामटहलदासजी द्वारा सम्पादित पुस्तकके, उस समय इसकी कोई प्रति मुद्रित ही नही हुईथी। इसके अतिरिक्त'ख'प्रति के जो गुण-कर्म बताये गये है, उससे भी इसका मेल खाता ही है, यथा एक ही श्लोक-संख्या ११ का दो बार छपजाना और अन्य प्रतियों से दो श्लोक अधिक होना, इत्यादि। अतः 'ख' प्रति के विषय में तो कहा ही नही जा सकता, कि यह पं० रामटहलदासजी द्वारा सम्पादित पुस्तक का वर्ण-सङ्केत नही है। फिर सभी पाठान्तरों से इसके पाठ मिलने पर भी अनेक स्थानों में इसका नामोल्लेख न कर जो अन्य प्रतियों के किये गये है, वह क्यों ? इसीलिये तो, कि किसीतरह सात- प्रतियों का कथन सत्य-सिद्ध हो ? परन्तु वस्तुतः है वे असत्य, अतः वर्ण सङ्केतों की स्थिति भीक्योंकर ठीक हो ! दूसरे, अन्य अन्य प्रतियों के नाम से छुट-बढ पाठान्तर देकर केवल यही धोखा देने का तो प्रयत्न किया गया था कि किसो प्रतियों में कुछ पाठ है और किसो में कुछ ? यद्यपि सभी पाठान्तर इन्ही दोनों प्रकाशित प्रतियों के है।

अब रह गयी 'ग' प्रति की बात। यद्यपि इसके सम्बन्ध में भी यह कहने की गुञ्जाइश नही है, कि अर्थ-प्रकाशिका का वर्ण सङ्केत ग' प्रति नही हो सकता, क्योंकि जहाँ केवल 'ग' प्रति के नाम से ही पाठान्तर दिये हुए है जो उद्धरण संख्या १-२ में उद्धृत है, वह अर्थ-प्रकाशिका से मिलती है, तो क्यों नही इसे 'ग' प्रति माना जाय ? यदि उसे दूसरे का वर्ण सङ्केत कहें, तो जब वे पाठान्तर इसके पाठ के अनुकूल है, तो इसका भी नामोल्लेख वहाँ क्यों नहीं हुआ ? अतः इसके विरुद्ध चीं चपड़ चल नही सकती!

किन्तु, थोड़ी देर के लिये झूठे को दौड़ा देखने के अभिप्राय से यह मान भी लें कि अच्छा, अर्थ-प्रकाशिका 'ग' प्रति नहीं, कोई अन्य ही प्रति है, तो वह कौन सी ? क्योंकि दो स्थान पर छोडकर जितने भी पाठान्तर आये हैं वे सब इसके पाठों के समान ही है; और दो स्थानों पर जो फर्क पड़ता है, वह उपर्युक्त सिद्ध 'ख' प्रति में है ही, अर्थात् 'सीतापुरुषकारार्थी' की जगह 'लक्ष्मीपुरुषकारार्थी' और 'लीनमत्यस्ति' के स्थान में 'लीन मन्तेऽस्ति'। इन दोनों प्रतियो के पाठों से भिन्न तो कोई पाठान्तर है ही नही फिर झूठ और व्यर्थ अन्य प्रतियों और उनके नाम से इनके पाठान्तरों को देकर कहाँ तक दिन दहाड़े आँखमें धूल झोंकतेहुए मत सिद्ध किया जा सकता है? यदि अर्थ-प्रकाशिका वाली प्रति को ग'प्रति न मानकर और हीप्रति मान भी लें, तौ भी वही गड़बड़ियाँ बनी ही रहती है। यथा:—

यदि अर्थ-प्रकाशिका'क'प्रति मानी जायगी;तोउपर्युक्त उद्धरण संख्या १ के दोनों पाठान्तरों, २ री सङ्ख्या के पहले पाठान्तर, ९वी संख्या के पूरा पाठान्तर, ११ वी संख्या के२रे पाठान्तर, और १४,१५ और१६ वीं सख्या के सभी पाठान्तरों में क'प्रति को गणना नही होने से यह किस प्रकार अर्थ प्रकाशिका का वर्ण सङ्केत माना जा सकता है, जब कि ये सभी पाठान्तर अर्थ-प्रकाशिका के पाठ के समान ही है ?

इसे 'ख' प्रति भी मान ही नही सकते, क्योंकि यह वर्ण-सङ्केत पं० रामटहल दासजी द्वारा सम्पादित, मुद्रित-पुस्तक के लिये निश्चित है, जैसा कि ऊपर ही अच्छी तरह सिद्ध कर दिखलाया जा चुका है। और इसको 'ग' प्रति सिद्ध कर पहले विचार भी किया ही जा चुका है, अतः अब 'घ' प्रति मानकर इसका विचार करें।

यदि अर्थ-प्रकाशिका-टीका वाली प्रति थोड़े समय के लिये घ' प्रति मान भी ली जाय तौ भी पूर्व जैसी गड़बड़िया बनी ही रहती है। जसा कि उपर्युक्त उदाहरण-संख्या १ के दोनों पाठान्तरों, सख्या २ के दोनों पाठान्तरों, संख्या ४, ६, ७ एवं ८ के सभी पाठान्तरों, संख्या ११ के २ रे पाठान्तर तथा संख्या १२, १३, १५, १६ १७,१८,१९ और २० के सभी पाठान्तरों में' घ' प्रति की गणना नहीं रहने से यह 'घ' वर्ण-संङ्केत किस प्रकार अर्थ प्रकाशिकावाली प्रति कर

लिये माना जा सकता है, जब कि ये सभी पाठान्तर अर्थ-प्रकाशिका वाली प्रति के पाठ से मिलते है ? यदि 'घ' प्रति इसका वर्ण-सङ्केत होती, तो इन सभी पाठान्तरों में इसकी (घ की) गणना अवश्य होनी चाहिये थी।

यदि उक्त प्रति का वर्ण-सङ्केत 'च' माना जाय, तौभी काम चलने का नहीं क्योंकि वैसी ही गड़बड़ियां फिर भी बनीही रहती है। जैसे कि उपर्युक्त-उद्धरण की संख्या १ के दोनों पाठान्तरों, संख्या २ के २ रे पाठान्तर संख्या ७,८ के सभी पाठान्तरों,संख्या ११ के पहले पाठान्तर, तथा संख्या १२, १३, १५, १६ १७ १६ और २० के सभी पाठान्तरों में 'च' प्रति का नामोल्लेख नहीं है, परन्तु इन सभी पाठान्तरों के समान ही अर्थ-प्रकाशिकावाली प्रति में पाठ है, और 'च' प्रति के नाम पर जैसा ५ वें उद्धरण में पाठान्तर है,वैसा पाठ इसमें है ही नहीं, फिर इसके लिये 'च' वर्ण-सङ्केत किस प्रकार माना जा सकता है ?

इसी प्रकार यदि इसे 'छ' प्रति मानने का आग्रह हो, तौभी उन गड़बड़ियों से रत्ती भर का भी छुटकारा होने का, नहीं क्योंकि उपर्युक्त-उद्धरण-संख्या १ के दोनों पाठान्तरों, संख्या २ के दोनों पाठान्तरों तथा संख्या ३, ६, ७, ११ एवं १२ के सभी पाठान्तरों में 'छ' प्रति की गणना नहीं हुई है, परन्तु अर्थ-प्रकाशिका वाली प्रतिमें इन सभी पाठान्तरों के समान ही पाठ है, और ५ वीं एवं १० वी संख्या में 'छ' प्रति के नाम पर जैसा पाठान्तर है, वैसा इसमें नहीं है। अतः इसके लिये 'छ' वर्ण सङ्केत हो ही नहीं सकता।

यदि इतने पर भी दुराग्रहवश 'डूबते को तिनके का सहारा' की तरह अर्थ प्रकाशिका वाली प्रति के लिये 'ज' वर्ण-सङ्केत मानने की जिद्द ही हो जाय, तब भी उन गड़बड़ियों से पिण्ड छूटने का नहीं; क्योंकि उद्धरण-संख्या १, ३, ४, ६, ७, ८, ९, ११, १२, १३, १४, १७, १८, १६, और २० के सभी पाठान्तरों में 'ज' का नामोल्लेख नहीं हुआ है, परन्तु अर्थ-प्रकाशिका वाली प्रति में इन सभी संख्याओं के पाठान्तरों के समान ही पाठ है, अतः किसी प्रकार सिद्ध ही नही हो सकता,कि अर्थ-प्रकाशिका के लिये 'ज' वर्ण-सङ्केत आया है।

अब विचारणीय यह है, कि तो वस्तुतः बात क्या है ? क्या कोई पुस्तक ही नहीं थी ? दरअसल बात यह है, कि सातों प्रतियों के कथन और

उनके नाम पर पाठान्तरों के देने की बात तो असत्य ही लिखी हुईहै, जैसा कि ऊपर सिद्ध हो चुकाहैं;परन्तु अर्थ प्रकाशिका वाली तथा पं० राम टहलदासजी द्वारा सम्पादित ये दोनों प्रतियाँ अवश्य थीं,जो कि टीका एवं पाठान्तरों के साम्य तथा साक्षात-कथन से भीसिद्धहै। यही कारणहै,कि जितने भी पाठान्तर दिये गये हैं, सब इन्हीं दोनों प्रतियों के हैं, इसके बाहर के एक भी नही, परन्तु भ्रम डालने के लिये कितने स्थानों में कहीं इनके कहीं किसी कल्पित-प्रतिके, तो कहीं किसीके वर्ण-सङ्केत लिखे गये है, इसीसे ठीक ठीक तरह किसी का भी निर्वाह नहीं हो सका ह। ये सब केवल इसीलिये किये गये हैं, कि लोगों को ऐसे ही पाठों को ठीक मानने का धोखा हो जाय, मेरा चलाया चल जाय, और मतलब सध जाय।

अब दूसरे क्रम-विभाग के कथन की कचाई भी देखिये, वह कथन यहहै:—

"(२) परमपूज्य श्रीगुरुदेव महाराज जी से प्राप्त हुई (श्रीगुरु-दत्त) पुस्तक के अनुसार, जिसको उनके श्रीमुख से आद्योपान्त श्रवण किया था,संशोधन में काट-छाँट अदल-बदल और ग्रहण-त्याग किये गये हैं।"

प्रथम उपविभाग के विवेचन में सात प्रतियों में से पाँच की स्थिति-हीनता, और संशोधन में उससे मदद लेने के कथन की असत्यता का तो पूरा पूरा विचार हो चुका। अब इस आठवीं पुस्तक की प्राप्ति के जाली-कथन की लीला भी देखिये। इस अंश पर विचार करने के लिये सब से उत्तम मार्ग यही होगा, कि आपके श्रीगुरुदेवजीमहाराज—स्वर्गीय महान्त श्रीयुत राम मनोहर प्रसाद जी बड़ा स्थान अयोध्या—की लिखी और प्रकाशित की हुई पुस्तक 'श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्रदर्शन' तथा उसके उत्तर-स्वरूप आपकी लिखी तथा प्रकाशित की हुई 'श्रीसम्प्रदाय-रक्षा' नामक पुस्तक पर एक सरसरी-दृष्टि से विचार करें। इसीसे बहुत-कुछ खुलासा हो जायगा, कि आप अपने श्रीगुरुदेवजी को किस प्रकार परमपूज्य मानते थे, उनको तथा उनके वचनों को किस पूज्य-दृष्टि से आदर तथा ग्रहण करते थे, श्रीमहान्तजी महाराज 'श्रीवैष्णव मताब्ज-भास्कर' की कैसी प्रति की जानकारी तथा मान्यता रखते थे,और उन्होंने आपको—श्रीभगवद्दासजी को—इसकी कोई विलक्षण प्रति दी थी,जैसाकि आपनेफर्माया है? और आद्योपान्त सुनाया था?

आप अपने गुरुदेव जी को जैसा परमपूज्य मानते और

उनमें तथा उनके उपदेशों में श्रद्धा-पूज्य-दृष्टि रखते थे, इसका नमूना आपके ही शब्दों में दर्शनीय है। श्रीयुत महान्तजी महाराज ने आपके तथा आपके अनुयायियों के उद्बोधन के लिये ही सम्वत १९७९ वि० में 'श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्रदर्शन' नामकी पुस्तक छपाई थी, जिसमें उन्होंने मुख्यरूप से श्रीस्वामीरामानन्दजीमहाराज कृत 'श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर' तथा 'श्रीरामार्चनपद्धति' से ही गुरु-परम्परा तथा साम्प्रदायिक-सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला था। उसीके उत्तर में उपर्युक्त 'श्रीसम्प्रदाय-रक्षा' नामक पुस्तक लिखी गयी थी। इसमें श्रीयुत् महान्तजी को जिस श्रद्धा एवं पूज्य-दृष्टि से आपने स्मरण किया है, उसीसे आपकी गुरुभक्ति तथा उपर्युक्त बातों की सत्यता का पूरा पूरा परिचय मिल जाता है। यह पुस्तक आपने अपने श्रीगुरुदेव श्रीयुक्तमहान्तजी के ही विरुद्ध लिखकर अपमान-स्वरूप उन्हींको इस प्रकार समर्पित की थी:—

"-आज गुरु-पूर्णिमा है। गुरु पूजा का दिवस है। मेरे पास ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिससे श्रीचरणों की आज पूजा कर सकूं। केवल यही 'श्रीसम्प्रदाय रक्षा' रूप पत्र और पुष्प भक्ति पुरस्सर-समर्पित है।"

अब पूजा में कैसे कैसे पत्र-पुष्प चढ़ाये गये हैं, इसका दर्शन भी कर लीजिये। पहले 'श्रीसम्प्रदाय रक्षा' की अवतरणिका पर ही दृष्टि डालिये:—

"हमारे स्वनाम-धन्य परमपूज्य श्रीगुरुजी महाराज ने संस्कृत हिन्दीमय एक छोटी सी पुस्तक छपाई है, जिसका नाम है 'श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्रदर्शन'। मैंने उसे गुरुवाक्य समझकर मन्त्रोपदेशवत् सादर अनेक बार पढ़ा। हमारी क्षुद्र-बुद्धि श्रीमहाराजजी के उपदेशार्थ को समझ नहीं सकी।" अवतरणिका पृष्ठ २

"परन्तु हमारे श्रीमहाराजजी के हृदय में आर्य-समाजियों की कुटिल भावना, ईसाइयों की अस्पृश्य भावना कहाँ से आ गयी? श्री महाराज जी!...श्री रामोपासक होने का ढोंग छोड़ दें।"

"मैं समझता हूँ कि मेरे शब्द श्रीगुरुके प्रति बहुत कठोर हैं, परन्तु धर्म की मर्यादा को उल्लङ्घन करने वाले सम्पूर्ण साम्प्रदायिक सन्त महान्तों को उपस्थित की हुई बातों पर कुछ भी विचार न करनेवाले, अपने घर की सम्भाल न करके दूसरों की बात में फँस कर इधर उधर दौड़ने वाले श्रीगुरुमहाराज के प्रति मेरे यह कठोर शब्द

प्रभु के यहाँ क्षन्तव्य होंगे।" अवतरणिका पृष्ठ ८

"तात्पर्य यह है कि यह पुस्तक उसी दुर्व्यसन का फल मात्रहै।"

अवतरणिका पृष्ठ ९

इसके बाद 'श्रीसम्प्रदाय रक्षा' के अन्य स्थलों से भी इस मनो-वृत्ति का पुष्ट परिचय प्राप्त कीजिये। इस ग्रन्थ का हिन्दी भाग संस्कृत भाग से पीछे लिखा गया है, अतः संस्कृत में जो लिखा गया है, उससे कहीं विस्तार और अधिकता हिन्दी में है, दूसरे, हिन्दी सर्व साधारण के भी समझने योग्यहोगी, अतःइसीसेउद्धरण देना उचितहै। वे इसप्रकारहैः-

"अब इसके आगे श्रीमहाराजजी ने गुरु-परम्परा जैसे कठोर-पथ में प्रयाण किया है। यह मार्ग सावधान होकर, पक्षपात आवरण विमुक्त दृष्टि से देख २ कर चलने योग्य है, मुझे आशङ्का है कि हमारे श्रीमहाराजजी के कोमल चरणों में कण्टक प्रवेश न करे।"

"श्री० स० दि० प्र० १३ पृष्ट में महाराजजी ने श्रीरामार्चन-पद्धति के तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। जिनमें रामानुजस्वामी की परम्परा के अनुकूल श्रीरामानन्द-सम्प्रदाय की परम्परा होने का समर्थन है। यहां हमारे श्रीगुरुजी महाराज को बड़े प्रयास के बाद कुशकाशावलम्बन मिला। परन्तु बात तो वही हुई कि 'खोदा पहाड़ निकला चूहा, सो भी मरा हुआ'। जिस रामार्चन-पद्धति को आप श्री रामानन्दस्वामीजी कृत मानकर श्वासोच्छ्वास ले रहे हैं, वह श्री रामानन्दस्वामी जी कृत है ही नहीं।" श्रीसम्प्रदाय रक्षा पृष्ट १९-२०

"अच्छा अब श्रीरामानन्दीय वैष्णवों का सिद्धान्त सुनिये।"

श्रीसम्प्रदाय रक्षा पृष्ट ३२

"अब श्रीरामनारायण के अभेद की बात सुनिये। आपने सिद्ध करने का यह प्रयास किया है कि श्रीरामजी और श्रीनारायणजी का स्वरूपाभेद है। परन्तु यह सर्वथा असत्य है। यदि श्रीरामानन्द-सम्प्रदाय के सिद्धान्त श्रीचरण भले प्रकार मनन किये होते तो कभी ऐसा नहीं लिख सकते थे। मैं यहाँ सप्रमाण बता देना चाहता हूँ, कि श्रीराम और नारायण में स्वरूपाभेद नहीं है। सुनने की कृपा करिये।"

श्रीसम्प्रदाय रक्षा पृष्ट ३६

"अरे दुष्ट पक्षपात पिशाच! तेरा बुरा हो! सैकड़ों बार तुझे

धिक्कार है, तेरी ही दुष्टता से हमारे परमाराध्य श्रीगुरुजी महाराज अपनी प्रतिज्ञा तोड़ बैठे। श्रीमहाराजजी ने जो अपनी भूमिका में बड़े प्रयत्न से "कृत्याकरण" और 'अकृत्य करण' का विवेक किया है, आज स्वयं उस विवेक से पृथक्‌ हो गये" श्रीसम्प्रदायरक्षा पृष्ट ३८-३९

ऊपर के उद्धृत अवतरणों से यह अच्छी तरह स्पष्ट हो ही गया कि आप अपने श्रीगुरुदेव महाराजजी की कैसी पूजा करते तथा उनमें एवं उनके उपदेशों में कैसी श्रद्धा एवं पूज्य-दृष्टि रखते है ! हद तो यहाँतक हो गयी, कि उनको आर्य-समाजियों की कुटिल भावना और ईसाइयों की अस्पृस्य-भावना युक्त तथा ढोंगी रामोपासक एवं दुर्व्यसनी तक कह डाला। इतना ही नहीं, धर्म की मर्यादा को उल्लङ्घन करनेवाला भी कहा, सो भी 'श्वासोच्छ्वास' ले रहे हैं' आदि अपमान जनक शब्दों में। खैर, यहाँतक तो उनके आचरण पर ही आक्षेप किये गये थे, इसके बाद उनकी योग्यता और आचार्यत्व पर भी आक्रमण कर आप स्वयं आचार्य का आसन ग्रहण करते हुए उनको ही उपदेश देने लगगये है, जब कि उन्हें यह कहा गया, कि आप विवेक भ्रष्ट हो गये, सम्प्रदाय का सिद्धान्त मनन नही किया है, और मै ही बताता हूँ, सुनिये, इत्यादि। इस पर भी तुर्रा यह, कि आज प्रचार करने चले है, कि परमपूज्य महाराजजी से मैने श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर आद्योपान्त श्रवण किया था, और उन्होंने ही जो प्रति मुझे दी थी, मैने उसके अनुसार ही इस ग्रन्थ में काटछाँट, अदल-बदल और ग्रहण-त्याग आदि किये है।

जब इतने पर भी सन्तोष नही हुआ, तो आगे चलकर आपने अपनेको गुरुदेवजीका 'प्रियतम' भी प्रचार कर डाला है। यथा, श्रीमद्रामानन्द दिग्विजय' के समर्पण के अन्त में लिखा है:-

'वियोग-कातर आपका-प्रियतम "ब्रह्मचारी"

श्रीगुरुदेवजी के प्रति आपकी उपर्युक्त अपमान भरी करतूतों से सब कोई भली प्रकार समझ सकते है, कि ऐसे शिष्य के प्रति गुरु का क्या भाव हो सकता है; अर्थात् पूर्ण-परित्याग। और वस्तुतः श्रीयुतमहान्तजी ने किया भी ऐसा ही था। यहां आपके उपर्युक्त 'प्रियतम' शब्द से कुछ लोग यह भी सोच सकते हैं कि इतने पर भी गुरुजीने अपनी असीम-वत्सलता से इन अपराधों को क्षमा कर

प्यार किया होगा। परन्तु यह तो तब हो सकता था, जबकि आप अपन अपराधों की क्षमा के लिये प्रार्थना कर शरण में जाते,सो तो बराबर उनका अपमान करना-कराना ही आपने अपना कर्तव्य समझ लिया था, फिर वे किस प्रकार ग्रहण कर सकते थे ? और अन्त तक उन्होंने नही ही ग्रहण किया। जैसा आपने स्वयं निजकृत 'भक्त कल्पद्रुम' में लिखा है:-

"रघुपते न कदापि दया वशात् स्वगुरुणा गुरुणापि कटाक्षितः
अयि विभो कुदशं खलु मादृश तव विना दयया क इहावतु ॥४॥

अर्थ-" हे प्रभो ! शास्त्रों में लिखा है कि जिसका कोई रक्षक नही, उसकी रक्षा गुरु करते हैं परन्तु हम तो ऐसे अभागे है कि श्रीगुरु महाराज भी कभी कृपा-दृष्टि से मेरी ओर नही देखते। तब हे नाथ ! आपकी दया के विना अब मुझे कौन बचा सकता है ॥४॥"

इतने पर भी उनके परधाम पधारने पर अब अपने को उनका 'प्रियतम' प्रचार करना निर्लज्जधृष्टता की पराकाष्ठा है। यह सिर्फ अपनी गुरु भक्ति फैलाकर उनके नाम पर झूठी झूठी बातें लिखना और छपाना केवल धोखा देने के लिये है, भ्रम में डालना है। जैसा कि आगे के विवेचनों से इसका और भी स्पष्टीकरण हो जायगा।

श्रीयुक्त महान्तजी ने 'श्रीसम्प्रदाय-दिक्-प्रदर्शन' में श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर के बहुत से श्लोकों को प्रमाण-स्वरूप उद्धृत कर उसके द्वारा साम्प्रदायिक-सिद्धान्तों का विवेचन किया है। यदि महान्तजी सचमुच आपको किसी दूसरी तरह के 'श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर' को, जैसा कि आप अब बतलाते हैं, पढाते और वैसी प्रति दिये होते, तो श्रीसम्प्रदाय दिक्प्रदर्शन में श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर के प्रमाण-स्वरूप आये हुए उन श्लोकों के विरुद्ध, जो आप के श्रीगुरुदत्त पुस्तक के अनुसार बताये हुए 'प्रकाश' के पाठों से भिन्न है, अवश्य ही श्रीसम्प्रदाय-रक्षा नाम्नी उत्तर-पुस्तक में आप जुटकर इस बात की घोषणा करते हुए श्रीमहान्तजी को पाबन्द कर सकते थे, कि आपने श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर की जो प्रति मुझे दी है तथा पढ़ाया है उसमें तो ऐसा पाठ ही नहीं है। जब श्रीमहान्तजी की दी तथा पढ़ाई हुई प्रति में आपके अभिप्रेत पाठ रहते ही, तो उसे छोड़ कर उस दिन अन्य प्रकार से धींगाधींगी-पूर्वक उत्तर देने की

कोई आवश्यकता ही नहीं होती। किन्तु श्रीसम्प्रदाय-रक्षा में तो इस बात की गन्ध तक नहीं है, जिससे अनुमान भी किया जा सके, कि आपने श्रीगुरुदेवजी से श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर पढा है, और उनसे आपको उसकी वह विलक्षण-प्रति मिली है। बल्कि वहाँ तो आपने उस पाठ को बिना मीन-मेष किये ही स्वीकार किया है। सब से विलक्षणता तो यह है, इसमें आपने स्वय गुरु का आसन ग्रहण कर श्रीयुक्त महान्तजी को ही उपदेश देना शुरू कर दिया है, जैसा पहिले ही दिखलाया जा चुका है।

उपर्युक्त उन उदाहरणों से यह बिलकुल स्पष्ट है कि आपने अपने श्रीगुरुजी महाराज को यहाँ तक कह डाला है, कि आपने श्रीरामानन्द-सम्प्रदाय का सिद्धान्त मनन नहीं किया है अर्थात् जानते ही नहीं, वह मुझ से सुनिये। इतने पर भी यदि यह कहने की धृष्टता की जाय, कि श्रीयुक्त महान्तजी से आपने श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर की विलक्षण-प्रति पाई थी, और उनसे ही इसका आद्योपान्त श्रवण भी किया था, तो यह दिन-दहाड़े आँख में धूल झोंक कर मतलब सिद्ध करने की बेराह-चेष्टा है। श्रीयुक्त महान्तजी, श्रीवैष्णव मताब्ज-भास्कर की कैसी प्रति की जानकारी एवं मान्यता रखते थे, इसके लिये श्रीसम्प्रदाय-दिकप्रदर्शन में श्रीवैष्णव मताब्ज-भास्कर के प्रमाण-स्वरूप उद्धृत श्लोकों के सिवा और कोई प्रामाणिक-साक्षी हो नहीं सकती, अतः सब से उत्तम-मार्ग यही है, कि इन श्लोकों के पाठों से 'प्रकाश' के पाठों का मिलान कर आपके कथन की मान्यता की खराद कर डालें।

श्रीयुक्त महान्तजी ने निजकृत श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्रदर्शन के चौथे पृष्ठ में श्रीसुरसुरानन्दजी के प्रश्नवाले श्रीवैष्णव-मताब्ज भास्कर के श्लोक के पूर्वार्ध को इस प्रकार उद्धृत किया है:-

"तत्वं किं किञ्च जाप्यं परमिह विबुधै वैष्णवै ध्यान मिष्टं।
मुक्तेः किं साधनं सद्वर अधिकतमो धर्म एकोऽस्ति कश्च-॥४॥"

परन्तु यही श्लोक 'प्रकाश' में इस प्रकार है:-

"तत्वं किं किं च जाप्यं रघुपति शरणै * वैष्णवै ध्यान मिष्टं।
मुक्तेःकिं साधनं सत्सुमति मति मतो ÷ धर्म एकोऽस्ति कश्च॥४॥"

और इसके पाठान्तर इस प्रकार दिये गये हैं:—

"*'परमिह विबुधैः' इति 'ख' 'ज' 'च' पुस्तकेषु पाठः।
† 'वरमविक्रमो' इति 'क' 'ख' 'ज' पुस्तकेषु पाठः।"

प्रकाश पृष्ट ५

यद्यपि 'प्रकाश' के पाठान्तरों को पहले ही सात प्रतियों के विचारके समय उद्धृत किया जा चुका है, और यह उपयुक्त-श्लोक उद्धरण-संख्या २ में आ भी चुका है, परन्तु वहाँ से मिला कर यहाँ यह देखने में, कि श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्रदर्शन में श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर के उद्धृत श्लोक, 'प्रकाश' के मूल-पाठ के समान है या पाठान्तर के, बड़ी असुविधा होगी। अतः दोबारे उद्धृत करने के लिये लाचार होना पड़ा है। अब सज्जन महानुभाव यह मिला कर देखते जायँ, कि श्रीयुक्त महान्तजी का 'श्रीसम्प्रदाय दिक्प्रदर्शन' में उद्धृत 'श्रीवैष्णव मताब्ज भास्कर' का मान्य पाठ 'प्रकाश' के मूल-पाठके समान है, या पाठान्तर के। यह तो सहज सिद्ध मानना ही पड़ेगा कि जिससे इसका मेल होगा, श्रीमहान्तजी की भी वही या उसके अनुसार ही पुस्तक सिद्ध होगी।

प्रकाश के उपर्युक्त मूल-पाठ और पाठान्तर से 'श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्रदर्शन के पाठ का मिलान कर देखने से यह स्पष्ट हो ही रहा है, कि श्रीयुक्त महान्तजी का मान्य-पाठ प्रकाश के मूल-पाठ के समान न होकर पाठान्तर के ही सदृश है अतः इस उदाहरण से स्पष्ट हो गया, कि श्रीयुक्त महान्तजी का मान्य श्रीवैष्णव मताब्ज भास्कर, 'प्रकाश' से भिन्न है। इस लिये प्रकाशकार के इस कथन में किञ्चित् भी सत्यांश नहीं है, कि श्रीगुरुदत्त-पुस्तक के अनुसार इस ग्रन्थ का—प्रकाश का-पाठ रखा गया है। केवल यही नहीं, बल्कि श्री सम्प्रदाय दिक्प्रदर्शन में श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर के ऐसे जितने भी उदाहरणीय श्लोक आये हैं, जिसके प्रकाश में पाठान्तर दिये गये हैं, सब के सब ऐसे है, जो प्रकाश के मूल-पाठ से न मिल कर पाठान्तर से ही मिलते हैं। ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है, जो 'प्रकाश' के पाठान्तर से न मिल कर मूल-पाठ से मिले। अतः किसी प्रकार विलक्षण 'श्रीगुरुदत्त' प्रति के कथन की सत्यता की गुञ्जाइश ही नहीं

. रह गई है। यथा 'श्रीसम्प्रदायदिक्प्रदर्शन' पृष्ट ४ में भी 'श्रीवैष्णव-मताब्ज—भास्कर' के प्रमाणित श्लोक खण्ड और श्लोक इस प्रकार आये हैं:-

(१) "प्रश्नानामेकमाद्यम्,"

(२) "विश्वजातं यतोऽद्धा यदवितमखिलं,लीनमत्यस्ति यस्मिन्.॥ ८॥

(३) "श्रीमानर्च्यः शरण्यो विधिभवप्रमुखैर्योगि गम्याङ्घ्रिपद्मो...।"
शश्वन्नारायणोऽजः सुमहितमहिमा साधु वेदैरशेषैः—॥ ६॥"

ये ही 'प्रकाश' में मूल-पाठ और पाठान्तर के रूप में इस प्रकार हैं:—

(१) मूल पाठ—-।- "पृष्टानामेकमाद्यम्"
पाठान्तर "*'प्रश्नानामे' इति 'क' 'च' 'छ' पुस्तके षुपाठः।" पृष्ट ८

(२) मूलपाठः-'विश्वंजातंयतोद्धायदवितमखिलंलीनमप्यस्ति+यस्मिन
पाठान्तर -।-'लीनमन्तेऽस्ति' इति 'च' 'छ' पुस्तकयाः पाठः।" पृष्ठ ११

(३) मूलपाठ 'श्रीमानर्च्यःशरण्यो-।-बहुविधविबुधैर्योभिगम्यांह्रिपद्मोऽ
शश्वच्छ्रीरामचन्द्रः×सुमहितमहिमासाधुवेदैरशेषैः-...॥"

पाठान्तर ÷ विधिभवप्रमुखैर्योगि' इति 'ग' पुस्तके पाठः।

×'शश्वन्नारायणोजः सुमहि..., इति 'ख' 'ग' पुस्तकयोःपाठः। पृष्ट १३

इससे भी स्पष्ट हुआ ही, कि 'श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्रदर्शन' के पाठ प्रकाश के मूलपाठ के सदृश न होकर पाठान्तर के ही समान हैं। हाँ, उपर्युक्त दूसरे उद्धरण में 'श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्रदर्शन' में जो 'लीन मत्यस्ति' शब्द पड़ा है, वह प्रकाश के मूलपाठ में 'लीनमप्यस्ति' और पाठान्तर में 'लीनमन्तेऽस्ति' है, जिससे उपर्युक्त शब्द का-लीनमत्यस्ति का—न तो प्रकाश के मूलपाठ से ही मेल होता है,न पाठान्तर से ही, किन्तु इस न मिलने का कारण,प्रकाश-कार की टिप्पणी में 'लीन मत्यस्ति' इस पाठान्तर के नहीं देने की भूल है। जब अर्थ-प्रकाशिका वाली प्रति में 'लीनमत्यस्ति' पाठ मौजूद है, और आपने मुख्यतः इसी पुस्तक के सहारे 'प्रकाश' का सम्पादन एवं टीका भी की है, फिर भी पाठान्तर में इस पाठ-भेद को आप उद्धृत न कर केवल अन्य का ही करें, तो इस अनमिलन का दायित्व आपके ही ऊपर हैं। बल्कि जयपुर वाली प्रति में भी अर्थ-प्रकाशिका के समान 'लीनमत्यस्ति' ही पाठ है। केवल पं० रामटहल दासजी द्वारा सम्पादित पुस्तक में 'लीनमन्तेऽस्ति' है। हाँ, एक बात अवश्य है, कि

सभी प्रतियों में योगिगम्याङ्घ्रि पद्मो' पाठ है. परन्तु आपने विलक्षण पाठ योगि गम्यांह्रि पद्मो' रखा है।

इसी प्रकार 'श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्रदर्शन' के पृष्ठ ६-७ में उद्धृत 'श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर' के प्रमाणित-श्लोकों के पाठों से, 'प्रकाश' के मूल-पाठों और पाठान्तरों के मेल-अमेल को भी देखिये। यथा श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्रदर्शनः—

(४) "सिंहं गतेऽर्के विधिभेन युक्ता तत्राष्टमी या तु विधूदये बुधे"॥८४'

(५) "जन्माष्टमी सात्र मुदा व्रतोत्सवं कृष्णार्चनं जागरणं महाफलम्।'

(६) "पुरुषकारपरा विनिगद्यते सकमला कमला कमल-प्रिया।
इयमसौ कुशलैस्तदुपायता नृभिरुपाय-सुशून्य-परैः परैः॥९५॥

(७) 'विभोश्च वात्सल्यमहार्णवस्य वात्सल्यमिष्टं खलुदोषभोगिता ९६

यही 'प्रकाश' में मूल-पाठ और पाठान्तर के रूप में क्रमशः इस प्रकार अङ्कित है:—

(४) मूलपाठः—'सिंहमर्के गते सौम्ये कृष्णो जातो विधूदये" पृष्ठ १४९

आपने इसका पाठान्तर एकदम पचालिया है, इसलिये क्या दिया जाय?

(५) मूलपाठः-'अत्र प्रकुर्वीतमुदाव्रतोत्सवं रामार्चनंजागरणंमहाफलम्।'
पृष्ठ १४३

इसका पाठान्तर भी आपने भक्षण ही कर लिया है, इसके अतिरिक्त इसे पूरी तरह पचाने के लिये कृष्ण-जयन्ती के प्रकरण से उड़ा और अदल-बदल कर राम-जयन्ती के प्रकरण में चुपचाप मिला भी दिया है। अतः पाठान्तर देने में विवशता है। पुनः—

(६) मूलपाठः—×नित्यं सा पुरुषकारभूता श्रीरनपायिनी।
अनुपायान्तरैर्विज्ञैरुच्यते तदुपायता॥ ५॥

पाठान्तरः—'×पुरुषकारपरा विनिगद्यते सकमला कमला कमलप्रिया
इयमसौ कुशलैस्तदुपायता नृभिरुपायसुशून्यपरैः परैः।'

इत्येवं छन्दःपरिवर्त्तनेनापि पठितोयं श्लोकः'ख' 'छ' 'ज' पुस्तकेषु। पृष्ठ १५६

(७) मूलपाठः -"×इष्ट वात्सल्य सिन्धोश्च वात्सल्यं दोषभोगिता॥६॥"

पाठान्तरः—×विभोश्चवात्सल्यमहार्णवस्य वात्सल्यमिष्टं खलुदोषभोगिता।
इत्येवमपिच्छन्दसापरिवर्त्य पठितोऽयं श्लोकः 'ख' 'छ' 'ज' पुस्तकेषु।' १५७

अब इससे भी सहज ही देखा जा सकता है, कि श्रीयुत महान्तजीके उद्धृत पाठों के सदृश 'प्रकाश' के मूलपाठ नहीं है, बल्कि पाठान्तर के ही सदृश हैं; और जिसके पाठान्तर नहीं दिये गये है, वहाँ भी जसा अर्थ-प्रकाशिका आदि प्रतियों में पाठ है, जो कि प्रकाश के मूल-पाठों से भिन्न है, उसी के समान पाठ श्रीमहान्तजी ने भी श्रीसम्प्रदाय-दिक् प्रदर्शन' में उद्धृत किया है। अतः स्पष्ट है, कि श्रीमहान्तजी को वही पाठ मान्य था, जैसा अर्थ-प्रकाशिका या इसके समान अन्य प्रतियों में था। वस्तुतः, बात तो यह है, कि 'प्रकाश' के पाठों के सदृश पाठ वाली तो पहले से कोई प्रति ही नहीं थी। यह तो प्रकाशकार की नयी कल्पना है, जैसा कि पहले भी सिद्ध किया जा चुका है, अब किया जा रहा है, और आगे किया जायगा।

इसी प्रकार 'श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्रदर्शन' के १० वें पृष्ठ में 'श्रीवैष्णव-मताब्ज भास्कर' से उद्धृत प्रमाणित श्लोकों पर भी दृष्टि डालिये:—

(८) "शक्तैः श्रीभाष्यतश्च द्रविडमुनिकृतोत्कृष्टदिव्य-प्रबन्धैः।
कालक्षेपोविधेयःसुविजितकरणैः स्वाकृतेर्यावदन्तम्॥१६८॥"

और अब 'प्रकाश' के मूलपाठ और पाठान्तर से इसका मिलान कीजिये:—

'मूलपाठ-❋ त्रिकालसन्ध्यादिविधायशक्तः श्रीरामचन्द्रंचसमर्च्यनित्य
भाष्येण रामायणतो हि कालक्षेपोविधेयोऽपिचभारतेन२"

पाठान्तरः—पृष्ठ १६५

❋'क' 'ग' 'छ' पुस्तक में इस स्थल पर दूसरे प्रकार का श्लोक है। यथाः—

प्रातर्मध्याह्नसायं कृतशुचिकृतिभिः श्रीशमभ्यर्च्यरामं,
श्रीमद्रामायणेन प्रतिदिनमखिलैर्भारतेन प्रपन्नैः।
शक्तैः श्रीभाष्यतश्च द्रविडमुनिकृतोत्कृष्टदिव्यप्रबन्धैः।
कालक्षेपो विधेयः सुविजितकरणैः स्वाकृतेर्यावदन्तम्"

उपरि लिखित प्रमाणों से यह स्पष्ट ही विदित हो रहा है, कि आपके श्रीगुरुदेवजी का पाठ आपके 'प्रकाश' के मूलपाठ से भिन्न है; और जिस पाठ को आपने परित्याग कर नीचे टिप्पणी में रख दिया है, उसीके सदृश है। फिर किस प्रकार यह कथन सत्य माना जा सकता है, कि आपने गुरुदत्त पुस्तक के अनुसार पाठों का ग्रहण-त्याग किया है? बल्कि विपरीत-प्रमाण तो यह मिल रहा है, कि

गुरुजी के पाठों के प्रतिकूल ही ग्रहण-त्याग किया गया है।

यद्यपि यह श्लोक पूर्व के परम्परा- सम्बन्धी-विवादों में प्रमाण रूप से उपस्थित हो चुका है, और इस पर बहस भी हुई है, अतः प्रसिद्ध है। परन्तु वहाँ केवल अर्थ की ही धींगाधींगी आपने की थी। फिर भी इस कमजोरी को आप समझ रहे थे, कि वास्तविक प्रकाश में आने पर यह धींगाधींगी टिक नहीं सकती, जैसा कि आगे दिखाया भी जायगा। इसीलिये अब की उसकी जड़ ही काट डाली, जिसमें 'रहे न बाँस, न बाजै बाँसुरी'। किन्तु इन्हीं सब कारणों से इसने ऐसा अमरत्व धारण कर लिया है, कि अब सहार करने से यह पेट में पच नहीं सकता। बल्कि पाठ बदलने की कायरता दिखाने से इसने उपर्युक्त कमजोरी पर और भी वज्र-प्रहार किया है, जिससे आप के प्रयत्न की कमर ही टूट गयी है।

अब देखिये, कि पूव के विवादों में इस श्लोक का क्या रूप था जिसे आपने भी स्वीकार किया था। उस समय सब से पहले लिखित-प्रमाण के रूप में यह श्लोक 'तत्त्वोद्बोधन' में उपस्थित हुआ था, यथाः—

"शक्तैः श्रीभाष्यतश्च द्रविडमुनिकृतोत्कृष्टदिव्यप्रबन्धैः।
कालक्षेपो विधेयः सुविजितकरणैः स्वाकृतेर्यावदन्तम्॥१६९॥

इस १६८ के श्लोक में श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवों को यावज्जीवन श्रीभाष्य और द्रविड-प्रबन्धों से कालक्षेप कर्त्तव्य बताकर श्रीरामानन्द स्वामीजी ने यह स्पष्ट ही बता दिया है, कि उनका सम्प्रदाय श्रीरामानुज सम्प्रदाय ही है। श्री भगवद्रामानुज प्रणीत श्रीभाष्य और श्रीशठ-कोपादि प्रणीत द्रविड़-प्रबन्ध श्रीरामानुज-सम्प्रदाय को छोड़ कर और किस सम्प्रदाय में है?

"स्नानादिकर्माणि विधाय तत्र श्रीभाष्यमेवं शृणुयादशक्तः १६९

इस १६९ वें श्लोक के पूर्वार्ध में भी श्रीरामानन्दीयों को श्रीभाष्य श्रवण का विधान किया है।" तत्त्वोद्बोधन पृष्ठ ७-८

इसका उत्तर 'तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा' में आपने इस प्रकार किया है:—

'शक्तैः श्रीभाष्यतश्च द्रविडमुनिकृतोत्कृष्टदिव्यप्रबन्धैः, कालक्षेपो विधेयः...,

इत्यादि श्लोक जो आपको तृणावलम्बन मिल गया है वह भी मृग-तृष्णिका मात्र है। उस श्लोक में 'श्रीभाष्य' रामानुज भाष्य

के लिये नहीं आया है और न 'श्री' पद का भाष्य के साथ उस अर्थ में सम्बन्ध ही है। वहाँ तो भाष्य की प्रतिष्ठा और गुरुता जनाने के लिये 'श्री' पद जोड़ा गया है। जैसे किसी के नाम के साथ श्रीपद जोड़ दिया जाता है। अतः यहाँ पर 'भाष्य' पद से 'श्रीरामानन्द भाष्य' का ग्रहण है। 'द्रविडमुनि' से द्रविडाचार्य ले लिया, वह भी साहस मात्र ही है। यहाँ पर द्रविडमुनि से तात्पर्य अगस्त्यमुनि का है। यह सब साम्प्रदायिक विषय है। इसे आप इतनी शीघ्रता से नही समझ सकेंगे। श्रीअगस्त्यजी ने द्रविडदेश में उत्पन्न होकर अगस्त्य-संहिता बनाई है जिसमें श्रीरामजी का पूर्णतः परत्व वर्णन है उसी संहिता के लिये 'द्रविड मुनि कृत.. प्रबन्धैः' लिखा गया है।"

इसी श्लोक को अर्थसहित आपके श्रीगुरुदेवजीने 'श्रीसम्प्रदायदिक्-प्रदर्शन' के पृष्ठ १०-११ में इस प्रकार लिखा है:—

"शक्तैः श्रीभाष्यतश्च द्रविडमुनिकृतोत्कृष्टदिव्यप्रबन्धैः।
कालक्षेपो विधेयः सुविजितकरणैः स्वाकृतेर्यावदन्तम् (१६८)
इत्यादिना परमोपदेशस्तुल्य एव ॥ २७ ॥

श्रीरामानुजस्वामीजीने अन्त अवस्था में जो अपने शिष्यों को उपदेश दिया है, कि श्रीभाष्य अथवा द्रविड-प्रबन्ध पढ़े।.......उसी का विस्तार से कथन हमारे श्रीरामानन्दस्वामीजी ने भी अपने 'श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर'के श्लोक से किया है, कि शक्ति वले को श्रीभाष्य और द्रविड-प्रबन्धों को पढ़ना चाहिये।......इत्यादिक दोनों का उपदेश तुल्य है ॥ २७ ॥"

[इस उदाहरण में जो अंश छोड़ दिया गया है, वह यादवाद्रि के निवास की विधि का है, अतः यहाँ इस लिये छोड़ा गया है, कि उस पर आगे स्वतंत्र विचार किया जायगा]

इसका भी उत्तर आपने निजकृत श्रीसम्प्रदायरक्षा' के हिन्दी विभाग के ५ वें पृष्ठ में पूर्वपक्ष एवं उत्तर पक्ष के रूप में इस प्रकार कियाहै:—

"(१९) दोनों सम्प्रदायों में श्रीभाष्य और द्रविडप्रबन्ध का पाठ करना समान है।"

"इन १९ वें हेतु का श्रीमदनन्ताचारी स्वामी के 'तत्वोद्बोधन' नामक पुस्तक खण्डन स्वरूप 'तत्वोद्बोधन मीमांसा' में भले प्रकार

खण्डन किया गया है। अतः यहाँ ग्रन्थ विस्तार की आवश्यकता नहीं।"

इससे स्पष्ट है, कि यहाँ भो आपने 'तत्वोद्बोधन मीमांसा' की स्वीकृति और विचार को ही माना है। और 'तत्त्वोद्बोधन मीमांसा' के उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट ही है, कि उसमें श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर के पूर्व-प्रमाणित श्लोक को आपने पाठ-भेद रहित मान कर ही अर्थ में धीगाधींगी की है, और पुनः उसी धीगाधींगी का यहाँ श्रीसम्प्रदायरक्षा में समर्थन किया है।

पुनः यहाँ 'प्रकाश' में प्रस्तावना पृष्ठ १३ से १५ तक फिर से इसी विषय का विचार बड़े दाव-पेंच से उठाया गया है। पहले तो बहुत कुछ पूर्व के विचारों का ही समर्थन सा इसमें किया गया है, परन्तु उन विचारों में जो गहरी कमजोरी थी, इसकी वजह से पेट में बराबर चूहे कूदते ही थे, इसीलिये इस ग्रन्थ में पाठ ही बदल दिया है, जैसा कि ऊपर के उद्धृत श्लोक से विदित हुआ होगा। और प्रस्तावना में उसे लेकर और भी दोहरी धींगाधींगी कर डाली है, जिसका सारांश इस प्रकार है:-

"शक्तैः श्रीभाष्यतश्च द्रविडमुनिकृतोत्कृष्टदिव्यप्रबन्धैः'

'श्रीभाष्यमेव शृणुयादशक्तः'

इत्यादि श्लोकों से यदि कोई कहें, कि यदि श्रीरामानन्दस्वामीजी, श्रीरामानुजस्वामी को गुरु और अपने को उनके सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं मानते, तो श्रीभाष्य और शठकोप स्वामीकृत प्रबन्ध से कालक्षेप करने की आज्ञा क्यों देते? तो इस प्रश्न का समाधान मैं 'तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा' में भी कर चुका हूँ। यहाँ भी सुनिये। इस श्लोक में 'श्री-भाष्य' शब्द से श्रीरामानुज स्वामीजीके भाष्य का ग्रहण नहीं है। यहाँ 'श्री' शब्द प्रतिष्ठा वाचक है, जैसे श्रीराम श्रीसीता आदि के साथ जोड़ा जाता है। यहाँ श्रीभाष्य शब्द का अर्थ 'भाष्य' है और 'भाष्य' का तात्पर्य प्रस्तुताप्रस्तुतन्याय से 'ब्रह्मसूत्र का भाष्य' समझना चाहिये। उस समय श्रीस्वामीजी ने ब्रह्मसूत्र का भाष्य ही लिखा था, अन्य भाष्य प्रस्तुत नहीं थे, उपनिषद्भाष्य और गीता भाष्य उन्होंने पीछे से लिखा' अतः ब्रह्मसूत्र भाष्य का ही 'भाष्य' शब्द से ग्रहण है अथवा पुरुषोत्तमाचार्यजी महाराजने भी ब्रह्मसूत्र पर एक बृहद् भाष्य लिखा था, जिसका अस्तित्व उस काल तक अवशिष्ट था, परन्तु पूर्ण नहीं मिलता था सम्भवतः।

उसका भी यहाँ पर भाष्य शब्द से ग्रहण किया जाना अनुचित नहीं है। तात्पर्य यह है, कि श्रीरामजीको ही परात्पर ब्रह्म स्वीकार करने वाले श्रीरामानन्दस्वामीजी महाराज, नारायण को परात्परब्रह्म मानने वाले श्रीरामानुज कृत ब्रह्मसूत्र भाष्य से अपने श्रीरामोपासक शिष्य प्रशिष्यों को कालक्षेप करने की आज्ञा नहीं दे सकते।

अब रहा द्रविडमुनि शब्द। तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा में मैंने लिखा है, कि द्रविडमुनि शब्द से श्रीअगस्त्यजी का ग्रहण है। इस विषय में भागवत प्रमाण है:-

द्रविडेषु महत्पुण्यं दृष्ट्वाऽद्रिं वेङ्कटं प्रभुः।
तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च॥

शठकोपस्वामी प्रभृति के जो प्रबन्ध हैं, वह द्रविड़ भाषा में है। उत्तर भारत में द्रविड भाषा का प्रचार न था और न आज है। तब उन प्रबन्धों से कालक्षेप की आज्ञा कैसे हो सकती है? तथा श्रीरामानुज सम्प्रदाय के विद्वान् प्रायः शठकोप स्वामी प्रभृति को द्रमिड मुनि' कहते है, द्रविडमुनि' नहीं। द्रविडमुनि तो श्रीअगस्त्य जी ही हैं।"

यहाँ तक तो आपने प्रायः पहली धींगाधींगी का ही समर्थन किया है। अब आगे उस पर भी दोहरी धींगाधींगी देखिये:—

"यहाँतक जो समाधान किया गया है, वह उपरिलिखित श्लोक-पाठ को स्वीकार करके ही लिखा गया है। परन्तु इसस्थल में पाठ-भेद है। जैसा ऊपर लिखा गया है, वैसा भी पाठ है और उससे भिन्न भी पाठ है। गुरुदत्त पुस्तक में यह आपका पाठ नहीं है। अतः उसे मैंने छोड़ दिया है और गुरुदत्त तथा अन्य प्रतियों के आधार पर अन्य पाठ लिखा है। इस पाठ में कोई शङ्का ही नहीं रह जाती।"

प्रकाश-प्रस्तावना पृष्ठ १२ से १५ तक।

इससे पूर्णरूप से स्पष्ट हो गया है, कि प्राचीन-पाठ के रहने से, यद्यपि आप अर्थ में धींगाधींगी करते आ रहे थे, परन्तु वह निर्बल—आधार टिकने का नहीं था, इसी आशङ्का से यहाँ पाठ ही बदल दिया है। उस समय तक तो सद्यः उपस्थिति के कारण पाठ—भेद की कल्पना तक नहीं हुई थी, परन्तु जब किसी प्रकार इसके रहते धींगाधींगी की राह से निस्तार नहीं दिखलाई पड़ा, तो अब बदल कर पाठभेद की दुहाई देने बैठ गये हैं। सबसे आश्चर्य

की बात तो यह है जब आप फर्माते हैं, कि "गुरुदत्त पुस्तक में यह आपका पाठ नहीं है अतः उसे मैने छोड दिया है ।" नजाने यहाँ किसको 'आप' शब्द से सम्बोधित भी कर रहे हैं ! आपके गुरुदेवजी का पाठ 'श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्रदर्शन' से ऊपर उद्धृत हो ही चुका है, और आपने उसे बदल कर अपने 'प्रकाश' में जैसा मूलपाठ बनाया है वह, और उसका पाठान्तर भी वहीं उद्धृत किया ही गया है; जिससे स्पष्ट है, कि आपके गुरुदेवजीका पाठ आपके मूलपाठ से भिन्न और पाठान्तर के ही सदृश है. अतः सिद्ध है, कि आपका पाठ आपके श्रीगुरुदेवजी के पाठ से नितान्त भिन्न है. बल्कि जिस पाठ को आपने अमान्य करके नीचे टिप्पणी के रूप अपमान-पूर्वक डाल दिया है, आपके गुरुजी का पाठ उसीके समान है । क्यों न हो,'प्रकाश' के सिवा सभी प्रतियों का पाठ तो वैसा ही है ही। फिर भी न जाने, किस दुस्साहसिकता के बल पर आप निशङ्क-उद्घोष कर रहे हैं कि "गुरुदत्त पुस्तकके अनसार मैने पाठ रखा है, उसमें यह आपका पाठ नहीं है अतः उसे मैने छोड दिया है ।" है तो सोलह आने वही पाठ फिर भी न जानें, आपने निर्लज्जता की कहाँ तक सीमा बढा रखी है कि इतने पर भी सामने ही ऐसी अनर्गल-धृष्टता कर रहे हैं ! ऐसी को कहते हैं, 'चोर का मुँह चाँद जैसा' कि चोरी भी और सीना जोरी भी । ठीक है, बकरी की तीन टांग' की कहावत भी तो कहीं चरितार्थ होनी चाहिये थी !

खैर, इससे यह तो स्पष्ट हो ही गया, कि गुरुदत्त पुस्तक तथा उसके अनुसार पाठ रखने का आपका कथन नितान्त असत्य और भ्रामक है। अब यह भी देखिये, कि आपके पूर्व-विचारों में क्या दुर्बलता थी, जिससे घबराकर आज कायरता-पूर्वक बेतरह फिसल पड़े और गुरुदेव जीके पाठ के झूठे बहाने से बचने की व्यर्थ-चेष्टा करने के कारण और भी पङ्क-मग्न हो गये हैं ।

सब से पहले 'श्रीभाष्य' सम्बन्धी विचारों की ही कमजोरी देखिये । यद्यपि श्रीरामानुजस्वामीजीकृत 'ब्रह्मसूत्र भाष्य के' लिये 'श्रीभाष्य' नाम की इतनी प्रसिद्धि तथा प्रचलन है कि सभी विद्वान् तथा अन्य सज्जन भी इससे भली भाँति परिचित हैं, और इस नाम से इसका

.प्रचुर रूप से नामोल्लेख भी किया है, फिर वैष्णवों के लिये इसकी जानकारी की तो कुछ बात ही पूछने की नही। हाँ, यह बात अवश्य है, कि श्रीरामानुज स्वामीजीने इसका नाम 'श्रीभाष्य' नहीं 'शारीरक मीमांसा भाष्य' रखा था फिर भी उसके लिये 'श्रीभाष्य' नामकी प्रसिद्धि और प्रचलन भी अवश्य ही है। यह नाम इसके लिये कबसे और क्यों प्रचलित हुआ ? इस सम्बन्ध में इस प्रकार का एक प्रसिद्ध कथानक है, कि शारदापीठ की श्रीसरस्वतीजीने प्रसन्न होकर इस भाष्य का नाम 'श्रीभाष्य' रखा था, क्योंकि इसमें किये हुए श्रुतिओं के अर्थों से वे बहुत ही प्रसन्न हुई थी, और इसे सर्वश्रेष्ठ-रूप से वरण करने के कारण इसका नाम 'श्रीभाष्य' रख दिया था।

इस सम्बन्ध में एक परम प्रसिद्ध प्रामाणिक घटना का उल्लेख मिलता है। श्रीभाष्यकार श्रीरामानुजस्वामीजी के अनन्य-गुरुभक्त-शिष्य श्री बटुकपूर्ण स्वामीजी ने 'यतिराजवैभव' नामकी एक छोटी सी पुस्तिका श्रीरामानुज स्वामीजी की संक्षिप्त जीवनीके रूप में रची थी। ये सम्भवतः आन्ध्र प्रदेश के थे, इसी कारण आप 'आन्ध्रपूर्ण' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त ग्रन्थ का तैलङ्गी-लिपि में ही प्रचार था, अतः अधिक प्रसार की दृष्टि से श्रीकाञ्ची-प्रतिवादिभयङ्करमठ-मद्रास से हिन्दी अनुवाद के साथ नागरी-लिपि में छपाकर प्रकाशित किया गया है। ग्रन्थ-कर्त्ता श्रीरामानुज स्वामीजी के साक्षात् शिष्य ही नहीं, प्रधान सेवक भी थे, जिन्होंने अपना सारा जीवन अपने गुरुदेवजी की सेवा में ही व्यतीत किया, जैसा कि इस ग्रन्थके उपसंहार से ही स्पष्ट होता है। श्रीरामानुज स्वामी जी के चिर जीवन की मंगलाशा करते हुए ग्रन्थ की समाप्ति होने से ऐसा अनुमान होता है, कि लेखक का श्रीरामानुज स्वामीजी के जीवनदशा में ही देहावसान हो गया था, अतः इस ग्रन्थ में श्रीगुरुदेवजी की अन्तदशा का इतिहास आप सम्मिलत नही कर सके, अथवा उसका वर्णन आप को असह्य हुआ, अतः छोड दिया गया हो। कहने का तात्पर्य यह है, कि इस ग्रन्थ के रचयिता, श्रीरामानुज स्वामीजी के साक्षात् शिष्य तथा मुख्य सेवक थे, अतः इनके द्वारा लिखी इस जीवनी की प्रमाणिकता एवं सत्यता में किसी तरह सन्देह करने की समाई हो ही नहीं सकती। इसमें श्रीरामानुज स्वाामी जी कृत ब्रह्मसूत्र भाष्य के

'श्रीभाष्य' नामकरण होने का इस प्रकार वर्णन हुआ है:—

ततो यतीशस्स दिशो विजेतुं शिष्यैरनेकैस्सह तत्र तत्र।
गत्वा विजित्यान्यमतं समस्तं सरस्वतीपीठमथा ससाद ॥८७॥
तद्भाष्यमादाय निधाय मूर्ध्नि य श्रीभाष्यमेतद्धरभाष्यकृत्त्वम् ॥
इतीव तस्मै प्रददौ च देवी भाष्यं हयग्रीवमपि स्वदेवम् ॥८८॥

अर्थात्—तदुपरान्त श्रीरामानुज स्वामीजीने अनेक शिष्यों को साथ लेकर वहाँ (श्रीरङ्गम्) से प्रस्थान किया, और जहाँ जिस मत के विद्वान् मिले, उन्हें पूर्णरूप से परास्त किया। फिर वे सरस्वतीपीठ (काश्मीर) में गये ॥८७॥ वहाँ पर श्रीसरस्वती देवी ने यतिवर (श्रीरामानुजस्वामी) के बनाये हुए ब्रह्मसूत्रभाष्य की पुस्तक को अपने मस्तक पर चढ़ा लिया और यह कहा, कि यह ग्रन्थ 'श्रीभाष्य', और तुम इस श्रेष्ठ भाष्य के कर्ता अर्थात् श्रेष्ठ भाष्यकार हो। ऐसा कह सरस्वती ने 'भाष्य' की पुस्तक को लौटायी' और निज इष्ट देव हयग्रीव भगवान्की मूर्त्ति प्रतिदानके रूपमें दी ॥८८॥

इससे पूरी तरह स्पष्ट है, कि 'श्रीभाष्य' नाम, श्रीरामानुजस्वामी जी कृत ब्रह्मसूत्रभाष्य का ही है, अतः श्रीरामानुज स्वामीजी ही श्रीभाष्यकार के नामसे प्रसिद्ध है। और उपर्युक्त घटना के समय से ही इस भाष्य का नाम 'श्रीभाष्य' पड़कर बराबर व्यवहार में प्रयुक्त होता आ रहा है, अर्थात् तब से इसकी 'श्रीभाष्य' के ही नाम से प्रसिद्धि और प्रचलन हुए। यही कारण है, कि श्रीरामानुजस्वामीजीने भी अपने अन्तिम-कालीन उपदेशों में इसे 'श्रीभाष्य' के ही नाम से उल्लेख किया है। जैसा कि आपके श्रीगुरुदेवजीने भी निजकृत 'श्रीसम्प्रदाय-दिक् प्रदर्शन' के पृष्ठ १० में इस सबन्ध में लिखा है:-

"श्रीभाष्यं द्रविडागमप्रवचनं श्रीशस्थलेष्वन्वहं,
कैङ्कर्यं यदुशैलनित्यवसतिः साथद्वयोच्चारणम्।
यद्वा भागवताभिमानवसतिः श्रेयः सतामित्यलं,
शिष्यान् प्रोच्य यतीश्वरः परमगाद्विष्णोः पदं शाश्वतम्।"

श्रीरामानन्द स्वामीजीने 'श्रीवष्णव-मताब्ज-भास्कर' के कालक्षेप के प्रकरण में एतदर्थक वचन को ही उद्धृत किया है, जो कि पूर्व के उद्धरण से स्पष्ट ही है। और उसमें भी उसी प्रकार श्रीभाष्य के ही नाम से

. इस ग्रन्थ का इसमें उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त श्रीस्वामीजीके दादा गुरु श्रीस्वामी हर्यानन्दजीने भी निजकृत श्रीरामस्तवराज–भाष्य के मङ्गलाचरण में श्रीरामानुजस्वामीजीके लिये 'श्रीभाष्यकार' शब्द रखकर इस भाष्य का नाम 'श्रीभाष्य' स्पष्ट कर ही दिया है। यथा:–

श्रीभाष्यकारमुदिताखिलतत्त्वसारमाधारमब्धितनयाच्युतयोः प्रणम्य
तद्वाक्सुधा रसमयैः प्रमितैर्वचोभिर्व्याचक्ष्महे रघुपतिस्तव राजमेतत्॥

यद्यपि इस सम्प्रदाय के और बहुत से महात्माओं ने भी अपनी अपनी रचनाओं में इसे 'श्रीभाष्य' के ही नामों से अङ्कित किया है किन्तु उपर्युक्त उद्धृत प्रमाणों से यह भली भाँति स्पष्ट हो गया है कि श्रीरामानुजस्वामीजीकृत वेदान्तसूत्र भाष्य का ही नाम कारण-वश 'श्रीभाष्य' पड़ा था और तब से बराबर उसीके लिये इस नामका प्रयोग होता चला आया है; अतः कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, कि इसके लिये और भी प्रमाण-संग्रह अनिवार्य ही हो। फिर भी विषय की अत्य–धिक स्पष्टता एवं इस नामके प्रयोग की व्यापकता के लिये कुछ प्रमाणों का पुनःसङ्ग्रह कर विवेचन कर देना उचित प्रतीत होता है, अतः आगे क्रमशः कुछ ऐसे प्रमाणों की उपस्थिति की जा रही है, कि जिससे श्रीरामानुज स्वामीजी कृत ब्रह्मसूत्र भाष्य के लिये 'श्रीभाष्य' नाम की स्थिति का पूर्ण रूपेण स्पष्टीकरण हो जाय।

श्रीवेदान्ताचार्यजी ने निजकृत 'न्यायसिद्धाञ्जन' के ईश्वर-परिच्छेद में लिखा है:–

"अथर्वशिरःश्वेताश्वतरादीनां निर्वाहः पुरुषनिर्णयप्रपञ्चितः श्रीभाष्यकारश्च वेदार्थसंग्रहभाष्यादिषु," इत्यादि।

इस ग्रन्थ का एक संस्करण स्वामी श्रीराममिश्र शास्त्रीजी के सम्पादकत्व में मेडिकलहाल प्रेस, काशी से सन् १९०१ ईस्वी में प्रकाशित हुआ था। इसकी भूमिका एवं टिप्पणी में भी सम्पादक ने कई स्थानो में श्रीरामानुजस्वामीजी कृत 'ब्रह्मसूत्र–भाष्य' के लिये 'श्रीभाष्य' शब्द का प्रयोग किया है यथा भूमिका के पृष्ट १ तथा ३ में लिखा है:–

"–कवितार्किककेशरिणःश्रीभाष्यकारसत्सम्प्रदायमहाध्वजे' इत्यादि
"–तेषां श्रीभाष्यादिप्रमेयप्रचुरग्रन्थेष्वभग्नाऽभवद्व्युत्पत्तिः।,

इसके अतिरिक्त इसी ग्रन्थ के पृष्ठ १०८ के मूल में लिखाहैः—
"—पञ्चरात्र प्रामाण्यस्यागमप्रामाण्ये । भाष्ये च श्रीपञ्चरात्राधिकरणे"

पुनः टिप्पणी में लिखा हैः—"। श्रीभाष्ये"

उपर्युक्त चिन्हित 'भाष्ये' शब्द की टिपणी में "श्रीभाष्ये" लिख कर टिप्पणीकार ने पूरी तरह स्पष्टीकरण कर दिया है, कि श्रीरामानुज स्वामी जी कृत 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' का प्रसिद्ध और प्रचलित नाम श्री भाष्य ही है। यहाँ गीता–भाष्य आदि में भ्रम होने की आशङ्का से ही यह टिप्पणी लिखी गयी है। और उसके लिये 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' न लिखकर "श्रीभाष्य' लिखने से ही स्पष्ट हो गया है, 'श्रीभाष्य' में 'श्री' शब्द प्रतिष्ठा या गौरव बोधक नही है, बल्कि नाम वाचक है। नही तो 'भाष्य' शब्द के स्पष्टीकरण के लिये टिप्पणी में 'श्रीभाष्य' लिखने की आवश्यकता ही क्या थी, और इस 'श्री' शब्द के संयोग से कुछ विशेष–बोधकता ही क्या आती, जब कि उसका नाम भाष्य ही था, 'श्रीभाष्य' नही ? बल्कि इस टिप्पणी की ही क्या आवश्यकता थी ? सच बात तो यह है, कि 'भाष्य' शब्द ग्रन्थ का स्वरूपबोधक--प्रकार–ज्ञापक—है, और 'श्री' शब्द उस प्रकार का नाम बोधकहै, अतः दोनों शब्द मिलकर ग्रन्थ का प्रकार सहित नाम–बोध करादेते है। इसी से इस ग्रन्थ के नाम ज्ञापन के लिये' पूरे 'श्रीभाष्य' शब्द का प्रयोग होता हैं. और मूल में एकाङ्गिक नाम के रूप में केवल 'भाष्य' शब्द का प्रयोग होने से किसी के अन्यथा–बोध हो जाने की आशङ्का से ही सम्पादक–महानुभाव टिप्पणी में उसका पूरानाम 'श्रीभाष्य' देकर खुलासा कर दिया है। एकाङ्गिक– नाम शब्द का तातपर्य्य यह ह कि प्रकरण और प्रसङ्ग की उपस्थिति एवं प्रयोग की अधिकता के कारण जब किसी के नाम-बोधका विशेष रूपेण प्रत्यक्षीकरण विद्यमान हो जाता है, तो फिर उस नाम के एक अङ्ग के द्वारा भी सम्पूर्ण नाम का बोध होने लगता है यथा 'सिद्धान्त-कौमुदी' व्याकरण ग्रन्थ मे इस सिद्धान्त पर इस रूप में प्रकाश डाला ह—

"विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वाच्यः' । देवदत्तः दत्तः । देवः । सत्यभामा 'भामा, सत्या, ।'

अर्थ—विना प्रत्यय के भी पूर्व और उत्तर पद का लोप विकल्प करके होता है, जैसे देवदत्त, का दत्त या देव, और सत्यभामा का 'सत्या' या 'भामा' प्रयोग भी है।

इसके सिवा "नामैकदेशग्रहणेन नाममात्रस्य ग्रहणम्" इस न्याय में उसका और भी खुलासा कर दिया है। अर्थात नाम के एक देश—एक अङ्ग- के ग्रहण से भी नाममात्र का ग्रहण होता है। बलरामजी के नामबोध के लिये उपस्थित प्रसङ्ग में बल' और 'राम' दोनों शब्दों का अलग अलग प्रयोग भी इसी कारण से होता है। परशुरामजी के नामबोध के लिये भी केवल 'राम' शब्द का प्रयोग होता है। इसी प्रकार इतिहास-पुराण में बहुत से प्रयोग भरे हुए है। वर्तमान-समय में भी जैसे राजनैतिक प्रसङ्ग मे 'गोखले' शब्द से श्रीगोपालकृष्णगोखले का, 'तिलक' शब्द से श्रीबालगंगाधरतिलक का, 'गाँधीजी, या'महात्माजी' शब्द से श्रीमोहनदासजीगाँधी का, 'भाईजी' शब्द से भाई परमानन्द का, और 'लालाजी' शब्द से लालालाजपतरायजी का ही बोध होता है, उसी प्रकार हिन्दी-साहित्य का प्रसंङ्ग आने पर 'लालाजी' अथवा दीनजी' शब्द से लालाभगवानदीनजी की, 'प्रसाद' शब्द से बाबूजयशङ्करप्रसादजी को, और 'शङ्कर' शब्द से पं० नाथूरामशङ्करशर्म्माजी की ही उपस्थिति होती है। बल्कि ऐसा प्रयोग नित्य के घरेलू व्यवहारों में भी देखते है,जैसे किसी लड़के का नाम 'रामगोपाल' है, तो केवल 'रामू' या 'गोपल' शब्द से भी उसकी पुकार हुआ करती है, इसी तरह अवधेश के लिये 'अवध' रामबालक के लिये 'बालक' आदि एकाङ्गिक- नामों का भी अक्सर व्यवहार देखने में आता है' इसके अलावे ग्रन्थों के नामों में भी ऐसा ही प्रयोग देखने में आता है। यथा, 'सिद्धान्तकौमुदी' के लिये 'कौमुदी' सिद्धान्तमुक्तावली के लिये 'मुक्तावली' महाभारत के लिये भारत साहित्य दर्पण के लिये 'दर्पण' भगवद्गीता के लिये 'गीता' श्रीमद्भागवत के लिये "भागवत" 'रामचरित्रमानस' के लिये 'मानस' आदि शब्दका प्रयोग प्रसिद्ध ही है। इतना ही नहीं, 'परम्परापरित्राणम्' के पृष्ट २४ की १० वी ११ वीं पंक्ति में भी 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर' के लिये एकाङ्गिकनाम 'भास्कर' का ही प्रयोग किया गया है। यथाः—

शब्दका प्रयोग देखकर भी कितने लोगों को इसमें 'श्री' शब्द, नाम वाचक न मान कर आदर-प्रतिष्ठा वाचक मानने का भ्रम हुआ या हो सकता है, परन्तु उनको अब उपर्युक्त उदाहरण और स्पष्टीकरण से विदित हुआ होगा, कि वस्तुतः उनकी धारणा ठीक नहीं है, भ्रम मात्र है। बल्कि आगे के उदाहरणों से इन उदाहरणों एवं स्पष्टीकरण की प्रबल पुष्टि देखकर उनको अपने भ्रमभार्जन का और भी पूर्ण साधन मिलेगा, जिससे उनकी न्याय-बुद्धि तृप्त हो जायगी और वह अपनी भ्रम धारणा दूर कर वास्तविक ज्ञान में दृढ होगी।

ठीक इसी तरह का एक और उदाहरण, वृन्दावन निवासी श्रीलक्ष्मणाचार्यजी द्वारा सम्पादित संशोधित तथा विद्याविलास प्रेस बनारस में सन् १९१८ ई० में मुद्रित होकर चौखम्भा संस्कृत सीरिज आँफिस बनारस से प्रकाशित श्रीवेदान्ताचार्यजी कृत 'न्यायपरिशुद्धिः' की टिप्पणी में भी पाया जाता है। इसके 'प्रत्यक्षाध्याये प्रथममाह्निकम्' के पृष्ठ ४० में इस प्रकार एक मूलश्लोक लिखा है:—

"इति दर्शयितुं [1]भाष्ये द्वितयं तदनु श्रितम्"

इस 'भाष्ये' शब्द के ऊपर सम्पादक की इस प्रकार टिपप्णी है:—

"१ भाष्ये इति श्रीरामानुजाचार्यकृतब्रह्मसूत्रश्रीभाष्ये जिज्ञासाधिकरणे महासिद्धान्ते अनिर्वचनीयखण्डनप्रस्तावे।"

यहाँ 'भाष्य' शब्द की स्पष्टता में 'ब्रह्मसूत्रश्रीभाष्ये' लिखने से यह अच्छी तरह खुलासा हो गया है, कि श्रीरामानुजस्वामीजी कृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य का ही नाम 'श्रीभाष्य' है, बल्कि 'ब्रह्मसूत्र' शब्द के रहते हुए भी इसके आगे 'श्री'सहित 'भाष्ये' शब्द लिखकर इस बात की परम-परिपुष्टि ही कर डाली गयी है।

इन्हीश्रीवेदान्ताचार्यजी कृत एक ग्रन्थ 'तत्त्वमुक्ताकलाप' भी है। इसका एक संस्करण स्वामी श्रीराममिश्रशास्त्री द्वारा सम्पादित होकर मेडिकल हाँल प्रेस बनारस से सम्बत १९५६ वि० (सन् १९०० ई०) में मुद्रित प्रकाशित-हुआ था, इसकी भूमिका पृष्ट ३ में लिखा है:—

"इत्यार्षवृत्ति-ब्रह्मसूत्राक्षरार्थानुसारिणोः श्रीभाष्य-वेदार्थसंग्रहयोर्मुद्रणे प्राक् प्रावर्तिष्महि"--इससे भी श्रीरामानुजस्वामीजी कृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य का नाम 'श्रीभाष्य' सिद्ध ही है।

एक और ग्रन्थ श्रीरामानुजस्वामीजी कृत 'वेदार्थ-संग्रह' नाम का है। इस पर श्रीसुदर्शन सूरि प्रणीत 'तात्पर्यदीपिका' नाम की व्याख्या भी है। ये सुदर्शनसूरि वही है, जिन्होंने श्रीभाष्य के ऊपर 'श्रुतप्रकाशिका' टीका लिखी है। वे श्रीरामानुजस्वामीजी के भगिना के पौत्र के शिष्य अर्थात् ५वी पीढी में हुये इस 'दीपिका' पर भी स्वामी श्रीराममिश्रशास्त्रीजीने 'स्नेह-पूर्त्ति' नामक व्याख्या लिखी है। यह ग्रन्थ इन्ही श्रीशास्त्रीजी के सम्पादकत्व में मेडिकलहाल प्रेस बनारस में सम्वत् १९५० वि० (१८९४ ई०) में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ था। उपर्युक्त इन दोनों व्याख्याओं तथा सम्पादकीय भूमिका में भी कई जगह 'श्रीभाष्य' शब्दका प्रयोग श्रीरामानुजस्वामीजी कृत ब्रह्मसूत्र भाष्य के लिये हुआ है। सब से प्रथम तो तात्पर्यदीपिकाकारने अपने प्रारम्भिक मङ्गलाचरण में ही इसका इस प्रकार प्रयोग किया है:—

"श्रीभाष्यकृदुपन्यरतो यः श्रीशैलपतेः पुरः।
वेदार्थसंग्रहस्यास्य कुर्मस्तात्पर्यदीपिकाम् ॥ ३ ॥"

इसके अतिरिक्त सम्पादक ने इसके पृष्ठ १४९ की टिप्पणी में लिखा है:—

'--प्राचीनार्यैः सिद्धित्रयश्रीभाष्यादिमहानिबन्धेषु सम्यगुपदर्शितं,'

इसकी भूमिका पृष्ठ ५ में भी इस शब्द का कई जगह प्रयोग हुआ है:—

'श्रीद्रामानुजाचार्यप्रणीता ग्रन्थाः--श्रीभाष्यं, वेदार्थसंग्रहः वेदान्तसारग्रन्थः, वेदान्तदीपः, गीताभाष्य, नित्याराधनविधिः। श्रीगद्यम्, शरणागतिगद्यम् बृहद्गद्यमित्येते ज्ञायन्ते।'

यहाँ केवल 'श्रीभाष्यं' तथा 'श्रीगद्यम्' में ही 'श्री' शब्द लगाने से और भी स्पष्ट हो रहा है, कि 'श्रीभाष्य' में 'श्री' शब्द प्रतिष्ठा' या 'गौरव' वाचक नही, नाम वाचक है। नहीं तो अन्य ग्रन्थों में भी 'श्री' शब्द संयुक्त कर दिया जाता। 'श्रीगद्यम्' में, नाम होने के कारण ही 'गद्यम्' के पूर्व 'श्री' शब्द लगा हुआ है अर्थात् इसका नाम ही श्रीगद्यम्' हैं, प्रतिष्ठा के लिये 'श्री' शब्द नही जोड़ा गया है। इसी प्रकार 'श्रीभाष्य' शब्द--मात्र ग्रन्थ का ही नाम है।

पुनः इसी पृष्ठ में आगे चल कर लिखा है:—

"श्रीभाष्यस्यातिगहनगभीरार्थगर्भतया" इत्यादि

"अयच श्रीभाष्यकृताचार्याणां भागिनेयस्य..." इत्यादि

"श्रीभाष्ये श्रुतप्रकाशिकां नाम व्याख्यामकार्षीत—" इत्यादि
पुनः आगे चलकर पृष्ठ ६ में लिखा है:--
'- श्रीभाष्यव्याख्यापरा " "श्रीभाष्यार्थमासन् सन्निहितां मन्दिरे" इत्यादि
इसके अतिरिक्त 'तात्पर्यदीपिका' के ऊपर सम्पादक महोदय की जो निजकृत 'स्नेहपूर्ति' व्याख्या है, उसके आदि मङ्गलाचरण के प्रारम्भ में ही लिखा है—
'श्रीभाष्यकारचरणैर्निगमान्तराशिं निर्मथ्य यद्बुधजनप्रतिजीवनाय
'अभ्युद्धृतं च निहितं च गभीरधीरप्रोदात्तयुक्तिशरणे निगमान्तसारम्
तथा इसकी भूमिका पृष्ठ ३--४ में लिखा है:---

"- S'rī Ramānujāchārya, then vanquished all the sophisms maintained in the S'ankara—Bhāshya, Panchapādikā, and the rest, and advanced the knowledge of the vis'is'htādvaita in the world, by the composition of his great work colled the S'rībhāshya Next followed other professors of the Advaita system, who, prompted by an enmity so natural to human nature, or through failing to understand the import of the S'rībhāshya, expended all the force of their sophistical arguments in opposition thereto,"

[अर्थात्—तत्पश्चात् प्रसिद्ध भाष्यकार एवं दिव्यज्ञानी महात्मा श्रीरामानुजाचार्यजी ने शाङ्कर-भाष्य, पञ्चपादिका, एवं अन्यान्य ग्रन्थों में समर्थन किये गये सारे कुतर्कों को 'श्रीभाष्य' नामक अपने प्रधान ग्रन्थ की रचना द्वारा परास्त किया, और संसार में विशिष्टाद्वैतमत के ज्ञान को बढ़ाया, तदन्तर अद्वैतमत के दूसरे दूसरे आचार्य हुए, जिन्होंने मानव प्रकृतिजन्य स्वाभाविक-विद्वेष-बुद्धि से प्रेरित, अथवा श्रीभाष्य के तत्त्व को समझने में असमर्थ, होकर इसके विरुद्ध अपने दुर्वादों की सारी शक्तियाँ खर्च की]

इन अवतरणों से भी स्पष्ट हो गया है, कि श्रीरामानुजाचार्य जी कृत प्रधान ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र-भाष्य का ही नाम श्रीभाष्य' है, जसा कि Calld the siribhashiva (श्रीभाष्य नामक) शब्दसे स्पष्ट झलक रहा है। इसके अतिरिक्त इसमें अन्यत्र भो 'श्रीभाष्यकार'तथा 'श्रीभाष्य शब्द आये हैं, उससे उसका और भी समर्थन होकर परिपुष्टि हो रही है।

इसके अतिरिक्त एक और प्राचीन ग्रन्थ श्रीलोकाचार्यस्वामीजी

कृत 'तत्त्वत्रय' नामक है, इस पर उनको श्रेष्ठशिष्य श्रीवरवरमुनि स्वामीजी ने 'भाष्योपबृंहितम्' नामक टीका लिखी है, यह ग्रन्थ गवर्नमेण्ट-संस्कृत कालेज बनारस के प्रोफेसर श्रीस्वामी भागवताचार्य जी के सम्पादकत्व में फ्रीमैन ऐण्ड कम्पनी लिमिटेड द्वारा तारा प्रेस बनारस से छपकर चौखम्भा संस्कृत बुकडिपो बनारस से सीरिज़ रूप से सन् १८९९ ई० तथा सन् १९०० में प्रकाशित हुआ था। इसमें भी 'श्रीभाष्य' शब्द का प्रयोग श्रीरामानुजस्वामी जी कृत ब्रह्मसूत्र भाष्य के लिये बहुत स्थानों में हुआ है। यथाः-

पृष्ठ पंक्ति शब्द
२६–१९–२०–"वेदार्थ संगृहे श्रीभाष्ये"
८५—१८—"इति श्रीभाष्यकार रुक्तम्"
८८– ७– "इति श्रीभाष्यकारैरुक्तम्"

इस ग्रन्थ की भूमिका में श्रीसम्पादकजीने भी ऐसाही लिखा है। यथाः– "विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते श्रीभाष्यश्रुतप्रकाशिकाप्रतिभूषु"

श्रीलोकाचार्यजी का एक और गून्थ 'तत्व- शेखर' नामक चौखम्भा संस्कृत बुकडिपो बनारस से ही सन् १९०५ ई० में विद्याविलास प्रेस बनारस में छपकर प्रकाशित हुआ था। इसका सम्पादन काञ्चीपुर निवासी श्रीअयोध्यारामानुजदासजी ने किया था। इन्होंने अपनी प्रारम्भिक कथन रूप भूमिका में लिखा है:–

"वेदार्थस्यच संग्रह मृदुपदं वेदान्तदीपं तथा।
वेदान्तस्यच सारमर्थगहनं श्रीभाष्यमत्यद्भुतम्॥
गीताभाष्यम्–............................"

"श्रीभाष्यादिषु प्रतिपादितानर्थविशेषान्" इत्यादि

इन सबों से भलीप्रकार स्पष्ट ह, श्रीरामानुजस्वामीजी कृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य का ही नाम 'श्रीभाष्य' है।

एक और गून्थ श्रीनिवासदास विरचित 'यतीन्द्र–मत–दीपिका' है, जिसकी टीका एक अवैष्णव पण्डित वासुदेवशास्त्री अभ्यङ्कर ने लिखी है। इस ग्रन्थ के मूल एवं टीका में भी 'श्रीभाष्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। यथा टीकाकार ने प्रारम्भिक-परिचय में ही लिखा है:- "श्रीभाष्यादि निबन्धान्दृष्ट्वा प्रायस्तदीयसिद्धान्तान्।

तत्तत् प्रसङ्गवशतो विशदी कर्त्तुं यथामति प्रयते ॥ ५ ॥"

पुनः पृष्ट ३५ की १०-११वी लाइनमें टीका रूप से इस प्रकार लिखा है: -

"तदुक्तं श्रीभाष्ये-संस्थानातिरेकिणोऽनेकेष्वेकाकारबुद्धि" इत्यादि

तदनन्तर पृष्ठ १०१ के मूल में ही लिखा है:-

"एवं द्रविड़भाष्य, न्यायतत्व, सिद्धित्रय, श्रीभाष्य, दीपसार, वेदार्थसंग्रह,.........पाराशर्य्यविजयादि प्रबन्धानुसारेण.......यतीन्द्र-मत-दीपिकाख्य शारीरक परिभाषायामस्यां ते प्रतिपादिता: ।"

यहाँ भी अन्य ग्रन्थों में श्री' शब्द न होकर केवल 'श्रीभाष्य' में ही रहने से 'श्री' शब्द की नामवाचकता ही सिद्ध है ।

इसके अतिरिक्त श्रीरामानुजस्वामीजी कृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य का चतुःसूत्री भाग (आदि के चार सूत्रों का भाष्यमात्र) श्रुतप्रकाशिका टीका सहित सन् १९१६ ई० में निर्णय सागर प्रेस बम्बई में मुद्रित हुआ था, जिसका सम्पादन प्रकाशन टि० श्रीनिवास शर्म्मा, गिरगाँव बम्बई निवासी ने किया था । एक तो इसमें भी इस ग्रन्थ का नाम 'श्रीभाष्य' है ही, इसके अतिरिक्त इसकी भूमिका, अनुमोदन-पत्रिका एवं दो सम्मतिपत्रो में भी इस 'श्रीभाष्य' शब्द का प्रचुर-प्रयोग हुआ है । सबसे पहले इसकी भूमिका पर ही दृष्टि डालिये । यह भूमिका श्रीशैल — निवासी श्रीरङ्गसूरि की लिखी हुई है। पहले तो उसका नाम ही 'श्रीभाष्य-भूमिका' है, इसके अलावे भी इन तीन पृष्ठों की भूमिका में ही इस 'श्रीभाष्य' शब्द का १६ बार प्रयोग हुआ है, जिसमें श्रीरामानुजस्वामीजी कृत ब्रह्म-सूत्र भाष्यके लिये ही स्पष्ट रूप से 'श्रीभाष्य' शब्द का उल्लेख और समर्थन भी है ।यथा:-

"-भगवान् श्रीमद्रामानुजमहामुनिरुक्तार्वाचीनशङ्करादिकृततद्विपरीत-व्याख्यानानि परःसहस्रानुपपत्तिप्रदर्शनेन निरस्य यथावस्थितशारीरकमीमांसा तात्पर्यगर्भं सर्ववेदान्तैककण्ठ्यनिरूपणगर्भं श्रीभाष्यं नाम शारीरकमीमांसा-शास्त्रव्याख्यानं सर्वार्थसामरस्यगर्भं सूत्राक्षरानुगुणं प्राचीनबोधायनटङ्कद्रमिड गुहदेवादिमहर्षिव्याख्यानुगुणं च प्राणैषीत् ॥ ३ ॥ श्रीभगवद्रामानुज-मुनिः किल कास्मीरदेशस्थसरस्वतीपीठस्थलगमनदशायां सरस्वत्या कप्यास-श्रुत्यर्थपरीक्षणपूर्वकतद्योग्यतामभिवीक्ष्य— भवत एव भाष्यकरणयोग्यता-ऽस्तिभाष्यकारसंज्ञापि भवत एव युक्ता—अतः शारीरक-मीमांसाशास्त्रस्य

भाष्यं त्वं कुरु—विपरीतार्थकरणादन्येषां न तादृशसंज्ञा युक्तेति दत्तभाष्यकारसंज्ञः पश्चादेव श्रीभाष्यं चकारेति प्रसिद्धम् ॥ ४ ॥

[अर्थात्—भगवान् श्रीरामानुजाचार्यजीने प्रसिद्ध अर्वाचीन (आधुनिक) श्रीशङ्कराचार्यादिकृत श्रुति स्मृत्यादि विपरीत व्याख्याओं का, हजारों दोष दिखलाते हुए खण्डन कर, बोधायन, टङ्क, द्रविड़ गुहदेव आदिक प्राचीन महर्षियों की व्याख्याओं के अनुगुण, यथावस्थित सूत्रों के अक्षर अनुक्रम से शारीरक-मीमांसा शास्त्र (ब्रह्मसूत्र) के तात्पर्य, सभी वेदान्तों (गीता, उपनिषद, ब्रह्मसूत्र) के एकवाक्यता-निरूपण एवं सर्वार्थ-स्वारस्य (समन्वय) को अन्तर्भूत करने वाले (अपने अन्तर्गत अवस्थित करने वाले) 'श्रीभाष्य' नामक शारीरक-मीमांसा-शास्त्र के व्याख्यान की रचना की ॥ ३ ॥ कभी काश्मीर देश स्थित सरस्वती पीठ में श्रीरामानुजाचार्यजी के जाने पर वहाँ के सरस्वती ने अपनी मध्यस्थता में वादियों के साथ 'कप्यास' श्रुति के शास्त्रार्थ में उनकी अर्थ-परीक्षण पूर्वक सूत्र-श्रुत्यर्थ करने की योग्यता देखकर उनसे (श्रीरामानुजाचार्यजी से) कहा था, कि "आप में ही भाष्य करने की योग्यता है, भाष्यकार संज्ञा भी आपके ही लिये उपयुक्त है, अतः, शारीरक-मीमांसा-शास्त्र (ब्रह्मसूत्र) का भाष्य कीजिये; विपरीत अर्थ करने से दूसरों के लिये भाष्यकार संज्ञा उपयुक्त नही है।" इस प्रकार भाष्यकार संज्ञा प्राप्त होने के बाद उन्होंने (श्री रामानुजाचार्यजी ने) 'श्रीभाष्य' की रचना की, यह प्रसिद्ध है।*]

इसके अतिरिक्त इसमें और भी 'श्रीभाष्य' शब्द का इस प्रकार प्रयोग भरा हुआ है:—

* इन अवतरणों से स्पष्ट होता है, कि श्रीरामानुज स्वामी जी पहले काश्मीर के सरस्वती पीठ में गये थे, और वहाँ सरस्वतीजी ने योग्यता देख कर प्रसन्नता पूर्वक भाष्य बनाने की आपको आज्ञा दी थी इसी कारण भाष्य तैयार होने पर उसे श्री सरस्वती जी को निवेदित करने के लिये गये थे और निवेदित किया। तब श्रीसरस्वती जीने उसके अर्थ की यथार्थता एवं उत्तमता से परम प्रसन्न होकर उसे सर्वश्रेष्ठ वरण करने के रूप में मस्तक पर चढ़ाकर 'श्रीभाष्य' नाम से विभूषित किया, जैसा कि 'यतिराज वैभव' से पहले उद्धृत किया जा चुका है। दोनों स्थानों में 'श्रीभाष्य' शब्द को स्पष्ट रूप से नाम कहा गया है अतः किसी प्रकार भी इस शब्द को नाम नहीं मानने की गुञ्जाइश नहीं है।

पृष्ठ-पङ्क्ति-		शब्द	पृष्ठ	पङ्क्ति-	शब्द
१०	२२	'श्रीभाष्यश्रुतप्रकाशिकयोः'	११	२६—	'भगवान् श्रीभाष्यकार'
,,	२६—	"वेदार्थसंग्रह वेदान्त-सार, श्रीभाष्य वेदान्तदीप, गीताभाष्यादिग्रन्थांश्चक्रुः'	,,	२७-	'श्रीभाष्य व्याख्यां'
			,,	२९	तस्माच्छ्रीभाष्यश्रुत—प्रकाशिका'
,,	३०—	'श्रीभाष्यकृतस्तु'	,,	३४	'श्रीभाष्यकारादिभि र्दर्शिताः
११	१९—	'श्रीभाष्यादिग्रन्थजात'	,,	,,	'श्रीभाष्यादिष्वेव द्रष्टव्याः'
,,	२२—	'श्रीभाष्यग्रन्थस्य'	,,	३२	'श्रीभाष्यकारादिप्रदर्शित'
,,	२४—	'स्वीयश्रीभाष्यादिग्रन्थ'	,,	३५	'श्रीभाष्यभूमिका'

इसी तरह श्रीतोताद्रि-स्वामी जी की अनुगृहीत अनुमोदन- पत्रिका तथा तिरुपती-निवासी वेदान्तविशारद अनन्तकृष्णशास्त्र जी के 'सम्मतिपत्र' में भी इस 'श्रीभाष्य' शब्दका कई जगह प्रयोग हुआ है। यथाः—

पृष्ठ-पङ्क्ति		—शब्द	पृष्ठ-	पङ्क्ति	—शब्द
७	३०—	'श्रीभाष्यार्थानिमिषं'	७	३५	'श्रीभाष्यं बहुधा'
,,	२५—	'श्रीभाष्यमेव'	,,	४०	श्रीभाष्याङ्कनीयमित्याज्ञप्तम्'
,,	,,	'श्रीभाष्यशांकरभाष्याः'	८	९—	'श्रीभाष्यमपि'
,,	३२	'श्रीभाष्यार्थयाथात्म्यज्ञाने'	,,	१४	'श्रीभाष्याङ्कनप्रकाशनाद्यर्थं'

बल्कि श्रीअनन्तकृष्णशास्त्रीजी ने तो अपने सम्मति पत्र में श्री रामानुजस्वामीजी कृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य के लिये 'श्रीभाष्य' नाम होने का पूर्ण विवेचन के साथ समर्थन किया है, यथाः—

'चिदचिच्छरीकपरमात्मस्वरूपैक्यसिद्धान्तसर्वस्वं भगवत्पादश्रीमद्रामानुजाचार्यविरचितं बादरायणसुत्रभाष्यं भगवत्स्वरूपमिव श्रीयुक्तमेव सर्वदा विराराजीतीति श्रीभाष्यमपि तन्नाम्नाऽलंकुर्वाणं यथार्थमेवेति सर्वविदितमिदं नोपपादनमपेक्षते।

[अर्थात—"चेतन और अचेतन दोनों शरीर वाले परमात्मा के स्वरूप की एकता का सिद्धान्तसर्वस्वरूप भगवत्पाद श्रीमद्रामानुजाचार्यजी का बनाया ब्रह्मसूत्र-भाष्य, सदैव, 'श्री' जी से युक्त भगवत्स्वरूप की तरह, सदा 'श्री' संयुक्त ही विराजता है, यह सभी को विदित है, कि 'श्रीभाष्य' भी यथार्थ में इसनाम (श्रीभाष्य) से ही सुशोभित है, यह किसी उपपादन की अपेक्षा नहीं करता।"]

भला, श्रीरामानुजाचार्यजी कृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य के लिये 'श्रीभाष्य' नाम होने का इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण और क्या हो सकता है? इसमें कितने खुलासे तौर पर कहा गया है, कि श्रीरामानुजस्वामीजी कृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य, श्रीसंयुक्त भगवत्स्वरूप की तरह, सदा श्री संयुक्त ही विराजता है, अर्थात् यह भाष्य सदा श्री युत ही है। इतने पर भी इसके 'श्रीभाष्य' नाम होने में कोई शङ्का करे तो उन्हें 'जड़मति रङ्क' ही समझना चाहिये।

इसके अलावे एक और सम्मति-पत्र, ए० बी० गजेन्द्रगडकर संस्कृत-प्रोफेसर एलफिन्स्टॅन कालेज बम्बई की दी हुई है, जो अंग्रेजी में है। इसमें भी श्रीरामानुजस्वामीजी कृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य के लिये बहुत स्पष्ट रूप से 'श्रीभाष्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। यथाः—

Elphinstone College
Bombay
1st February 1916

I have great pleasure in recommending to the Sanskrit public the edition of Râmânuja's Shrî Bhâshya with the famous commentary Shuta-Prakâshikâ wich is being edited by Pandit Shrînibâsa sharmâ at the Nirnaya sâgar press, and the first volume of wich containig the first four Sûtras is goiny to be shortly published A good edition of Shrî—Bhâshya with Shruta—Prakâshikâ was a long—felt want to the student of Râmânuja, for Shruta—prakâshikâ is most valuable and absolutely indispensable for the proper study of the great philosopher I, therefore, heartily congratulate the pandit on the excellent edition that he is bringing out Shruta—prakâshikâ has been published before a Benares many years ago, but the edition is out of print at present and is not well printed and intelligently edited While lecturing on Shrî-Bhâshya to my Honours class in this Gollege I often had to refer to the Benares edition of Shruta—prakâshikâ and I found it a regular task to real the Commentary from that unattractive book

A. B. Gajendragadkar M. A.
Assistant to the propessor of Sanskrit.
Elphinstone College Bombay.

[अर्थात्-प्रसिद्ध श्रुतप्रकाशिका टीका सहित रामानुज के 'श्रीभाष्य के जिस संस्करण का पं० श्रीनिवासशर्म्मा द्वारा निर्णयसागर प्रेस में सम्पादन हो रहा है, जिसका प्रथम भाग, जिसमें आदि के चार सूत्र हैं, शीघ्रही प्रकाशित होने जा रहा है, उसके लिये मैं सहर्ष संस्कृत संसार के निकट सिफारिश करता हूँ। रामानुज के अध्ययन करने वालों को श्रुतप्रकाशिका सहित श्रीभाष्य के एक अच्छे संस्करण का बहुत दिनों से अभाव अनुभूत हो रहा था, क्योंकि श्रुतप्रकाशिका उस महान् दार्शनिक के यथार्थ अध्ययन के लिये बहुत ही मूल्यवान् एवं असाधारण-कारण स्वरूप है। इसी लिये मैं इस उत्तम संस्करण को प्रकाशित करने के कारण पण्डितजी को हृदय से अभिनन्दन करता हूं। बहुत वर्ष पहिले श्रुतप्रकाशिका बनारस में प्रकाशित हुई थी, लेकिन अब वह संस्करण चुक गया है, और फिर वह न तो (कहीं) अच्छी तरह छपी है, न बुद्धिमानी से सम्पादित ही हुई है। इस कालेज के ऑनर्स क्लास में 'श्रीभाष्य' पर व्याख्यान करते समय मुझे प्रायः बनारस संस्करण वाली श्रुतप्रकाशिका देखनी पड़ती थी, कारण, अन्य आकर्षण-हीन ग्रन्थों द्वारा टीकापाठ करना मेरे लिये एक कठिन काम था।]

उपर्युक्त तिरुपति निवासी श्रीअनन्तकृष्ण शास्त्रीजी ने ही निर्णयसागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित भामती, कल्पतरु एव परिमल टीका युत 'शाङ्कर भाष्य' का सम्पादन किया है, जिसकी निजकृत भूमिका में भी विशिष्टाद्वैत के विचार-प्रसङ्ग में श्रीरामानुजस्वामी जी कृत ब्रह्मसूत्र भाष्य का 'श्रीभाष्य' के ही नाम से उद्धृत किया है। यथाः-

"कर्मविचारश्च भवतां न शास्त्रीयः, किन्तु रागप्राप्तः। तत्र पुरुषः स्वयमेव प्रवर्त्तते इति श्रीभाष्यवचनात्।" भूमिका पृष्ट ९

यह बचन श्रीरामानुजस्वामीजी कृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' की व्याख्यामें ही इसप्रकार लिखा है, जो उसमें उद्धृत हुआ हैः

"—तत्स्वरूपप्रकारविशेषनिर्णयफलवेदवाक्यविचाररूपमोमांसाश्रवणोऽधीतवेदः पुरुषः स्वयमेव प्रवर्तते।

(इसमें से केवल 'पुरुषः स्वयमेव प्रवर्तते।' इतने को ही उन्होंने उद्धृत किया है) इससे सिद्ध है, कि श्रीरामानुजभाष्य के लिये ही 'श्रीभाष्य' लिखा है।

इसके अतिरिक्त बनारस इ० जे० लाजरस एण्ड कम्पनी द्वारा सन् १८९१ इस्वी में मेडिकल हाल प्रेस में मुद्रित होकर प्रकाशित श्रीरामानुजस्वामीजी कृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य का नाम 'श्रीभाष्य' ही लिखा गया है। इस ग्रन्थ का सम्पादन संशोधन श्री पी० एस० राम-मिश्रशास्त्रीजीने किया था। पं० श्रीधराचार्य्य द्वारा संशोधित सम्पादित श्रीरामानुजभाष्य-जोकि 'श्रीनिवास प्रेस वृन्दावन में १९१७ इस्वी में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ था-का नाम भी 'श्रीभाष्य' ही हैं।

एक पुस्तक पञ्चनदीय पं० सुदर्शनाचार्य्य जी प्रणीत 'विशिष्टाद्वैताधिकरणमाला, नाम की है, जो बनारस तारा, प्रेस को सन् १९०२ ई० की छपी है और श्रीरामानुजस्वामीजी कृत वेदान्त-सूत्र भाष्य से ही संगृहीत होकर लिखी गयी है। इस पुस्तक के आदि में काशी के बड़े बड़े विद्वानों द्वारा दी हुई 'प्रशस्ति-पत्रिका' भी मुद्रित ह, जिस पर उनलोगों के हस्ताक्षर भी है। इसमें इन विद्वानों ने श्रीरामानुजस्वामी जी कृत ब्रह्म-सूत्र भाष्य का 'श्रीभाष्य' केही नाम से उल्लेख किया है। यथाः-

प्रशस्ति-पत्रिका।

पञ्चनदीयपण्डितवरसुदर्शनाचार्यप्रणीताद्वैतचन्द्रिका, विशिष्टाद्वैताधिकरणमाला चेत्यभिनवप्रबन्धद्वयमापाततो निरीक्ष्य भृशं प्रसीदन् विरलदर्शनदर्शनप्रचारेऽपीदृशे समये प्रणेतुर्दार्शनिकविषयव्युत्पत्तिपाटवं दुरुपपादविषयाणामपि सरलतरलेखेन स्फुटीकरणकौशलं चाभिनन्दन् विस्तृततमश्रीभाष्यसकलपर्य्यालोचनाऽक्षमाणामनेन प्रशंसनीयेन प्रयत्नेन परमोपकारमवधारयन् समालोचयन्तो नव्यनिबन्धरत्नद्वयं सूतेऽद्यापि पण्डितरत्नं रत्नगर्भेति निश्चिन्वन्तु विपश्चित्तमा इति संमन्यते-

(महामहोपाध्याय श्रीमत्पं०) गङ्गाधरशास्त्री
(श्रीमत्प०) तैलङ्गरामशास्त्रीच
(तात्याशास्त्रीत्यपरनामधेय श्रीमत्पं०) रामकृष्णशास्त्रीच
(श्रीमत्पं०) नित्यानन्दशर्म्मा
(ओझा श्रीमत्पं०) श्रीसंगमलाल शर्म्मा
(म०म० श्रीमत्पं०) सुब्रह्मण्यशास्त्री द्रविडः
(श्रीमत्पं०) त्र्यम्बकशास्त्री वैद्यः

(म० म० श्रीमत्पं ०) सुधाकरद्विवेदी
(श्रीमत्प०) सीतारामशास्त्री

इसी ग्रन्थ में आगे चलकर स्वयं ग्रन्थकार महोदय की लिखी हुई एक विज्ञप्ति भी है जिसमें श्रीरामानुजस्वामीजी कृत-भाष्य के लिये 'श्रीश्रीभाष्य' शब्द आया है, अत इससे और भी स्पष्ट है. कि 'श्रीभाष्य' में 'श्री' शब्द प्रतिष्ठा बाचक कदापि नही है नामवाचक है। नही तो 'भाष्य' शब्द के साथ यहां दो 'श्री' नही रहती। वह विज्ञप्ति इस प्रकार है: —

विज्ञप्तिः–

" विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायार्थबोधकश्रीश्रीभाष्यार्णावावगाहनेऽलसमतीना तदधिकरणार्थसंवित्तिसम्पत्तौ चासीमोत्सुकाना पुण्यभागधेयानामुपकाराय संकलितषा श्रीविशिष्टाद्वैताधिकरणमाला मयेति मदीयाऽऽयासमवश्यं शङ्के कमनीयकुसुमं सम्पादयिष्यन्ति···

पञ्चनदीयः श्रीमदीयः सुदर्शनाचार्य्यः"

पुनः ग्रन्थ समाप्ति पर एक श्लोक द्वारा यह ग्रन्थ श्रीरामानुजस्वामीजी को समर्पित किया गया है। इस समर्पण में भी श्रीरामानुजस्वामीजी कृत भाष्य के लिये 'श्रीभाष्य' शब्दकाही प्रयोग हुआ है। यथा:–

श्रीभाष्यात्सगृहतेय माला श्रीपदयोर्मया।
न्यस्ता ततश्च श्रीरामानुजकण्ठे समर्पिता ॥

उपर्युक्त 'प्रशस्ति-पत्रिका' में श्रीरामानुजस्वामीजी कृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य के लिये तो 'श्रीभाष्य' शब्द आया है, परन्तु ग्रन्थकार की विज्ञप्ति में 'श्रीश्रीभाष्य' एवं समर्पण में पुनः 'श्रीभाष्य' शब्द ही आया है। इसका कारण यह है कि विज्ञप्ति में एक 'श्री' प्रतिष्ठा–वाचक भी लगाया गया है, किन्तु प्रशस्ति–पत्रिका' एव 'समर्पण' में केवल नाम ही आया है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है, कि विज्ञप्ति में इस ग्रन्थ का नाम प्रतिष्ठा वाचक 'श्री' शब्द लगाकर 'श्रीविशिष्टाद्वैताधिकरणमाला' लिखा है. परन्तु 'प्रशस्तिपत्रिका' में इसका नाम 'श्री' रहित केवल 'विशिष्टाद्वैताधिकरणमाला' ही लिखा गया है; अर्थात् ग्रन्थकार ने अपनी विज्ञप्ति में प्रतिष्ठा वाचक 'श्री' शब्द लगाकर 'श्रीविशिष्टाद्वैताधिकरण–माला' लिखा है, किन्तु प्रशस्तिपत्रिकाकार ने केवल नाम ही लिखने

के कारण 'विशिष्टाद्वैताधिकरणमाला' ही लिखा है। इसी नियमानुसार ग्रन्थकार ने श्रीरामानुजस्वामीजी कृत 'भाष्य' के लिये प्रतिष्ठावाचक 'श्री' शब्द लगाकर श्रीश्रीभाष्य' लिखा है किन्तु प्रशस्तिपत्रिका-कारने केवल नाम ही लिखने के कारण श्रीभाष्य' ही लिखा है। पुनः ग्रन्थकार ने भी जब अपने समर्पण में प्रतिष्ठा-वाचक श्री' शब्द को सयुक्त नहीं किया है, तो केवल 'श्रीभाष्य' ही लिखा है, जैसा कि ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहाँ इस ग्रन्थ के लिये 'श्रीभाष्य' लिखा रहता है, वहां 'श्री' शब्द प्रतिष्ठावाचक नहीं, बल्कि नामवाचक ही समझना चाहिए। आशा है इस उदाहरणसे 'श्रीभाष्य' शब्द में 'श्री' शब्द प्रतिष्ठावाचक माननेवाले महानुभावों का पूरी तरह भ्रममार्जन हो जायगा।

इसके अतिरिक्त कुछ दिन हुए 'श्रीभाष्य' के ऊपर विपक्षियों के द्वारा सिद्धान्त-सम्बन्धी किये गये आक्रमणों के कारण प्रश्नोत्तर प्रत्युत्तर के रूप में भी कुछ वाद-ग्रन्थों की रचना हुई थी, उसमें भी वादि-प्रति-वादियों ने अपने लेखों में श्रीरामानुजस्वामीजी कृत ब्रह्मसूत्र भाष्य के लिये 'श्रीभाष्य' शब्द का प्रचुरता के साथ प्रयोग किया है। सन् १९१६ ईस्वी को बात है, कि काञ्ची के श्रीयुत्अनन्तांचार्यजी काशी आये थे, और अपने कथनों तथा व्याख्यानों द्वारा आपने अपने साम्प्रदायिक-मत विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त का प्रकाशन किया था। इससे काशीवासी-विद्वान को, जो प्रायः सबके सब अपने को श्रीशङ्कराचार्यजी के मतानुयायी—अद्वैती—मानते है, बड़ा सदमा पहुँचा; अतः उनलोगों की ओर से 'श्रीभाष्य' के विरल-खण्डन के रूप में 'विरोध' नामक पुस्तिका पं० विश्वेश्वरशास्त्रीजी द्रविड़ के नाम से प्रकाशित कर बाँटी गयी। पुनः श्रीस्वामी अनन्ताचार्यजी की ओर से देशिकवरदाचार्यजी के नाम से 'विरोध-परिहार' नामक उत्तर पुस्तिका प्रकाशित कर वितरण की गयी। इस पर भी काशी के विद्वानों की ओर से परिहार खण्डन' नामक प्रत्युत्तर पुस्तिका पं० रुद्रभट्टशर्मा के नाम से प्रकाशित होकर वितरित हुई। अन्त में श्रीस्वामी अनन्ताचार्यजी की ओर से उसके सम्यक्-उत्तर के रूप में 'दुर्वाद विधूनन' नामक ग्रन्थ पं०देशिकवरदाचार्य के नामसे प्रकाशितकर वितरण किया गया। इस पर काशी के विद्वानों की ओरसे

उत्तर नहीदियागया। इसप्रकार उत्तर-प्रत्युत्तरके बाद इस विवाद की समाप्तिहुई। वादी–प्रतिवादी दोनों ओर की इन वाद-पुस्तकों में मुख्यरूपेण श्रीरामानुज-स्वामीजी कृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य के ऊपर ही विवाद हुआ था, अतः इस भाष्य के नाम का बहुत स्थानों में उल्लेख होने से कितने स्थानो में 'श्रीभाष्य' नाम का उल्लेख हुआ है। यथा विरोध परिहारकेपृष्ठ ९–१०मेलिखाहैः-

"यदपि 'इत्थं कारणत्वस्य वेदान्तैकप्रमाणकत्वमुक्त्वा' इति शास्त्रयोनित्वाधिकरणार्थ कथनम्, । तदपि श्रीभाष्य-पङ्क्त्यानवलोकनमूलकमेव"।

"इत्युक्त्वा, आत्माधिकरणश्रीभाष्यस्य तत्प्रामाणतयो-दाहरणम्, तत् लेखकस्य श्रीभाष्यपंक्त्यर्थाग्रज्ञानमूलकमेव"

पुनः 'परिहार-खण्डन' में भी इसका नामोल्लेख हुआ हैः —

"इत्यादि सूत्रैर्वेदविरुद्धानां स्मृतीनामप्रामाण्यप्रदर्शनाय प्रवृत्तः श्रीभाष्यकाराऽपि त्वया प्रतिक्षिप्तः स्यादिति-" पृष्ठ ७-८

"यद्यपि श्रीभाष्यकारैः सैषा चतुःसूत्री पाञ्चरात्रमतस्य प्रामाण्यसाधनपरत्वेनैव योजिता, तथाऽपि प्रामाण्यसाधनं न तदर्थः, तथा सति पादासङ्गतिप्रसङ्गात् ।" पृष्ठ ८–९

"यच्च–' यदपि–' शास्त्रयोनित्वाधिकरणार्थकथनं, तदपि श्रीभाष्यानवलोकनमूलकम्' इत्यादिषुक्तम् । तत्रोच्यते–श्रीभाष्यमेव तावत् प्रथमतोऽवलोकयतु भवान् ।" पृष्ठ १३

"इति पूर्वपक्षमारचयन् श्रीभाष्यकारः स्पष्टं जगत्कारणत्वं वेदान्तैकसमधिगम्यं,।" पृष्ठ १४

"पुनः 'दुर्वाद-विधूनन' में भी श्रीरामानुजस्वामीजी कृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य के लिये 'श्रीभाष्य' शब्द का प्रचुरता के साथ नामोल्लेख हुआ है; परन्तु पुस्तक कुछ बड़ी है और यह नामोल्लेख भी बहुत स्थानों में है, अतः उन सबों के उद्धृत करने से ग्रन्थकी अनावश्यक वृद्धि होनेके कारण केवल प्रमाण रूपसे दोचार उद्धरणोंकी उपस्थितिही काफीहोगी, यथाः-

"इत्थं च विश्वेश्वरशास्त्रिणः श्रीभाष्यविरोधविषयकस्य भ्रमस्यपरोक्षत्वेनतत्रवस्तुसद्भावस्यसिद्धधिकथादूरोत्सरिता।"पृष्ठ६

"एवं च विश्वेश्वरशास्त्रिणः श्रीभाष्यविरोधविषयक-ज्ञानस्यास्मदीयज्ञानयथार्थ्यसिद्धान्तानुसारेण यथार्थत्वेऽपि

बाध्यत्वस्यापरिहरणीयतया न तया भ्रान्त्या कस्याप्यर्थस्य सर्वलोकसाधारणस्य सिद्धि सम्भव इत्यवधेयम् ।" पृष्ठ १०

"स्पष्टमिदपाञ्चरात्रशास्त्राभिज्ञानां श्रीभाष्यग्रन्थाध्यायिनाञ्च ।" पृष्ठ ३०

"तदिदमुक्तं श्रीभाष्ये—'उत्पत्त्यसम्भवात्' इति सूत्र व्याख्याने—'कपिलादितन्त्रसामान्याद्भगवदभिहितपरमनिःश्रेयससाधनावबोधिनि पाञ्चरात्रतन्त्रेऽप्यप्रामाण्यमाशङ्क्य निराक्रियते इति।" पृष्ठ ३२

इसके बहुत दिनोंकेबाद एक दूसरा वाद प्रसङ्ग भी उपस्थित हुआ था। इसका सूत्रपात इस प्रकार हुआ, कि श्रीअशोकनाथभट्टाचार्यजी एम० ए० ने संस्कृत साहित्य-सम्मेलन के दशमअधिवेशन के अवसर पर श्रीभाष्य—विमर्शनम्' नामक एक निबन्ध पढा था, जो तत्सम्बन्धीन 'संस्कृत-साहित्य-परिषद्' के दशम-वर्षीय दशम—संचिका में प्रकाशित हुआ था। उसमें इस निबन्ध में लेखक महाशय ने श्रीरामानुजस्वामीजीकृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य' के भाष्यत्व पर आक्षेप किया था। पुनः काञ्ची प्रतिवादि-भयङ्कर मठाधीश्वर श्रीस्वामीअनन्ताचार्यजीने 'श्रीभाष्यविमर्शन परीक्षा' नामक उत्तर—पुस्तक में इसका खण्डन प्रकाशित कर वितरण किया था, जिसमें विचार-सौलभ्य के लिये अन्त में उपर्युक्त निबन्ध को भी सम्मलित कर दिया है। वादी की ओर से पुनः इसके उत्तर नही दिये जाने के कारण यहीं इस वाद की समाप्ति हो गई। यह बात सन् १९२८ ई० की है। एक तो इस निबन्ध और उत्तर पुस्तिका के नाम से ही सिद्ध होता है, कि श्रीरामानुजस्वामीजीकृत ब्रह्मसूत्रभाष्य के लिये 'श्रीभाष्य' शब्द की इतनी प्रसिद्धि तथा प्रचलन है, कि लेखक महाशय ने निबन्ध के नामकरण में भी उसके स्थान पर 'श्रीभाष्य'का ही प्रयोग कर 'श्रीभाष्य-विमर्शनम्' नाम रखा है। इसके अतिरिक्त विचार धारा में भी दोनों लेखक-महाशयों ने उसके लिये 'श्रीभाष्य' नाम का काफी स्पष्टता के साथ प्रयोग किया है, और इसमें इस प्रयोग की इतनी अधिकता है, कि उन सबों के उद्धरण उपस्थित करने से लेख की अनावश्यक कलेवर—वृद्धि होगी अतः दो चार उद्धरण उद्धृत करने के बाद शेष की सूची, पृष्ट तथा पक्ति के उल्लेख के साथ दे दी जायगी।

इन दोनों लेखों में पहले 'श्रीभाष्य—विमर्शनम्' पर ही दृष्टि डाली

जाय। इसके उदाहरण 'श्रीभाष्य-विमर्शन-परीक्षा' के अन्त में सम्मिलित इस निबन्ध से ही यहाँ उद्धृत किये जायँगे, कारण, इससमय उपर्युक्त 'संस्कृत-साहित्य-परिषद' का वह अङ्क मेरे पास उपस्थित नहीं है जिसमें उक्त निबन्ध प्रकाशित हुआ था। इस 'श्रीभाष्य विमर्शनम्' के पृष्ट ४ में 'श्रीरामानुजस्वामीकृत ब्रह्मसूत्र भाष्य' के लिये 'श्रीभाष्य' शब्द का बहुत ही स्पष्टप्रयोग हुआ है। यथा -

"ननु भामतीप्रभृतिषु प्रभूतमेव मंगलं दृश्यते इति कथं वा तेषां ग्रन्थानां प्रामाण्यमिति चेदुच्यते, भामती नाम वाचस्पतिमिश्रकृता टीका शांकरभाष्यविषयिणी न हि खलु श्रीभाष्य सर्वथा तदनुरूपम्। श्रीभाष्य-विवरणादिषु श्रुतप्रकाशिकादिषु मगलं दृश्यते चेत्, तदानी न कोपि दोषः। परं तु श्रीभाष्ये तस्यान्तर्भावदर्शनेन टकद्रमिडादिभिरेव कृतं मूलं भाष्यं, श्रीभाष्य पुनस्तेषामन्यतरस्य टीकारूपमिति शंका सञ्जायते।"

"एवं हि पक्षद्वयमेवात्र सम्प्राप्तम् — मगलपरिवर्जन तत्परिरक्षणं वा। तयोरन्यतर एव पक्षोऽत्र समाश्रयनीयः। तत्र द्वितीयपक्षांगीकारेण श्रीभाष्यं 'श्रीटीका' भवतीत्यतो भाष्यकलेवरान्मंगलस्यैव परिवर्जन साधीयं इति मन्यामहे।"

[अर्थात् — "यदि यह शङ्का करो, कि 'भामती' आदि ग्रन्थों मे बहुत से मङ्गल दिखते है, फिर उन ग्रन्थों की प्रामाणिकता कैसे है? तो सुनो, 'भामती' श्रीवाचस्पतिमिश्रकृत शाङ्कर-भाष्यकी टीका है किन्तु 'श्रीभाष्य' तो सर्वथा उसके अनुरूप है नहीं। 'श्रीभाष्य' के विवरणादि रूप श्रुतप्रकाशिका आदि टीकाओं में मङ्गल दिखते है, तो उसमें कोई दोष नहीं है; परन्तु टङ्काचार्य द्रमिडाचार्यकृत जो मूलभाष्य है, श्रीभाष्य में उनका अन्तर्भाव होने से यह 'श्रीभाष्य' उनमें से किसी की टीका है, यह शङ्का उत्पन्न होती है।

उक्त रीति से यहाँपर दो पक्षउपस्थितहै—पहिला 'मङ्गल परिवर्जन' दूसरा 'मङ्गल परिरक्षण'। इन दोनों पक्षों मे यहाँ पर कोई एक पक्ष का समाश्रयण (अवलम्बन) करना होगा। यहाँ पर दूसरेपक्ष (मङ्गल परिरक्षण) को स्वीकार करने से 'श्रीभाष्य' 'श्री' टीका (श्रीनामक टीका) सावित होता ह। अतः भाष्य के कलेवर (विग्रह) से मङ्गला-चरण को निकाल देना ही सिद्ध होता है, यह हम मानते है।"]

इससे भले प्रकार स्पष्टीकरण हो जाता है, कि श्रीरामानुजस्वामी: जीकृत 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' के लिये 'श्रीभाष्य' शब्द की अन्य समाज में भी पूर्ण प्रसिद्धि तथा प्रचलन है। अब इस निबन्ध में अन्यत्र आये हुए 'श्रीभाष्यकार' तथा 'श्रीभाष्य' शब्द की सूची भी नीचे दे दी जाती है।

पृष्ठ—पंक्ति	शब्द	पृष्ठ-पंक्ति	शब्द
१–२०–	'भगवता श्रीभाष्यकारेणेति'	७–१०	'श्रीभाष्यकारस्याशय'
२–२—	'श्रीभाष्यकारस्य'	,, १८	'श्रीभाष्यमत'
५–१९–	'श्रीभाष्यमेव'	,, २४	'श्रीभाष्यवाक्यानीमान्येव
६–१७	'श्रीभाष्यस्य		

अब 'श्रीभाष्यविमर्शनपरीक्षा' में किये गये श्रीभाष्य, एवं 'श्रीभाष्यकार' शब्द के प्रयोगों की ओर भी दृष्टि डालिये। सब से पहले प्रस्तावना में ही इस शब्द का बारबार प्रयोग प्रस्तावनाकारमहाशयने किया है। यथा:—

'तेषु चान्यतम विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तनिर्धारणधुरन्धरेण भगवद्रामानुज-मुनिसार्वभौमेन विरचितं श्रीभाष्यम् प्रायशोऽन्येषु भाष्येषु मनागपिदृष्टिमविदित्पन्तोऽस्मिन्नेव श्रीभाष्ये क्रूरां दृशं दिसन्तो बहवो यत्किमपि दूषण-मनुद्भाव्य वर्तितुमशक्नुवानाःश्वेतानि पत्राणि शितीनि कुर्वन्तस्स्वात्मन्या-नन्दममन्दमनुभवन्तीति कोप्येष पन्थास्तत्र तत्र प्रसर्पति।"

'श्रीरामानुजभाष्यदूषणतत्परेणानेन लघीयसा लेखेन यद्यपि न हानिः श्रीभाष्यस्य श्रीभाष्यकृतां तन्मतानुयायिनां वा" इत्यादि

"श्रीभाष्योपक्रमनिबद्धे माङ्गलिकश्लोकद्वये" इत्यादि।

इसी प्रकार ग्रन्थ के अन्दर इस शब्द का बहुतायत से प्रयोग हुआ है परन्तु उसे उद्धरणसहित उपस्थित करने की विशेष आवश्यकता नहीं समझ कर केवल शब्द-सूची उपस्थितकर देता हूं:-

पृष्ठ—पङ्क्ति	शब्द	पृष्ठ—पङ्क्ति	शब्द
२–२५	'श्रीभाष्योपक्रमस्थ'	१९–१६	श्रीभाष्यस्थ'
९–५०	'श्रीभाष्यकारस्य'	२५–१०	'श्रीभाष्यकाराभिप्रेततत्ववर्णनम्
१४–१९	श्रीभाष्येपि'	२८-७	'श्रीभाष्यग्रन्थगताना'
१५–६	'श्रीभाष्ये'	३० १४	'श्रीभाष्यकारपक्षे'
१६–९	'श्रीभाष्यस्य'	"–१६	'श्रीभाष्यकारस्य'

२१-२१ 'श्रीभाष्यकारपक्ते'   ३१-१७ 'श्रीभाष्यस्यानुत्थानं',
२१-१४ 'श्रीभाष्यकारपक्ते'

कहाँतक गिनाया जाय, श्रीरामानुजस्वामीजीकृत ब्रह्मसूत्रभाष्य के लिये श्रीभाष्य नाम की इतनी प्रसिद्धि है कि एतद्देशीय भाषाओंकेबड़े बड़े कोष ग्रन्थों में भी 'श्रीभाष्य' शब्द सम्मिलत किया गया है और उसका वैसाही परिचय और विवेचन किया गया है, जैसाकि ऊपर के अवतकके उद्धरणों से स्पष्ट किया गया है। उदाहरण के तौर पर हिन्दी विश्वकोष—हिन्दी इनसाइक्लोपीडिआ (Hindi Encyclopaedia) के २२वें जिल्द के२३७वे पृष्ट में श्रीभाष्य शब्द और उसके विवेचन को देखिये।:—

"श्रीभाष्य — रामानुजाचार्यकृत ब्रह्मसूत्र का एक सुप्रसिद्ध भाष्यग्रन्थ। इस ग्रन्थ में आचार्यप्रवर अपना धर्ममत अखण्ड युक्तियों द्वारा सस्थापन कर गये है।"

बङ्गलाविश्वकोष—बेङ्गाली इनसाइक्लापीड़िआ (Bengali Encyclopaedia) में भी 'श्रीभाष्य' शब्द की व्याख्या में यही बातें लिखी गई है। अत. इसमें कोई सन्देह या भ्रम—निश्चय की गुञ्जाइश ही नहीं है, कि श्रीभाष्य शब्द द्वारा श्रीरामानुजस्वामीजीकृत ब्रह्मसूत्र भाष्य से भिन्न किसी भी ग्रन्थ का बोध हो।

इतना हीं नही,बल्कि आपके—श्रीभगवद्दासजी के—अनन्य-सहयोगी मित्र श्रीरघुवरदासजी वेदान्ती ने भी श्रीरामानुजस्वामीजी कृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य के लिये 'श्रीभाष्य' शब्द का ही प्रयोग किया है। यदि 'परम्परा-परित्राणाम्' की तरह यहाँ भी आप यह कह बैठे, कि इन्होंने भ्रान्तदशा में ही ऐसा लिखा है, तो यह भी चलने का नहीं क्योंकि यह लेख इन्होंने अभी श्रीरामानन्दस्वामीजी के नाम पर अपने बनाये हुये 'आनन्द-भाष्य' की निजकृत-स्वीकृत भूमिका में लिखा है, जो नयी परम्परा के समर्थन—स्वरूप निर्म्मित ही हुआ है इनकी भ्रान्त—अवस्था तो उस समय की उद्घोषित हुई है जब कि नूतन-परम्परा का जन्मही नहीं हुआ था, और ये भी इस श्रीरामानन्दीय सम्प्रदाय को श्रीरामानुज-स्वामीजी की परम्परा के ही अन्तर्गत मानते बल्कि श्रीभाष्यकार स्वामी श्रीरामानुजाचार्य्यजी का स्तवगान निर्माणकर गया भी करतेथे,किन्तु उसके तो युग बीत गये—बारहो वर्ष हो गये, उसके बाद से इस समय तक

तो ये इस नूतन परम्परा सम्बन्धी आन्दोलन के मुखियों में से एक है, और उपर्युक्त 'आनन्द भाष्य' को अभी दो ही वर्ष हुए इन्होंने निर्मित तथा प्रकाशित किया है। इसी की निजकृत स्वीकृत भूमिका के पृष्ट ११ में इन्होंने इस प्रकार शङ्का-समाधान के रूप में लिखा है:-

एतेनेदमानन्दभाष्यमभिनवप्रचलितपरम्परोपज्ञमेव न भगवद्रामानन्द मुनिप्रणीतम् लोके तथाऽनुपलम्भाद्विशिष्टाद्वैतमतप्रतिपादक-श्रीभाष्येण गतार्थत्वाच्च।"

'कतिपयवैष्णवापरिज्ञातत्वेन यदि श्रीरामानन्दाचार्यारचितत्वं साध्यते तर्हि तेनैव श्रीभाष्यादेरपि तदाचार्यारचितत्वमकामेनापि भवताभ्युपेत-व्यमित्येतेन'वृद्धिमिच्छतो मूलमपि ते नष्ट' मित्याभाणकः स्मारितो भवति।"

[अर्थात् —(शङ्का) 'यह आनन्द-भाष्य' अभिनव प्रचलित पर-म्परा से ही पहले पहल ज्ञात हुआ है, लोक में इसकी वैसी उपलब्धि नहीं है, जैसी कि नूतन-परम्परा में है; और वह विशिष्टाद्वैतमत प्रति-पादक श्रीभाष्य में गतार्थ भी है,अतः भगवद्रामानन्दमुनि प्रणीत नहीं है।'

(समाधान) यदि कतिपय वैष्णवों के ज्ञात नही होने से इसे (आनन्द-भाष्य को) श्रीरामानन्दाचार्य जी से अरचितत्व (नही बनाया हुआ) साधन करोगे, तो उसी युक्ति से श्रीभाष्य को भी उसके रच-यिताआचार्य्यसेअरचितत्व(नहीबनायाहुआ)तुम्हें बलात्स्वीकारकरनापड़ेगा।और इससे सूद को चाहना करनेवाले मूलभी खो बैठे'यह कहावत ही चरितार्थहुई।']

यद्यपि उपर्युक्त अवतरण से उसके शङ्का समाधान का थोथापन स्पष्ट हो रहा है. और आनन्द-भाष्य की स्थिति असिद्ध ही रह गयी है, परन्तु इस विषय पर यहाँ विचार करना अप्रासङ्गिक होगा अतः अभी इसे छोड़ देना ही ठीक है। यहाँ देखना यह है कि श्रीरामानुजाचार्य कृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य के लिये इन्होंने भी 'श्रीभाष्य' शब्द का ही प्रयोग किया है, जो कि 'विशिष्टाद्वैतमत—प्रतिपादक 'श्रीभाष्य' शब्द से भली भाँति स्पष्ट है, और उसके लिये प्रतिपक्ष के रूप में 'अरचितत्व' पर जोर देने से उसका और भी समर्थन हो रहा है।

यदि इतने पर भी पुनः इस लेख केलिये इनको भ्रान्त घोषित किया जाय, तो इस ढंग से तो कभी भी इनका अभ्रान्त-जीवन स्वीकृत होना असम्भव ही है; क्योंकि ये भी ऐसी घोषणा मौन रूप से स्वीकार और

समर्थन कर कार्य-साधन किया करते है, किन्तु इस चाल से 'आनन्द-भाष्य' के निर्माण एवं सम्पादन आदि की भ्रान्तता भी, संसर्ग दोष से, गले-पतित ही हो जायगी। ये भले ही भ्रान्त बनते रहें, किन्तु सारा अभ्रान्त-संसार तो उसे 'श्रीभाष्य' नाम से ही जानता-मानता आया और जान-मान रहा है, जैसा कि पूर्वके उदाहरणों से भलीभाँति सिद्ध हो चुका है; और उन सबोंको आपके समान भ्रान्त बनने की दूषित-गरज़ या स्वभाव भी नहीं है।

यद्यपि श्रीरामानुजस्वामीजी कृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य की 'श्रीभाष्य' नाम-सिद्धि के हजारों उदाहरण और भी उपस्थित किये जा सकते है, क्योंकि उसके लिये इस नाम की व्यापकता के कारण सर्वत्र उसके प्रयोग भरे पड़े है; परन्तु एक तो पूर्वोक्त सारे प्रमाणों की उपस्थिति से ही लेख का कलेवर बढ़ गया है, दूसरे विषय की सर्वाङ्गीन स्पष्टता भी हो गयी है, अतः अब इसकी आवश्यकता नही समझ पड़ने के कारण उदाहरण बन्द कर देना ही उचित प्रतीत होता है।

अब इस 'श्रीभाष्य' की अर्थसिद्धि में 'श्रीगुरुभाष्य' की जो कल्पना की गयी है, उसका कच्चा चिट्ठा भी देखिये। जब श्रीरामानन्दस्वामीजीकृत श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर के उपयुक्त 'शक्तःश्रीभाष्यतश्च' तथा 'श्रीभाष्य-मेवं शृणुयादशक्तः' ये दोनों वचन श्रीरामानन्दस्वामीजी को श्रीरामानुज-स्वामीजीकी परम्परा में होने के प्रमाण-स्वरूप उपस्थित हुए थे, तब तो इस 'श्रीभाष्य' शब्द के लिये 'श्रीरामानन्दभाष्य' की कल्पना हुई थी, जसा कि 'तत्त्वोद्बोधन-मीमासा' पृष्ट १६ में लिखा ह, आर वह पूर्व ही उद्धृत भी किया जा चुका है। पुनः उसी का नामकरण 'आनन्द-भाष्य' हुआ, और कुछ दिनों तक इसीकी लकीर पीटी गयी। परन्तु जब श्रीरामानन्दस्वामीजी के दादागुरुजी कृत 'श्रीरामस्तवराजभाष्य' के आदि और अन्तवाले मङ्गलाचरण के श्लोकों की प्रमाण-रूप से उपस्थिति हुई, तो 'आनन्द-भाष्य' रूप पूर्व कल्पना पर एक दम पानी फर गया; क्योंकि इसमें श्रीस्वामी हर्यानन्दजी ने स्पष्टरूप से अपने को श्रीमद्रामानुजस्वामीके सिद्धान्त का ज्ञाता कहकर श्रीभाष्यकारस्वामी (श्रीरामानुजाचार्यजी) को प्रणाम किया तथा अपने श्रीरामस्तवराज-भाष्य के शब्दों को उनके (श्रीरामानुजस्वामीजी के) वचनामृत से रसान्वित कहा है। यथाः—

श्रीभाष्यकारमुदिताखिलतत्वसारमाधारमब्धितनयाच्युतयोःप्रणम्य।
तद्वाक्सुधा रसमयैः प्रमितैर्वचोभिर्व्याचक्ष्महे रघुपतिस्तवराजमेतत् ३'

(आदिमङ्गलाचरणे)

'श्रीमद्रामानुजसिद्धान्तवेदी हर्याचार्यो भावगभं यदेतत् ।
भाष्य रामस्तवराजे व्यतानीद्रामप्रेष्ठाः सादरं तत्पिबन्तु ॥ १ ॥
श्रीरामास्तवराजः किमयं भाष्येण भूषितो भक्तान् ।
कल्पद्रुम इव मधुपान् निचितः कुसुमादिना न मादयति ॥ २ ॥'

(अन्तिममङ्गलाचरणे)

(आदि मङ्गलाचरण वाले श्लोक का अर्थ)

(पदच्छेदः) श्रीभाष्यकारम् उदिताखिलतत्त्वसारम् आधारम् अब्धितनयाच्युतयोः प्रणम्य तद्वाक्सुधारसमयैः प्रमितः वचोभिः व्याचक्ष्महे रघुपतिस्तवराजम् एतत् ।

(अन्वयः) अब्धितनयाच्युतयोः आधारम् उदिताखिलतत्त्व सारम् श्रीभाष्यकारम् प्रणम्य तद्वाक्सुधारसमयैः प्रमितैः वचोभिः एतत् रघुपतिस्तवराजम व्याचक्ष्महे ।

(शब्दार्थ) अब्धितनया=समुद्र की कन्या, श्रीलक्ष्मीजी । अच्युत= पतनरहित, परमात्मा, (लक्ष्मीजी के साहचर्य से यहाँ श्रीमन्नारायण)। आधार=जिसपर या जिसके सहारे कोई वस्तु स्थित रहे (यहाँ शय्या से तात्पर्य है) उदिताखिलतत्त्वसारम्=अखिलतत्वों के सार को कथन करने वाले श्रीभाष्यकारम्=श्रीभाष्य के कर्त्ता श्रीरामानुजस्वामीजी को । प्रणम्य= प्रणाम करके । तद्वाक्सुधारसमयैः=उनके वचनामृत से रसान्वित । प्रमितः वचोभिः=थोड़े शब्दो में। एतत=इस । रघुपतिस्तवराजम्=रामस्तवराज को। वव्याचक्ष्महे=व्याख्या करता हू ।

(श्लोकार्थ) श्रीलक्ष्मीजी एवं श्रीमन्नारायण के (शेष रूपसे) शय्या स्वरूप, एव अखिलतत्वों के सार को कथन करने वाले श्रीभाष्य के कर्त्ता श्रीरामानुजस्वामीजी को प्रणाम करके उनके (श्रीरामानुजस्वामीजी के) वचनामृत से रसान्वित-थोड़े शब्दों में इस रामस्तवराज की मैं व्याख्या करता हूँ ।

यहाँ श्रीलक्ष्मीजी को श्रीसीताजी से, एवं श्रीमन्नारायण को श्रीरामजी से अभेद-स्वरूप हीमानकर ऐसा कथन किया गया है, अतः इससे

सम्प्रदाय के रहस्य-अभेदभाव-का पूरा खुलासा होजाता है। श्रीरामानुज-स्वामीजी शेष-भगवान के अवतार है, और शेष-भगवान 'श्रीलक्ष्मी-नारायणजी की शय्या है, यही कारण है, कि यहाँ श्रीरामानुजस्वामीको (श्रीभाष्यकार को) भी उनकी शय्या कहकर शेषत्व बोध कराया गया है।

(अन्तिम मङ्गलाचरणवाले श्लोकों के अर्थ)

(अन्वयः) श्रीमद्रामानुजसिद्धान्तवेदी हर्याचार्यः यद् (यद् इति सर्वनामापरपर्यायभूताव्ययेन सत्सम्प्रदायप्रसिद्धे) रामस्तवराजे भावगर्भम् एतद् भाष्यं व्यतानीत् तत् (भाष्यम्) रामप्रेष्ठाः सादरम् पिबन्तु ॥ १ ॥ कुसुमादिना निचितः मधुपान् कल्पद्रुम इव भाष्येण भूषितोऽयं रामस्तवराजः किं भक्तान् न मादयति ? ॥ २ ॥

(श्लोकार्थः) 'श्रीमान् रामानुजाचार्यजी के सिद्धान्त के ज्ञाता श्रीहर्याचार्यने, रामस्तवराज पर जो भावगर्भित इस भाष्य की रचना की है, उसको (उस भाष्य को) श्रीरामजी के भक्तजन पान करें ॥ १ ॥ अपने पुष्पों से आकृष्ट भ्रमरों को मुदित करने वाले कल्पवृक्ष की तरह भाष्य से विभूषित यह रामस्तवराज, क्या भक्तों को आनन्दित नहीं कर सकता है ? अर्थात् अवश्य करेगा' ॥ २ ॥

जिससमय प्राचीन-परम्परा की पुष्टि में श्रीहर्यानन्दस्वामीजी कृत श्रीरामस्तवराजभाष्य के मङ्गलाचरणवाले उपर्युक्त श्लोकों की प्रमाण-रूप से उपस्थिति हुई, उस समय श्रीभाष्य की अर्थ-सिद्धि में 'आनन्द-भाष्य' की जो असत्य कल्पना की गयी थी, उसका पूरा रहस्योद्घाटन हो गया; क्योंकि इससे पहले जब प्रमाणरूप में 'श्रीभाष्य' शब्द की उपस्थिति होती थी, तो उसका अर्थ 'श्रीरामानन्द-भाष्य' और पुनः 'आनन्द-भाष्य' तथा 'श्रीभाष्यकार' का अथ 'श्रीरामा-नन्दस्वामीजी' कर लिया जाता था, जसा कि पहले दिखलाया भी जा चुका है। परन्तु श्रीस्वामीहर्याचार्यजी कृत उपर्युक्त श्लोकों के द्वारा जब श्रीरामानन्दस्वामीजी से पूर्वकाल में ही 'श्रीभाष्य' एवं 'श्रीभाष्यकार' शब्द की उपस्थिति सिद्ध हो गयी, तो 'श्रीभाष्य' के लिये 'आनन्दभाष्य' एवं 'श्रीभाष्यकार' के लिये 'श्रीरामानन्दस्वामीजी' की जो कल्पना की गयी थी, उस पर वज्र प्रहार हो गया, उसकी असत्यता का पर्दाफाश हो गया; अतः इसकी सिद्धि की कोई राह ही नहीं रह गयी। इसी

समय धूल् झोंककर जान बचाने की तरह 'गुरुभाष्य' की झूठी कल्पना कर दूसरों को भ्रम में डालने की चेष्टा कर अपना पिण्ड छुड़ाया गया। तब से श्रीभाष्य के प्रसङ्ग में आनन्दभाष्य के साथ साथ इसकी भी पुनरावृत्ति होने लगी, एवं होती चली आ रही है; और यहाँ भी 'प्रकाश' की प्रस्तावना में यह सम्भावना के रूप में सम्मिलित हुआ है। किन्तु जिस समय परम्परा-परित्राणम्' में इसकी प्रथम कल्पना हुई थी, सद्यः मिथ्याउपस्थिति होने के कारण वहाँ विचारी (कल्पना) बारम्बार उलटी-सीधी पछाड़ खा खा कर बेदम—निर्जीव—हो गयी है, जिससे इसके मिथ्यापन का सहज ही अनुमान हो जाता है। यथा 'परम्परा परिमाणम्' में पृष्ठ १७ से १९ तक इस पर प्रश्नोत्तर के रूप में इस प्रकार विचार उपस्थित किया गया है: —

"प्रश्न १—श्रीरामानन्दस्वामीजी के दादागुरु श्रीहर्याचार्यजीने अपने बनाये श्रीरामस्तवराज-भाष्य के आदि में यह पद्य मङ्गलाचरण में दिया है:—

श्रीभाष्यकारमुदिताखिलतत्वसारमाधारमब्धितनयाच्युतयोःप्रणम्य।
तद्वाक्सुधारसमयैः प्रमितैर्वचोभिर्व्याचक्ष्महे रघुपतिस्तवराजमेतत्॥

इसी तरह इस भाष्य के अन्त में भी यों ही लिखा है कि:—

'श्रीरामानुजसिद्धान्तवेदी हार्याचार्यो भावगर्भं यदेतद्भाष्यम्

श्रीरामानन्दस्वामीजी के दादा गुरुजी का यह सिद्धान्त है कि श्रीरामानुजस्वामीजी के सिद्धान्तानुयायी हम हैं। उन्हीं के मतानुसार विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त प्रतिपाद्य यह भाष्य है।

"उत्तर १—" + + + जिस प्रकार से श्रीरामानन्द स्वामीजी महाराज ने ब्रह्मसूत्र पर आनन्दभाष्य लिखा है, उसी प्रकार से श्रीस्वामी राममन्त्र प्रचारक श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी ने भी ब्रह्मसूत्र का भाष्य किया है, जिसका नाम है 'श्रीगुरुभाष्य'। जिसका एक अध्याय अभी भी उपलभ्य है। + + + + अब आप अपने इस श्लोक के अर्थ को भी घोष लीजिये। जिसमें पुनः भूतभरव सवार न हो जावें।

"श्रीजानकीजी और श्रीरामजी के परमप्रिय, अखिलतत्व को निरूपण करने वाले भाष्यकार स्वामीरामानन्दजी को प्रणाम करके उनके बचनों के अनुसार ही प्रामाणिक शब्दों में हम इस रामस्तवराज की व्याख्या करते हैं।' कहिये जनाब ! इसमें श्रीरामानुजस्वामीजी का क्या सम्बन्ध है ?

"अब रह गया यह कि उस भाष्य के अन्त में लिखा है, 'श्रीरामानुजसिद्धान्तवेदी' इत्यादि। यहां आपकी बुद्धि भोथड हो जावेगी। अतः कुछ समझ नहीं पड़ेगा 'विनुगुरु होय न ज्ञान' यदि यह सब ग्रन्थ किसी गुरु से पढे होते तो सब रहस्य अपने आप विदित हो जाता। यह 'रामानुज' क्या वस्तु है, इसमें आपकी लघुकौमुदी और सो भी अधूरी काम नही दे सकती। अजी साहब! यह 'श्रीरामानुज' नही है, किन्तु 'श्रीरामानूक' है। श्रीनारायण के परत्व का प्रतिपादक सम्प्रदाय 'नारायणानूक सम्प्रदाय' कहा जाता है। तथा श्रीराम के परत्व का प्रतिपादक सम्प्रदाय 'श्रीरामानूक सम्प्रदाय' कहा जाता है। आप जैसे बुद्धि वालों ने इस त व को न समझ कर 'श्रीरामानूक' के बदले 'श्रीरामानुज' कर दिया है। अब उस वाक्य का अर्थ यह हुआ कि 'श्रीरामानूक सिद्धान्त अर्थात् श्रीरामपरत्वप्रतिपादक सम्प्रदाय—श्रीसम्प्रदाय के सिद्धान्त के जाननेवाले श्रीहर्यानन्द इत्यादि।' आप समझे या नहीं? फिर समझिये। श्रीस्वामी हर्यानन्दजी ने तो 'श्रीरामानूक' लिखा था। परन्तु स्थूल बुद्धिवालों ने छपते-छपाते समय उसे भ्रम से अशुद्ध समझ कर 'श्रीरामानुज' कर दिया है। इसमें किसका दोष?"

पुनः इसी 'परम्परा-परित्राणम्' में आगे चलकर पृष्ट २५ में एक ऐसे ही प्रसङ्ग की उपस्थिति होने पर आपने जो विचार उपस्थित किया है उसे भी देख लीजिये वह इस प्रकार है:—

"अच्छा तो आपको यहां भी—'श्रीभाष्यकारान्वय' मिल गया है? कोई हर्ज नहीं भाई साहेब! मैंने रास्ता तो आपको बता दिया है। उसीसे आंख बन्द किये हुए चले जाइये। यदि भूल गये हों, तो पुनः सुन लीजिये। श्रीदेवानन्द जी महाराज ने जो 'श्रीगुरुभाष्य' लिखा है, उसी के लिये यहाँ पर श्रीदेवानन्दजी को ही 'श्रीभाष्यकार' लिखा गया है। 'श्रीगुरुभाष्यकार' में 'श्री' शब्द प्रतिष्ठावाचक है, यह मैं ऊपर कह चुका हूँ।"

यद्यपि श्रीस्वामीहर्याचार्यजी कृत 'रामस्तवराजभाष्य' के पूर्वोल्लिखित मङ्गलाचरण वाले तीनों श्लोको एवं उनके अर्थों से 'परम्परा परित्राणम्' में उपर्युक्त विचारों का मिलान कर देखने मात्र से ही स्पष्ट प्रतीत हो जाता ह, कि परम्परा-परित्राणम्कार—श्रीभगवद्दास

जी ने—सत्यता पर केवल धूली झोंक कर उसे ढकने की ही व्यर्थ चेष्टा की है, और इसी के चलते आपको अनेक धीगा-धींगी, झूठ-सांच छल-प्रपञ्च शेखी-शोखी, मिथ्यादम्भ एवं कोरी-गलेबाजी करनी पडी है, फिर भी मुझे अपनी ओर से भी इसे स्पष्ट कर इसकी सत्यता उपस्थित कर देना उचित प्रतीत होता है।

सबसे पहले 'श्रीगुरुभाष्य'कार के नामकरण की ओर ही ध्यान डाला जाय। प्रारम्भ में तो इस 'श्रीगुरुभाष्य' के कर्ता श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी बताये गये हैं, जसा कि लिखा है कि "श्रीपुरुषोत्तमाचार्य जी ने भी ब्रह्मसूत्र का भाष्य किया है, जिसका नाम है 'श्रीगुरु भाष्य'। पुनः जब उपर्युक्त 'रामस्तवराज-भाष्य'के आदि मङ्गलाचरण वाले श्लोक का आपने अर्थ किया है, तो इसमें उस 'श्रीगुरुभाष्य' के कर्ता श्रीरामानन्दस्वामीजी को वताया है, यथा "भाष्यकार स्वामी रामानन्दजी को प्रणाम करके उनके बचनों के अनुसार ही प्रामाणिक शब्दों से हम इस रामस्तवराज-भाष्य की व्याख्या करते है।" यहाँ आपने श्रीस्वामी हर्यानन्दजी से श्रीरामानन्द स्वामी जी को प्रणाम कराने की भी बहक दिखा डाली है। वाह, क्या खूब! दादागुरु नाती चेला को प्रणाम करें! यद्यपि पुस्तक छप जाने पर शुद्धिपत्र में स्वामी रामानन्द जी के स्थान में 'स्वामी पुरुषोत्तमाचार्य जी' बना दिया गया है, परन्तु यह प्रेस की भूल तो नही हीं कही जा सकती? यह तो विचारकी भूल है! प्रेस में तो अक्षरों की भूलें हो सकती है, परन्तु और के और ही वाक्य गढ़े नही जा सकते। क्या कभी प्रेस की भूल से 'पुरुषोत्तमाचार्य' की जगह 'रामानन्द' छप सकता है, जब कि न तो दोनों में अक्षरों का ही साम्य है, न दूसरी ही कोई गुन्जाइश ह? इससे तो स्पष्ट है, कि प्रेस-कापी में ऐसा ही—स्वामी रामानन्द जी ही—लिखा ही गया, क्योंकि श्रीभाष्यकार के लिये श्रीरामानन्दस्वामी जी की जो पूर्व-कल्पना की गयी थी, उसकी धारणा मस्तिष्क में दृढ हो रही थी, यहां उसके स्थान में जो श्रीपुरुषोत्तमाचार्य जी की नयी कल्पना की गयी इसे सद्यः मिथ्या होने के कारण मस्तिष्क ने अपने यहाँ स्थान नहीं दिया, अतः 'श्रीभाष्यकार' शब्द की उपस्थिति होते ही उसने पूर्व की दृढाई हुई धारणा को ही यहां उपस्थित कर दिया है। पुनः

प्रूफ-संशोधन आदि में भी वह इसी कारण ज्यों का त्यां बना रहा, और छप गया। जब पुस्तक तयार हो गयी तो एक ही पन्ने में ऊपर 'श्रीगुरुभाष्य' के कर्त्ता श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी, और नीचे 'श्रीरामानन्द स्वामीजी को देख कर ही इस ओर ध्यान गया और शुद्धि पत्र लगा दिया गया। किन्तु सद्यः मिथ्या कल्पना होने के कारण वह फिर विस्मृत हो गयीं, अतः पृष्ट २५ में पुनः इस 'श्रीगुरुभाष्य' के कर्त्ता श्रीस्वामी देवानन्दजी बताये गये हैं, जैसा कि ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है। उसमें लिखा है, कि "श्रीदेवानन्दजी महाराज ने जो 'श्रीगुरु-भाष्य' लिखा है, उसी के लिये यहा पर श्रीदेवानन्द जी को ही श्रीभाष्यकार लिखा गया है।" और यह तो शुद्धिपत्र में भी नहीं बदला गया है; अतः 'श्रीगुरुभाष्य' के कर्त्ता कौन माने जाय? श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी, या श्रीरामानन्दस्वामीजी या श्रीस्वामीदेवानन्दजी? यदि श्रीस्वामीरामानन्दजी को, आपके मिथ्या-शुद्धिपत्र को उचित मानकर, इस कर्त्वाधिकार से हटा भी दें (यद्यपि ऐसी करने की कोई राह नही है) तौ भी 'श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी' एवं 'श्रीस्वामीदेवानन्दजी' के लिये कौन राह निकालियेगा? ऐसा क्यों? इसी लिये तो, कि निराधार-नूतन-कल्पना, सद्यः-मिथ्या होने के कारण अपरिचित मार्ग में बेराह भटक कर इधर उधर टकराती फिरी, अतः अन्त में मृत्युमुख में [illegible] गिरी है। ठीक है, पूर्वाचार्यों के द्रोह का यही फल है। इसी से या कल्पना त्रिशङ्कु की तरह अधर में ही झूलकर रह गयी है? फिर [illegible] वही उलटी-सृष्टि कायमरखकर आजतक आपउसी कोघसीटतेआ रहे हैं कई विचित्रता तो यह है, कि लिखा जाय तो 'श्रीगुरुभाष्य' पर [illegible]सरे लेखक का नामकरण हो 'श्रीभाष्यकार'! यह क्यों? क्या छन्द में '[illegible]-भाष्य' की समाई ही नही हो सकती थी या लिखने से दूसरीकोई गड़ब[illegible] पड़ती? या छन्द की गरज से आमको इमली लिखदेना भी जायज है पर 'आनन्द' और 'गुरु' शब्द युक्त भाष्य लिखने में सभी पूर्ववर्त्ती महभी त्मात्रों को अडचन क्यो पड़ी, जो किसीने भी 'आनन्द-भाष्य' या 'गुरुभाष्य' का नाम नही लिखा बल्कि सबोंने 'श्रीभाष्य' ही लिखाह? सचमुड़ा बात तो यह है, कि 'आनन्दभाष्य' और 'गुरुभाष्य' उन आचार्यों के लिखे ग्रन्थ ही नही ह। यही कारण तो है, कि 'गुरुभाष्य' के कर

के नामकरण में बुद्धि तीन-पछाड़ खाकर अन्धी हो गयी है! जब गुरुभाष्य के कर्त्ता ही असिद्ध हो गये, तो उस 'भाष्य' की भी असिद्धि अपने आप गले पतित ही है।

खैर, भाष्यकार के नामकरण में तो इस प्रकार चोरी और जाल-साजी पकड़ गयी। अब 'रामस्तवराज-भाष्य' के मङ्गलाचरण वाले श्लोकों में जो श्रीस्वामी हर्यानन्दजीने श्रीरामानुजस्वामीजी को शेषावतार बतलाते हुए उनको प्रणाम किया और अपने को उनका अनुयायी बताया, तथा अपने भाष्य को उनके बचनामृत से रसान्वित कहा है, इससे श्रीभगवद्दासजी की इष्ट-सिद्धि में प्रबल रुकावट पड़ी, अतः आपने जो उसके अर्थ करने में धींगा-धींगी की है, उसकी निराधारता औ अनर्गलता भी देखिये। क्योंकि शेषावतार तो दूसरे सिद्ध ही नहीं हो सकते थे, फिर आप करे तो क्या? अतः अपनी सहज-प्रकृति के अनुसार दुराशा-सिद्धि के लिये झटपट कुछ लिख मारना ही आपने अपना सहज धर्म विचारा, और लिख भी मारा। इस लिये अब आगे उसी की निराधारता एवं निरर्थकता पर विचार किया जायगा।

इसकी स्पष्टता के लिये उपर्युक्त अर्थों से आपके 'परम्परा-परित्राणम्' के अर्थों और विचारों का मिलान कीजिये। श्लोक में लिखा है "आधारमब्धितनयाच्युतयोः"। जिसका अर्थ आपने "श्रीजानकीजी और श्रीरामजी के परमप्रिय" किया है। किन्तु यह अर्थ आपने निकाला कैसे? मूल में 'अब्धितना और अच्युत के आधार' ये ही शब्द तो पड़े हैं? 'अब्धितनया' का स्पष्ट अर्थ 'समुद्र की कन्या अर्थात श्रीलक्ष्मीजी' यही तो होगा? और इसके साहचर्य-सम्बन्ध 'अच्युत' का अर्थ भी तो 'नारायण' ही होगा? अतः 'अब्धितनया' और 'अच्युत' का अर्थ 'लक्ष्मीनारायण' ही तो हुआ? पुनः 'आधार' का अर्थ 'परमप्रिय' कैसे? 'आधार' का सीधा अर्थ तो 'अधिकरण' है, अर्थात् जिसपर, या जिसमें कोई वस्तु स्थित हो सके, और लक्ष्मीनारायण शेष शय्या पर स्थित रहते—शयन करते हैं, अतः उनके ये आधार हुए। इन्हीं शेष-भगवान् के अवतार श्रीरामानुजस्वामीजी हैं, यही कारण है, कि यहाँ उनको 'लक्ष्मीनारायण' का आधार कहा है। इससे भी स्पष्ट है, 'श्रीभाष्यकारमुदिताखिलतत्वसारम्'

में 'श्रीभाष्यकार' शब्द से श्रीरामानुजस्वामीजी को ही कहा है, अन्य को नहीं; और इसमें किसी प्रकार भी सन्देह या धींगडेवाजी की गुञ्जाइश ही नहीं है। फिर भी 'आधार' का अर्थ 'परमप्रिय' कर केवल धोखा देने का ही प्रयत्न किया गया है।

यदि ऐसा कहें, कि "श्रीसीतारामजो और श्रीलक्ष्मीनरायण में अभेद होनेके कारण हो यहां ऐसा अर्थ किया गया है; अतः कोई हर्ज नही है" तो यह तो तब हो सकता है, यदि आप इस 'सम्प्रदाय' का ऐसा सिद्धान्त स्वीकार कर अर्थ करें। जब ऐसा होता ही, तो फिर आप इस अनर्थकारी-गुरुद्रोही—आन्दोलन का जन्म ही क्यों देते? यदि भगवान् अब भी आपको सुब[illegible] दें और आप सत्यमार्ग पर लौट आवें तो भाई! अब भी बिग[illegible] है! यदि दिन का भूला शाम को भी ठिकाने पर आजाय, [illegible] उसे भूला नही समझा जाता। खैर जैसी ईश्वरेच्छा! परन्तु आप तो इस सम्प्रदाय के अन्दर 'लक्ष्मीनारायण' शब्द ही देख सुन कर ऐसा भड़कते—भागते है; जैसे पलामू जिले के बैल किसी रंग विरंगे सुन्दर—दृश्य या मनोहर वाद्य—ध्वनि देख सुन कर। यद्यपि श्रीस्वामी हर्याचार्यजी ने अभेद मानकर ही ऐसा मङ्गला-चरण किया है, परन्तु आप तो मुरारी हो रहे हैं, अतः आपके लिये वैसा अर्थ कब सम्भव हो सकता है? इसके अतिरिक्त 'आधार' शब्दका अर्थ भी 'परम-प्रिय' हो ही नही सकता। फिर शेष भगवान् के अवतार किनको बनाइयेगा, श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी को या श्रीदेवाचार्यजी को या श्रीरामानन्दस्वामीजी को? इसके अतिरिक्त सवत्र तो प्रसिद्ध तथा प्रमाणित है ही, कि श्रीरामानुजस्वामीजी शेषावतार है, और आपने भी कई स्थानों में ऐसा ही स्वीकार किया है, फिर यहाँ भी उनके सिवा दूसरे कोई शेषावतार किस तरह सिद्ध हो सकते है? आप दूषित-अभीष्ट-सिद्धि के फेर में इतना बहाल क्यों फिरते है, कि न तो आगा-पीछा सोचते हैं, न ऊच-नीच ही देखते हैं? और इसी विद्या-विवेक पर आपको इतना नाज है, कि अपने सामने किसी को तिनके के समान भी नहीं समझते। इसके सिवा आपने 'प्रमितैर्वचोभिः' का अर्थ प्रामाणिक-शब्दो में' कर लिया है। किन्तु यहाँ प्रसङ्ग वशात् 'प्रमित' का अर्थ 'थोड़ा या 'संक्षिप्त' है, और श्रीस्वामी हर्याचार्यजी ने ऐसा इसी कारण लिखा है,

कि उन्होंने 'श्रीरामस्तवराज' का भाष्य भी संक्षिप्त में ही किया है।

अब रामानुज' के स्थानमें 'रामनूक' की कल्पना की अनर्गल-लीला भी देखिये। एक तो जब उसकी सभी छपी और हस्तलिखित प्रतियों में रामानुज' ही लिखा हुआ है, तो अपनी गरज से विना आधार 'रामानूक' मान बैठना कहाँ की अक्लमन्दी है? यदि इस तरह स्वार्थानुकूल मनमानी पाठ मानने का भूत सवार हो जाय, तो सारे वेदशास्त्र ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ! और यदि पहले से ऐसे भले-मानुष अवतरित हुये होते, तो न जानें आज वेदशास्त्रों की क्या अवस्था होती, कितने रूप होते! इसके अतिरिक्त 'रामानूक' शब्द से अर्थ-सिद्धि भी नहीं होती। यदि आपके कथनानुसार इस शब्द का अर्थ 'श्रीरामपरत्व प्रतिपादक' मान भी लें, तो 'माध्व-सम्प्रदाय' में भी तो श्रीरामपरत्व प्रतिपादन पूर्वक ही श्रीरामजी की उपासना है, फिर इससे कौन सी अर्थ सिद्धि हुई? क्या 'श्रीसम्प्रदाय-सिद्धान्तवेदी' आदि लिखने में कोई अड़चन पड़ती थी, कि द्रविड-प्राणायाम से परिचय देने की जरूरत पड़ी? और सो भी अधूरा अस्पष्ट और भ्रामक ही! असल बात तो यह है, कि वह शब्द 'रामानूक' नहीं, 'रामानुज' ही है और उन्होंने अपने को श्रीरानुजस्वामीजी की ही परम्परा में बताया है, जो आदि के मङ्गलाचरण के उपर्युक्त विवेचन से भी स्पष्ट सिद्ध है; और इसका आगे भी वास्तविक अर्थ उपस्थित कर दिया जाता है, जिससे इसकी सत्यताऔरआप की अनर्गल-धींगाधींगी की नग्नता पूरी तरह स्पष्ट होजाय।

'रामानुज-सिद्धान्त-वेदी' को आपने 'रामानूक-सिद्धान्त-वेदी' मानकर अर्थ करने के पर्दे में अनर्थ कर मतलब गाँठने की चेष्टा की है, किन्तु वस्तुतः इसकी वहाँ कोई राह ही नहीं है; क्योंकि यदि यह गद्य रहता, तो आपकेलिये 'तिनके का सहारा' भी होता, परन्तु यह तो पद्य है। और केवल यही नहीं, साथ ही एक और भी पद्य है। इन दोनों के छन्द होने से और भी टस से मस होने की राह नहीं रह गयी है, क्योंकि ये ग्रन्थ-समाप्ति के मङ्गल-श्लोक है जो ऊपर भी उद्धृत हो चुके हैं, और विचार-सुलभता के लिये यहाँ भी उपस्थित किये जाते हैं:—

श्रीमद्रामानुजसिद्धान्तवेदी हर्याचार्यो भावगर्भं यदेतत्।
भाष्यं रामस्तवराजे व्यतानीद्रामप्रेष्ठाः सादरं तत्पिबन्तु॥

श्रीरामस्तवराजः किमयं भाष्येण भूषितो भक्तान् ।
कल्पद्रुम इव मधुपान् निचितः कुसुमादिना न माद्यति ॥

ये छन्द श्रीरास्तवराजभाष्य के अन्तिम मङ्गलाचरण के हैं। यह भाष्य वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई में छप भी चुका है, और मेरे पास वि० संवत् १८९८ की हस्तलिखितप्रति भी मौजूद है। तात्पर्य यह, कि ग्रन्थ प्राप्य होने के कारण सब कोई इसे आसानी से देख और विचार कर सकते है। छन्दशास्त्र में इस मङ्गलाचरण वाले छन्द को उपजाति कहा है। 'उपजाति छन्द' का अर्थ है 'मिश्र छन्द' 'अर्थात् दो छन्दों के मिश्रण से जो छन्द बनता है, वह 'उपजाति-छन्द' है। 'मिश्रण' इस तरह होता है, कि छन्द का अर्धांश एक छन्द का और अर्धांश दूसरे छन्द का रहता है; और अर्धांश भी इस प्रकार, कि प्रथम और तीसरा चरण एक छन्द का, और दूसरा और चौथा चरण दूसरे छन्द का होता है। जैसा कि 'वृत्तरत्नाकर' में लिखा है:—

अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ।
इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु स्मरन्ति जातिष्विदमेव नाम ॥

(इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के लक्षण कथित होने के बाद उपजाति का यह लक्षण कहा गया है)

अर्थ—यहाँ से अव्यवहित-पूर्व-कथित लक्षण वाले छन्दों—इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा—के लक्षणों से जिसके दो दो पाद युक्त हैं, वे उपजाति छन्द कहे जाते हैं। इसी प्रकार भिन्न भिन्न जाति के अन्य छन्दों के मिश्रण होने पर भी उपजाति ही छन्द कथित होता है।

ऊपर्युक्त 'श्रीमद्रामानुजसिद्धान्तवेदी' इस मङ्गलश्लोक का छन्द भी 'मिश्र' अर्थात् उपजाति ही हैं। इसमें वातोर्मी और शालिनी का मिश्रण हुआ है। इसके पहले और तीसरे चरण वातोर्मी के है, और दूसरे एवं चौथे चरण शालिनी के। क्रमशः मगण, भगण, तगण और दो गुरु का वातोर्मी (वातोर्मीयं कथिता म्भौ तगौ गः) और क्रमशः मगण, दो-तगण, और दो गुरु का शालिनी छन्द (शालिन्युक्ताम्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः) होता है,। अब उपर्युक्त श्लोक में इनके लक्षणों का मिलान कर देखें।—

मगण	भगण	तगण	दो गुरु	वातोर्मी
SSS	S||	SS|	SS	
श्रीमद्रा	मानुज	सिद्धान्त	वेदी	
मगण	तगण	तगण	दोगुरु	शालिनी
SSS	SS|	SS|	SS	
हर्याचा	र्योभाव	गर्भय	देतत्[1]	
मगण	भगण	तगण	दो गुरु	वातोर्मी
SSS	S||	SS|	SS	
भाष्यंरा	मस्तव	राजेव्य	तानीद्	
मगण	तगण	तगण	दोगुरु	शालिनी
SSS	SS|	SSS	SS	
रामप्रे	ष्ठाःसाद	रंतत्वि	बन्तु	

इस प्रकार यह वातोर्मी और शालिनी के मिश्रण का उपजाति छन्द है। अतः छन्द में 'श्रीमद्रामानुज' को किसी प्रकार भी 'श्रीमद्रामानूक' करने की राह नही रह गयी है। क्योंकि तब छन्द ही अशुद्ध हो जायगा। इसके अतिरिक्त छन्द का तीसरा चरण भी, जो इस पहले चरण का सजातीय है, इसे टस से मस नहीं होने देता, कारण दोनों को एक सा रहना पड़ेगा ही, अतः एक तो पाठ 'रामानुज' है ही, वह छन्दतः और अर्थतः भी शुद्ध है, दूसरे, छन्द के तृतीय चरण के एक जातीय होने के कारण भी 'रामानुज' ही पाठ शुद्ध होता है। यदि उसको 'रामानूक' किया जायगा, तो एक तो वैसा पाठ है नहीं, दूसरे छन्द तथा अर्थ की दृष्टि से भी अशुद्धि और निरर्थकता आजाती है, अलावे तृतीय चरण से मिलाने पर भी विजातीय होनेके कारण उसकी सिद्धी नही होती, अतः वह अशुद्ध ही ठहरता है। इसके अतिरिक्त प्रथममङ्गलाचरण वाले श्लोक के अर्थ से इसका साम्य-समर्थन भी होताहै। इस लिये वह किसी प्रकार भी 'श्रीमद्रामानुज' से 'श्रीमद्रामानूक' नही हो सकता।

ऐसा प्रायः देखने में आता है, कि ग्रन्थकार जिस प्रकार

१टि०—"विज्ञेयमक्षरं गुरु पदान्तस्थं विकल्पेन" इस नियमानुसार तकारउत्तर वर्त्तीअकार गुरु है।

ग्रन्थ के आदि में उसकी निर्विघ्न समाप्ति के लिये मङ्गलाचरण करग्रन्थारम्भ करते हैं, उसी प्रकार अन्त में भी उसकी चिरस्थिति की कामना से मङ्गलाचरण कर ग्रन्थ-समाप्ति करते है। यहां 'श्रीरामस्तरावजभाष्य' में भी वैसा ही किया गया है, और उपर्युक्त दोनों श्लोक ग्रन्थ--समाप्ति के ही मङ्गलाचरण हैं। जिसमें पहला छन्द तो वातोर्मी और शालिनी के मिश्रण का उपजाति है, जो कि आवश्यकता होने के कारण ऊपर अच्छी तरह विवेचित हो चुका है, और दूसरा छन्द आर्य्या के प्रथम दलके सदृश दोनों दल होने के कारण 'गीति' है इससे। अबतो'रामानुज'पाठ की सत्यता और 'रामानूक' पाठ की असत्य-कल्पना का ठीक ठीक परिचय हो गया होगा। हाँ,श्रीभगवद्दासजी का मस्तिष्क पाण्डित्य के गर्वित-बोझ से चकरा गया हैं, घूम गया है, अतः सम्भव है, कि आप उलटी-टेढ़ी ही राह पकड़ें, क्योंकि आप को तो न अर्थ की शुद्धता की ही फिक्र हैं, न छन्द की शुद्धता की ही, तब तो आप 'परम्परा-परिमाणम्' के पृष्ट ६७-६८ में फर्माते हैं-"अब रहा 'रामानुजवर्त्म' उसका वही सीधा उपाय अर्थात् 'ज' के बदले 'क'। 'रामानूकवर्त्म' इसका अर्थ है कि 'श्रीरामपरत्व प्रतिपादक मार्ग के अनुकूल जयन्तीनिर्णय....।' श्लोक अशुद्ध हो, तो तुम जानो।" अतः आपको तो अपने मतलब से काम, अर्थ और श्लोक अशुद्ध हो तो हुआ करे। वाह रे अनोखे पण्डित! श्लोक कुछ हो, उसका अर्थ कुछ होता हो। परन्तु अपने कुमनोरथ की सिद्धि के चलते, सब को नष्ट-भ्रष्ट कर डालें आप, और दायित्व डालें दूसरे के सिर। अजी, दूसरे के श्लोक को बदल कर अशुद्ध कर डालने और बेराह विपरीत— अर्थ करने का न तो आपको अधिकार है, न ऐसा किये कामही सिद्ध होगा। हाँ, डेढ़ चावल की अपनी अलग खिचड़ी आप भले पकावें। वहाँ श्लोक का चरण तो है:—

"श्रीरामानुजवर्त्मसम्मतजयन्तीनिर्णयः पूर्णताम्" । परन्तु आप 'श्रीरामानूकवर्त्मसम्मतजयन्तीनिर्णयः पूर्णताम्' बनाने और मतलब गाँठने चले है। क्या यह बेराह-धींगाधींगी कभी चलने की है? सब से पहले तो अशुद्ध हो जाने के कारण छन्दकी गति ने ही आप के पैर में बेड़ी डाल कर आगे बढ़ने से रोक दिया है, परन्तु कुछ सूझता ही नही। फिर भी आप व्यामोह से अपने को बँधा स्वीकार न कर उसे दूसरे पर ही ठोकना चाहते है।

इसी तरह 'श्रीमद्रामानुजसिद्धान्तवेदी' में भी आपको छन्द एवं अर्थ की शुद्धता एवं औचित्य की क्या पर्वा। आपको तो किसी तरह मनोरथ सिद्ध होना चाहिये। किन्तु इस बेराह-अनर्गलता से 'मनोरथ छूछे ही रह जायँगे।

इससे यह भली भाँति सिद्ध है, कि 'रामानुज' के स्थान में 'रामानूक' की कल्पना नितान्त भ्रम है, उसकी सिद्धि की कोई भी राह नहीं है। उसकी स्थिति, सम्प्रदाय में तो नही ही है, है केवल श्रीभगवद्दासजी के दुराग्रह में। साम्प्रदायिक विद्वानों और आचार्यो ने तो 'रामानुज' ही लिखा है, बल्कि उन्होंने उसे छन्द-बद्ध कर टस से मस होने की राह भी नही रहने दी है, अतः वह किसी प्रकार भी 'रामानूक' नही हो सकता, और न भ्रम से वैसा लिखजाने और छपने की बात कह कर धांधली करने से ही वहाँ काम चल सकता है। इसके अतिरिक्त 'रामस्तवराज-भाष्य' के आदि-मङ्गलाचरण से भी इसकी समता और पूर्ण समर्थन हो ही रहा है। अतः इसमे कोई सन्देह नही, कि श्रीहर्याचार्यस्वामीजी ने निजकृत 'रामस्तवराज भाष्य' के आदि-मङ्गलाचरण में 'अछिघतनयाच्युतयोः आधारम् श्रीभाष्य-कारम् प्रणम्य' एवं अन्तिम-मङ्गलाचरण में 'श्रीमद्रामानुजसिद्धान्त वेदी' लिख कर यह भली भाँति स्पष्ट कर दिया है, कि आप श्रीरामानुजस्वामीजी की ही वंश-परम्परा में है, और 'श्रीभाष्य' श्रीरामानुज स्वामीजी कृत भाष्य का ही नाम हैं, अतः उनका 'श्रीभाष्यकार' शब्द से परिचय दिया है। और श्रीरामानन्दस्वामीजी ने भी श्रीवैष्णव-मताब्ज भास्कर में 'शक्तैः श्रीभाष्यतश्च' तथा 'श्रीभाष्यमेवं शृणुयादशक्तः' लिखकर इसी बात का परिचय दिया है। अतः 'श्रीभाष्य' के स्थान पर 'गुरुभाष्य' की कल्पना इस प्रकार भी असत्य ही ठहरी।

इस प्रकार गुरुभाष्य की मिथ्या-कल्पना करने के कारण एक तो उसके रचयिता के नाम में बारम्बार परिवर्त्तन होने से भूठाई उघड़ पडी—पहले उसके रचयिता श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी बताये गये, पुनः श्लोकार्थ करने में श्रीरामानन्दस्वामीजो का नाम आया, पुनः आगे चल कर श्रीस्वामीदेवानन्दजी उस भाष्य के कर्त्ता घोषित हुए। इस के अतिरिक्त 'रामानुज' के स्थान में 'रामानुक' पाठ बदलने की चेष्टा

भी असिद्ध होने से व्यर्थ ही हुई और मिथ्यापन स्पष्ट हो गया। और यहाँ भी 'श्रीभाष्यकार' श्रीरामानुजस्वामीजी ही सिद्ध हुए।

अतः सब प्रकार से प्रमाणित हो गया, कि श्रीरामानुजस्वामीजी की ही संज्ञा 'श्रीभाष्यकार' है और आप के ही, ब्रह्मसूत्र-भाष्य का नाम 'श्रीभाष्य' है। श्रीस्वामीहर्याचार्यजी, श्रीस्वामीरामानन्दाचार्यजी तथा अन्य आचार्यों एव विद्वानोंने 'श्रीभाष्यकार' एव 'श्रीभाष्य' शब्द से श्रीरामानुजस्वामी जी तथा उनके ब्रह्मसूत्र-भाष्य का ही उल्लेख किया है। इस 'श्रीभाष्य' शब्द की 'आनन्द-भाष्य' या 'श्रीगुरुभाष्य' अर्थ-कल्पना करना महज़ धोखा देना है, भ्रम फैलाना है। यही कारण हैं, कि आज तक न तो किसी ने ऐसा जाना-माना है, और न उसकी सिद्धि ही होती है। केवल श्रीभगवद्दासजी को वैसी विपरीत-धुन समायी रहती है, और इसीसे विषय इतना स्पष्ट होने पर भी आपको उलटा ही सूझा करता है। आप दूसरों को तो 'विनु गुरु होय न ज्ञान' कह कर गुरु से पढ कर रहस्य जानने का उपदेश करते है, उनकी लघुकौमदी की अधूरी जानकारी की खिल्ली उड़ाते ह,और उनके जैसे को स्थूलबुद्धिवाला कह कर उल्लसित होते है, परन्तु आपको इस ओर तनिक भी दृष्टि नहीं जाती, कि आप स्वयं 'गुरु-द्रोह' जैसी बहादुरी के ही कारण प्रसिद्ध हो रहे है, जिसका स्थायी प्रमाण 'श्रीसम्प्रदायरत्न' अब भी उपलम्य है, और यहाँ भी पूर्व में दिग्दर्शित हो चुका है। तथा उपर्युक्त श्लोकों के अर्थादि विचारने में भी तो आपने अधूरी लघुकौमुदी के जानकार की स्थूलबुद्धि को भी मात ही कर दिया है। भला ऐसे अनर्गल-विचार में भी कोई जान रहती है या उसका कोई मूल्य होता है? इसीसे तो कसौटी पर कसते ही उसका सहज—खोटापन उघड़ आया, अतः पर्दाफाश हो गया है।

अब 'द्रविड़मुनि कृत प्रबन्धों' के सम्बन्ध के विचारों की ओर भी दृष्टि डालिये। 'द्रविडमुनि' शब्द से अगस्त्यऋषि की जो कल्पना की गयी है, और ऐसी कल्पना करने का आधार जो उनका द्रविडदेश में जन्म और निवास बतलाया गया है, उस कथन की असत्यता एवं अशक्तता का सब से पहले विचार करना ही आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि सारी कल्पना का इसी पर दारोमदार है। तत्पश्चात् उनके

'प्रबन्धों'· से 'अगस्त्य-संहिता' के कथन एवं उसके निर्म्माण किये जाने आदि की बातों पर प्रकाश डालना उचित होगा।

किसी व्यक्ति की जातीय-संज्ञायें दो ही कारणों से बदल सकती है। या तो अन्य जातियों में विवाह सम्बन्ध आदि द्वारा मिलजुलकर धीरे धीरे उसी जाति में खपकर अपने पूर्वजों के स्वरूप-ज्ञान मिट जाने पर अपने को भी उसी जाति का समझ लेने से, या किसी देश-प्रदेश में अनन्तकाल तक बसते हुए किसी युगान्तर की उपस्थिति होने पर पूर्वजों की यथार्थ जानकारी मिट जाने या विस्मृतप्राय हो जाने से, पूर्वजों की जातीय-संज्ञायें छूट कर वहाँ की जातीय-संज्ञाये कायम हो जाती या हो जा सकती है। जैसे कि पूर्व समय में हूण, तातार शक आदि विदेशी जातियाँ इस देश में आयी थीं,जिसका पता 'राजतरंगिणी' आदि ग्रन्थों से लगता है, किन्तु उन सबों का पूर्वजों के रूप में आज कहीं भी परिचय नही मिलता, अब तो वे सब के सब अपने को हिन्दू ही जानते-मानते हैं। इसी प्रकार और भी बहुत से उदाहरण इति-हासों में भरे पड़े है। बिना इन दोनों कारणों में से किसी एक के या दोनों के, कभी भी किसी व्यक्ति की जातीय-संज्ञायें नहीं बदल सकती, जब बदलता है तब इन्ही दोनों कारणों से। केवल किसी देश में जन्म होने मात्र से ही कोई व्यक्ति वहाँ की जाति का माना नही जा सकता, क्योंकि जातित्व मे कुल-वंश कारण है, बल्कि प्रधानता कुल-वंश की ही होती है। जैसे कहीं भी जन्म हो, बङ्गाली माता-पिता से उत्पन्न सन्तान बङ्गाली, महाराष्ट्र माता-पिता से उत्पन्न सन्तान महाराष्ट्र और मैथिलादि माता-पिता से उत्पन्न सन्तान मथिल आदि ही कहलाती है, इसी प्रकार सभी जातियों के सम्बन्ध में समझनी चाहिये, इसकी सत्यता आँख पसार कर देखने से सर्वत्र ही दृष्टि-गोचर होती है। इसके लिये उदाहरण-स्वरूप यदि काशी को ही लिया जाय, तो सभी जातियों की स्थिति का एक ही जगह अच्छी तरह परिचय मिल जायगा। क्योंकि यहाँ महल्ले के महल्ले और छिट-फुट भी महाराष्टों द्रविड़ों, तैलङ्गों, कर्णाटियों, गुजरातियों, बङ्गालियों आदि के अनेक परिवार हैं, परन्तु कई पुश्तों से यहीं जन्म-ग्रहण करते और बसते हुए भी किसी की अपने पूर्वजों से भिन्न-जातिकी औपाधिक-

संज्ञाये नहीं हुईं, बल्कि महाराष्ट्र, महाराष्ट्र ही; द्रविड, द्रविड़ ही; तैलङ्ग, तैलङ्ग ही; कर्णाटी, कर्णाटी ही; गुजराती, गुजराती ही; एवं बङ्गाली, बङ्गाली ही आदि समझे और माने जाते है; और एक दूसरे से अपने को भिन्न जाति का समझते मानते हुए भिन्न ही आचार-व्यवहार आदिभी करते हैं। इसी प्रकार बङ्गाल, महाराष्ट्र, गुजरात, द्रविड़, पञ्जाब आदि देशों में बसे हुए अन्य देशीय लोगों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिये। कम से कम बङ्गाली और मारवाड़ी तो नौकरी एवं व्यापार के चलते हिन्दुस्तान के सभी हिस्सों में, बल्कि बहुत-कुछ अन्यत्र भी भरे है; परन्तु उनकी औपाधिक-संज्ञाये बङ्गाली एवं मारवाड़ी ही हैं, अन्य नही। हिन्दुस्तान में बहुत ज़माने से बसते हुए भी पारसी वगैरह हिन्दू नही कहे जाते। इसी प्रकार अन्यत्र भी दृष्टि दौड़ा कर देखने से इस सहज-नियम की व्यापकता अपने आप दिखाई पड़ेगी। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि उपर्युक्त नियम तो साधारण-व्यक्ति के ही लिये है, ऋषियों के लिये नही। ये तो उस नियम से परे हैं, अतःसर्वदेशीय समझे-माने जाते है। इसीलिये जिस प्रकार सामान्य लोगों की देशकालिक-जाति-संज्ञाये मानीं जाती हैं, या बनी हुई हैं, उस प्रकार, किसी भी ऋषि के लिये नियम नहीं है। यही कारण है, कि कोई भी ऋषि साधारण-मनुष्यों की तरह समझे जाकर महाराष्ट्रऋषि, तैलङ्ग-ऋषि, गुर्जरऋषि, बङ्गालीऋषि, कान्यकुब्जऋषि, मैथिलऋषि आदि नामों से किसी भी पुराणादि में उल्लिखित नही हुए हैं, न आज ही कोई कहता मानता या समझता है, परन्तु आपकी ही अनोखी नई कल्पना आज इस तरह बेराह उमड़ी हुई नजर आयी है। उपर्युक्त व्यापक-नियम से सिद्ध है, कि यदि अगस्त्यऋषि का जन्म द्रविड़देश में होता तो भी, द्रविड़मुनि नहीं कहे जा सकते थे, किन्तु उनका तो उस देश में जन्म भी नही हुआ है, कि उसे लेकर धींगाधींगी करने की भी कोई राह हो! यही कारण है कि वहाँ उनके जन्म-ग्रहण करने का कोई भी प्रमाण न देकर ठगों की तरह आपने दिनदहाड़े आंख में धूल झोकने का प्रयत्न करते हुए गोलमठोल सा अनर्गल-कथन कर डाला है, कि अगस्त्यजी ने द्रविड़देश में जन्म-ग्रहण कर अगस्त-संहिता बनायी है। अतः इसी का

'द्रविड़-प्रबन्ध' के नाम से कथन हुआ है, इत्यादि। प्रमाण तो इसके सरासर-विरुद्ध यह मिल रहा है, कि अगस्त्यजी का का जन्म न तो द्रविड़देश में हुआ है, न द्रविड़ माता-पिता से ही हुआ है. अतः कोई धुन्धली राह भी नही है, जिससे 'अगस्त्यजी' को 'द्रविड़मुनि' अनुमान करने की कोई भी गुन्जाइश हो सके। यथा मत्स्य पुराण के २०१ म अध्याय मे वशिष्ट—अगस्त्य-जन्म-ग्रहणप्रसङ्ग लिखा है:—

एतस्मिन्नेव काले तु मित्रश्च वरुणस्तथा ॥२३॥
वदर्याश्रममासाद्य तपस्तेपतुरव्ययम्।
तपस्यतोस्तयोरेवं कदाचिन्माधवे ऋतौ ॥२४॥
पुष्पितद्रुमसंस्थाने शुभे दयितमारुते।
उर्व्वशी तु वरारोहा कुर्व्वती कुसुमोच्चयम् ॥२५॥
सुसूक्ष्मरक्तवसना तयोर्दृष्टिपथं गता।
तां दृष्ट्वेन्दुमुखीं सुभ्रुं नीलनीरजलोचनाम् ॥२६॥
उभौ चुक्षुभतुर्देवौ तद्रूपपरिमोहितौ।
तपस्यतोस्तयोर्वीर्य्यमस्खलच्च मृगासने ॥२७॥
स्कन्नं रेतस्तयो दृष्ट्वा शापभीतौ परस्परम्।
चक्रतुः कलशे शुक्रं तोयपूर्णे मनोरमे ॥२८॥
तस्माद्दृषिवरौ जातौ तेजसा प्रतिमौ भुवि।
वशिष्टश्चाप्यगस्त्यश्च मित्रावरुणयोर्द्वयोः ॥ २९ ॥

अर्थात्:—इसी समय मित्र और वरुण ने बद्रिकाश्रम में जाकर अक्षयतप-किये। जिस समय वे इस प्रकार तपस्या कर रहे थे, कभी वसन्त—ऋतु के आने पर जब कि उस सुन्दर स्थान में वृक्ष पुष्पित थे लुभावनी हवा बह रही थी. श्रेष्ठकटिशीला (वरारोहा) उर्वशी झीने-लाल बस्त्र पहिने पुष्प तोड़ती हुई उन्हें दिखलाई पड़ी। उस सुन्दर—भ्रूशीला नीलाम्बुज—लोचना, चन्द्रमुखी उर्व्वशी को देखकर दोनों उसके रूप पर विशेष मोहित होते हुए क्षुभित हुए और तपस्या करते हुए मृगासन के ऊपर उनके वीर्य स्खलित हुए। अपना अपना रेतस्खलन देखकर दोनों ने एक दूसरे के शाप की आशङ्का से भयभीत होकर एक सुन्दर जलपूर्ण घड़े में अपने अपने वीर्य स्थापित कर दिये। इन्हीं मित्र

और वरुण के उस तेज के मूर्ति स्वरूप ऋषि प्रवर वशिष्ठ और अगस्त्य का पृथ्वी पर आविर्भाव हुआ।

इस पौराणिक-कथा से भली-भाँति स्पष्ट हो गया, कि अगस्त्यजी का जन्म बद्रिकाश्रम में हुआ है द्रविड़देश में नही; और न माता पिता ही द्रविड़ हैं, अत द्रविड़देश में उनके जन्मग्रहण करने एवं द्रविड़मुनि कहलाने का कथन नितान्त असत्य और पाषण्डपूर्ण है।

इसके बाद भी यदि लज्जित बिल्ली के काठ नोचने की तरह यह कहने की निर्ल्लज्जधृष्टता क ही जाय, कि जन्म से नहीं तो द्रविड़देश में रहने से ही वे 'द्रविड़मुनि कहलाये, तो यह भी नही चलने का; क्योंकि किसी के कहीं बसने मात्र से ही उसकी जातीय-सज्ञा बदल नही सकती, जैसा कि ऊपर के विवेचनों से स्पष्ट भी हो चुका है। दूसरे-ऋषिलोग तो सर्वदेशीय होते थे, सर्वत्र जाते और रहते भी थे; यही कारण है, कि उनके नाम के कुण्ड-सरोवर आदि अब भी अनेक तीर्थों में विद्यमान है। फिर वे कहाँ के विलक्षण-निवासी माने जायगे, कि जिसके चलते उनकी जाति ही बदल जायगी ? अगस्त्यजीने भी तो समय समय पर अनेक स्थानों में निवास किया है, फिर इनका जातीय नामकरण किस स्थान के नामानुसार हो ? यद्यपि पुराणों के अनुसन्धान से उनके बहुत से स्थानोका पता चल सकता है, परन्तु उसकी कोई विशेष आवश्यकता नही रहने के कारण केवल विषय-स्पष्टी करण के लिये उदाहरण-स्वरूप दो-चार स्थानों के उल्लेख ही काफी होंगे।

यह तो बहुत प्रसिद्ध कथा है, कि विन्ध्याचल के गर्वोन्नत होकर सूर्य की गति रोकने पर ही देवताओं के स्तुति करने से अगस्त्यजी उसके निराकरण के लिये उसके पास गये थे, और जब उसने बौना होकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया, तो आपने अपने आनेकी अवधि तक वैसे ही लेटे रहने की आज्ञा देकर दक्षिण-भारत चले गये, सो आज तक नही लौटे। अतः विन्ध्याचल वैसे ही पडा रह गया। अब देखना चाहिये कि इस घटना के पूर्व उनकी कहाँ कैसी स्थिति रही थी।

महाभारत के बनपर्व में ९५ से १०४ अध्याय तक अगस्त्यऋषि का महात्म्य कथन हुआ है। यहाँ कथानक का प्रसङ्ग इस प्रकार है, कि

राजा युधिष्ठिर वनवास के समय तीर्थयात्रा करते हुए प्रयाग से गया पहुँचे। वहाँ पर पूर्व समय में अगस्त्यऋषि भी गये थे और उन्होंने आश्रम बनाकर बहुत समय तक वहाँ निवास किया था, अतः वह आश्रम अगस्त्याश्रम के नाम से प्रसिद्ध था। उस समय उस आश्रम में लोमश ऋषि निवास करते थे। राजा युधिष्ठिर वहाँ (गया) पहुँच कर वहाँ के महात्म्यों से अवगत होने पर कुछ दिनों तक वहीं निवास करने का विचार कर उसी अगस्त्याश्रम में गये, जहाँ लोमशऋषि रहा करते थे। वहाँ इन्होंने कुछ दिनों तक निवास करते हुए लोमशऋषि से जिज्ञासानुकूल बहुत सी कथायें सुनी। इसमें पहले आपने अगस्त्य ऋषि के ही दिव्य-चरित्रों की कथाये सुनी है। इसी प्रसङ्ग में वातापि शमन, विदर्भराजकन्या लोपामुदा से उनका विवाह, इनके साथ हरिद्वार (गङ्गाद्वार) में जाकर उनका अखण्ड तप करना, पुनः उनका पुत्रजन्म, बिन्ध्या-गर्व शमन एवं समुद्र शोषन आदि कीर्तियों का वर्णन हुआ है। यथाः—

"नगो गयसिरो यत्र पुण्याचैव महानदी।
वानीर मालिनी रम्या नदी पुलिनशोभिता ॥ १० ॥
दिव्यं पवित्रकूटश्च पवित्रं धरणीधरम्।
ऋषिजुष्ट सुपुण्यन्तत्तीर्थं ब्रह्मसरोत्तमम् ॥ ११ ॥
अगस्त्यो भगवान् यत्र गतो वैवस्वतं प्रति।
उवास च स्वयं तत्र धमराजः सनातनः ॥ १२ ॥

वनपर्व अध्याय ९५

अर्थात—जहाँ पर (जिस गया में) गयसिर नामक पर्वत है पुलिनों (दोनों तटों) से सुशोभित तथा वेंत-पक्तियों से रमणीय, पवित्र महानदी (फल्गु) है, ॥ १० ॥ पवित्र शिखर वाले दिव्य (द्योतनात्मक) पावन पर्वत है, और ऋषि मण्डलियों से सुसेवित, अतः लोकविख्यात ब्रह्मसर (ब्रह्म सरोवर) नामक तीथ है, ॥ ११ ॥ जहाँ (पूर्वकाल में) अगस्त्यमुनि थे, उस स्थान में (गया में) सनातन धमराज युधिष्ठिर ववस्वत के पास गये और वहाँ निवास किया ॥ १२ ॥

ततः संप्रस्थितो राजा कौन्तेयो भूरिदक्षिणः।
अगस्त्याश्रममासाद्य दुर्जयायामुवासह ॥ १ ॥
तत्रैव लोमशं राजा पप्रच्छ वदतांवरः।

अगस्त्येनेह वातापि किमर्थमुपशामितः ॥ २ ॥
वनपर्व अध्याय ९६

अर्थात्—अधिक दक्षिणा देनेवाले राजा युधिष्ठिर ने उस स्थान (वैवस्वत स्थान) से दुर्जया में जाकर अगस्त्याश्रम में निवास किया ॥ १ ॥ और वहाँ श्रेष्ठ वक्ता राजा युधिष्ठिर ने लोमशजी से पूछा, कि अगस्त्यजी ने वातापी का नाश कैसे किया था॥२॥

दुहितुर्वचनाद्राजा सोऽगस्त्याय महात्मने ।
लोपामुद्रां ततः प्रादाद्विधिपूर्वं विशाम्पते ! ॥ ७ ॥
गङ्गाद्वारमथागम्य भगवानृषिसत्तमः ।
उग्रमातिष्ठत तपः सह पत्न्यानुकूलया ॥ ११ ॥
सा प्रीता बहुमानाच्च पतिं पर्यचरत्तदा ।
अगस्त्यश्च परां प्रीतिं भार्यायामाचरेत् प्रभुः ॥ १२ ॥
ततो बहुतिथे काले लोपामुद्रां विशाम्पते ! ।
तपसा द्योतितां स्नातां ददर्श भगवानृषिः ॥ १३ ॥
वनपर्व अध्याय ९७ ।

अर्थात्—लोमशऋषि राजा युधिष्ठिर से कहते है, कि हे विशाम्पते ! (वैश्यों के स्वामी),राजा वैदर्भने अपनी कन्या लोपामुद्रा के कहने से उसको (लोपामुद्रा को) विधिपूर्वक महात्मा अगस्त्यजी को दे दिया, व्याह दी ॥ ७ ॥ आज्ञाकारिणी पत्नी के साथ गङ्गाद्वार (हरिद्वार) में आकर ऋषि-श्रेष्ठ भगवान् अगस्त्यजी उग्रतप करने लगे ॥ ११ ॥ तब प्रसन्ना लोपामुद्रा बहुमान युक्त पति की पूरी तरह सेवा करने लगी और अगस्त्यजी भी भार्या से परम प्रेम करने लगे ॥ १२ ॥ हे राजन् ! इस प्रकार बहुत काल बीत जाने पर भगवान् अगस्त्यजीने एक दिन ब्रह्मचर्य से दीप्तिमती ऋतुस्नाता लोपामुद्रा को देखा ॥ १३ ॥ इत्यादि

इससे यह सावित हुआ, कि दक्षिण-देश में जाने के पहले अगस्त्यजी ने गया तथा हरिद्वार, में आश्रम बनाकर बहुत दिनों तक निवास किया था । अब यह देखना चाहिये, कि वे कहाँ से गर्वोन्नत-विन्ध्य को खर्व करने के लिये गये थे, जो उसी यात्रा में कारणवश दक्षिण-भारत की ओर चले गये । यह कथा स्कन्द पुराण के काशी खण्ड के ५वें अध्याय में पूर्ण-स्पष्टता के साथ वर्णित है,जो इस प्रकार है:—

"आपृच्छ्य सर्वान्स मुनीश्वरः सबालवृद्धानपि तत्र वासिनः ।
तृणानि वृक्षाश्च लताः समस्ताः पुरीं परिक्रम्य च निर्ययौ च॥४५॥
असिं ह्युपस्पृश्य पुनः पुनर्मुनिः प्रासादमालां परितोविलोकयन् ।
उवाच नेत्रे सरले प्रपश्यतं काशीं युवां क्व क्व पुरात्वियं बत ॥४८॥
तपोयानमिवारुह्य निमेषार्धेन वै मुनिः ।
अग्रे ददर्श तं विन्ध्यं रुद्धाम्बरमथोन्नतम् ॥ ५३ ॥
चकम्पे चाचलस्तूर्णं दृष्ट्वैवावस्थितं मुनिम् ।
तमगस्त्यं सपत्नीकं वातापील्वलवैरिणम् ॥ ४५ ॥
गिरिः खर्वतरो भूत्वा विविक्षुरवनीमिव ।
आज्ञाप्रसादः क्रियतां किङ्करोऽस्मीतिऽचाब्रवीत् ॥ ५६ ॥

अगस्त्य उवाच-

विन्ध्य साधुरसि प्राज्ञ मां च जानासि तत्त्वतः ।
पुनरागमनं चेन्मे तावत्खर्वतरो भव ॥ ५७ ॥
इत्युक्त्वा दक्षिणामाशां सनाथामकरोन्मुनिः ।
निजश्चरणविन्यासैस्तया साध्व्या तपोनिधिः ॥ ५८ ॥
अद्यः श्वोवा परश्वो वाप्यागमिष्यति वै मुनिः ।
इति चिन्तामहाभारैर्गिरिराक्रान्ततः स्थितः ॥ ६२ ॥
नाद्यापि मुनिरायाति नाद्यापि गिरिरेधते ।
यथा खलजनानां हि मनोरथमहोरुहः ॥ ६३ ॥

श्लोकार्थ - अनन्तर मुनीश्वर अगस्त्यजी काशी निवासी समस्त बाल-वृद्धों से पूँछकर (आज्ञा लेकर, विदा होकर) काशी पुरी की परिक्रमा कर वहाँ से बाहर निकले ॥ ४५ ॥ बारम्बार असीनदी के जलको स्पर्श करते हुए और काशीपुरी की बड़ी बडी अटारियों की माला (समूह) को देखते हुए अगस्त्यमुनिने अपने नेत्रों से कहा, कि हे सरलनयन ! तुम दोनों इस काशीपुरी को भले प्रकार से देख लो । हाय, इसके अनन्तर कहाँ तुम और कहाँ काशीनगरी रहेगी ॥ ४८ ॥ (पुनः) तपरूपी यान (विमान) पर आरूढ़ हुए की तरह अगस्त्यमुनिने आधे निमेष में ही अपने आगे उन्नत हो आकाश मार्ग को रोकनेवाले उस विन्ध्यपर्वत को देखा। वह विन्ध्य-पवत भी वातापी और इल्वल के विनाशक अगस्त्यमुनि को सहधर्मिणी सहित सामने देखकर तुरत

काँप गया ॥५४॥ और अत्यन्त छोटा (बौना) होकर मानो भूमि में प्रवेश करने की इच्छा करता हुआ वह बोला—" मै किङ्कर हूँ मुझ पर आज्ञा रूपी कृपा किजिये, कि मै क्या करूँ ?" ॥५६॥ अगस्त्यमुनि ने कहा, हे प्राज्ञ विन्ध्य ! तुम साधु (सज्जन) हो, और मुझको भी अच्छी तरह जानते हो। जब तक मैं पुनः लौटकर नही आऊ, तब तक अत्यन्त छोटा बने रहो ॥ ५७ ॥ ऐसा कहकर तपोनिधि अगस्त्यमुनि ने पतिव्रता लोपामुद्रा के साथ अपने चरणों के विन्यासों से दक्षिण दिशा को सनाथ किया ॥५८॥ आजकल वा परसों मुनिजी अवश्य आवगे, इसी प्रकार से चिन्ता के महान भार से दबे हुए की तरह वह पर्वत स्थित रहा ॥६२॥ आजतक न तो मुनीजी आये है, न आज तक विन्ध्य पर्वत ही बढता है, जैसे दुर्जनों का मनोरथ रूपी वृक्ष नही बढ़ने पाता ॥६३॥

अब देखना यह है, कि जब अगस्त्यमुनि बिन्ध्य पार कर दक्षिण की ओर चले गये, और फिर उधर से लौटे नही, तो आपने उस देश के किस स्थान में मुख्यरूपेण निवास किया ? मुख्यरूपेण निवास करने से तात्पर्य यह है, कि ऐसे तो समय समय पर आप दक्षिण के भिन्न भिन्न तीर्थों एवं अन्य स्थानों में कारण वश गये ही होंगे, इसमें सन्देह नहो, किन्तु आप का मुख्य आश्रम कहाँ था, जहाँ आप बराबर निवास किया करते थे ? परम आर्षग्रन्थ श्रीवाल्मीकीय-रामायण से स्पष्ट है, कि आपका मुख्य आश्रम दण्डकारण्य में था। जब श्रीरामजी वनवास के सिलसिले में वहाँ गये थे, तो उन्होंने वहाँ बहुत दिनों तक निवास किया था, बराबर श्रीअगस्त्यजी के परम महत्वों को ऋषियोंसे सुनते रहने के कारण आपकी उत्कट–अभिलाषा हुई, कि उनका दर्शन करें, क्योंकि इतने दिनों तक यहाँ रहते हुए भी श्रीअगस्त्यजी के आश्रम के दूर और विकट–वन में रहने के कारण आप वहाँ नही जा सके थे। अन्त में उनके शिष्य सुतीक्ष्णजी से मार्गादिका पता लगाकर वहाँ गये और उनका दर्शन किया। उस समय श्रीअगस्त्यजी के आश्रम का जो वर्णन श्रीवाल्मीकिजीने किया है, उससे स्पष्ट सिद्ध होता है, कि उनका वही मुख्य–निवासस्थान था। उनके आश्रम का ऐसा वर्णन इसके सिवा अन्य स्थानों में कहीं भी नही मिलता, अतः भली भाँति सिद्ध है, कि दक्षिण देश में जाने पर आपने मुख्यरूपेण

दण्डकारण्य में ही निवास किया था, आपका वही मुख्य-आश्रम था अब इसका परिचय वाल्मीकि-रामायण के अरण्य-काण्ड में देखिये: —

'रमतश्चानुकूल्येन ययुः संवत्सरा दश।
परिसृत्य च धर्मज्ञो राघवः सह सीतया॥ २७॥
सुतीक्ष्णस्याश्रमपदं पुनरेवाजगाम ह।
स तमाश्रममागम्य मुनिभिः परिपूजितः॥ २८॥
तत्रापि न्यवसद्रामः किञ्चित्कालमरिन्दमः।
अथाश्रमस्थो विनयात्कदाचित्तं महामुनिम्॥ २९॥
उपासीनः स काकुत्स्थः सुतीक्ष्णमिदमब्रवीत्।
अस्मिन्नरण्ये भगवान्नगस्त्यो मुनिसत्तमः॥ ३०॥
वसतीति मया नित्यं कथा कथयतां श्रुतम्।
न तु जानामि तं देशं वनस्यास्य महत्तया॥ ३१॥
कुत्राश्रमपदं रम्यं महर्षेस्तस्य धीमतः।
प्रसादार्थं भगवतः सानुजः सह सीतया॥ ३२॥
अगस्त्यमभिगच्छेयमभिवादयितुं मुनिम।
मनोरथो महानेष हृदि संपरिवर्त्तते॥ ३३॥
यदहं तं मुनिवरं शुश्रुषेयमपि स्वयम्।
इति रामस्य स मुनिः श्रुत्वा धर्मात्मनो वचः॥ ३४॥
सुतीक्ष्णः प्रत्युवाचेदं प्रीतो दशरथात्मजम्।
अहमप्येतदेव त्वां वक्तुकामः सलक्ष्मणम्॥ ३५॥
अगस्त्यमभिगच्छेति सीतया सह राघव!।
दिष्ट्या त्विदानीमर्थेऽस्मिन्स्वयमेव ब्रवीषिमाम्॥ ३६॥
अयमाख्यामि ते राम! यत्रागस्त्यो महामुनिः।
योजनान्याश्रमात्तात! याहि चत्वारि वै ततः।
दक्षिणेन महाञ्छ्रीमानगस्त्यभ्रातुराश्रमः॥ ३७॥
तत्रैकां रजनीं व्युष्य प्रभाते राम! गम्यताम्।
दक्षिणां दिशमास्थाय वनखण्डस्य पार्श्वतः॥ ४०॥
तत्रागस्त्याश्रमपदं गत्वा योजनमन्तरम्।
रमणीये वनोद्देशे बहुपादप शोभिते॥ ४१॥
इति रामो मुने श्रुत्वा सह भ्राता ऽभिवाद्य च।

प्रतस्थेऽगस्त्यमुद्दिश्य सानुगः सह सीतया ॥ ४४ ॥

सुतीक्ष्णेनोपदिष्टेन गत्वा तेन पथा सुखम् ।
इदं परमसंहृष्टो वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ ४६ ॥

स्निग्धपत्रा यथा वृक्षा यथा क्षान्ता मृगद्विजः ।
आश्रमो नाति दूरस्थो महर्षेर्भावितात्मनः ॥७८ ॥

अगस्त्य इति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा ।
आश्रमो दृश्यते तस्य परिश्रान्तश्रमापहः ॥ ७९ ॥

आराधयिष्याम्यत्राहमगस्त्यं तं महामुनिम् ।
शेष च वनवासस्य सौम्य वत्स्याम्यहं प्रभो ॥ ८८ ॥

(अरण्यकाण्डे एकादशसर्गे)

अर्थात्:—वहाँ प्रसन्नता पूर्वक रमण करते हुए रामचन्द्र के दस बर्ष बीत गये । धर्मज्ञ रामचन्द्र, सीता के साथ घूम कर ॥ २७ ॥ पुनः सुतीक्ष्णजी के आश्रम में आये । इस आश्रम में आने पर मुनियों ने इनका सत्कार किया ॥ २८ ॥ शत्रुओं को दमन करनेवाले रामचन्द्र ने वहाँ भी कुछ दिनों तक निवास किया । इस आश्रम में रहते हुए रामचन्द्. महामुनि सुतीक्ष्णजी के पास जाकर विनय पूर्वक बोले—भगवन् इस वन में मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजी ॥२९॥३०॥ रहते हैं, यह बात मैंने कथा कहने वालों के मुँह से सुनी है । पर इस वन के विशाल होने के कारण मै उनका स्थान नही जानता ॥३१॥ कि उन बुद्धिमान् महर्षि का आश्रम कहाँ है ? भगवान् अगस्त्य की प्रसन्नता के लिये लक्ष्मण और सीता के साथ ॥३२॥ मुनि को प्रणाम करने के लिये मैं उनके पास जाऊँगा। यह मेरे मन में बहुत बड़ा मनोरथ वर्त्तमान है ॥३३॥ कि मैं उन मुनिवर कीं सेवा स्वयं करूँ । धर्मात्मा रामके ये वचन सुनकर वे मुनि ॥ ३४ ॥ सुतीक्ष्ण प्रसन्न होकर दशरथ-पुत्र रामचन्द्र से बोले—लक्ष्मण और तुमसे मै भी यही कहना चाहता था ॥ ३५ ॥ कि रामचन्द्र, सीता के साथ अगस्त्यजी के पास चलो । पर प्रसन्नता की बात है, कि इस विषय में तुम स्वयं मुझसे कह रहे हो । मै तुमको बतलाता हूं जहाँ महामुनि अगस्त्यजी का आश्रम है ॥३६॥ इस आश्रम से चार योजन (१६ कोस) दक्षिण की ओर जाओ, तब अगस्त्यजी के भाई

का भारी आश्रम मिलेगा ॥ ३७ ॥ वहाँ उस आश्रम में एकरात रहकर प्रातः काल वनके बगल से दक्षिण दिशा की ओर जाना ॥४०॥ एक योजन जाने पर वनके रमणीय भाग में अनेक वृक्षों से सुशोभित अगस्त्यजींका आश्रम है ॥ ४१ ॥ इस प्रकार मुनि की बातें सुनकर रामचन्द्र ने भाई के साथ सुतीक्ष्णमुनि को प्रणाम किया और वे भाई तथा सीता के साथ अगस्त्याश्रम की ओर चले ॥४४॥ सुतीक्ष्णजी के बतलाये मार्ग से सुख पूर्वक जाकर बड़ी प्रसन्नता से रामचन्द्रजीने लक्ष्मणजी से यह कहा ॥ ४६ ॥ इन वृक्षो के पत्ते चिकने मालूम पड़ते है, ये मृग और पक्षी शान्त है, इनसे मालूम होता ह, ब्रह्मज्ञानी महर्षि का आश्रम अब दूर नही है ॥ ७८ ॥ ये महर्षि अपने ही कर्म से अगस्त्य नाम से प्रसिद्ध हैं, यह उन्ही का आश्रम दीख पड़ता है. जो थके हुओं की थकावट दूर करता है ॥ ७९ ॥ यहाँ मै महामुनि अगस्त्य की आराधना करूँगा और वनवास की शेष अवधि यहीं बिताऊँगा ॥ ८८ ॥

× × + × × × ×

प्रविवेश ततो रामः सीतया सह लक्ष्मणः ॥ १६ ॥
प्रशान्तहरिणाकीर्णमाश्रमं ह्यवलोकयन ।
स तत्र ब्रह्मणःस्थानमग्नेःस्थानं तथैव च ॥ १७ ॥
विष्णोःस्थानं महेन्द्रस्य स्थानं चैव विवस्वतः ।
सोमस्थानं भगस्थानं स्थानं कौवेरमेव च ॥ १८ ॥
धातुर्विधातुः स्थानं च वायोः स्थानं तथैव च ।
स्थानं च पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः ॥ १९ ॥
स्थानं तथैव गायत्र्या वसूनां स्थानमेव च ।
स्थानं च नागराजस्य गरुडस्थानमेव च ॥ २० ॥
कार्तिकेयस्य च स्थानं धर्मस्थानं च पश्यति ।
ततः शिष्यैपरिवृत्तो मुनिरप्यभिनिष्पतत् ॥ २१ ॥
तं ददर्शाग्रतो रामो मुनीनां दीप्ततेजसम् ।
अब्रवीद्वचनं वीरो लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ॥ २२ ॥
बहिर्लक्ष्मण ! निष्क्रामत्यगस्त्यो भगवानृषिः ।
औदार्येणावगच्छामि निधानं तपसामिदम् ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुरगस्त्यं सूर्य्यवर्चसम् ।
जग्राह पततस्तस्य पादौ च रघुनन्दनः ॥ २४ ॥
अभिवाद्य तु धर्मात्मा तस्थौ रामः कृताञ्जलिः ।
सीतया सह वैदेह्या तदा रामः सलक्ष्मणः ॥ २५ ॥
प्रतिगृह्य च काकुत्स्थमर्चयित्वासनोदकैः ।
कुशलप्रश्नमुक्त्वाचआस्यतामिति सोऽब्रवीत्॥ २६ ॥
(अरण्यकाण्डे द्वादशसर्गे)

अर्थात्:—सीता और लक्ष्मण के साथ रामचन्द्र आश्रम में गये ॥ १६ ॥ शान्त हरिणों से पूर्ण आश्रम को देखते हुए रामचन्द्र ने उस आश्रम में ब्रह्मा के स्थान, अग्नि के स्थान, विष्णु के स्थान इन्द्र के स्थान, सूर्य के स्थान, चन्द्रमा के स्थान, भगदेवता के स्थान, कुबेर के स्थान, धाता और विधाता के स्थान, वायु के स्थान, पाशहस्त के स्थान, महात्मा वरुण के स्थान, गायत्री के स्थान, और आठ वसुओं के स्थान देखे, इसी समय मुनि भी अपने शिष्यों के साथ उस स्थान पर आये ॥१७॥ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ रामचन्द्र ने मुनियों के आगे अति तेजस्वी अगस्त्य को देखा, और वीर राम लक्ष्मिवर्धन-लक्ष्मण से बोले ॥ २२ ॥ हे लक्ष्मण ! भगवान् अगस्त्यऋषि बाहर आ रहे हैं; अतः तपनिधान अगस्त्यजी को मै सहज ही जान जाऊँगा ॥ २३ ॥ महाबाहु रघुनन्दन ने इस प्रकार कहकर सूर्य के समान दीप्तिवाले अपनी ओर आते हुए श्रीअगस्त्यजी के चरणों को ग्रहण किया ॥ २४ ॥ और प्रणाम कर धर्मात्मा श्रीरामजी विदेह कन्या श्रीसीताजी एवं लक्ष्मणजी के साथ हाथ जोडकर खड़े हुए ॥ २५ ॥ अगस्त्य ऋषिने भी उनका आसन और जल देकर अर्चन किया, कुशल-प्रश्न पूछे, पुनः ठहरने के लिये कहा ॥ २६ ॥

अन्त में श्रीरामजी ने अपने निवास करने योग्य आश्रम बनाने के लिये स्थान बताने को श्रीअगस्त्यऋषिसे कहा है, तो उन्होंने बताया है:—

इतो द्वियोजने तात बहुमूलफलोदकः ।
देशो बहुमृगः श्रीमान्पञ्चवट्यभिविश्रुतः ॥ १३ ॥
तत्र गत्वाश्रमपदं कृत्वा सौमित्रिणा सह ।
रमस्व त्वं पितुर्वाक्यं यथोक्तमनुपालयन् ॥ १४ ॥

अतश्च त्वामहं ब्रवीमि गच्छ पञ्चवटीमिति।
स हि रम्यो वनोद्देशो मैथिली तत्र रंस्यते ॥ १७ ॥
स देशः श्लाघनीयश्च नातिदूरे च राघव!।
गोदावर्याः समीपे च मैथिली तत्र रंस्यते।
एतदालक्ष्यते वीर! मधूकानां महावनम् ॥ १८ ॥
उत्तरेणास्य गन्तव्यं न्यग्रोधमपि गच्छता ॥ २१ ॥
ततः स्थलमुपारुह्य पर्वतस्याविदूरतः।
ख्यातः पञ्चवटीत्येव नित्यपुष्पितकाननः ॥ २२ ॥
(आ० स. १३)

अर्थातः—हे तात! यहाँ से दो योजन पर पञ्चपटी नामका एक स्थान है। वहाँ फल फूल और जल काफी है, वहाँ मृगा भी बहुत हैं, बड़ा ही सुन्दर देश है ॥ १३ ॥ वहाँ लक्ष्मण के साथ जाकर आश्रम बनाइये और पिता की आज्ञा पालन करते हुए वहीं सुख पूर्वक निवास कीजिये ॥ १४ ॥ इसीलिये मैं आपसे कहता हूँ, कि आप पञ्चवटी जाइये, जानकी वहाँ प्रसन्न होंगी ॥ १७ ॥ वह स्थान बड़ा ही प्रशंसनीय है, गोदावरी के पास है, जानकी वहाँ प्रसन्न होंगी ॥ १८ ॥ वीर! यह महुओं का बड़ा भारी वन दीख पड़ता है, इसके उत्तर की ओर जाने से वट-वृक्ष मिलेगा ॥ २१ ॥ वहाँ से मैदान में होकर पर्वत के पास ही पञ्चवटी मिलेगीं, जहाँ का वन सदा फूला रहता है ॥२२॥

इससे भली भाँति स्पष्ट है, कि श्रीअगस्त्यजी का आश्रम पंचवटी गोदावरी के आसपास में था, अगस्त्यजी के आश्रम से पाँच योजन अर्थात २० कोस उत्तर इनके मुख्य शिष्य श्रीसुतीक्ष्णजीका आश्रम और पंचवटी दो योजन अर्थात ८ कोस था और गोदावरी-पञ्चवटी का प्रदेश ही उस समय दण्डकारण्य के नाम से प्रसिद्ध था। यही बातें गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी निजकृत 'रामचरित-मानस' में लिखी है यथाः—

है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पञ्चवटी तेहि नाऊँ ॥
गोदावरी पुनीत तहँ बहई। चारिहु युग प्रसिद्ध सो अहई ॥
दण्डकबन पुनीत प्रभु करहू। उग्र साप मुनिवर कर हरहू ॥
चले राम मुनि आयसु पाई। तुरतहि पंचवटी नियराई ॥
गीधराज सो भेट भई, बहुविधि प्रीति दृढ़ाई।
गोदावरी समीप प्रभु, रहे परन गृह छाई ॥

पुनः 'अगस्त्य-संहिता' से भी इसी बात की पुष्टि होती है। उसके आरम्भ में ही ग्रन्थ-निर्माण का प्रसङ्ग उपस्थित करते हुए लिखा गया है —

अगस्त्यो नाम विप्रर्षिस्तपस्वी गौतमीतटे ।
कदाचिद्दण्डकारण्ये सुतीक्ष्णस्याश्रमं ययौ ॥ १ ॥
सुतीक्ष्णस्तं प्रणम्याह सुखासीनं तपोनिधिं ।
श्रीमदागमनेनैव जीवितं सफलं मम ॥ ३ ॥
नाद्राक्षं सम्यगिष्ट्वापि क्रतुभिर्बहुदक्षिणैः ।
सत्पात्रे सर्वदानानि दत्वापि मुनिसत्तम ! ॥ ५ ॥
भवाब्धेस्तरणोपाय तपस्तप्त्वापि दुःकरम् ।
किं करिष्याम्यहं तात ! क्व यास्यमिति तद्वद ॥ ६ ॥

अर्थात्:—विप्रर्षियों में श्रेष्ठ एवं सुप्रसिद्ध अगस्त्यजी, कभी दण्डकारण्य के गौतमी (गोदावरी) नदी के किनारे श्रीसुतीक्ष्णजी के आश्रम में गये ॥ १ श्रीसुतीक्ष्णजी ने तपोनिधि श्रीअगस्त्यजी को अच्छी तरह विराजमान हो जाने पर, प्रणाम कर कहा, कि श्रीमान् के आगमन से ही मेरा जीवन सफल होगया ॥ ३ ॥ हे मुनिवर्य्य ! बहुदक्षिणाओं से युक्त यज्ञों द्वारा भजन कर, सत्पात्रों को सर्वविध दान देकर और अत्यन्त कठिन तपस्या करके भी मैं संसार-सागर से तरने का उपाय नहीं, देखता हूँ; (अतएव) हे तात !. मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ ? यह बतलाइये ॥ ५ ॥ ६ ॥

ऊपर वाल्मीकि-रामायण के जो उद्धरण दिये गये हैं: उससे यह बात स्पष्ट ही है, कि श्रीसुतीक्ष्णजी के आश्रम से श्रीअगस्त्यजी का आश्रम पाँच योजन (बीस कोस) दक्षिण में था, यहाँ अगस्त्य-संहिता के उद्धरण से भी यह खुलासा हो रहा है, कि अगस्त्यजी तथा सुतीक्ष्णजी के आश्रम अलग अलग थे, इसीसे सुतीक्ष्ण जी के आश्रमें में अगस्त्यजी के जाने का वर्णन हुआ है ? अतः सर्व प्रकारेण प्रमाणित है, कि अपने शिष्य वर्गों के साथ श्रीअगस्त्यजी दण्डकारण्य में ही मुख्यरूपेण निवास करते थे और दण्डकारण्य, गोदावरी (गौतमी)-पंचवटी मण्डल के ही प्रदेश का नाम था ।

इसके अतिरिक्त श्रीभगवद्दासजीने श्रीअगस्त्यजी के लिये द्रविड़-मुनि शब्द का समर्थन करते हुए 'प्रकाश' की प्रस्तावना के पृष्ठ

१४–१५ में जो यह लिखा है, कि "अब रहा द्रविडमुनि शब्द 'तत्वो-द्बोधन मीमांसा' में मैने लिखा है, कि द्रविडमुनि शब्द से श्रीअगस्त्यजी का ग्रहण है। इस विषय में प्रमाण जानने की इच्छा हो, तो भागवत का अवलोकन करना चाहिये।

द्रविडेषु महापुण्यं दृष्ट्वाद्रिं वेङ्कटं प्रभुः।
तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च॥

भागवत दशम स्कन्ध अध्याय ७९ श्लोक १२ से १७ तक"

अब इस पर भी एक नजर डाली जाय। इस उद्धरण से यही स्पष्ट हो रहा है, कि आपने 'तत्वोद्बोधन–मीमांसा' में इस पर जो विचार उपस्थित किये हैं, उसी का यहाँ प्रमाण दे रहे है, क्योंकि वहाँ आपने अपने कथन का कोई भी प्रामण नही दिया है। किन्तु इससे भी आपका वह कथन प्रामाणिक नही हो रहा है, क्योंकि, 'तत्वोद्बोधन-मीमासा' में आपने इस विषय के विचार–प्रसङ्ग में यही लिखा है, यहाँपर "द्रविडमुनि से तात्पर्य अगस्त्यमुनि का है। श्रीअगस्त्यजीने द्रविड़देश में उत्पन्न होकर अगस्य सहिता बनाई है, जिसमें श्रीरामजी का पूर्णतः परत्ववर्णन है।" इससे तो यही सिद्ध है, कि आपने 'तत्वो द्बोधन–मीमांसा' में श्रीअगस्त्यजी का जन्म और 'अगस्त्य–संहिता' का निर्माण द्रविडदेश में लिखा है। किन्तु यहाँ प्रकाश की प्रस्तावना में-जो आपने भागवत का प्रमाण दिया है, उससे तो 'तत्वोद्बोधनमीमांसा' के कथन की कुछ भी पुष्टि नही होती; क्योंकि भागवत के उपर्युक्त प्रमाण से यह सिद्ध नहीं होता, कि अगस्त्यजी का जन्म द्रविडदेश में में हुआ है और वही उन्होंने 'अगस्य–संहिता' बनाई है; बल्कि उससे मोटे तौर पर इतना ही देख पड़ता है कि द्रविड़ के वेङ्कटाद्रि (तिरुपति बालाजी) में अगस्त्यजी विराजमान थे। अतः जब बलरामजी तीर्थ-यात्रा करते हुए वहाँ गये तो उन्हे अगस्त्यजी के दर्शन हुए और उन्होंने उनका अभिवादन किया। इससे कहाँ सिद्ध होता, कि अगस्त्यजी का जन्म द्रविड़देश में हुआ है, और उन्होंने वहाँ 'अगस्य–संहिता' बनाई है ? बल्कि इतना ही सङ्केत मिलता है, कि किसी कारण अगस्त्यजी वहाँ गये हुए थे, और बैठे थे अतः बलरामजी जब वहाँ गये तो उनसे भेट होगई। इससे तो उनके वहाँ स्थायी–निवास का भी समर्थन नही होता,

क्योंकि ऐसा होने से यहाँ भी उनके आश्रम और अधिक काल निवास करने का वर्णन अवश्य ही हुआ होता, जैसा कि गया, हरिद्वार काशी और दण्डकारण्य के विषय में हुआ है, जो पहले ही दिखलाया जा चुका है। इसके अतिरिक्त यह पहले ही सिद्ध किया जा चुका है, कि अगस्त्यजी का जन्म बद्रिकाश्रम में हुआ था, और उन्होंने जीवन के पूर्वार्द्ध में उत्तर-भारत में ही निवास किया था। उसके बाद विन्ध्य वर्धन-प्रसङ्ग में वे दक्षिण-भारत में आये भी, तो मुख्यरूपेण दण्डकारण्य में ही निवासाश्रम बनाया था, और 'अगस्त्य-संहिता' का भी वहीं निर्माण किया था। भागवत के उपर्युक्त प्रमाण से केवल इतना ही सिद्ध होता है, कि एक समय अगस्त्यजी द्रविड़देश के वेङ्कटाद्रि तीर्थ में भी गये हुए थे, जब कि बलरामजी से वहाँ भेंट हुई। इससे क्या? इस प्रकार तो वे कितने तीर्थों में गये होंगे। किन्तु इससे उनका जन्म और 'अगस्त्य-संहिता' का निर्माण द्रविडदेश में कैसे सिद्ध हुआ? अतः इस प्रमाण के नामपर आपने अपनी अप्रामाणिक बातों की केवल धोखे से ही प्रतिष्ठा करनी चाही है।

इसके अतिरिक्त ऊपर जो द्रविड़देश के वेङ्कटादि तीर्थ में अगस्त्यजी का विराजमान होना स्वीकार किया भी गया है, सो भी श्रीभगवद्दासजी ने भागवत के उपर्युक्त प्रमाण में श्लोक का जैसा क्रम-स्वरूप लिखा है, उसके अनुसार अर्थ विचारने से ही। किन्तु भागवत में श्लोक का वैसा स्वरूप है ही नहीं। इस श्लोक की पहली पंक्ति (द्रविडेषु महापुण्यं) तो १३ वें श्लोक की है, परन्तु दूसरी पंक्ति (तत्रागस्त्यं समासीनं) सत्रहवें श्लोक की, अतः बीच के श्लोकों में वेङ्कटाद्रि के बाद अन्य कई तीर्थों की गणना होने पर मलयाचल का वर्णन हुआ है और उसीके बाद 'तत्रागस्त्य समासीनं लिखा गया है। यथाः—

"द्रविडेषु महापुण्यं दृष्ट्वाऽद्रिं वेङ्कटं प्रभुः ॥१३॥
कामकोष्णीं पुरीं काञ्चीं कावेरीं च सरिद्वराम्।
श्रीरङ्गाख्यं महापुण्यं यत्र सन्निहितो हरिः ॥१४॥
ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रं दक्षिणां मथुरां तथा।
सामुद्रं सेतुमगमन्महापातकनाशनम् ॥१५॥
तत्रायुतमदाद्धेनूर्ब्राह्मणेभ्यो हलायुधः।

कृतमालां ताम्रपर्णीं मलयं च कुलाचलम् ॥१६॥
तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च ।
योजितस्तेन चाशीर्भिरनुज्ञातो गतोऽर्णवम् ।
दक्षिणं तत्र कन्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श सः ॥१७॥

इससे यह भली भाँति सिद्ध है, कि श्रीबलरामजी द्रविड़देश के महापुण्यक्षेत्र वेङ्कटादि के दर्शन के बाद अन्य तीर्थों का दर्शन करते हुए सेतुबन्ध-गये और वहाँ से चलकर कृतमाला ताम्रपर्णी नदी पार होकर मलयाचल पर पहुँचे, वहीं उनको अगस्त्यजी से भेंट हुई । पुनः उन्होंने वहा से दक्षिण-महासागर में जाकर स्नान किया और वहीं कन्याकुमारी में दुर्गादेवी के दर्शन भी किये । इससे तो यही प्रमाणित हुआ कि बलरामजी को दक्षिण-महासागर और कन्याकुमारी के समीपवर्ती मलयाचल पर ही अगस्त्यजी से भेंट हुई थी, द्रविड़ देश के वेङ्कटादि तीर्थ में नहीं । वेङ्कटाद्रि से तो वह स्थान (मलयाचल) कोई ३०० कोस की दूरी पर है, और वह दक्षिण-भारत की आखिरी दक्षिणी-सीमा है । अतः 'द्रविडेषु महापुण्यं' के साथ इसके पाँच श्लोक आगे की पंक्ति (तत्रागस्त्यं समासीन) को सम्मिलित कर केवल धोखा देने एवं भ्रम डालनेका ही प्रयत्न किया गया है । यही कारण है, कि उन्होंने वहाँ के उनसब श्लोकों को अनुक्रम से उद्धृत न कर दूर दूर की दो पंक्तिया एक साथ रख कर एक सम्पूर्ण श्लोक की तरह बनाकर उसको उपस्थित किया है ताकि उसका एक साथ ही अर्थ-बोध हो, और तज्जन्य द्रविड़देश के वेङ्कटाद्रि तीर्थ में अगस्त्यजी के रहनेका भ्रम हो जाय, और इसी तृणावलम्बन से लोग 'तत्वोद्बोधन-मीमांसा' के अनर्गल कथन — द्रविड़ देश में श्रीअगस्त्यजी का जन्म और अगस्त्य संहिता के निर्माण—को धोखे से प्रामाणिक और सत्य समझलें, जिससे उनका काम चल जाय । परन्तु यह धोखे की टट्टी कब तक ठहरती; अतः पर्दाफाश होही गया ।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है, कि अगस्त्यजी का द्रविडदेश में नहीं, बल्कि बद्रिकाश्रम मे अवतार हुआ था । इसके अतिरिक्त उन्होंने द्रविड़देश में निवास भी नहीं किया था, बल्कि दक्षिण जाने के पूर्व हरिद्वार, गया तथा काशी में वे बहुत दिनों तक निवास कर चुके थे । और यहाँ

(काशी में) तो इस प्रकार दृढ होकर निवास करने का निश्चय किया था, कि जीवन भर कहीं बाहर जाने को वे किसी अवस्था में भी तयार नहीं थे। बिन्ध्य-वर्धन के कारण जब देवताओं को साथ लेकर बृहस्पतिजी ने प्रार्थना की, और उसके निराकरण के लिये उनको चलने के लिये विवश कर दिया, तो बड़े पछतावे के साथ आपने प्रस्थान किया, जैसा कि स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में इसका विशद वर्णन हुआ है। जब बिन्ध्यका गर्व निराकरण कर आप दक्षिण चले गये, तो वहाँ भी मुख्यरूपेण आपने दण्डकारण्य में ही निवास किया, यह बात वाल्मीकि आदि सभी रामायणों, तथा अन्य रामचरित्र सम्बन्धी ग्रन्थों से भी स्पष्ट है,। श्रीरामजी को आप दण्डकारण्य में ही मिले थे, और वहां यह भी स्पष्ट होता है, कि आपका मुख्य निवास भी वहीं था। हाँ, यह हो सकता है, कि, यात्रा के तौर पर कभी आप द्रविड में भी गये हों। इसके सिवा और भी न जाने किन किन प्रदेशों में आपने निवास किया होगा, जो पुराणादिकों में ढूढ़ने से मिल सकता है। फिर अनेक स्थानों में पहले से ही मुख्य रूपेण निवास करते हुए आपका नाम द्रविडमुनि कैसे माना जा सकता है? एक तो उनका उत्तर-भारत में जन्म, पुनः उत्तर-भारत में अनन्त समय तक तपस्या पूर्वक निवास करते हुए परमप्रतापवान् होना, पुनः दक्षिणदेश में जाने पर भी मुख्य रूप से दण्डकारण्य में ही निवास करना सिद्ध है, फिर इन स्थानों के नाम से उनकी संज्ञा न होकर द्रविड़ के अनुसार कभी भी हो सकती है? कभी नहीं। अतः कहीं किसी ग्रन्थ में उनके लिये द्रविड़मुनि शब्द का प्रयोग ही नहीं हुआ।

इसके अतिरिक्त यदि आप द्रविडदेश में रहकर 'अगस्त्य-संहितहै' बनाये होते, तौभी धींगाधींगी की कोई राह होती, और द्रविड़-प्रबान्ध का अर्थ अगस्त्य-संहिता करने में कुछ क्षणिक-युक्ति उपस्थित भी हो सकती थी, किन्तु सो भी नहीं है। अगस्त्य-संहिता का निर्माण भी दण्डकारण्य में ही हुआ है। यथा इसी सहिता के आदि में लिखा है कि—

अगस्त्यो नाम विप्रर्षिसत्तमो गोमती तटे।
कदाचिद्दण्डकारण्ये सुतीक्ष्णस्याश्रमं ययौ ॥ १ ॥
सुतीक्ष्णस्तं प्रणम्याह सुखासीनं तपोनिधिं।

श्रीमदागमनेनैव जीवितं सफलं मम ॥ ३ ॥
नाद्राक्षं सम्यगिष्ट्वापि ऋतुभिर्बहुदक्षिणैः ।
सत्पात्रे सर्वदानानि दत्त्वापि मुनिसत्तम ! ॥ ५ ॥
किं करिष्याम्यहंतात क्व यास्यामीतितद्वद ।
भवाब्धेस्तरणोपायं तपस्तप्त्वापि दुःकरम् ॥ ६ ॥

श्लोकार्थः- विप्रर्षियों में श्रेष्ठ एवं सुप्रसिद्ध अगस्त्यजी कभी दण्डकारण्य के गौतमी (गोदावरी) नदी के किनारे श्रीसुतीक्ष्णजीके आश्रम में गये ॥ १ ॥ श्रीसुतीक्ष्णजी सुख से बैठे हुए तपोनिधि श्रीअगस्त्यजी को प्रणामकर बोले, कि श्रीमान् के आगमन से ही मेरा जीवन सफल हो गया ॥ ३ ॥ हे मुनिवर्य ! बहु दक्षिणाओं से युक्त यज्ञों द्वारा यजनकर, सत्पात्रों को सर्वविधदान देकर और अत्यन्त कठिन तपस्या करके भी मै संसार-सागर से तरने का उपाय नहीं देखता हूं। (अतएव) हे तात, मै क्या करूं और कहाँ जाऊ,यह बतलाइये ॥५-६

इसी प्रसङ्ग में सुतीक्ष्ण एवं अगस्त्यजीके प्रश्नोत्तर रूप में इस अगस्त्य-संहिता ग्रन्थ का निर्माण हुआ है । और यह ग्रन्थ संस्कृत-भाषा में है, अतः इसे द्रविड़-सहिता भी नहीं कह सकते, जिसके सम्बन्ध से अगस्त्यजीको द्रविड़मुनि ठहराने की कोई राह भी मिल सके । अतः कोई भी आधार नही है,कि 'द्रविड़मुनि' शब्द से अगस्त्यजी का नाम-ग्रहण हो । द्रविड़मुनि तो शठकोपादिक आचार्यो का ही नाम है, क्योंकि वे द्रविड़ जाति के थे, वही जन्मे थे, उनको मातृभाषा भी द्रविड़ ही थी, और द्रविड़-भाषा में ही उन प्रबन्धों को लिखा भी था । सबसे बड़ी बात तो यह है कि वे द्रविड़मुनिके नामसे प्रसिद्ध भी है, और ग्रन्थों में सर्वत्र उनका द्रविडमुनि या द्रमिडमुनि के नाम सेही कथन हुआ है । द्रमिड़ शब्द,द्रविड़का ही उस देशकी भाषा में उच्चरित शब्द है । पहले यही बात तत्वोद्बोधन मीमांसा पृष्ट ११ में स्वीकृत भी हुई है, कि द्रविड़ाचार्यअगस्त्यजी नहो,बल्कि शठकोपादिक ही है॥ यथाः— 'द्रविड़मुनि से द्रविडाचार्य ले लिया, वह भी साहसमात्र ही है । यहाँ पर द्रविड़मुनि से तात्पर्य अगस्त्यमुनिका है ।' तत्त्वोद्बोधन मीमांसापृष्ट ११

इससे सिद्ध है, कि पहले आपने भी द्रविडाचार्य से शठकोपादिक आचार्यों को ही माना है । परन्तु द्रमिडमुनि शब्द देख कर पीछे से

भ्रम हुआ है किन्तु वह व्यर्थ है। क्योंकि उस देशका शुद्ध-संस्कृत नाम 'द्रविड' ही है जो पुराणादिकों में तथा लोक में भी प्रसिद्ध और सिद्ध है। परन्तु उस देश के लोगो में इसी 'द्रविड' शब्द का 'द्रमिड' भी उच्चारण है, जैसे मथुराका मथुरा। अतः उस भाषाके ग्रन्थोमें 'द्रविड' के लिये 'द्रमिड' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। इससे द्रविड से द्रमिड को अलग समझना भूल है। ऐसा प्रयोग अन्य देशों के लिये भी होता है। जैसे मगध का मगह, सौराष्ट्र का सोरठ, महाराष्ट्र का मराठा आदि। इससे दोनों में भिन्नता की कल्पना करना भ्रम है। उदाहरण स्वरूप श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित सहस्रगीति (संस्कृतानुवाद) में ही द्रविड़ के लिये 'द्रमिड' और 'द्रविड' दोनों शब्दों का उपयोग हुआ है। यथा उपोद्घात पृष्ठ ८ में लिखा है:-

"सहस्रगीतेरादौ द्रविडोपनिषत्सगतेरुपोद्घातश्लोकाः कवितार्किकसिंहवेदान्तदेशिकरचितद्रविडोपनिषत्तात्पर्य-रत्नावलेरुपोद्घातश्लोकाः पुनश्च प्रतिदशकस्यान्ते द्रविडोपनिषत्सङ्गति-श्लोकाः द्रविडोपनिषत्तात्पर्यरत्नावलिश्लोकाश्च निविष्टा वर्त्तन्ते। इत्यादि।

"सहस्र मधुरद्राविडान्यगायत्कृपा पश्यतास्मिँल्लोकेधिका" कणिणनुणशिरुत्ताम्बु पृ० ६

"भक्तामृतं विश्वजनानुमोदनं सर्वार्थदं श्रीशठकोपवाङ्मयम्।
सहस्रशाखोपनिषत्समागमं नामाम्यहं द्राविडवेदसागरम् ॥१॥'
पृष्ठ ११

इसके बाद 'सहस्रगीति' ग्रन्थ का आरम्भ हुआ है। इसकें प्रारम्भ के पृष्ठ १४ में लिखा है:-

"द्रमिडोपनिषत्संगतिः" "द्रमिडोपनिषत्तात्पर्यरत्नावली:"

पुनः ग्रन्थसमाप्ति पर पृष्ठ २७० एवं २७१ में इसीको इस प्रकार लिखा गया है:-

"इतिश्रीद्रविडोपनिषत्सङ्गतिः समाप्ता।" पृष्ट २७०

"इतिश्रीद्रविडोपनिषत्तात्पर्यरत्नावलिः समाप्ता।" पृ. २७१

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ के मूल में भी अनेक स्थलों को

भणिता में इस ग्रन्थ को द्रविड-प्रबन्ध आदि शब्दों के आधार
उल्लिखित किया गया है । यथा—

"शठकोपस्य श्रीरसहस्रद्रविडप्रबन्धरसिके..................१।५।११।"
"शठकोपेन कृते द्रविडमालासहस्रएता द्वादशगीतिमुक्ता २।७।१२"
"गीतिश्रेष्ठयुक्ते द्रविडसहस्रएतद्दशके..................१।८।११"

इसी प्रकार भी ४।९।११; ५।१।११; ५।६।११, ६।२।११ ६।५।११; ७।८।११, ८।६।११; ९।६।११; ९।८।११, ९।१०।११ १०।६।१०; और १०।८।११; में 'द्रविड' शब्द का प्रयोग हुआ है ।

इससे भली भाँति स्पष्ट हो गया है कि द्रविड और द्रमिड शब्द एक ही है, और द्रविडदेश वालों में इन दोनों शब्दों का व्यवहार और प्रयोग होता है, परन्तु अन्यत्र केवल द्रविड शब्द का ही । यही कारण है कि श्रीरामानन्दस्वामीजी ने 'द्रविडमुनि' शब्द का ही प्रयोग किया है । अतः सिद्ध है कि इस 'द्रविडमुनि' शब्द से श्रीशठ-कोपादिक द्रविडाचार्यों का ही ग्रहण है, इससे अगस्त्यमुनि का किसी भी तरह ग्रहण नही हो सकता ।

जिस प्रकार 'द्रविड़मुनि' शब्द से अगस्त्यजी की बेराह—कल्पना कर ली गयी है, उसी प्रकार 'प्रबन्ध' शब्द से 'संहिता' की कल्पना भी बेराह और अनर्गल ही की गयी है । संहिता' शब्द से उस ईश्वरीय-वचन का ग्रहण है, जो या तो वेदों के मंत्रभाग के रूप में या पञ्चरात्रादि धर्मशास्त्रों के रूप में लोक में प्रसिद्ध है, इस कारण वेदो के मंत्र—विभाग को भी संहिता कहते हैं और पञ्चरात्त्रादि धर्मशास्त्र के भिन्नभिन्न विभागों को भी, जो भिन्नभिन्न ऋषियों द्वारा लोक में प्रचारित हुए हैं; यथा, ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद-सहिता, सामवेद-संहिता एवं अथर्वन-संहिता वेदकी संहिताये है, और भरद्वाजसंहिता ईश्वरसहिता वृहद्ब्रह्म—संहिता, आदि पाञ्चरात्र—शास्त्र की संहिताये है । अगस्त्य-संहिता भी इसी पञ्चरात्र की ही संहिता है । भला वेद तुल्य पञ्च-रात्र की इस संहिता को किस प्रकार 'प्रबन्ध' ग्रन्थ कहा जा सकता है ?'प्रबन्ध'तो वेद तथा ऋषिप्रणीत धर्मग्रन्थादिकों के अनुकूल सङ्गृहीत' युक्तियुक्त विवेचित एवं साङ्गोपाङ्गवर्णित इस युग की रचना कोही कहते हैं, और इस शब्द का इसी रूप में प्रचुर—प्रयोग और प्रचार भी

है यथाः- धर्मसिन्धु, निर्णयसिन्धु, प्रायश्चित्तकदम्ब, चतुर्वर्गचिन्तामणि, सुश्लिष्ट—परिशिष्ट आदि ग्रन्थ प्रबन्ध कहे जाते हैं। संहितायें स्वतः शास्त्र है, परन्तु प्रबन्ध, उन संहितादि शास्त्रों के आधारानुकूल रचित होने से ही प्रतिष्ठित होती है. अतः उन दोनों में विशाल अन्तर है। यही कारण है, संहिता और प्रबन्ध एक पदार्थ नहीं कहे जा सकते। अगस्त्य संहिता संहिता ही है, प्रबन्ध कहना उसका अपमान करना है। अतः यहाँ 'द्रविडमुनि कृत प्रबन्ध' से द्रविड़-प्रबन्ध का ही ग्रहण है. अन्यथा तो कोई राह ही नहीं है। ये द्रविड़ प्रबन्ध द्रविड-महात्माओं द्वारा वेदशास्त्रादि अनुकूल-अनुभूत-रचना है अतः इन्हे द्रविड-प्रबन्ध कहते है; और परम उत्कृष्टता के कारण इनकी दिव्य-प्रबन्ध संज्ञा भी है, बल्कि काञ्ची से इन द्रविड़-प्रबन्धों का 'दिव्य-प्रबन्ध' ही संज्ञा से प्रकाशन भी हुआ है। अर्थात द्रविड़-प्रबन्ध और 'दिव्य-प्रबन्ध' दोनों ही संज्ञायें इन्ही की है। यही कारण है, कि श्रीरामानन्दस्वामीजीने इन ग्रन्थों के परिचय में एक प्रकार से दोनों ही संज्ञाओं का समावेश कर पूर्ण स्पष्टीकरण कर दिया है। यथाः—"द्रविड मुनिकृतोत्कृष्टदिव्यप्रबन्धैः"('द्रविड़मुनिकृत' शब्द से उन प्रबन्धों के साथ 'द्रविड़त्व का समावेश किया है और दिव्य-प्रबन्ध तो सीधे लिखाही है।

इसके सिवा आपने एक और भी मजेदार-बहक दिखायी है; वह यह है कि मूल श्लोक में "प्रबन्धैः" शब्द पड़ा है और यह शब्द बहुवचन है, फिर भी आपने उस बहुवचन शब्द (प्रबन्धैः) का अर्थ अगस्त्य-संहिता कर लिया है। किन्तु अगस्त्य-संहिता तो एक वस्तु है। फिर इस एक वस्तु के लिये बहुवचन शब्द (प्रबन्धैः) का प्रयोग किस प्रकार माना जा सकता है ? हाँ, द्रविड़-प्रबन्ध अवश्य ही एक दो नहीं, बल्कि श्रीशठकोप, कुलशेखर, विष्णुचित्ता दिक बारह आल्वारों द्वारा रचित बारह प्रबन्ध है। और यहाँ उसीके कथन में तात्पर्य है। यही कारण है, कि उनके लिये 'प्रबन्धैः' बहुवचन शब्द का प्रयोग किया गया है। अत. इस प्रकार भी 'द्रविडमुनिकृत-प्रबन्धों' से 'अगस्त्य—संहिता की सिद्धि नहीं होती।

इस प्रकार स्पष्ट हुआ, कि 'द्रविडमुनिकृतोत्कृष्टदिव्यप्रबन्धैः" शब्द से अगस्त्य—संहिता की कल्पना करना नितान्त असिद्ध और

निराधार बात है, और इस कल्पना के लिये जितने भी प्रमाण पकड़े गये है सभी झूठे और वास्तविकता रहित हैं। पहले तो अगस्त्यजी का जन्म ही द्रविडदेश में नही हुआ है, अतः वे द्रविडमुनि नहीं कहे जा सकते। दूसरे, उनका द्रविडदेश खास निवास स्थान भी नहीं है बल्कि उनका खास निवास स्थान पूर्वकाल में उत्तर भारत और पश्चात दक्षिण जाने पर दण्डकारण्य है, जो बहुत ही प्रसिद्ध बात है। इसी दण्डकारण्य में अपने श्रेष्ट-शिष्य सुतीक्ष्णजी के प्रश्नों के उत्तर रूप में आपने इस संहिता (अगस्त्य संहिता) का प्राकट्य किया है, अतः इस प्रकार भी इसमें तथा अगस्त्यजी में द्रविडत्व का कोई सम्बन्ध नही होता, अतएव न तो अगस्त्यजी द्रविडमुनि है, न अगस्त्य संहिता द्रविडमुनि कृत प्रबन्ध है। इसके अतिरिक्त संहिता और प्रबन्ध भिन्न भिन्न पदार्थ है, इसलिये भी अगस्त्य-संहिता द्रविड मुनि कृत प्रबन्ध नहीं कही जा सकती। और अन्तिम बात तो यह है कि केवल एक अगस्त-संहिता के लिये बहुबचन शब्द 'प्रबन्धैः' का प्रयोग भी नही हो सकता है। अतः एक भी हेतु ऐसे नही है, कि जिससे अगस्त्यजी, द्रविडमुनि, और अगस्त्य-संहिता, द्रविड-प्रबन्ध एक क्षण के लिये भी कहा जा सके। वस्तुतः सर्वप्रकारेण श्रीशठकोपादिक आचार्य ही द्रविडमुनि है और द्रविडमुनि कृत प्रबन्धों से इन सब द्रविड-आचार्य के प्रबन्धों का ही यहा श्रीरामानन्दस्वामीजी ने कथन किया है। और यहाँ श्रीभाष्य एव द्रविड-प्रबन्धों में सामीप्य सम्बन्ध रहने से पारस्परिक समर्थन एव उत्तम स्वारस्य भी स्पष्ट हो रहा है, और ऐसा ही सब दिन से माना भी गया है। अतः इससे भिन्न कल्पना केवल लोगोंकी आँख मे धूल झोंककर भ्रामकता फैलाकर मतलब गाँठने के लियेही की गयी है।

इसके अतिरिक्त द्रविड़-प्रबन्ध के सम्बन्ध में एक बात और भी विचारणीय है, श्रीभगवद्दासजी ने 'प्रकाश' के प्रस्तावना-पृष्ट १५ में ही एक और यह भी दलील पेश की है, "कि शठकोपस्वामी प्रभृति के जो प्रबन्ध हैं, वह सब द्रविड़भाषा में है। उत्तर भारत में द्रविड-भाषा का प्रचार न था और न आज है। तब उन प्रबन्धों से कालक्षेप की आज्ञा कैसे हो सकती है ?" यद्यपि इस दलील में कोई जान नही है, और इसका बहुत कुछ उत्तर श्रीरामानन्दस्वामीजीने ही निजकृत

श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर में कर दिया है, और व्यवहार देखने से भी अपने आप इसका उत्तर मिल जाता है, परन्तु उससे श्रीभगवद्दासजीको क्या मतलब ! उनको तो धींगाधींगी की कोई राह चाहिये बल्कि बेराह भी किसी तरह धींगाधींगी होनी चाहिये ! श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर में ही १६९ वें श्लोक से १७२ वें श्लोक तक इस विषय पर अच्छी तरह प्रकाश डाला गया है,जिससे इस विषय की शङ्का ही नहीं उठ सकती है ! यथा:-

"श्रीमद्रामायणेन प्रतिदिनमखिलैर्भारतेन प्रपन्नैः ।
शक्तैः श्रीभाष्यतश्च द्रविडमुनिकृतोत्कृष्टदिव्यप्रबन्धैः ।
कालक्षेपो विधेयः सुविजितकरणैः स्वाकृतेर्यावदन्तम् ॥१६९॥
स्नानादि कर्माणि विधाय तत्र श्रीभाष्यमेवं शृणुयादशक्तः ।
वेदादराणां सुकीर्तनं च द्रयानुसन्धानमथो विदध्यात् ॥१७०॥
तथाप्यशक्तास्तु कुटीरमात्रं विधाय कुर्युस्त्वथयादवाद्रौ ।
अन्यत्र वासं च गुरूपदिष्टान्मन्त्राञ्जपन्तोऽहङ्कारशून्याः॥१७१॥

इसमें क्रमशः किस प्रकार योग्यतानुसार कालक्षेप की विधि बतायी गयी है, कि जो समर्थ है वे तो श्रीमद्रामायण, महाभारत, श्रीभाष्य एवं द्रविड-प्रबन्धों के अध्ययन द्वारा कालक्षेप करें । जो इनके अध्ययन में असमर्थ हो, वे दूसरों से इसका श्रवण करें और जो इसमें भी असमर्थ हों, अर्थात् जो विषय की जटिलता के कारण ब्रह्मसूत्रादि के श्रवण के बाद भी उसके समझने में असमर्थ हों,वे यादवाद्रि में कुटी बना कर रहें अथवा अन्य दिव्यक्षेत्रों में वास करे और अहङ्कार रहित हो कर गुरूपदिष्ट मन्त्रों का जप करते हुए रहें । इससे भली भाँति स्पष्ट है, कि रामायण, महाभारत,श्रीभाष्य की ही तरह जो द्रविड-प्रबन्धों के अध्ययन में असमर्थ होंगे, उनके लिये दूसरों से श्रवण करने की ही विधि कही गयी है और उसमें भी असमर्थ होंगे,उनके लिये यादवाद्रि में कुटीमात्र बनाकर निवास अथवा अन्य दिव्य क्षेत्रों में वास कर गुरूपदिष्ट मन्त्रों का अहङ्कार रहित होकर जप करने की विधि कही गयी है । भला, इससे अच्छा उपर्युक्त तर्क का क्या समाधान हो सकता है?

यदि आँख फैला कर देखा जाय, और शान्त-हृदय से विचार किया जाय, तो यह स्पष्ट दिखाई पड़ेगा कि रामायण, महाभारत और ब्रह्मसूत्र-भाष्य के भी अध्ययन करने वाले व्यक्ति विरल है, उसमें ब्रह्म-

सूत्र के ज्ञाता तो और भी अति विरल है, बल्कि श्रवण कर समझने वाले भी कोई ही कोई है, क्योंकि यह विषय ही जटिल है, फिर जब इससे कालक्षेप करने की विधि आपको स्वीकार है ही, तो द्रविड-प्रबन्ध के विषय में क्यों शङ्का होने लगी ? जो स्वयं समझने में असमर्थ होंगे, वे इनके ज्ञाताओं से इसकी कथा नहीं सुन सकते है जब कि अन्य ग्रंथों का इसी प्रकार सुनते ही है ? यदि यह कहें, कि उत्तर भारत में इसके जानकार नहीं हैं, तो ऐसी बात भी ठीक नहीं, क्योंकि उत्तर भारत के दिव्य-क्षेत्रों में द्रविडदेश के वैष्णव भी रहते ही है, अतः उनसे सुना जा सकता है। इसके अतिरिक्त उत्तर-भारत के वैष्णव भी तो दक्षिण-भारत के दिव्य क्षेत्रों में निवास करते ही है अतः वहाँ वालों से इसका श्रवण कर सकते है। एक बात और भी कि श्रीरामानन्दस्वामीजी का यह कथन या उद्देश्य तो है ही नहीं, कि हमारे अनुयायी केवल उत्तर भारत के ही लोग हो, दक्षिण-भारत के नहीं ! फिर उनके लिये द्रविड-प्रबन्ध में द्रविड-भाषा के कारण निषेध या नियम कैसे लागू होगा ? इसके अतिरिक्त सबसे अन्तिम बात तो यह है, कि द्रविड-प्रबन्ध की भाषा इतनी प्राचीन है, कि हजारों वर्ष से उसका वर्तमान द्रविड भाषा के साम्य से समझना अत्यन्त कठिन ही नहीं, असम्भव है, जैसे, कि हमारे यहाँ पाली-भाषा के ग्रन्थों की स्थिति है। फिर अन्य भाषाओं की ही तरह वह भी जैसी द्रविडों के लिये है, वैसी ही अन्यों के लिये भी अर्थात् जो उसको पढेगा, उसी को आयेगा, दूसरों को नहीं. अतः इसके उत्तर भारत का कोई प्रश्न ही नही हो सकता।

अतः 'शक्तैः श्रीभाष्यतश्च द्रविडमुनिकृतोत्कृष्टदिव्यप्रबन्धैः' से श्रीरामानन्दस्वामीजी ने श्रीरामानुजस्वामीजी कृत श्रीभाष्यनामक ब्रह्म सूत्रभाष्य तथा श्रीशठकोपादिक आल्वारों कृत द्रविड-प्रबन्ध---दिव्य प्रबन्ध---का ही कथन किया है। इसके इस वास्तविक-अर्थ के विपरीत अनर्गल-भ्रामकता फैलाने की जो चेष्टा की गयी है वह निपट निराधार एवं नितान्त-असत्य बात है, अतः जैसी थी, वैसी सिद्ध भी दिखायी गयी है। इसके विरुद्ध एक बात भी न्यायक्षेत्र एव विद्वत्समाज में सिद्ध होने की नहीं है, यही कारण है, कि पहली सारी चाल स्वयं बेकार दुर्बल एवं पकड़ जाने वाली समझ कर अब 'प्रकाश' में उसका पाठही

एकदम बदल दिया गया है कि जिसमें न तो श्रीभाष्य का नाम रहे, न द्रविड–प्रबन्ध का ही। किन्तु इस भग्गूपन से ही एक तो पाठ बदलने की चोरी सिद्ध हो रही थी, दूसरे अपनी सफाई में जो गुरुदेवजी की साक्षी पेश की, वह भी प्रतिकूल ही, चोर सिद्ध करने वाली ही ठहरी,जैसा कि इस प्रस्तुत-प्रसङ्ग के पृष्ठ ५५ में उल्लिखित प्रमाण से सिद्ध है, अतः पूर्णरूपेण सिद्ध हुआ,कि "शक्तेः श्रीभाष्यतश्च..." का 'प्रकाश' में जो परिवर्तित पाठ छापा गया है,वह बिल्कुल कृत्रिम है,झूठा है।

ठीक इसी तरह का एक और दूसरा उदाहरण भी लीजिये, जिससे श्रीगुरुदत्त–प्रति के अनुसार 'प्रकाश' में पाठों के रखने के मिथ्या-बहाने का और भी अच्छी तरह भण्डाफोर हो जाता है। यह श्लोक भी इससे पूर्व प्रमाणरूप से उल्लिखित श्लोक की ही तरह परम्परा-सम्बन्धी पूर्व–विवादों में उपस्थित हो चुका है, और इस पर बहस भी चल चुकी है, अतः काफी मशहूर है। इस पर भी आपने समय समय पर कई पैतरें बदले है, परन्तु इस थोथी-पैतरेबाजी में भी वही अशक्तता है, जिससे उपहास्य–अभिनय-प्रदर्शन-जन्य बालसम्मोहन के सिवा कोई वास्तविक कार्य–साधन नहीं हो सका है। यही कारण है, कि श्रीरामानन्द स्वामीजी के इस प्रमाणिक वचन पर इस बार 'मूलेकुठाराघातः'किया गया है, अर्थात् उस प्रमाणिक–श्लोक का अङ्ग–भङ्ग कर उसके स्थान में रूपान्तर किये हुए श्लोक का 'प्रकाश' में सन्निवेश किया गया है। और इस पर भी मजा यह, कि इतने प्रसिद्ध और पूर्व–प्रमाणित पाठ का न तो पाठान्तर दिया है, न इसमें कहीं उसका कोई जिक्र ही किया है, यानी पूरी तरह हज़म कर डालने की कुचेष्टा की गयी है, परन्तु आचार्यदेवजी की यह अमरवाणी कभी क्षुद्र–पेट में पचनेवाली है? उनकी यह प्रबल–दहाड़ तो दिग्दिगन्त को प्रकम्पित कर रही है, जिससे सर्वत्र सबल-गूँज उठ रही है,और अन्धों के भी कानों में भरकर अपनी वास्तविकता का उसे अनुभव करा रही है। हाँ, कलुषित-हृदय एवं भ्रान्त-मस्तिष्क लोगों के ऊपर भले हो इसका प्रभाव न हो।फिर भी इस दिव्य-वाणी के अपलाप की कुचेष्टा कभी शुद्ध वातावरण में टिक नही सकती। यह वही श्लोक है, जिसे 'श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्रदर्शन' के पृष्ट ११ में श्रीयुत महान्तजी ने उद्धृत किया था। यथा:—

"तथाप्यशक्तास्तु कुटीरमात्रं विधायकुर्युस्त्वथ यादवाद्रौ अन्यत्र वास च गुरूपदिष्ठान् मंत्राञ्जपन्तोऽहङ्कारशून्याः ।"

किन्तु आपने अपने 'प्रकाश' में इसे रूपान्तरित कर इस रूप में अर्थ सहित स्थान दिया है:-

"तत्राप्यशक्तास्तु कुटीरमात्रं विधायकुर्युस्त्वथ राघवाद्रौ । अन्यत्र वासं च गुरूपदिष्टान्मन्त्राञ्जपन्तो ममकारशून्याः ॥"

"अन्वय—अथ, तत्र, अपि, अशक्ताः, तु, राघवाद्रौ, अन्यत्र, च, कुटीरमात्रं, विधाय, गुरूपदिष्टान, मन्त्रान् जपन्तः, वासं कुर्युः॥५॥

"प्रकाश-यदि कोई इतना भी करने में असमर्थ हों, तो चित्रकूट अथवा अन्यत्र एक छोटी सी कुटिया बनाकर श्रीगुरुमहाराज के दिये हुए मन्त्र का जप करते हुये ममकार अहङ्कार आदि से शून्य होकर निवासकरें।५।"

ऊपर कहा का चुका है, कि इस श्लोक का वास्तविक पाठ, जैसा कि आपके श्रीगुरुदेवजी कृत 'श्रीसम्प्रदाय दिक्प्रदर्शन' से ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, बहुत प्रसिद्ध, प्रमाणिक और आपके द्वारा भी पूर्व-स्वीकृत है। इसके अतिरिक्त अर्थ-प्रकाशिका-टीकावाली प्रति में, जिसका नालायक बच्चा पिता की मान-प्रतिष्ठा और स्वरूप संहार के लिये 'प्रकाश' के रूप में दुष्ट-जन्म ग्रहण किया है, तथा पं० रामटहलदासजी द्वारा सम्पादित पुस्तक में भी वही पाठ है, जैसा कि 'श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्रदर्शन' से ऊपर उद्धृत किया गया है। फिर भी 'प्रकाश' में इसके विपरीत पाठ बनाकर रखने पर भी इसका पाठान्तर तक डकार लिया गया है। यह आँख मिचौनी कब तक ? अब, आपने अपने श्रीगुरुदेवजी, तथा अन्य प्रतियों के विपरीत जो पाठ परिवतन किया है, उस पर ध्यान दीजिये:—

श्रीसम्प्रदायदिक्प्रदर्शनादि के अनुसार पठित-शब्द	'प्रकाश' के अनुसार पठित-शब्द
तथाप्य, यादवाद्रौ, अहंकार,	तत्राप्य, राघवाद्रौ, ममकार,

इसमें 'तथाप्य' और 'अहंकार' का पाठ परिवर्तन कर क्रमशः 'तत्राप्य' और 'ममकार' तो केवल तुम्बाफेरी स्वभाव रहने के कारण बनाया गया है, किन्तु 'यादवाद्रौ' का 'राघवाद्रौ' पाठ-परिवर्तन कलुषित-अभीष्ट-सिद्धि के लिये ही किया गया है, जैसा कि आगे के

विवेचनों से भले प्रकार स्पष्ट हो जायगा। हाँ, यहाँ एक विचित्र घटना भी ध्यान देने योग्य है, और वह यह, कि 'प्रकाश' के मूल में तो पूर्व-पाठ 'अहङ्कार' का परिवर्त्तन कर के 'ममकार' बना दिया है, परन्तु अन्वय में न तो 'अहंकार' का ही समावेश किया है, न 'ममकार' का ही। जान पड़ता है, उसको आपने अपने हृदय में स्थान दे दिया है, अतः यहाँ उसकी उपस्थिति-हीनता अनिवार्य हुई। अथवा आपके हृदय में अहंकार का पहिले से ही अचलनिवास रहने के कारण ही ममकार भी वही अपनी जाति में जा मिला, अतः आप में अहंकार-ममकार की और भी प्रौढ़ता हो गयी। तब तो अन्धोन्मादी की तरह जो जी में आया, रगड़ मारा है। न आगे देखा, न पीछे। क्या ही अच्छा होता, यदि आप अपने हृदय से इस पालित एवं सुरक्षित अहंकार-ममकार का विदूरीकरण कर शुद्ध-सात्त्विक-वृत्ति ग्रहण करते हुए इस सम्प्रदाय की निर्मल सेवा करते ! खैर, जैसी आपकी इच्छा, परन्तु इस उपर्युक्त उद्धरण से इतना तो स्पष्ट हो ही गया, कि सर्वत्र की तरह यहाँ भी आपने अपने गुरुदेवजी के विरुद्ध ही पाठ बनाया है।

अब परम्परा सम्बन्धी पूर्व-विवादों से लेकर आज तक इस श्लोक के सम्बन्ध में आपने कितने और कैसे कैसे रंग बदले है, इसका भी परिचय कीजिये। यह श्लोक भी पूर्व-विवादों में लिखित-प्रमाण के रूप में सब से पहले तत्त्वोद्बोधन' में ही दिखलाई पड़ता है। यथा उसके पृष्ठ ८ में लिखा है:—

"तथाप्यशक्तास्तु कुटीरमात्रं विधायकुर्युस्त्वथ यादवाद्रौ १७१॥ १७१ वें श्लोक के पूर्वार्ध में श्रीयादवाद्रिवास का विधान करते हुए श्रीरामानन्दस्वामीजी श्रीरामानुजभगवान के अन्तिम काल की उक्तियों का ही स्मरण करा रहे हैं।"

इस प्रमाण के उत्थापित होने पर श्रीमैथिलीशरणपाण्डे नाम-धारी आपने निजकृत 'तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा' नाम्नी उत्तर-पुस्तका के पृष्ठ १२ में जो अपने विचार उपस्थित किये ह, वे इस प्रकार है:—

"आगे चल कर आपने जो 'तथाप्यशक्तास्तु कुटीरमात्रं विधाय-कुर्युस्त्वथ यादवाद्रौ' इस श्लोक में 'यादवाद्रौ' पद देख कर शीघ्रता से श्रीरामानुजस्वामी की अन्तिम उक्तियों को स्मरण कर लिया और लिख मारा कि श्रीरामानन्दस्वामीजी रामानुजस्वामी की परम्परा में से हैं, सो भी अशुद्ध है, उस श्लोक में 'यादवाद्रि' से गोवर्द्धन लिया गया

है। वह पर्वत वैष्णवों के लिये सेव्य है, यह बात वाल्मीकि-संहिता में के ५ वें अध्याय के १५ व श्लोक में लिखी है। यथाः—

संसेव्यो वैष्णवैर्नित्यं यादवाद्रिश्च निश्चलः।
यत्र वै भगवान् कृष्णो विजहार स्वमायया॥

अर्थात् जहाँ पर भगवान् श्रीकृष्णजी महाराज ने अपनी माया से नाना प्रकार की क्रीडायें की हैं वह यादवाद्रि वैष्णवों के लिये सदा सेवनीय है। सब लोग जानते है कि श्रीकृष्ण भगवान् ने गोवर्द्धन में अनेक लीलायें की है। कोई कोई यहाँ पर 'यादवाद्रि' पद का रैवतक अर्थ भी करते हैं।"

इसके बाद आपके श्रीगुरुदेवजी ने निजकृत 'श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्र-दर्शन' के पृष्ट १०--११ में इसका जैसा प्रसङ्गोत्थापन किया था, वह भी देखिये। यद्यपि 'श्रीभाष्य' एवं 'द्रविड प्रबन्ध' सम्बन्धी श्लोक के विवेचन में इसके कुछ अंश उद्धृत हो चुके है, परन्तु सुविधे के लिये यहाँ पूरा दे दिया जाता है। यथाः—

"किञ्च—'श्रीभाष्यं द्रविडागमप्रवचनं श्रीशस्थलेष्वन्वहं,
कैङ्कर्यं यदुशैलनित्यवसतिः सार्थद्वयोच्चारणम्।
यद्वा भागवताभिमानवसतिः श्रेयः सतामित्यलं,
शिष्यान्प्रोच्य यतीश्वरः परमगाद्विष्णोः पदं शाश्वतम्'
इत्येवं श्रीरामानुजाचार्यचरमोपदेशवत् अस्मच्छ्रीरामानन्दस्वामिनामपि॥
'शक्तः श्रीभाष्यतश्च द्रविडमुनिकृतोत्कृष्टदिव्यप्रबन्धैः
कालक्षेपो विधेयः सुविजितकरणैः स्वाकृतेर्यावदन्तम्॥१६८॥
'तथाप्यशक्तास्तु कुटीरमात्रं विधाय कुर्युस्त्वथयादवाद्रौ।
अन्यत्र वासं च गुरूपदिष्टान् मन्त्राञ्जपन्तोऽङ्कारशून्याः॥"
इत्यादिना परमोपदेशस्तुल्य एव॥ २७॥"

इसका हिन्दी अनुवाद भी वहीं इस प्रकार दिया हुआ है:—

"और भी, श्रीरामानुजस्वामीजी ने अन्त—अवस्थामें जो आपने शिष्यों को उपदेश दिया है, कि 'श्रीभाष्य' अथवा 'द्रविड प्रबन्ध' पढ़े या दिव्यदेश में कुछ भगवत्कैंकर्य करे या यादवाद्रि (मैलकोटा) नित्यवास करे, इत्यादि। उसका विस्तार से कथन श्रीरामानन्दस्वामीजी ने भी अपने वै० म० भा० के १६८ के श्लोक से किया है, कि शक्ति वाले को श्रीभाष्य और द्रविड-प्रबन्धों से कालक्षेप करना चाहिये

और जो अशक्त है उस अधिकारी को यादवाद्रि में कुटी बनाकर वास करना चाहिये—इत्यादिक दोनों का उपदश तुल्य है ॥ ८७॥"

अपने गुरुदेवजी के इन वाक्यों का भी आपने अपनी 'श्रीसम्प्रदायरक्षा' में खण्डन कर निज-विपरीतमत का स्थापन किया है। यहाँ उसके हिन्दी-विभाग से इस सम्बन्ध का उद्धरण दिया जाता है। पहले तो आपने इसके पृष्ठ ५ में अपने गुरुदेवजी के उपर्युक्त वाक्यों के सारांश को प्रश्न-रूप १९ वें २० वे हेतु में इस प्रकार अङ्कित कर विचार उपस्थित किया है:—

"(१९) दोनों सम्प्रदायों में श्रीभाष्य और द्रविड-प्रबन्ध का पाठ करना समान है।

"(२०) दोनों सम्प्रदायों में दिव्यदेश में भगवत्कैङ्कर्य करना अथवा यादवाद्रि (मैलकोटा) में नित्यवास करना समान है।

"इनमें से १९ वें और २० वें हेतुओंका श्रीमदनन्ताचारी स्वामी के 'तत्वोद्बोधन' नामक पुस्तक के खण्डन स्वरूप तत्वोद्बोधन-मीमांसा में भले प्रकार खण्डन किया गया है। अतः यहाँ ग्रन्थ विस्तार की आवश्यकता नहीं है।"

यद्यपि यहाँ आपने १९ वें और २० वें दोनों हेतुओं के उत्तर 'तत्वोद्बोधन मीमांसा' में बता कर छुटकारा ले लिया है, किन्त आगे चल कर इसीके (श्रीसम्प्रदाय-रक्षा के ही) पृष्ठ ९—१० में पुनः २० वें हेतु—जिसमें कि यादवाद्रि का विचार है—के सम्बन्ध में 'तत्वोद्बोधन-मीमांसा' से निराला ही उत्तर शुरू किया है, जो इस प्रकार है:—

"(२०) दिव्यदेश में वास करना केवल नारायण उपासकों के लिये है। श्रीरामोपासकों के लिये नहीं, उनके लिये तो श्रीअयोध्या और चित्रकूट ही परम स्थान है, अतएव श्री वैष्णवमताब्जभास्कर में लिखा है कि:—

'शालग्राममोघदिव्यफलदं दैवं हरिक्षेत्रतोऽ-
योध्यायां रघुपुङ्गवं गुणनिधिं श्रीरामचन्द्रं प्रभुम् ॥,

अर्थात् रघुवंश विभूषण भगवान् श्रीरामजी को स्मरण करता हुआ श्रीअयोध्या में निवास करे। आगे चलकर पुनः लिखा है कि—

'गङ्गासागरसङ्गमेऽति शुभदे विष्णुं तथा राघवं।
शश्वद्भूरिगुणालयं मुनिवृते श्रीचित्रकूटे विभुम् ॥'

अर्थात् मुनि सेवित चित्रकूट में अनन्त गुणगणालय भगवान् रामचन्द्र

का स्मरण पूजन करता हुआ वास करे। इसके पश्चात् लिखा है कि–

'नारायणं श्रीमति यादवाद्रौ'

अर्थात् नारायण का स्मरण करता हुआ यादवाद्रि में निवास करे। इससे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है, कि रामोपासकों के लिये श्रीरामानुज-सम्प्रदाय का दिव्यदेश नहीं है।"

यद्यपि उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट विदित हो रहा है, कि आपने यादवाद्रि सम्बन्धी विचार तत्वोद्बोधन–मीमांसा से निपट विपरीत इस श्रीसम्प्रदाय–रक्षा में किया है, परन्तु इस पर तो आगे प्रकाश डाला जायगा। यहाँ पुनः इसके भी विपरीत आपने 'प्रकाश' में जो मतस्थापन किया है, उसका दर्शन कर इसके साथ मिलान कीजिये:—

"वैष्णवों को ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकरण में जिन जिन तीर्थों में निवास बताया गया है, उन उन तीर्थों में निवास करते हुए हरिजन उन उन तीर्थों के अध्यक्ष उन उन देवों में श्रीरामरूप का ध्यान करते हुए पूजा-अर्चा करे। यदि ऐसा नहीं किया जाये तो भक्ति व्यभिचरित हो जावेगी। रामभक्त रामलीलोपासी वैष्णव वृन्दावन में जाकर यदि कृष्णलीला में तन्मय हो जावें अथवा द्विभुज-पररूप-उपासी वैष्णव चतुर्भुज नारायणमें तल्लीन हो जावें अथवा सौम्यराम-रूप सेवी वैष्णव भयङ्कर नृसिंह रूपमें आसक्त हो जावें, और वहाँ से चलकर अन्य तीर्थों में जावें, और उन उन देवों के रूपमें मुग्ध हो जावें तो उनकी भक्ति का स्वरूप नष्ट हो जायगा।......अतः जो वैष्णव जहाँ हों, जिस तीर्थ में हों, वहाँ पर उस तीर्थ के अधिष्ठाता तत्तन्नामक देव में श्रीराम का ही ध्यान करके तत्तद्देव की पूजा करें।"

उपर्युक्त इन सारे उद्धरणों से स्पष्ट हुआ, कि तत्वोद्बोधन–मीमांसा में तो आपने 'यादवाद्रि' का बेराह–अर्थ मुख्यरूपेण गोवर्द्धन और गौणरूप से रैवतक कर उस समय आंख में धूल झोंक कर कार्य–साधन की चेष्ठा की थी, और इसी कार्य–साधन के लिये स्थिति-शून्य 'वाल्मीकि–संहिता' के नाम पर अपने अभीष्ट अनुकूल श्लोक बनाकर प्रमाण में ठोक भी दिया है। हालाँ कि 'वाल्मीकि–संहिता' नामक कृत्रिम पुस्तक की पीछे रचना की गयी है, फिर भी प्रमादवश यह श्लोक ५वें अध्याय में कहीं भी सम्मिलित नहीं हो सका, जसा कि

तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा में बताया गया है, कि यह वाल्मीकि संहिता के ५ वें अध्याय का यह १५ वाँ श्लोक है। बल्कि उसमें तो ६ठे अध्याय के १६वें श्लोक के रूप में यह सम्मिलित हुआ है। बस, इसी एक चावल की कचाई से समूचे हण्डे की वास्तविकता समझ लेनी चाहिये। यदि वाल्मीकि-संहिता की 'तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा'के रचना-काल में भी स्थिति रही होती, तो ऐसी झूठाई क्यों होती? आप को जिस समय जो जी में आता है, निराधार-उत्तर उगला करते हैं, और जी में जब जो आता है,प्रमाण-पुस्तक गढ़ा करते हैं,बल्कि उन दोनों को मिलाने का भी कष्ट नहीं उठाते; इस प्रमाद के कारण असत्यता और भी स्पष्ट-रूपेण पकड़ जाया करती है। जब इस 'वाल्मीकि-संहिता' के उपर्युक्त श्लोक की रचना से भी काम नही चला, क्योंकि एक तो मलकोटा के लिये 'यादवाद्रि' नाम बहुत प्रसिद्ध और शास्त्र-प्रमाणित भी है, दूसरे श्रीरामानन्दस्वामीजो ने "नारायणं श्रीमति यादवाद्रौ' लिख कर उसका स्पष्टीकरण और समर्थन भी कर दिया ह, जिससे गोवर्धन या रैवतक अर्थ करने की राह स्पष्ट ही रुकी हुई है, अतः यह ध्यान में आने पर जब 'वाल्मीकि-संहिता' के उपर्युक्त प्रयत्न की व्यर्थता समझ में आ गयी, तो श्रीसम्प्रदाय-रक्षा में यह अनर्गल-सिद्धान्त बेराह भिड़ाया गया, कि'यादवाद्रि नारायणोपासकों के लिये निवास-स्थान है' विचित्रता तो यह है, जब यह कहा जाता है, कि "दिव्यदेश में वास करना केवल नारायण उपासकों के लिये है, श्रीरामोपासकों के लिये नहीं, उनके लिये तो अयोध्या और चित्रकूट ही परम स्थान है।" जान पड़ता है, आपके दिमाग-शरीफ में अयोध्या और चित्रकूट दिव्यदेश नहीं है। बधाई है ऐसी समझ पर! यह भी नहीं सूझा, कि जिन दो श्लोकों में अयोध्या और चित्रकूट का वर्णन आया है, उसी में साथही 'हरिक्षेत्र' और 'गङ्गा-सागर-सङ्गम' का भी नाम आयाहै,बल्कि अयोध्या और चित्रकूट के बीच में 'गङ्गासागर-सङ्गम का नाम तो पड़ा ही है, इसके अतिरिक्त श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर में इन दोनों श्कोकों के बीच में साढ़ेचार श्लोक और भी हैं जो यहाँ नही दिये गयेहैं। उसमें मथुरा, माया काशी, द्वारवती, व्रज, वृन्दावन, कालीयह्रद, गोवर्धन, भवध्न, गोमतपर्वत, हरिद्वार, प्रयाग और गया के नाम भी आये हैं।

फिर भी न मालूम किस नियम और समझदारी से ग्रन्थ में से अयोध्या और चित्रकूट को अलग छाँट कर उसे श्रीरामोपासकों के लिये परम स्थान बतलाते. और 'अतएव 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर में लिखा है' कहने की भी धृष्टता करते हैं । किन्तु 'श्रीवैष्णवमताब्ज-भास्कर' में तो ऐसा लिखा नहीं है कि श्रीरामोपासक यहाँ, तो श्रीकृष्णोपासक वहाँ, तो श्रीनारायणोपासक अमूक स्थान में निवास करें । उसमें तो सभी भगवद्धामों में सभी वैष्णवों को निवास करने को लिखा है। हिस्सेदारी रूप 'डेढ़ चावल की खिचड़ी' तो आप पकाने बैठे थे ! समझ की विचित्रता तो यह थी, कि जब यादवाद्रि (मैलकोटा) को नारायणोपासकों के निवास के लिये फतवा दिया, तो 'तथाप्यशक्तास्तु कुटीरमात्रं विधायकुर्युस्वथ यादवाद्रौ' का भी फैसला क्यों न कर दिया, कि यहाँ क्यों श्रीरामानन्दस्वामीजी सब तरह से असमर्थ वैष्णव को प्रधान रूपेण यादवद्रि में ही निवास करने की आज्ञा दे रहे हैं ? और अब तो यादवाद्रि' का अर्थ गोवधन और रैवतक आप छोड़ ही चुके थे, क्योंकि, उसका 'रैवतक' अर्थ तो आपकी 'वाल्मीकि-सहिता' से भी असम्भव था, क्योंकि वहाँ माया के साथ कृष्णजी के विहार का कोई प्रमाण ही नहीं है, अतः कहीं उसकी दिव्य-क्षेत्रों में गणना भी नहीं हुई है। और उसका अर्थ गोवर्धन सिद्ध होना भी इस लिये असम्भव था, कि एक तो कहीं उसका नाम यादवाद्रि नहीं आया है, दूसरे स्वयं श्रीरामानन्दस्वामीजीने भी अपने श्रीवैष्णवमताब्ज-भास्कर में 'गोवर्द्धन' 'और यादवाद्रि' को अलग ही अलग गिनाया है, यथा 'गोवर्द्धने गोपसुवेषधारिणं तथा भवघ्नेऽपि च पद्मलोचनम्' (१६०) और 'नारायणं श्रीमतियादवाद्रौ' (१६५) । अतः जब आपने देखा, कि 'श्रीसम्प्रदायरक्षा' के इस प्रयत्न से इष्टसिद्धि पर आपही चौका फिर गया है, अपने हाथों अपने पैरपर मैंने आपही कुल्हाड़ी मारली है, तो 'प्रकाश' में तीसरी राह पकड़ी । यद्यपि इस में इस प्रकरण के भी श्लोकों को अदल बदल कर नष्टभ्रष्ट किया है, और किसी का भी पाठान्तर नही दिया है, परन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ा है, कि सभी दिब्यदेश सभी वैंष्णवों के लिये निवास स्थान और तत्तत्स्थानीय अध्यक्ष भगवान सभी वष्णवों के पूज्य हैं । किन्तु यहाँ चुपके से

भारी दाँव भी खेला है अर्थात् बिना किसी तरह से जाहिर किये चुपके से 'बिधायकुर्युस्त्वथ यादवाद्रौ' का पाठ 'विधायकुर्युस्त्वथ राघवाद्रौ' बनाकर 'चित्रकूट' अर्थ कर लिया है। और इतने प्र सद्ध श्लोक के, जिसपर कि इतनी बहसें चल चुकी हों, पाठा तर का नाम तक नहीं लिया है, चुपके पचा डालने की चेष्टा की है। परन्तु श्रीआचायदेवजी की वह अमरवाणी क्षुद्रपेट में कब पचने वाली है ? वह तो सर्वत्र गूँज रही है। बल्कि इस चोरी की पकड़ और सत्यपाठ की सिद्धि (श्रीभगवद्दासजी के) पूर्व-लेखों से भी प्रमाणित है। अतः सत्यता अपने आप सिद्ध हो गयी। यदि 'वाल्मीकि-संहिता' बनाते समय आपको इस 'राघवाद्रौ' की कल्पना हुइ होती, तो उसमें अवश्य ही इस शब्द को विशेषण-विशेष्य के रूप में भी किसी प्रकार चित्रकूट के साथ डाल देते किन्तु उस समय भी चूक गये। खैर, अभी भी बहुत सी सहिनायें अप्राप्य है, एकाध और भा रच डालिये, और उसमें इसके लिये कोई दाव खेल लीजिये न ! किन्तु हाँ इतना याद रखिये असत्य, आखिर असत्य ही होकर रहेगा। भाई ! यह आँख मिचौनी कबतक चलेगी ? अपनी आखें बन्द करने से दुनियाँ क्योंकर अन्धी होगी, खुद नहीं सूझेगा, ठोकरें लगेगी और दुनियाँ तमाशा देख देख कर हँसेगी। अतः इतने प्रसिद्ध 'यादवाद्रि' का आँख मिचौनी खेलने की तरह आँखें बन्दकर जो चुपके से 'राघवाद्रौ' बना दिया हैं आखिर उसकी सारी पोल खुल ही तो गयी ? पहले उस 'यादवाद्रौ' के अर्थ में धाँधली मचाकर 'गोवर्द्धन' अथवा 'रैवतक' सिद्ध करना चाहा और उसके लिये निजकृत वाल्मीकि-संहिता में प्रमाण गढ़ कर भी ठोका, परन्तु जब 'गोवर्द्धने गोप-सुवेषधारिणं' एवं 'नरायणे श्रीमति यादवाद्रौ' से उस प्रयत्न का मुखमञ्जन होगया, तो तिलमिलाकर 'दिव्यदेश' को ही छोड़ भागे और केवल 'अयोध्या' 'चित्रकूट' का दामन पकड़कर निस्तार चाहा। परन्तु वहाँ भी सारे 'श्रीवैष्णव मताब्जभास्कर' तथा विशेष कर 'तथाप्य-शक्तास्तु कुटीरमात्रं विधायकुर्युस्त्वथ यादवाद्रौ' की गहरी धौल पड़ी। तब गुरुदेवजी की झूठी साक्षी से जान बचान की कोशिश कर 'राघवाद्रौ' का प्रपञ्च साजा, परन्तु यह शहादत भी उलटी ही पड़ी।

कारण, उन्होंने निजकृत 'श्रीसम्प्रदाय दिक्प्रदर्शन' में पहले से ही 'यादवाद्रौ' लिख रखा था, अतः सर्वत्र ठोकरें ही लगती गयी। सारी चालबाजी पकड़ गयी। झूठाई खुल पड़ी। अतः लोगों को समझ जाना चाहिये, कि आप कैसे दूध के धोये महापुरुष हैं, और आप की कीर्तियाँ कैसी दिव्य है!

अब एक उदाहरण और दिखाकर इस उपविभाग को समाप्त कर देना चाहता हूँ। 'श्रीसम्प्रदाय दिक्प्रदर्शन' के पृष्ठ १९ में 'श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर' का एक श्लोक उद्धृत हुआ है:-

(१०) तप्तेन मूले भुजयोः समङ्कनं चक्रेण शङ्खेन तथोर्ध्वपुण्ड्रम्

श्रुतिश्रुतं नाम च मन्त्रमाले संस्कारभेदाः परमार्थहेतवः॥ (५९)

किन्तु 'प्रकाश' पृष्ट ११५ में इसी श्लोक का मूलपाठ इस प्रकार रखा गया है:—

तप्तेन मूले भुजयोः समङ्कनं शरेण चापेन तथोर्ध्वपुण्ड्रकम्।
श्रुतिश्रुतं नाम च मन्त्रमालिके संस्कारभेदाः परमार्थहेतवः॥

उपर्युक्त रेखाङ्कित शब्दों की ओर ध्यान देने से स्पष्ट विदित हो जायगा, कि आपने अपने गुरुदेवजी के पाठ के समान पाठ न रखकर उससे भिन्न ही पाठ रखा है—'चक्रेण शंखेण' को 'शरेण चापेन' 'पुण्ड्रम्' को 'पुण्ड्रकम्' और 'माले' को 'मालिके, बना दिया है, और इस 'चक्रेण शंखेण' का 'शरेण चापेन' बनाकर शास्त्र के अनुसार भी भूल कर डाली है, जैसा आगे प्रकरण आनेपर विशेषरूपेण स्पष्टीकरण किया जायगा। हाँ, यहां इतना और भी बता देना उचित है, कि जयपुर की हस्तलिखित प्रति, "अर्थ—प्रकाशिका" टीका वाली प्रति तथा अन्य सब प्रचलित प्रतियों में भी इसका पाठ वैसाही है, जैसा कि 'श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्रदर्शन' से ऊपर उद्धृत हुआ है, परन्तु 'प्रकाश' में सब से भिन्न अपने मतलब का बनाया अप्रामाणिक पाठ रखते हुए भी अन्यग्रन्थों के पाठभेद का जिक्र तक नहीं किया गया है, यहाँ भी चोरी से चुपचाप ही पचालेने की चेष्टा की गयी है। फिर भी तुर्रा यह, कि घोषणा करते फिरते हैं, कि श्रीगुरुदेवप्रदत्त पुस्तक के अनुसार पाठ रखा है, और अन्य प्रतियों के पाठभेद नीचे टिप्पणी में डाल दिये गये हैं। वाहरी आँख मिचौनी! तस्करी दावपेच कहाँ तक?

इस प्रकार भी सिद्ध हुआ, कि श्रीगुरुदत्तप्रति की बात तथा उसके

अनुसार पाठ रखने का कथन नितान्त असत्य और धोखेबाजी से भरा है। सबके सब पाठ, बल्कि सारा ग्रन्थ ही अपने मतलब के अनुसार अदल-बदल काट-छाँट कर नष्टभ्रष्ट कर डाला गयाहै अतः इसका न तो किसी प्रचलित प्रति से मेल होता है, न आपके श्रीगुरुदेव जी के पाठों से ही मिलान है। इससे स्पष्ट है कि, जिस प्रकार चोरी की चेष्टा और उसकी तैयारी में प्रथम सात प्रतियों की प्राप्ति और उससे संशोधन सम्पादन में सहायता लेने की झूठी बात कही गयी थी, उसी प्रकार श्रीगुरुदत्त–प्रति की प्राप्ति की बात भी सर्वथा मिथ्या ही है, सोलह आने धोखेबाजी है, जिसका कि दूसरे उपविभाग के रूपमें विचार हुआ। इसमें गुरुदत्त प्रति की स्थिति और उसके नाम पर से श्रीरामानुज स्वामीजी की परम्परा से सम्बन्ध रखने वाले प्रामाणिक श्लोकों के अदलबदल करने का विचार मुख्यरूपेण किया गया है।

अब चोरी की चेष्टा और तैयारी के तीसरे उपविभाग पर भी दिग्दर्शन के रूप में थोड़ा प्रकाश डाला जाता है। इस उपविभागमें वही कथन रखा गयाहै, जिसम कहा गया है कि:—

(३) "पाठ-भेद होने परश्रीगुरुदत्त पुस्तकके आधार पर ही पाठ रखागया है।"

यद्यपि उपर्युक्त दूसरे उपविभाग की आलोचना से भी पूरी तरह स्पष्ट हो गया है, कि एक तो श्रीगुरुदत्त–प्रति की प्राप्ति का कथन ही मिथ्या है, फिर उसके अनुसार पाठ रखने की बात ही कैसी ? दूसरे उनके श्रीगुरुदेवजी ने जो पाठ श्रीसम्प्रदायदिक्प्रदर्शन में उद्धृत किये है, उससे स्पष्ट है, कि उनको भी 'अर्थप्रकाशिकाटीका' वाली तथा ऐसी ही प्रतियाँ प्राप्त तथा मान्य थी। क्योंकि श्रीसम्प्रदाय दिक्प्रदर्शन में श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर के जितने भी श्लोक उद्धृत हुए हैं, वे सब के सब अर्थप्रकाशिकाटीकावाली प्रति के पाठ के ही समान है, इसके अतिरिक्त अर्थप्रकाशिकाटीका भी कई स्थानों में प्रमाण–स्वरूप उद्धृत हुई है। इससे सर्वप्रकारेण सिद्ध है, कि आपके गुरुदेवजी को अर्थ–प्रकाशिका और इसी के समान पाठ वाली प्रतियाँ ही प्राप्त तथा मान्य थी। यही कारण है, कि उन्होंने उसी के पाठ के समाम ही पाठ श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्रदर्शन, में उद्धृत किया है, परन्तु 'प्रकाश' में जितने भी पाठ–परिवर्तित हुए है, सारे के सारे अन्य प्रतियों तथा 'श्रीसम्प्रदया-

दिक्प्रदर्शन' के पाठों से भी भिन्न हैं जैसा कि बहुत कुछ ऊपर दिखाया जा चुका है

उपर्युक्त दूसरे उपविभाग मे यद्यपि आप के गुरुदेवजी के पाठों से आपके 'प्रकाश' के पाठों की भिन्नता भलीभाँति दिखलायी जा चुकी है, परन्तु उसमें मुख्यरूप से उन्ही प्रमाणिक श्लोकों की उपस्थिति की गयी है, जो कि श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा से अभिन्न होने का सम्बन्ध रखनेवाले थे, अतः 'प्रकाश' में वे इष्टसिद्धि की गरज से ही परिवर्तित हुए हैं। अब इस उपविभाग में उन पाठों का मिलान करेंगे, जो किसी मतलब से तो नहीं, बल्कि केवल पाठभेद के लिये ही अदले बदले गये हैं। यद्यपि कुछ ऐसे उदाहरण भी दूसरे उपविभाग में उद्धृत हो चुके है, परन्तु यहाँ कुछ ऐसे उदाहरणों का खास दिग्दर्शन कराया जायगा।

'श्रीसम्प्रदायदिक्प्रदर्शन' के पृष्ट ५ में श्रीवैष्णवमताब्ज-भास्कर का एक श्लोक इस प्रकार प्रमाण-स्वरूप उद्धृत हुआ है:—

(१) 'तथोर्ध्वपुण्ड्रं सुमृदा विधाय रामादिदासान्तमथो समुच्चरेत्"

किन्तु प्रकाश पृष्ठ ११९ में इसका पाठ इस प्रकार बनाया गया है:—

'तथोर्ध्वपुण्ड्रं सुमृदा विधायवै रामादिदास्यान्तमथो समुच्चरेत्"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है, कि इसमें आपके गुरुदेवजी का लिखा पाठ तो "विधाय" और 'दासान्तमथो' हैं, परन्तु आपने उससे भिन्न 'विधायवै' और 'दास्यान्तमथो' पाठ बनाया है।

इसी प्रकार पुनः आप के श्रीगुरुदेवजी ने 'श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्रदर्शन' के पृष्ट ६ में श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर के श्लोक इस प्रकार उद्धृत किये है:—

(२) "सा तैलधारासमनित्यसंस्मृतिसन्तानरूपेशि परानुरक्तिः(६४)

(३) "एकादशीत्यादि महाव्रतानि कुर्याद्विधेयानि हरिप्रियाणि"६६

किन्तु इन्हीं श्लोकों का पाठ 'प्रकाश' के पृष्ठ १२३ और १२७ में क्रमशः इस प्रकार बनाया गया है:—

"सा तैलधारासमसंस्मृति प्र-सन्तान रूपेशि परानुरक्तिः"

"एकादशीत्यादि महाव्रतानि च कुर्याद्विधेयानि हरिप्रियाण्यथ"

इससे भी स्पष्ट है, कि आपके श्रीगुरुदेवजी का पाठशब्द जो 'नित्यसंस्मृति' है, उसका 'संस्मृति प्र' 'महाव्रतानि' का 'महाव्रतानिच' और 'हरि-प्रियाणि' को 'हरिप्रियाण्यथ' पाठ आपने बदल दिया है, फिर भी दावा है,

कि पाठभेद होनेपर श्रीगुरुदत्तपुस्तक के आधार पर ही पाठ रखा है।

पुनः आप के श्रीगुरुदेवजी ने 'श्रीसम्प्रदाय-दिक्प्रदर्शन' के पृष्ट ८ में श्रीवैष्णवमताब्ज-भास्कर के श्लोकों को इस प्रकार उद्धृत किया है:-

(४) स्वीयप्रवृत्तेस्तु निवृत्तिरिष्ठो न्यासोऽथवेद्याऽपिविचक्षणैर्बुधैः

(५) "सर्वेप्रपत्तेरधिकारिणः सदा शक्ता अशक्ता आपि नित्यरंगिणः। अपेक्ष्यते तत्र कुलंबलं च नो न चापि कालो नहि शुद्धताच (७७)

किन्तु आपने अपने 'प्रकाश' के पृष्ठ १५८ और १५९ में इन्हीं श्लोकों का पाठ क्रमशः इस प्रकार बनाया है:--

"स्वीयप्रवृत्तं स्तु निवृत्तिरिष्टो न्यासोऽथ वेद्यापि बुधैःसदैव।"

"सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणो मताः शक्ताः अशक्ता पदयोर्जगत्प्रभो।

"नापेक्ष्यते तत्र कुलं बलं च नो न चापि कालो नहि शुद्धतापिवा॥

इससे भी स्पष्ट हुआ, कि आपके 'प्रकाश का पाठ आपके श्रीगुरुदेवजी के पाठ से भिन्न ही हैं। आपने अपने 'श्रीगुरुदेवजी' के पाठशब्द 'विचक्षणैर्बुधैः' का 'बुधैःसदैव', 'सदा' का 'मता', 'नित्य-रङ्गिणः' का पदयोर्जगत्प्रभो', 'अपेक्ष्यते' का 'नापेक्ष्यते', 'और 'शुद्धता च' का 'शुद्धतापि वा' बना डाला है। यहाँ 'रङ्गिणः' शब्द से 'श्रीरङ्गजी' का बोध होने के कारण भी इतनी फिक्र पड़ी है, कि 'अपि नित्य रङ्गिणः'' इन तीनों शब्दों को बदलना पड़ा है और उसकी जगह पर 'पदयोर्जगत्प्रभो' पाठ बनाया गया है। और शेष परिवर्तन तो केवल 'विषमवृत्त' को 'समवृत्त' बनाने की धुन और तुम्बाफेरी स्वभाव के कारण ही हुआ है फिरभीविचित्रता यह कि किसीके भी पाठान्तर का जिक्र न कर सबको सीधेही पचा लेने की चेष्टा कीगयीहै।मानों सभी प्रतियों में यही पाठहो।

अतः 'चोरी की चेष्टा और उसकी तैयारी' के दूसरे उपविभाग के ११ उदाहरणों तथा उपर्युक्त तीसरे उपविभागके५उदाहरणों से यहभलीभाँति प्रमाणित हो गयाहै, कि 'प्रकाश' में अर्थ-प्रकाशिका आदि प्रतियों से जो भिन्न पाठ हैं वे सबकेसब 'श्रीसम्प्रदायदिक्प्रदर्शन' के पाठोंसे भी उसी तरहभिन्न हैं। क्योंकि आपने श्रीगुरुदेवजी के पाठों के अनुसार पाठ रखने का झूठा बहाना कर केवल अपने मतलब के ही अनुसार अदल-बदल, काटछांट और ग्रहण त्याग किये है। अतएव सिद्ध है, कि श्रीगुरुदेवजी से श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर की प्रति पाने और उनसे

उसको अध्ययन करने की बात आपने सरासर मिथ्या ही लिख डाली है। जिस प्रकार पहले सात प्रतियों की प्राप्ति और उसके अनुसार सम्पादन-संशोधन में सहायता लेने की बात मिथ्या सिद्ध हो चुकी है,उसी प्रकार श्रीगुरुदेवजी से विलक्षण-प्रति प्राप्त करने का कथन भी कोरी जालसाजी ही है। हाँ, यदि इस असफलता से कोई दूसरे ही 'श्रीगुरुदेवजी' खोज निकाले गये, तो अलबत्तः। सम्भव है, अब आप अवश्यही इस समस्या के हल करने के लिये ऐसीही कोई चेष्टा कर दिखावेंगे।

अब 'चोरी की चेष्टा और तैयारी' के चौथे उपविभाग का विचार करना उचित है। इस उपविभाग में 'प्रकाश' की प्रस्तावना के निम्नलिखित कथनों की आलोचना की जायगी:-

'(४) इस सम्प्रदाय का मूलमन्त्र श्रीराममन्त्र, और श्रीरामजी ही परमोपास्यदेव होने से,प्रतिस्पर्द्धा करने वाले श्लोकों को अधिक और प्रक्षिप्त समझ कर छोड दिया और टिप्पणी में रख दिया है।"

उपरि-कथित तीनों उपविभागों और उनकी समालोचनाओं से इस चौथे उपविभाग के कथन का मि लान करने से स्पष्ट विदित हो जाता है, कि वस्तुतः उन तीनों उपविभागों में जिन कथनों की आलोचनायें हुई है, वे सब कथन नितान्त असत्य हैं। अर्थप्रकाशिका-टीका वाली, तथा पं० रामटहलदासजी द्वारा सम्पादित प्रतियों के के सिवा न तो कोई तीसरी प्रति भी आप के पास थी, और न आपको अपने श्रीगुरुदेवजी से ही कोई विलक्षण-प्रति मिली थीं अतः उसके सिवा अन्य प्रतियोंकी प्राप्ति तथा श्रीगुरुदत्तप्रति के अनुसार पाठ रखने, अदल-बदल, एवं ग्रहण-त्याग आदि करने की बात केवल धोखेबाजी है। सच्ची बात तो यह है, कि अर्थ-प्रकाशिका-टीका वाली प्रति से ही 'प्रकाश' का सारा 'क़ालिब' तैयार किया गया, और उसमें से उसकी अपनी 'रूह' निकाल कर बिरानी 'रूह' फूँक दी गयी—उसमें परकाय-प्रवेश कराकर उसका प्रथम-व्यक्ति ही रूप में परिचय दिया गया, अतः लोगों को भ्रम में डालकर अपनी इष्टसिद्धि की गयी है। इस भारी षडयन्त्र की सिद्धि के लिये उपर्युक्त अन्य पाँच प्रतियों तथा श्रीगुरुदत्त-प्रति की प्राप्ति के झूठे बहाने की ओट में काटछाँट, अदलबदल और ग्रहणत्याग आदि के रूप

में छिप छिप कर शिकार खेला गया है; किन्तु इस शिकारवाजी का जो मुख्य आधार था, वह तो इस चौथे उपविभाग वाले कथन के रूपमें खुल खेल रहा है; अर्थात न तो सात प्रतियों में सिवा दो के अन्य पाँच प्रतियों की ही प्राप्ति हुई है , न श्रीगुरुदत्त प्रति पाने की ही बात सच्ची है। यही कारण है, कि इन छः प्रतियों की प्राप्ति और इनके अनुसार पाठ-संशोधन करने की सारी बातें झूठी ठहरी। उन सारे पाठपरिवर्त्तन काटछाँट अदलबदल और ग्रहण-त्याग का आधार उपर्युक्त मन-मौजी सिद्धान्त ही है, जो कि 'चोरी की चेष्टा और तैयारी' के चौथे उपविभाग के रूप में यहाँ अङ्कित हुआ है। इसके अतिरिक्त इस बात से भी इसकी पुष्टि होती है कि यदि आप को सचमुच 'श्रीगुरुदत्त प्रति' मिली होती और उसी के अनुसार ही आप पाठों के ग्रहण-त्याग अदल-बदल,काटछाँट और निश्चितीकरण किये होते,जैसा कि आपने कहा ही है, तो फिर इस चौथे उपविभाग वाले कथन को गुञ्जाइश ही कहाँ है ? यदि गुरुदत्त प्रतिके अनुसार ही आप पाठ रखे होते, तो फिर इस चौथे उपविभागके सिद्धान्तानुसार पाठोंमें ग्रहण त्यागादि करनेकी बात ही कैसी ? यहाँ पर स्वतः प्रश्न खड़ा होता है, कि ग्रहण-त्याग अदल-बदल' एवं काटछाँट पूर्वक पाठों का निश्चय, 'गुरुदत्तप्रति' के अनुसार हुआ है, या उपर्युक्त चौथे उपविभाग, में उद्धृत अनर्गल-सिद्धान्त के आधार पर ही ? पूर्वोक्त दूसरे और तीसरे उपविभागों से तो स्पष्ट हो ही गया है, कि न तो आपको 'गुरुदत्तप्रति' मिली थी, न आपने गुरुजी के पाठों के समान अपने 'प्रकाश' में पाठ ही रखा है, बल्कि उनके पाठों से विपरीत ही रखा है। उनके उद्धृत पाठ तो ठीक अर्थ-प्रकाशिका वाली प्रतिके पाठ के ही समानहै। इसके अलावे सात प्रतियों में से पाँच प्रतियों की प्राप्ति की बातें भी असत्य सिद्ध हो ही चुकी है। अतः सिद्ध है कि अर्थ-प्रकाशिका-टीका वाली प्रतिके ही पाठों में, उपर्युक्त चौथे उपविभागके मनमौजी--सिद्धान्तकी बहक के अनुसार जैसे जीमें आया, पाठों काअदलबदल, काटछाँटएवं ग्रहणत्याग कर ग्रन्थ तैयार कर डालागया है। और इस दूषित-सत्यको छिपाने के लिये ही सात प्रतियों की प्राप्ति औरउससेसम्पादन में सहायतालेने,तथाइसके अतिरिक्तश्रीगुरुदत्त प्रति की भी प्राप्ति होनेऔर उसके अनुसारही पाठ रखने के झूठे बहाने किये गये हैं।

अतः अब इस चौथे उपविभाग के सिद्धान्त और उसके अनुसार किये हुए कर्त्तव्य के औचित्य पर भी ध्यान दिया जाय। इसमें यही विचार करना है, कि इस सम्प्रदाय का मूलमन्त्र श्रीराममन्त्र और श्रीरामजी ही परमोपास्यदेव होनेसे क्या अन्य भगवन्नामों और उनकी महता के आने से उसको प्रतिस्पर्द्धी कहकर इसी सिद्धान्त के अनुसार उसका मनमाना काटछाँट अदलबदल और ग्रहणत्याग कर कुछका कुछ बनाना उचित है ?

पहले प्रतिस्पर्द्धा की बात को ही लीजिये। यह सभी भागवत-सम्प्रदायों का मत और तदनुकूल आचार-व्यवहार भी है कि सभी भगवन्नाम रूपों में अभेद मानकर सभी भगवन्नामों एवं अवतारादिकों का नाम कीर्तन और चरित्र-गान करते और जयन्त्यादि उत्सवादिक मनाते है। यहाँ तक कि सभी भगन्नामों एवं रूपों में भेद-भाव मानने को भगवतापराध भी कहते है, फिर 'प्रतिस्पर्द्धी' मानना तो और भी स्वतःसिद्ध महापराध है। शास्त्रों में तो यहाँ तक बताया गया है कि वैष्णवों को सभी भगवन्मन्त्रों को लेना चाहिये तब तो वृद्धहारित के चतुर्थाध्याय में लिखा है:

अष्टाक्षरं द्वादशार्णं षडर्क्षीं वैष्णवीं तथा।
रामकृष्णनृसिंहाख्यान् मन्त्राँस्तस्मै निवेदयेत॥

अर्थात्—आचार्य, अष्टाक्षर द्वादशाक्षर विष्णु-षडक्षर राम कृष्ण और नृसिंह इन सभी मन्त्रों का उपदेश उसको (शिष्य को) करें।

ऐसा ही साम्प्रदायिक ग्रन्थों और वर्तमान उदाहरणों से भी स्पष्ट होता है। श्रीरामानुजस्वामीजी की जीवनी 'यतिराज वैभवम्' में श्रीरामानुजस्वामीजी के दीक्षा-प्रसङ्ग में लिखा है:—

"सशङ्खचक्राङ्कनपुण्ड्रयागमन्त्राँस्तदर्थैरपिमन्त्ररत्नम्।
अन्यांश्च तत्रोपदिदेश मन्त्रान्रामानुजाचार्यवराय तस्मै॥४५॥

अर्थात्—(महापूर्णस्वामीने) श्रीरामानुजस्वामी के बाहु-युगल में शङ्ख चक्र अङ्कित किये। फिर ललाट पर उर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगाया। पुनः याग-संस्कार किया और मन्त्ररत्न तथा अन्य अनेक मन्त्रों को अर्थ सहित उपदेश किये।

यही कारण है, कि यदि एकही समय में नही तो, जैसे जैसे उसे अधिकारी समझते हैं, समय समय पर अन्य भगवन्मन्त्रों का भी उपदेश करते हैं। यदि कई भगवन्मन्त्रों के लेने की विधि अन्य भागवत-

उन्होंने विभिन्न नाम रूपों से विशेष नाम रूप को सम्बोधित कर अपनी अभेद मान्यता का स्थान स्थान पर परिचय भी दिया है। श्रीवैष्णव-मताब्ज–भास्कर में ही श्रीरामजी के लिये कई स्थानों में ऐसे अभिन्नता सूचक शब्दोंका प्रयोग हुआ है यथा "श्रीमाँतस्मैं रमेश" "रमार्चिते संरमतां भवेभवे" "रथाङ्गपाणेः शृणुयान्निरन्तरं" इत्यादि। इसी प्रकार आचार्यों के अन्य ग्रन्थों में भी देखने में आता है। यदि इसे कोई 'प्रतिस्पर्धी' समझकर उन सबों को निकाल बाहर कर उसकी जगह मनमानी अनुकूल रचना करने लगे, तो सारा ग्रन्थ कुछ का कुछ होकर नष्ट भ्रष्ट हो जाय। यदि पहले से ऐसे ऐसे महानुभाव अवतार लिये होते और इनके हाथों उन ग्रन्थों का सम्पादन संशोधन हुआ होता तो आज कुछ दूसरी ही लीलायें दिखाई पड़ती कुछ साम्प्रदायिक या अन्य ग्रन्थों में जो ऐसी भेदभाव तारतम्य एवं इर्ष्याद्वेष मूलक रचनायें देखने में आती भी है, वे सम्भवतः ऐसी ही महापुरुषों की कीर्तियां होगी, जिसके चलते आज आचार्यों के सिर कलङ्क मढ़ा जाता है, एक दल दूसरे से लडते है, निन्दा करते हैं और अन्ततः अपना सर्वस्व बिगाड बिगाड़ कर भी एक दूसरे को नीचा दिखाने की चेष्टामें विविध षडयन्त्र रचकर संसार को धोखा दे रहे हैं, जनता का सर्वनाश करते हैं,इतिहास कलङ्कित करते हैं।

श्रीभगवद्दासजी ने भी अपने 'प्रकाश'नामक श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर के सम्पादन संशोधन में ठीक ऐसीही कीर्तियां कर डाली हैं जिनको दूषित नीयत का परिचय उपरि उद्धृत 'चोरी की चेष्टा और तैयारी' के चतुर्थ उपविभाग वाले सिद्धान्त-निर्माण से ही भली भांति सिद्ध हो रहा है।आपने उसी सिद्धान्त के अनुसार श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर में जहां जहां भी श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा से अन्य अन्य भगवन्नामों एवं रूपो में अभिन्नता और महत्त्व सूचन करने वाले श्लोक या शब्द आये है, सभी को हटाकर उसकी जगह पर मनमानी रचना घुसेड़ दी है; इन रचनाओं की सूची और उनके औचित्य पर आगे प्रकाश डाला जायगा, किन्तु इनके पहले यहाँ यह दिखा कर स्पष्ट करदें, कि श्रीभगवद्दासजी ने ही जिन जिन महापुरुषों, एवं महात्माओं को अपनी आचार्य्य परम्परा या सम्प्रदाय में गिनाया है, उन्हीं उन्हीं की रचनाओं में सभी भगवन्नामों रूपों

एवं लीलाओं में कितनी श्रद्धा भक्ति एवम् अभिन्न-भाव दिखलाये गये हैं। यदि उन ग्रंथो का भी आप के हाथों सम्पादन होने का अवसर आजाय, तो सम्भवतः उनकी भी आप उसी प्रकार दुर्दशा कर डालें। 'श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर' में जिन साधारण सी बातों को आपने 'प्रतिस्पर्द्धी' समझकर निकालने, और उसकी जगह दूसरी मनमान रचना घुसेड़ने का दुस्साहस किया है, इस नियमानुसार उससे कही बढ़ कर 'प्रतिस्पर्द्धी' आपको अपनी नूतन परम्परा के आचार्यों की रचनाओं एवं कथनों में दिखाई पड़ेगी। अतः इसे 'प्रतिस्पर्द्धी' समझना और उसको निकाल डालना आपकी भारी भूल ही तो है, अनधिकार चेष्टा ही तो है। अब आप देखिए कि आप जिन जिन महापुरुषों एवं महात्माओं को अपनी नूतन परम्परा के आचार्यों एवं महात्माओं में गिनाया है, उनकी ही रचनाओं या कथनों में आपके उपर्युक्त सिद्धान्त के विरुद्ध सभी भगवन्नामों रूपों एवं लीलाओं में कैसी अभिन्नता एवं श्रद्धा भक्ति का भाव पाया जाता है। यदि आप के द्वारा इन ग्रन्थों का भी संशोधन सम्पादन शुरू हो, तो इस नियम से तो उसे निकाल कर आप अवश्य ही अपने सिद्धान्तानुकूल रचना सम्मिलित करेंगे। इससे तो बलात् यही कहना पड़ता है, कि पूर्वाचार्यों, महर्षियों एवं महात्माओं ने जो लिखा है, उसको आप मानना नही चाहते, बल्कि आप जो मानते है, उसको उन सबों से, मनवाने के प्रयत्न मे चेष्टा करते है अर्थात आप उनका अनुयायी न होकर उनको तथा वर्तमान श्रीरामानन्दीयवैष्णवों को अनुयायी बनाने की फिक्र में दिन रात व्यस्त है। अब इसका कुछ उदाहरण लीजिये जिससे इस बात का भले प्रकार स्पष्टीकरण हो जाय यद्यपि मेरी इच्छा तो यह थी, कि इसका विशेष रूपेण उदाहरण एवं स्पष्टीकरण-उपस्थित करूँ, किन्तु क्रमशः आलोचना का कलेवर बहुत ही बढ़ता जा रहा है, क्योंकि इसके एक एक विषय स्वतन्त्र एक एक ग्रन्थ की आवश्यकता रखते हैं, अतः यहाँ उसकी समाई न देख कर इसका परिचय संक्षेप में ही करा देना उचित समझते है।

सबसे पहले श्रीब्रह्माजी की उपासना पर ही दृष्टि डाली जाय। श्री भगवद्दासजीने श्रीब्रह्माजी को अपने उस सम्प्रदाय और श्रीरामोसपासना का परमाचार्य माना है, जिसमें अन्य भगवन्नामों एवं रूपों से सर्वथा

असहयोग रखा जाना सिद्धान्त किया हुआ है। इसी सिद्धान्त मानने के कारण आपने श्रीरामनन्दस्वामीजीकृत 'श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर' से अन्य भगवन्नामों एवं रूपों की महत्ताओं एवं उनमें श्रद्धा भक्ति व्यक्त करनेवाले श्लोकों में काटछाँट अदल बदल एवं ग्रहण त्याग किया है। श्रीब्रह्माजीकी उपासना पर विचार करने के लिये सबसे उत्तम मार्ग यही है कि उन्हीं (श्रीब्रह्माजी) के द्वारा उनकी उपासना का जहाँ कथन हुआ हो, उसे ही उदाहरण रूप से लिया जाय। मैं समझता हूँ कि इसके लिये 'बृहद्ब्रह्म-संहिता' ही सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ होगा क्योंकि श्रीब्रह्माजीने इसमें अपनी उपासना का ही विशदरूप से वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त यह ग्रन्थ पञ्चरात्र की संहिताओं के अन्तर्गत है, अतः श्रीवैष्णवों के लिये यह परम प्रामाण एवं मान्य भी है। और यह श्रीभगवद्दासजी को भी स्वीकृत है।

सबसे पहले इसमें श्रीब्रह्माजी के प्रति ऋषियों का प्रश्न ही यह है, कि 'त्वं कर्त्ता सर्वलोकानां किं जपन्निह तिष्ठसि। किमिदं धार्यते रूपं किमिदं मौनमाश्रितम्" (१—६) अर्थात् "आप सभी लोगों के कर्त्ता हैं, फिर यहाँ क्या जपते हुए बैठे हैं और यह कौनसा रूप धारण किये हैं एवं मौनावलम्बन क्यों किये हुए हैं।"

इसके उत्तर में ब्रह्माजी ने "श्रिया च भूम्या ननु लीलया च समग्रयाऽऽराधितपादपद्मः। ऐश्वर्यविद्यायतशौर्यसौभगप्रागल्भ्यकारुण्य दयानिकेतः" (१-१५) आदि श्लोकोंद्वारा अपने उपास्यदेव आदि का साधारण परिचय देते हुए अपनी दीक्षा शिक्षा एवं उपासना-रहस्य ज्ञान आदि की प्राप्ति का पूर्ण रूपेण वर्णन शुरू किया है। यथाः—

अनुसन्धानसिद्ध्यर्थं दासवेषो मया धृतः।
द्विपरार्धावसानेऽपि मन्ये क्षणमिवायुषम् ॥ २८ ॥
संस्कृतोऽहं समुत्पाद्य विष्णुना प्रभविष्णुना।
अधीतवेदोऽपि पुरा मन्त्रराजार्थसिद्धये ॥ २९ ॥
चिन्तामकरवं भूयस्तदाज्ञापालन रतः।
स्मरणादेव संप्राप्तो वैकुण्ठाद्रमया सह ॥ ४५ ॥
पीतवासा चतुर्बाहुः श्रीवत्सहृदयो हरिः।
धृतातपत्रव्यजनो दिव्यवैकुण्ठपार्षदैः ॥ ४६ ॥
जयशब्दैर्नमः शब्दैर्विष्वक्सेनादिभिर्नुतः।

तदाऽहं प्रणतस्तस्मै कृतातिथ्याय निष्णवे ॥ ४७ ॥
निज्ञापयामास वचो बद्धाञ्जलिपुटः पुरः ।
भवत्संप्राप्तये देव ! परमैकान्तलक्षणम् ॥ ४८ ॥
देहि मे दयया धर्मं त्वयैव प्रतिबोधितम् ।
इति श्रुत्वा रमां वीक्ष्य विहस्य च परस्परम् ॥ ४९ ॥
तूष्णीं बभूवतुस्तौ दम्पती पितरौ प्रभू ।
अपृच्छमादिपुरुषौ विश्वयोनी सनातनौ ॥ ५० ॥
वचः श्रुत्वा जहसतुर्मामेवं साम्प्रतं च किम् ॥
श्रीनारायण उवाच—
उपदिष्टा प्रियापूर्वं मया कमल-सम्भव ॥ ५१ ॥
तदहं तेभिधास्यामि रहस्यं मे गृहाण तत् ।
एकदा शेषपर्यङ्के निविष्टा रमयानया ॥ ५२ ॥

अर्थात—ब्रह्माजी ने बताया, कि अनुसन्धान की सिद्धि के लिये मैंने इस दासवेष को धारण किया है। जिससे दो परार्ध के बीत जाने पर भी मैं उसे अपनी क्षणभर की आयु जानता हूँ। उत्पादनशील विष्णुभगवान् ने पूर्व समय में मुझे उत्पन्न कर वेद पढ़ाने पर भी मन्त्रराज की सिद्धि के लिये उन्होंने मेरा संस्कार किया। उनके आज्ञा पालन में तल्लीन होकर पुनः मैंने उनकी चिन्ता की, तो स्मरण करतेही वैकुण्ठ से लक्ष्मीजी के साथ पीताम्बर पहिरे हृदय में श्रीवत्स धारण किये हुए चतुर्बाहु भगवान् यहाँ प्राप्त हो गये। वैकुण्ठ के दिव्यपार्षद पंखादि धारण किये हुए थे, विष्वक्सेनादि नमः शब्द जय शब्द का घोष कर रहे थे। मैंने उनको प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहा कि हे देव आप कृपा करके अपने उस धर्म का मुझे बोध कराइये। यह सुनकर वे लक्ष्मी जी का ओर देखकर परस्पर हँसे।

श्रीनारायण ने कहा कि हे ब्रह्मा, एक समय मैं पूर्वकाल में शेष शय्या के ऊपर लक्ष्मी जी के साथ विराजमान था तो मैंने प्रिया को (लक्ष्मी जी को) इसका उपदेश किया था, उसी रहस्य को मैं तुमसे कहूँगा। तुम उसको ग्रहण करो।

इसके बाद श्रीजी ने उनसे क्या क्या पूछा और उन्होंने उत्तर में क्या क्या उपदेश किया, यह बतलाते हुए ब्रह्मा जी को श्रीमन्नारायण ने क्या

उपदेश किया, इस सभी बातों का इसमें वर्णन हुआ है। इन कथोपकथनों में श्रीवैष्णवधर्म के सभी अङ्गों का पूर्णरूपेण विवेचन हुआ है। श्रीब्रह्माजीने श्रीनारायण के साथ हुए अपने सारे कथोपकथनों को सुनकर पुनः इससे सम्बन्ध रखनेवाले, ऋषियों के सारे प्रश्नों का उत्तर देकर ग्रन्थ समाप्त किया है। इन कथोपकथनों के देखने से स्पष्ट विदित होता है कि श्रीब्रह्माजी ने सभी भगवन्नामों मन्त्रों एवं रूपों में अभेद भाव की ही दीक्षा-शिक्षा पायी थी और ऐसी ही उपासना भी करते थे, यही कारण है, कि ग्रन्थों में प्रसङ्गानुसार कहीं किसी भगवन्नाम एवं रूप में श्रद्धा भक्ति का वर्णन मिलता है, तो कहीं किसी का और कहीं कई कई का भी। उन सबों का रहस्य इसमें अच्छी तरह वर्णित हो गया है कि उन्होंने, सभी भगवन्मन्त्रों की अभेदभाव की ही दीक्षा पायी थी, और अभेदभावेन उपासना भी की है। इस प्रसङ्ग के देखने से तो साधारण तौर पर यही झलकता हैं कि उन्होंने लक्ष्मी–नारायण की उपासना की ही शिक्षा-दीक्षा पायी थी, परन्तु नारायण ने त्रिविध-प्रसङ्ग में श्रीब्रह्माजी को सभी भगवन्नामो मन्त्रों और रूपों की दीक्षा शिक्षा देकर सबों में अभेदभाव की ही उपासना बतायी थी यह स्पष्ट वर्णित है। और बात भी ऐसी ही है। उदाहरण के तौर पर श्रीराम-नारायण को ही लेंलें, तो दोनों में कोई भेद नहीं है अर्थ भी एक ही है, शब्दों की बनावट में भी एकता ही है, केवल उच्चरित ध्वनिमात्र में भेद है। यद्यपि शब्द की भिन्नता रहने पर भी अर्थ (वाच्य) की एकता होने से वह अभेद ही माना जाता है अतः राम–नारायण में एकवाच्यता रहने से दोनों में अभिन्नता है ही, इसके अतिरिक्त शब्द की वनावट में भी समानता है, अतः और भी अभिन्नता की पुष्टि एवं समर्थन होता है। नारायण मे जो क्रमशः नार एवं 'अयन' शब्द पड़ा है, वही राम मे क्रमशः 'र' और 'आम' है, अतएव विद्वान् लोग इन दोनो में अर्थ एवं शब्द–रचना की दृष्टि से भी एकान्त–अभिन्नता मानते हैं। इसका विशेषस्पष्टीकरण श्रीवैष्णव–मताब्ज–भास्कर के ११ वें श्लोक की अर्थप्रकाशिका टीका में देखना चाहिए। इन सब कारणों से भली भांति स्पष्ट है, कि राम–नारायण मे एकान्त-अभेद है।

इसके अतिरिक्त इसमें भिन्न भिन्न भगवन्मन्त्रों एवं उपासना-

महत्त्वों के वर्णन से भी अभेद-भाव की ही पुष्टि की गयी है। यथा इसके (बृहद्ब्रह्म-संहिता के) द्वितीय पाद के ५ वे अध्याय में श्रीकृष्णोपासना एवं उनके मन्त्रों के विधि-महत्त्वादिका वर्णन करते हुये कहा गया है—

पूजनं मन्त्रराज च द्वयं च शरणागतिम् ॥ ४ ॥
रहस्यानां रहस्यं च गुह्यानां गुह्यमुत्तमम् ।
मन्त्रचिन्तामणिर्नाम सांनिध्यं मे प्रयच्छति ॥ ५ ॥
एषा पञ्चपदी विद्या द्वयमित्यभिधीयते ।
उभाभ्यां मन्त्रराजाभ्यां जायते प्राणवल्लभे ॥ ६ ॥
नमो गोपीजनेत्युक्त्वा वल्लभाय वदेत्ततः ।
द्विपदो दशवर्णोऽयं विद्यायाः खण्ड उच्यते ॥ ७ ॥

×× ×× ××

एतां पञ्चपदीं विद्यां श्रद्धया धारयेत्तु यः ॥
कृष्णप्रियावृन्दमध्ये गच्छत्येष न संशयः ॥१०॥
अहं नारायणः कृष्णो ब्रह्माण्डायुतनायकः ।
सर्वस्य कारणं लीला सा मय्येव कृताश्रया ॥ ५३ ॥

इसी प्रकार इसके द्वितीय पाद के ७ वें अध्याय में श्रीराममन्त्रराज के वर्णन-प्रसङ्ग में कहा है:—

एवं चतुर्विधा देवि ! ममपुर्यो भवन्ति हि ।
माथुरे मथुरा पुण्या तत्र वृन्दावनं वनम् ॥ १ ॥
अयोध्या कोशले देशे सरयूपुलिने स्थिता ।
यत्र राजीवपत्राक्षो रामो दशरथात्मजः ॥ २ ॥
परमात्मा समभवं जानकीरूपया त्वया ।
तयोर्लीलानुसन्धानान्मुक्तिर्भवति सद्गतिः ॥ ३ ॥
रामोऽङन्तो वह्निपूर्वो नमोऽन्तः स्यात्षडक्षरः ।
तारको मन्त्रराजोऽयं संसारविनिवर्त्तकः ॥ ५ ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भूतले··· ॥ ९ ॥
···धर्मसंस्थापनार्थाय जातोऽहं रामसंज्ञया ॥ १० ॥

इससे भलीभाँति स्पष्ट है, कि इसमें ब्रह्माजीने श्रीरामनारायण एवं कृष्णजी को बिलकुल अभेद भाव से ही उपासना-वर्णन किया है। इतना ही नहीं, इसी ग्रन्थ के तृतीयपाद के सातवें अध्यायादि

में नित्य-कर्मादि के व्यवहार में प्रायः सभी भगवन्मंत्रों का प्रयोग बतांया गया है। इससे सिद्ध है, कि श्रीभगवद्दासजी ने जो भगवदुपासना में भेद भाव का सिद्धान्त माना है, वह शास्त्र और उनके अपने माने हुए आचार्य प्रवर श्रीब्रह्माजी के कथन और उपासना सिद्धान्त से भी विरुद्ध है, अतः वह मनमानी अमान्य और अनर्गल है।

नूतन परम्परा में श्री ब्रह्माजी के बाद के आचार्यों में श्रीवशिष्ठजी की गणना की गयी है, अतः अब इनके सम्बन्ध में भी एक नजर डाल लेनी चाहिये। पद्मपुराण का उत्तर-खण्ड वैष्णवों के लिये परम प्रमाणिक और मान्य ग्रन्थ है, क्योंकि इसमे वैष्णव धर्म का ही पूरा वर्णन किया गया है, इसके २२३ वें अध्याय में श्रीवशिष्ठजी ने इसी बात का वर्णन किया है, अतः उनके सम्बन्ध में विचार करने के लिये यही सबसे उत्तम प्रमाण हो सकता है। अत एव इसी की उपस्थिति-करना समुचि होगा।

यहाँ यह प्रसङ्ग इस प्रकार आया है, कि एकबार राजा दिलीप ने वशिष्ठ ऋषि से अन्य धर्म-कर्मादिके साथ २ सनातन-मोक्ष-धर्म के विषय में भी सुनने की इच्छा प्रकट की। वशिष्ठजी ने इस प्रश्न के लिये राजा को धन्यवाद देते हुए इस प्रकार उत्तर प्रसङ्ग उपस्थित किया, कि यही प्रश्न एक बार महर्षियों ने नारदजी से पूछा था उनसे नारदजीने बतलाया, कि यही प्रश्न सनकादिक योगियों ने ब्रह्माजी से पूछा था। ब्रह्माजी ने उनसे कहा, कि मैने लक्ष्मी-नारायण की पूर्वकाल में सम्यक् पूजा-की थी जिससे वे प्रसन्न हुए। मैने सहजही परम पद देने वाले मन्त्रों को जानने की उनसे जिज्ञासा की, तो उन्होंने इस प्रकार मुझको विधिवत् द्वयमंत्र शरणागतिमंत्र, मन्त्ररत्न, दीक्षाविधि, शंख चक्रादि दे उन के धारणादि की भी विधि बतायी। यथा:—

सर्वेषामेव मन्त्राणां मन्त्ररत्नं शुभावहम्।
सकृत्स्मरणमात्रेण ददाति परमं पदम्॥ २२॥
मन्त्ररत्नं द्वयं न्यासं प्रपत्तिः शरणागतिः।
लक्ष्मीनारायणमिति मन्त्रः सर्वफलप्रदः॥ २३॥ इत्यादि

इन सबों को सुनाकर अन्तमें श्रीवशिष्ठजी ने राजा से कहा है—

तस्मात्त्वमपि राजर्षे! विष्णुसायुज्यमिच्छसि।

दीक्षामार्गविधानेन धारयित्वा सुदर्शनम् ॥ ७२ ॥
नारायणपदद्वन्द्वं तदेकं शरणं व्रज ।
सर्वलोकेश्वरः साक्षाद् ब्रह्मा त्रिभुवनेश्वरः ॥ ७३ ॥
ममापि नारदस्यापि प्रोक्तवान्मन्त्रमुत्तमम् ।
शौनकादिमहर्षीणां नैमिषारण्यवासिनाम् ॥ ७४ ॥
नारदः प्रददौ मन्त्रं प्रपत्तिशरणागतिम् ।
एतद्गुह्यतमं राजन्न जानन्ति महर्षयः ॥ ७५ ॥
देवताश्च न जानन्ति सिद्धाः साध्याश्च दानवाः ।
मयापि प्रापितो मन्त्रं शक्ति पुत्रः पराशरः ॥ ७६ ॥
इन्दं रहस्यं परमं लक्ष्मीनारायणं द्वयम् ।
राजंस्तवापि वक्ष्यामि प्रपत्तिशरणागतिम् ॥७७॥
द्वयात्परतरं मन्त्रं नास्ति सत्यं ब्रवीमि ते ।
आस्मात्परतरं धर्मं नास्ति लोकेषु किंचन ॥ ७८ ॥
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं ब्रह्मणा कथितं पुरा ।
नारायणात्परो देवो नास्तिमुक्तिप्रदा नृणाम् ॥ ७९ ॥
तत्सेवैव भवेन्मोक्षः सर्वकर्म निकृन्तनः ॥ ८० ॥

इसके आगे के अध्यायों में इन्हीं मन्त्रों की विधि एवं उपासनादिक का विशेष रूप से वर्णन हुआ ह। इसके आगेके २२४ वें अध्याय में श्रीवशिष्ठजी ने राजा दिलीप के भक्तिभाव सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर में शिव-पार्वती का एतद्विषयक कथन का उत्थापन कर वर्णन शुरू किया है। उसमें कहा गया है, कि:—

तत्त्वं नारायणो विष्णुर्वासुदेवो सनातनः ।
परमात्मा परब्रह्म परज्योतिः परात्परः ॥ १५ ॥

इससे सिद्ध है, कि श्रीवशिष्ठजीने श्रीमन् नारायण का मन्त्र ग्रहण किया था। अन्य स्थानों में उनके श्रीराममंत्र लेने का भी वर्णन मिलता है, अतः वे राम, नारायण, विष्णु, वासुदेव आदि में 'सर्वशाखाप्रत्ययन्याय' से अभेदभाव रखकर ही एक परब्रह्मकी उपासना कर थे यही सकल श्रुति स्मृतिओं से सिद्ध है।

पुनः उस परम्परा में श्रीवशिष्ठजी के बाद श्रीपराशरजी का नाम आया है, अतः अब इनके सम्बन्ध में ही एक दृष्टि डालनी चाहिये। ऐसे

तो श्रीवशिठजी के सम्बन्ध में विचार करते समय पद्मपुराणके उत्तरखण्ड के उपरि-उद्धृत प्रमाणों से यह भी प्रमाणित हो ही गया है कि श्री पराशरजीने भी श्रीवशिष्ठजी से ही नारायण मन्त्र ही ग्रहण किया था, जैसा कि श्रीवशिष्ठजी ने कहा है, "मयापि प्रापितो मन्त्रं शक्तिपुत्रः पराशरः" (२२३।७६) फिर भी इनके सम्बन्ध में इनकी ही रचनाओं द्वारा विचार करना और भी उत्तम होगा. अतः इस दृष्टि से इनके द्वारा रचित 'विष्णुपुराण' से ही इस विषय पर प्रकाश डालाजा उचित होगा।

इस 'विष्णु पुराण' के प्रथम अंश के दूसरे अध्याय में श्रीपराशरजीने परब्रह्म का वर्णन करते हुए कहा है:—

"परः पराणां पुरुषः परमात्मात्मसंस्थितः ।
रूपवर्णादिनिर्देशो विशेषेण विवर्जितः ॥१०॥
सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ॥१२॥
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥
तद्ब्रह्म परमं नित्यमजमक्षयमव्ययम् ।
एकस्वरूपं च सदा हेयाभावाच्च निर्मलम् ॥१३॥"

पुनः इसके आगे तीसरे अध्याय में सृष्टि के सम्बन्ध में विचार उपस्थित करते हुए पराशरजी ने कहा है:—

"तन्निबोध यथा सर्गे भगवान्संप्रवर्तते ।
नारायणाख्यो भगवान्ब्रह्मा लोकपितामहः ।
उत्पन्नः प्रोच्यते विद्वन्नित्य एवोपचारतः ॥३॥"

पुनः इसके आगे नवें अध्याय में श्रीपराशरजी ने श्रीब्रह्माजी की स्तुति कर इस प्रकार वर्णन किया है:—

"नमामि सर्वं सर्वेशमनन्तमजमव्ययम् ।
लोकधामधराधारमप्रकाशमभेदिनम् ॥३९॥
नारायणमणीयांसमशेषाणामणीयसाम् ।
समस्तानां गरिष्ठञ्च भूतादीनांगरीयसाम्॥४०॥"

इसके बाद चौथे अंश के ११ वें अध्याय में पुनः यदुवंश के वर्णन प्रसङ्ग में श्रीपराशरजी ने कहा है:—

"यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
यत्रावतीर्णं विष्णवाख्यं परं ब्रह्म निराकृति ॥२॥"

पुनः इसी अंश के १३ वें अध्याय में श्रीपराशरजी ने श्रीकृष्णजी से संग्राम में श्रीजामवन्तजी के परास्त हो जाने पर श्रीजामवन्तजी के द्वारा इस प्रकार कहलाया है, 'भगवतोऽस्मतत्स्वामिनो नारायणस्य सकलजगत्परायणस्यांशेन भवता भावितमित्युक्तः ॥२८॥"

इन उदाहरणों से स्पष्ट विदित हो रहा है, कि श्रीपराशरजी ने परब्रह्म परमात्मा को विष्णु, वासुदेव, कृष्ण एव राम नारायणादि नाम से अभेद श्रद्धा भक्ति रखने के कारण ही वर्णन किया है। श्रीजामवन्तजी के कथन में श्रीरामजी के स्थान में 'नारायण' रख कर इसे अभेद भावना एवं श्रद्धा भक्ति का और भी उन्होंने परिचय दिया है।

पुनः उस परम्परा में श्रीपराशर जी के बाद श्रीव्यासजीका नाम आया है. अतः अब इस सम्बन्ध में भी एक सरसरी-नजर डाल लेनी चाहिये। श्रीव्यासजी के विषय में तो सभी सम्प्रदाय वालों का दावा है कि वे उनके सद्धान्तके अनुयायी आचार्य थे, क्योंकि उन्होंने पुराणादिकोंमें सभी मतकी अनुकूलतामें अपनी श्रद्धा भक्ति दिखाई है और उसका विशद-वर्णन किया है, किन्तु यदि उनके विषय में वैष्णवता की दृष्टि से ही विचार किया जाय, तो भी उनका सभी भगवन्नामों एवं रूपादिकों में अभेद भाव का ही परिचय मिलता है। यदि कथा-वर्णन की दृष्टि से लें तो सभी अवतारों एवं वैकुण्ठादिक की उन्होंने पूर्ण रूपेण कथा गायी है, उनमें श्रद्धा-भक्ति दिखाई है, अतः वह कहां तक दिखलाई जाय। यदि एक एक ग्रन्थ को भी लें, तो भी उनकी अभेद भावना की व्यापकता से उसकी सूचीमात्र भी नहीं दी जा सकती। इसलिये निपट थोड़ा सा संकेत मात्र उपस्थित कर देते हैं।

सब से पहले महाभारत की ही ओर ध्यान दीजिये। उसके मङ्गलाचरण में ही वे लिखते हैं:-

"नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्"

दूसरे यह पूरा ग्रन्थ ही मुख्य रूपेण कौरव पाण्डव के साथ श्री कृष्णजी के ही चरित्र और महत्त्व से भरा है। इसके अतिरिक्त वनपर्व में श्रीरामजी की पूरी कथा भी गायी गयी है, तो शान्ति पर्व के 'नारायणोपाख्यान' में नारायण का ही पूर्ण महत्त्व दिखलाया गया है। अतः

भली भांति स्पष्ट है कि सभी भगवन्नामों एवं रूपादिकों में आपकी अभेदभावना एवं पूर्ण रूपेण श्रद्धा भक्ति थी।

यदि इसके बाद 'श्रीमद्भागवत' को ले—क्योंकि यह उनके-विचारों की पूर्ण परिणति का अन्तिम ग्रन्थ माना गया है। इसी कारण श्रीनाभा जी ने लिखा भी है,'साधन-साध्य सत्रह पुराण,फल रूपी श्रीभागवत'—तो इसमे भी वही अभेद भावना एवं श्राद्धा–भक्ति प्रत्यक्ष हो ही रहे। जो राम, वही कृष्ण, वही नारायण, वही वासुदेव अर्थात् सब एक ही है, किसी में कोई न्यूनाधिक भाव नही सब समान है अभिन्न है। और सबों में आपने अभेद ही भावना एवं श्रद्धा-भक्ति दिखलाई है।

अच्छा तो यह होता, कि इस ग्रन्थ का यहा थोड़ा सा भी परिचय दे देता, परन्तु वह ग्रन्थ श्रीशुकदेवजी के द्वारा कथित हुआ है,और नूतन-परम्परा में श्रीव्यासजी के बाद इनका ही नाम है, अत; दो बार कथन के बाहुल्य-भय से यहाँ उसका परिचय न देकर आगे श्रीशुकदेव जी के प्रकरण में ही उसका विवेचन उपस्थित करना ठीक होगा।

अतः अब श्रीमद्भागवत् पर ही एक दृष्टि डालिये। आपका यह कथन है कि 'लेखक अपनी रचना में अपनी इष्ट का मङ्गलाचरण करते हैं" अतः श्रीशुकदेव जी ने श्रीमद्भागवत का जहाँ आरम्भ किया है, उस स्थल के मङ्गलाचरण को देखियेः—

"नम; परस्मै पुरुषाय भूयसे सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया,
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिनामन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने ॥१२॥
श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापति ः।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान्सतांपतिः॥२०॥

श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे चतुर्थे अध्याये।

इससे स्पष्ट है, कि श्रीशुकदेवजी ने परमपुरुष, विष्णु, आदि नामों से सम्बोधित करते हुए श्रीकृष्ण जी का ही अभिवादन कर कथारम्भ किया, अतः वे आपके ही नियमानुसार श्रीकृष्णोपासक ही सिद्ध हुए। यह ग्रन्थ तो कृष्ण चरित्र से ही पूर्ण है।

आगे चल कर इसी स्कन्ध के ५ वें एवं ६ ठे अध्याय में श्रीनारदजी के प्रश्न के उत्तर में श्रीब्रह्माजी ने कहा हैः—

"नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः ।
नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः ॥१५॥
नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः ।
तस्यापि द्रष्टुरीशस्य कूटस्थस्याखिलात्मनः ॥
सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहमीक्षयैवाभिचोदितः ॥१७॥" अ० ५

इस प्रकार परब्रह्म का नारायण नाम से कथन करते हुए श्रीब्रह्माजी ने अपने को उन्ही के द्वारा सृष्ट होकर जगत् रचना करने का वर्णन किया है। इससे स्पष्ट है, कि श्रीब्रह्माजी ने श्रीनारायण को परब्रह्म कहा है।

ठीक इसी प्रकार वर्णन श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के ३ रे अध्याय में भी आया है, केवल नारायण के स्थान में वहाँ वासुदेव शब्द का प्रयोग हुआ है, प्रायः इतना ही अन्तर है। यथाः—

"वासुदेवपरा वेदा. वासुदेवपरा मखाः ।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥२८॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः ॥
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥२९॥

इससे स्पष्ट हुआ कि नारायण, वासुदेव में केवल शब्द मात्र का भेद है, तत्त्वतः कोई भी भेद नहीं है।

पुनः श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के छठे अध्याय में श्रीब्रह्माजी ने कहा है:—

"नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम् ।
गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः ॥ ३० ॥
सृजामि तन्नियुक्तो हि हरो हरति तद्वशः ।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक् ॥ ३१ ॥
यस्यावतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः ।
न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः ॥ ४७ ॥
स एष आद्यपुरुषः कल्पेकल्पे सृजत्यजः....॥ ३८ ॥

पुनः दशमस्कन्ध के १४ वे अध्याय में श्रीब्रह्माजी ने श्रीकृष्ण जी की स्तुति करते हुए कहा है:—

नारायणस्त्वं नहि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी।
नारायणोऽङ्गं नरजलायनात्तच्चापि सत्यं नतवैव माया॥१४॥

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यं स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्त्रसुखोनिरञ्जनःपूर्णोऽद्वयोमुक्तउपाधितोऽमृतः
अहोभाग्यमहाभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्र परमानन्द पूर्ण ब्रह्मसनातनम् ॥ ३२ ॥

इससे स्पष्ट है, कि श्रीब्रह्माजीने श्रीवासुदेव, नारायण एवं कृष्णजी में अभेद मानकर हीउनकी स्तुतिकीहै, महत्ता गायी है, इसी तरह श्रीमद्भा० द्वि०स्क०७अ० मे श्रीरामजीके लियेभीब्रह्माजी का ऐसा ही कथन है यथाः– "अस्मत्प्रसादसुमुखः कलया कलेश इक्ष्वाकुवंशअवतीर्य्य गुरोर्निदेशे। तिष्ठन्वनंसदयितानुजआविवेशयस्मिन्निरुध्यदशमन्धरआर्त्तिमाप्छंत्' तथाश्रीवाल्मीकिरामायणयु०का०११७स०में"भवान्नारायणोदेवः···"इत्यादि। अतः श्रीब्रह्माजी वासुदेव नारायण,कृष्ण एवं रामजी आदि को अभेद मान कर ही उनके सभी नामों एवं मन्त्रोंद्वाराएकहीपरब्रह्म की उपासना किया करते हैं, इसी से भिन्न भिन्न स्थानों में जो भिन्न-भिन्न नाम रूप की उपासना एवं महत्त्वगानका वर्णनहै, वह अभेद दृष्टिसेही है। क्योंकि सकल चिदचिद्विशिष्ट– सकलचिदचिद्मे परिपूर्णतयाव्याप्त–एकपरब्रह्ममेतन्निरूपित भेदनहीरहसकता।

इसी प्रकार श्रीप्रह्लादजी की कथामें भी उनकी भावना में अभेद भाव का ही वर्णन मिलता हैायथा सप्तम स्कन्ध में श्रीप्रह्लादजीका कथन है:–

"श्रवणं कीर्तन विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥७॥५॥२३॥
मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा मिथोभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्त गोभिर्विशतां तमिस्रं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम।३०॥
ततो विदूरात्परिहृत्य दैत्या दैत्येषु सङ्गं विषयात्मकेषु।
उपेत नारायणमादिदेवं समुक्तसङ्गैरिषितोपवर्गः।७।६।१८।

इससे भी स्पष्ट है कि श्रीप्रह्लादजी विष्णु कृष्ण एवं नारायणादि में अभेद भाव से ही उपासना करते थे, नही तो कभी विष्णु कभी कृष्ण एवं कभी नारायण नाम से अपने आराध्य देव का कथन क्यो करते? इनकी श्रीरामभक्ति भी प्रसिद्ध ही है। अतः सिद्ध है, कि भिन्न स्थानों में भिन्न २ नाम रूपों का कथन अभेद-भाव की दृष्टिसे ही किया गया है। अतः ऐसा देखकर जो भेदभाव की कल्पना या सिद्धान्त निर्माण करते हैं उनका यह भ्रम के सिवा और क्या कहाजा सकता है।

इसी के बाद नूतन-परम्परा रूपी कन्थे की जोड़ लगी है, अर्थात् श्रीशुकदेवजी के साथ श्रीपुरुषोत्तमाचार्य जी का गुरु-शिष्य-सम्बन्ध भिड़ा दिया गया है। अतः अब परवर्त्ती अचार्यों की रचना से भी इस विषय का कुछ परिचय उपस्थित करदेनाचाहिये। खेद, का विषय है कि इन आचार्यों में से श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी से लेकर श्रीश्रियानन्दजी तक किसी आचार्यकी कोई भी रचना का कुछ पता नही चलता, अतःश्रीहर्यानन्दस्वामीजी की 'रचना से हीइस परिचयका आरम्भकिया जा सकताहै, क्योंकि श्रीहर्यानन्द-स्वामीश्रीश्रीयानन्दस्वामीजी के शिष्य तथा श्रीरामानन्दस्वामीजी के दादागुरुहैं। किन्तु,इनके'श्रीरामस्तवराज भाष्य'से इस अभेद भावना के परिचायक प्रमाण प्रस्तुत-प्रसङ्ग, के८६पृष्ठ में उद्धृतहोकरविवेचितभी हो चुके है, अतः वहां ही देख लेना चाहिये, यहां उसकी दोबारे उपस्थिति की कोई आवश्य-कता नही है। इनके बाद श्रीराघवानन्दस्वामीजी हुए हैं इनका बनाया कोई ग्रन्थ ही नहीं है इनके बाद तो श्रीरामानन्दस्वामीजी ही हुए हैं। इनके ग्रन्थ–श्रीवैष्णवमताब्ज–भाष्कर एव श्रीरामार्चन–पद्धति—तो प्रस्तुत विचारके विषयही हैं, अतः इसके द्वारा आगे प्रकाश डाला जायगा इनके बाद श्रीअनन्तानन्दजी हुए है। 'हरिभक्तिसिन्धुवेला' नामकी इनकी एक पुस्तक का पता तो चलता है परन्तु वह हमें प्राप्त नही है, अतः उससे कोई विचार उपस्थित करनेमें विवशता है। इसके बाद श्रीनाभाजी का 'भक्तमाल' ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध और प्रचलित भी है, तथा इसमें सम्प्रदाय का भी बहुत स्पष्ट परिचय दिया गया है। खैर, इस विषय का स्पष्टी करण और विवेचन तो आगे किया जायगा, यहाँ तो केवल श्रीनाभाजी की भावना का ही विचार करना है। सबसे पहले भक्तमाल के प्रथम छप्पय को ही देखिये:—

जय जय मीन बराह कमठ नरहरि बलि बामन।
परशुराम रघुबीर कृष्ण कीरति जगपावन॥
बुद्ध कलङ्की व्यास पृथु हरि हंस मन्वन्तर।
यज्ञ ऋषभ हयग्रीव ध्रुववरदैन धन्वन्तर॥
बद्रीपति दत्त कपिलदेव सनकादिक करुणा करौ।
चौबीस रूप लीला रुचिर श्रीअग्रदास पद उरधरौ॥ १॥

पुनः इसके बाद भी लिखा है:—

"चरणचिन्ह रघुवीरके सन्तन सदा सहायका···॥ २॥"

"मो चित्त वृत्ति नित तहाँ रहौ जँह नारायण पारषद॥४॥"।
"ध्यान चतुर्भुज चित्त धरयौ तिन्हैं शरण हौं अनुसरौं।
अगस्त्य पुलस्त्य पुलह च्यवन वशिष्ट सौभरि ऋषि।
कर्दम अत्रि रिचीक गर्ग गौतम व्यास शिषि॥
लोमश भृगु दालभ्य अंगिरा शृङ्गि प्रकासी।
माण्डव्य विश्वामित्र दुर्वासा सहस अठासी॥
जावालि जमदग्नि मायादर्श कश्यप पर्वत पराशरपद रजधरौं।
ध्यान चतुर्भुज चित्त धरचो तिन्हैं शरण हौं अनुसरौं १२

इससे स्पष्ट हुआ, कि श्रीनाभाजी ने भी भगवान् के सभी नाम रूपों में अभेद भावना पूर्वक ही श्रद्धा-भक्ति दृढाई है। इसीसे तो पहले चौबीसों अवतारों का ध्यान किया है, पुनः श्रीरामाजी के चरण चिन्ह का स्मरण किया है, पुनः नारायण और उनके पार्षदों में नित्य चित्त-वृत्ति लगी रहने की कामना की है, यह कथन क्रमशः पहले से ४ चौथे छप्य तक हुआ है। इसके बाद चतुर्भुज भगवान् के ध्यान धरने वाले की शरण-प्राप्ति स्वीकार की गयी है, और इन ध्यान धरने वालों में वशिष्टजी, पराशरजी एवं व्यासजी की भी गणना की गयी है, जो कि चतुर्भज तथा अन्य भगवद्विग्रहों के बहिष्कारी नूतन सम्प्रदायमें आचार्य माने गये हैं। इसके अतिरिक्त इसी रूपमें अगस्त्यजी की भी गणना की गयी है। जिनकी 'अगस्त्य-संहिता' इस नूतन सम्प्रदाय में काल क्षेप करने की पुस्तक भी स्वीकृत हुई थी परन्तु एकतो इस पुस्तक में भी चतुर्भुज का वर्णन है, दूसरे नाभाजी ने उनको चतुर्भुज का ध्याता बताया है। फिर यह विषमता क्यों? इसका कारण यही है कि भगवान् के सभी नाम रूपों में अभेद भावनापूर्वक श्रद्धाभक्ति रखने के कारण ही द्विभुज-चतुर्भज आदि रूपों एवं राम, कृष्ण, नारायण आदि नामों एवं उनके महत्त्वादि में भेद भाव नही रखा गया है और सभी-पुराणों में सबोंका पर्य्याय सभीको मानकर अभिन्न व्यवहार किया गया है। यद्यपि इस तरह के अनेकों उदाहरण संहिता पुराण एवं साम्प्रदायिक ग्रन्थों में भरे हैं, परन्तु अब इतने से ही इस विषय का बहुत कुछ स्पष्टीकरण हो गया है, अतः इसके उपस्थिति करण की अब विशेष आवश्यकता नहीं।

अब इसी बात को श्रीरामानन्दस्वामीजी के लेखोंसे भी मिलाइये

श्रीस्वामीजी ने भी अपनी अभेदभावना मूलक उपासना का अनेक स्थानों में परिचय दिया है, यथा' शश्वन् नारायणोऽजः"(६) "श्रीमांतस्मै रमेशं" (५) "पुरुषकारपरा विनिगद्यते सकमला कमला कमलप्रिया" (६६) "सीतारामप्रिया शश्वत्तेऽनन्तगरुडादयः" (१३६) "रथाङ्गपाणेः शृणुयान्निरन्तरं" (११७) "किरीटाद्या अनन्ताद्याः (१४०)" इत्यादि । किन्तु उनकी इस अभेदभावना को छिपाने की कामना से श्रीभगवद्दासजी ने श्रीरामजी से 'प्रतिस्पर्द्धी' समझ इन सभी श्लोकों को बदल डाला है।

अब विचारणा यह चाहिये, कि आपने जिन जिन महापुरुषों को छाँट-छाँट कर अपने पूर्वाचार्यों में गणना की है, उनमें तो अभेद-भावना की ही उपासना का परिचय उनके ही कथन द्वारा पाया जाता है। यथा, श्रीब्रह्माजी ने बृहद्ब्रह्मसंहितामें अपने उपास्यदेवको नारायण ही बतलाया है और उनके ही द्वारा दीक्षा-शिक्षा पाने की बात भी स्वयं ही कही है। उसी में श्रीराम-कृष्ण मंत्रादि की भी उनसे ही अभेदरूप में दीक्षा-शिक्षा पाने का कथन किया है । उसी प्रकार पद्म-पुराण के उत्तर-खण्ड में श्रीवशिष्ठजीने भी अपना उपास्यदेव एवं उपास्य मन्त्र 'नारायण' ही बतलाया है और उसी सिलसिले में उन्होंने श्रीब्रह्माजी तथा श्रीपराशरजी के विषय में भी 'नारायणोपासना' का ही वर्णन किया है। पुनः विष्णुपुराण में श्रीपराशरजी के कथन से ही नारायण, वासुदेव राम,कृष्णादिकों में उनकी अभेद-भावना कीही सिद्धि होती है। उसी बात की तथा उसी तरह से श्रीव्यासजी तथा श्रीशुकदेवजी के विषय में भी अभेद भावना का प्रमाण महाभारत तथा अन्यपुराण तथा श्रीमद्भागवत से सिद्ध ही हो रहा है। इसी प्रकार श्रीरामानन्दस्वामीजी के दादागुरु श्रीहर्यांचार्यजी के श्रीरामस्तवराज-भाष्य के मंगलाचरण से तथा परनातीचेला के शिष्य श्रीनाभाजी के भक्तमाल के मुख-बन्ध से भी अभेद-भावना मूलक उपासना की ही सिद्धि होती है। फिर भी, श्रीभगवद्दासजीने इस अभेदभावोपासना एवं श्रद्धा-भक्ति को प्रति-स्पर्द्धी' ठहराकर श्रीरामानन्दस्वामी जी के अभेद भावना पोषक श्लोकों मे काट छाँट और अदल-बदल कर दिये हैं । अत, जिनको आपने श्रीरामानन्दस्वामीजी के पूवाचार्यों में गणना की है, तथा जो पूर्वाचार्य एवं शिष्य प्रशिष्यवर्ग हैं, जब उनकेही कथनों एवं रचनाओं से

अन्य भगवद्—विग्रहों एवं नामादिकों में भी अभेद-श्रद्धा भक्ति की ही सिद्धि होती है, तो श्रीभगवद्दासजी का उसे 'प्रतिस्पर्द्धी' ठहराना और श्रीरामानन्दस्वामीजी कृत श्लोकों में काट-छाँट एवं अदल-बदल करना अनधिकार चेष्टा ही तोहै ?

इसके अतिरिक्त इस प्रकार इतना काट छाँट अदल बदल एवं ग्रहण-त्याग करने पर भी 'प्रकाश' में श्रीरामानन्दस्वामीजी की अभेद-भावना एवं श्रद्धा भक्ति के शेष-चिन्ह रह हीं गये हैं, जिससे किसी प्रकार भी 'प्रतिस्पर्द्धी' ठहराने की कोई भी राह नहीं है, जो कि 'प्रकाश' के पृष्ट १६९ से १७१ तक के मूल, अर्थ और टिप्पणियों से भी स्पष्ट है। यथा श्रीरामचन्द्रजी के लिये मूल में 'श्रीशजगन्निवास' एव 'तव पादपङ्कजे रमार्चिते' तथा अर्थ में 'लक्ष्मीनाथ जगदाधार' एवं 'लक्ष्मीजी सें पूजि आपके कमलचरणों मेंलिखा गया है,इस पर जो आपने टिप्पणी में श्रीरामजी की षोडशोपचार-पूजा का तान्त्रिक मन्त्र दिया है, उससे भी उनके लिये 'नारायण' 'विष्णो' इत्यादि अभेद-भावना मूलक शब्दों के प्रयोग से अभेद-श्रद्धा-भक्ति सिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त कृष्ण, नृसिंह, वामनादि जयन्तियों के मनाने एवं सभी दिव्यदेशों में निवास एवं वहाँ के अध्यक्ष राम नारायण, कृष्ण, नृसिंह आदि भगवद्विग्रहों की पूजा-अर्चा करने का विधान भी श्रीवैष्णव मताब्ज-भास्कर के अनुकूल प्रकाश में भी है ही, अतः भली भाँति सिद्ध है, कि अन्य भगवन्नाम-रूपादिको में अभेद श्रद्धा-भक्ति को 'प्रतिस्पर्द्धी' ठहरा कर श्रीभगवद्दासजीने श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर में जो काट-छाँट, अदल बदल ग्रहण-त्याग एवं नव्य-रचना की है, वह निपट निराधार, अप्रामाणिक एवं सम्प्रदाय-विरुद्ध, ह अतः अमान्य है।

इस प्रकार 'चोरी की चेष्टा और तैयारी' के चार-उपविभागों में की गयी समालोचनाओंसे आप के जाली—कथनों एवं कार्वाईयों का बहुत कुछ खुलासा हो चुका है, अब इसके पाँचवे उपविभाग में आलोचना की जाने वाली आपकी करतूतों का भी कुछ नजारा देखिये अर्थात् इसमें आपके उन कथनों की आलोचना की जायगी, जो कि 'चोरी की चेष्टा और तयारी' नामक उपर्युक्त आलोच्य-विभाग के पाँचवे उपविभाग में अङ्कित किये गये हैं और वे इस प्रकार हैः—

"(५) अशुद्ध अधिक और न्यून पाठ टिप्पणी में रख दिये गयेहै"

सब से पहले तो इस कथन का रूप ही ऐसा अनोखा है, कि इसके सम्बन्ध में भी कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि जब तक इस कथन का स्पष्टीकरण नहीं होगा, तब तक इस पर विचार ही क्या किया जायगा ?

इसमें कहा गया है, कि "'अशुद्ध' 'अधिक' और 'न्यूनपाठ' टिप्पणी में रख दिये गये हैं"। अशुद्ध पाठ तो हो सकता है, अतः 'शुद्धपाठ' मूल ग्रन्थमें रखा जायगा और 'अशुद्ध पाठ' टिप्पणी में रख दिया जा सकता है। तथा 'अधिक पाठ' भी इस कारण से हो सकता है, कि कितने ग्रन्थों में श्लाक ही 'अधिक' पाये जा सकते हैं, जो इसमें न हों;अतः वह 'अधिक'पाठ भी मूल ग्रन्थ में नही रखा जाकर टिप्पणी में रख दिया जा सकता है. परन्तु जो 'न्यून पाठ' है,अर्थात् जो श्लोक इसमें रखे गये है उस पाठ की अन्य प्रतियों में सत्ता ही नहीं है. उसको टिप्पणी में रखने की बात ही कैसी ? यह तो अनोखी पहेली है। अतः इसको 'लाल बुझक्कडा' की समझ की खाद्य-सामग्री के लिये छोड़कर शेष दो ही बातों की आलोचना करूँगा अर्थात् 'अशुद्ध-पाठ' आर 'अधिक पाठ' को टिप्पणी में रखने के कथन और प्रयोग में क्या तथ्य तथा सम्बन्ध हैं ?

यद्यपि आपके इस कथन और प्रयोग की सत्यता समझने के लिये अभी तक बहुत से उदाहरण आ चुके है, जिससे सिद्ध हो चुका है, कि आपने अनेक स्थानों में मनमाने पाठ-परिवर्त्तन तो कर डाले हैं, परन्तु वहाँ पाठ-भेद तक जानने का कोई भी सङ्केत नही रहने दिया है, ताकि यही सिद्ध हो, कि सभी प्रतियों में एक ही पाठ है। परन्तु वास्तव में उसके पाठ दूसरे ही हैं; बल्कि यहाँ तक कि जिस अर्थ-प्रकाशिका टीका वाली प्रति के अवलम्बन से आपने 'प्रकाश' का निर्माण किया है, उसमें भी इससे भिन्न हीपाठ है। इसके अतिरिक्त आगे भी बहुत से ऐसे उदाहरण आयग, जिससे स्पष्ट होगा, कि आपने अन्य प्रतियों में दूसरे पाठ के रहने पर भी उनका जिक्र तक न कर 'प्रकाश' में मनमाने पाठ गढ़ डाले हैं। अतः यहाँ 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर' का केवल एक पूरा प्रकरण कहीं से लेकर उसका क्रमशः'प्रकाश' से मिलान

करता जाऊँ, ताकि स्पष्ट विदित हो जाय, कि आपने प्रयोग में उपर्युक्त कथन का कहाँ तक निर्वाह किया है ? और श्रीवैष्णव–मताब्ज भास्कर एवं 'प्रकाश' में 'रूपतः' (आकारतः) एवं 'स्वरूपतः' (सिद्धान्ततः) कितना अन्तर ह ?

मैं समझता हूँ, कि अन्य स्थानों का तो अन्य आलोचनाओं के प्रसङ्ग से ही बहुत कुछ उपस्थितिकरण होकर इस बात का भी स्पष्टीकरण हो जायगा. अतः यहाँ केवल श्री वैष्णव–मताब्ज–भास्कर के च णवों के निवास करने योग्य स्थानों अर्थात् दिव्यदेशों के वर्णन वाले प्रकरण को ही क्रमशः 'प्रकाश' से मिलान कर इस बात का खुलासा कर दिया जाय, कि आपकी बातें कितनी सच्ची है ? आपकी बात और कारर्वाई में कितना फर्क है–मुँह, हृदय से कितना दूर और कितना सच्चा है ?

यहां पर एक बात और भी खुलासा कर देना चाहता हूँ और वह यह, कि यह तो सिद्ध हो ही गया है, कि 'प्रकाश' के निर्म्माणमें अर्थप्रकाशिका टीका वाली प्रति और उनकी अपनी स्वार्थात्मक-मनमानी-बहक ही एक मात्र कारण हैं-इसके अतिरिक्त अन्यान्य प्रतियोंकी प्राप्ति और उससे सम्पादन संशोधनमें सहायता लेनेकी सारी बातें नितान्तमिथ्या है। बल्कि श्रीभगवद्दासजीने यह स्वयं स्वीकार भी कियाहै, कि आपने अर्थप्रकाशिका टीकाके ही आधार पर यह टीका लिखीहै। फिर जब टीका इसके आधार परही लिखी गयी है, और मूल के निर्माण में भी अन्य प्रतियों की प्राप्ति एवं सहायता नही ही सिद्ध होती, तो सर्व प्रकारेण प्रमाणित हो गया, कि मूलसे लेकर टीका तक सारा का सारा 'प्रकाश' ग्रन्थ अर्थप्रकाशिकाटीका वाली प्रतिके ही द्वारा निर्माण हुआ, बल्कि नामकरण में भी 'प्रकाशिका' से ही 'प्रकाश' नाम की नकल की गयी है; और जहाँ जहाँ अन्तर है, वहाँ वहाँ स्वार्थात्मक निराधार वहम के ही कारण पाठमें अदल-बदल काट-छाँट, ग्रहण-त्याग एवं नूतन-समावेश किये गये हैं। अतः 'प्रकाश' का अर्थप्रकाशिका टीका वाली प्रतिके सिवा अन्य प्रतियों से न तो कारणतः मिलान करना उचित ही है, न तत्वतः इससे दूसरी तरह की पाठ वाली कोई प्रति ही है। इन्हीं सब कारणों से आगे पाठों का जो कुछ मिलान किया जायेगा, इसी अर्थ-प्रकाशिका टीका वाली प्रति से ही। मुद्रित रहनेके

कारण इसके पाठों की ऐसी वैसी स्थिति बतलाने या इसमें कोई चीचपड़ करने की गुञ्जाइश भी नहीं हो सकती, इसदृष्टि से भी इससे ही मिलान करने में औचित्यबोध होता है । अतः अब क्रमशः मिलान शुरू किया जाता है:-

इस 'निवास-स्थान निरूपण' वाले प्रकरण मे कुल १५ श्लोक हैं, किन्तु 'प्रकाश' में १३ श्लोकों को ही मूलमें स्थान मिलाहै । शेष दो श्लोको में से एक को अधिक करार देकर टिप्पणी में डाल दिया गया है और एक को बिलकुल ही उड़ा दिया है, । फिर उन १३ श्लोकों में से भी ८ के तो सम्पूर्ण आकार प्रकार बदल दिये गये है और शेष पाँच श्लोकों में भी काफी शब्द फेर किये गये हैं । कहने का तात्पर्य यह है, कि ऐसा एक भी श्लोक नहीं है, जो काटछाँट अदलबदल और ग्रहण-त्याग से वञ्चित रहा हो । परन्तु किसी के पाठभेद तक का जिक्र नहीं किया गया है । अब क्रमशः उनके नमूने देखिये:—

श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर की अर्थप्रकाशिका टीका वाली प्रति में इस प्रकरण का प्रथम श्लोक इस प्रकार है:—

येषां निवासोऽथ निरूप्यतेऽधुना मोक्षप्रदः शास्त्रसुसम्मतोऽयम् ।
महामते ! वैष्णवभेदमुक्त्वा जिज्ञासुबोध्यं बहुधाविबुध्यताम् १५३॥

किन्तु यही श्लोक प्रकाश'मेंइस रूप में उपस्थित किया गया है:-

"अथ मोक्षप्रद शास्त्रसम्मत वत्स तेऽधुना ।
वैष्णवानां च सर्वेषां वासस्थानं निरूप्यते ॥ १ ॥

इन दोनों श्लोकों का मिलान करने से सहज ही स्पष्ट हो जाता है, कि ऊपर के श्लोकों में जो पहली पंक्ति है, 'प्रकाश' में छन्द बदल कर उसी की दो लाइन कर श्लोक पूरा कर दिया गया है, और पहले श्लोक की जो दूसरी पंक्ति है, वह प्रकाश में एक दम छोड़ ही दी गई है । शायद उसमें पूर्व प्रकरण के सम्बन्ध की बातें लिखी हुई थी, इसी कारण आपने उसको अनावश्यक समझ लिया । किन्तु प्राचीन ग्रन्थों में विभागों, खण्डों एव सर्गों के मिलाने की यह पद्धति चली आयी है, कि पूर्व के प्रकरण की बातों को परवर्ती प्रकरणके प्रारम्भ में जिक्र कर उसके साथ सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है, जिससे ग्रन्थ की समग्रता कायम रहे परन्तु आपकी समझ में वह अनावश्यक सिद्ध हुआ । अपनी अपनी समझ ही तो है !

इसके बाद इस प्रकरण के दूसरे श्लोक में वैष्णवों के निवास योग्य स्थानों—दिव्यदेशों का लक्षण किया गया है, जिससे उसकी योग्यता और महत्त्व का सहज ही स्पष्टीकरण हो जाता है। पुनः इसके बाद से दिव्य देशों की गणना शुरू की गयी है। वह लक्षण वाला श्लोक इस प्रकार है:—

अशेषतीर्थेषु वसेत्समर्चयन्सतत्रतत्राविर्भूतमुत्तमम्।
तथा तथा त जगतामनन्यधीः पतिं चतुर्वर्गफलप्रदं हरिम्१५४

अर्थात्-संसार के स्वामी एवं अर्थ धर्म काम मोक्ष के दाता श्री हरि, जिन जिन श्रेष्ठ स्थानों में आविर्भूत हुए है *, अनन्य कर्म वाले वैष्णव उन उन समस्त तीर्थों में उनकी सम्यक् रीति से अर्चना करते हुए निवास करें।

किन्तु 'प्रकाश' में यह पूरा श्लोक ही उड़ा दिया गया है, इसका कुछ रेख-रूप भी वहाँ नहीं रहने दिया गया है; अर्थात् न तो यह श्लोक अदल बदल या काट छाँट कर ही रखा गया है न इसकी अधिकता या त्याग की ही सूचना टिप्पणी के रूप में दी गई है। इस प्रकार पूरी तरह से उस श्लोकको ग्रन्थ से उड़ा दिया गया है। न मालूम इस निर्वासन-क्रिया से आपको क्या मौज मिला, क्या मजा आया। इन वैष्णव-निवास योग्य स्थानों को तीर्थ एवं भगवान् की अवतारभूमि कहने, एवं भगवान् को चतुर्वर्गफलप्रद, अर्थ धर्म काम एवं मोक्षके देने वाले, विशेषणसे युक्त करने से आपको कौन सी चीढ़ थी, चतुर्वर्गफलप्रद से केवल मोक्षप्रद में क्या महत्त्व समझ पड़ा, उसमें कौनसी आपत्ति हुई, निपट अशुद्धि मिली, अधिकता दिखलाई पड़ी या 'प्रतिस्पर्द्धा' सूझी, कि ऐसे ललित सङ्गीतमय श्लोक एवं भव्य विषयवर्णन को आपने निकाल बाहर किया। यही श्लोक तो वर्णन का मुख्य अंश है अर्थात् यही एक श्लोक वैष्णवों के निवास योग्य स्थानों की सम्यक मीमांसा करता है, और बाद के सभी श्लोक तो गणना के है। उसमें भी गणना पूरी भी नहीं हुई है, बल्कि १०८ दिव्य देशों में से ४६ की ही गणना करा कर शेष के लिये अन्तमें आदि पद लगा कर सङ्केत कर दिया गया है। उसकी भी जानकारी एवं निश्चितीकरण के लिये यह लक्षण ही तो कुञ्जी है।

* भगवान को आविर्भाव-भूमि से यहाँ भगवान् की अवतार-भूमि के सिवा अवतार-लीला के मुख्य २ स्थानों से भी तात्पर्य है, क्योंकि उनका अवतार से ही तो सम्बन्ध है?

जिसमे दिव्य देशों का सहज ही ज्ञान एवं परिचय हो सके। ऐसे महत्त्व के श्लोक को आपने अपनी समझ से निरर्थक मान कर निकाल दिया। खैर, निकाल दिया सो तो निकाल ही दिया; परन्तु इसकी सूचना क्यों नहीं उपस्थित की ? क्या, ध्यान के प्रकरण के अन्त में जो अपना मतवाद चलाने के लिये "द्विभुजस्यैव रामस्य सर्वशक्तेः प्रियोत्तम। ध्यानमेवं विधातव्यं सदा रामपरायणैः।" यह एक श्लोक गढ़कर मिला दिया है उसीकी संख्या-पूर्ति के लिये यहाँ यह श्लोक हड़प लिया गया है ! इसके सिवा तो और कोई रहस्य ही नहीं मालूम पड़ता। फिर भी ऐसे महत्त्व के श्लोक को हड़प जाना कहाँ तक न्याय है यह सब कोई अच्छी तरह समझ सकते हैं।

इसी प्रकार इसके आगे की भी लीलायें देखिये। उपर्युक्त श्लोकों के बाद से दिव्य देशों की तेरह श्लोकों में गणना की गयी है। उसमें पहले और दूसरे श्लोक की, अर्थात् इस प्रकरणके तीसरे और चौथे श्लोक की, वास्तविक-स्थिति और 'प्रकाश' की परिवर्तन—लीला को देखिये। वे दोनों श्लोक अर्थप्रकाशिका टीका वाली प्रतिमें इस प्रकारहैः-

"वैकुण्ठदेशे खलु वासुदेवमामोदसंज्ञे त्वथ कर्षणाह्वम्।
प्रद्युम्नमब्जाक्षमपिप्रमोदे सम्मोद ईशन्तु तथाऽनिरुद्धम् ॥१५४॥
विष्णुं वरेण्यं शुभसत्यलोके पद्माक्षमित्थं त्वथ सूर्यमण्डले
क्षीराब्धिमध्ये शुभशेषशायिनं श्वेते तथा द्वीपवरे च तारकम् १५५

अब 'प्रकाश' में इन श्लोकों की जो दुर्दशा की गयी है, वह भी देखियेः—

"वासुदेवं हि वैकुण्ठे तथा मोदे सुवर्षणम्।
प्रद्युम्नंच प्रमोदे संमोदेऽचैन्निरुद्धकम् ॥२॥
विष्णुःसत्यलोकेच पद्माक्षः सूर्यमण्डले।
क्षीराब्धौ शेषशायी च श्वेते पूज्यश्च तारकः॥३॥

इससे भी स्पष्ट हैं, कि आपने केवल श्लोक के लालित्य को नष्ट करने के लिये ही 'प्रकाश' में परिवर्तन कर डाला है। जान पड़ता है, इन ललित श्लोकों में अन्य दिव्य देशों के वर्णन करने को भी आप छन्द प्रतिस्पर्द्धा ही समझते हैं। नहीं तो निरर्थक परिवर्तन की क्या आवश्यकता थी ?

अब इससे लगे हुए आगे के श्लोकों की स्थिति और 'प्रकाश' में किये गये परिवर्तन की लीला को भी देखिये। वह श्लोक अर्थ-प्रकाशिका टीका वाली प्रति में इस प्रकार है:-

''तथा बदर्याभिध आश्रमेवरे सुरर्षिराजर्षिमहर्षिसेविते।
नारायणं तं निखिलाऽभिवन्द्यं मुनीशसेव्यं त्वथ नैमिषे हरिम्॥१५६

इसी श्लोक की 'प्रकाश'—लीला इस प्रकार है:-

"नारायणं बदर्यां च नैमिषे श्रीहरिं तथा।
शान्तो दान्तो निरीहः सन्वैष्णवः पूजयेत्सदा॥४॥'

पूर्व में आपकी कीर्तियों के जो परिचय दिये गये हैं, उससे आपकी मनोवृत्ति का तो स्पष्टीकरण हो ही चुका है कि अन्य भगवन्नामों रूपों एव उनकी महत्ताओं से आपको असहयोग है, परन्तु नारायण से तो खासी चीढ़ सी है। यही कारण है कि इस श्लोक में नारायण का जो महत्त्व के साथ वर्णन किया गया है, वह आपको सहन नही हो सका, उसमें भारी प्रतिस्पर्द्धा समझ पड़ीं, क्योंकि इस श्लोक में नारायण को निखिलाभिवन्द्य एवं उनके बद्रिकाश्रम को सुरर्षि राजर्षि महर्षि सेवित कहा ह। फिर यह आप से क्यों कर सहन होता? अतः 'निखिलाभिवन्द्य' एव 'सुरर्षि राजर्षि महर्षि सेवित' इन दोनों विशेषणों को आपने निकाल कर कोरी नाम गणना मात्र रहने दी है। और जान पड़ता है, नारायण के ही साथ रहने से 'यव के साथ घून पीस डालने' की तरह इसीमें नैमिष और हरिका जो 'मुनीशसेवित' विशेषण दिया गया था, उसको भी आपने निकाल कर कोरी नाम-गणना ही रहने दी है; अथवा यह विशेषण भी स्वतन्त्र 'प्रतिस्पर्द्धा' ही समझ पड़ा हो, अतः उसे निकाल डालना ही आपने सम्पादन-संशोधन-कर्त्तव्य समझा हो!

ऊपर इस प्रकरण के चार श्लोक जो उद्धृत किये गये हैं, उससे स्पष्ट है, कि अर्थ-प्रकाशिका टीका वाली प्रति के पाठ से 'प्रकाश' में नितान्त भिन्न ही पाठ, कर डाले, बल्कि श्लोक भी एकदम ही बदल डाले गये हैं, परन्तु इस निपट परिवर्त्तन के होते हुए भी 'प्रकाश' में पाठान्तर का नाम तक नही लिया गया है। यह क्यों? इसके दो कारण समझ पड़ते हैं, एक तो यह कि आपने पाठान्तरों की सूचना इस लिये नहीं होने दी है, कि जिसमें करतूतों की पोल छिपी

रह जाय। अथवा दूसरी बात यह, कि पाठान्तर के नाम पर परिवर्त्तन न कर 'प्रतिस्पर्द्धा' के नाम पर ही अदल-बदल कर डालने का वहम आप पर सवार हुआ हो! और यही अधिक सम्भव भी मालूम होता है। अतः समझना चाहिये, कि आपने सम्पादन संशोधन के नाम पर कितनी मनमानी काट-छाँट कर डाली है!

पुनः इसके आगे के दो श्लोक, प्रायः कुछ मामूली पाठ परिवर्त्तन के साथ वैसेही रहने दिये गये हैं। वे अर्थ-प्रकाशिका टीका वाली प्रति में इस प्रकार हैं:—

"शालग्राममघौघदिव्यफलदं देवं हरिक्षेत्रतोऽ—
योध्यायां रघुपुङ्गवं गुणनिधिं श्रीरामचन्द्रं प्रभुम्।
सत्स्थाने मथुराभिधाश्रमवरे श्रीबालकृष्णं परं
मायायां मधुसूदनं सुरनरध्येयाङ्घ्रिपद्मं सदा ॥१५७॥
काश्यां भोगिशयं सनातनमथावन्त्यामवन्तीपतिं
श्रीमद्द्वारवतीति नाम्नि शुभदे श्रीयादवेन्द्रं मुदा।
रम्ये श्रीव्रजनामके सुरनुतं गोपीजनानां प्रियम्
ब्रह्मेशादिकिरीटसेवितपदाम्भोजं भुजङ्गाश्रयम् ॥१५८॥

ऊपर के श्लोकों में जो रेखाङ्कित शब्द हैं, वे प्रकाश में परिवर्त्तित कर डाले गये हैं, अर्थात् 'हरिक्षेत्रतो' का 'हरिक्षेत्रके', 'सुरनरध्येयाङ्घ्रिपद्मं सदा' का 'हरिजनो नित्यं मुदा पूजयेत्' और 'रम्ये' का 'अर्चेत्' किया गया है। इसमें पहला परिवर्त्तन तो केवल निरर्थक—तुम्बाफेरी मात्र है, परन्तु दूसरे परिवर्त्तन म सम्भवतः एक नीयत काम कर रही ह; अर्थात् मधुसूदनजी के चरण को कमल (रूपक) कहना और उसे 'नर' के अतिरिक्त 'सुर' का भी ध्येय बतलाना आपने श्रीरामजी के साथ 'प्रतिस्पर्द्धा' समझा हो, अतः बदल दिया। पुनः उसी नियम से सम्भवतः 'व्रज' का 'रम्य' विशेषण भी आपको 'अयोध्या' से 'प्रतिस्पर्द्धा' ही सूझी हो। हाँ, 'छन्द' में परिवर्त्तन नहीं किये गये है, किन्तु सो भी इसी लिये, कि इसमें 'अयोध्या' एवं 'श्रीरामचन्द्रजी' की गणना भी आयी है, और उसमें गड़बड़ी करना आपको नहीं ही अभीष्ट है। अतः जब वह पंक्ति अक्षुण्ण रही, तो छन्द के नियम से अन्य पंक्तियाँ कैसे छोटी की जा सकती थी? अतः छन्द में आपको अदल बदल करने की गुञ्जा-

इश ही नहीं हुई। इसीसे अन्य भगवन्नाम-धामों में से केवल महत्त्व बद्धक विशेषणों को निकाल कर उनके 'महत्वों' को कम करके ही आपने सन्तोष किया। और 'अयोध्या' एवं 'श्रीरामचन्द्रजी' के संसर्ग के कारण छन्द मात्र पूर्व रूप में रह सके।

सम्भवतः आगे ऐसे सामीप्य-सम्बन्ध के छूट जाने के कारण ही इस के अगले दो श्लोकों की 'प्रकाश' में पुन पूर्वलीला ही कर डाली गयी है। अतः अब उसका भी दर्शन कीजिये। अर्थ-प्रकाशिका टीका वाली प्रति में वे श्लोक इस प्रकार हैः-

"वृन्दावने सुन्दरनन्दसूनुं गोविन्दमेव स्वथकालियह्रदे।
गोवर्द्धने गोपसुवेषधारिणं तथा भवघ्नेऽपि च पद्मलोचनम्॥ १५९॥
शारिं तथा गोमत एव पर्वते तथा हरिद्वार ऋजुं जगत्पतिम्।
तीर्थे प्रयागे वत माधवं च तथा गयायां तु गदाधरं परम्॥ १६०॥"

अब 'प्रकाश' में इन श्लोकों का रूप देखियेः—

"वृन्दावने नन्दसुतं गोविन्दं कालियह्रदे।
गोवर्धने गोपवेषं भवघ्ने पद्मलोचनम्॥ ७॥
गोमते पर्वते शारिं हरिद्वारे जगत्पतिम्।
प्रयागे माधवं चार्चेद्गयायां तु गदाधरम्॥ ८॥"

उपर्युक्त दोनों श्लोकों के मिलान करने से स्पष्ट हो रहा है, कि आपने महत्व प्रकाशक विशेषणों एवं छन्दों के लालित्य को 'प्रतिस्पर्द्धा' समझकर विशेषण रहित छोटे छन्द (अनुष्टुप) में केवल उसकी कोरी गणना मात्र रखदी है। 'नन्दसूनु' का 'सुन्दर' विशेषण शायद आप को खल गया, 'गोप' का 'सुवेष धारी' विशेषण भी असह्य हुआ, और 'जगत्पति' के 'ऋजु' विशेषण ने दिली-सदमा पहुँचा दिया अतः आपको यह भारी 'प्रतिस्पर्द्धा' मालूम हुई। इसलिये आपने उसे निकाल कर उनका रूप कोरा कर दिया।

इसके बाद अर्थ-प्रकाशिका टीका वाली प्रति में इस प्रकार चार श्लोक आये हैं—

"गङ्गासागरसङ्गमेऽतिशुभदे विष्णुं तथा राघवं
शश्वद्भूरिगुणालयं मुनिवृते श्रीचित्रकूटे विभुम्।
नन्दिग्राम उदारकीर्तिनिकरे श्रीराक्षसघ्नं प्रभुं
रम्ये—श्रीमति विश्वरूपिणमथो क्षेत्रे प्रभासेऽमले॥ १६१॥

श्रीकूर्मऽचल उत्तमे च सद्यं कूर्मं सुरेशेडितम्
नीलाद्रौ पुरुषोत्तमं त्वथ महासिंहं च सिंहाचले ।
श्रीमन्त तुलसीवने तु गदिनं सर्वार्थदं तन्मिये
क्षेत्रे श्रीकृतशौचके तु सततं पापापहं चेश्वरम् ॥ १६२ ॥
श्वेताद्रौ त्वथ सिंहरूपिणमथो श्रीधर्मपुर्यान्तथा
योगानन्दमशेषदेवसुनुतं श्रीकाकुले तु प्रभुम् ।
देवैर्वन्द्यमथान्ध्रनायकमिह श्रीदं तथाऽहोबले
तस्मिन्श्रीगरुडाद्रिसञ्ज्ञ उचिते देवं हिरण्यार्दनम् ॥ १६३ ॥
श्रीविट्ठलं त किल पाण्डुरङ्ग श्रीवेङ्कटाद्रौ तु रमासखं ह ।
नारायणं श्रीमति यादवाद्रौ नृसिंहामत्थं घटिकाचलेऽपि ॥१६४॥

इसमें से १६३ वाँ श्लोक तो न जाने किस प्रतिस्पर्द्धा से एकदम निकाल कर 'प्रकाश' में टिप्पणी के रूपमें रख दिया गया है । और शेष तीनों श्लोक जो रखे गये है; उनमें भी रेखाङ्कित-शब्द परिवर्त्तित कर दिये गये है । अर्थात्, पूर्व की ही तरह यहाँ भी रम्ये' का'प्रार्चेत्'' श्रीकूर्म-चल' का 'श्रीकूर्माचल' (हालांकि अन्वय मे श्रीकूर्मेऽचलही लिखा है), 'ईश्वरम्' का 'पूजयेत', 'रमासख ह' का 'कमला सहायम्' और'नृसिहमित्थ' का 'नृकेशरीशं' पाठ बना दिया है, परन्तु आपने कहीं भी पाठान्तर का नाम नही लिया है । यहां श्लोकों के छन्द भी जो कायम रहने दिये गये है, वह भी सम्भवतः 'चित्रकूट' के वर्णन के संसर्ग के ही झोंक में ।

इसके बाद इस प्रकरण के दो श्लोक और हैं, जो पूर्व की ही तरह बदल डाले गये है,और वहाँ केवल कोरी नाम-गणना मात्र रहने दी गयी है । वे श्लोक, अर्थ-प्रकाशिका टीका वाली प्रति में इस प्रकार हैः-

"सुरेशवन्द्यं वरदं त्वहर्दिव सुनिर्मले श्रीशुभवारणाऽचले ।
काञ्च्यां तथा श्रीकमलायताक्ष समर्चनीय बुधवैष्णवोत्तमैः १६५
तोताद्रिसंज्ञादिषु वैष्णवोत्तमैरेवं तथा तुङ्गशयादिकं प्रभुम् ।
कार्यो निवासोनितरांशुभार्थिभिराराधयद्भिःसकलार्थ दायिनम्१६६

यही श्लोक 'प्रकाश' में इस प्रकार रखे गये हैं:—

"वरदं वारणाद्रौच काञ्च्यामम्बुजलोचनम् ।
पूजयेत्सततं श्रद्धायुक्तः श्रीवैष्णवो जनः ॥ १२ ॥
तोताद्रौ तुङ्गशयनं पूजयेद्वैष्णवोत्तमः ।

अन्येष्वपि च तीर्थेषु निवसेत्पूजयन्हरिम् ॥ १३ ॥"

इन श्लोकों के मिलान से भी स्पष्ट हो हो रहा है, कि यहां भी पूर्व के ही समान परिवर्तन कर डाले गये है, अर्थात उसमें जो महत्त्व-प्रदर्शक विशेषण आये है, प्रकाश' में से वे सब निकाल डाले गये है, और कोरी नामगणना मात्र रख दी गयी है। यथा, 'वरद' भगवान का विशेषण 'सुरेशवन्द्य', 'वारणाचल' का विशेषण सुनिर्मले श्रीशुभ', काञ्चीनाथ के अचक का विशेषण 'बुधवैष्णवोत्तम', आर 'तुङ्गशयादिक' का विशेषण 'सकलार्थदायिन' आदि जो है, उन सबों को 'प्रकाश' में निकाल डाला है। इसी प्रकार और छोटे मोटे विशेषणों को भी निकाल कर केवल कोरी गणनामात्र रूखे-सूखे अनुष्टुप-छन्दों में रख दी गयी है। आप सर्वत्र अन्य भगवन्नामों-रूपों को महत्ताओं को 'प्रतिस्पर्द्धी' की ही दृष्टि से देखते है, द्वेष करते है, यही कारण है, कि ऐसे सभी महत्त्व-प्रदर्शक विशेषणों को निकाल डाला है।

इस प्रकार इस प्रकरण का प्रदर्शन समाप्त हुआ। इन चौदह श्लोक मात्र का 'प्रकाश' के साथ मिलान कर दिखलाने से ही स्पष्ट हो गया है, कि श्रीभगवद्दास जी ने अपने 'प्रकाश' में श्रीवैष्णवमताब्ज-भास्कर के श्लोकों को कहाँ तक अनुचित एवं निराधार काट-छाँट अदल-बदल एव ग्रहण-त्याग कर ग्रन्थ को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला है। इस प्रकरण म तो आपन किसी भी श्लोक को अक्षुण्ण नहीं रहने दिया है—बहुतों को तो पूरा ही बदल डाला है और कुछ में पाठ-भेद मात्र ही किया है। इससे सारे ग्रन्थ का अनुमान लगा लेना चाहिये, कि आपने उसको कैसा बना डाला है। केवल इसी का परिचय कराने के लिये ही एक पूरा प्रकरण यहाँ उद्धृत कर दिखलाया गया है।

यहाँ पर एक बात और बता देना आवश्यक प्रतीत होता है, और वह यह, कि यहाँ श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर के श्लोकों का जो परिवर्त्तन कर 'प्रकाश' में पाठ रखा गया है, उसका आधार भी अर्थ-प्रकाशिका टीका वाली प्रति ही है। इसमें इस प्रकरण के अन्तिम श्लोक की टीका में टीकाकार महोदयजी ने ग्रन्थमें गणना के अन्त में 'आदि' पद रहने के कारण उसकी स्पष्टता के लिये 'अष्टोत्तरशत स्थान स्तोत्र' से सभी दिव्य देशों की (एक सौ आठों की) नाम-गणना का श्लोक उद्धृत कर

दिया है, क्योंकि इस ग्रन्थ में तो ४६ की ही गणना की गयी है। बस, जिन जिन स्थानों की गणना उसमें जैसी की गयी गयी है आपने भी 'प्रकाश' में श्रीवष्णवमताब्जभास्कर के श्लोकों को हटा कर प्रायः कुछ उलट-फेर के साथ उन्ही श्लोकों को रख दिया है। और जहाँ श्लोक न बदल कर केवल शब्द फेर किया है, वह अयोध्या और चित्रकूट के सयोग और सामीप्य के कारण ही वैसा रह सका है। जिन्हें इन बातों की सत्यता देखनी हो, उन्हें अर्थप्रकाशिका टीका वाली प्रति में इस प्रकरण के अन्तिम श्लोक की, अर्थात् १६५ वें श्लोक की टीका देखकर मिलान करना चाहिये। अथवा इसी ग्रन्थ के २३१ से २३३ वें पृष्ट तक की अर्थ-प्रकाशिका टीका में देख लेनी चाहिये। फिर तो सत्यता आपही आप खुल ही पड़ेगी।

इस ५ वे उप-विभाग के ऊपर के विवेचनों एव उपर्युक्त सम्पूर्ण प्रकरण के प्रदर्शनों' से भली भाँति स्पष्ट हो गया है, कि आपने सारे के सारे श्लोकों को पूरी तरह बदल डाला, है परन्तु कही पाठान्तरों का नाम भी नही लिया है। फिर भी न जाने किस मुँह से इतनी धृष्टता के साथ कहते है, कि "अशुद्ध अधिक और न्यून पाठ टिप्पणी में रख दिये है।" इस प्रकार दिन दहाड़े आँख में धून झोंक कर मतलब गाँठने वाले आप उस्ताद है! इसी से इनकी कीर्तियों की वास्तविकता एवं सत्यता समझ लेनी चाहिये।

अब तो 'प्रकाश' की समालोचना के इस प्रथम विभाग से पाठक भली भाँति समझही गये होंगे, कि 'प्रकाशकार' ने अर्थ प्रकाशिका टीका वाली प्रति के सिवा न तो कोई प्रति कहीं से पाई है, न ऐसे पाठ वाली कोई विलक्षण प्रति ही है। गुरुदेवजी से ऐसी प्रति पाने की बात भी सर्वथा मिथ्या है। श्रीरामोपासना के आधार पर पाठों में अदल बदल, काट छाँट एवं ग्रहण-त्याग करने का सिद्धान्त भी सर्वथा अनर्गल ही है, और पाठभेदों को टिप्पणी में रखने की बात भी आपने झूठी ही कह डाली है। इसमें से एक बात भी सच्ची नही है, जैसा कि पूर्व की समालोचनाओं से भली भाँति स्पष्ट हो चुका है। ये सारे झूठे कथन और प्रयत्न केवल श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर के रत्नों की चोरी की इच्छा और तैयारी में ही किये गये है। परन्तु असलियत खुलही पड़ी।

इस प्रकार 'चोरी की चेष्टा और तैयारी' के पाँचो उपविभागों की समालोचनाओं से यह भली भाँति सिद्ध हो गया, कि 'प्रकाशकार' की सम्पादन सशोधन सम्बन्धी सारी आधारभूत-सम्पत्तियाँ केवल ऐन्द्र-जालिक षडयन्त्र थी। न तो अर्थ-प्रकाशिका टीकावाली प्रति तथा पं० रामटहल दासजी द्वारा सम्पादित-सशोधित प्रति से भिन्न उसकी कोई प्रति ही आपके पास थी, न आपको श्रीगुरुदेवजी से ही कोई विलक्षण प्रति प्राप्त हुई थी। अपनी मतवाद की दृष्टि से आपने पुस्तक तो प्रायः सारी की सारी ही बदल डाली है, परन्तु पाठान्तर नाम मात्र के ही दिये गये है, सो भी कई प्रतियोंके नाम से,ताकि इन काली करतूतों की भयङ्करता की ओर लोगों की दृष्टि न पड़ सके; क्योंकि उन सबों का देने से लोगों को यह सहज-सन्देह और अनुमान हो सकता, कि पुस्तक मतलब साधने के लिये ही काट छाँट कर ऐसी बना डाली गयी है। जो थोड़े से पाठान्तर दिये भी गये हैं, उनका भी आपके श्रीगुरुदेवजी के पाठों से मिलान नहीं ही खाता है। इन सब कारणों से अन्य छः प्रतियाँ का कथन नितान्त झूठा और धोखा देकर मतलब गाँठनेवाला है, यह सिद्ध है। अब रही इस सम्प्रदायमें श्रीराममन्त्र ही मूल मन्त्र, और श्रीरामजी परमोपास्यदेव है, अतः अन्य भगन्नाम-रूप-लीला की महत्ता को प्रतिस्पर्द्धी समझ कर उसे निकाल देने की बात। यह सिद्धान्त भी सर्व प्रकार से अनर्गल ही सिद्ध हुआ। कारण, सभी महर्षियों, आचार्यों या अन्य महात्माओं के ग्रन्थों की विषय-वर्णन शैलो से आपकी यह कसौटी ही महादूषित सिद्ध होती है, अतः केवल इस आधार पर ही आपने मनमानी काट-छाँट अदल-बदल एवं ग्रहण-त्याग कर जो मूल गन्थ को नष्ट भ्रष्ट कर अपने मतलब का दूसरा 'प्रकाश' नामक ग्रन्थ तैयार किया है, उसे सर्व प्रकार से निपट अमान्य और महाजाली समझना चाहिये। इससे प्रमाणित हो गया है, कि प्रकाशकार का यह सारा प्रयत्न 'श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर' के रत्न-भण्डार की 'चोरी की चेष्टा और तयारी' में ही हुआ है।



२--सैन्ध पर ही गिरफ्तारी।

इस प्रकार चोरी की भारी तैयारी करके आप उसमें घुस पड़े और उसके रत्न-भण्डार को नष्ट-भ्रष्ट कर उसके जवाहरों को जान में छिपाते, एवं अनजान में बिखेरते चल पड़े, किन्तु उन परिचित रत्नों को सद्यः बिखरे हुए देख कर उसके अधिकारियों को उसकी तात्कालिक चोरी का सहज अनुमान क्यों न हो ? अतः उनको पीछा किया गया और उन्हें सैन्ध से बाहर होते होते ही पकड़ लिया गया। पाठकों को सैन्ध पर की इस कौतुहल मयी गिरफ्तारी की जानकारी की उत्सुकता होगी ही, अतः इस घटना का भी थोड़ा दिग्दर्शन करा देना उचित प्रतीत होता है।

इस दूसरे विभाग में 'प्रकाशकार' की उन्हीं कीर्तियों का दिग्दर्शन कराया जायगा, जहाँ आपने मूल पाठ में तो परिवर्त्तन कर दिया है, और इस चोरी को छिपाने के लिये इसके पाठान्तर का नाम तक भी नही लिया है, परन्तु अन्वय में धोखे से प्राचीन पाठ के भी कुछ शब्द रह गये है, जिससे यह सहज ही प्रमाणित हो जाता है, कि चोरी तो की गयी, परन्तु चोरी के कुछ माल के साथ सैंध पर ही चोर पकड़ गयी, भली भाँति गिरफ्तारी हो गयी। अब आगे क्रमशः इन्हीं करतूतों का थोड़ा दिग्दर्शन उपस्थित किया जायगा।

(१) 'प्रकाश' के ७५ वें पृष्ट में श्रीवैष्णव-मताब्ज भास्कर का एक श्लोक खण्ड और उसका अन्वय इस प्रकार रखा गया है:-

"पदेन नेनात्र तु पञ्चमेन सं-प्रकथ्यते वै तदनन्यशेषता।....

अन्वय-अत्र, पञ्चमेन, नेन, पदेन, तु, वै, तदनन्यशेषता, प्रकथ्यते..."

अब मूलपाठ और अन्वय का मिलान कीजिये। मूल में तो 'संप्रकथ्यते' शब्द आया है, परन्तु अन्वय में 'प्रकथ्यते' ही है। इस का कारण यह है, कि अर्थ प्रकाशिका आदि प्रचलित प्रतियों में 'प्रकथ्यते' ही पाठ है, परन्तु आपने मनमाने ढग से छंद को 'समवृत्त' बनाने की धुन में, जैसा अन्य स्थानों में भी प्रायः बनाया है, यहाँ भी पाठ फेर बनाकर 'सप्रकथ्यते' पाठ बना डाला है। किन्तु अन्वय लिखने में असावधानी से सत्य पाठ 'प्रकथ्यते' ही रह गया है। जिससे आपकी करतूत का थोड़ा परिचय मिलही जाता है। श्रीवैष्णवमताब्ज भास्कर में उपर्युक्त श्लोक का पाठ इस प्रकार है -

"पदेन नेनात्रतु पञ्चमेन प्रकथ्यतेऽथो तदनन्यशेषता।"

इससे उपर्युक्त अन्वय का मिलान करने से स्पष्ट विदित हो जाता है. कि वस्तुतः गून्थ का पाठ 'प्रकथ्यते' ही है.

(२) इसी प्रकार 'प्रकाश' के पृष्ठ ८१ में एक और श्लोक तथा अन्वय में भेद पड़ा है:—

"सर्वाधीशेश्वरप्राप्तिहेतुस्तत्राभिधीयते।
सीतापुरुषकारार्था श्रीत्यनेन पदेन तु।"

अन्वय-अत्र श्रीत्यनेन पदेन, तु, पुरुषकारार्था, सर्वाधीशेश्वर प्राप्तिहेतुः सीता, अभिधीयते,

यहाँ भी मूल और अन्वय के चिन्हित शब्दों पर ध्यान देने से स्पष्ट विदित होगा कि मूल मे तो 'तत्र' शब्द आया है, परन्तु अन्वय में 'अत्र' ही है और यह 'अत्र' वस्तुतः श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर के वास्तविक-पाठ के ही अनुसार हैं। यथा:-

"सर्वाधीशेश्वरस्याप्तिहेतुरत्राभिधीयते।
सीता पुरुषकारार्था श्रीत्यनेन पदेन तु ॥ ३५ ॥"

इसमें हेतुरत्राभिधीयते' (हेतुः + अत्र + अभिधीयते) से 'अत्र' शब्द स्पष्ट ही है। किंतु प्रकाशकार ने उसको व्यर्थ बदल कर 'तत्र' कर तो दिया, पर आप की करतूत, एवं वास्तविक पाठ का परिचय देने के लिये अन्वय में 'अत्र' ही पाठ रह गया है।

(३) पुनः 'प्रकाश' के पृष्ठ १२१ मे भी श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर का एक ऐसा श्लोक और अन्वय आया है, जिससे पाठ-परिवर्तन करने की चोरी पकड़ जाती है। यथा:—

"एवं महान् भागवतः सुसंस्कृतो श्रीरामभक्तिं विदधात्वहर्निशम्।
महेन्द्रनीलाश्मरुचेः कृपानिधेः श्रीजानकीलक्ष्मणसंयुतस्य वै।"

अन्वय:—एवं सुसंस्कृतः, महान्, भागवतः, श्रीजानकीलक्ष्मण-संयुतस्य, महेन्द्रनीलाश्मरुचेः, कृपानिधेः रामस्य, अहर्निशं, भक्तिं विदधातु॥

यहाँ भी चिन्हित मूल-पाठ और अन्वय के मिलाने से विभेद स्पष्ट ही दृष्टिगोचर हो रहा है। मूल में श्रीरामभक्ति है, परन्तु अन्वय में उसके स्थान में 'रामस्य भक्ति' पड़ा हुआ है। यह क्यो ? इसका कारण यही है कि श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर में वस्तुतः ऐसा ही पाठ है। यथा:-

"एवं महान् भागवतः सुसंस्कृतो रामस्य भक्तिश्च परां प्रकुर्यात्"

अतः स्पष्ट है, कि आपने तुम्बाफेरी स्वभाव के कारण इस रामस्य भक्ति' को 'श्रीराम-भक्ति' पाठ बना तो डाला परन्तु उस कृत्ति के परिचय स्वरूप कुछ शेष-चिन्ह अन्वय मे रह ही गये है।

(४) इसी प्रकार 'प्रकाश' के पृष्ठ १६६ में भी ऐसा ही श्लोक एवं अन्वय आया है, जिससे 'प्रकाशकार' की कुछ कीर्तियोंका पता चलता है। यथा:-

"शुभाणि कर्माणि समर्पयेत्सदा रामाय भक्ष्यं च निवेद्य भक्षयेत्"

अन्वय-"शुभानि, कर्माणि, रामाय, समर्प्य, भक्ष्यं, च, निवेद्य भक्षयेत्"

इस मूलपाठ और अन्वय के मिलान करने से स्पष्ट हो जाता है कि पहले पाठ को बदल कर प्रकाश के मूल में तो 'समर्पयेत्' पाठ रखा है, परन्तु अवन्य में अपरि- वर्त्तित पाठ 'समर्प्य' हीं रह गया है। यथा श्रीवैष्णवमताब्ज भास्कर में लिखा है:-

"समर्प्य कर्माणि शुभानि वैष्णवोरामाय भक्ष्य च निवेद्यभक्षयेत्...."

इससे खुलासा हो जाता है आपने श्लोक तो तुम्बाफेरी करके बदल डाला है, परन्तु इस करतूत को पकड़ आपके पीछे लिपटी ही गयी। अपने 'प्रकाश' में श्लोक का उलट-फेर कर 'समर्प्य' का समर्पयेत्' तो बनाय परन्तु अन्वय में उसने फिर उपस्थित होकर करतूत का भण्डा-फोर कर ही दिया।

(५) पुनः 'प्रकाश' के पृष्ठ १६८ में भी इसी प्रकार की लीला देखिये:-

"अर्चावतारोऽपि च देशकालप्रकर्षहीनः श्रितसम्भवश्चः..."

अन्वय-"देशकालप्रकर्षहीनः श्रितसम्मतः...."

यहाँ भी असलपाठ में परिवर्त्तन करके 'श्रित सम्भवश्च' 'प्रकाश' में कृत्रिम पाठ बनाया है, परन्तु अन्वय वही असल पाठ 'श्रितसम्मतः', आ गया है। जैसा कि अथ प्रकाशिका टीकावाली प्रति में पाठ है:-

"अर्चावतारोऽपि च देशकालप्रकर्षहीनः श्रितसम्मतश्च"

(६) 'प्रकाश' के पृष्ठ १७४-१७५ में भी इसी तरह की एक और लीला है।

मूल—"स चाच्युताहेतुकृपाकटाक्षात्"

अन्वय —"सचा" अच्युताहेतुकृपाकटाक्षात:...."

यहाँ भी मूल में 'कटाक्षात्' है, परन्तु अन्वय में 'कटाक्षात:'। इस विषमता का कारण अर्थप्रकाशिका टीका वाली प्रति के पाठ से इसका मिलान कर स्पष्ट देख लीजियेः—

"सचाच्युताहेतुकृपाकटाक्षत: ॥१२७॥"

(७) प्रकाश के पृष्ट १८२ में भी एक ऐसा ही अनमिल श्लोक तथा अन्वय आया है, उस श्लोक का एक अंश इस प्रकार हैः—

'गुणांश्च नामानि शुभप्रदानि'

अन्वय—"....शुभप्रदानि नामानि गृणन"

मूलपाठ में तो 'गुणान्' पाठ आया है, परन्तु अन्वय में 'गृणन्'! ऐसी विषमता क्यों? इसी कारण कि श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर में वास्तविक पाठ 'गृणन्' ही है जैसा कि अर्थ-प्रकाशिका टीकावाली प्रति से स्पष्ट है। यथाः-

तज्जन्मकर्माणि हरेरुदाहरेद् गृणंश्च नामानि शुभप्रदानि॥१४६॥'

यही कारण है, कि आपने सत्य पाठ 'गृणन्' का परिवर्त्तन कर 'गुणान्' तो बना दिया था, परन्तु अन्वय में वास्तविकता कूद ही पड़ी

(८)'प्रकाश' पृष्ट १९१-१९२ का भी एक ऐसा ही दृश्य और देखियेः—

मूल—'श्रीकूर्माचल उत्तमें च सदयं कूर्मं सुरेशेडितं..."

अन्वय—"श्रीकूर्मे, अचले, सुरेशेड़ितं, सदयं, कूर्मं,...."

अब इस अर्थप्रकाशिका टीका वाली श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर की प्रति से मिलाइयेः—

"श्रीकूर्मेऽचल उत्तमे च सदयं कूर्मं सुरेशेडितं...॥१६३॥,,

इससे भी स्पष्ट है कि आपके 'प्रकाश' के इस अन्वय का तो अर्थ-प्रकाशिकावाली प्रति के पाठ से मेल है, परन्तु मूल-पाठ निराला ही है। अतः बदलने की काली करतूत स्पष्ट हो जाती है।

बस, अब एक दो और उदाहरण उपस्थित कर इस दिग्दर्शन को समाप्त कर देना चाहता हूँ, कारण इस प्रकार की करतूतों से तो सारा 'प्रकाश' ही भरा हुआ है-कहीं श्लोक से अन्वय में भेद पड़ता है, यदि अन्वय ठीक रहा, तो हिन्दी अनुवाद से फर्क पड़ जाता है।

अतः डिड्डियाँ कहाँ तक गिनाई जायं ? अब केवल दो एक उदाहरण देकर ही बस करूँगा।

(९) इसके लिये 'प्रकाश' के पृष्ट २०० की विषम लीला देखियेः—

रामाय साङ्गाय सपार्षदाय सीतासमेताय सहानुजाय।
आम्नायवेद्याय विधाय शश्वत् कैङ्कर्यमीर्ष्यारहितः सुचित्तः॥

अन्वय—ईर्ष्यारहितः, समाहितः, साङ्गाय, सपार्षदाय, सहानुजाय, आम्नायवेद्याय, सीतासमेताय, रामाय, शस्वत, कैङ्कर्यं 'विधाय' (कालं क्षिपेत)

दोनों के मिलाने से सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि मूल में तो सुचित्तः' पाठ रखा है परन्तु वही अन्वय में 'समाहितः' बना हुआ है। यह क्यों इसका समाधान अर्थ-प्रकाशिका टीका वाली प्रति के पाठ से मिलान कर लीजिये। यथाः—

"रामाय साङ्गाय सपार्षदाय सीतासमेताय सहानुजाय।
आम्नायवेद्याय विधाय शश्वत् कैङ्कर्यमीर्ष्यारहितः समाहितः॥"

इससे भी स्पष्ट हुआ कि 'प्रकाश' के इस अन्वय का भी अर्थ-प्रकाशिका टीका वाली प्रति के पाठसे ही सादृश्य है। कैसी विचित्रता है, कि अन्वय तो अर्थ-प्रकाशिका के पाठ से मिले, परन्तु जिसका वह अन्वय है, वह पाठ निराला ही रूप रखे। बलिहारी है!

(१०) अब एक उदाहरण ऐसा भी देखिये, जिसमें आपने पाठ तो बदल दिया, और किसी प्रकार अन्वय तक भी उसका निर्वाह किया है, परन्तु हिन्दी टीका में आते आते फिर भी चोरी उघड़ गयी। जैसा कि 'प्रकाश' के पृष्ट १५५ में श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर का एक श्लोक अदल-बदल कर इस प्रकार रखा गयाः—

"कर्मप्रवाहेण तु चेतनस्य संमानस्य संसारमहार्णवे चिरम्।
उपर्यहो संसरतोऽवशस्य सा कृपोद्भवत्येव हरेरहेतुका॥"

अन्वय—"कर्मप्रवाहेण, संसारमहार्णवे, चिरं, संमानस्य, संसरतः, अवशस्य, चेतनस्य, उपरि, हरेः, सा, अहेतुका, कृपा उद्भवति, एव, अहो॥

अर्थ—"अनन्त कर्म प्रवाह के द्वारा इस संसार महासागर में

चिरकाल से डूबते हुए-जन्मते मरते हुये, अस्वतन्त्र चेतन-जीव के ऊपर प्रभु की वह निर्हेतुक कृपा अवश्य उत्पन्न होती है (और उसी से मोक्ष हो जाता है) ।।"

उपर्युक्त श्लोक, अन्वय और हिन्दी अर्थ के मिलान करने से स्पष्ट हो जाता है, कि मूल में जो 'संमानस्य 'संसारमहार्णवे चिरम्' पाठ है, उसीका अन्वय में 'संसारमहार्णवे, चिरं, समानस्य' और हिन्दी अर्थ में 'संसार महासागर में चिरकाल से डूबते हुए' लिखा गया है। अतः स्पष्ट है 'संमानस्य' शब्द का ही 'डूबते हुए' अर्थ किया गया है। किन्तु ' समानस्य' का तो डूबते हुए' अर्थ होता ही नहीं, फिर यह आया कहाँ से । इसके लिये पुनः अर्थ प्रकाशिका टीका वाली प्रति के पाठ से मिलान कीजिये, वह पाठ इस प्रकार है ।

"कर्मप्रवाहेण तु चेतनस्य मग्नस्य संसारमहार्णवे चिरम् ।।९२।।"

अतः स्पष्ट हुआ कि यहाँ जो 'मग्नस्य' पाठ है, उसीको प्रकाश के पाठ में तुम्बाफेरी कर 'संमानस्य' बना दिया, पुनः अन्वय में भी 'संमानस्य' ही रखा गया, परन्तु हिन्दी अर्थ के समय 'असलियत ही टपक पड़ी, अर्थात् उसका अर्थ डूबते हुए' हो गया, क्योंकि 'मग्न' का अर्थ डूबना ही होता ही है, अतः अर्थका तो अर्थप्रकाशिकाटीका प्रति के पाठ से मिलान है, परन्तु 'प्रकाश' के श्लोक तथा अन्वय में वह अंश कृत्रिम होने के कारण, निराला ही रह जाता है । इस प्रकार पाठ-परिवर्त्तन की चोरियाँ एवं तुम्बाफेरियाँ कभी अन्वय में उघड़ पड़ती है, कभी हिन्दी अर्थ में, इस प्रकार सेंध पर की गिरफ्तारी के समान मूल-पाठ अन्वय और हिन्दी अर्थ के अन्दर ही बराबर विषय चोरी पकड़ती ही गयी, जिससे आप की करतूत का भली तरह खुलासा होता गया है। जिस व्यक्ति की इतने षडयन्त्र एवं सावधानी के बाद भी, ऐसी ऐसी प्रत्यक्ष पकड़ाने वाली इतनी इतनी चोरियां उपस्थित हैं, उनकी तथा उनके साथियों की अन्य परोक्षकीर्त्तियों 'श्रीराम—मन्त्रराज—परम्परा' 'बाल्मीकि-संहिता' एवं आनन्द—भाष्य आदि का अविश्वास करना तो अवश्य अनिवार्य है ही ।

३—चोरी का माल बरामद ॥

अब प्रकाशकार की समालोच्य-कीर्त्तियों के तीसरे विभाग की कुछ लीलायें भी देखिये। यद्यपि इसके पूर्व दोनों विभागों की समालोचनाओं में इस विभाग की आलोच्य सामग्री की भी बहुत कुछ उपस्थिति हो चुकी है—यथा सात प्रतियों में से पाँच प्रतियों, एव 'श्रीगुरुदत्त' प्रति इन छः प्रति की प्राप्ति तथा श्रीगुरुदत्त प्रति के अनुसार पाठ रखने और अन्य प्रतियों से सम्पादन–संशोधन में सहायता लेने की बाते सरासर झूठी होने के कारण उसका अच्छी तरह भण्डाफोर हो जाना श्रीराममन्त्र एवं श्रीरामोपासना की मुख्यता के आधार पर अन्य भगवन्नामों एवं रूपादिकों की महत्ताओं को प्रतिस्पर्द्धा समझने के अशास्त्रीय सिद्धान्त एवं उसीके चलते तत्तद्विषयक श्लोकों में काट-छाट अदल-बदल एवं ग्रहण–त्याग आदि करने की मनमानी क्रियायों की अनगलता पूरी तरह स्पष्ट हो जाना, और इससे 'गुरुदत्त' प्रति की प्राप्ति और उसके अनुसार पाठ रखने के जाली कथन का भलीभाँति पकड़ जाना, इसके अतिरिक्त चुपके से निराधार ही बहुत से अन्य श्लोकों को भी काँट छाँट अदल बदल एवं ग्रहण-त्याग कर डालना और 'सेंध' पर की गिरफ्तारी' में बहुत से चुपके से किये हुए अदल बदल एवं काँट छाँट वाले श्लोकों की पकड़ अन्वयार्थ ही में हो जाना इत्यादि—क्योंकि इन सब समालोचनाओं में चोरी की बहुत कुछ कीर्तियाँ अपने आप प्रकाशित होती गयी है—पकड़ती गयी है, फिर भी उसके सिवा कुछ अन्य घटनाओं से भी चोरी का माल खास तौर से बरामद कर देना उचित प्रतीत होता है, क्योंकि उपर्युक्त करतूतों की पकड़ हो जाने से यह अनुमान सहज सिद्ध हो गया, कि इस तरह और भी बहुत सी नवीन तथा प्राचीन चोरियाँ अवश्य ही हुई होंगी। अतः आपकी इस तथा अन्य कीर्त्तियों के अनुसंधान भी किये गये, तो अनुमान पूर्ण रूपेण सत्य सिद्ध हुआ अर्थात् इस नयी तथा पुरानी चोरियों के भी बहुत से माल बरामद हुये। अब क्रमशः उसीका थोड़ा दिग्दर्शन कराया जायगा। इसमें प्रस्तुत चोरियों (प्रकाश ग्रन्थ) के तो बहुत कुछ माल पहले ही बरामद हो चुके हैं। अतः अब इसमें से इस दृष्टिकोण

से दो-चार उदाहरणों की ही उपस्थित काफी होगी, पुनः प्राचीन चोरियों के भी दो-चार उदाहरण उपस्थिति कर दिये जायेंगे, ताकि इस माल चोरियों का बरामद भली भाँति स्पष्टी करण हो जाय।

इसके लिये सबसे पहले 'प्रकाश' के ११४ वें पृष्ट के निम्न लिखित श्लोक और उसके अर्थ की ओर दृष्टि डालें:-

द्विभुजस्यैव रामस्य सर्वशक्तेः प्रियोत्तम !
ध्यानमेव विधातव्यं सदा रामपरायणः ॥ ६ ॥

अर्थ -'हे प्रियोत्तम! रामभक्तों का सर्वदा सर्वशक्तिमान् द्विभुज धनु' र्धारी भगवान् श्रीरामजी का ही उपर्युक्त प्रकार से ध्यान करना चाहिये।६।

सबसे पहले तो यह सम्पूर्ण-श्लोक ही कृत्रिम है, क्योंकि यह श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर की किसी भी प्रति में नहीं है, बल्कि जिस अर्थ-प्रकाशिका टीका वाली प्रति से 'प्रकाश' का काया-निर्म्माण हुआ है, उसमें भी इस श्लोक का नाम-निशान तक नही है। फिर भी आपने इस मन गढन्त श्लोक को चुपचाप इसी प्रकार गढ छोल कर मिला दिया है, कि जिसमें उसकी कृत्रिमता की तनिक भी बू--बास तक फूटने न पावे, ताकि करतूत की पकड़ ही न होने पावे। इसीलिये तो आपने इसकी अधिकता का जरा भी जिक्र नही होने दिया है। जिक्र होने से खोज-ढूढ होने पर पकड़ हो जाने की पूरी आशङ्का थी ही, अतः इसी भय से आपने साँस तक बन्द कर पूरी तरह चुप्पी साध ली है। जान पड़ता है, मनमानी काट-छाँट, अदल-बदल एव ग्रहण-त्याग करते करते इस कार्य में आपका हौसला इतना निशंक-धृष्ट हो गया था, कि यहाँ पर सम्पूर्ण-नूतन श्लोक ही गढ़ कर मिला दिया है। अतःयह कृत्रिम श्लोक उसी धृष्ट-उमंग की रचना है, यह भली भाँति स्पष्ट होता है।

अब देखना यह है, कि इस श्लोक की रचना किस प्रयोजन से हुई है। यद्यपि इस श्लोक के सभी अवयवों का वर्णन इसी ध्यान प्रकरण के और २ श्लोकों में होचुका है, यथा "बुधैरात्मरतैर्नित्यं जितप्राणर्जितेन्द्रियैः" में ध्यान के अधिकारी का पहिले ही परिचय दिया ही जा चुका है, श्रीसीताजी एव लक्ष्मण जी से युक्त श्रीरामजी का 'दाशरथि' शब्द पूर्वक कथन होने से द्विभुजत्व भी सिद्ध ही है, "विधि भवादि के मनोहारी" कहने से परमेश्वरता प्रकट ही है और अन्त के श्लोक में "एवं तेऽभिहितं

भी करेंगे ही अतः पूजा काल में उनका ध्यान भी करेंगे ही, फिर यह मतवाद, कि द्विभुज श्रीरामजी का ही ध्यान करें, इस प्रकरण के सिद्धान्त से विरुद्ध होने के कारण भी श्रीरामानन्दस्वामीजी के सिद्धान्त से विरुद्ध हुआ. अतः इसकी कृत्रिमता की इस प्रकार भी पोल खुलती है। यदि यह कहें, कि "सभी भगवद्-विग्रहों में श्रीरामरूप का ध्यान करते हुए पूजा कर।" तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जहाँ पर इसकी विधि लिखी हुई है, वहा ऐसी आज्ञा ही नही है, बल्कि उन उन देवों का भिन्न भिन्न ही नाम-रूप लिख कर उनकी पूजा की विधि लिखी गयी है। यथाः-

अशेषतीर्थेषु वसेत्समर्चय सन तत्र तत्राविर्भूदनुत्तमम्।
तथा तथा तं जगतामनन्यधीः पतिं चतुबर्गफलप्रद हरिम्॥१५४॥

अर्थात्-अनन्य वैष्णव लोग, संसार के स्वामी अर्थ धर्म, काम मोक्ष के दाता श्रीहरि जिन जिन स्थानों में आविर्भूत हुए है, उन उन समस्त तीर्थों में उनकी सम्यक् रीति से अर्चना करते हुए वहां निवास करें।१५४।

इस श्लोक में पहले तो दिव्यदेश का लक्षण किया गयाहै, कि जहाँ जहाँ भगवान् आविर्भूत हुए हैं (इससे यह भी उपलक्षण समझना चाहिये, कि भगवान् जहाँ जहाँ आविर्भूत हुए और लीला या निवास किये है) वे समस्त तीर्थ दिव्य देश है। और उन उन समस्त तीर्थों में वहां के अध्यक्षदेव रूप भगवद्विग्रहकी सम्यक् रीति से अर्चना करते हुए वहा निवास करना चाहिये। अर्थात् बद्रिकाश्रम में नारायणजी की, वृन्दावन में नन्दललाजी की, अयोध्या में श्रीरामजी की, एवं गोवर्द्धन में सुन्दर गोप वेष धारी भगवान् की पूजा अर्चा करनी चाहिये। इसी प्रकार सभी दिव्य क्षेत्रों में जो भगवान् हैं उनकी पूजा करते हुए निवास करना चाहिये। यदि इस पर यह प्रश्न हो, कि तो फिर अनन्यता कैसे ? तो इसका सहज समाधान यह है, कि भगवान् के जितने अवतार या विग्रह है, उन सबों को श्रीरामोपासक वैष्णव श्रीरामजीका ही अवतार या विग्रह समझ कर पूजा करें अर्थात् घटिकाचल में नृसिंह रूप में श्रीरामजी ही हैं बद्रिकाश्रम में नारायण रूपसे श्रीरामजी ही हैं गोवर्धन में सुन्दर गोपवेष धारण किये भी श्रीरामजी ही है, मथुरा में बालक-कृष्ण के रूप में भी श्रीरामजी ही है, इत्यादि। अतः एक ही व्यक्ति के भिन्न

भिन्न रूपमें होने पर भी व्यक्तित्व की एकता से अभेद होने के कारण अनन्यता में भी त्रुटि नही है। हां, यदि भिन्न भिन्न व्यक्तित्व मान कर पूजा की जायगी, तो अनन्यनता में अवश्य गड़बडी पड़ेगी। किन्तु ऐसा कौन मूर्ख वैष्णव मान या कर सकता है ? जो ऐसा मानेगा, वह दूसरे अवतार या स्वरूप को मानेगा ही क्यों ? अतः उसके लिये न तो कोई भिन्न दिव्यदेश ही मान्य होगा, न अन्य भगवद्वतार या अन्य भगवद्-विग्रह ही, किन्तु ऐसा कभी भी इस सम्प्रदायकी मान्यता नही है कोई व्यक्तिगत भावना से भले करें। तभी तो श्रीरामोपासकों के लिये भी श्रीरामानन्द स्वामीजीने श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर में श्रीकृष्ण जी, श्रीनृसिंहजी, श्रीवामन जी आदि अवतारों की जयन्ती मनाने और उनके उत्सवादिक-रामलीला, रासलीला दानलीला-रथयात्रादि करने की विधि लिखी और सभी दिव्य-क्षेत्रों में वहाँ के भिन्न भिन्न रूप-वेष धारी भगवान् की पूजा करते हुए वहां निवास करने की विधि की भी घोषणायें की हैं ?

यदि उन नृसिंह, कृष्ण, वामन आदि भिन्न भिन्न रूप-वेषों में श्रीराम-रूप का ही ध्यान की पूजा करी जायगी, तो फिर उनको नृसिह, कृष्ण, वामन आदि माना ही कैसे जा सकता है ? तब तो वे भिन्न रूप के नही ही हुए ? यदि नृसिह जी को भी श्रीराम ही रूप माने, तो फिर नृसिह कैसे ? नृसिह तो मनुष्य एवं सिंह के मिश्रित रूप को कहते है, और नृसिह जी का यही ध्यान है ; यदि उनका श्रीराम रूप से ध्यान किया जायगा, तो वह श्रीनृसिह जी का ध्यान कैसे हुआ ? फिर घटिकाचल म नृसिह भगवान् की पूजा कैसे सिद्ध होगी ? इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न नाम रूप देने की आवश्यकता ही क्या थी ? इसी तरह गोवर्द्धन म गोप वेष धारी भगवान् की एवं मथुरा में बालकृष्णजी की पूजा करने को कहा है, फिर उनकी भी श्रीरामरूप का ध्यान कर पूजा की जाय, तो, वे फिर गोपवेष धारी बालकृष्ण भगवान् कैसे ? अतः ऐसा मानना ठीक नहीं। वैष्णव शास्त्र का यही सिद्धान्त और आचार्यों की पद्धति है, कि भगवान् के भिन्न भिन्न रूपों (विग्रहों) को अलग अलग मानते हुए भी उनमें व्यक्तित्व की एकता स्वरूपाभेद मानते हैं, यही कारण है, कि सभी भगवद्वतारों, विग्रहों एवं उनके क्षेत्रों को सभी वैष्णव मानते है। यदि ऐसा नही होता, तो न तो श्री रामोपासक, अन्य

अवतारों या दिव्य-क्षेत्रों को मानते, न अन्य भगवद्-रूप उपासक अन्य अवतारों, विग्रहों या दिव्य क्षेत्रों को ही। किन्तु शास्त्र सदाचार तथा, आचार्यों के ग्रन्थों से स्पष्ट है, कि भगवान् के सभी नाम, रूप एवं क्षेत्रादिक सभी वैष्णव के लिये मान्य एवं पूज्य हैं। यही कारण है, कि श्रीरामानन्दस्वामीजी ने श्रीवैष्णव—मताब्ज—भास्कर के अर्चावतार-प्रकरण में श्रीरामजी की स्तुति लिखते हुए अन्य भगवद्-रूपों से अभिन्नता सूचक ही शब्दों का प्रयोग किया है, यथा-

"जगत्पते श्रीश जगन्निवास प्रभो जगत्कारण रामचन्द्र"॥१२०॥
"मनोऽमिलिन्दस्तव पादपङ्कजे रमाऽर्चितेसंरमतां भवेभवे"१२०॥

यहाँ स्पष्ट ही श्रीरामजी को 'श्रीश'(लक्ष्मीपति) और उनके चरणारविन्द को रमार्चित (श्रीलक्ष्मीजी से पूजित, सेवित) कहा है, यदि भेद-भाव का सिद्धान्त मान्य होता, तो वे उनके लिये अभेद-सूचक शब्द क्यों रखते ?

अतः श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर से ही भली भाँति सिद्ध है, कि श्रीरामानन्द स्वामीजी का यही सिद्धान्त है, कि श्रीरामोपासक-वैष्णव, अन्य भगवद् विग्रहों की पूजा-अर्चा एवं ध्यान स्वरूपाभेद (व्यक्तित्वाभेद) मानते हुए ही करें। किन्तु श्रीभगद्दासजीने ध्यान में जो कृत्रिम श्लोक मिलाकर 'द्विभुजस्यैव रामस्य'(द्विभुजरामजी का ही)पद रख कर अन्य भगद्रूपों में अश्रद्धा एवं भेदभाव करने की जो चेष्टा की है, वह स्वयं उनकी निजी कृति है, जिसे उन्होंने श्रीरामानन्दस्वामीजीके नाम पर मढ़ कर अपने दूषित—अभीष्ट की सिद्धि करनी चाही है। एक तो वह श्लोक श्रीवैष्णव—मताब्ज भास्कर की दूसरी किसी प्रति में नहीं है, इसीसे चोरी छिपाने के लिये उस श्लोक की अधिकता का आपने जिक्र तक नहीं किया है, अतः अमान्य है, दूसरे स्वयं श्रीरामानन्दस्वामीजी के, श्रीवैष्णव—मताब्ज—भास्कर में लिखे मतवादों—सभी भगवद्रूपों में स्वरूपाभेद से अभेदभाव—के सर्वथा प्रतिकूल है इसलिये परम त्याज्य भी है।

ऐसी कीर्ति ही का एक और उदाहरण लीजिये, श्रीरामानन्दस्वामीजी ने श्रीवैष्णव- मताब्ज—भास्कर में पञ्चसंस्कार के प्रकरण में लिखा है :—

"तप्तेन मूले भुजयोः समङ्कनं चक्रेण शङ्खेन तथोर्ध्वपुण्ड्रम्।"६०

शंख—चक्र से भी आपको स्वाभाविक द्वेष है ही, अतः असह्य

होने से आपने उसे बदल कर 'प्रकाश' पृष्ट ११५में इस प्रकार कर दिया:—
"तप्तेन मूले भुजयोः सपङ्कनं धारणा चापेन तथोर्ध्वपुण्ड्रकम्।"

इसके आगे के दोनों श्लोकों में भी इसी पञ्चसंस्कार की विधि कही गया है, उसमें भी आपने 'चक्रादि' के स्थान में 'चापादि' बना दिया है। इस प्रकार मूल में पाठ-परिवर्त्तन कर आपने तो अपनी जान में सब काम सम्हाल लिया है, किन्तु इसको प्रमाणित करने के लिये आपने टिप्पणी में शास्त्रों के बचनों को उद्धृत कर इसका स्पष्टीकरण किया है, उसमें फिर असली ही बात प्रकट हो गयी है, और आपके इस परिवर्त्तन की चेष्टा पर पूरी तरह पानी फिर गया है। यथा प्रकाश के पृष्ट ११७ की टिप्पणी मे माला का प्रमाण उपस्थित किया गया है:—

"शंखचक्रधरो विद्वान माला तुलसिजा धृता"

एवं पुनः प्रकाश के पृष्ट १२०-१२१ की टिप्पणी में भारद्वाज संहिता से तप्त-मुद्रा की पूरी विधि आपने उद्धृत की है। जिससे आपके पाठ-परिवर्तन और उसके विषय की पूरी तरह पोल खुल गयी है, और वह परिवर्त्तन-विषय भली-भाँति अप्रामाणिक सिद्ध हो गया है। यथाः—

"आचार्यः स्वयमादाय नियुक्तो वाथमन्त्रवित्॥
प्राङ्मुखस्योपविष्टस्य न्यसेद्बाहौ तु दक्षिणे।
सुदर्शनं तथा वामे पाञ्चजन्यं स्वमन्त्रतः॥
एवं गदां धनुः खड्गं ललाटे मूर्ध्नि वक्षसि।
चक्रं वा शङ्खचक्रं वा धारयेत्सर्वमेव वा।"

अर्थात्—स्वयं आचार्य अथवा आचार्य द्वारा नियुक्त मन्त्रविद् वैष्णव, पूर्व मुख बैठे हुए शिष्य की दहिनी भुजा को तप्त-सुदर्शन-'चक्र' से एवं बायीं भुजा को पाञ्चजन्य'शङ्ख'से अङ्कित करे। इसी प्रकार गदा धनुष एवं खड्ग, से क्रमशः ललाट, मूर्द्धा एवं वक्षस्थल को, अर्थात् गदा से ललाट को, धनुष से मूर्द्धा को, एवं खड्ग से वक्षस्थल को अङ्कित करे। इस में से केवल चक्र या शङ्ख चक्र-अथवा सबों को—शङ्ख चक्र, गदा धनुष एवं खड्ग इन पाँचों आयुधों को—धारण करावे।

इससे स्वतः ही प्रमाणित हुआ, कि बाहु में शंख-चक्र की ही मुद्रा ग्रहण करने की शास्त्राज्ञा है, धनुष-बाण की नहीं, धनुषबाण

की मुद्रा की विधि तो मूर्द्धा पर धारण करने की है, और सो भी सभी आयुधों की मुद्रा ग्रहण के साथ, अर्थात् चक्र, शंख, गदा, खड्गकी मुद्रा धारण के साथ ही धनुषबाण की भी मुद्रा ग्रहण करे, अकेले नहीं। अकेले जब मुद्रा गृहण कर सकता है, तो चक्र अथवा केवल शङ्ख-चक्र की ही। यही कारण है, कि श्रीरामानन्दस्वामीजीने श्रीवैष्णमताब्जभास्कर में सामान्यरूप से शंख-चक्र की ही मुद्रा-गृहण की आज्ञा दी है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि श्रीस्वामी जीने अन्यमुद्रा गृहण का आज्ञा ही नहीं दी है उन्हों ने पञ्चायुधों चक्र, शंख, गदा, खड्ग और धनुषबाण-के गृहण को भी आगे चलकर वैष्णव-लक्षण वर्णन प्रसङ्ग में सङ्केत किया है। यथाः-

"चक्रादि पञ्चायुध चिन्हिताङ्गः समीक्ष्य हृष्टश्च हरिप्रियानसौ"॥१४८॥

"पञ्चायुधाङ्काङ्कितवैष्णवा ये सद्द्विजक्षत्रियवैश्यशूद्राः" ॥१४९॥

यहाँ भी 'चक्रादि पञ्चायुध" के स्थान पर 'प्रकाश' में "चापादि पञ्चायुध' पाठ बना दिया गया है, परन्तु इससे तो मतलब हीं सधेगा? इससे भली भाँति यही सिद्ध हो रहा है, कि जैसी भरद्वाज—संहिता में तप्त-मुद्रा ग्रहण की विधि लिखी हुई है, श्रीरामानन्दस्वामीजीने भी ठीक उसी प्रकार की आज्ञा श्रीवैष्णव-मताब्ज—भास्कर में दी है अर्थात् विशेषरूपेण पञ्चायुध की मुद्रा ग्रहण करने की विधि है, परन्तु सामान्य रूपेण शंख-चक्र की ही मुद्रा ग्रहण की जा सकती है, और बाहुमें शङ्ख-चक्र की ही मुद्रा ग्रहण करनी चाहिये। किन्तु श्रीभगवद्दासजीने अपनी द्वेष बुद्धि के कारण श्रीस्वामीजीके वचन 'तप्तेन मूले भुजयोःसमङ्कनं चक्रेण शखेन" को हटाकर उसके स्थान में 'तप्तेन मूले भुजयोः समङ्कनं शरेण चापेन" बना दिया है। परन्तु आगे चल कर उनकी ही टिप्पणी से उनका ही किस तरह पर्दाफास होगया है! आपने यह भी नहीं सोंचा, कि एक तो बाहु में धनुषबाण की मुद्रा धारण करने की शास्त्रीय-विधि नहीं है, है शंख-चक्र की। फिर ऐसी अप्रामाणिक चाल कहाँ छिपेगी? दूसरे आगे श्रीरामानन्दस्वामीजीने ही जब स्पष्ट रूप से पञ्चायुधों की मुद्रा ग्रहण करनेकी बात भी लिखी ही है, तो वहाँ शख-चक्र की मुद्रा का कौन सा स्थान सिद्ध किया जायगा? उससे तो असली बात खुल ही पड़ेगी कि, शङ्ख-चक्र बाहु में और

धनुषबाण मूर्द्धा में अङ्कित किया जाता है, क्योंकि शंख-चक्र की मुद्रा का स्थान बाहु ही है, अतः धनुषबाण के लिये मूर्द्धा ही स्थान सिद्ध होगा। ज्ञात होता है, इन सब त्रुटियो की ओर आपका ध्यान ही नही गया, नही तो, आप न तो स्वयं भारद्वाज-संहिता का प्रमाण ही उपस्थित करते, न इस "पञ्चायुध" शब्द को रहने ही देते। क्योंकि इसीसे आपकी करतूत भलीभाँति पकड गयी, अतः चोरी का सारा माल बरामद हो गया है।

इसी प्रकार और भी बहुत सी चोरियाँ स्पष्ट हो गयी है, जो श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर की प्रति से 'प्रकाश' का मिलान करने से अपने आप दिखाई पडने लगती है, अतः अब यहाँ और अधिक उदाहरण न देकर इसी सिलसिले में कुछ पुरानी चोरियों की माल-बरामदी की लीला भी उपस्थित कर इस प्रकरण को समाप्त करना चाहता हूँ, ताकि आपकी तस्करी-वृत्ति के प्राचीन गौरव से भी लोग अवगत हो जायँ।

ऐसे तो आपकी पुरानी चोरियाँ भी बहुत सी एवं बहुत तरह की है, उसका कहाँ तक उपस्थिति-करण किया जायगा। अतः अच्छा होगा, कि इसी प्रकरण के विषय से सम्बन्ध रखने वाली दो एक चोरियों की ही पकड़ और माल-बरामद की घटना उपस्थित करूँ। इसके लिये सबसे उचित यही प्रतीत होता है, कि आपके गुरुदेव श्रीयुत महन्त श्रीराममनोहरप्रसादजी बड़ास्थान अयोध्या ने जो श्रीरामानन्द-स्वामीजी कृत श्रीवैष्णव-मताब्ज भास्कर एवं श्रीरामर्चनपद्धति के अधार पर 'श्रीसम्प्रदायदिक्पदर्शन' नामक पुस्तिका लिख छपा कर प्रकाशित की थी, जिसके खण्डन स्वरूप आपने भी 'श्रीसम्प्रदाय-रक्षा' नामक पुस्तिका लिख कर प्रकाशित की थी, उसका 'प्रकाश' से मिलान कर आपकी कार्य-पद्धति का नमूना उपस्थित करूँ, जिससे आपकी कार्य-शैली के औचित्य एवं सत्यता पर अच्छी तरह प्रकाश पड़ सके और सन्तलोग आपके स्वरूप को अच्छी तरह पहचान लें।

आपके श्रीगुरुदेवजी ने 'श्रीसम्प्रदाय दिक्पदर्शन' के पृष्ट ७ में 'आचारी एवं विरागी दोनों श्रीवैष्णवों में श्रीजीकी अणु रूप से व्याप्ति मानना समान है, अतः एकता है दिखलाया था। यथा—

'एवमुभयत्र श्रीव्याप्तिरप्यणुत्वतस्तुल्यैव। तदुक्तं वै०—"अथो

च्यते निर्भरतापरैस्तैः श्रीव्याप्तिरद्धा सुमुघैरणुत्वतः । प्रपञ्चनिर्मातृ विरञ्चिहेतुश्रीरामपादाब्जनिविष्टमानसै." [१४] इति ॥ ६॥

"इसी तरह श्री जी की व्याप्ति भी अणुरूप से दोनों सम्प्रदाय में तुल्य है, सो श्रीरामानन्दस्वामीजी ने वै० के १४ वे श्लोक में में कहा है ॥ १६ ॥"

अब इसका उत्तर जो आपने "श्रीसम्प्रदाय रक्षा" में किया है, उसको भी देखिये:-

"(१०) अणुरूप से श्रीजी की व्याप्ति श्रीरामानन्द सम्प्रदाय में स्वीकृत नहीं है, ऐसा वाक्य हमारे सम्प्रदाय के ग्रन्थ में जहाँ जहाँ आवे, सब प्रक्षिप्त समझना चाहिये ।"

श्रीसम्प्रदाय रक्षा हिन्दी भाग पृष्ट ७

अब आपके इस उत्तर का आपके ही 'प्रकाश' से मिलान कर आपकी कार्य-शैली की सत्यता एवं स्वरूप का भली भाँति परिचय कर लीजिये। आपने गुरुदेवजी के जिस विचार का खण्डन किया है, बल्कि श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर के उपर्युक्त प्रमाण को भी प्रक्षिप्त तक कह डालने का दुस्साहस किया है, उसीको 'प्रकाश' के १५६ वें पृष्ट की निम्नलिखित बातों से मिलान कीजिये। उसमें मूल-श्लोक इस प्रकार है:-

"अणुत्वतो निर्भरतापरैस्तैः श्रीव्याप्तिरार्य्यैरभिधीयते हि ॥
प्रपञ्चनिर्मातृविरञ्चिहेतुश्रीरामपादाब्जनिविष्टचित्तैः ।"

और इसका आपने वहीं इस प्रकार हिन्दी अनुवाद भी दिया है-

"ससार के बनाने वाले ब्रह्मा जी के भी कारणभूत श्रीरामजी के चरण कमलों में चित्त लगाने वाले निर्भरता परायण उन श्रेष्ठ पुरुषों ने अणुत्वेन श्रीव्याप्ति कही है ॥"

अब मिलान कीजिये। जब आपके श्रीगुरुदेवजीने श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर के इसी श्लोक को प्रमाण में रख कर श्रीजी की अणुत्वेन व्याप्ति लिखी थी, तो आपने अपने श्रीगुरुदेवजी को झूठा बनाने और अपमानित करने की ग़रज से ही श्रीसम्प्रदाय रक्षा में उत्तर के नाम पर लिख दिया, कि 'श्रीरामनन्दीय-सम्प्रदाय में श्रीजीकी अणुरूप से व्याप्ति स्वोकार नही है, और इस सम्प्रदाय के ग्रन्थ में जहाँ ऐसा लिखा मिले भी, उसे प्रक्षिप्त समझना चाहिये ।" किन्तु स्वयं 'प्रकाश'

में उसी बात को—'अणुत्वेन श्रीव्याप्ति कही है'—लिखते भी हैं, जैसा कि पहले आपके श्रीगुरुदेव जीने श्रीसम्प्रदाय–दिवप्रदर्शन में लिखा था। ऐसा क्यों? इसी लिये तो, कि आप मनमानी नयी–परम्परा के साथ साथ नया–सिद्धान्त भी बनाना चाहते है, किन्तु न तो उसका कोई निश्चित आधार है, न सत्य–पक्ष ही है, अतः जब जैसा जी में आता है, खण्डन के नाम पर उटपटाङ्ग लिख चलते एवं उटपटाङ्ग ही सिद्धान्त भी कर चलते है, इसी कारण कभी कुछ और कभी कुछ बेमेल ही लिखा करते हैं।

इसी प्रकार की एक और लीला भी देख लीजिये। श्रीयुत महान्त जीने श्रीसम्प्रदाय-दिवप्रदर्शन के पृष्ट १३–१४ में श्रीरामार्चन–पद्धत्ति से परम्परा–सम्बन्धी ३ श्लोक उद्धृत कर दोनों सम्प्रदायों की एकता सिद्ध की थी, किन्तु आपने अपनी 'श्रीसम्प्रदाय-रक्षा' में जो उसका उत्तर दिया है, उसका दर्शन कीजियेः–

"श्री०स०दि०प्र० १३ पृष्ट में महाराजजी ने श्रीरामार्चन–पद्धत्ति के तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। जिनमें रामानुजस्वामी जी की परम्परा क अनुकूल श्रीरामानन्द सम्प्रदाय की परम्परा होने का समर्थन है। यहाँ हमारे श्रीगुरुजी महाराज को बड़े प्रयास के बाद कुशकाशावलम्बन मिला। परन्तु बात तो वही हुई, कि 'खोदा पहाड़, निकला चूहा, सो भी मरा हुआ। जिस- रामार्चन पद्धत्ति को आप श्रीरामानन्दस्वामी कृत मानकर श्वासोच्छ्वास ले रहे है, वह श्रीरामानन्दस्वामी जी कृत है ही नहीं।"

श्रीसम्प्रदायरक्षा हिन्दी भाग पृष्ट १९–२०।"

"अतः यह निर्विवाद सिद्ध है, कि श्रीरामार्चनपद्धति किसी वृद्ध महात्मा ने लिखी है और नवजवानों को जाल में फँसा देने के लिये श्रीरामानन्दस्वामी जी का नाम लिख दिया है।"

श्रीसम्प्रदाय रक्षा हिन्दी भाग पृष्ट २७

अब श्रीसम्प्रदाय- रक्षा के इस कथन का आपके ही 'प्रकाश' की प्रस्तावना पृष्ट ४ के कथन से मिलान कीजिये, जो इस प्रकार हैः—

"यह ग्रन्थ श्रीस्वामीजी महाराज का द्वितीय ग्रन्थ है। इसके पूर्व में श्रीमदानन्द भाष्य निर्मित हो चुका था। इस लिये इस ग्रन्थ में आनन्द भाष्य से कालक्षेप करने की आज्ञा दी गयी है। गीताभाष्य और श्रीरामार्चन–पद्धति इत्यादि ग्रन्थ इसके पीछे निर्मित हुए हैं।"

अब आपके कथन में समानता एवं सत्यता का विचार कीजिये। 'प्रकाश' की प्रस्तावना में तो स्पष्ट रूपसे आपने 'श्रीरामार्चन पद्धति' को श्रीरामानन्दस्वामीजी कृत माना है, परन्तु श्रीसम्प्रदाय-रक्षा में अपने गुरुदेवजीको कितना अपमान जनक शब्द कहते हुए इसी बात को एकदम अस्वीकार कर दिया है। वहाँ तो श्रीरामार्चनपद्धति को किसी वृद्ध महात्मा के द्वारा नव जवानों को जाल में फसाने के लिये श्रीरामानन्दस्वामीजी के नाम पर लिखा जाना निर्विवाद सिद्ध बतलाते हैं, परन्तु यहाँ उसे सीधे श्रीरामानन्दस्वामीजी ही कृत मानने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं हुई। वाह रीधृष्टता! अब विचारना यह है कि जब पहले उसको श्रीरामानन्दस्वामीजी कृत होने से आपने इनकार कर दिया था, तो फिर किस साहस से इतना निशङ्क होकर उसे श्रीस्वामीकृत स्वीकार कर लिया? इसका कारण यह है, पहले तो आपने उसमें स्पष्ट श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा के अन्तर्गत श्रीरामानन्दस्वामी की परम्परा लिखी रहने के कारण नई परम्परा की स्थिति--हीनता होने के भय से उस श्रीरामार्चन-पद्धति ग्रन्थ को ही श्रीरामानन्दस्वामी कृत स्वीकार करने से इनकार कर दिया। परन्तु श्रीवैष्णव मताब्ज भास्कर का सम्पादन संशोधन भार आपने अपने ऊपर लिया और उसमें मनमानी काट-छाँट अदल बदल ग्रहण त्याग और कृत्रिम श्लोक रचना करने लगे, तो आपने सोचा कि श्रीरामार्चन-पद्धति भी श्रीरामानन्दस्वामी जी कृत है ही, और उसका इतना प्रसार, प्रचार तथा प्रामाणिकता है, कि अस्वीकार करने से उससे पिण्ड छूट नहीं सकता, अतः उसे भी क्यों न श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर की ही तरह अपने मतलब के अनुसार मनमानी काँट-छाँट,अदल बदल, ग्रहण त्याग और नई रचना घुसेड़ कर प्रकाशित कर दें और कई पुरानी हस्तलिखित प्रतियों अथवा श्रीगुरुदत्त प्रति के अनुसार होने को झूठी घोषणा कर मनोरथ सिद्ध करें। ऐसे तो प्रामाणिक-ग्रन्थ के इनकार करने से सत्यमण्डली में काम चल नही सकेगा। यही कारण है, कि श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर के संशोधन-सम्पादन में इस मतलबी-परिवर्तन की कला में कुशल हो जाने पर उसी नियत से श्रीरामार्चन-पद्धति को भी श्रीरामानन्दस्वामीजी कृत स्वीकार किया है। अतः

सम्भव है,उसकी भी इसी प्रकार रचना हो रही होगी। हाँ, इस चाल के पकड़जाने से सम्भवतः आप अपने नाम से संशोधन-सम्पादन का जाहिरा न होने दें, यह दूसरी बात हैं, परन्तु यदि प्रकाशन हुआ भी, तो उसका भी, ऐसा ही अंग भंग अवश्य ही होगा।

इसी प्रकार और भी आपकी बहुत सी कृतियाँ है. परन्तु इतने से ही बहुत कुछ आपका परिचय प्रकाशित हो गया है, अतः अब अधिक उद्धरण उपस्थित कर विवेचन करने की जरूरत नहीं। इनके ग्रन्थों के क्रमशः अध्ययन करने वालों को तो इनकी सारी की सारी पुस्तकें इसी प्रकार मिथ्या-विचार और अनर्गल-धीगाधीगी से भरी दिखाई पड़ेगी, अतः लोगों को इनकी एक पुस्तक से दूसरी पुस्तक का मिलान कर पढना ही सब से अच्छा होगा। यहाँ तो केवल उनकी कार्य-शैली का संकेत मात्र किया है। इतने में ही एक जगह की चोरी दूसरी जगह किस प्रकार उनके लेखों में ही उघडती गयी, और उसकी सहज ही पकड होती चली है? यहाँ तक की बहुत पुरानी पुरानी चोरियाँ भी अब पकड़ी जारही है उसके पचे हुए से माल बरामद हो रहे है। इसका कारण यही हुआ, कि इतने दिन बीत जाने से यह आप भूल गये थे, कि यह चोरि का माल है; अतः बाहर करते ही पकड़ गये। श्रीजीकी अणुत्वेन व्याप्ति की और श्रीरामर्चनपद्धति की अस्वीकृति रूप चोरी का माल 'प्रकाश' में किस प्रकार बरामद हो गया। इसी प्रकार सारी पुस्तक की ही दुरवस्था कर डाली गयी है। जब एक ही स्थान पर ऊपर कुछ और नीचे कुछ लिखने के कारण चोरियाँ साफ साफ पकड़ी जा ही रही है, तो दूर दूर और पुरानी पुरानी चोरियाँ कहाँ तक छिपाई जा सकती है? चोरी का माल सुव्यवस्थित रहे तो कैसे? कुछ यहाँ छिपाया, कुछ वहाँ छिपाया; अतःकुछ यहाँ पकड़ गया कुछ वहाँ पकड़ गया। कुछ अपनी भी पूँजी रहे, तो भला कुछ क्षण के लिये उसमें छिपाया भी जा सकता है, है तो सारा का सारा माल चोरी का ही, अतः किसको ओट में कौन छिपाया जाय! जिधर से देखा, उधर ही नजर आया, अतः पकड़ गया। दूसरी बात यह भी है, कि आपकी कृति की धारे प्रसिद्ध भी हो ही चुकी है, अतः अब आप पर बराबर सन्देह-दृष्टि ही पड़ती है, और आप में भी पहली

आदत बनी हुई है ही, बल्कि और बढ़ती बढ़ती जाती है, अतः किसी भी चोरी का छिपाना सर्वथा असम्भव ही होता जाता है। यही कारण है, कि इस 'प्रकाश' कोही जिधर से देखिये, उधर ही करतूतें खुली नज़र आती है। इन दो चार उदाहरणों से केवल यहाँ संकेत मात्र किया गया है, ध्यान देने से ऐसी कुत्तयों से यह सारी पुस्तक ही, बल्कि आपकी सारी कृति ही इसी प्रकार मिथ्या-रचना का भण्डार साबित होगा। इससे सब लोग भले प्रकार अनुमान कर सकते है। कि आपकी बात, आपके विचार, आपके लेख, और आपके रचित ग्रन्थ सबके सब मिथ्या-भण्डार है।



४–पचाने में असमर्थता ।

पूर्वोक्त सारे उदाहरणों और विवेचनो से यह भली भाँति स्पष्ट हो गया, कि, श्रीभगवद्दासजी ने श्रीवैष्णमताब्ज-भास्कर में जितने भी काटछाँट अदल बदल एवं ग्रहण त्यागादि किये है, वे सबके सब अपने इसी मनमाने सिद्धान्त के आधार पर, कि इस श्रीरामानन्दीय सम्प्रदाय में केवल श्रीराममन्त्र एवं श्रीरामरूप की ही उपासना है, अतः अन्य भगवन्नाम-रूपों की महत्ता वर्णन अथवा उनमें श्रद्धा भक्ति रखना 'प्रतिस्पर्द्धा, है । किन्तु यह सिद्धान्त साम्प्रदायिक-ग्रन्थों एवं शास्त्रीय-प्रमाणों से भी असिद्ध है, अतः ऐसी काँट छाँट, अदल बदल एवं ग्रहण त्यागादि करना अनुचित था यह प्रमाणित हो गया । यही कारण है, कि इसके चलते जितने भी काट छाँट, अदल बदल एवं ग्रहण त्यागादि किये गये, सबके सब निपट मिथ्या और अप्रामाणिक सिद्ध हुए—सात प्रतियों की प्राप्ति और उससे संशोधन-सम्पादन में सहायता लेने, गुरुदत्त प्रति की प्राप्ति और उसके अनुसार पाठ रखने, पुनः इसके भी विपरीत, श्रीराममन्त्र एवं श्रीरामरूप की एकान्त उपासना एवं अन्य भगवन्नाम-रूपों की महत्ता को प्रतिस्पर्द्धा ठहराकर काट-छाँट, अदल बदल आदि की स्वीकृति, सभी पाठान्तरादि को टिप्पणी में रखने आदि की सभी बातें सरासर-झूठी साबित हुई और इस मिथ्या—आधार के चलते जितनी भी अनुकूल करतूतें की गयी थी, सारी की सारी पकड़ गयी । यह क्यों ? इसीलिये तो निपट-निराधार और सरासर-मिथ्या होने कारण इसे 'पचाने में असमर्थता' हुई—विविध—प्रयत्न करने पर भी अजीर्ण उघड़ आया, पेट की वस्तु बाहर आ गयी ।

श्रीराममन्त्र नाम, महत्त्व एवं रूप की अनन्योपासना के सिद्धान्त पर भगन्नाम रूप महत्त्व आदि को सामान्यरूप से प्रतिस्पर्द्धा तो आपने माना ही, परन्तु आपकी क्रिया से इसको मुख्यता 'नारायण' के ही सम्बन्ध में स्पष्ट होती है । और इसका मुख्य कारण यही है, कि श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा से श्रीरामानन्दस्वामीजी की परम्परा भिन्न करने के लिये आपने नारायण से असहयोग एव इनका बहिष्कार करना प्रधाना-कर्त्तव्य समझा, क्योंकि वर्त्तमान आचारी-श्रीवैष्णवो

में उनसे घनिष्ट सम्बन्ध समझा जाता है। इसीलिये, श्रीराम-नारायण में एवं श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा एवं श्रीरामानन्दस्वामीजी की परम्परा में जितने भी अभिन्न–प्रतिपादक बचन श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर मे आये थे, सबके सब बदल डाले गये है, जैसा कि पूर्व ही भली भाँति दिखलाया जा चुका है। सारांश यह, कि इष्ट-भेद से सम्प्रदाय और परम्परा-भेद निर्माण किया गया है।

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, कि यह इष्ट-भेद न तो शास्त्रीय है, न साम्प्रदायिक ही, अतः इसकी किसी तरह भी सिद्धि नही हो सकती किन्तु श्रीभगद्दासजी ने इस अटल सत्य को मिथ्या जाल के आवरण से छिपाने की चेष्टा की, और इसके लिये विविध प्रयत्न किये, परन्तु सत्य कबतक छिपा रह सकता है? वास्तविक-प्रकाश में आने पर अन्धकार-जन्य सृष्टि का पर्दा फट हो जाता है। यही दशा श्रीभगद्दासजी की सारी कृतियों की उन्ही के 'प्रकाश' ग्रन्थ में हो गयी है। आपने राम-नारायण में भेद मानकर इसी इष्ट भेद से आचारी-श्रीवैष्णवा एवं विरागी श्रीवैष्णवों की परम्परा अलग अलग होने का समर्थन किया है और इसी के आधार पर निर्माण भी कर लिया है। इसी मनोवृत्ति और कामना से श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर की भी दुर्दशा कर 'प्रकाश' के रूप में विकृत सृष्टि की है। किन्तु जब श्रीवैष्णव–मताब्ज–भास्कर में ही सिद्धान्त सम्बन्धी तात्त्विक-प्रसङ्ग की उपस्थिति हुई और शास्त्रीय-वचनों के अनुसार मनमानी चाल की राह बन्द हुई, तो आखिर तत्त्व की उपस्थिति हो ही गयी। आप को अन्त में वहाँ स्वीकार करना ही पड़ा कि राम नायरायण अभिन्न है, एक ही है। यद्यपि इसके लिये 'प्रकाश' पृष्ट १४ से पृष्ट ४१ तक बहुत से उद्धरण उपस्थित किये जा सकते है, परन्तु आवश्यक लेख-बाहुल्य की दृष्टि से कुछ ही स्थल यहाँ उद्धृत किये जाते है, और इसीसे इसका बहुत कुछ स्पष्टीकरण भी हो जायगा। यथाः–

"कदाचित् कोई शंका करे, कि अधिकरण व्युत्पत्तिमें कोई प्रमाण नही है, तो उसके लिये यह उत्तर है, कि—

'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जननां सर्वात्मा'
'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।'

'भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधो विभुः ॥
महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः ॥

इत्यादि वाक्यों की एक वाक्यता करने से नारायण शब्दाभिधेय श्रीराम ही सिद्ध होते है और इन्ही वाक्यों से भगवान् की सर्वाधारता भी सिद्ध होती है ।" प्रकाश पृष्ट १९

× × × × भार्ग शब्द भगवान् श्रीरामका वाचक है, इसमें सनत्कुमार संहिता का वचन का प्रमाण है—

'सूर्यमण्डलमध्यस्थ रामसीतासमन्वितम् ।
नमामि पुण्डरीकाक्षममेयं गुरुतत्परम् ॥'

कदाचित किसी को यह शंका हो, कि—

'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंङ्खचक्रः ॥'

इस भविष्यपुराणके वचन से सूर्य्यमण्डकान्तर्य्यामी देव श्रीराम नही प्रत्युत नारायण है, तो इसका समाधान केवल इतना ही है, कि नारायण शब्द वाच्य भगवान् श्रीराम ही है ।" प्रकाश पृष्ट ३७–३८

"इत्यादि बचनों से उपवर्णित हेयप्रत्यनीक, अनन्तकल्याणगुणवान् जगज्जन्मादिकारणभूत 'भवान्नारायणो देवः' इत्यादि बचन से नारायण, विष्णु, वासुदेव, वामन, नृसिंह आदि से अभिन्न परब्रह्म सीतापति श्रीराम ही यहाँ 'र' पद से युक्त है ।" प्रकाश पृष्ट ३९

"महत्तत्त्वादि के अन्तर्यामी होने से और जल में शयन करने से श्रीराम जी ही नारायण शब्द से कहे गये है।

'नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः ।
तानि ह्यस्यायनं यस्मात्तेन नारायणः स्मृतः ॥"
'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो व नरसूनवः ।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥'

इन स्मृति वचनों से और—

'संक्षिप्य हि पुरा लोकान् मायया स्वयमेव हि ।
महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः ॥'

'ततस्त्वमसि दुर्धर्षस्तस्माद्भावात्सनातनात् ।
रक्षां विधास्यन्भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान् ॥'

श्रीमद्वाल्मीकि में श्रीरामजीके प्रति श्रीब्रह्माजी के इस कथन से भी जहाँ तहाँ प्रदर्शित अनेक वाक्यों की एक वाक्यता करने से श्रीराम जी के ही तद्रूप धारण कर्त्ता होने से श्री रामजी ही नारायण शब्द के वाच्य हैं। तात्पर्य यह कि-

'नराज्जातानि तत्त्वानि' 'आपो वै नरसूनवः ।'
'नरतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः ॥'

इन वचनों से 'नर' शब्दवाच्य ही 'स्व' से उत्पन्न तत्त्वादिकों में और जल में शयन—निवास करने से श्रीरामजी की ही नारायण संज्ञा है। परम कारणता दो की तो हो ही नही सकती। अतः इन सब वाक्यों की एक वाक्यता करनी ही सर्वोत्तम और न्याय है।"

'प्रकाश' पृष्ट ४०–४१

उपर्युक्त उद्धरणों से यह भली-भाँति स्पष्ट हो गया है. कि यहाँ शास्त्रीय-प्रमाणों और शब्द शक्ति के आधार पर तात्विक-विवेचन करने पर श्रीभगवद्दासजी को भी यह स्पष्ट ही स्वीकार करना पडा है, कि श्रीराम एवं नारायण में कोई भेद नही है, दोनों अभिन्न है, एक है। उसी प्रकार वासुदेव, विष्णु, नृसिंह वामन आदि से भी अभिन्न है। अत आपने इष्ट—भेद मान कर जो सम्प्रदाय में, उपासना में और परम्पर में भिन्नता कायम की है, और इसी के आधार पर 'प्रतिस्पर्द्धा' का नियम लागू कर श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर के पूर्व पाठों में जो मन-मानी काट छांट, अदल-बदल एवं ग्रहण त्यागादि कर डाले है वे सब के सब अप्रमाणिक-कार्य और अनधिकार-चेष्टायें हैं।

इसके सिवा यह बात भी है,कि जब यह स्वीकार ही है,कि श्रीराम-नारायण में अभेद है, दोनों एक ही का नाम है, तो श्रीलक्ष्मीजी और श्रीसीतजी में भी उसी प्रकार अभिन्नता स्वतः सिद्ध ही है। अतः अब विवाद की कोई गुंजाइश ही नहीं है, कि श्रीनारायण मन्त्र एवं श्रीराममन्त्र, श्रीनारायण से प्रारम्भ हुआ कि श्रीरामजी से; अर्थात् जब व्यक्ति एक ही है, तो उनके द्वारा हीं विभिन्न नामानुसार श्रीराम-कृष्ण नारायणादि सभी मन्त्रों की परम्परा होने में कोई शङ्का हीं नही

रह जाती। इसी लिये बृहद्ब्रह्म-संहिता में श्रीमन्नारायण ने ब्रह्माजी से कहा है, कि मैंने नारायण रामकृष्णादि सभी भगवन्मन्त्रों का उपदेश श्रीजी को किया था, वही तुमको करते हैं। अर्थात् श्रीजी तथा ब्रह्माजी इन दोनों को श्रीमन्नारायण ने सभी भगवन्मन्त्र का उपदेश किया था। श्रीराम नारायण में आपको अभेद स्वीकार है ही तो ऐसा भी कहा जा सकता है, कि श्रीरामजीने श्रीजी तथा ब्रह्माजी इन दोनों को श्रीरामकृष्णनारायणादिसभीभगवन्मन्त्रों को उपदेशकिया और—

"कलौ खलु भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः
श्रीब्रह्मरुद्र सनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः॥"
"रमा पद्धति रामानुज विष्णु स्वामि त्रिपुरारि।
निम्बादित सनकादिका, मधुकरगुरु मुखचारि॥"

इन शास्त्रीय और साम्प्रदायिक वचनों से सिद्ध है, कि कलि में चारही भागवत-सम्प्रदाय हैं और इनमें श्रीसम्प्रदाय और ब्रह्म सम्प्रदाय भिन्न भिन्न है। इस चारो भागवत-सम्प्रदायों से भिन्न कोई सम्प्रदाय ही नही हो सकता, और यदि कोई कहता है, तो वह निश्चय ही असम्प्रदायिक है। उपर्युक्त वचन से यह भी सिद्ध ही है कि श्री सम्प्रदाय ही श्रीरामानुज-सम्प्रदाय है, और ब्रह्म सम्प्रदाय ही माध्व-सम्प्रदाय है। अतः यह सहज-सिद्ध है, कि यदि श्रीरामानन्दस्वामी जी श्रीब्रह्माजी की परम्परा में माने जायँगे, तो उनको माध्व-सम्प्रदाय के ही अन्तर्गत माना जाना उचित हो जायगा। किन्तु ऐसी बात है नही। श्रीरामानन्दस्वामीजी तो श्रीसम्प्रदायी है, अतः श्रीरामानुज स्वामी जी की परम्परा में ही इनका होना सब प्रकार से अनिवार्य-सिद्ध भी है, और ऐसा ही सर्वदा से माना भी गया है।

उपर्युक्त यथास्थान के प्रामाणिक-उदाहरणों और विवेचनों से यह भी स्पष्ट हो ही चुका है, कि श्रीजीको सभी भगवन्मन्त्र मिले थे, अतः उन्होंने भी श्रीविष्वक्सेनजी को सभी भगवन्मन्त्रों का उपदेश अवश्य ही किया होगा, तब तो 'श्रीरामानुज-वैभवम्' में लिखा है कि श्रीरामानुज स्वामीजी ने रघुनन्दन-तटाक पर श्रीमहापूर्ण स्वामीजी से सभी भगवन्मन्त्रों की दीक्षा पाई। इसके अतिरिक्त वृद्ध-हारीत के वचन से भी सिद्ध हो ही चुका है, कि षडक्षर, अष्टाक्षर, द्वादशाक्षर आदि सभी भगवन्मन्त्रों

को एक साथही दीक्षा लेने की भी विधि है। अतः श्रीरामानुज स्वामीजी ने नारायण रामकृष्णादि सभी भगवन्मन्त्रों की दीक्षा पायी थी, और आप इन सभी की अभेद-भाव से उपासना तथा प्रचार करते थे,इसमें सन्देह नहीं। यही बात उनके गद्यत्रय से भी सिद्ध है, यथाः—

"×× काकुत्स्थ्य श्रीमन्नारायण अशरण्यशरण्य अनन्य शरणस्त्वत्ता दारविन्दयुगलं शरणमहं प्रपद्ये ॥ २ ॥"

"×× आपत्सख काकुत्स्थ्य श्रीमन्नारायण श्रीपुरुषोत्तम श्रीरङ्गनाथ ममनाथ नमोऽस्तुते।"

अतः भली भाँति प्रमाणित है कि श्रीरामानन्दस्वामीजी श्रीरामानुजस्वामीजी की ही परम्परा में है। यही बात उनके श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर एव श्रीरामार्चन-पद्धति से भी भली भाँति स्वीकृत और श्रीहर्याचार्यस्वामीजी कृत श्रीरामस्तवराज भाष्य तथा नाभाजी कृत भक्तमाल से भी सिद्ध है। अतः श्रीभगवद्दासजी ने इष्ट-भेद मन्त्र भेद आदि के अनर्गल-सिद्धान्त के आधार पर जो श्रीरामानन्दस्वामीजी की परम्परा अलग कायम कर श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर से इष्ट एवं परम्परा में अभेद-समर्थक वचनों को निकाल कर उसमें मनमानी रचना घुसेड़ी है, वह शास्त्र तथा सम्प्रदाय विरुद्ध होने से अप्रामाणिक है, अतः अमान्य तो है ही, इसके अतिरिक्त उनकी हो राम- नारायण की अभेद स्वीकृति से उनके काट-छाँट अदल बदल आदि का मूल-आधार ही जाता रहा अतःसारी काट-छाँट एवं अदल-बदल आदि की व्यर्थता एवं दूषिता स्पष्ट हो गई, और सिद्ध हो गया, कि अर्थ-प्रकाशिका टीका वाली प्रभृति पहली प्रति ही ठीक और मान्य है।

५—निर्णय (फैसला)

'प्रकाश' के सम्पादन-संशोधन—काट-छाँट, अदल-बदल एवं ग्रहण-त्यागादि—पर भिन्न भिन्न कई दृष्टिकोणों से विचार किया गया, परन्तु वह किसी तरह भी खरा नही उतरा, बराबर खोटा ही प्रमाणित होता गया। इसके सिवा जितनी भी प्रतियाँ प्रचलित थी, या है, उन सबों से इसे विलक्षण बताये जाने के कारण ही इस पर विशेष रूपेण विचार करने की आवश्यकता प्रतीत हुई और हरएक पहलू से भलीभांति कस कर देखा किन्तु क्रमशः उसका खोटापन ही उमड़ता गया। तात्पर्य यह, कि उसमें पाठ बदलने के लिये जितने भी प्रयत्न काम में लाये गये हैं, सभी दूषित-अभीष्ट-सिद्धि की कामना एवं जालसाजी से भरे तथा सत्य से शून्य पाये गये, जैसा कि पूर्व की आलोचनाओं में यथा-स्थान स्पष्ट होता गया है। फिर भी समूहावलम्बन ज्ञानके लिये उसका सारांश यहां भी दे देते है जिससे सब किसी को स्वतः भी निर्णय कर लेनेमें सुलभता हो।

सब से पहले श्रीवैष्णव-गताब्ज-भास्कर की सात प्रतियोंकी प्राप्ति के कथन ही ऐसी पेचीदगी के साथ किये गये, कि जिसमें उसकी झूठाई न खुल सके। इसी कारण प्राप्त-पुस्तकों की किस्म एवं जिससे वह प्राप्त हुई है, उसका कोई भी जिक्र नहीं किया है। यहाँतक कि छपी हुई पुस्तकों की प्राप्ति को भी उसी तरह अँधेरी जानकारी में रखा है, और यह समझ कर, कि इसकी असलियत का पता नही चलेगा, मनमाने अव्यवस्थित सकेतों का उसके लिये प्रयोग किया है। यह सब इसीलिये किया गया है, कि जिसमें लोगों को यह सुलभ-भ्रम हो जाय, कि सचमुच ये सभी प्रतियाँ ठीक ही मिली हुई है, और वस्तुतः उन सबों में भिन्न भिन्न विषम पाठान्तर है। किन्तु एक ही ग्रन्थ के सभी पाठान्तर कई विभिन्न प्रतियो के नाम पर दिये हुए है, यह मिलान करने से सहज ही स्पष्ट हो गया है। अतःइसमें से किसी प्रतिके कारण पाठ-भेद हुआ है, ऐसी बात सिद्ध नही हुई।

अब इस ग्रन्थ के मूल-आधार की ओर ध्यान दीजिये। बतलाया गया है, कि श्रीगुरुदत्त प्रति के अनुसार ही इस ग्रन्थ का सारा पाठ रखा गया है। अतः सहज ही सिद्ध हो जाता है, कि जब सारा पाठ गुरुदत्त-प्रति के ही अनुसार रखा गया, तो सात प्रतियों की कोई आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती, अतः इस दृष्टि से भी वे असिद्ध

हो गयीं। अब रह गयी श्रीगुरुदत्त-प्रति की बात; सब से पहले तो इस ग्रन्थ के छपने से पूर्व इस ग्रन्थ पर कई वर्षसे कई बार बहसें चल चुकी थी, परन्तु कभी उस विलक्षण प्रतिका नाम तक नही लिया गया था, अतः इसकी अप्रामाणिकता प्रत्यक्ष ही है। इसके अतिरिक्त आपके श्री गुरुदेवजी ने ही श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर आदि ग्रन्थों के आधार पर 'श्रीसम्प्रदाय दिक्प्रदर्शन' नामक ग्रन्थ छपाया था, और आपने ही 'श्री सम्प्रदायरक्षा' द्वारा उसका उत्तर भी किया था, परन्तु जिन जिन पाठों को यहाँ बदल दिया गयाहै, उसमेंसे कितने उसमें भीआये हैं, परन्तु आपने स्वयं गुरुदेवजीसे भी उस गुरुदत्त-प्रति तथा उसके विलक्षण पाठोंका का नाम तक नही लिया है, अतः उसके विरुद्ध पाठ होने से गुरुदत्त-प्रति की बात भी जालसाजी ही साबित हुई। सब से विलक्षण तो यह है कि उनके वर्त्तमान रहने तक कभी इस बात का नाम तक नहीं लिया, कि हमको श्रीगुरुदेवजी से श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर की विलक्षण-प्रति मिली है। परन्तु उनके परधाम पधार जाने पर कितना अशङ्क-निर्घोष किया है कि श्रीगुरुदेवजी से श्रीवष्णव-मताब्ज भास्कर की ऐसी निराली प्रति मिली थी, जिसके सब पाठ ही विलक्षण-अभीष्ट सिद्धि-प्रद निकले है! अतः जालसाजी स्पष्ट ही झलक रहा है।

इसके बाद आपने श्रीराममंत्र एव श्रीरामोपासना के आधारपर अन्य भगवन्नाम, रूप एवं महत्त्व को 'प्रतिस्पर्द्धा' बतला कर काटछाँट अदल बदल एवं ग्रहण-त्याग करने की जो स्वीकृति दी है उसीसे गुरुदत्त प्रति के अनुसार पाठ रखने एवं तद्विपरीत की काटछाँट अदल-बदल एवं ग्रहण-त्यागादि की बातें अपने आप मिथ्या प्रमाणित हो गयी। पुनः नूतन-परम्परा में नूतन स्वीकृत आचार्यों के ही शास्त्रीय कथन से उनका अभेद-भावना एवं नारायणोपासना सिद्ध हो गयी, अतः प्रतिस्पर्द्धा का सिद्धान्त रद्द हो गया। इसके अलावे स्वयं आपको भी रामनारायणकीअभिन्नतास्वीकार करनीही पड़ी, अतः 'प्रतिस्पर्द्धा' कासिद्धान्त और भी बेकार तथा दूषित सिद्ध हुआ फिर इसके आधार पर जो सारे परिवर्त्तन कियेगयेहै, उनकीअमान्यताके विषयमेंतोकुछ पूछनेकी आवश्यकतानहीं।

पाठान्तरों के सम्बन्ध में कहा गया है, कि पाठभेदादि होने पर त्यक्त-पाठ टिप्पणियों में नीचे डाल दिये गये हैं। किन्तु इसका भी पालन नही किया है। पहले तो जो थोड़े से पाठान्तर दिये भी गये

हैं, वे सब के सब एकही ग्रन्थ के होने पर भी कई स्थिति-हीन प्रतियों के नाम पर क, ख, ग, घ, आदि सङ्केतों में बाँट कर परिवर्त्तन की अधिकता को छिपाने की चेष्टा की गयी ह, इसके सिवा बहुत से चुपके परिवर्त्तन भी कर दिये है, जिनका जिक्र तक नही किया ह। और यह इसी लिये कि इस विद्रूपकारी भयङ्कर परिवर्तन का छिपाव बना रहे। किन्तु अधिक स्थानों में तो ऐसा अदल-बदल किया गया है कि जिसमे एक श्लोक भी पूर्वरूप में नही है, जैसाकि दिव्यदेशो के वर्णन-प्रसङ्ग में किया गया है, फिर भी एक का भी पाठान्तर नही दिया गया ह। विचित्रता तो यह, कि सारी टीका 'अर्थप्रकाशिका' के ही आधार पर लिखी गयी है, फिर उसका पाठान्तर तक क्यो नही दिया गया ? इन सभी शङ्काओ का एक ही समाधान यह है, कि ये सब मतलबी परिवर्त्तन के दोषों को छिपाने के ही लिये किये। अतः इससे भी प्रकाशकार की नीयत और करतूतों का भलीभाँति स्पष्टी करण हो जाता है।

इसके अतिरिक्त कई स्थानों मे पाठ बदल देने पर भी अन्वय या अर्थ में पूर्व के ही पाठ रह गये है, इससे निराधार-परिवर्त्तन का और भी खासा भण्डाफोर हो जाता है और कुचेष्टा की वही पकड़ हो जाती है। कितने स्थल तो ऐसे भी है, जिस पर बहुत दिनोंसे तथा यहां भी धीगाधीगी कर रहे थे, वे सबके सब आपके समय समय पर के विषम कथनों से सत्य रूप में प्रकट हो गये, यथा 'श्रीजी की अणुत्वेन व्याप्ति' 'श्रीरामार्चन-पद्धति' की प्रामाणिकता आदि

इन सब कार्य प्रणाली एवं कम धाराओं के देखने से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है, कि आप पर केवल एक ही धुन सवार है, कि जिससे श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परासे श्रीरामानन्दस्वामीजी अलग सिद्ध हो जायँ क्योंकि सब जगह आपकी केवल यही चेष्टा दिखाई पड़ती है। बस इसीके लिये आप इतने व्यग्र है, कि उसके लिये आप कोई भी प्रयत्न करने के लिये तैयार है, बल्कि वह अनुचित, अधार्मिक, अप्रामाणिक, अनर्गल एवं बेराह क्यों न हो। यही कारण है, कि 'प्रकाश' के सम्पादन-संशोधन में न तो आपने कोई मान्य प्रमाण या स्थिर-आधार ही रखा है, न कार्य-प्रणाली एव कर्म-धाराओ में सच्चाई ही फटकने दी है। सारी की सारी कारवाइयाँ मनमामी-अभीष्ट-सिद्धिजन्य प्रेरणा के मिथ्यापन से भरा है। अतः सर्व प्रकारेण सिद्ध है, कि

यह 'प्रकाश' ग्रन्थ सर्वथा, अप्रमाणिक, अनर्गल, सत्य-घालक, भ्रमजनक तथा मिथ्या-कृतिका भण्डार है, अतः परम-अमान्य त्याज्य एवं बहिष्कार योग्यहै।

'प्रकाश' की समालोचना के सिलसिले में 'प्रकाशकार' के व्यक्तित्व पर भी एक दृष्टि डाल लेना उचित प्रतीत होता है। श्रीरामानन्दस्वामी जो कृत यह श्रीवैष्णव मताब्ज-भास्कर ग्रन्थ सम्प्रदाय में बहुत ही प्रसिद्ध तथा प्रचलित भी है। आज से पचासों वर्ष पहले यह बृहत टीका के साथ 'सूर्य्यप्रभाकर' प्रेस काशी में छपकर प्रकाशित हुआ था, जिसकी काफी प्रतिया आज भी इस सम्प्रदाय के विद्वानों के पास मौजूद है। इतने पर भी जब आपने इसको अपने मतलब का बनाने के लिये इतना छल-प्रपञ्च, झूठ-साँच, धोखा-जाल, एव मिथ्याचारकर इसे नष्टभ्रष्ट कर डाला और आचार्य के सिद्धान्त एवं आचार-व्यवहार को लोप करने की चेष्टा कर अपने सिद्धान्त एवं आचार के प्रचारके लिये ऐसी चाले चला, तो आपकी जो अपत्यक्ष-कृतियां है, उसके सर्वाङ्ग-मिथ्यापन में तो जरा भी सन्देह की जगह ही नही है? श्रीवैष्णवमताब्जभास्करकी यह उपस्थित नष्ट भ्रष्टता तो यहाँ प्रत्यक्ष है ही, इसके अतिरिक्त इसकी समालोचना के सिलसिले में कई ऐसी बातों की उपस्थिति भी हुई है, जिससे श्रीभगवाद्दास जी के अन्य कृति-कलाप पर भी बहुत कुछ प्रकाश पड़ा है। यथा श्री-भाष्य, द्रबिड़ प्रबन्ध, यादवाद्रि एवं श्रीरामार्चन-पद्धति आदिके सम्बन्ध में आपके क्रमशः विषमविचार अर्थात् 'जब जैसा तब तैसा' 'जैसो दाव वैसी चाल' सभ्यता से कही भेंट नही। अतः अब सोचना चाहिये, कि जो पुस्तक निपट स्थितिहीन एवं एकान्त-अप्राप्य है, उसको आप या आपके अभिन्न साथी खोज में पानेकी घोषणा करते और प्रकाशित करते है, यथा, नूतनपरम्परा, वाल्मीकि-संहिता एवंआनन्दभाष्य आदि, उसकी वास्तविकता पर कैसे विश्वास किया जा सकता है? इसी प्रकार आपकी अभीष्ट सिद्धि में असत्यता के कारण जितनी भी रुकावटें पड़ेगी, न जाने कितने ग्रन्थ दौड़ दौड़ कर आपको मिलेंगे और प्रकाशित होंगे। किन्तु 'प्रकाश' की प्रत्यक्ष-कृतियों से सब कोई भले प्रकार समझ गये होंगे, कि इनकी और इनके अभिन्न साथियों की कृतियाँ कितनी असत्य, भ्रमोत्पादक, जाली एवं धोखे में डालने वाली हैं। अतः इस मिथ्या जाल से सर्वदा सावधानी पूर्वक बचना ही सबों का कर्त्तव्य होना चाहिये।

ग्रन्थकार का परिचय।

किसी ऐतिहासिक-महापुरुष का परिचय तो देश के इतिहास से ही दिया जा सकता है; परन्तु हमारे यहाँ वास्तविक-इतिहास है ही नही, यदि ऐसा भी कहें, तो कोई अत्युक्ति नही होगी। कारण, इतिहास के नाम पर आज हमको जो वस्तु प्राप्तः है, वह तो यहाँ के शासकों-राजाओं बादशाहों आदि-की व्यक्तिगत जीवनियाँ है। इसके सिवा इस देश में और कहां कब क्या हो रहा था, इसका उससे कोई सम्बन्ध ही नहीं है, किन्तु वस्तुतः इसी बात की व्यक्तता ही वास्तविक इतिहास है। मौजुदा इतिहास से यदि इनके सिवा किसी अन्य व्यक्ति का कुछ पता चलता भी है, तो इनसे सम्बन्ध रखने वालों की ही। खैर, इनकी तो व्यक्तिगत जीवनियाँ भी मिलती है, परन्तु हमारे धार्मिक महापुरुषों की तो यह भी नही मिलती। जान पड़ता है, इसके लिखने की यहाँ प्रथा भी नहीं थी। अतः महात्माओं के जीवन-चरित्र का पूर्ण ऐतिहासिक परिचय देना आज दुःसाध्य ही नहीं, वरन् असम्भव सा प्रतीत होता है। यद्यपि पिछले दिनों में कुछ लोगों का ध्यान इस ओर गया, और उन्होंने महात्माओं के जीवन-चरित्र लिखने की भी अपनी शक्ति भर चेष्टायें की, यथा श्रीप्रियादासजी, श्रीरघुराजसिंह आदि भक्तमाल के उपबृंहण कर्त्ताओ ने, परन्तु उन्हें पूरी सफलता नही मिली। कारण, किसी का जीवन चरित्र तो तभी सत्य हो सकता है, जब उसी समय वास्तविक-जानकारों द्वारा लिखा गया हो। नही तो ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों त्यों सच्चीजीवनियाँ लुप्त होती जाती, और उसका स्थान सुनी-सुनाई, भाव-कल्पित और उद्देश्य-साधने वाली गढ़न्त-बातें ग्रहण करने लगती है, अतः अधिक समय बीतने पर वास्तविक-जीवन चरित्र रह ही नही जाता।

श्रीवैष्णव मताब्ज-भास्कर एवं श्रीरामार्चनपद्धति के रचयिता श्रीरामानन्दस्वामीजी का जीवनचरित्र की दृष्टि से परिचय देने के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बातें कही जा सकती हैं। क्योंकि आजतक उनके जीवनचरित्र के सम्बन्ध का कोई प्रामाणिक-आधार ही नहीं मिलता। यही कारण है, कि भिन्न भिन्न अन्वेषक-इतिहास-लेखकों के लेखों में सुनी-सुनाई बेमेल और बेबुनियाद बातों का वर्णन मिलता

है, जिससे जिज्ञासा-निवृत्तिके बदले भ्रम की ही अधिकता होने की अधिक सम्भावना रहा करती है। इसके अतिरिक्त इधर कुछ लेख और कवितायें तो निपट-निराधार स्वार्थ-कल्पित तथा भावुकता से ही लिखी गयी है, जिसका उद्देश्य ही लोगों में भ्रामक-ज्ञान उत्पन्न कर मतलब गाँठना है, अतः इनके विषय में तो कुछ पूछनाही नही। अतएव श्रीरामानन्दस्वामीजी के विषय में यह नही कहा जा सकता, कि वे वस्तुतः कहाँ जन्मे ? कब जन्मे ? किनकी सन्तान थे ? इनकी बाल्य-लीला क्या थी ? युवावस्था में कौन कौन से काम किये ? बुढ़ापा कैसे कटा ? परधाम किस प्रकार कब पधारे ? इत्यादि।

--किन्तु इसके अतिरिक्त एक और पहलू भी है, जिससे महात्माओं का पूरा पूरा परिचय दिया जा सकता है, और वह है उनके परमार्थिक व्यक्तित्व का पहलू, क्योंकि महात्माओं का महत्त्व प्राकृतिक-जीवन लीला की दृष्टि से मुख्य न होकर परमार्थिक व्यक्तित्व की दृष्टि से ही होती है। प्राकृतिक-जीवन-लीला (जीवन चरित्र) की मुख्यता तो सांसारिक लोगों के लिये ही है। इसी कारण परमार्थिक (धार्मिक) सम्बन्ध को पारलौकिक-सम्बन्ध और पारमार्थिक-काय को पारलौकिक कार्य की कहते है। श्रीरामानन्दस्वामीजी से हम लोगों का सम्बन्ध भी पारमार्थिक ही है, अतः हमारे लिये इसी दृष्टिकोण से उनका परिचय प्राप्त करना समीचीन भी होगा। महात्माओं के जीवन चरित्र तो नहीं है, किन्तु स्वयं उनके रचित धार्मिक ग्रन्थ प्रायः प्राप्त रहते है। कारण साम्प्रदायिक-सिद्धान्त की दृष्टि से उन ग्रन्थों का सम्प्रदाय में प्रचार रहता ही है अतः उससे उनके पारमार्थिक-व्यक्तित्व का अवश्य ही परिचय प्राप्त होता है। श्रीरामानन्दस्वामीजी के पारमार्थिक-व्यक्तित्व रूप परिचय प्राप्त करने के लिये भी इस तरह की काफी सामग्रियाँ प्राप्त है। सबसे पहले तो स्वयं उनके दोनों ग्रन्थ-श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर तथा श्रीरामार्चनपद्धति-ही है, जिससे उनके पारमार्थिक-व्यक्तित्व का बहुत कुछ परिचय मिलता है। इसके सिवा कई पूर्ववर्ती एवं परवर्त्ती महात्माओ के ग्रन्थ भी हैं, जिससे उसका पूर्ण-समर्थन एवं स्पष्टी करण भी होता है, अतः यहां उनका पारमार्थिक-परिचय ही उपस्थित किया जायगा। विचार-सुविधे के

लिये इस परिचय को तीन-भागों में बाँट सकते हैं, धर्म-परम्परा, मत-सिद्धान्त और कर्तव्याचरण। इसमें 'मत-सिद्धान्त' की दृष्टि से तो 'ग्रन्थ-परिचय' में विवेचन हो ही चुका है, और 'कर्त्तव्याचरण' की दिव्य-विभूति श्रीवैष्णव-मताब्जभास्कर श्रीरामार्चनपद्धति एवं विशाल श्रीरामानन्दीय वैष्णव-समाज के रूप में सर्वत्र प्रकाशित ही है, अतः इनके परिचय एवं विवेचन की विशेष आवश्यकता नहीं है। अतएव यहाँ विशेष-रूप से धर्म-परम्परा का ही परिचय उपस्थित किया जायगा। यद्यपि धर्म-पराम्परा का परिचय भी स्पष्ट ही है, परन्तु कुछ दिनों से ईर्षा-द्वेष स्वार्थ सिद्धि प्रसिद्धि-प्राप्ति एवं अज्ञानतावश कुछ लोग सत्य छिपाने की चेष्टा में सर्वत्र सन्देह एवं भ्रम फैलानेका प्रयत्न कर रहे है, अतः इसी पर विशेष-रूपसे प्रकाश डालने की आवश्यकता प्रतीत हो रही है। निदान, अब विशेषरूपमें विवेचन पूर्वक इसकी उपस्थिति की जायगी।

धर्म-परम्परा (गुरु परम्परा)

यहाँ धर्म-परम्परा से मेरा तात्पर्य गुरु-शिष्य के रूप में वंश-परम्परा से है, इसी को नीचे से ऊपर की ओर जाने को गुरु-परम्परा और ऊपर से नीचे की ओर आने को शिष्य परम्परा कह सकते है, किन्तु ये दोनों प्रणालियाँ सम्प्रदाय में गुरु परम्परा नामसे ही प्रचलित है, अतः यहाँ उसी नाम से उसका परिचय दिया जायगा। किसी वंश-परम्परा की सच्ची जानकारी तीन-दृष्टिकोणों से विचार कर प्राप्त की जा सकती है उस वंश के लोगों की स्वीकृति से लोक प्रसिद्ध से, तथा तत्सम्बन्धीय मान्य-प्रमाण से; अतः श्रीरामानन्दस्वामीजी की गुरुपरम्परा का विचार भी इनही दृष्टिकोणों से किया जायगा।

वंश-स्वीकृति।

कुल-वंश की वास्तविक जानकारी के लिये यह दृष्टिकोण सब से उत्तम है। बचपन से ही सब किसी को गुरुवर्यो द्वारा वंश परम्परा का प्रारम्भिकज्ञान होने लगता है, और पड़ोस के व्यवहारिक-ज्ञान से भी उसकी पुष्टि होते हुए वह ज्ञान प्रौढ हो जाता है—छोटे छोटे बच्चे जीवन की प्रथम शिक्षा के रूप में इसी का अध्ययन करते है और क्रमशः ज्ञान वृद्धि के साथ साथ माता-पिता पितामह और प्रपितामह आदि का भी उन्हे ज्ञान होता है।

बालक जब अपने सामने के जन्मे हुए बच्चों को अपनी ही तरह से माता पिता आदि का ज्ञान प्राप्त करते देखते और उसे प्रत्यक्ष ही सत्य पाते है तो उन्हे भी अपने तथा अपने पूर्वजों की वंश-परम्परा-सम्बन्धी ज्ञान में दृढ विश्वास हो जाता है, क्योंकि अन्यथा तो कोई अपने माता पिता को भी निश्चितरूप से नहीं जान सकता।

जिस प्रकार कोई बालक पिता-पितामहादिकों की प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करता है, उसी प्रकार पिता-पितामहादि को भी अपने पिता-पितामहादिकों का ज्ञान होता है और उनको भी अपने पिता-पितामहादिकों का; इस प्रकार सन्तान को परम्परया अपने पूर्वजों का सचा ज्ञान प्राप्त रहा करता है। ऐसा कौन सा पिता-पितामह होगा, जो अपने सन्तानको अपने पिता-पितामहको छोड़ कर दूसरे को अपना पिता-पितामह बतला कर वर्ण-सङ्कर बनेगा, अतः जब बतावेगा तो सच्चा ही। हाँ, यह बात अवश्य है, कि बहुत समत बीतने पर नामावलियां बढ जाती है, तो बहुत पहले होने वाले पूर्वजोंमें से मुख्य मुख्य के ही नामों को याद कर पिछले पूर्वजो का लगातार ज्ञान रखा जाता है। इस प्रकार पूर्वजों की परम्परा का सचा ज्ञान व्यापक-रूप से देखने में आता है। यह ज्ञान छोटे पैमानेपर केवल पिछले दश पाँच पुश्तों का, मध्यम पैमाने पर मूल पुरुष, प्रधान प्रधान पुरुष, और पीछले पुश्तों का, और बड़े पैमाने पर तो पूरा वंश वृक्ष ही तैंयार हो जाता है। इसको क्रमशः परम्परा का लघु-ज्ञान मध्य-ज्ञान और बृहद्-ज्ञान कह सकते है। पूर्वजों का 'लघुज्ञान' तो अशिक्षितों में ही पाया जाता है, परन्तु 'मध्यज्ञान' से ही सारे संसार का काम चलता है, क्योंकि सृष्टि-क्रम से अपने अनन्त पूर्वजों का ज्ञान रखना दुःसाध्य ही नही, बरन् असम्भव सा हो जाता है। अतः वश परिचय का पूरा काम 'मध्य-ज्ञान' से ही चलाया जाता है, ऐसा ही सर्वत्र विशेषरूप से देखने में आता है। ब्राह्मणादिक-गृहस्थों में गोत्र, मूल आदि के साथ साथ पिछले दश पाँच पूर्वजों का ज्ञान जो पाया जाता है, वह 'मध्य-ज्ञान' ही तो है।

ठीक वैसी ही अवस्था धर्म सम्प्रदायियों में भी है। कोई व्यक्ति गुरु के पास जाकर शिष्य हो विरक्त होता है तो पहले तो उसे गुरु

देव का ही ज्ञान होता है, यदि दादागुरु आदि जीवित हुए तो क्रमशः उनका भी प्रत्यक्ष-ज्ञान हो जाता है, नहीं तो जब अपने सामने देखने में आता है कि किसी महात्मा के परधाम सिधारने पर उनके शिष्य ने स्वयं शिष्य किया फिर उनसे उस शिष्य को दादा गुरु का भी ज्ञान हुआ। इसी प्रकार और भी एक दो पुश्त का क्रम आखो के सामने से गुजरा, तो पास के व्यवहारिक-ज्ञान से अपनी परम्परा का ज्ञान भी स्वतः समर्थित हो जाता है। किन्तुपरम्परा की नामावली बढ़ने पर 'बृहद्ज्ञान' के स्थान पर जानते हुए भी 'मध्यज्ञान' के व्यवहार से काम चलाया जाता है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है, जैसे कि हम लोग अपने परिचय में श्रीवैष्णव, श्रीरामानन्दीय-वैष्णव, अमुक द्वारे का श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव आदि कहकर परपरा के मध्यज्ञान का ही तो परिचय दिया करते हैं। मध्यज्ञान में भी न्यूनाधिक नामों का प्रयोग हो सकता है, और होता परन्तु इसके लिये श्रेणी विभाग नहीं किया जा सकता, यह जानकारी और आवश्यकता के अनुसार ही व्यवहृत होता है। संप्रदाय में इसी प्रकार के मध्य-ज्ञान और उसके न्यूनाधिक नाम प्रयोग के बहुत से उदाहरण मिलते हैं, जो उपर्युक्त व्यवहारिक, स्वयंसिद्धि से स्वतः सिद्ध ही है।

अब इस दृष्टिकोण से श्रीरामानन्दस्वामीजी के विषय में विचार करें। इसके लिये सबसे पहले आपके ही लेखों पर दृष्टि डाली जाय। यह सर्वमान्य है, कि श्रीवैष्णव मताब्ज-भास्कर तथा श्रीरामार्चन-पद्धति श्रीस्वामीजी कृत ग्रन्थ है। इसी में उन्होने इस सम्बध में जो कुछ लिखा है, उसपर ध्यान दें।

प्राचार्याचार्यवर्य्यान्यतिपतिसहितान्प्रोक्तवांतत्प्रणम्य
श्रीमास्तस्मैरमेशं शरणमुपगतस्तद्विजिज्ञासुमुख्यैः ॥ ५ ॥

श्रीवैष्णवमताब्जभास्करे।

पूजापद्धतिमर्चितुं वितनुते स्मृत्वा यतिक्ष्मापतिम् ॥१॥
रामानन्दबुधो दयाजलनिधिं श्रीराघवनन्दनं।
श्रीमन्तं मुनिपुङ्गव च हरियानन्दं श्रियानन्दकम् ॥
देवानन्दमथो सदा गुणगाणैराढ्यं मुनीशं वरं।
द्वारानन्दमुनिं मुनीश्ववरं रामेश्वरं सद्गुरुम् ॥ २ ॥

श्रीमन्तं मुनिवर्यमेवच सदाचार्यं च गङ्गाधरं ।
वन्द्यं तं पुरुषोत्तमं च सदयं देवाधिपं सद्गुरुम् ॥
वैराग्यादिनिधिं गुणैकनिलयं श्रीवोपदेवं कविं ।
श्रीविद्यागुणवारिधिं मुनिवरं श्रीमाधवाचार्यकम् ॥ ४ ॥

कूरेशं यतिराजमद्भुतगुणं रामानुजं सद्गुरुम् ।
पूर्णं श्रीमुनियामुन मुनिवरं श्रीराममिश्रं तथा ॥
श्रीमन्तं मुनिपुण्डरीकनयन नाथंमुनिं श्रीशठ—।
द्वेषश्रीपृतनापतिं जनकजां रामं सदा संश्रये ॥ ५ ॥

श्रीवैष्णवमताब्ज–भास्कर के उपर्युक्त ५वें श्लोक से स्पष्ट है, कि श्रीरामानन्दस्वामीजी ने यतिपति समेत पूर्वाचार्यों और स्वाचार्य को प्रणाम किया है; इसी प्रकार श्रीरामार्चनपद्धति के प्रथम श्लोक में 'यतिक्ष्मापति' का स्मरण कर ग्रन्थारम्भ किया है। 'यतिपति' और 'यतिक्ष्मापति' शब्द का एकही अर्थ है दोनो पर्य्याय शब्द है और यह विशेषण श्रीरामनुजस्वामी जी के लिये रूढिसंज्ञा हो गई है, यह बात वैष्णव सम्प्रदाय और विशेषकर श्रीसम्प्रदाय में तो प्रसिद्ध ही है। इसी कारण 'यतिपति' या इसके पर्य्यायवाची शब्दों द्वारा नाम-कथन होने से श्रीसम्प्रदायके ग्रन्थों तथा श्रीवैष्णवों में श्रीरामानुजस्वामीजी का ही बोध होता है। इसके अतिरिक्त श्रीरामानन्दस्वामीजी ने श्रीरामार्चनपद्धति के उपर्युक्त पाँचवें श्लोक में 'यतिराजमद्भुतगुणं रामानुज सद्गुरम्' कथन द्वारा केवल श्रीरामानुजस्वामी के ही लिये 'यतिराज' विशेषण लिख कर उपर्युक्त 'यतिपति' और 'यतिक्ष्मापति' शब्द का स्वयं ही भाष्य भी कर दिया है 'यतिराज' 'यतिपति' 'यतिक्ष्मापति' इन सभी शब्दों का एक ही अर्थ है. ये पर्यायवाची शब्द है अतः इन तीनों शब्दों द्वारा श्रीरामानन्दस्वामीजी ने श्रीरामानुजस्वामीजी का ही कथन किया है, इसमें किञ्चित भी सन्देह नहीं है। और इससे यह भी प्रमाणित होता है, कि श्रीरामानन्दस्वामीजी का इन से सम्बन्ध था, उनकी परम्परा में थे . खैर, श्रीवैष्णव मताब्ज भास्कर के ५ वें श्लोक

❀ टिप्पणी–विस्तार भय से यहाँ श्लोकार्थ नहीं दिया गया है, अतः इसे ग्रन्थ में ही देखना चाहिये। इसी तरह आगे भी इस ग्रन्थ के जो बिना अर्थ के उदाहरण आयँगे, उनके अर्थ भी ग्रन्थ में ही देखने चाहिये।

एवं श्रीरामार्चनपद्धति के पहले श्लोक से तो केवल सम्बन्ध ही विदित होता है, परन्तु श्रीरामार्चन-पद्धति के ३ रे से ५ वे श्लोक तक तो उन्होंने अपनी गुरुपरम्परा ही स्पष्ट कर दी है. अतः इससे तो किसी प्रकार का सन्देह ही नहीं रह जाता, कि आप किस धर्म-परम्परा में हुए है। इससे भलीभाँति स्पष्ट है, कि आप वैष्णव-धर्म के श्रीसम्प्रदाय में श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा में हुए है। इन श्लोकों के द्वारा श्रीरामानन्दस्वामीजीने अपनी गुरुपरम्परा का इस प्रकार क्रम गिनाया है:—

१—श्रीराघवानन्दस्वामीजी	१२ श्रीमाधवाचार्यस्वामीजी
२—श्रीहरियानन्दस्वामीजी	१३—श्रीकूरेशस्वामीजी
३—श्रीश्रियानन्दस्वामीजी	१४—श्रीरामानुजस्वामीजी
४—श्रीदेवानन्दस्वामीजी	१५—श्रीपूर्णस्वामीजी
५—श्रीद्वारानन्दस्वामीजी	१६—श्रीयामुनाचार्यस्वामीजी
६—श्रीरामेश्वरस्वामीजी	१७—श्रीराममिश्रस्वामीजी
७—श्रीसदाचार्यस्वामीजी	१८—श्रीपुण्डरीकनयनस्वामीजी
८—श्रीगङ्गाधरस्वामीजी	१९—श्रीशठकोपस्वामीजी
९—श्रीपुरुषोत्तमाचार्यस्वामीजी	२०—श्रीविष्वक्सेनजी
१०—श्रीदेवाधिपस्वामीजी	२१—श्रीजानकीजी
११—श्रीवोपदेवस्वामीजी *	२२—श्रीरामजी

इसके अतिरिक्त श्रीरामानन्दस्वामीजी ने श्रीरामार्चनपद्धति के अन्त में भी प्रसाद सेवन की विधि में जो लिखा है, उससे भी इस परम्परा की ही पुष्टि होती है। यथा:—

"× × × × ततो निवेदितनैवेद्यं मनसा चतुर्भागं परिकल्प्य हनुमद्विष्वक्सेनानन्तगरुडसुदर्शनेभ्यो निवेद्यानन्तरं परांकुशादिभ्यः स्वाचार्येभ्यश्च निवेद्य शेषं भागवतैःसह भुंजीत।"

यहाँ 'परांकुशादिभ्यः' से श्रीशठकोपस्वामीजी प्रभृति पूर्वाचार्यों एवं 'स्वाचार्येभ्यः' से अपने श्रीगुरुदेव जी का अभिप्राय है, क्योंकि श्रीशठकोपस्वामीजी से ऊपर तो श्रीविष्वक्सेनजी ही हैं और

* टिप्पणी—यद्यपि कोई कोई व्यक्ति इनका नाम पूर्वाचार्य में न मानकर उपकार-स्मृति से लिया हुआ मानते हैं, परन्तु मुझे ऐसा मानने का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता, बल्कि भक्त-माल से भी इसका समर्थन होता है।

वे भगवत्पार्षद है, अतः उनका पार्षदों के साथ प्रसाद निवेदन हो ही गया है, और उनके ऊपर इष्टदेव श्रीसीतारामजी हैं, अतः यहाँ शठकोपस्वामीजी से ही प्रारम्भ कर सभी पूर्वाचार्यों का वर्णन हुआ है। और 'स्वचार्य्येभ्यः, से अपने साक्षात् गुरुदेवजी से तात्पर्य है अतः 'परांकुशादिभ्यः' के बाद 'स्वाचार्येभ्य.' के कथन करने से बीच के सभी पूर्वाचार्यों का 'आदि' पद से बोध कराया गया है।

इसके अतिरिक्त श्रीरामानुजस्वामीजी के अन्तिम वचनों को श्रीवष्णव-मताब्ज-भास्कर में शिष्यों को परम कर्त्तव्य के रूप में करने की आज्ञा देकर श्रीरामानन्दस्वामीजी ने अपने को और भी श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा में होने की पुष्टि कर दी है। श्रीरामानुजस्वामीजी ने अपने अन्तिम काल में अपने शिष्यों को परम-कर्त्तव्यका उपदेश देकर परमधाम की यात्रा की है। उस समय उन्होंने कहा है—

"श्रीभाष्यद्रविड़ागमप्रवचनं श्रीशस्थलेष्वन्वहं,
कैंकर्यं यदुशैलनित्यवसतिः सार्थद्वयोच्चारणम्।
यद्वा भागवताभिमानवसतिः श्रेयः सतामित्यलं
शिष्यान्प्रोच्य यतीश्वरः परमगाद्विष्णोः पदशाश्वतम्॥"

अर्थात्—'प्रतिदिन श्रीभाष्य या द्रविड़-प्रबन्धों का अध्ययन, या भगवद्धामों— दिव्य देशों—में रहकर भगवत्कैंकर्य, या यादवाद्रि में नित्य-वास, या अर्थानुसन्धान पूर्वक द्वयमन्त्र का जप, अथवा भागवताभिमान धारण सर्वदा कल्याणकारी(मोक्षप्रद)है' शिष्यों को इतना उपदेश देकर यतीश्वर श्रीरामानुजस्वामीजी ने परम सनातन भगवद्धाम के लिये प्रस्थान किया।

[उपदेश में क्रमशः कालक्षेप-विधि में सुसाध्यता की गयी है]

ठीक इसी उपदेश को श्रीरामानन्दस्वामीजी ने निजकृत श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर के कालक्षेप-प्रकरण में ज्यों का त्यों उद्धृत किया है। यथाः—

"शक्तैः श्रीभाष्यतश्च द्रविडमुनिकृतोत्कृष्टदिव्यप्रबन्धैः।
कालक्षेपो विधेयः सुविजितकरणैः स्वाकृतेर्यावदन्तम्॥१६९॥
"स्नानादि कर्माणि विधाय तत्र श्रीभाष्यमेवं शृणुयादशक्तः।
चेदादरान्नामसुकीर्त्तनं च द्वयानुसन्धानमथो विदध्यात्॥१७०॥
दिव्येषु देशेषु सतां प्रसङ्गं तदायकैङ्कर्यपरायणोऽनिशम्॥

यावच्छरीरान्तमहर्दिवं तत् कथामुदारां शृणुयाद्भवघ्नीम्॥१७१॥
"तथाप्यशक्तास्तु कुटीरमात्रं विधाय कुर्युस्त्वथ यादवाद्रौ।
अन्यत्र वासं च गुरूपदिष्टान्मन्त्राञ्जपन्तोऽहङ्कारशून्याः ॥१७२॥

अर्थात्—समर्थ-जितेन्द्रिय वैष्णव जीवन पर्य्यन्त श्रीभाष्य एवं द्रविड़-मुनियों के रचित दिव्यप्रबन्धों से कालक्षेप करें ॥१६०॥ यदि इसमें असमर्थ हों, तो स्नानादि कर्म-पूर्वक श्रीभाष्य का ही श्रवण करें अथवा द्वयमन्त्र का अनुसन्धान-एवं श्रद्धापूर्वक भगवान् का नाम-संकीर्त्तन करें॥१७०॥ अथवा निरन्तर दिव्यदेशों में सत्पुरुषों [भागवतों] की संगति एवं उनकी सेवा में लगे रहकर शरीर-पर्य्यन्त संसार को बाधा मिटाने वाली भगवानकी उदार-कथाको रातदिन श्रवण करे।१७१। यदि इसमें भी असमर्थ हों, तो यादवाद्रि में कुटिया बनाकर निवास कर अथवा अहङ्कार शून्य होकर गुरूपदिष्ट-मन्त्रों का जप करते हुए अन्यत्र भी निवास करें ॥१७२॥

इससे स्पष्ट है कि श्रीरामानन्दस्वामीजी ने श्रीरामानुजस्वामो जी के अन्त-कालीन परमोपदेशों को ही यहाँ श्रीवैष्णव-मताब्जभास्कर में महत्-कर्त्तव्य के रूप में उद्धृत किया है। इससे भी भलीभाँति सिद्ध है, कि श्रीरामानन्दस्वामीजी, श्रीरामानुजस्वामीजो के हीं धर्म सम्प्रदाय एवं परम्परा में हुए हैं।

इस तरह श्रीस्वामीजी के लेखों से ही स्वतः सिद्ध है, कि वे श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा में हुए है, वल्कि इसी सिलसिले में उन्होंने अपनी गुरु परम्परा का आदि से अन्त तक भलीभाँति स्पष्टीकरण भी कर दिया है। अब यह भी देखिये की आपके पूर्वाचार्यों एवं शिष्य-प्रशिष्यों के लेखों से इस पर कैसा प्रकाश पड़ता है।

श्रीस्वामीजी के दादागुरु श्रीस्वामीहर्याचार्यजी थे। उन्होंने श्रीरामस्तवराज पर एक भाष्य लिखा है, उसमें उन्होंने श्रीरामानुज स्वामीजी को शेषावतार एव श्रीभाष्यकार कह कर प्रणाम किया एवं अपने को उनका अनुयायी कहा है। जिससे श्रीरामानन्दस्वामीजी की लिखी हुई उपर्युक्त परम्परा का भलीभाँति समर्थन होता है। प्रस्तुत-प्रसङ्ग के ८५ से ९९ तक इस ग्रन्थके सम्बन्ध में काफी विचार हो चुका। अतः पुनः यहाँ उसको दो बारे उपस्थित करना अनावश्यक है।

इसलिये इस सम्बन्ध में वहीं देख कर इस पर विचार कर लेना चाहिये।

इसके सिवा एक ग्रन्थ श्रीस्वामीरामानन्दस्वामीजी के परनाती चेला (श्रीस्वामीअग्रदासजी)के शिष्य श्रीनाभाजी(श्रीनारायणदासजी) कृत हैं, जिसका नाम 'भक्तमाल' है। इसमें उन्होंने अपने धर्म सम्प्रदाय एवं कुलवंश का अच्छी तरह परिचय दिया है। अतः इसी सिलसिले में उस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। आपने अपने कुल-वंश का ऐसे विस्तार-वर्णन के साथ परिचय दिया है, कि जिसमें किसी तरह भी सन्देह रही न जाय। इसमें सब से पहले अपने धर्म संप्रदाय का ही स्पष्टीकरण किया गया है। यथाः—

"चौबीस प्रथम हरिवपु धरे त्यो चतुर्व्यूह कलियुग प्रगट"
'श्रीरामानुज' उदार सुधानिधि अवनि कल्पतरु।
'विष्णुस्वामि' बोहित्थ सिन्धु-संसार पार करु॥
'मध्वाचारज' मेघ भक्ति सर ऊसर भरिया।
'निम्बादित्त' आदित्य कुहर अज्ञान जु हरिया॥
जनम करम भागवत धरम सम्प्रदाय थापी अघट।
चौबीस प्रथम हरिवपु धरे त्यों चतुर्व्यूह कलियुग प्रगट॥२४॥
'रमा' पद्धति रामानुज, विष्णुस्वामी 'त्रिपुरारि'।
निम्बादित्य 'सनकादिका' मधुकरगुरु'मुखचारि'॥

उपर्युक्त छप्पय और दोहा से स्पष्ट है,कि श्रीनाभाजी ने पहले शैव-शाक्तादि धर्म सम्प्रदायोंसे अपने भागवत सम्प्रदाय(वैष्णव धर्म-सम्प्रदाय) कोभिन्नकर इसके चारो संस्थापकों का परिचय दिया है, पुनः उनकी पद्धतियों के परिचय में चारो वैष्णव-सम्प्रदायों का भी स्पष्ट विभाग कर दिया है:- कि कलियुग में वैष्णव-सम्प्रदाय के चार अचल सस्थापक 'श्रीरामानुजस्वामीजी' 'श्रीविष्णुस्वामीजी' 'श्रीमध्वाचार्यस्वामीजी और श्रीनिम्बादित्यस्वामीजी हुए और उनका सम्प्रदाय क्रमशः 'रमा' (लक्ष्मी,श्री) त्रिपुरारि (रुद्र), 'चतुर्मुख' (ब्रह्म) और सनकादिक का था अर्थात् श्रीरामानुजस्वामीजी'श्रीसम्प्रदाय' के,श्रीविष्णुस्वामीजी'रुद्रसम्प्रदाय के, श्रीमध्वाचार्यजी 'ब्रह्मसम्प्रदाय' के, और श्रीनिम्बार्का-चार्य जी 'सनकादिक-सम्प्रदाय' के संस्थापक हुए। भगवान्‌ने जैसे पहिले चौबीस अवतार रूप चौबीस देह धारण किये थे, उसी प्रकार कलियुग में इन

भागवत धर्म-संस्थापकाचार्यों के रूप में चतुर्व्यूह प्रगट हुये। यहाँ भगवान् के अवतारों के साथ इन आचार्यों के अवतारों का समानता-वर्णन इस लिये किया गया है, कि श्रीनाभाजी ने भक्त और भगवान् को अभेद ही माना है, जैसा कि उन्होंने इससे पहिले ही लिख दिया है:—

"भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु, चतुर नाम वपु एक।"

इस प्रकार चारो भागवत सम्प्रदायों का वर्णन करने के बाद आपने उसमें से अपने सम्प्रदाय (श्रीसम्प्रदाय) को भिन्न कर उसका परिचय इस प्रकार दिया है—

"सम्प्रदाय शिरोमणि 'सिन्धुजा' रच्यो भक्ति वितान।
'विष्वक्सेन' मुनिवर्य सुपुनि 'शठकोप' पुनीता॥
'वोपदेव' भागवत लुप्त उधरयो नवनीता।
मंगलमुनि 'श्रीनाथ' 'पुण्डरीकाक्ष' परमयश॥
'राममिश्र' रस रासि प्रगट परताप 'परांकुश'॥
'यामुन मुनि' 'रामानुज' तिमिर हरन उदय भान।
सम्प्रदाय शिरोमणि, सिन्धुजा रच्यो भक्ति वितान॥२५॥

इस छप्पयमें 'सिन्धुजा-सम्प्रदाय' (श्रीसम्प्रदाय) को भागवत-सम्प्रदायोमें शिरोमणि कहकर इसमें होने वाले आचार्यों का वर्णन किया गया है। 'सिन्धुजा' शब्द का अर्थ है 'समुद्र से उत्पन्न हुई' अर्थात् लक्ष्मीजी लक्ष्मी जी को 'श्री' जी भी कहते हैं, अतः 'सिन्धुजा' शब्द से यहाँ 'श्रीसम्प्रदाय' का कथन किया गया है। नामानुक्रम की दृष्टि से दो आचार्यों के नाम में उलट-फेर हुआ है। यथाः- श्रीवोपदेवस्वामीजी का नाम सब से पीछे और श्रीपरांकुशजी (श्रीमहापूर्णस्वामीजी) का नाम श्रीयमुनाचार्य जी से पहले न होकर उनके बाद चाहिये था। इसका कारण यह है, कि यहाँ नामानुक्रम की दृष्टि से वर्णन नही किया गया है। यहाँ तो श्रीनाभाजी ने श्रीसम्प्रदाय का भक्ति वितान (भक्ति के चँदोवा) की रचना के रूपमें वर्णन किया है। चँदोवे में ऊपर नीचे का कोइ क्रम नहीं होता बरन् एक सतह में तनाव रहा करता है, इसी कारण सबों का कथन कर उसके मण्डलको चन्दोवे के रूप में वर्णन कर दिया है, कोई विशेष क्रम नही रखा। इससे इतना स्पष्ट हुआ कि ये श्रीसम्प्रदाय के पूर्वाचार्य हैं।

इसके बाद श्रीसम्प्रदाय के संस्थापक होने के कारण (जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है) श्रीरामानुजस्वामीजी की विभूति का विशेषरूपेण वर्णन किया है। सबसे पहले उनका व्यक्ति गत वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

"सहसआस्य उपदेश करि जगत उद्धरन जतन कियो।
गोपुर ह्वै आरूढ़ ऊँचस्वर मन्त्र उचारयो॥
सूते नर परे जाग बहत्तरि श्रवणनि धारयो।
तितनेई गुरुदेव पद्धति भई न्यारी न्यारी॥
कुरुतारक शिष प्रथम भक्तिवपु मंगलकारी।
कृपणपाल करुणासमुद्र 'रामानुज' सम नहिं बियो।
सहस्रआस्य उपदेश करि जगत उद्धरन जतन कियो२६

श्रीप्रियादासजी ने अपनी टीका में इसको और भी स्पष्ट कर दिया है। यथा:-

'आस्य' सो बदन नाम, 'सहस' हजार मुख,
शेष अवतार जानो वाही सुधि आई है।
गुरु उपदेसि मन्त्र कह्यो नीके राख्यो अन्त्र,
जपत ही रामजू ने मूरति दिखाई है।
करुणा-निधान कही सब भागवत पावं,
चढ़ि दरवाजै सो पुकार्‌यो धुनि छाई है॥
सुनि शिष्य लियो यों बहत्तरनि सिद्ध भयो,
नयो भक्ति चोज यह रीति लैके गाई है॥ १०७॥

मूल में श्रीनाभाजी ने श्रीरामानुजस्वामीजी के लिये 'सहस्रआस्य (सहस्र-मुख) लिख कर जो उनका शेषत्व (शेष-अवतारत्व) सूचित किया है, उसी को श्रीप्रियदास जी ने अपने कवित्तके प्रथम चरण में भलीभाँति स्पष्टीकरण कर दिया है। मन्त्र-उच्चारणके सम्बन्धमें प्रियादासजी का स्पष्टीकरण बहुत ही साफ है। कौन सा मन्त्र उच्चारण किया गया था? इस शंका का समाधान कितनी योग्यता से किया गया है-'श्रीरामानुजस्वामीजी के गुरुदेवजी ने मन्त्रोपदेश कर उनसे यत्न-पूर्वक इसे हृदय में रखने के लिये कहा। इसके जपने मात्रसे ही उनको श्रीरामजी ने दर्शन दिया। करुणानिधान श्रीरामानुजस्वामीजीने जी ने सोंचा कि जिसमें सभी भागवतों को श्रीरामजी का मन्त्र मिले।'

अतः निस्तब्ध-रात्रि में गोपुर (मुख्यद्वार के धारहर) पर चढ़ कर आपने ऊँचेस्वर से उस मन्त्र का उच्चारण किया । इससे सोये हुए लोग जाग पड़े, जिसमें बहत्तरव्यक्तियों ने ❀ उस मन्त्र को श्रवण किया । अतएव गुरुदेव की इतनी ही-बहत्तर हो-भिन्न भिन्न पद्धतियाँ हुई । इन शिष्यों में श्रीकूरेशजी सर्वश्रेष्ठ एवं मंगलकारी-भक्ति के रूप ही हुए । इतना कह गद्गद् हो श्रीनाभाजी कहते हैं, कि दीनपालक करुणासागर श्रीरामानुजस्वामीजीके समान कोई दूसरा नहीं है ।

इस प्रसङ्ग से यहाँ स्पष्ट संकेत मिल रहा है, कि श्रीरामानुज-स्वामीजी ने श्रीराममन्त्र का ही गोपुर पर से उच्चारण किया था, क्योंकि श्रीप्रियादासजीने साफ ही लिखा है,कि उसके जपने से श्रीरामजी ने दर्शन दिया । इसके अतिरिक्त श्रीगुरुदेवजी ने उनसे इस मन्त्र को यत्नपूर्वक हृदय में रखने के लिये कहा था, परन्तु उसके जपते ही श्रीरामजी का दर्शन होने से उसकी विशेष महत्ता देख कर सबों के लिये सुलभ करने के विचार से आपने गोपुर पर चढकर उच्चस्वर से इसका उच्चारण किया, जिसे बहत्तर-व्यक्तियों ने सुन लिया । इससे स्पष्ट हो रहा है, कि श्रीराममन्त्र रहस्यमन्त्र था, यह आम-मन्त्रों की तरह न तो सब को दिया जाता था, न इसका प्रत्यक्षप्रचार ही रहता था । यह किसी योग्य अधिकारी को ही दिया जाता था । इसका आम-प्रचार श्रीरामानुजस्वामीजी ने कर दिया । 'श्रीयतिराज-वैभवम्' में श्रीरामानुजस्वामीजी के दीक्षा-प्रसंग में लिखा भी है, कि रघुनन्दन-तटाक पर आपने श्रीमहापूर्णाचार्यस्वामीजी से दीक्षा ली थी, उस समय आपको अनेक भगवन्मन्त्रों की दीक्षा मिली थी । जान पड़ता है, उसी समय आपको यह रहस्यमन्त्र (श्रीराममन्त्रराज) भी मिला था अथवा पीछे ही मिला हो । उसको देकर आपके गुरुदेवजीने यत्नपूर्वक हृदय में रखने अर्थात् साधारण शिष्यों के प्रति उपदेश नहीं करने के लिये सावधान किया था । परन्तु उस मन्त्र की महान्-महिमा देखकर श्रीरामानुजस्वामीजी ने आम-तौर से प्रकाशित

टिप्पणी—कहीं कहीं 'बहत्तर' के स्थान में चौहत्तर पाठ भी मिलता है किन्तु अधिकांश प्रतियों में बहत्तर ही है ।

कर दिया। इस सिद्धमन्त्र को बहत्तर-व्यक्ति श्रवण कर सिद्ध हो गये और उसमें श्रीकूरेशस्वामीजी सर्व प्रथम हुए।

श्रीशठकोपस्वामीजी से लेकर श्रीरामानुजस्वामीजी तक आचार्यों के ग्रन्थों के देखने से भी पता चलता है, कि अन्य भगवन्मन्त्रों को देते लेते भी आचार्यों का विशेष अनुराग श्रीराममन्त्र और श्रीरामजी में ही था, अतः वे इसको जीवन-सर्वस्व मान कर प्राण की तरह गोपन-रूप से रखते थे। फिर भी आचार्यों के उन ग्रन्थो में, जिसमें उनका हृदय अनुराग-प्रवाह में बह चला है, इस गोपन-भाव का व्यक्तिकरण हो ही गया है। श्रीशठकोपस्वामीजी की 'सहस्र-गीति', श्रीयामुनाचार्यस्वामीजी का 'आलवन्दारस्तोत्र' और श्रीरामानुजस्वामीजी के 'शरणागतिगद्य' एवं 'श्रीरङ्गगद्य' से इस बात का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है। यथाः—

"दुःखमात्रोत्पादकसदसत्कर्मभूतं तद्रहितम् उच्चैःस्थितमेकंज्योतिः लोकान् सप्त निगीर्य्योदगीर्णवन्त मोहहेत्वाकर्षणकर्त्तृयमभटानां क्रूरविषमच्युतं दशरथस्य सुतं विनान्य शरणवान्नास्मि।३।६।८॥"
"अभ्यस्यन्तो राममुपकारकं विना कश्चिदभ्यसेयुःकिं ७।५।१॥

सहस्रगीति के इस उद्धरण से भलीभाँति स्पष्ट है, कि शठकोप स्वामीजी ने दशरथ-नन्दन श्रीरामजी को 'उच्चैः स्थितं, (परात्परधामस्थित) एकज्योतिः आदि कहकर पुनः अपने को केवल उन्हीं का शरण होना बतलाया है। बल्कि पीछे और जोर देकर कहते है कि उपकारक श्री रामजी के अभ्यास करने वाला (यह दास) क्या उनको छोड़ कर किसी दूसरे का अभ्यास करता है? अर्थात् कभी नही। इससे श्रीशठ-कोपस्वामीजी का श्रीरामजी में अनन्य अनुराग स्पष्ट ही हो रहा है।

इसी प्रकार श्रीयामुनाचार्यस्वामीजी ने भी अपने आलवन्दार (स्तोत्ररत्न) के अन्त में सम्पूर्ण-स्तोत्र के कथनों का पर्य्यवसान करते हुए इस प्रकार उपसंहार किया हैः—

"रघुवर! यदभूस्त्वं तादृशो वायसस्य
प्रणत इति दयालुर्यच्च चैद्यस्य कृष्ण!,
प्रतिभवमपराद्धुर्मुग्ध! सायुज्यदोऽभू
र्वद किमपदमागस्तस्य तेऽस्ति क्षमायः।

ननु प्रपन्नस्सकृदेवनाथ! तवाहमस्मीति च याचमानः।

तवानुकम्प्यस्स्मरतः प्रतिज्ञां मदेकवर्जं किमिदं व्रतन्ते ? ॥६४॥
अकृत्रिमत्वच्चरणारविन्दप्रेमप्रकर्षावधिमात्मवन्तम् ।
पितामहं नाथमुनिं विलोक्य प्रसीद मद्वृत्तमचिन्तयित्वा ॥६५॥

इसी प्रकार श्रीरामानुजस्वामीजो ने भी 'शरणागतिगद्य' तथा 'श्रीरङ्गगद्य' में अपना हार्दिकभाव खोलकर रख दिया है । यथा:—

"× × × × आपत्सख काकुत्स्थ श्रीमन्नारायण अशरण्य शरण्य अनन्य शरणस्त्वत्पादारविन्द-युगल शरण महं पपद्ये ॥२॥(शरणागतिगद्ये)

" × × × × आपत्सख काकुत्स्थ श्रीमन्नारायण श्रीपुरुषोत्तम श्रीरङ्गनाथ ममनाथ नमोऽस्तुते ॥२॥ (श्रीरंगगद्ये)

यहाँ 'काकुत्स्थ' पद से श्रीरामजी का कथन कर और उसे श्रीरंगनाथ के साथ प्रयोग करते हुए ममनाथ कह कर प्रणाम किया एवं शरण में प्राप्त होने को कहा है । इसके अतिरिक्त भक्तमाल के पूर्वोक्त कथन से भी इसका भलीभाँति खुलासा हो ही गया है । इससे यह सिद्ध हुआ, सम्प्रदाय में श्रीरामजी की रहस्योपासना एवं अनन्यभक्ति पहले से ही चली आ रही थी,जिसका श्रीरामानुजस्वामीजी ने कारुणिक होने के कारण आमतौरसे प्रकाशित कर दिया । इससे बहत्तर पद्धत्तियाँ कायम हुईं, जिसमें सर्वप्रथम श्रीकूरेशस्वामीजी हुए । कहने का तात्पर्य यह, कि श्रीरामानुजस्वामीजी के इन बहत्तर सिद्ध-शिष्यों में श्रीकूरेशस्वामीजी ही सर्वश्रेष्ठ हुए, इन्हीं की पद्धति सर्वश्रेष्ठ हुई और इस पद्धति के प्रथम पुरुष आप ही हुए । इनका 'भक्तिवपु मङ्गलकारी' विशेषण देकर श्रीनाभाजीने उनकी पद्धति का भी संकेत कर दिया है अर्थात् इनकी पद्धति भक्ति—प्रधान हुई ।

इस प्रकार २६ वें छप्पय तक भागवत-सम्प्रदाय के परिचय के बाद श्रीसम्प्रदाय एवं उसके आचार्यों एवं संस्थापकाचार्य श्रीरामानुजस्वामीजी का वर्णन कर रहस्यमन्त्र (श्रीराममन्त्र राज) के प्रत्यक्ष-प्रचार का महत्व—गान करते हुए उसकी बहत्तर-पद्धतियों के होने का

टिप्पणी—'आचारज-जामात' से श्रीवरवरमुनिस्वामी का भी कथन किया जाता है । परम्पराओं मे इनका नाम भी स्वीकार किया गया है, इस पर आगे विचार किया जायगा । यहाँ श्रीरामार्चनपधद्धि की परम्परा का भक्तमाल से मिलान करना ही अभीष्ट है अतः यहाँ उस पर विचार नहीं किया गया ।

भी वर्णन कर दिया और इन पद्धतियों में सर्वश्रेष्ठता श्रीकूरेशस्वामी जी की ही बतलायी। पुनः उन्होंने इसके बाद २७ वें छप्पय 'चतुर महन्त दिग्गज चतुर भक्ति भूमि दावे रहैं' से श्रीरामानुजस्वामीजी के चारो गुरुबन्धुओं का, २८ वें छप्पय 'आचार्य जामात की कथा सुनत हरि होई रति' से 'लालाचार्य' के कीर्ति गान द्वारा आचार्य की मण्डलीके महत्व का, एवं २९वें छप्पय 'श्रीमारग उपदेशकृत श्रवण सुनौ आख्यान शुचि' से पादपद्मभक्त के कीर्ति-कथन द्वारा श्रीसम्प्रदाय के उपदेश की महिमा का वर्णन किया हैं। इस प्रकार २९वें छप्पय तक श्रीसम्प्रदाय एवं श्रीरामानुजस्वामीजी का भलीभांति परिचय एवं महत्व कथन किया गया है।

इसके बाद श्रीनाभाजी ने ३० वें छप्पय में श्रीरामानुजस्वामीजी के साथ अपनी परम्परा का सम्बन्ध दिखला कर पुनः अपनी परम्परा का वर्णन शुरू किया है। यथाः-

"रामानुज पद्धति प्रताप अवनी अमृत है अनुसरयो ॥
देवाचारज दुतिय महामहिमा हरियानँद।
तस्य राघवानन्द भये भक्तन को मानद ॥
पत्रावलम्ब पृथिवी करि वसि कासी स्थाई।
चारि वरन-आश्रम सब हीं को भक्ति दिढ़ाई ॥
तिनके रामानन्द प्रगट विश्व मङ्गल जिन वपु धरयो।
रामानुज पद्धति प्रताप अवनी अमृत है अनुसरयो ॥३०॥

पूर्वोक्त २४ वें छप्पय में श्रीनाभाजी ने श्रीरामानुजस्वामी को 'उदार-सुधानिधि' कहा है, अतः यहाँ उनकी पद्धति के प्रतापको पृथ्वी पर अमृत होकर वह चलने के रूप में अपनी परम्परा का वर्णन कियाहै। बात भी ठीक ही है, अमृतसागर का प्रवाह तो अमृत होगा ही, और परम्परा भी एक प्रकार से प्रवाह हैं ही, अतः इसे शिष्य-प्रवाह भी कही सकते है। इससे पहले के २६ वें छप्पय में श्रीरामानुजस्वामी के बाद बहत्तर-पद्धतियों का वर्णन कर उसमें एक पद्धति के प्रथम-व्यक्ति श्रीकूरेशाचार्यजी का कथन किया था, इसके बाद श्रीरामानुजस्वामी एवं श्रीसम्प्रदाय के कुछ महत्त्व गान किये गये, अब पुनः परम्परा उठाई गयी है, अतः श्रीरामानुजस्वामीजी की पद्धति के प्रवाह के रूपमें उसका वर्णन किया गयाहै। २६ व छप्पय में श्रीरामानुजस्वामीजी की

पद्धति का वर्णन कर कूरेशस्वामीजी को प्रथमशिष्य (कुरुतारक शिष प्रथम भक्ति वपु मंगलकारी) कहा गया है। अब इस ३० वें छप्पय से उसी के साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है। पहले तो श्रीरामानुजस्वामीजी की पद्धतिके प्रवाह रूप में इस परम्पराका वर्णन कर सम्बन्ध दिखलाया ही है,उसके बाद 'देवाचारज दुतिय महामहिमा' कह कर 'कुरुतारक शिष प्रथम' के साथ भी सम्बन्ध मिला दिया है,अर्थात् श्रीरामानुजस्वामीजी की पद्धति के अमृत प्रवाह में मङ्गलकारी-भक्ति-विग्रह श्रीकूरेशस्वामीजी प्रथम-शिष्य हुए और उनके बाद द्वितीय महामहिमावान् श्रीदेवाचार्यजी हुए। 'प्रथम' एव 'द्वितीय' के रूप मे कथन करने से यहां बहुत ही स्पष्टरूप में सम्बन्ध व्यक्त किया गया है। श्रीदेवाचार्यजी को 'महामहिमा' कहने से यह भी विदित ही है, कि बीच के और अचार्यों के नाम छोड़े भी गये है, नही तो 'दुतीय महामहिमा' कहने की आवश्यकता ही क्या थी ? श्रीरामार्चनपद्धति के अनुसार यहां श्रीकूरेशस्वामीजी एवं श्रीदेवाचार्यस्वामीजी के बीच में आठ आचार्यों-श्रीद्वारानन्दजी, श्रीरामेश्वराचार्यजी श्रीसदाचार्यजी, श्रीगङ्गाधराचार्यजी, श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी, श्रीदेवाधिपाचार्यजी श्रीबोपदेवजी एवं श्रीमाधवाचार्यजी के नाम यहाँ नही उल्लिखित हुए हैं, केवल इसमें से श्रीबोपदेवजी का नाम पहले श्रीसम्प्रदाय के वितान-वर्णन प्रसंग में आया है, अतः सात आचार्यों के नाम एक दम छूटे हुए है। इसी कारण श्रीदेवाचार्यजी को 'द्वितीय महामहिमा' कहते हुए श्रीकूरेशस्वामीजीसे सम्बन्ध मिलाया है। बीच के इन आचार्यों में से केवल श्रीबोपदेवजी का नाम जो ऊपर के वितान-वर्णन में मिला दिया है। इस वर्णन का कारण श्रीनाभाजी के अन्य कथनों से ज्ञात होजाता हैं, श्रीनाभाजी ने पूर्व में 'साधन-साध्य सत्रह पुराण फल रूपी श्रीभागवत' लिखकर श्रीभागवत का महत्व कथित किया ही है, यहाँ श्रीबोपदेवजी के वर्णन में 'बोपदेव भागवत लुप्त उधरयो नवनीता' कह कर उनका उल्लेखनीय महत्व प्रकट किया है। यही कारण है.कि उनका नाम यहाँ उल्लिखित कर दिया है। इतना ही नही, श्रीदेवाचार्यजी के बाद भी श्रीश्रियानन्दजी का नाम छोड़ कर श्रीहर्य्यानन्दजी का लिखा है, तब श्रीराघवानन्द एवं श्रीरामानन्दजी का नाम उल्लेख किया गया है। इन नामों के छुट-

वढ के लिये उन्होंने (नाभाजी ने) क्षमा-याचना के रूपमे इसकी स्वीकृति भी की है। यथाः–

"पादप पेड़हिं सींचते पावै अंग अंग पोष।
पूरबजा ज्यों बरनते सब मानियो संतोष ॥२०३॥
भक्त जिते भूलोक में कथे कौन पै जाय।
समुंद पान श्रद्धा करै, कहँ चिरि पेट समाय ॥२०४॥

अर्थात्–जिसप्रकार पेड़ों की जड़ सीचनेसे उसके सभी अंगोंका पोषण होता है, उसीप्रकार पूर्वाचार्यों के वर्णनसे ही सब कोई सन्तोष मानियेगा। क्योंकि भूलोकमें जितने भक्त है उनका किससे वर्णन होसकता है? यदि चिड़ियाँ समुद्र पी जाने की श्रद्धा करे तो वह उसके पेट में कहाँ समायेगा।

इससे स्पष्ट है, कि नाभाजीने मुख्य मुख्य पूर्णाचार्यो एव महात्माओं का ही वर्णन किया है, सबो का नही ; इसी कारण श्रीनाभाजी ने श्रीरामानन्दस्वामीजी के मुख्य मुख्य पूर्वाचार्यों एवं सम्प्रदाय का ही वर्णन किया है, फिर भी इससे सम्प्रदाय एवं परम्परा का पूरा परिचय मिल जाता है, अतः कुछ नामोंको उन्होंने छोड़दिया है, और इससे सम्प्रदाय एवं परम्परा के परिचयमे कोई हर्ज भी नही पहुँचता है। इस तरह श्रीरामार्चनपद्धति की परम्परा का भक्तमाल की परम्परा से भलीभाँति मिलान होता है।

इसके बाद श्रीनाभाजी ने श्रीरामानन्दस्वामीजी का विशेष–महत्व एवं विभूति वर्णन कर अपनी परम्परा शुरू कर दी है। पहले 'रामानन्द रघुनाथ ज्या दुतिय सेतु जग तरन कियो' इस ३१वें छप्पय म श्रीरामानन्दस्वामीजी की महिमा का गान एवं उनके अनन्तानन्द कबीर आदिक बारहो शिष्यों का वर्णन किया है। पुनः ३२व छप्पय 'अनन्तानन्द पद परसि कै लोकपाल से ते भये' में श्रीअनन्तानन्दजो का महत्व वर्णन एवं उनके योगानन्द गयेश करमचँद एवं कृष्णदासजी पयहारी आदि शिष्यों की गणना की गयी है। इसके बाद ३३वें छप्पय 'निर्वेद अवधि कलि कृष्णदास अन्न परिहरि पय पान कियो' में केवल पयहारीजी का महिमागान किया गया है और पुनः ३४वें छप्पय 'पयहारी परसाद ते शिष्य सबै गये पार कर' में उनके कील्हदासजी, अगरदासजी, केवलदासजी आदि शिष्यों की गणना की गयी है। पुनः ३५व छप्पय 'गांगेय मृत्यु गंज्यो नही त्यों कील्ह करन नहिं कालवश' में

कील्हदास की, एवं ३६ वे छप्पय 'अग्रदास हरिभजन बिन काल वृथा नहिं वित्तयो' में अग्रदासजी की महिमा गान कर नाभाजी ने अपनी परम्परा समाप्त कर दी है। इसके बाद श्रीशङ्कराचार्यजी का वर्णन शुरू किया गया है। नाभाजी ने अपनी परम्परा वर्णन करने के कारण ही यहां अपने ही पूर्वाचार्यों का क्रमशः वर्णन किया है। यथा ३१ वे छप्पय में श्रीरामानन्दस्वामी के बारहों शिष्यों का वर्णन किया, किन्तु ३२ वे छप्पय में अन्यों को छोड़ कर अपनी गुरु-परम्परा के आचार्य श्रीअनन्तानन्दजी एवं उनके शिष्यों का ही वर्णन किया। इसके बाद ३३वे छप्पय में पुनः श्रीअनन्तानन्दजी के अन्य शिष्यो को छोड़कर केवल अपनी गुरु परम्परा के आचार्य श्रीकृष्णदासजी पयहारी का ही वर्णन किया, और इसके बाद ३४वे छप्पय में पयहारीजी के शिष्योंका ही वर्णन हुआ है। इसके बाद पयहारीजी के अन्य शिष्यों को छोडकर श्रीकील्हदासजी एव श्रीअग्रदासजो का ही वर्णन कर अपनी गुरुपरम्परा समाप्त करदी है।

यहां पर एक यह शंका की जा सकती है, कि पूर्वसे और श्रीरामानन्दस्वामीजी के बाद से भी बराबर नाभाजीने अपनी गुरु परम्परा केआचार्यों को ही छाँट-छाँट कर वर्णन किया है, अतः उस नियमानुसार पयहारोजी के शिष्यों में केवल अग्रदासदासजी का ही वर्णन चाहिये था, फिर कील्हदासजी का भी क्यों किया? प्रियादासजी की टीका पर ध्यान देने से यह स्पष्ट जाना जाता है, कि श्रीनाभाजी श्रीकील्हजासजी को भी गुरुदेववत् ही मानते थे, क्योकि ५ वर्ष की अवस्था में अन्धे नाभाजी अकाल की पीड़ा से माता द्वारा जंगल में छोड़ दिये गये थे, उनकी ऐसी करुण असहाय अवस्था में कील्हदास और अग्रदासजी संयोगवश वहाँ आ पहुँचे। नाभाजी की अवस्था ज्ञात करने पर कील्हदासजी ने करुणार्द्र होकर अपने कमण्डलु के जलसे उनके नेत्र सींचकर उनको नेत्रवान् बना दिया और उनको अपने साथ लेते आये। स्थान में आने पर कील्हदासजी की आज्ञा से अग्रदासजीने उनको शिष्य किया। यही कारण है, कि नाभाजी ने यहां गुरुदेव के साथ ही उनका भी वर्णन किया है।

इस प्रकार सिद्ध हुआ, कि प्रथम-प्रसङ्ग मे श्रीनाभाजी ने भागवत-सम्प्रदाय का परिचय दिया है इसके बाद दूसरे प्रसंग में श्रीसम्प्रदाय का, 'श्री'जी से लेकर उसके अचल-संस्थापक श्रीरामानुजस्वामीजी तक के

आचार्यों का परिचय दिया है, और उसके बाद श्रीरामानुजस्वामीजी की कीर्ति, पद्धति, मण्डली महत्व एव उपदेश की महिमा वर्णन हुआ है। उसके बाद तीसरे प्रसग में प्रवाह के रूप में श्रीरामानन्दस्वामीजी तक की संक्षिप्त परम्परा दी गयी है। उसके बाद चौथे प्रसंग में श्रीरामानन्द-स्वामीजी से लेकर अग्रदासजी तक वर्णन कर नाभाजी ने अपने कुलवंश और अपनी परम्परा का भलीभांति परिचय दे दिया है। पहले सम्प्रदाय के परिचयके साथ उसके संस्थापक श्रीरामानुजस्वामीजी का सम्बन्ध स्पष्ट कर दिया गया ह, उसके बाद श्रीसम्प्रदाय के संस्थापक श्रीरामानुज स्वामीजी के साथ इसके प्रचारक श्रीरामानन्दस्वामीजी का सम्बन्ध स्पष्ट कर श्रीसम्प्रसाय का भलीभाति परिचय दे दिया गया है। इस प्रकार श्रीसम्प्रदाय एवं उसके संस्थापक प्रचारक का स्पष्टीकरण कर लेने पर श्रीनाभाजी ने श्रीरामानन्दस्वामी से लेकर श्रीअग्रदासजी तक की अपनी परम्परा भलीभांति वर्णित की है।

श्रीनाभाजी के इस गुरुपम्परा-वर्णन से श्रीरामार्चन पद्धतिकी गुरु परम्परा का मिलान करनेसे इसके द्वारा उसका और भी स्पष्टीकरण और समर्थन होता है। नाभाजी ने पूर्वाचार्यों के नामों में कुछ सन्क्षेप किया है, परन्तु सम्प्रदाय का और भी स्पष्टरूप से परिचय दिया है, अत: दोनों की एकता से साम्प्रदायिक परिचय और भी परिस्फुटित हो उठा है। इस प्रकार श्रीरामार्चन-पद्धति की परम्परा का दादागुरु एवं प्रमाणिक प्रशिष्य के लेखों से भी भलीभांति मिलान समर्थन और स्पष्टीकरण होता है।

इस तरह वंशस्वीकृत प्राचीन प्रामाणिक लेखों से श्रीरामानन्दस्वामीजी के कुलवंश-परम्परा का भले प्रकार परिचय दिया गया। इसके बाद के भी बहुत से ऐसेग्रन्थ है जिससेश्रीसम्प्रदाय और श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा में श्रीरामानन्दस्वामीजी के होने का कथन मिलता है। अर्थात् नूतन-परम्परा सम्बन्धी आन्दोलन के पूर्व के ऐसे जितने भी ग्रन्थ है, सबसे उयुक्त परिचय का ही मिलान और समर्थन होता है, इससे किसीको भी इनकार नही है। अतः उन सबों के वर्णन की कोई विशेष आवश्यकता नही है। इसके लिये श्रीवैष्णवधमरत्नाकर श्रीवैष्णव-धर्मनिर्णय रसिकभक्तमालकी टीका, सभी प्रकार के अन्य भक्तमालों शिक्षापत्री एवं विश्रामसागर आदि ग्रन्थों को देखना चाहिये।

लोक-प्रसिद्धि

अब लोक-प्रसिद्धि के द्वारा श्रीरामानन्द स्वामीजी का क्या परिचय मिलता है. इस ओर ध्यान दें। ऐसे तो सर्वत्र विदित है ही, कि श्रीरामानन्दस्वामीजी, श्रीरामानुज स्वामीजी की परम्परा में है, परन्तु मौखिक-प्रसिद्धि की उपस्थिति लिखित रूप में करने की आवश्यकता नही, क्योंकि यह घूम घूम कर देखने और दिखा देने की चीज है. अतः केवल कुछ लिखित-प्रमाणों की ही यहाँ उपस्थिति की जायगी।

सब से अच्छा यही होगा कि श्रीरामनन्द स्वामीजी के शिष्यों या श्रीरामानन्दीय- वैष्णवों के शिष्यों द्वारा जो भिन्न भिन्न धर्म-पन्थ निकले है, उन लोगों में श्रीरामानन्द स्वामीज के परिचय के विषय में क्या प्रसिद्धि तथा मान्यता है पहले इस पर ही दृष्टि डालें। अच्छा तो यह होता कि उदाहरण में इस सम्बन्ध के वचन उद्धृत कर दिये जाते परन्तु अधिक विस्तार होने के भय से केवल उन ग्रन्थों के नाम ही यहा उदधृत किये जायँगे। इसीमे इतना समझ लेना चाहिये कि यहां उन ग्रन्थों के नाम उद्धृत किये जायगे, जिसमें श्रीरामानुज स्वामीजी की परम्परा में श्रीरामानन्द स्वामीजीका होना लिखा है। कबीरपंथ, स्वामीनारायणीयमत, निरंजनीमत एवं रामसनेहीमत आदि इसी रामा-नन्दीय-समाज से निकले हुए पंथ हैं। यद्यपि इनके ग्रन्थों में विशेष महत्त्व इनके मुख्याचार्य के ही लिखे गये है, परन्तु उनकी जो गुरु-परम्परा स्वीकृत हुई है, यहां उसीमे तात्पर्य है। क्योंकि अपने मुख्याचार्यों की महत्ता गाने में उनकी निजी भावना काम करती है, परन्तु गुरु परम्परा में उनकी उस भावना के सम्पर्क की गुञ्जाइश ही नही हो सकती, कारण उसमें उनका कोई खास मतलब नही है, अतः वहाँ उनकी खास जानकारी ही मानी जायगी।

कबीरपथ का एक ग्रन्थ 'बोधसागर' है, इसमें श्रीरामानन्दस्वामीजी की परम्परा श्रीरामार्चनपद्धति एवं भक्तमाल के ही समान लिखी गयी है, अर्थात् इसमें श्रीरामानुज स्वामीजी को श्रीसम्प्रदायी लिखते हुए श्रीरामानन्दस्वामीजी को श्रीरामानुजस्वामीजी की ही परम्परा में लिखा है। इसी प्रकार स्वामीनारायणीय-मत की प्रधान पुस्तक 'शिक्षापत्री'

है, उसमें भी श्रीरामानन्द स्वामीजी श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा में ही लिखे गये है । इसी तरह निरंजनीमत की पुस्तक 'निरंजनदेव की महावाणी' में भी श्रीरामानन्दस्वामीजी, श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा में ही स्वीकृत हुए है । रामसनेहीमत के बाबा रघुनाथदासजी का लिखा हुआ बहुत प्रसिद्ध और प्रचलित ग्रन्थ 'विश्राम सागर' है और इसका रामानन्दीय-वैष्णवों में काफी प्रचार भी है । इसमें भी श्रीरामानन्द स्वामीजी, श्रीरामानुज स्वामीजी की परम्परा में ही लिखे गये है । इसी प्रकार इन सबों की भी और बहुत सी शाखायें हैं, और उनके परिचायक बहुत से ग्रन्थ है, उन सबों में भी श्रीरामांनुज स्वामीजी की परम्परा में ही श्रीरामानन्द स्वामीजी का होना भलीभाँति उल्लिखित है । अतः इससे सिद्ध है. कि श्रीरामानन्दस्वामीजी श्रीरामानुजस्वामी की परम्परा में ही हुए हैं।

इसके अतिरिक्त श्रीनाभाजी के बाद जितने भी भक्त-चरित्र के रचयिता महात्मा है, उन सबों ने भी श्रीनाभाजी के भक्तमाल के अनुसार ही श्रीरामानन्दस्वामीजी को श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा में ही लिखा है । हाँ. भेद केवल इतनाही है कि श्रीनाभाजी ने संक्षिप्त-परम्परा लिखी है, परन्तु इन सबों ने अपनी खोज एवं जानकारी के अनुसार बढ़ा दी है — मूलतः दोनों परम्परा एक ही है । इसके लिये सबसे पहले भक्तमाल के टीकाकारों एवं उसके उपबृंहण कर्ताओं के ग्रन्थों को देखना चाहिये । यथा. भक्तमाल की श्रीरसङ्गमणिजी की टीका, डिपटी भगवान प्रसादजी 'रूपकला' की टीका (प्रथम सस्करण), रघुराजसिंह की भक्तमाला-रामरसिकावली आदि । इसी तरह भक्त-चरित्र सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में भी लिखा है, यथा, 'भारतीय चरिताम्बुनिधि' 'भक्तउरवसी' 'उर्दू भक्तमाल' 'श्रीभागवतचरितामृत' हिन्दीभाषा भक्तमाल आदि में ।

इतनाही नही, अन्य वैष्णव-सम्प्रदाय के ग्रन्थों से भी श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा में ही श्रीरामानन्दस्वामीजी का होना सिद्ध होता है क्योंकि उनके लेखकों ने इस बात को बहुत ही स्पष्टरूप से लिखा है. कि श्रीरामानन्दस्वामीजी श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा में हुए हैं । यथा निम्बार्कसाम्प्रदाय के पं० माधवदासजी ने 'श्रीहरिभक्तसहस्रनाम' में, इसी सम्प्रदाय की शाखा टट्टीसम्प्रदाय के महन्त नन्दकिशोरदासज

ने 'महिमामृत' में, माध्व-सम्प्रदाय के गौड़ीय-विद्वान रचित प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारतवर्षीय-उपासक-सम्प्रदाय' में, विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध वल्लभीय-विद्वान् भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने 'वैष्णव-सर्वस्व' में, तथा आचारी-श्रीवैष्णव रामप्रपन्नाचार्य प० राजेन्द्रनाथ ने 'भारतीय-मतदर्पण' में इस बात को बहुत ही स्पष्ट रूप से उल्लिखित किया है। अतः सभी वैष्णव-सम्प्रदायों के लेखों से भी यही सिद्ध है, कि श्रीरामानन्द स्वामीजी श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा में हुए है।

इसके सिवा और भी बहुत से विद्वानों द्वारा अनुसन्धान पूर्वक लिखे एवं प्रतिष्ठित सस्थाओं द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों में भी यही बात लिखी गयी है, कि श्रीरामानन्दस्वामीजी श्रीरामानुजस्वामीजी की ही परम्परा में हुए है। जैसा कि हिन्दी-प्रदेश की अनुसन्धान करनेवाली सर्वश्रेष्ठ संस्था काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा से प्रकाशित तुलसीग्रन्थावली तृतीयभाग,'हिन्दीभाषा और साहित्य' एवं हिन्दी साहित्य का इतिहास आदि ग्रन्थों से सिद्ध है। इन ग्रन्थों के लेखक प्रिन्सपल श्यामसुन्दरदास, प्रो० रामचन्द्रशुक्ल, प्रिन्सपल पं० गिरिधरशर्मा आदि है। इसके अतिरिक्त हिन्दीविश्वकोष, बङ्गलाविश्वकोष, मराठी-ज्ञानकोष एवं गुजरातविद्यापीठ के एतत्सम्बन्धी लेखों से भी यही बातें भलीभाँति सिद्ध है। आजतक जितने भी भारतीय इतिहास लिखे गये है, उन सबों में, तथा जितने भी विदेशी-अनुसन्धान कर्ताओं ने खोज में जानकारी प्राप्त की है तत्सम्बन्धी लेखों में यही बातें लिखी है।

इन व्यापक-प्रसिद्धियों की प्रामाणिकता से भली-भाँति स्पष्ट होता है, कि सम्पूर्ण लोकमत यही है, कि श्रीरामानन्दस्वामीजी, श्रीरामानुज स्वामीजी की ही परम्परा में हुए है।

मान्य-प्रमाण

अब कुछ मान्य प्रमाणों की दृष्टि से भी श्रीस्वामीजी के परिचय के सम्बन्ध में विचार करना उचित है. यहाँ मान्यप्रमाणोंसे तात्पर्यशास्त्रीय प्रमाणों (ऋषि प्रणीत ग्रन्थों के प्रमाणो) से है। कलियुग में वैष्णवों के चार ही सम्प्रदायहै और उसके चार सस्थापकाचार्य भी हुए हैं, अतः आज जितने भी वैष्णव है, सब इन्ही चारों सम्प्रदायों एव संस्थापकाचार्यों

की परम्परा के अन्तर्गत होंगे, यह सर्व-मान्य मत है। अब देखना यह चाहिये कि, शास्त्रों में उन चारों भागवत-सम्प्रदायों एवं उनके संस्थापकों की किस प्रकार गणना की गई है। पद्मपुराण का यह श्लोक तो प्रसिद्ध और प्रचलित ही है:—

"कलौखलु भविष्यन्ति सम्प्रदाय प्रवर्तकाः।
श्रीब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः।"

इसी श्लोक को वाचस्पत्यभिधानकार तथा शब्दकल्पद्रुमकारने इस प्रकार उद्धृत किया है:-

"श्रीपद्मपुराणे--सम्प्रदाय विहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मता।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः।
श्रीब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः॥"

इससे यह सिद्ध है, कि कलि में वैष्णवों के चारही सम्प्रदाय— श्री, ब्रह्म, रुद्र एवं सनकादिक—है। अब यह देखना चाहिये कि इसके संस्थापकाचार्य कौन कौन से हुए हैं। एक बार वृन्दावन में साम्प्रदायिक विचार करने के लिये चारो सम्प्रदाय के वैष्णवों की एक सभा हुई थीं, और उनके सम्मिलित विचार एवं हस्ताक्षर पूर्वक एक पुस्तिका 'भ्रान्ति-तिमिर भास्कर' नाम की प्रकाशित हुई थी। इसमें चारो भागवत सम्प्रदायों की गणना के निर्णय के लिये शास्त्रीय प्रमाण सग्रह किये गये है। अतः इसकी सर्वमान्यता में कोई सन्देह ही नही है, उसी से कुछ प्रमाण उद्धृत किये जायँगे। इसमें लिखा गया है कि, गर्गसंहिता के ६१ वें अध्याय में लिखा है—

"विष्णुस्वामी वामनांशस्तथा मध्वस्तु ब्रह्मणः।
रामानुजस्तु शेषांशो निम्बार्क सनकस्य च।
एते कलौ युगे भाव्याः सम्प्रदाय प्रवर्तकाः॥"

पुनः लिखा है—'श्रीराधावल्लभीय सिद्धान्त ग्रन्थ वेदान्त सूत्रव्याख्यान के 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' सूत्र के व्याख्यान में भार्गवपुराण के वचनों द्वारा चारो संप्रदाय और उसके चारो संस्थापकाचार्यों की गणना इस प्रकार की गयी हैं:—

"मध्वो ब्रह्मा शिवो विष्णुःनिम्बार्कः सनकस्तथा
शेषो रामानुजः प्रोक्तः" इत्यादि भार्गवपुराण वाक्यात्"

इन सब वचनों से भलीभांति स्पष्ट हो गया, कि कलि में 'श्री' 'ब्रह्म' 'रुद्र' एवं 'सनकादिक' यही चार वैष्णव सम्प्रदाय है, और श्रीरामानुजस्वामी, श्रीमध्वस्वामी 'श्रीविष्णुस्वामी और श्रीनिम्बार्कस्वामी ही क्रमशः इन चारों सम्प्रदायों के संस्थापकाचार्य है अर्थात् श्रीसम्प्रदाय के संस्थापक श्रीरामानुजस्वामी, ब्रह्मसम्प्रदाय के संस्थापक श्रीमध्वस्वामी, रुद्रसम्प्रदाय के संस्थापक श्रीविष्णुस्वामी तथा सनकादिक-सम्प्रदाय के संस्थापक श्रीनिम्बार्कस्वामीजी हुए है,ऐसा शास्त्रीय प्रमाणों से सिद्ध है। इसी को श्रीनाभाजीने निजकृत भक्तमाल में बहुत ही स्पष्टरूप से कहा है:—

"रमापद्धति रामानुज विष्णुस्वामि त्रिपुरारि।
निम्बादित्य सनकादिका, मधुकरगुरु मुखचारि॥"

यही बात और भी बहुत से साम्प्रदायिक-ग्रन्थों में लिखी है, किन्तु इतने से ही सर्वप्रकारेण इसका स्पष्टीकरण हो गया है. अतः अब विशेष प्रमाण-संग्रह की आवश्यकता नही है। इससे यह अनिवार्य-रूपेण मानना पडेगा कि सभी वैष्णव इन्हीं चारो सम्प्रदायों एव इन्ही चारो संस्थापकाचार्यो की परम्परा के ही अन्तर्गत होगे। अत. श्रीरामानन्दस्वामीजी भी इन्ही एक सम्प्रदाय और परम्परा के ही अर्न्तगत होंगे। श्रीरामानन्दस्वामीजी किस साम्प्रदायिक परम्परा में है, यह तो पूर्व में भले प्रकार सिद्ध किया ही जा चुका है अतः पुनः यहां उसे दिखलाने की कोई अवश्यकता नही।

किन्तु परम्परा के सिलसिले में एक बात और भी विचारणीय है, और वह यह, कि श्रीरामार्चनपद्धति की परम्परा तो श्रीरामानुज स्वामीजीके बाद श्रीकूरेशस्वामीजीको लेकर आचारी–श्रीवैष्णवों की परम्परा से एकदम अलग हो जाती है, पुनः भक्तमाल से भी उसका पूर्ण समर्थन होता है, किन्तु पिछलेदिनों की जो परम्परायें द्वारागादियों में उपलब्ध होती हैं, उससे यह सिद्ध होता है कि श्रीरामानन्दीयवैष्णवो की परम्परा श्रीकूरेशस्वामीजी को लेकर विभक्त नहीं होती,बल्कि श्रीवरवरमुनिस्वामीजीके बाद विभक्त होती है। पुनः इस दृष्टिकोण से विचार करने पर भक्तमाल के 'आचारजजामात की कथा सुनत हरि होई रति' पद्य द्वारा इस बातकी पुष्टि भी हो जाती है,और भक्तमाल के आधार पर अथवा स्वतंत्र भक्तचरित्र के कितने लेखकों एवं भक्तमाल के उपबृंहण

कर्त्ताओं एवं टीकाकारों ने भी ऐसा ही लिखा है, अतः प्रश्न यह उपस्थित होता है, कि श्रीरामानुजस्वामीजी के बाद की इन विभिन्न परम्पराओं में कौन सी वास्तविक परम्परा है ।

यद्यपि आजकल इस प्रश्न का यह भी उत्तर दिया जाने लगा है, कि 'इन सबों में विभिन्नता है, अत सारे के सारे गलत हैं । हम सबों को दूसरी परम्परा खोजनी चाहिये ।' इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने विविध उपायों से नूतन परम्परा तैयार कर उसे चालू भी कर दिया है । किंतु यह विचारक की सीमा से बाहर का काम है । वस्तुस्थिति लेकर ही मीमांसा की जाती है उसे छोड़कर नहीं, परन्तु नूतन परम्पराकार ने छोड़कर ही की है । इसपर आगे पूर्णरूप से प्रकाश डाला जायगा, अतः यहाँ उसके सम्बन्ध में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है ।

नूतन-परम्परा की रचना के पूर्व की जितनी भी परम्परायें या इस सम्बन्ध की बातें मिलती है उन सभी से यही प्रमाणित होता है, कि श्रीरामानन्दस्वामीजी श्रीरामानुजस्वामीजीकी परम्परा में हुए है, अतः इस सम्बन्धमें कुछ कहने की आवश्यकताही नहीं है । रह गई श्रीरामानुजस्वामीजी के बाद की विभिन्न प्रकार की परम्पराओं की बात । ये परम्परायें तीन प्रकार की मिलती है, एक श्रीरामानुजस्वामीजी के बाद श्री कूरेशस्वामीजी को लेकर दूसरी श्रीवरवरमुनिस्वामीजी को लेते हुए तीसरी श्रीरामानुज स्वामीजी के बाद ही श्रीदेवाचार्य को लेकर, और इन तीनों का भक्तमाल से इस प्रकार समर्थन भी होता है:—

"रामानुज पद्धति प्रताप अवनी अमृत ह्वै अनुसर्यो ।
देवाचारज दुतिय महामहिमा हरियानँद ॥"

यहाँ श्रीरामानुजस्वामीजी की पद्धति के प्रसार को अमृत-प्रवाह कहकर श्रीदेवाचार्यस्वामीजी को द्वितीयमहामहिमावान् कहा है । यदि इसका विचार केवल इसी पद्य से किया जाय, तबतो यही अर्थ करना पड़ेगा, कि श्रीरामानुजस्वामीजी के बाद दूसरे महामहिमावान् श्रीदेवाचार्य जी हुए अर्थात् प्रथम महामहिम श्रीरामानुजस्वामीजी एवं द्वितीय श्रीदेवाचार्यस्वामी । इसी प्रकार कई भक्तचरित्र लेखकों ने लिखा भी है । पुनः श्रीदेवाचार्यजी को द्वितीय महमाहिमा कहने से ऐसा भी अर्थ किया जाता है, कि श्रीरामानुजस्वामीजी की पद्धति के प्रसार में प्रथम महाम-

हिम श्रीवरवरमुनिजी दूसरे महामहिम श्रीदेवाचार्यजी हुए। श्रीवरवरमुनिस्वामीजी का वर्णन श्रीदेवाचार्य्यजी से पूर्व ही 'आचरजजामात की कथा सुनत हरि होयरति'वाले छप्पय में किया गया है। भक्तमाल के टीकाकारों एव कितने उपबृंहणकर्त्ताओं ने भी इस प्रकार अर्थ किया और लिखा है। पुनः श्रीरामानुजस्वामीजीके वर्णन वाले छप्पय में 'तितनेई गुरुदेव पद्धति भई न्यारी न्यारी; कुरुतारक सिष प्रथम भक्तिवपु मंगलकारी' लिखा है। इसमें श्रीरामानुजस्वामीजी की विभिन्न पद्धतियो का वर्णन करके श्रीकूरेश स्वामीजीको सर्व प्रथम कहा है, अतः श्रीदेवाचार्यजीको द्वितीय महामहिमावान् कहा गया है। इस प्रथम' एव 'दुतिय' शब्दके सयोग से श्रीरामाचन-पद्धति की परम्परा का मिलान भी होता है। इस प्रकार परम्परा की तीन प्रकार की वस्तुस्थिति है, अतः विचारना यह है, कि कौनसी ठीक है?

जो विद्वान् साम्प्रदायिक सम्बन्ध से रहित, अतः निरपेक्ष है, वे रचना की स्थिति को मुख्य मानकर पहला ही अर्थ करते और इसीको सबसे ठीक मानते है। उनका विचार है, "कि और नाम पीछे से सुने सुनाये या अन्य प्रकार की स्मृति के लिये किए हुए परम्परा के साथ लिख गये है, अतः पिछले लोगों ने भूल से सभी को परम्परा ही समझ लिया, अतः उसका भी प्रचार होगया है। ठीक परम्परा वही हैं, जैसी कि भक्तमाल की रचना से स्वतः प्रकट होती ह अर्थात् श्रीरामानुजस्वामीजी के बाद श्रीदेवाचार्यजीको लेकर श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवों की परम्परा अलग होजाती है। यही कारण है, कितनी प्रतिष्ठित सस्थाओ के बड़े बड़े विद्वानो ने श्रीरामान्दस्वामीजीकी परम्परा के वर्णन में श्रीरामानुजस्वामीजीके बाद श्रीदेवाचार्यजीको लेकर भक्तमाल के अनुसार परम्परा अलग कर दी है।" यद्यपि केवल भक्तमाल के ही द्वारा विचार करने से यह अर्थ उत्तम ही ठहरता है और 'बोधसागर' एवं गुजरात विद्यापीठ के एतत्सम्बन्धी लेख आदि में ऐसा ही लिखा भी है, परन्तु इस सम्प्रदाय मे ऐसी कोई परम्परा नहीं रहने के कारण सम्प्रदाय में इस अर्थ की मान्यता नहीं हैं, अतः इसके सम्बन्ध में कुछ विचार करने की आवश्यकता ही नही।

अब दूसरे अर्थ पर विचार करें। पिछली परम्पराओं में भक्तमाल की टीकाओं एवं इसके आधार पर लिखे हुए अन्य भक्तमालों में

श्रीवरवरमुनिस्वामीजी श्रीरामानन्दस्वामीजी की गुरुपरम्परा में स्वीकार किये गये हैं, किन्तु श्रीरामार्चनपद्धति की परम्परा में इनका नाम नहीं आया है। भक्तमाल के टीकाकारों एवं कुछ उपबृंहणकर्त्ताओं ने यद्यपि 'आचारज जामात की कथा सुनत हरि होई रति' वाले छप्पय में श्रीवरवरमुनिस्वामीजी का वर्णन माना है, परन्तु इसके प्रथम टीकाकार श्रीप्रियादासजी की टीका से ऐसा अर्थ नहीं निकलता। उन्होंने 'आचारज जामात की कथा सुनत हरि होई रति' का अर्थ 'आचारज को जामात बात ताको सुनो नीके पायो उपदेस सन्त बन्धु करि मानिये' किया है। अतः इससे यही निकलता है, कि इन्होंने 'आचारज जामात' का अर्थ किया है 'आचारज को जामात'। और इसका दोही अर्थ किया जा सकता है-'आचार्य के दामाद' अथवा 'आचार्य की मण्डली' इसके सिवा तीसरा अर्थ हो ही नहीं सकता। इन दोनों अर्थों में से ऐसा एक अर्थ भी नहीं है, जिससे श्रीवरवरमुनिस्वामी जी की सिद्धि हो। 'आचार्य के दामाद' में किस आचार्य के दामाद ? यह सवाल खड़ा होता है। यदि श्रीरामानुजस्वामीजीको आचार्य पद से ग्रहण करें, तो भी श्रीवरवरमुनिस्वामीजीकी सिद्धि नहीं होती। फिर आचार्य पद से किनका ग्रहण किया जाय ? ऐसी बात भी नहीं है कि श्रीवरवरमुनिस्वामीजी किसी गादी के आचार्य के दामाद थे और उनके बाद उस गादी के आचार्य हुए थे। इसप्रकार श्रीप्रियादासजीकी टीकासे श्रीवरवरमुनिस्वामीजीका वर्णन नहीं सिद्ध होता। इससे यही जान पड़ता है, कि श्रीप्रियादासजीके समय में इस पद्य के द्वारा श्रीवरवर-मुनिजीके वर्णनकी प्रसिद्धि नहीं थी। अब दूसरे अर्थ को लीजिये। आचारज को जामात' का अर्थ आचार्य की मण्डली। मण्डली को जमात या जामात कहते ही है, अतः 'आचारज को जामात' का अर्थ आचार्य की मण्डली स्पष्ट ही है। मण्डली को आचार्य ने यह उपदेश दिया था, कि साधुओं को बन्धु मानना। इसमें से एक महात्मा श्रीलालाचार्यजीने उसका महत्त्वपूर्ण प्रकारसे पालन किया, अतः आचार्य की मण्डली का माहात्म्य वर्णन करते हुए यहां श्रीलालाचार्यजीका वर्णन हुआ है। यही श्रीप्रियादासजीकी टीका से सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त इसमें व्यक्ति का नाम 'लालाचार्य आया है, किन्तु श्रीवरवर-

मुनिस्वामीजी का कहीं भी 'लालाचार्य' नाम नहीं मिलता, अतः मूल से भी 'आचारज जामात' का अर्थ श्रीवरवरमुनिजी नहीं होता। और अगले छप्पय 'श्रीमारग उपदेशकृत श्रवण सुजौ आख्यान सुचि' से इसकी पुष्टि भी होती है। इसमें 'पादपद्म' भक्त के माहात्म्य-वर्णन द्वारा श्रीसम्प्रदाय के उपदेश (पद्धति) की महिमा गायी गयी है। इसी प्रकार 'आचारज जामात की' पद्य में श्रीलालाचार्यजीके वर्णन द्वारा 'आचार्य मण्डली' की महिमा गाई गई है, यही सर्वप्रकारेण सिद्ध होता है।

अब विचार करना यह है कि इस परम्परा में श्रीवरवरमुनिस्वामीजी का नाम कैसे आया, जब कि श्रीरामार्चपद्धति एवं भक्तमाल मे उनका नाम तथा तदनुकूल परम्परा नहीं है? इसके सिवा एक और प्रश्न यह भी उपस्थित किया जाता है, कि श्रीकूरेशस्वामीजी का नाम श्रीवरवरमुनिजी की गुरु-परंपरा में स्वीकृत नहीं है, किन्तु श्रीरामार्चनपद्धति एवं भक्त-माल से श्रीरामानन्दस्वामीजी की गुरुपरंपरा में श्रीकूरेशस्वामीजी का होना सिद्ध है, अतः जब गुरुपरंपरा में श्रीवरवरमुनि स्वामीजी होंगे, तो श्रीकूरेशस्वामीजी नहीं हो सकते; और जब श्रीकूरेशस्वामीजी होंगे, तो श्रीवरवरमुनिस्वामीजी नहीं हो सकते। इसमें श्रीकूरेशस्वामीजी के होने के प्रमाण—श्रीरामार्चन पद्धति एवं भक्तमाल सबसे प्राचीन हैं, और ये आचार्य श्रीरामानन्दस्वामीजी तथा दिव्यज्ञानी श्रीनाभाजी के लिखे हुए है, अतः श्रीकूरेशस्वामीजी इस परम्परा में है, इसमें तो सन्देह ही नहीं हो सकता,। यही युक्ति इस पुस्तककी प्रस्तावना के प्रकाशक महोदयजी ने भी उपस्थित कर इस गुरु-परम्परा में श्रीवरवरमुनिस्वामीजी का होना स्वीकार नहीं किया है, अतः इस पर एक प्रौढ़ दृष्टि डालने की आवश्यकता है।

इस समस्या पर दो-दृष्टियों से प्रकाश डाला जा सकता है। एक तो यह कि यदि यह ठीक है, तो किस तरह? दूसरे, यदि गलत है तो कैसे? निदान इन्हीं दोनों दृष्टिकोणों से आगे विचार कर मीमांसा की जायगी।

ठीक तो इस प्रकार है, कि कई प्रसिद्ध गादियां में उपलब्ध परम्पराओं और इस सम्प्रदाय तथा अन्य सम्प्रदाय के विद्वानों द्वारा लिखे हुए लेखों भक्त-चरित्रों एवं परम्पराओं में श्रीवरवरमुनिस्वामीजीका नाम श्रीरामानन्दस्वामी जीकी गुरुपरम्परा में लिखा है, अतः मानना पड़ेगा, कि जब सम्प्रदाय में ऐसी परम्परा चली आती थी, तभी तो इन सब ग्रन्थों एवं लेखों में उनका

नाम आया है ? यदि यह कहें, कि फिर श्रीरामार्चनपद्धति एवं भक्त-माल में उनका नाम क्यों नहीं आया हैं ? तो यही कहना पड़ेगा, कि उसमें परम्परायें संक्षिप्त करके लिखी गई है, इसी कारण उसमें उनका नाम नहीं लिखा गया है। सम्प्रदाय के हरेक घरों मे क्रमबद्ध परम्परा चली आती थी, उसमें क्रमशः पूरी परम्परायें लिखी रहती थी। ऐसा देखने में भी आता है, कि नामों की गणनाओं में न्यूनाधिकता रहा करती है। जैसे कि श्रीहर्याचार्य स्वामीजीने अपने श्रीरामस्तवराज भाष्य में केवल इष्टदेव, आदिआचार्य (श्रीजी) तथा संस्थापकाचार्य (श्रीरामानुजस्वामी) की गणना द्वाराही अपनी परम्परा तथा सम्प्रदाय का परिचय दिया है। श्रीरामानन्दस्वामी जी के श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर तथा श्रीरामार्चनपद्धति के अन्य स्थलो से भी ऐसाही सिद्ध होता है किन्तु श्रीरामार्चनपद्धति के आदि में जो परम्परा लिखी हुई है, उसमें अधिक नामावलियां आयी हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है, कि एकही लेखक ने भिन्न भिन्न स्थलो में न्यूनाधिक नामों का प्रयोग किया है। पुनः भक्तमाल में जो परम्परा लिखी गयी है, वह श्रीरामार्चनपद्धति की परपरा से संक्षिप्त तथा अन्यों से बृहद् है, इसी प्रकार और भी बहुत से ग्रन्थों एवं लेखों मे नामो की न्यूनाधिकता पायी जाती है अतः मानना पड़ेगा कि श्रीरामार्चनपद्धति एवं भक्तमाल में जो परम्परा की दी हुई है वह भी संक्षिप्त ही है। पूरी परम्परा द्वारा गादियों में पहले से ही सुरक्षित चली आ रही है।

अब दूसरे पहलू पर भी दृष्टि डालें। यदि श्रीवरवरमुनिस्वामीजी इस परम्परा के आचार्य नही है, तो कैसे ? इस सम्बन्ध में कुछ उल्लेख तो पहले भी किया गया है। उसके सिवा और बात भी है, जिससे श्रीरामानन्दस्वामीजी की गुरुपरम्परा में श्रीवरवरमुनिस्वामीजी के होने का समर्थन नही होता। भक्तमाल की परपरा संक्षिप्त कही जा सकती है, परन्तु श्रीरामार्चनपद्धति की परम्परा संक्षिप्त नही मानी जा सकती; क्योंकि उसमें श्रीकूरेशस्वामीजी से ऊपर की परम्परामें भी सिल-सिलेवार है, तथा श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी से श्रीरामानन्दस्वामीजी तक की परम्परायें भी प्रायः क्रमबद्ध ही है। इन सबों के नामों में तो वैसा संक्षेप नहीं किया गया, फिर कैसे माना जाय, कि बीच में श्रीवरवरमुनि स्वामीजी से लेकर श्रीपराशरभट्टस्वामीजी तक के नामोंको एकदम उड़ा दिया है ?

ऐसा भी नहीं है, कि ये अप्रसिद्ध व्यक्ति है। कम से कम श्रीवरवर-मुनिस्वामी, श्रीलोकाचार्यस्वामी एवं श्रीपराशरभट्टस्वामीजी का नाम तो अवश्य ही रहना चाहिये था, क्योंकि ये बहुत ही प्रसिद्ध एवं प्रतापी महात्मा हुए है, तथा इनके बनाये हुए बहुत से साम्प्रदायिक ग्रन्थ आज भी सम्प्रदाय मे प्रचलित है। अतः श्रीरामार्चनपद्धति की परम्परा में इनके नामो के एकबारगी नहीं रहने के कारण इसी बात की पुष्टि होती है, कि ये श्रीरामानन्दस्वामीजी की गुरुपरम्परा में नही है। इसके अतिरिक्त श्रीरामार्चनपद्धति की परम्परा मे श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी एवं श्रीकूरेशस्वामीजी के बीच में श्रीदेवाधिपाचार्य, श्रीबोपदेवजी तथा श्रीमाधवाचार्यजी के नाम भी आये है, परन्तु श्रीवरवरमुनिस्वामी वाली परम्परा में इनके नामों की गणना नही है, अतः मानना पड़ेगा कि श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी का श्रीवरवरस्वामीजी से होकर श्रीकूरेशस्वामीजी से सम्बन्ध नही है, बल्कि श्रीदेवाधिपाचार्यजी एवं श्रीमाधवाचार्यजी से होते हुए श्रीकूरेशस्वामीजी से है। इससे सर्वप्रकारेण यही सिद्ध होता है, कि श्रीवरवरमुनिस्वामीजी, श्रीरामानन्दस्वामीजी की गुरुपरम्परा में नही हुए है, बल्कि श्रीरामानुजस्वामीजीके बाद ही श्रीगोविन्दार्यजी से श्रीवरवरमुनिस्वामीजी की परम्परा अलग, और श्रीकूरेशस्वामीजी से श्रीरामानन्दस्वामीजी की परम्परा अलग हो गयी है।

इस प्रकार सम्प्रदाय में प्रचलित तथा प्रामाणिक-परम्परा के आधार पर दो पक्ष उपस्थित होते है। इन दोनों से इतना तो सिद्ध ही है, कि श्रीरामानुजस्वामीजी की ही परम्परा में श्रीरामानन्दस्वामीजी हुए है। सन्देह केवल इतना ही है, कि श्रीवरवरमुनिस्वामीजी इस परम्परा में हुए है या नहीं। यद्यपि श्रीरामार्चनपद्धति से यह नहीं सिद्ध होता, कि श्रीवरवरमुनिस्वामीजी इस परम्परा मे हुए है, और भक्तमाल से भी ऐसाही सिद्ध होता है। ये दोनों ग्रन्थ हैं भी श्रीरामानन्दस्वामीजी तथा श्रीनाभाजी जैसे प्राचीन आचार्य तथा दिव्यज्ञानी महात्मा के लिखे हुए, अतः इसकी मान्यता भी सर्वोपरि है, तथा प्राचीन होने के कारण सर्व श्रेष्ठ प्रमाणिकता भी है। इसलिये श्रीरामार्चनपद्धति की परम्परा ही सर्वोपरि मान्य तथा प्रामाणिक है, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु

श्रीवरवरमुनिस्वामीजी वाली परम्परा भी प्रचलित है अतः इसके विषय में भी विचार करना आवश्यक है।

श्रीरामार्चनपद्धति तथा भक्तमाल के विरुद्ध यह तो किसी प्रकार माना ही नहीं जा सकता, कि श्रीकूरेशस्वामीजी की परम्परा में नहीं होने पर भी श्रीवरवरमुनिस्वामीजी, श्रीरामानन्दस्वामीजीकी गुरुपरम्परा में हैं। सम्भवतः इसी कारण रहस्यत्रय में पं० सूर्यवलीजी द्वारा लिखित परम्परा में, तथा वैष्णवधर्मरत्नाकर की परम्परा में श्रीवरवरमुनिस्वामीजीको भी श्रीकूरेशस्वामीजी की परम्परा में ही लिखा है, किन्तु श्रीवरवरमुनिस्वामीजीकी जो प्रामाणिक-परम्पराय मिलती है, उससे यही सिद्ध होता है कि श्रीवरवरमुनिस्वामीजी श्रीकूरेशस्वामीजीकी वंशपरम्परा में नहीं है, बल्कि श्रीगोविन्दाचार्यजी की परम्परा में है। ऐसी दशा में श्रीवरवरमुनिस्वामीजी श्रीकूरेशस्वामीजी की वंशपरम्परा में नहीं माने जा सकते। इसलिये जब श्रीकूरेशस्वामीजीकी परम्परा में श्रीरामानन्दस्वामीजीकी का होना निश्चितरूप से सिद्ध है, तो इस गुरुपरम्परा में श्रीवरवरमुनिस्वामीजी नहीं हो सकते। अब प्रश्न यह होता है, कि फिर ये इस परम्परा में आये कैसे?

इसके लिये सबसे प्रामाणिक और युक्तिसंगत उत्तर यह है, कि एक ही श्रीरामानुजस्वामीजीकी वंशपरम्परा में होने के कारण आचारी-श्रीवैष्णवों एवं विरागी-श्रीवैष्णवों में हेलमेल, सद्भाव एवं घनिष्टता रहती ही थी। आचारी-श्रीवैष्णवों में महानता की दृष्टि से श्रीरामानुज-स्वामीजी के बाद श्रीवरवरमुनिस्वामीजीकी ही गणना होती है। श्रीवरवर-मुनिस्वामीजीने आठ गद्दियां स्थापित की थीं, जिससे श्रीवैष्णवधर्म की सर्वाङ्गपूर्ण उन्नति और प्रतिष्ठा हुई। इन गादियों में ऐसे ऐसे विद्वान् आचार्य हुए, जिन्होंने सदा के लिये विपक्षियों के दाँत खट्टे कर दिये, उनको करारी हार दी, और श्रीसम्प्रदाय की विजय-वैजयन्ती सदा के लिये और सर्वत्र फहरा दी। इसीसे श्रीवरवरमुनिस्वामी श्रीरामानुजस्वामीजीके अवतार मानेजातेहै। आचारी-श्रीवैष्णव यह मानतेहैं कि शेषभगवान ने श्रीरामानुजस्वामीजी के रूप में अवतार लेकर श्रीसम्प्रदायकी संस्थापना की पुनःउन्होंने ही श्रीवरवरमुनिस्वामीजी के रूप में अवतरितहोकर इस सम्प्रदाय की सर्वत्र उन्नति एवं व्यापक प्रतिष्ठा स्थापित की। श्रीवरवरमुनि

स्वामीजी की आठो गद्दियों में भी तोताद्रि सर्वप्र-थम अतः मुख्य गद्दी है, इसलिये इसकी प्रतिष्ठा तथा महत्त्व भी अन्य गद्दियों से अधिक बढ़ा। यहाँ तक कि श्रीरामानुजस्वामीजी की ७४ पद्धतियों (अथवा ७४ पद्धतियों के) में से अन्य ७१ (अथवा ७३) पद्धतियों के श्रीवैष्णव, बल्कि इन आठ गद्दियों में से भी अन्य सात गद्दियों के श्रीवैष्णव तोताद्रिस्थान के आचार्य से पुनः दीक्षा तक लिया करते थे, और ऐसा बहुत कुछ आज भी विद्यमान है। इसी से श्रीरामानन्दीय वैष्णवों ने भी श्रीवरवरमुनिस्वामीजी को द्वितीय श्रीरामानुजस्वामीजी ही, और उनके मुख्य स्थान तोताद्रि को श्रीरङ्गनाथ के समान आचार्य-स्थान मान लिया। तब से दिनोदिन यह घनिष्टता बढने लगी, और बराबर बढती ही गयी। यही कारण है, कि पीछे से श्रीरामानन्दीय-वैष्णवों की गुरुपरम्परा में भी श्रीवरवरमुनिस्वामीजी सम्मिलित हो गये। इसके बाद भी घनिष्टता बनी ही थी, तोताद्रिस्थान और वहाँ के आचार्य की मान्यता हो ही रही थी, यहाँ तक कि, श्रीरामानन्दीय-वैष्णवों का सबसे प्राचीन स्थान गलता है, अतःवहस्थान सभी श्रीरामानन्दीय-वैष्णवों की दृष्टि में मान्य तथा पूज्य था, इसको उत्तर-तोताद्रि की उपाधि एवं मान्यता देने मे गौरव समझा गया।अतः यह स्वतः सिद्ध बात है, कि इस समय यह ज्ञान निश्चित हो गया था, कि श्रीवरवरमुनिस्वामीजी सचमुच श्रीरामानन्दीय वैष्णवों की गुरु-परम्परा के ही आचार्य है, अतः कितने विद्वानों एवं द्वारा-गादियों के आचार्यों ने भी अपनी गुरु-परम्परा में श्रीवरवरमुनिस्वामीजी और इनके एवं श्रीरामानुजस्वामीजी के बीच के आचार्यों की नामावली भी छुटी हुई समझ कर सम्मिलित कर ली। यही कारण है, कि भक्तमाल के पिछले टीकाकारों, उपबृंहण कर्त्ताओं, एवं अन्य भक्त-चरित्र के लेखकों ने भी श्रीरामानन्दस्वामीजी की गुरु परम्परा मे श्रीवरवर-मुनिस्वामीजीकी भी गणना की है, और उसका आधार भक्तमाल के 'आचारज जामात की' छप्पय को मान लिया, अतः उनका नाम लालाचार्य जी भी बतलाया है। इस प्रकार श्रीरामानन्दीय-वैष्णवों की परम्परा में श्रीवरवरमुनिस्वामीजी का नाम भी सम्मिलित हो गया।

पिछले दिनों में विरागी-श्रीवैष्णवों में विद्या व्यसन भी

बहुत ही कम हो गया था। इसके दो कारण थे--एक तो विराग-भावना की प्रबलता के कारण पढने लिखने में ध्यान न होकर भक्ति भावना एवं पूजा अर्चा में लगा रहता था, यही कारण है, कि इस सम्प्रदाय में बड़े बड़े अनेक सिद्ध महात्मा हो गये हैं, जिनके चेताये हुए हजारों प्रसिद्ध स्थान एवं लाखों सन्तान आज भी उनकी महिमा प्रकाशित कर रहे हैं, दूसरे गुसाइयों के द्वारा वैष्णवों पर होने वाले असह्य अत्याचारों को रोकने के लिये श्रीरामानन्दीय-वैष्णवों ने ही आगे कदम बढाया। स्वामी अनभयानन्दजी ने समाज जोड़कर उन लोगों का भलीभाँति मुकाविला किया और उनको करारी हार दी। उनके कुछ दिनो के बाद श्रीस्वामीबालानन्दजी हुए। इन्होंने उत्तर-भारत के चारो सम्प्रदायो के विरक्त-वैष्णवों का एक समाज बनाया और उसमें सम्मिलत होने वाले लोगों की पहचान के लिये उनके प्रसिद्ध पूर्व पुरुष के नाम से 'द्वारा' कायम किया। इस प्रकार इसमें सम्मिलित होने वाले वैष्णवों के ५२ द्वारे कायम हुए थे। फिर उन सबों में से धर्म के नाम पर जूझने वाले महात्माओं की नागा के नाम से सेना तैयार की, जिनके समूह अखाड़ों के नाम प्रसिद्ध है। इनकी संख्या ७ है। इन सातो अखाड़ो का काम वैष्णवधर्म की रक्षा के लिये जूझना और समाज को शासन पूर्वक सुनियन्त्रित तथा सुव्यवस्थित रखना था। इस प्रकार नागा की जबर्दस्त सेना तैयार कर श्रीबालानन्दस्वामीजी ने गुसाइयों को सदा के लिये परास्त किया। इस कारण से भी समाज के एक बड़े भाग में विद्याव्यसन का अभाव होकर वीररस की ही प्रधानता हो गयी। इस प्रकार भक्तिभावना की प्रबलता और धर्मरक्षा के लिये वीर रस के ग्रहण करने के कारण समाज में विद्या का बड़ा अभाव हो गया। ऐसी अवस्था में जो श्रीरामानन्दीय-श्रीवैष्णव शास्त्र या सम्प्रदाय का विशेष अध्ययन करना चाहते थे, उनके लिये अपने समाज में बड़ी कठिनता थी। अतः एक ही सम्प्रदाय के होने एवं घनिष्टता रहने के कारण वे आचारी श्रीवैष्णवो से शास्त्र तथा श्रीभाष्यादि का अध्ययन किया करते थे। इस कारण इस समाज में अन्य आचारी-श्रीवैष्णवों की मान्यता एव तोताद्रिस्थान तथा वहाँ के आचार्य की प्रतिष्ठा और भी पराकाष्ठा को पहुंच गई अतः गुरु परम्परा म श्रीवरवरमुनि स्वामीजीकी मान्यता और भी पुष्ट हो गई।

श्रीस्वामीजी का समय

उपर्युक्त विवेचनों से इतना तो स्पष्ट हो ही गया है, कि श्रीरामानन्द स्वामीजी श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा में हुए है, और श्रीरामानुज स्वामीजी श्रीसम्प्रदाय के संस्थापकाचार्य एवं श्रीरामानन्दस्वामीजी परम प्रचारकाचार्य है। किन्तु श्रीरामानन्दस्वामीजी का समय क्या है? इस पर भी एक दृष्टि डाल लेनी उचित है।

यह पहले कहा ही जा चुका है, कि महात्माओं के ऐतिहासिक-जीवनचरित्र का बहुत ही अभाव है, अतः उनके सम्बन्ध में प्रामाणिक जीवनी और समय आदि का निरूपण करना बहुत ही कठिन, बल्कि कितनों के लिए तो असम्भव ही हो जाता है। किन्तु जिन महात्माओं का सम्बन्ध किसी ऐतिहासिक राजे-महाराजाओं के साथ हुआ है, कमसे कम उनके समय-निरूपण में बहुत कुछ सहायता मिलती है। श्रीरामानन्द-स्वामीजी महापुरुष थे, आपकी कीर्तियाँ विस्तृत थी, अतः एक तो आप का स्वयं राजा-महाराजाओ एवं बादशाहों तक से सम्बन्ध था, इसके अतिरिक्त आपके शिष्यों का भी प्रभाव बढ़ा हुआ ही था, अतः उन सबों के सबंधसे भी श्रीरामानन्दस्वामीजीके समयका सहज ही निरूपण होजा सकताहै।

यह प्रसिद्ध तथा मान्य बात है, और श्रीभगवद्दासजीने भी श्रीमद्रामानन्द-दिग्विजय में स्पष्ट स्वीकार किया है कि श्रीस्वामीरामानन्दजी दिल्ली के बादशाह सिकन्दरलोदी के समय में थे। शाह सिकन्दरलोदी, शाहबहलोललोदी का लड़का था, और इसका पहला नाम निजाम खाँ था। यह सन् १४८९ ई० में पिता के मरने पर अपना नाम सिकन्दर रखकर राजसिंहासन पर बैठा था। इसका राज्यकाल सन् १४८९ ई० से सन् १५१७ ई० तक है सन् १५१७ ई० में सिकन्दरलोदीकी स्वाभाविक-मृत्यु हो गयी था। अतः सन् १४८९ ई० से सन् १५१७ ई० के अन्तर्गत श्रीरामानन्दस्वामीजी का रहना अवश्य मानना पड़ेगा। इसके सिवा कुछ और प्रमाणों से भी श्रीरामानन्दस्वामीजी का शाहसिकन्दलोदी के समय मे रहना सिद्ध होता है। उसमें एक यह, कि माणिकपुर के प्रसिद्ध पीर शेखतकी शाहसिकन्दरलोदी के समय में हुए थे, और उनका शाह के साथ सम्बन्ध भी था, किन्हीं किन्हीं विद्वानों के मत से वे

शाहसिकन्दर के भी पीर ही थे। विद्वान् लोग इनका श्रीरामानन्दस्वामीजी के साथ वाद-विवाद होना भी मानते हैं, बल्कि श्रीभगवद्दासजी ने भी इस बात को ठीक माना है, अत इससे भी श्रीरामानन्दस्वामीजी का सिकन्दरलोदी के समय में होना सिद्ध है।

इन बातों की एक और प्रकार से भी अच्छी तरह पुष्टि होती है। श्रीकबीरदासजी, श्रीरामानंदस्वामीजी के शिष्य थे। उन्हो ने अपने समय में शेखतकी का होना और उनसे स्वयं विवाद करने की बात बीजक में लिखी है। बीजक, कबीरमत का सबसे प्रमाणिक और मान्य ग्रन्थ है। उसकी ४८ वीं रमैनी में लिखा है:—

"मानिकपुरहिं कबीर बसेरी * महदति सुनी सेखतकि केरी ॥"

पुनः अन्यत्र एक स्थान पर और भी इस प्रकार लिखा है —

"घट घट है अविनासी सुनो तकी तुम सेख ॥"

कहते हैं कि इन्हीं शेखतकी ने कबीरसाहबजी की शिकायत सिकन्दरलोदी से की थी, कि वे इस्लामधर्म की निन्दा करते हैं अतः सिकन्दरलोदीने कबीरसाहब को जञ्जीर में बंधवा कर गङ्गाजी में डलवा दिया था। परन्तु भगवत्कृपा से जञ्जीर की कड़ियाँ अपने आप बिखर गईं और वे बादशाह को लल-कारते हुए बाहर निकल आये। इस घटना के सबन्ध में आपके प्रधान शिष्य श्रीधमदासजी ने भी उल्लेख किया है। यथा.—

"शाहसिकन्दर जलमें बोरे बहुरि अग्नि पर जारे।
बेमत हाथी आन झुकाये सिंह रूप दिखराये ॥
निरगुण कथैं अभयपद गावें जीवन को समझाये।
काजी पंडित सभी हराये, पार कोउ नहिं पाये।"

सन्तमत के प्रसिद्ध महात्मा गरीबदासजी ने भी लिखा है:—

"जड़े तौक बेड़ा गले में जँजीर। लोदीसिकन्दर दई है जु पीर ॥
डारे गंगा बीच हूये खड़े। राखे समर्थ तौक बेड़ी झड़े।"

इसी प्रकार प्रियादासजी आदि कितने लोगों ने इस घटना का उल्लेख किया हैं। इससे यह स्पष्ट है, कि श्रीकबीरसाहबजी, शेखतकी और शाहसिकन्दरलोदी के समय में हुए हैं। पुनः कबीरसाहबजी श्रीरामानन्दस्वामी के शिष्य है, अतः दोनों में बहुत कुछ समसामयिकता अनिवार्य ही है। इससे शाहसिकन्दरलोदी के समय में श्रीरामानन्द-

स्वामीजी के होने के पूर्वोक्त कथन का भी भलीभाँति समर्थन और पुष्टि ही होती है। इससे यह सुनिश्चित हो गया, कि श्रीरामानन्दस्वामीजी शाहसिकन्दरलोदी के राज्य काल मे थे। परन्तु यह काल सन् १४८९ से १५१७ ई० तक २८ वर्ष का है। अतः विचारना यह है, कि वे इस कालके प्रारंभ में ही थे, या मध्य तक, या अन्त तक, अथवा इसके बादभी।

इसके लिये उनके सम्बन्ध के व्यक्तियों में से किसी के पिछले समय के निश्चित हो जाने से इसका बहुत कुछ अनुमान किया जा सकता है। और इसके लिये सेनभक्त को लेना ही सबसे अच्छा होगा। क्योंकि आपका रीवाँ-राज्य-वंश से सम्बन्ध है, उनका और पीछे तक रहना सिद्ध होता है। अतः कम से कम उनके समय के कुछ अंश का अवश्यही निश्चय हो सकेगा। यथाः-

श्रीसेनभक्त के विषय में श्रीनाभाजी ने लिखा है—

विदित बात जग जानिये हरि भये सहायक सेन के ॥
प्रभू दास के काज रूप नापित को कीनो।
छिप्र छुरहरो गही पानि दर्पन तहँ लीनो॥
तादृश है तिहि काल भूप को तेल लगायो।
उलटि राव भयो शिष्य प्रगट परचो जब पायो॥
श्याम रहत सन्मुख सदा ज्यों बछरा हित धेन के।
विदित बात जग जानिये हरि भये सहायक सेन के॥६३॥

इसकी टीका में श्री प्रियादासजी ने इस प्रकार लिखा है—

बांधौंगढ़ वास, हरि साधु सेवा आस लागी,
पगी मति अति प्रभु परचा दिखायो है।
करि नित नेम चल्यो भूप को लगाऊँ तेल,
भयो मग मेल सन्त, फिरि घर आयो है॥
टहल बनाय करी, नृप की न शङ्क धरी,
धरि उर श्याम जाय भूपति रिझायो है।
पाछे सेन गयो, पन्थ पूछै, हिय रङ्ग छयो,
भयो अचरज राजा बचन सुनायो है ॥३०९॥

इससे यह स्पष्ट हुआ, कि श्रीसेनजी बांधवगढ़ के रहने वाले नापित थे। आपकी जीविका का व्यवसाय वहां के राजा का तेल

लगाना, दर्पण दिखाना आदि था। एक बार सन्त-आगमन से इनको सेवा में रह जाने के कारण आप राजा की सेवा में उपस्थित नहीं हो सके, अतः भगवान् ने ही आपका वेष धारण कर राजा की सेवा मे पूरी की। जब आपको फुर्सत मिली, तो राजा के पास चले। रास्ते में लोगों से वहाँ की बातें मालूम हुई, तो आपको बड़ा आश्चर्य हुआ और हृदय में प्रेम रङ्ग छा गया। राजा के पास जाने पर आपने पूछने पर सब बातें सुनाईं, तो राजा आप का परिचय पाकर शिष्य हो गया।

अब जानना यह चाहिये, कि वे कौन से राजा थे, जिनकी श्रीसेन-भक्तजी सेवा करते थे। आजकल जो रीवाँ नरेश हैं, इनके पूर्वजों की ही पहली राजधानी बांधवगढ थी रीवाँ पीछे से बसाकर राजधानी कायम की गयी है। अतः श्रीसेनजी के विषय में जानने के लिये रीवाँ के महराजाधिराज श्रीरघुराजसिंहजी कृत 'भक्तमाला-रामरसिकावली' ही सब से उत्तम प्रमाणिक ग्रन्थ होगा। इसमें इन्होंने लिखा है:—

बांधवगढ़ पूरब जो गायो। सेन नाम नापित तहँ जायो॥
ताकी रहै सदा यह रीती। करत रहै साधुन सों प्रीती॥
तहँ को राजाराम बघेला। बरन्यो जेहि कबीर को चेला॥
करै सदा तिनकी सेवकाई। मुकर देखावै तेल लगाई॥

इससे सिद्ध हुआ, कि श्रीसेनभक्तजी बांधवगढ के राजाराम की सेवा करते थे राजाराम को ही राजा रामचन्द्र भी कहते है। रीवाँ राज्य एव राजवंश के इतिहास तथा चारणों के लेखों एवं ताम्रपत्रों से इनका शासन समय सन् १५५४ ई० से सन १५९१ ई० तक सिद्ध है। ये राजा वीरभानु के पुत्र थे। जैसा कि महाराजा रघुराज सिंहजी ने भी 'रामरसिकावली' में लिखा है:-"वीरभानु सुत भो पुनि ताके। राजाराम भयो सुत जाके।" अतः श्रीसेनभक्तजीको भी सन् १५५४ ई० से सन् १५९१ ई० के अन्तर्गत रहना मानना ही पड़ेगा। हाँ, यह अवश्य हो नहीं कहा जा सकता कि वे इसके अन्तर्गत कब तक रहे। किन्तु कम से कम इसमें तो सन्देह ही नहीं है, कि वे ईस्वी सन की १६ वों शताब्दी के तृतीय चरण में अवश्य विद्यमान थे। यदि श्रीरामानन्दस्वामीजी का परधाम गमन इनसे अर्ध शताब्दी भी पूर्व मान लें, तौभी इसी शताब्दी के प्रथम चरणमें श्रीस्वामीजी का विद्यामान

रहना सिद्ध है। इससे अवश्य ही इस अनुमान पर आना पड़ता है कि श्रीस्वामीजी शाहसिकन्दर लोदी के राज्यकाल के अन्तिम समय तक विद्यमान थे। श्रीसेनभक्त के उपर्युक्त समय से मिलाकर देखने से यही श्रीस्वामीजी का युक्ति-युक्त समय ठहरता है। क्योंकि श्रीसेन भक्त की विद्यमानता से ५० वर्ष पूर्व से भी अधिक समय पहिले श्रीस्वामीजी का परधाम सिधारना युक्ति-सङ्गत नहीं माना जा सकता। ऐसा मानने का कारण यह है, कि ऐसा तो था ही नहीं, कि श्रीस्वामी जी के अन्तिम समय में श्रीसेनजीने जन्म धारण कर दीक्षा ग्रहण कर लिया था, बल्कि वयस्क होने पर श्रीस्वामीजी के शिष्य हुये एवं बहुत दिनों तक उनसे शिक्षा सदुपदेश पाते रहे थे,यही मानना पड़ेगा, इसी कारण श्रीनाभाजीने श्रीरामानन्दस्वामीजी के वर्णन में इनके धर्म प्रचार को सेतु से उपमा देते हुए उसके स्तम्भ-स्वरूप बारह प्रधान-शिष्यों की गणना में श्रीसेनजी को भी गिनाया है। अतः यह निश्चित रूप से मानना पड़ेगा, कि इन बारहों शिष्यों को श्रीस्वामीजी ने अपने जीवन काल में बहुत दिनों तक शिक्षा-सदुपदेश द्वारा प्रौढ किया था। इसी कारण श्रीनाभाजीने श्रीस्वामीजी की धर्मसेतु-रचना में इनका नामोल्लेख किया है। इससे सर्व प्रकारेण सिद्ध होता है, कि श्रीरामानन्द स्वामीजी ईसा की सोरहवी शताब्दी के प्रथम चरण में विद्यमान थे।

अब इसके सहारे आपके जन्म काल का भी कुछ अनुमान किया जा सकता है। यद्यपि इससे जन्मकाल का निश्चित अनुमान करना बहुत कठिन है, परन्तु व्यवहारिक ज्ञानके आधार पर उसका काम-चलाऊ अनुमान किया जा सकता है। यह सर्वसम्मत विचार है, कि श्रीस्वामीजी दीर्घजीवी हुए है। किन्तु दीर्घजीवन से कितना लिया जाय, यह तो निश्चित नहीं हो सकता। फिर भी यह निश्चित है, कि इस युग में सौ वर्ष जीवित रह जाने वाले व्यक्ति भारी दीर्घजीवी समझे जाते हैं। कारण यह है, कलि मे सौ-वर्ष की तो आयु ही मानी गयी है। इसमें भी अधिकतर लोग इतने अल्पायु होकर शरीर त्याग किया करते हैं, कि ६० वर्ष की आयु हो जाना अब एक प्रकार से दीर्घायु का चिन्ह माना जाकर उसके शुभ उपलक्ष में उत्सव भी मनाया जाने लगा है। ऐसी अवस्था में ७०-८०

वर्ष की आयु भोग करना तो और भी दीर्घायु माना ही जायगा और ऐसा माना भी जाता है। प्रायः देखने में भी आता है, कि ६० वर्ष की आयु के लोगों की गिनती वृद्ध में, ७० वर्ष की आयु के लोगों की गिनती महावृद्ध में, और ८० वर्ष की आयु वाले को तो जराग्रस्त में ही होती है। ऐसा तो कोई विरले ही व्यक्ति दिखलाई पड़ता है जिस की आयु ८० वर्ष की हुई हो। अतएव १०० वर्ष की आयु के भोग करने वाले तो अवश्य ही प्रबल दीर्घजीवी समझे ही जाँयगे।

यद्यपि यह निश्चित है, कि १०० वर्ष की आयु किसी विरले की ही होती है, फिर भी कभी कभी किसी देश काल में ऐसे व्यक्ति भी पाये गये तथा पाये जाते हैं, जिनकी आयु १०० वर्ष से भी अधिक होती है; किन्तु इसके आधार पर किसी व्यक्ति की मनमानी सवा-सौ डेढ-सौ वर्ष की आयु नही मान ली जा सकती, हॉ जिनके विषय में स्पष्ट एवं प्रौढ़ प्रमाण उपस्थित हो, केवल उनके विषय में ही मानी जायगी। श्रीरामानन्द स्वामीजी के विषय में कोई स्पष्ट एवं प्रौढ़ प्रमाण नही रहने के कारण उनकी कीर्ति-कलाप एव घटना-सम्बन्ध से ही उनका समय निश्चित किया जा सकता है। ऊपर के उदाहरणों एवं विवेचनों से इस परिणाम की उपस्थिति होती है, (१) श्रीरामानन्दस्वामीजी शाहसिकन्दरलोदी के समय (सन् १४८९ई०से१५१७ई०)मेंविद्यमान थे, क्योंकि उससे आपको भटहुई थी। (२)कबीरदासजी को भी शाहसिकन्दरलोदी से प्रौढ़ावस्था में ही भेंट हुई थी। (३) सेनभक्तजी बांधवगढ के राजाराम (सन् १५५४ ई० से १५९१ ई० तक) के समय में विद्यमान थे।

इसके सहारे क्रमशः ये निर्णय उपस्थित होते हैं:-

जब सिकन्दरलोदी के समय में कबीरदासजी सिद्धावस्था मे विद्यमान थे, तो उस समय उनकी उम्र भी अवश्य ही प्रौढ़ रही होगी, अतः श्रीरामानन्दस्वामीजी को उस समम सामान्य रूप से वृद्ध मानना हीं युक्तिसंगत होगा। सेनभक्त का सन् १५५५ ई० के बाद भी विद्यमान रहनामाननाही पड़ता है, जब हम देखते है,वे राजाराम को तेल लगाने आदि की सेवा करते थे। बिना शारीरिक-सामर्थ्य रहे यह काम हो नहीं सकता,अतः उस समय काम करने की उनमें शक्ति थी,

यह मानना ही पड़ेगा अतः वे विशेष-वृद्ध नहीं सामान्य ही वृद्ध थे, यह भी निसन्देहही मानना पड़ता है। यदि राजाराम के समय में उनका १०-१५ वर्ष भी जीवित रहना मान लें, तो उनका सन् १५६५-७० ई० तक रहना सिद्ध होता है। अब यदि इनसे ५०वर्ष भी पहले श्रीरामानन्दस्वामी जी का परधाम गमन माना जावे, जिससे अधिक मानना सर्वथा असम्भव सा है, तो श्रीस्वामीजी के परधाम गमन का समय सन् १५१५-२० ई० मानना पड़ेगा, जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार शाहसिकन्दरलादी के राज्य काल के अन्तिम समय तक श्रीस्वामीजी का विद्यमान रहना सिद्ध होता है। अब श्रीस्वामीजी के सौ-वर्ष की आयु मानलें, तो सन् १४१५-२० ई० के आस पास आपकाजन्म सिद्ध होता है। अब यदि आपके धर्म प्रचार काल का प्रारम्भ ३० वर्ष की आयु से भी मानलें, क्योंकि आप अवतारिक पुरुष थे, तो आप का आचार्य-काल सन् १४४५-५० ई० से १५१५-२० ई० तक ७० वर्ष का ठहरता है, जो बहुत ही काफी है, बल्कि अन्य व्यक्तियों के लिये तो दीर्घजीवन ही है। यद्यपि इस समय-निर्णय में १०-५ वर्ष का आगे-पीछे होना भी माना जा सकता है, क्योंकि कोई निश्चित वर्ष तो मालूम नहीं है केवल प्रौढ-प्रमाणों के आधार पर निश्चय किया गया है, अतः स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है, कि श्रीस्वामीजी का आविर्भाव प्रायः १५ वीं शताब्दी के प्रथम चरण में और परधाम गमन १६ वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ।

इस प्रकार स्वामजी की आयु १००-१२५ वर्ष की भी हो जाती है। इन सब बातों का विचार कर अन्तिम निर्णय यह किया जा सकता है कि श्रीस्वामीजी का समय पूरा १५ वीं शताब्दी (सन् १४००-१५००ई०) तो अवश्य ही है। क्योंकि न तो सन् १४०० ई० से पूर्व किसी प्रकार आविर्भाव सिद्ध हो सकता है, न सन्१५०० ई० के पहले परधाम गमन ही।

यहाँ पर एक बात और भी विचार लेने की आवश्यकता है, और वह यह, कि अगस्त्यसंहिता के भविष्योत्तरखण्डमें श्रीरामानन्दस्वामी जीका आविर्भाव सम्बत १३५६ वि० (सन् १३०० ई०) में लिखा है ऐसा कहा जाता है। यदियह ठीक मान लिया जाय, तो श्रीस्वामीजी

परधाम-गमन प्रायः १५२० ई० के आसपास में सिद्ध होने से आपकी आयु २७० वर्ष की ठहरती है, जो सर्वथा अविश्वसनीय है, अतः इस पर गाढ़-दृष्टि डालने की आवश्यकता है।

सबसे पहली बात तो यह है, कि श्रीस्वामीजी से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों और घटनाओं से आपका आचार्यकाल १४५०ई० के बाद से ही प्रारम्भ होना सिद्ध होता है, जैसा कि श्रीकबीरदास, सेनभक्त, शाह सिकन्दरलोदी एवं शेखतकी आदि के सम्बन्धों से ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। इसके पहले के किसी भी व्यक्तिसे गुरु-शिष्य या अन्यसम्बन्ध से भी आपका सम्पर्क कहीं भी नहीं पाया जाता। अतः सन् १३०० ई० से १४५० ई० तक १५० वर्ष की आयु यों ही गुमराह गुजर जाना अवश्य ही अविश्वास करने का कारण है, क्योंकि उपस्थित-दृढ-प्रमाणों का अपलाप हो नहीं सकता।

दूसरी बात यह भी सन्देह की ही है कि आजतक किसी भी ऋषि प्रणीत-ग्रन्थों में किसी भी महापुरुष के आविर्भाव का संवत् नहीं लिखा है। अधिक से अधिक किस युग में हुए या होंगे, इतना ही लिखा मिलता है। अतः इसमें सबसे निराली रीति होने से भी इसकी कृत्रिमता की ही पुष्टि होती है।

इसके अतिरिक्त इसी ग्रन्थ में श्रीस्वामीजीके प्रधान प्रधान शिष्यों के आभिर्भाव के भी इष्टकाल दिये हुए है, परन्तु उसमें से किसी के भी आविर्भाव सम्बत् का उल्लेख नहीं है, अतः केवल स्वामीजी के ही सम्बत् रहने से भी सन्देह ही उत्पन्न होता है। यदि भविष्यवक्ता ऋषि ने उनशिष्यों के आविर्भाव के मास पक्ष तिथि दिन नक्षत्र लग्न आदि सभी बातों उल्लेख कियाही, तो संवत् क्यों छोड़ दिया, जब कि उन्होंने ही वहीं श्रीस्वामीजीका का नहीं छोड़ा है। क्या, दिव्यज्ञानी-ऋषि के लिये भविष्य-संवत् जानना कठिन था, कि एक के उल्लेख के बाद कठिनाई समझकर और सबों का छोड़ दिया? इससे तो बलात् इसी निश्चय पर पहुँचना पड़ता है, कि यह ऋषि की रचना नहीं, बल्कि किसी ज्योतिषी महात्मा की रचना है, जिन्होंने गणित से हिसाब लगाकर श्रीस्वामीजी का आविर्भाव संवत् तो किसी प्रकार तयार किया, परन्तु उसकी जटिलता से परेशान होकर फिर औरों के लिये तैयार करने की हिम्मत न बाँध सके, अतःसंवत्

न देकर मनमाना जन्म लग्न रगड़ मारा। क्योंकि यदि इसके साथ इसी प्रकार मनमाना सम्बत् भी देते, तो असलियत ही खुल पड़ती। किन्तु सम्बत् रहित होने से उसको कोई किसी प्रकार पकड़ ही कैसे सकता है? अतः चुन चुन कर अच्छे लग्न उन सबोंके लिए मनमाने ही लिख दिये हैं।

और भी एक बात। इस ग्रन्थ का नाम 'अगस्त्यसहिता भविष्योत्तर खण्ड' लिखा है। किन्तु 'अगस्त्यसंहिता' में 'भविष्योत्तरखण्ड' है ही नहीं, बल्कि सिवा अध्याय के उसमें कोई भी खण्ड-विभाग नहीं है। वह तो कुल ३३ अध्याय की पुस्तक ही है, जो एक सिलसिले से वर्णित है। ऐसी ही छापे की पुस्तक में भी है और हस्तलिखित में भी। किन्तु उपर्युक्त 'भविष्योत्तरखण्ड' १३१ वें अध्याय से प्रारम्भ हुआ है। इससे जान पडता है, कि लेखक ने अगस्त्यसंहिता को विना देखे ही अनुमान से उसके लिये १३० अध्याय छोड़कर इसको १३१ अध्याय से शुरू किया है। यदि उनको यह ग्रन्थ प्राप्त होता, तो अवश्य ही मिलाने के लिये ३४ वे अध्याय से शुरु करते। इसके सिवा एक बात और भी मार्के की यह है, इसके आरम्भ में ग्रन्थ का उपक्रम भी है, अतः वह स्वतंत्र बनगया है। यदि यह अगस्त्यसंहिता का खण्ड होता, तो इसमें उपक्रम नहीं रहता। एक बात और भी; इसका नाम तो भविष्योत्तर खण्ड है, परन्तु इसमे सिवा श्रीरामानन्दस्वामीजी के वर्णन के और कोई भी बात नहीं है। इससे यही जान पड़ता है कि किसी ने संहिता के नाम पर श्रीस्वामी का मनमानी चरित्र लिखा है। अतः भलीभाति सिद्ध है, कि यह अगस्त्यसंहिता के नाम पर कृत्रिम रचना है।

किन्तु कुछ लोगों ने इसे सचमुच संहिता का अंश मानकर स्वतन्त्र-प्रमाण माना है, अतः श्रीरामानन्दस्वामीजीका आविर्भाव सन् १३०० ई० में मान लिया है। किन्तु इसी के अनुसार परधाम गमन काल के निर्णय करने में सबों को बहुत ही कठिनाईयाँ पड़ी है। पं० रामनारायणदासजीने श्रीस्वामीजीका आयुष्य-काल १११ वर्ष माना है और यही डिपटी भगवान प्रसादजीने भी माना है, किन्तु सिकन्दरलोदी और कबीरसाहबजी से समय मिलाने में भारी गड़बड़ी पड़ती है। इस हिसाब से सन् १४११ ई० में श्रीस्वामीजीका परधाम गमन हो जाता है, किन्तु सिकन्दरलोदो १४८९ ई० में तख्त पर बठता है, सन् १५१७

ई० तक राज्य करता है, अतः सिकन्दरलोदी के तख्त पर बैठने से ७८ वर्ष पहलेही श्रीस्वामीजीका परधाम गमन होजाता है, फिर साक्षात् होनेका सयोग हो नही होता। इसी से श्रीभगवदासजीने श्रीमद्रामानन्द-दिग्विजय में इन सब समस्याओं को हल करने की दृष्टि से १७० वर्ष का आयुष्य-काल मानने की वासना प्रकट की है। किन्तु सिकन्दरलोदी वाली समस्या इससे भी हल नही होती, क्योंकि उसके लिये १८९ का आयुष्य-काल मानना पड़ेगा और इस तरह मनमानी असभव बात मान लेने से दूसरे कोई मानेंगे ही कैसे? अतः आपने पीछे हटकर १४८ वर्ष की आयु मानकर सन्तोष कर लिया है। किन्तु इससे सिकन्दर के समय में रहने की समस्या नही ही हल हुई, बल्कि उस समय कबीरदास के होने में भी सन्देह उत्पन्न हो गया। अतः आपने इधर उधर की बातें फलाकर इसको चुपके से छोड दिया है वहाँ की कठिनाइयों से आपने एक प्रकार से श्रीरामानन्दस्वामीजीको ही क्यों, कबीरसाहबजी को भी सिकन्दर के समय में नही मानकर रामकबीर और निर्गुणवादी-कबीर की कल्पना कर छुट्टी ले ली है। किन्तु आलोचकों से छुट्टी क्योंकर होगी ? क्योंकि आपने श्रीमद्रामानन्द-दिग्विजय के मूल में सिकन्दरलोदी से श्रीरामानन्द स्वामीजीका साक्षात् होना लिखा है, फिर भूमिका में श्रीस्वामीजीका होना मानते बनता ही नही, बल्कि कबीरसाहबजीका होना भी सिद्ध नहीं होता। तब आपने उस समय में कबीरसाहबजीके शिष्य का होना लिख कर सन्तोष किया है। इस प्रकार मूल में लिखने के बाद भूमिका में समस्या ही नहीं हल हो सकी। इसीसे आपने चुपके से इसका विचार ही छोड़ दिया है। किन्तु एक तो कबीरसाहब दूसरे कबीर नहीं सिद्ध हो सकते, क्योंकि न तो इसका कोई प्रमाण है, न किसी ने ऐसा माना ही है। रामकबीर की कल्पना तो ऐसे भी की जा सकती है, कि जैसे श्रीरामानन्दस्वामीजीके शिष्य होते हुए कबीरसाहबजीने अपने मत में स्वतन्त्रता लायी,उसी तरह इनके ही कोई शिष्य रामकबीरभी अपने गुरु कबीरसाहब के अनुसारी न होकर दादागुरु श्रीरामानन्दस्वामी के अनुसारी होगये। इससे वे अन्य श्रीरामानन्दीय-वैष्णवों के समान ही प्रतीकोपासक एव वर्णाश्रमी हुए। इसीसे उनका परिचय कबीर साहबजीको लेते हुए रामकबीर नाम से हुआ हो। इससे ऐतिहासिक

और प्रामाणिक वचनों का समन्वय भी होजाता है, अन्यथा तो असम्भव ही है। 'अगस्त्यसंहिता भविष्योत्तरखण्ड' से इतनी कठिनाई तो सिकन्दरलोदी को लेकर ही पड़ती है। किन्तु यदि सेनभक्त की ओर इन लोगों की दृष्टि जाती, तब तो और भी मुसीबत गुजरती। क्योंकि सेनजी कमसे कम१५६०ई० में विद्यमान थे। तब श्रीस्वामीजीकी दो-सौ सवादो -सौ वर्ष से कम की आयु मानने की कोई राह ही नहीं रहती। इस तरह अगस्त्यसंहिता-भविष्योत्तरखण्ड के चलते असाध्य समस्यायें उपस्थित होती हैं, जिसका सुलझाव सर्वथा असम्भव है। इसके सिवा रचना के विचार से भी वह कृत्रिम ही सिद्ध होता है, जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है। अतः यही कहना पड़ता है, कि उस एक भूल को सत्य मान लेने से ही ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक-सिद्धि के विरुद्ध ये सारी भूलें हुई हैं।



नूतन-परम्परा का जन्म-विकास

यद्यपि शास्त्र, सम्प्रदाय, इतिहास एवं परिस्थिति से यह भली-भाँति सिद्ध तथा सर्वमान्य है, कि कलियुग के चारों भागवत-सम्प्रदायों में श्रीसम्प्रदाय के संस्थापक श्रीरामानुजस्वामी जी हैं और इन्हीं की परम्परा में श्रीरामानन्दस्वामीजी हुए, जो इस सम्प्रदाय के प्रचारक है, जैसा कि पूर्व के प्रमाणों से सिद्ध भी हो चुका है। परन्तु कुछ दिनों से कुछ लोगों ने विविध कलाओं द्वारा इन श्रीरामानन्दीय-श्रीवैष्णवों में से एक ऐसा दल तैयार कर लिया है, जो अब श्रीरामा-नन्दस्वामीजी को श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा से भिन्न एक स्वतन्त्र खड़ी की हुई परम्परा और सम्प्रदाय के अन्तर्गत मानने लग गये हैं। प्रारम्भ में इसके मानने वाले सिवा उस मण्डली के, जिन्होंने इसकी रचना कर-कराकर इसको मानने-मनवाने के लिये कमर बाँध ली थी, अन्य नहीं थे, परन्तु अब बहलने, धोखा देने, बहकाने और उभाड़ने से क्रमशः अब बहुत कुछ लोग इसमें सम्मिलित हो गये है। अतः इसी सिलसिले में उस पर भी कुछ प्रकाश डाल लेने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

कोई भी कार्य बिना कारण नहीं होता. अतः इसमें भी कोई कारण अवश्य है, यह मानना ही पड़ेगा। अब जिज्ञासा यह होती है, कि इसका कौन सा कारण है ? अर्थात् यह क्यों और कैसे हुआ ? निदान, प्रथम इसी पर कुछ प्रकाश डालना उचित होगा।

श्रीरामानुजस्वामीजी ने श्रीसम्प्रदाय का संस्थापन कर दक्षिण-भारत की परिस्थिति के अनुसार ही वहाँ उसका उपदेश किया था, जो वहाँ की परिस्थिति के अनुसार क्रमशः विकसित हुआ, जिसके अनुयायी आचारी-श्रीवैष्णव के नाम से प्रसिद्ध हुए। श्रीरामानन्द-स्वामीजी ने श्रीरामानुजस्वामीजी की पद्धति का उत्तर-भारत में यहाँ की परिस्थिति के अनुसार व्यापक बनाकर प्रचार किया, जो यहाँ की परिस्थिति के अनुसार क्रमशः विशेषरूपेण विकसित हुई और इनके अनुयायी 'विरागी-श्रीवैष्णव' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके इस नामकरण का मुख्य कारण विराग-पूर्ण भक्ति-भावना की प्रधानता ही

थी। इन्होंने श्रीवैष्णव-धर्म का इतना प्रचार किया, कि जितना अन्य तीनो वैष्णव—सम्प्रदायो के प्रचारकों ने मिलकर किया, बल्कि श्रीरामानन्दस्वामीजी ने तीनों प्रचारकों से भी अधिक ही किया। आज सारे उतर-भारत में आपके ही अनुयायियों की प्रधानता है। यही कारण है, कि श्रीसम्प्रदाय के प्रचारक की हैसियत से श्रीरामानन्दस्वामीजी का,इसके संस्थापक श्रीरामानुजस्वामीजी के समान ही पद-प्रतिष्ठित हुआ। धर्म प्रचार में जितना महत्त्व संस्थापक का है, उसके समान ही उसके प्रचारक का भी; क्योंकि जिस प्रकार किसी लुप्तप्राय धर्म का यथायोग्य-संस्थापन (जीर्णोद्धार) के बिना उसका प्रचार सम्भव नहीं,उसी प्रकार प्रचार के बिना भी कोई संस्थापित-मत स्थित नहीं रह सकता,वरन पुनः लुप्तप्राय होता हुआ नष्ट ही हो जाताहै। अतः संस्थापन और प्रचार में समान महत्त्व होने के कारण उसके संस्थापक और प्रचारकमे भी समानही महत्त्व माना जाताहै।इसीसे सम्प्रदाय की सञ्ज्ञायें उसके मुख्य-आचार्य के पीछे संस्थापकों और प्रचारकों के नामों के अनुसार भी निर्मित होती है। यथा,ब्रह्माजी के मुख्य-आचार्य होने के कारण भागवत-सम्प्रदायमें से एक सम्प्रदायका नाम 'ब्रह्मसम्प्रदाय' हुआ। पुनः उसी का नामकरण उसके संस्थापक श्रीमध्वाचार्यस्वामीजीके नामसे 'माध्वसम्प्रदाय' हुआ और फिर वही उसके मुख्य-प्रचारक गौड़स्वामीके नाम से 'गौड़िया सम्प्रदाय' भी कहलाया। इसी तरह शिवजी के मुख्य-आचार्य होने के कारण भागवत सम्प्रदाय में से एक सम्प्रदाय 'शिव' सम्प्रदाय' कहलाया; पुन; वही उसके संस्थापक 'विष्णुस्वामीजी के नाम से 'विष्णुस्वामी—सम्प्रदाय' और प्रचारक श्रीबल्लभाचार्य्य स्वामी के नाम से "बल्लभसम्प्रदाय" के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ। पुनः सनकादिकजीके मुख्य-आचार्य होने से भागवत-सम्प्रदाय मेंस एक सम्प्रदाय का नाम 'सनकादिक सम्प्रदाय' हुआ, फिर उस का' संस्थापक निम्बार्काचार्यजीके नाम से 'निम्बार्क-सम्प्रदाय, और मुख्य प्रचारक हरिव्यासस्वामीजी के नाम से 'हरिव्यासी सम्प्रदाय' नाम भी प्रसिद्ध ही है। उसी प्रकार श्रीजी के मुख्य आचार्य होने से भागवत्—सम्प्रदाय में से एक सम्प्रदाय का नाम 'श्रीसम्प्रदाय' भी हुआ और इसीका संस्थापक श्रीरामानुजस्वामीजी के नाम से 'रामानुज-सम्प्रदाय' और प्रचारक

श्रीरामानन्दस्वामीजी के नाम से रामानन्द-सम्प्रदाय भी है। इसी लिये पुनः संस्थापन होने के कारण जैसे संस्थापकाचार्य के अनुयायियों में सम्प्रदाय का नाम उनके (सस्थापकाचार्य के) नाम से ही प्रसिद्ध होता है, उसी प्रकार प्रचारकाचार्य के अनुयायियों में भी सम्प्रदाय का नाम उनके (प्रचारकाचार्य के) ही नामानुसार प्रसिद्ध होता है। यही कारण है, कि श्रीरामानन्दस्वामीजी के अनुयायियों में सम्प्रदाय का नाम 'रामानन्द-सम्प्रदाय' के नाम से प्रचलित हुआ। तब से इस समाज के हर एक वैष्णव अपने परिचय में 'श्रीरामानन्दीय-वैष्णव' नाम का प्रयोग करने लगे और सामान्य रूप से यही परिचय मुख्य हो गया, अतः पूर्व परिचय श्रीसम्प्रदायी या रामानुजीय का व्यवहार क्रमशः गौण पड़ता गया। इस तरह सामान्य लोगों में पूर्व परिचय गौण होते होते क्षीण होगया और श्रीरामानन्दस्वामीजी से ही परिचय दिया जाने लगा। हाँ, यह बात अवश्य थी, कि विद्वान् वैष्णवों ने समय समय पर सम्प्रदाय, परम्परा एवं श्रीरामानन्दस्वामीजी के परिचय में श्रीरामानुजस्वामीजी तथा श्रीजी का वर्णन भी किया है। परन्तु सामान्य वैष्णवों में इसकी जानकारी में गौणता ही रही।

इसके अतिरिक्त श्रीरामानन्दस्वामीजी के वंश में बहुत से प्रतापी महात्माओं का आविर्भाव हुआ, जिससे इस सम्प्रदाय में और भी कितनी शाखायें कायम हो गयी। इनमें कुछ तो ऐसी भी हैं, जिनमें बहुत कुछ स्वतन्त्र विकास भी हुआ और उनमें कितनों के तो तिलक में और कितनों के वेष-भूषे आचार-व्यवहार एवं मत-सिद्धान्त में भी बहुत कुछ स्वतन्त्रतायें आ गयी है। यथा, वैंदी लस्करी, चतुर्भुजी एवं रसिक आदि। इस प्रकार जब बहुत सी भिन्न २ शाखायें हो गयी, तो सबों का अपनी अपनी शाखा का ही खास परिचय मुख्यरूपेण चलने लगा। इसके अतिरिक्त द्वारे एवं अखाड़ों के गठन से भी अपनी अपनी शाखाओं के परिचय की विशेष आवश्यकतायें उत्पन्न हो गयीं; अतः उसके लिये खास खास शाखाओं के परिचय की ही मुख्यता हो गयी। इस प्रकार शाखाओं का परिचय तो प्रधान और सम्प्रदाय का परिचय गौण पड़ गया। ऐसी अवस्था में सामान्य-व्यवहार में श्रीरामानन्दस्वामीजी तक परिचय रखना ही एक प्रकार से काफी समझा गया।

इसके सिवा श्रीरामानन्दस्वामीजी, मुख्य प्रचारक होने के कारण, इतने प्रसिद्ध थे, कि केवल उनके परिचय से ही सम्प्रदाय का पूरा परिचय अपने आप हो जाता था। अतः सामान्य-व्यवहार में उससे अधिक की आवश्यकता भी नहीं पडती थी। इसलिये भी सामान्यरूप से श्रीरामानन्दस्वामीजी तक ही परिचय सीमित रहा करता था। इसी कारण पूर्व के आचार्यों का परिचय यदि रहता था भी, तो मुख्य मुख्य का ही, और विशेपरूपेण यही, कि उपास्य देव--श्रीरामजी, मुख्याचार्य-श्रीजी, सस्थापकाचार्य-श्रीरामानुजस्वामीजी एवं प्रचारकाचार्य श्रीरामानन्दस्वामीजी। इसके बाद अपना अपना परिचय अपने अपने द्वारे से रहा करता था।

इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामीजी के द्वारा संस्थापन होने के बाद देशकाल के अनुसार क्रमशः विकास होकर श्रीसम्प्रदाय के दो-रूप हो गये, आचारी-श्रीवैष्णव और विरागी-श्रीवष्णव। इसमें दक्षिण-भारत के विकसित-रूप की आचारी-श्रीवैष्णव, एवं उत्तर-भारत के विकसित-रूप की विरागी-श्रीवष्णव के नाम से प्रसिद्धि हुई। इस प्रकार एक सम्प्रदाय के होते हुए भी देश-काल एवं विकास-धर्म के अनुसार दोनों में बहुत कुछ विभिन्नतायें आ गयी; जिससे ये दोनों बाहरी-दृष्टि में एक दूसरे से भिन्न से ज्ञात होने लगे।

यहाँ एक और बात पर भी प्रकाश डाल लेने की आवश्यकता है। और वह यह, कि दक्षिण-भारत में ब्राह्मणों के सिवा अन्यवर्णों के अभाव एवं एकमात्र अब्राह्मणों (अस्पृश्य-जाति) की विद्यमानता के कारण वहाँ के ब्राह्मणों का खान-पान, बल्कि जल-ग्रहण भी ब्राह्मणों के ही हाथ का होता है, किन्तु उत्तर-भारत में ब्राह्मणों के सिवा क्षत्रिय-वैश्यादि अन्य वर्ण भी है। अतः यहाँ की परिस्थिति के अनुसार यहाँ के ब्राह्मणों में क्षत्रिय-वैश्य के हाथ का भी जल तथा प्रायः पक्का-भोजन चलता है। इससे दक्षिण-भारत के ब्राह्मणों में बहुतों को यह भ्रामक-धारणा हो गयी, कि उत्तर-भारत में खान-पानादिक की रीतियाँ भ्रष्ट है। उन्होंने यहाँतक विचार करने का कष्ट नहीं उठाया, कि "हमारे यहाँ तो क्षत्रिय-वैश्यादिवर्ण है ही नहीं। अतः खान-पान में समता-विषमता हो तो किसके साथ? उत्तर-भारत में जो स्थिति एवं व्यवहार अछूतों का है, वही हमारे यहाँ अब्राह्मणों का है, अतः दोनों देशों के आचार-

व्यवहार उचित हैं।" इसलिये वे उत्तर-भारत के ब्राह्मणों को तुच्छ-दृष्टि से देखा करते थे। यही मनोवृत्ति आचारी श्रीवैष्णवों में भी काम कर रही थी, जिससे उनमें से कुछ लोगों ने समय समय पर विरागी-श्रीवैष्णवों को नीचा दिखाया। इसके सिवा एक बात यह भी थी, कि श्रीरामानन्दीय-श्रीवैष्णवों में विराग-वृत्ति एवं भक्ति-भावना की प्रधानता तथा धर्मरक्षक दलों (अखाड़ों) के गठन के कारण पठन-पाठन का भी बहुत कुछ अभाव हो गया था, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, अतः इनमें कुछ मनमानी बातों एवं क्रिया-कलापों का भी समावेश हो गया था। इन सब बातों को देख कर बहुत से आचारी-श्रीवैष्णव इनको और भी नीची-नजर से देखने तथा व्यवहार भी करने लगे थे। फिर भी दोनों में एकता बनी ही थी, जो चढ़ाव जैसे अवसरों पर दिखलाई पड़ती थी; और काशी के साम्प्रदायिक-शास्त्रार्थ में तो दोनों ने अपनी अभिन्नता का ज्वलन्त उदाहरण ही उपस्थित कर दिया था। कहने का तात्पर्य यह कि दोनों में साम्प्रदायिक-सहयोग पूर्णरूपेण बना था।

ऊपर कहा जा चुका है, कि इधर विरागी श्रीवैष्णवों में कारण-वश विद्या का बड़ा अभाव हो गया था। किन्तु इससे दिनोंदिन इस समाज की अवनति एवं अप्रतिष्ठा बढ़ते देखकर कुछ दूरदर्शी महन्तों ने कुछ दिन पूर्व ही संस्कृत पाठशालायें भी स्थापित कर दी थीं, जिसमें बड़ास्थान-अयोध्या, राजगोपाल-अयोध्या, चोरात-मिथिला, बराही-मिथिला, एवं करवी-चित्रकूट आदि की पाठशालायें तो बहुत ही बड़ी बड़ी थी। और इससे इस वैष्णव-समाज में भी संस्कृत का ज्ञान क्रमशः प्रविष्ट हो रहा था। किन्तु यहां की परिस्थिति के अनुसार यह ज्ञान केवल व्याकरणादि का ही होता था, अतः साम्प्रदायिक ज्ञान की--जो एकमात्र अभीष्ट था--त्रुटि रही जाती थी। इस अभाव को दूर करने के लिये बड़ास्थान अयोध्या के स्वर्गीय महन्त श्रीराममनोहर प्रसाद जी का इस ओर विशेषरूपेण ध्यान फिरा। उनके यहाँ व्याकरण, काव्य, न्याय आदि की शिक्षा के लिये तो पहले से ही विद्यालय था ही, अब उन्होंने साम्प्रदायिक-सिद्धान्त के ज्ञान-प्रसार के लिये अपने यहाँ वेदान्त-पाठशाला भी खोल दी। पढ़ाने के लिये दक्षिण से एक मीमांसक-वैष्णव बुलाये गये। आप बड़ा-

स्थान अयोध्या के महन्तजी के अनुरोध तथा तोताद्रि स्वामीजीकी आज्ञा से यहाँ मीमांसा-वेदान्त के अध्यापन के लिये आये थे। आप की यहाँ के लिये यात्रा अथवा आगमन दोनों-श्रीवैष्णव दलों के दुर्भाग्य से बड़े बुरे मुहूर्त्त में हुआ था, क्योंकि आपके ही चलते इस जुदाई केलिये वास्तविक क्षेत्र तैयार हुआ। यदि कोई उदार-प्रकृति के दूसरे विद्वान् आये होते, तो बहुत संभावना थी, कि इस हार्दिक-सम्मिलन से दोनों दलों का हृदय चिरकाल तक के लिये एक होकर और भी दृढ़ हो जाता, परन्तु श्रीमीमांसक स्वामीजीने अपनी संकीर्ण प्रकृति के कारण इस सुनहले-अवसर को विषमय बना दिया। कहा जाता है, कि आपने पढ़ाने तथा अन्य प्रसङ्गों में भी श्रीरामानन्दीय-वैष्णवों को कई बार निरादर तथा अपमानित भी किये। इससे पढे लिखे कुछ श्रीरामानन्दीय वैष्णवो के दिल में गहरी चोट लगी। अतः हृदय में भेद आ गया। इसी अन्तर्विभेद ने क्रमशः भीतर ही भीतर विकास पाकर लोगों के दिल में जुदाई के लिये उर्वरक्षेत्र तैयार कर दिया।

यद्यपि श्रीअनन्ताचार्यस्वामीजी आदि जैसे ,आचारी-श्रीवैष्णव भी थे, जो प्रतिष्ठा. पद, तथा विद्वत्ता के हैसियत से भी महान् थे और श्रीरामानन्दीय-श्रीवैष्णवों को भाई के समान ही मानते औरआदर-सत्कार भी करते थे,परन्तु सम्मान की अपेक्षा अपमान का असर बलवान होता है; यही कारण है, कि श्रीरामानन्दीय वैष्णवों के हृदय पर अपमान की ही चोट गहरी पड़ी और दिल में भेद भाव दृढ़ होगया।

इस प्रकार जुदाई का उर्वर क्षेत्र तो तैयार हो ही गया था, और बहुत सम्भव था, कि इसका स्वतन्त्र विकास होकर अपने ढंग से स्वतन्त्र रूप गठित होता, अर्थात् श्रीरामानन्दीय वैष्णव भी केवल पूर्वाचार्यों को मानते और उनमें श्रद्धा भक्ति रखते हुए वर्तमान आचारी-श्रीवैष्णवों की समानता से मुकाबला करते, जैसे दो भाई पारस्परिक-भावना के अनुसार आपस में श्रद्धा प्रेम आदर सहयोग या रागद्वेष गर्व असहयोग आदि रखा करते हैं। किन्तु दुर्भाग्य से इस क्षेत्र में एक विषबीज भी कुछ पहले से ही पड़ चुका था, जिसने इस उर्वरभूमि में अनुकूल मौसम एवं आब-हवा पाकर अपने सुलभ विकास से बहुत से होनहार लहलहे पाधों को भी विषैला बनाकर समाज में अपना प्रभाव-विस्तार

किया । आज इसी विषैले असर से समाज के बहुत से अङ्ग विषमय हो गये हैं । वह कौनसा बीज था ? वह बीज और कोई नहीं, केवल श्रीभगवद्दासजी थे, जिनका उस समय आर्य-समाज से इस श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव समाज में आगमन हो चुका था । आपने आकर बड़ास्थान अयोध्या के स्वर्गीय महन्त राममनोहर प्रसादजी का शिष्यत्व ग्रहण किया था । अनुकूल अवसर पाकर अपने आर्य-समाजी विष को आर्य समाज की ही विविध कलाओं से इस समाज में घुसाकर इसके जीवन को विषमय बना दिया ।

यहाँ नूतन-परम्परा की रचना जन्य सम्प्रदाय-विच्छेद रूप कार्य में श्रीभगवद्दासजी को मूल कारण मानना मनमानापन नहीं समझ लेना चाहिये, बल्कि ऐसा मानने के लिये प्रबल से प्रबल हेतु है। इस आन्दोलन में यद्यपि आपके कई सहकारी भी अवश्य है, जिसमें श्रीरघुबरदासजी वेदान्ती मुख्य हैं, परन्तु जितने भी तत्सम्बन्धी मूल-कार्य हैं, सब श्रीभगवद्दासजी की ही कृतियाँ हैं । और बहुत अंश में तो इसको आपने स्वीकार भी किया है, और शेष इस सम्बन्ध से तथा और प्रकार से भी सिद्ध है । यथाः —

(१) सब से पहले 'श्रीराममन्त्रराजपरम्परा' नाम की पुस्तिका प्रकाशित हुई, जो इस सम्प्रदाय-विच्छेद की मूल-कृति है । यह 'पुरातत्वानुसन्धायिनी समिति अयोध्या' के द्वारा प्रकाशित हुई थी । किन्तु वास्तव में यह 'समिति' नहीं थी, एक धोखे की टट्टी के तौर पर नाम रख कर भ्रम डालने की चेष्टा थी । इसीसे बहुत दिनों तक तो इसका किसी ने दायित्व ही स्वीकार नहीं किया था । अतः गुमराह ढंग से काम करने की प्रणाली से ही फरेब स्वतः सिद्ध है ।

(२) जब इस परम्परा की आलोचनायें होने लगीं, और इसकी जालसाजियाँ पकड़ी जाने लगीं, तो समिति की ओर से कोई भी खड़ा न हुआ और उसका उत्तर एक नवघोषित गुमराह संस्था 'श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव महामण्डल अयोध्या' की ओर से दिया जाने लगा । यदि 'समिति' की स्थिति वास्तविक होती तो उसकी ओर से ही उत्तर होना चाहिये था । खैर, इसका

भी जाने दें श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव महामण्डलकी ओर से भी गुमराह ही उत्तर दिया जाता था। उसका लेखक कौन व्यक्ति है, इसका कोई पता ही नहीं रहता था। इस तरह तो कोई भी मनमानी 'सभा' 'समिति' 'मण्डल' का नाम रख कर अपने दिल की कसक चोरी से निकाल सकता है और ऐसा होता भी है। किन्तु ऐसे सब जाली ही समझे जाते हैं, और वे अमान्य ही गिने जाते हैं।

(३) इसके बाद 'रहस्योद्घाटन' नामक पुस्तिका पण्डित मैथिलीशरण पाण्डेय भरूब गया के नाम से लिखी और प्रकाशित की गयी, किन्तु यह सारी दुनिया ही जाली है। गया जिला में भरूब कोई ग्रामही नहीं है, फिर मैथिलीशरणपाण्डेय कोई क्यों होने लगा, और न आज तक किसी ने इसे सत्य सिद्ध करने की हिम्मत ही की। इस पुस्तक में आचारी-श्रीवैष्णवों की निन्दा, उनके आचार्यों की निन्दा एवं श्रीरामकृष्णादि मे उनकी अश्रद्धा एवं निन्दा की बात लिखकर विरागी-श्रीवैष्णवों को उनसे अलग हो जाने के लिये उत्तेजित किया गया था। यह इसलिये, कि श्रीराममन्त्रराज परम्परा से काम नहीं सधा, तो उभाड़कर काम लेने की युक्तियां सोची गयीं।

(४) इस रहस्योद्घाटन का उत्तर श्रीअनन्ताचार्यजी ने 'तत्वोद्बोधन' नामक पुस्तिका द्वारा दिया था, इसका प्रत्युत्तर भी मैथिलीशरण पाण्डेय भरूब गया के नाम से ही लिखा एवं प्रकाशित कर उज्जैन चढ़ाव पर वितरण किया गया। इससे लोगों में बहुत कुछ उत्तेजना फैल गयी थी, अतः नव्य-परम्परा में भी बहुत से लोग सम्मिलित हो गये।

इतने दिनों तक को कृतियाँ तो गुमराहही रहती थी, परन्तु उज्जैन चढाव पर जब एकदल कायम हो गया तो इन्होने अपनी कलाओं की सफलता देख कर प्रत्यक्ष कार्य आरम्भ किया। तब से कृतियां गुमराह न निकल कर प्रत्यक्ष होने लगी। इस प्रत्यक्ष होने के बाद भी सम्प्रदाय एव परम्परा सम्बन्धी जितनी भी पुस्तक निकली है, सब श्रीभगवद्दासजी की ही हैं। इससे भी सहज अनुमान किया जा सकता है, कि जब

प्रत्यक्ष होने पर कुल काम इन्होंने किया, तो क्या प्रच्छन्नावस्था में कोई दूसरा करनेवाला था ? अतः सब आप की ही कृतियाँ थीं, यह सिद्ध है। इसके सिवा इन सीधे सादे भजनानन्दी महात्माओं एवं संस्कृत के पण्डित या विद्यार्थी साधुओं में यह कलाबाजी कहाँ से आती ? यदि बलात् ऐसे व्यक्ति की स्थिति मान भी लें, तो फिर आपके सिवा ऐसा कोई दूसरा व्यक्ति प्रत्यक्ष आन्दोलन होने पर भी तो आजतक दिखलाई नहीं पड़ा। केवल आपही दिखलाई पड़ते और कृतियां भी करते हैं। क्योंकि आपका प्रायः सारा पूर्वजीवन आर्य-समाज में ही बीता है, वहीं पाले पोसे गये एवं दीक्षा शिक्षा पाकर प्रवीण हुए हैं, अतः आर्य-समाज की सारी कलाओं में परम प्रवीण हैं, जैसा कि यहाँ की कृतियों से भी स्पष्ट है। फिर पूर्व की उन चार गुमराह कृतियों का कर्त्ता दूसरा कोई कैसे माना जा सकता है ? इसके सिवा सबसे प्रधान बात यह है कि उन चारों कृतियों के दो विभाग हैं, अर्थात् श्रीराममंत्रराजपरम्परा एवं श्रीरामानन्दीय वैष्णव--महामण्डल की कृतियाँ पहला, तथा रहस्योद्घाटन एवं तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा दूसरा; क्योंकि श्रीराममंत्रराजपरम्परा की आलोचनाओं का उत्तर एवं शंका समाधान ही महामण्डल की कृतियाँ है। तथा रहस्योद्घाटन का उत्तर-पुस्तक तत्त्वोद्बोधन का ही प्रत्युत्तर तत्त्वोद्बोधन मीमांसा है। श्रीरामानन्दीयवैष्णव महामण्डल और उसकी कृतियाँ, तथा तत्त्वोद्बोधन मीमांसा श्रीभगवद्दासजी की ही रचना है, यह उन्होंने स्वयंही स्वीकार किया है। जैसा कि 'परम्परापरित्राणम्' में स्पष्ट ही लिखा है:-

"तब मैंने एक 'श्रीरामानन्दीय-श्रीवैष्णव--महामण्डल' नाम की संस्था स्थापित की और उसी के द्वारा इनके विज्ञापनों का उत्तर मैं देने लग गया।" पृष्ठ ७०

"इसका अर्थ तो मैंने तत्त्वोद्बोधन के खण्डन ग्रन्थ तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा में कर दिया है।" पृ० २८

"भक्तमाल का उत्तर मैं तत्त्वोदबोधन मीमांसा में कर चुका हूँ" पृष्ट ३७

'यद्यपि मैं इसका समाधान तत्त्वोद्बोधनमीमांसा में कर चुका हूँ।' पृष्ट ३१

उपर्युक्त उद्धरणों से भलीभाँति सिद्ध हो रहा है, कि श्रीरामानन्दीय-

श्रीवैष्णव महामण्डल का स्थापन आपने ही किया था, और उसकी ओर से उत्तर भी केवल आपही करते थे, जो कि 'मैने' और 'मै' इस एक वचन शब्द से स्पष्ट है। अतः जब इस संस्था के संस्थापक भी केवल आपही थे, और उसकी ओर से उत्तर भी केवल आपही करते थे, तो वह संस्था किस बात की थी, जिसमें दूसरे व्यक्ति का कोई काम ही नहीं था। इससे तो यही सिद्ध हुआ, कि आप खुदही सब कुछ करते हुए भी अपना स्पष्ट नाम न देकर ओट के लिये संस्थापक नाम लिख देते थे। इस प्रकार जब 'श्रीराममन्त्रराज परम्परा की आलोचनाओं के उत्तर का कुल काम आप ही करते थे, तो उस पुस्तिका के लेखक दूसरे थे, यह कैसे? और यदि दूसरे ही थे, तो उनको तो उसकी आलोचनाओं के उत्तर की पर्वा थी, और न उन्होंने कभी यह स्वीकार ही किया कि इसे मैने लिखी है, परन्तु श्रीभगवद्दासजी उसके सारे दायित्व के बोझ से परेशान थे। इससे सहज-सिद्ध है कि श्रीपुरातत्त्वानुसन्धायिनी-समिति-अयोध्या एवं श्रीरामानन्दीय-श्रीवैष्णव-महामण्डल-अयोध्या के कारखाना एवं उसकी कृतियों के विधाता केवल आप ही थे। इसके सिवा रहस्योद्घाटन एवं तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा इन दोनों पुस्तिकाओं में लेखक का नाम पं० मैथिलीशरणपाण्डेय लिखा है, किन्तु उसमें तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा को श्रीभगवद्दासजीने अपनी रचना बतायी है, इससे सिद्ध है, कि रहस्योद्घाटन भी आप की ही रचना है, क्योंकि तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा के मैथिलीशरणपाण्डेय श्रीभगवद्दासजी है, तो रहस्योद्घाटन के मैथिलीशरणपाण्डेय दूसरे कैसे? उसमें भी जब कि रहस्योद्घाटन के ही समर्थन की प्रत्युत्तर पुस्तिका तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा है? अतः निश्चित है, कि श्रीराममन्त्रराज परम्परा से लेकर तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा तक सारी गुमराह कृतियाँ भी श्रीभगवद्दासजी की ही थी। इसके बाद आपने अपने मत को प्रामाणिक बनानेके लिये वाल्मीकिजी के नाम पर वाल्मीकि संहिता की रचना की। फिर तो आपका एक दल तैयार हो गया, अतः उसके बाद से तो आपने प्रत्यक्ष ही कार्य किये।

सम्प्रदाय की यह दुरवस्था देखकर आपके श्रीगुरुदेव स्वर्गीय महन्त राममनोहरप्रसादजी ने आपके तथा आपकी मण्डली के लोगों के उद्बोधन के लिये 'श्रीसम्प्रदायदिक्प्रदर्शन' नामक पुस्तिका छपाई तो

इसके उत्तर में आपने 'श्रीसम्पदाय रक्षा' नामक पुस्तिका द्वारा गालियों से श्रीगुरुदेवजी की गुरुपूर्णिमा के उपलक्ष में पूजा की।

पुनः इसके बाद पं० श्रीरामटहलदासजीने श्रीरामानन्दाचार्यजी कृत श्रीवैष्णव मताब्जभास्कर एवं श्रीरामार्चन पद्धति को रामपादन संशोधन कर प्रकाशित करवाया। इसके अन्त मे उन्होंने एक परिशिष्ट भी लिखा था, जिसमें श्रीरामानुजस्वामीजीकी परम्परा के अन्तर्गत श्रीरामानन्द-स्वामीजीके होने के प्रमाणों का संग्रह किया गया था। इसके बाद श्रीभगवद्दासजीने इसके उत्तर रूप में परिशिष्ट के लिये 'परम्परा-परित्राणम्' लिखा। पुनः श्रीवैष्णवमताब्ज-भास्कर को काट छाँट कर उससे 'प्रभारा' की रचना की, और पुनः विशेष रूप से मनमानी बात भरकर एक श्रीमद्रामानन्द-दिग्विजय भी बना डाला इससे प्रत्यक्ष हो जाता है. कि परम्परा के सम्बन्ध मे आदि से अन्ततक सारे कार्य आपने ही किये। इसी से कहा गया है, कि इस सम्प्रदाय एवं परम्परा विच्छेद के श्रीभगवद्दासजी ही मूल-कारण (उपादान) है जो इस समाज में अपना विचित्र स्वरूप विकसित कर रहे है। इस समाज की परिस्थिति सहकारी-कारण है, जिसमें सहयोग-सहायता पाकर आपका स्वरूप विकाश पा रहा है। तथा मीमासक स्वामीजी का श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवों का अपमान करना निमित्त कारण हुआ, जिसके चलते इस कार्य-क्रमका प्रादुर्भाव सम्भव हुआ।

अब इन कृतियों पर विकास-क्रमकी दृष्टिसे विचार करें। सबसे पहले श्रीराममंत्रराज-परम्परा में तो यह कहा गया, कि "खोज में श्रीअग्रदासस्वामीजी कृत एक परम्परा मिली है। जिसमें श्रीरामानुज स्वामीजी की परम्परा में श्रीरामानन्दस्वामीजी के होन की सर्वमान्यता से भिन्न ही परम्परा लिखी हुई है।" किन्तु शास्त्र सम्प्रदाय एवं समाज की मान्यता के विरुद्ध एवं गुमराह संस्था के नाम पर प्रकाशित होने के कारण इस नूतन-परम्परा का असर नही हुआ। तब इन्होने 'रहस्योद्घाटन' नामक पुस्तिका पं० मैथिलीशरण पाण्डेय नाम धारण कर लिखी और प्रकाशित की। इसमें यह कहकर श्रीरामानन्दीय श्री वैष्णवो को श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने की सलाह दी गयी थी, कि श्रीराममन्त्रराज श्रीरामानुजीय परम्परा में नहीं मिलता। आचारी-वैष्णवाचार्यों ने अपने ग्रन्थों में श्रीरामकृष्णादि

की एव, उनके मन्त्रों की निन्दायें की है, अतः हम श्रीरामोपासकों को उनसे सम्बन्ध क्या ?" आखिर यह चाल काम कर गयी। इष्ट की निन्दा सुनकर सीधे सादे कितने महात्मा उत्तेजित हो उठे, और इसी आवेश मे श्रीरामानुजस्वामी से सम्बन्ध विच्छेद करना स्वीकार भी कर लिया। इस प्रकार नूतन परम्परा मानने वालों का एक दल कायम हो गया। अब इन लोगों ने विविध उपायो द्वारा आचारी-श्रीवैष्णवाचार्यों की निन्दायें कर श्रीरामानुजस्वामीजी से सम्बन्ध रखने वाली प्राचीन-परम्परा से सम्बन्ध तोड़वाने और नूतन-परम्परा ग्रहण करवाने के लिये उद्योग शुरू किया। अनेक स्थानों मे अनेक महात्मा उभाडे और बहकाये जाकर नूतन-परम्परा मे मिलाये गये।

इस मिथ्या-प्रचार जन्य उत्तेजना एवं कोलाहल की क्रमशः वृद्धि देखकर कुछ विचारक श्रीरामानन्दीय-श्रीवैष्णवों के अनुरोध पर श्री अनन्ताचार्यजी ने इस भ्रम निवारण के लिये 'तत्त्वोद्बोधन' नामक पुस्तिका छपवा कर बँटवायी। यह पुस्तिका उज्जैन चढाव के अवसर पर बँटी थी। श्रीभगवद्दासजी ने तुरन्त इसके खण्डन के नाम पर 'तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा' नाम की पुस्तिका लिखा-छपा कर इसलिये बटवायी कि जिसमें लोगों को उस ग्रन्थ पर विचार करने का अवसर न मिले। इस 'मीमांसा' में आपने बिलकुल झूठी और अंटसंट बातें लिख कर केवल धूली प्रक्षेप द्वारा वास्तविकता ढकने की चेष्टायें की थीं। इस तरह चढ़ाव पर नूतन परम्परा का खूब-प्रचार कर इन्होंने अपना दल और बढ़ा लिया।

खैर, यह सब तो हुआ, किन्तु यह निराधार—सफलता कब तक टिकने वाली थी। भ्रामक-आवेश उतरते ही इस परम्परा की कलई उघड़ जाती, क्योंकि एक तो श्रीअग्रदासजीके नाम पर गढ़ी हुई यह नूतन--परम्परा सर्वथा अज्ञात वस्तु थी, न तो कही कोई जानता था, न साम्प्रदायिक—ग्रन्थो के ही अनुकूल था। इसके सिवा सबसे बड़ी बात यह थी, कि स्वयं अग्रदासजी के प्रधान शिष्य श्रीनाभाजीकृत भक्त-माल की परम्परा से भी यह सर्वथा भिन्न थी, अतः उसे अग्रदासजीकृत मानना सर्वथा असम्भव था। इसलिये 'रहस्योद्घाटन' द्वारा श्रीरामा-नुजस्वामीजी की परम्परा में श्रीराममन्त्रराज के न होने, एवं आचारी—श्रीवैष्णवाचार्यों द्वारा श्रीरामकृष्णादि के मन्त्रों की निन्दायें किये जाने

की मिथ्या बातें प्रचार कर उत्तेजना फैलायी गई, और इसी आवेश के कवच से यह मिथ्या परम्परा जीवित रह कर अपना जीवन-प्रसार करती गई। किन्तु झूठ की रक्षा दूसरी झुठाई से कब तक हो सकती थी? क्योंकि श्रीरामानुजस्वामीजीके द्वारा श्रीराममन्त्रराज के प्रचार की बात तो बृहद् ब्रह्म-संहिता में स्पष्ट ही लिखी हुई है। इसके अतिरिक्त श्रीरामकृष्णादि में श्रद्धा-भक्ति का प्रमाण सहस्रगीति, आलवन्दारस्तोत्र, गद्यत्रय, पञ्चस्तवी आदि ग्रन्थों में भरा हुआ है जिसका सभों का 'प्रकाश' की आलोचना में यथास्थान पूर्व ही वर्णन किया जा चुका है। अतः श्रीअनन्ताचार्यजीने इन आक्षेपों का निराकरण करते हुए श्रीनाभाजीके भक्तमाल की परम्परा, श्रीरामानन्दस्वामीजीकृत 'श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर के श्रीरामानुजस्वामी को प्रणाम करने, श्रीभाष्य तथा द्रविड़प्रबन्ध पढ़ने, एवं यादवाद्रि में निवास करने के माहात्म्य वर्णन आदि से तत्त्वद्बोधन में यह सिद्ध किया कि 'श्रीरामानन्दस्वामीजी श्रीरामानुजस्वामीजीकी ही परम्परा में हुए हैं, और श्रीरामानुज सम्प्रदाय में श्रीराममन्त्र का प्रचार है।' पुनः श्रीभगवद्दासजीने 'तत्त्वोद्बोधन' की वास्तविकता 'तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा' के रूप में धूल उड़ाकर ढकने की कोशिश की — भक्तमाल में पाठभेद की कल्पना की, उससे भी न बना, तो भविष्यपुराण की दुहाई दी। अर्थों में धींगाधींगी की, श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर के अर्थों की भी वही दुर्दशा की गयी। श्रीभाष्य का अर्थ रामानन्द-भाष्य यतिपति का अर्थ श्रीराघवानन्दजी एवं यादवाद्रि का अर्थ गोवर्द्धन या रैवतक किया बल्कि यादवाद्रि का गोवर्द्धन अर्थ करने के लिये वाल्मीकि-संहिता के नामपर गढ़कर एक मिथ्या श्लोक भी प्रमाण रूप मे सम्मिलित कर दिया। इसी प्रकार और भी कितनी ही अनर्गल बातें लिखकर 'तत्त्वोद्बोधन' पर धूल उड़ाई गयी, जिसमें वास्तविकता कुछ भी न थी।

किन्तु इस समय उनको यह स्पष्ट ज्ञात होगया, कि श्रीअग्रदासजीके नाम पर यह परम्परा चल नहीं सकती, क्योंकि शास्त्र एवं सम्प्रदाय दोनों से ही परम्परा गलत सिद्ध थी ही; इसलिये अब इन्होंने विचार किया कि जब श्रीअग्रदासजीके नाम पर परम्परा इस लिये नहीं सिद्ध होती, कि श्रीनाभाजीने उनके अनुसार परम्परा न लिखकर प्रचलित मान्य-परम्परा के ही ऐसी लिखी है। दूसरे श्रीरामानन्दस्वामीजीके ग्रन्थों से भी यही सिद्ध

है, तो यह धाँधली चल नहीं सकती। अतः अब आचार्यों के नाम पर बनाई हुई परम्परा टिक नहीं सकती। सम्भवतः इसका अनुभव आपने पहले भी किया हो, परन्तु तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा लिखते समय भलीभाँति हो गया। अतः इन्होंने विचार किया, कि शास्त्रीय सिद्ध करने से ही काम चल सकता है। शास्त्रों के नाम से सभी परतन्त्रता स्वीकार कर लेंगे, क्योंकि उसमें तो सनातन-धर्मियों को चूं करने की हिम्मत एवं आदत ही नहीं है। अत नारद पञ्चरात्र की अप्राप्त संहिताओं में से वाल्मीकि संहिता के नाम पर एक पुस्तिका रच डाली। इसमें ठीक वही सब बातें लिखी गईं जो नूतन-परम्परा में शास्त्रीय एवं आचार्य ग्रन्थों के प्रमाणों के विरुद्ध लिखे जाने के कारण सर्वथा मिथ्या एवं अप्रामाणिक सिद्ध हो रही थी। उन सबों को इसके द्वारा शास्त्रीय बनाकर प्रामाणिक ठहराया गया। अर्थात् अगस्त्य-संहिता, बृहद्ब्रह्म संहिता, सदाशिव-संहिता एव पद्मपुराणादि शास्त्रीय-प्रमाणों से नूतन परम्परा का पूर्वार्द्ध अप्रामाणिक हो रहा था, तथा भक्तमाल, श्रीवैष्णवमताब्ज-भास्कर एवं श्रीरामार्चनपद्धति से सारी परम्परा ही जाली ठहर रही थी; उन सभी कठिन विरोधी समस्याओं को इस एक ही वाल्मीकि-संहिता की रचना द्वारा हल किया गया। इस प्रकार व्यापक एवं प्रमाणिक सिद्धान्त-ज्ञान एवं प्रत्यक्ष जानकारी के विरुद्ध श्रीभगवद्दासजी के द्वारा इसकी रचना हुई। जान पड़ता था, इस नूतन-परम्परा की सहायता के लिये ही वाल्मीकिजी ने सभी समस्यायें पहले से ही हल कर रखी थी ? इससे सहज सिद्ध था, कि यह वाल्मीकि संहिता त्रेता के वाल्मीकि जी की बनायी हुई नहीं, कलियुगी वाल्मीकिजी की बनाई हुई है ? इस प्रकार श्रीअग्रदासजी के नाम पर बनायी हुई परम्परा पहले लुप्त बतलायी जाकर खोज में मिली हुई कही गयी। फिर शास्त्र-सम्प्रदाय-आचार्य-वचन एव सर्वमान्यता के विपरीत होने से असिद्ध होने पर उसी ने वाल्मीकि-संहिता के रूप में शास्त्रीय कलेवर धारण कर लिया। इस प्रकार श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवों में इस कृत्रिम-गुरुपरम्परा का प्रवाह बह चला।

इस विकृत-प्रवाह को द्वेषपूर्ण उत्तेजना एवं भ्रमवश वृद्धि होते देख कर उद्बोधन-पूर्वक शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापन करने के लिये बड़ास्थान-अयोध्या के स्वर्गीय महन्त श्रीराममनोहर प्रसादजी ने 'श्रीसम्प्र-

दाय दिग्प्रदर्शन' नामक पुस्तिका छपवा कर वितरित की। इसमें मुख्य रूप से श्रीरामानन्दस्वामीजी कृत श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर एवं श्रीरामार्चनपद्धति से ही उन्होंने यह सिद्ध किया था, कि श्रीरामानन्द स्वामीजी, श्रीरामनुजस्वामीजीकी ही परम्परामें हुए है, दोनों के सिद्धान्तो एवं आचरणों में भी साम्य है, अतः दोनों सम्प्रदाय मूलतः एक ही है। पुनः उसके अन्तमें संहिता पुराण एवं रामायणादि से भी इसकी सिद्धि भी की गयी थी। पुनः इसके विरुद्ध भी और कोई नहीं, केवल श्री भगवद्दासजी ही सामने आये। शायद शिष्य होने की हैसियत से ही आपने गुरुदेवजी का सामना श्रीसम्प्रदायरक्षा के रूप में खूब डटकर किया। जिस बात को पीछे इन्होंने माना भी है, उस समय गुरुजी के द्वारा कहे जाने के कारण इन्होंने उसका अपमान पूर्वक खण्डन किया। जैसे कि गुरुजी ने श्री स० दि० में कहा था कि इस सम्प्रदाय में श्रीजी की अणुत्वेन व्याप्ति मानी गयी है; तो आपने कहा, कि नही, 'विभुत्वेन व्याप्ति' मानी गयी है। (श्रीसम्प्रदाय रक्षा पृष्ठ ७-८) किन्तु अब 'प्रकाश' पृष्ठ १५६ में आपने श्रीजी की अणुत्वेन व्याप्ति स्वीकार की है। इसी प्रकार गुरुजी ने कहा था कि इस सम्प्रदाय में दिव्य देशों में निवास करने की विधि कही गयी है, तो आपने कहा, नही, दिव्यदेशों में वास करना केवल नारायणोपासकों के लिये है, श्रीरामोपासकों के लिये नहीं। उनके लिये तो श्रीअयोध्या और चित्रकूट ही परम स्थान है। (श्री स० रक्षा पृ० ९–१०), किन्तु अब प्रकाश-पृष्ठ १८८ से १९४ तक आपने यह स्वीकार किया है, कि श्रीरामानन्दीय वैष्णवों को सभी दिव्य-देशों में वास करना चाहिये। आपके गुरुजी ने कहा था, कि श्रीराम-नारायण में स्वरूपाभेद है। तो आपने कहा, नहीं, "यह सर्वथा असत्य है। यदि श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के सिद्धान्त आचरण भले प्रकार मनन किये होते, तो कभी भी ऐसा नहीं लिख सकते थे। मै यहाँ सप्रमाण बतादेना चाहता हूँ, कि श्रीरामनारायण में स्वरूपाभेद नहीं है। (श्री स० रक्षा पृ० ३६) किन्तु 'प्रकाश' म पृष्ट १४ से ४१ तक आपने श्रीरामनारायण के स्वरूपाभेद की ही सिद्धि की है। आपके गुरुजीने कहा था, कि श्रीरामानन्दस्वामीजीने निज कृत श्रीरामार्चन पद्धति में अपने को श्रीरामानुजस्वामीजीकी परम्परा बताया है। तो आपने

परम्पराको कौन कहे, श्रीरामार्चनपद्धति को भी श्रीस्वामीजीकृत मानने से सर्वथा अस्वीकार कर दिया। बल्कि इस सिलसिले में भी आपने गुरुजी का अपमान किया। यथा "जिस रामार्चनपद्धति को आप श्रीरामानन्द-स्वामीजीकृत मानकर स्वासोच्छ्वास ले रहे है, वह श्रीरामानन्दस्वामीजी कृत है ही नहीं।" (श्रीस० रक्षा पृ० २०) "अतः यह निर्विवाद सिद्ध है, कि श्रीरामार्चनपद्धति किसी वृद्ध महात्मा ने लिखी है, और नवजवानों को जाल में फँसा देने के लिये श्रीरामानन्दस्वामीजीका नाम लिख दिया है।" (श्रीस०रक्षा पृष्ठ२७)किन्तु अब 'प्रकाश' के प्रस्तावना पृष्ठ ४ में स्वीकार किया है कि श्रीरामार्चनपद्धति श्रीरामानन्द स्वामीजीकृत ग्रन्थ है। इसी प्रकार इसमें और भी खण्डन के नाम पर ऐसी ही अनर्गल बातें और गुरुजी को दी हुई गालियां भरी है और तुर्रा यह कि गुरु पूर्णिमा की पूजा में गुरुजी को ही चढ़ाई गई है। आपने प्रत्यक्ष रूप से सब से पहले यही पुस्तक अपने नाम से लिखी है। इसमें लिखित सिंहावलोकन में आपने लिखा है:—

"आज से कुछ दिन पहले मुझे बर्तमान परम्परा आन्दोलनकी पूर्व पीठिका पर एकान्त में विचार करने का सुअवसर मिला था। मैने देखा, कि इस प्रसङ्ग में कुछ ऐसे पाप मुझ से हो गये हैं, जिनका प्रायश्चित अवश्य करणीय है। मैंने देखा, कि मेरे कृत्यपट में वह वीभत्सता अङ्कित है, जो आजभी, और बहुत दिनो तक भी भूत की झिझक, किला टूट गया, भठिहारिन लीला जैसे अनेक विज्ञापनों में अङ्कित हो रही है। मैने देखा कि मेरे चरित्र-चित्र में वह क्रूरता चित्रित है, जो गत उज्जैन कुम्भ के समय चार सम्प्रदाय के स्थान में मेरे शब्दों में ओतप्रोत थी। उस समय मेरे हृदय में प्रतिहिंसा का भाव था। मैने जान बूझकर ऐसे शब्दो का प्रयोग अपने व्याख्यान में किया था, कि लोगों के हृदय में विपक्ष वालों के प्रति ईर्ष्या और क्रोध उत्पन्न हो। ऐसा ही हुआ।"

इस स्वीकारोक्ति से भलीभाँति समझा जा सकता है, कि आपने सम्प्रदाय एवं परम्परा-विच्छेद के लिये नूतन-परम्परा के गठन एवं प्रचार में कोई दुष्कर्म उठा नही रखा है। एक बात और, ये वाक्य आप उस समय लिख रहे हैं, जब अपने को उस दुष्प्रवृति से रहित

घोषित कर रहे है। किन्तु इसी पुस्तिका में गुरुजी को खूब गालियां दी है, ढोंगी कहा है, और आर्य-समाजियों की कुटिल भावना एवं ईसाइयों की अस्पृश्य-भावना वाला भी कहा है। अतः गुरुजीको इस प्रकार गालियों से पूजा करने वाले, उनके वचनों को केवल अपमान करने के लिये खण्डन करने वाले और उनके सत्य एवं प्रमाणित बचन को कभी दाव बचाने के लिये खण्डन कभी मण्डन रूप अव्यवस्थित मत रखने वाले श्रीभगवद्दासजी के उस प्रच्छन्नजीवन के कृत्य के बिषय में क्या कहा जाय? इससे सहज अनुमान किया जा सकता है, कि उस समय इन्होंने अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिये कोई कला उठा न रखी थी। जब प्रत्यक्ष-कृत्य एवं प्रचलित प्रमाणिक ग्रन्थों एवं बातों में इतनी विषमता अव्यवस्थितता, असंयतता एवं मनमानापन है, तो इस बात को कौन स्वीकार न करेगा प्रच्छन्नकृत्य-स्वरूप श्रीराममन्त्रराजपरम्परा तथा वाल्मीकि-संहिता कोरी जालसाजी ही है? और विशेष कर जब कि वह प्रचलित एवं प्राप्य शास्त्रों संहिताओं, पुराणों, साम्प्रदायिक ग्रन्थों, आचार्य-स्वीकृतियों, ऐतिहासिक-प्रमाणों एवं व्यापक सर्वमानताओं के विरुद्ध हो। फिर भी अब एक दल आप का अनुयायी हो गया था।

इसके कुछ दिनों के बाद इस मोह-मार्जन एवं भ्रम भंजन के लिये पं० श्रीरामटहलदासजी ने श्रीरामानन्द स्वामीजी कृत दोनों ग्रन्थों—श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर एवं श्रीरामार्चनपद्धति-को प्रकाशित करवाया, क्योंकि ये ग्रन्थ दुष्प्राप्य हो रहे थे, और इसमें साम्प्रदायिक सिद्धान्त एवं गुरुपरम्परा आदि थे। तथा इसके अन्त में प्राचीन गुरुपरम्परा की सिद्धि में सैकड़ों प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रमाणों को पेश किया था, जो इसमें परिशिष्ट के रूप में सम्मिलित है।

पुनः इसके विरोध के लिये भी श्रीभगवद्दासजी ही मैदान में उतर आये। आपने इसके परिशिष्ट के कुछ प्रमाणों का अनर्गल खण्डन-मण्डन 'परम्परा-परित्राणम्' के रूप में किया। इसमें भी आपने वही चालें काम में लायी हैं, जो कि श्रीसम्प्रदायरक्षा में लायी गयी थीं। पुनः श्रीवैष्णव मताब्ज भास्कर की 'प्रकाश' के रूप में जो दुर्दशा की है, वह तो ज्ञात ही है। 'प्रकाश' की स्थिति और 'परम्परा परित्राणम्' की प्रधान प्रधान बातों की आलोचना 'प्रकाश' की आलोचना में

पूर्व ही की जा चुकी है। जिससे स्पष्ट है, कि श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर को आपने कितना नष्ट भ्रष्ट कर कुछ का कुछ बना दिया है। तथा सम्प्रदाय-विच्छेद कर नूतन परम्परा सिद्ध करने की आपकी सारी दलीलें भी कितनी निराधार तथा अनर्गल है।

इस प्रकार स्पष्ट है, कि श्रीअग्रदासजी के नाम पर बनाकर उपस्थित की हुई पूर्व-परम्परा ही इस सम्प्रदाय-विच्छेद का मूल साधन है, उसके बाद 'रहस्योद्घाटन' के द्वारा उसके प्रसार का क्षेत्र प्रशस्त किया गया और वाल्मीकि-संहिता द्वारा खाद्य सामग्री देकर उसकी पुष्टि की गयी, पुनः श्रीसम्प्रदायरक्षा, श्रीमद्रामानन्ददिग्विजय, परम्परा-परित्राणम् तथा 'प्रकाश' द्वारा घेरान घेर कर उसकी रक्षा की गयी। किन्तु यह एक धोखे की टट्टी थी, इस बात का कुछ परिचय तो पहले भी दिया जा ही चुका है, अब इस पर कुछ विशेष रूप से प्रकाश डाल कर इस विषय की समाप्ति की जायगी।

सबसे पहले नूतन-परम्परा पर ही विचार करना समुचित होगा। इस के लिये सबसे पहले 'श्रीराममन्त्रराज-परम्परा' नामक पुस्तिका पर प्रकाश डालना उचित है, क्योंकि परम्परा-आन्दोलन का इसी से सूत्रपात हुआ है। यह श्रीपुरातत्त्वानुसन्धायिनी-समिति-श्रीअयोध्याजी नामक एक गुमराह संस्था के नाम से लिखकर प्रकाशित की गयी थी। यह तो पहले ही कहा जा चुका है। अब यह देखना चाहिये, कि उस समय उसका क्या स्वरूप था, क्या हस्ती थी? इसके लिये यह जिस कला-कौशल के साथ इसमें उपस्थित किया गया है यहाँ उसी पर प्रकाश डाला जायेगा। इस परम्परा के पूर्व में इसकी सिद्धि के लिये एक भूमिका लिखी गयी है, पुनः हिन्दी टीका के साथ परम्परा दी गयी है। यहाँ पहले भूमिका पर विचार कर तब परम्परा और उसकी टीका पर विचार किया जायगा। यहाँ क्रमशः भूमिका के कुछ अशों को उद्धृत करूँ तो, पुनः इस पर विचार करूँगा। इसके प्रारम्भ में लिखा है:—

"पुरातत्त्वानुसन्धायिनी समिति अयोध्या ने अपने एक अधिवेशन में यह विचार कर, कि वह मनुष्य कभी भी आगे नहीं बढ सकता, जिसे अपने पूर्वपुरुषों के नाम, आचार व्यवहार, परम्परा आदि भले

प्रकारसे मालूम न हो, रामानन्दीय वैष्णवों की परम्परा का अन्वेषण कार्य आरम्भ किया है। लोगों को प्राय: जिस परम्परा का ज्ञान है, उसमें कुछ उलट पुलट होकर उसी ढङ्ग की अन्य भी कई परम्परा सूची प्राप्त होती है। ये सब सूचियाँ किसी आप्त आचार्य पुरुष द्वारा निर्णीत हैं, किसी आप्त गून्थ में लिखी हैं इत्यादि बातें कहनी अत्यन्त कठिन है। परन्तु तो भी हम लोग अब तक उसीको सच मानते आये है, और तब तक सच मानेंगे जब तक प्रत्येक रामानन्दीय-वैष्णवों के हृदयों से यह आवाज न आवेगी कि यह परम्परा उलटी पुलटी है।

"हम यहाँ पर परम्परा की उन सूचियों को संक्षिप्त रूप में आप के सामने रख देना चाहते है जो प्राय: थोड़े से उलट फेर के बाद एक ही ढग की है।"

इतनी भूमिका के बाद गुरुपरम्परा की सात सूचियाँ विचार के लिये उपस्थित की गयी है, जिसमें पहली 'निजगुरु' से, दूसरी और तीसरी डाक्टर ग्रियर्सन साहब को प्राप्त हुई परम्परा से, चौथी श्रीतपसी जी की छावनी अयोध्या से प्राप्त प्राचीन हस्तलिखित प्रति से, पाँचवी जन्मस्थान के श्रीयुत रघुवर शरणजी के रहस्यत्र से, ६ ठी भाटों के यहाँ की परम्परा से तथा सातवीं श्रीरसिकविहारीशरणजी कृत मन्त्रराज परम्परा' से उद्धृत की गयी अथवा उद्धृत की हुई बतलायी गयी है। इसमें पहली (निजगुरु) तो बड़ास्थान अयोध्या के एक पूर्ववर्ती महान्त रघुनाथप्रसादजी को लिखी है, दो राहचलते जहाँ कही डाक्टर ग्रियर्सन साहब को मिली थी, तपसीजी की छावनी वाली परम्परा का कथन कहाँ तक ठीक है, किन्होंने लिखा हैं, ?कुछ पता नही। रहस्यत्रयवाली परम्परा श्रीयुतरघुबरशरणजी की लिखी हुई नहीं है, बल्कि प० सूर्य्यवली जी ने श्रीरघुबरशरणजी से जानकर लिखी है, और यह प्रायः पहली परम्परा से ही मिलती है। वैष्णवधर्मरत्नाकर में भी इसी से मिलती जुलती परम्परा लिखी है। भाटों की परम्परा तो 'दोकन परुआ' चीज है। श्रीरसिक विहारीशरणजी कृत परम्परा में महाशम्भु और विष्णु ये दो नाम बढ़ाये हुए है, और प्राय: निज गुरु सा ही है। इस प्रकार हम देखते हैं, विचार के लिये काई भी प्राचीन परम्परा पेश नहीं की गयी है। फिर भी सभी परम्पराओं से यही सिद्ध होता है, कि श्रीरामानन्द स्वामीजी श्रीरामानुजस्वामीजी के ही परिवार में है। नामों का विशेष न्यूनाधिकता उलट फेर उन्ही

परम्पराओ में है,जो इधर उधर से उटपटाङ्ग लाकर यहाँ जोड़ दी गयी है। यही कारण है कि इसी पुस्तक में आगे चल कर सभी परम्पराओं को छोड कर केवल 'निज गुरु' की परम्परा पर ही विचार किया गया है। निजगुरु, रहस्यत्रय और वैष्णवधर्मरत्नाकर वाली परम्परा में प्रायः एकता है। इसक सिवा अन्य जो है भी इधर उधर से जान बूझ कर ही उटपटाग लाये हुए।

यहाँ पर एक बात और भी विचार लेनी चाहिये, और वह यह कि आपने प्रारम्भिक कथन मे, जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, कहा है, कि ये सब सूचियाँ किसी आप्त आचाय पुरुष द्वारा निर्णीत हैं या आप्त–ग्रन्थ में लिखी है, इत्यादि बातें कहनी अत्यन्त कठिन है।' किन्तु आपने ऐसी सूचियाँ उपस्थित कहाँ की? उनको तो जान बूझ कर छाड़ दिया। क्या श्रीरामानन्दस्वामीजी आप्त-आचार्य-पुरुष और उनकी श्रीरामार्चन पद्धति आप्त-ग्रन्थ नहीं है? क्या नाभाजी आप्त आचार्य पुरुष और उनका भक्त माल आप्त ग्रन्थ नही है? फिर क्यों नही उसकी परम्परा यहाँ उपस्थित की गयी? इसी प्रकार द्वारा गादियों से भी क्यों नही परम्पराय खोज कर लायी गयी? और लायी गयी राह चलते डाक्टर गियर्सन साहब की पाई हुई, तो भाटो के पास की। यह इसीलिये कि इन अव्यवस्थित परम्पराओं को भिड़ा कर उसकी कमजोरी दिखाते हुए असत्यता सिद्ध कर सकें। जब आचार्यवर श्री रामानन्दस्वामीजी कृत श्रीरामार्चन-पद्धति एवं भक्तमाल की परम्परा थी ही फिर खोजने की आपको क्या जरूरत पड़ी और यह क्यों नहीं मिली! यदि अपनी अभीष्ट–सिद्धि क विपरीत होने से उसे मानना नही था, तो फिर यह बहाना क्यों, कि आप्त आचार्य पुरुष कृत कोई परम्पराही नही है, तो किसी आप्तग्रन्थ में परम्परा नहीं है! इससे तो साफ प्रकट है, कि आचार्यकृत और आप्तग्रन्थों में परम्परायें मौजूद थी प्रचलित थी। परन्तु आपकी नीयत ही दूसरी थी, इसीसे इन सबों का जिक्र तक न कर कुछ पिछली और कुछ इधर उधर की अव्यवस्थित परम्पराओ को उपस्थित कर इनकी कामजोरियों से अनुचित लाभ उठाकर मनोरथ सफल करने का प्रपञ्च साजा गया था। अतः ढूढ का बहाना ही व्यर्थ कोरी जालसाजी है। इसके सिवा कमसे कम

'निज गुरु' के रचयिता श्रीरघुनाथप्रसादजी जो वेंदीवाले वैष्णवों की आचार्य गादी बडा स्थान अयोध्या के प्रथम आचार्य श्रीरामप्रसादजी के शिष्य तथा इसी गादो के द्वितीय आचार्य है, क्या अनाप्त-पुरुष हैं। जब इस गादी के शिष्य होकर भी श्रीभगवद्दासजी इनको अनाप्त मानते हैं, तो इस विषय में कहना ही व्यर्थ है।

एक बात और यह, कि इसमें कहा गया है, कि "लोगों को प्रायः जिस परम्परा का ज्ञान है, उसमें उलट-पुलट होकर उसी ढंग की अन्य भी कई परम्परा सूची प्राप्त होती है।" "परन्तु तो भी अब तक हमलोग उसीको सच मानते आये है, और तब तक सच मानेंगे, जब तक प्रत्येक रामानन्दीय-वैष्णवों के हृदय से यह आवाज न आवेगी, कि यह परम्परा उलटी-पुलटी है। हम यहाँ पर परम्परा की उन सूचियों को सङ्क्षिप्त रूप मे आपके सामने रख देना चाहते है, जो प्रायः थोड़े से उलट फेर के बाद एक ही ढंग की है।"

कैसी लचर दलोल है! लोगों को जिस परम्परा का ज्ञान है, उसी ढंग की कुछ उलट पुलट होकर दूसरी परम्परायें भी मिलती है, तो उन दूसरी की उलट पलट से पहली में गड़बड़ी क्यों मानी जायगी? भाटों की एवं ग्रियर्सन साहब की परम्परा वाली गड़बड़ियों से इसका क्या सम्बन्ध? उसमें गड़बड़ी रहा करे, उसको मानने कौन जाता है? इसके सिवा उलट पलट होने पर भी जब सभी एक ही ढंग की है, तब यह कौनसी युक्ति है, कि उसको सच न मानेंगे? वल्कि तब तो यह युक्ति उपस्थित होती है. कि इसमें कौन सी सुव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध है। फिर इस प्रकार ठीक न कर सबको मानलेना तथा इससे भिन्न ही मानने के लिये ढूंढ़ते फिरना सत्यान्वेषी की सीमा से बाहर का काम है। इसके सिवा जो भी मिल जाय, अथवा बना डालें, उसको फिर इसी के साथ मिलाकर विचार करें, तो इसी नियम से वह भी तो उलट पुलट ही सिद्ध होगा, अतः वह भी कैसे सच माना जायगा? यदि इस उलट पुलट के ग्रूप में उसको शामिल न करें, तो फिर इन सबों को ही क्यों एक जगह रखकर एक से दूसरे को उलटा पुलटा कहें? यदि अलग विचार कर, तो सभी का; नही तो सभी को एक जगह रख कर एक नियम से मीमासा कर। ऐसा न कर अन्यों को एक जगह रखकर एक को दूसरे

से उलटा पुलटा कह कर झूठा कहदें, और किसी खास को इनसे अलग रखकर दूसरे ही नियम मे विचार करें, यह कौन सी नीति है ? यह तो सर्वथा धांधली है। इसके सिवा अब इसमे गड़बड़-परम्पराओ को मिला कर उलटा पुलटा बताते हुए उपस्थित ही करते है तो यह कौन सी दलील है, कि उलटा पलटा कहने मात्र से झूठ मान लेंगे ? क्या आप जिसको मानने की फिक्र में ये सब कलाबाजियाँ कर रहे हैं उसको भी इसमें सम्मिलित करदें, तो उसकी भी यही अवस्था न हो जायगी ?

इसके बाद इन सातों सूचियों में से अन्य छः का परित्याग कर विशेष रूप से प्रचलित रहने के कारण 'निजगुरु' की परम्परा पर ही विचार शुरू किया है, जो इस प्रकार है:-

१ श्रीमन्नारायण	१७ श्रीशैलेशजी
२ श्रीलक्ष्मीजी	१८ श्रीवरवरमुनिजी
३ श्रीविष्वक्सेनजी	१९ श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी
४ श्रीशठकोपजी	२० श्रीगंगाधराचार्यजी
५ श्रीनाथमुनिजी	२१ श्रीसदाचार्यजी
६ श्रीपुण्डरीकाक्षजी	२२ श्रीरामेश्वराचार्यजी
७ श्रीराममिश्रजी	२३ श्रीद्वारानन्दजी
८ श्रीयामुनाचार्यजी	२४ श्रीदेवानन्दजी
९ श्रीमहापूर्णाचार्यजी	२५ श्रीश्यामानन्दजी
१० श्रीरामानुजस्वामीजी	२६ श्रीश्रुतानन्दजी
११ श्रीगोविन्दाचार्यजी	२७ श्रीचिदानन्दजी
१२ श्रीपराशरजी	२८ श्रीपूर्णानन्दजी
१३ श्रीवेदान्तीजी	२९ श्रीश्रियानन्दजी
१४ श्रीकलिवैरीजी	३० श्रीहर्यानन्दजी
१५ श्रीकृष्णपादजी	३१ श्री राघवानन्दजी
१६ श्रीलोकाचार्यजी	३२ श्रीरामानन्दजी

(१) गीता टीका की भूमिका के अनुसार श्री वरवर मुनि का जन्म १३७० ई० में हुआ है, परन्तु श्रीरामानन्दस्वामी का जन्म सन् १३०० ई० में हुआ है, अतः श्रीरामानन्दस्वामीजी ही श्रीवरवर मुनि स्वामी जी से ७०-७१ वर्ष बड़े सिद्ध होते है, फिर इस परम्परा-सूची

मे श्रीरामानन्दस्वामी जी से १४ पीढी पहले होने वाले श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजीको श्रीवरवरमुनिजी का शिष्य कैसे लिखा गया।

(२) श्रीरामानुज स्वामीजी १० वी सदी तथा श्रीरामनन्दस्वामी १३ वां सदी में हुए हैं--उन तीन सौ वर्षों के भीतर इस परम्परा में श्रीरामानुजचार्यजी एव श्रीरामानन्दस्वामीजी के बीच में किसी ने २१ पीढी और किसीने २३ पीढी जोडी है। तो क्या पूर्वकालीन दीर्घजीवी महात्मा १५ वर्ष भी नही जीते थे। और श्रीरामानुजस्वामी के पहले ६ ठी पीढी में श्रीशठकोपजी माने जाते हैं। और इनका जन्म ४३ दिन कलि बीतने पर होना माना जाता है। अतः केवल ये छ पीढिया चार हजार वर्षों में समाप्त हुईं ? इस प्रकार श्रीशठकोपस्वामीजी से लेकर श्रीरामानुजस्वामीजी तक ६ पीढ़ी में चार हजार वर्ष समाप्त हो, और श्रीरामानुज स्वामीजी से श्रीरामानन्दस्वामीजो तक २१ या २३ पीढियें तीन सौ वर्षों में ?

इन प्रश्नों पर भी विचार करना आवश्यक है। सबसे पहली बात तो यह, कि यदि श्रीरामार्चन पद्धति तथा भक्तमाल की परम्परायें उपस्थित कर दी जायँ, तो यह प्रश्न ही हवा हो जाता है। और इसी भय से जानबूझ कर ही आपने उसे यहाँ सम्मिलित नहीं की है। परम्परा के सम्बन्ध में भी पहले ही विचार कर चुका है, उसमें यह भली भाँति स्पष्ट कर दिया गया है, कि श्रीवरवरमुनिजी का परम्परा में कारणवश समावेश हो गया है। और ऐसा कहने का मुख्य कारण यही है कि श्रीरामार्चनपद्धति में उनका नाम नहीं आया है, और प्रमाणिकता दृष्टि से यह ग्रन्थ सर्व श्रेष्ट है। यदि श्रीरामार्चनपद्धति की परम्परा उपस्थित नहीं रहती तो श्रीवरवरमुनि स्वामीजी से सम्बन्ध रखने वाली परम्परा ही अवश्य माननी पड़ती और इसकी सिद्धि भी हो जाती है। अतः नूतन परम्पराकार ने जब श्रीरामार्चनपद्धति की परम्परा को छोड कर इसीको उपस्थित किया है, तो मैं भी इसी पर विचार करूँ, क्योंकि आपने इसे लेकर अपनी कामना का हवाई किला तयार किया है।

पहली युक्ति के विषय में सबसे पहले तो यह विचारणीय है, कि श्रीवरवरमुनिजी का जन्म १३७० ई० में हुआ है, यह निश्चित रूपसे कैसे माना जा सकता है, श्रीअनन्ताचार्यजी ने गीता-भाष्य की भूमि का

में लिखा है केवल इसीसे वह माना नहीं जा सकता। जब उसपर स्वतः विचार करना है, तो जब तक ऐतिहासिक-प्रमाणों एवं अनुकूल युक्तियों से उसकी सिद्धि न हो जाय, तब तक उसे आँख मूँद कर मानना ठीक नहीं। सबसे पहले इसके विरुद्ध तो यही प्रमाण है, कि श्रीवरवरमुनिजी के शिष्य श्रीप्रतिवादि-भयङ्करस्वामीजी का ही जन्म १३०३ ई० में होना लिखा है, जिसको श्रीभगवद्दासजी ने भी 'तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा' के पृष्ट १५ १६ में स्वीकार किया है। अतः श्रीवरवरमुनिजी का जन्म इससे ४०-४२ वर्ष भी पहले मान लें, तो उनका जन्म सन् १२६० ई० के आस पास ठहरता है। मान लेने की बात इसलिये कही जाती है कि जब तक सम्भव-युक्तियों एवं प्रमाणों से उसका समर्थन हो सकेगा, तब तक उसको मनमानी तौर पर गलत कह देना विचार की सीमा का अतिक्रमण करना होगा। शिष्य से गुरु का ४०-४२ वर्ष बड़ा होना कोई कठिन नहीं, साधारण बात है, रातदिन की आँखों देखी घटना है। इसके सिवा इधर श्रीरामानन्दस्वामीजी का जन्मकाल भी १३०० ई० नहीं ही ठहरता, बल्कि सन् १४२० ई० से पहले मानने की न तो कोई युक्ति न प्रमाण ही है, जैसा कि पहले ही सिद्ध किया जा चुका है। बल्कि बहुत से विचारक तो आपकी १०० वर्ष की आयु मानते भी नहीं, और न मानने को विवश करने के लिये कोई जबर्दस्त प्रमाण ही है। अतः इस दृष्टि से श्रीस्वामीजी का जन्म समय और पीछे भी हट सकता है। फिर भी उसे न मान कर जैसा स्वतः सिद्ध होता है, सन् १४२० ई० को ही जन्म काल मानते हैं तो इस दृष्टि से श्रीवरवरमुनि स्वामीजी के जन्मकाल १२६० ई० और श्रीरामानन्दस्वामीजी के जन्मकाल से १४२० ई० में १६० वर्षों का अन्तर होता है। इसके बीच में १४ आचार्य हो गये हैं, अतः प्रत्येक आचार्य का समय प्रायः ११-१२ वर्ष होगा। वह भी तब, जब कि श्रीप्रतिवादि भयङ्करस्वामीजी के जन्म समय को ठीक मान लिया गया है। नहीं तो और भी बढ सकता है।

अब इसी को एक और प्रकार से विचार करें। श्रीरामानुजस्वामी जी का जन्म सन् १०१६ ई० में हुआ है, और श्रीरामानन्दस्वामीजी का १४२० ई० में जन्म लेना सिद्ध होता है, अतः दोनों में ४०० वर्षों का अन्तर हुआ। इसी ४०० वर्षों में निजगुरु की परम्परा से

२२ पीढियाँ गुजरी है, अतः प्रत्येक आचार्य का समय प्रायः १८-१९ वर्ष का होता है।

इस प्रकार छोटे दायरे में विचार करने से प्रत्येक आचार्यका समय ११-१२ वर्ष तथा बड़े दायरे से १८-१९ वर्ष होता है, और दोनों सम्भव हो सकता है। यद्यपि इस शैली का अवलम्बन करने से किसी आचार्य का निश्चित समय ज्ञात नहीं हो सकता, क्योंकि कोई अधिक दिनों तक जीवित रहते हैं, कोई कुछ ही दिनों तक; अतः एक का समय दूसरे में मिल कर सभी को गडबड कर सकता है, इसलिये इस दृष्टि-कोण से महात्माओं के समय का विचार ही नहीं किया जा सकता। एक बात और गृहस्थों की परम्परा में तो एक प्रकार से यह भी रोक है, कि जब तक सन्तान उत्पन्न करने योग्य आयु (१५-२० वर्ष) नहीं होगी, तब तक सन्तान होगी ही कैसी? अतः १५-२० वर्ष के बिना वंश-क्रम का आरम्भ ही नहीं हो सकता; और जब सन्तान होगी भी, तो शिशु ही। किन्तु महात्माओं में न तो वैसी अनिवार्य रोक ही हो सकती है, न नवजात शिशु शिष्य ही हो सकता है। साधारणतः जब अवस्था परिपक्व होगी, विराग उदय होगा, तभी तो कोई शिष्य हो सकता है। ऐसी दशा में वृद्ध-व्यक्ति भी शिष्य हो सकते और होते ही है, तथा तुरंत ही शिष्य भी कर सकते तथा करते ही है। इस प्रकार पीढ़ियाँ बदलते देर नहीं लगती। इसीको अब दूसरी दृष्टि से भी विचार करें। जैसे गृहस्थ की तो शारीरिक-शक्ति एवं आयु की दृष्टि से सन्तानोत्पत्ति करने की एक हद होती है, जिससे आगे वह इच्छा रखते हुए भी विवश हो जाता है। किन्तु महात्माओं के लिये ऐसी बात नहीं है; वे तो जर्जर-अवस्था में परधाम सिधारते समय भी शिष्य कर जा सकते और कर भी जाते है, इस हिसाब से बहुत समय के बाद वंश कायम हो सकता है, और पीढिया बहुत देर से बदल सकती है। कहने का तात्पर्य यह है, कि विरक्त-महात्माओं का समय पीढी गिन कर निश्चित नहीं किया जा सकता। अतः इस दृष्टि से उनके विषय में विचार नही किया जा सकता, और यदि करना ही हो, तो सभी सम्भव उपायों से उस पर दृष्टि डालनी चाहिये। इस दृष्टि से ऊपर श्रीवरवरमुनिस्वामीजी से श्रीरामानन्दस्वामीजी तक के समय के विचारानुसार प्रत्येक आचार्य का समय ११-१२ वर्ष भी सम्भव है

और श्रीरामानुजस्वामीजी से श्रीरामानन्दस्वामीजी तक के समय के विचारानुसार १८-१९ वर्ष भी सम्भव है। और व्यक्तिगत हैसियत से कितनों का इससे भी बहुत कम और इससे भी बहुत अधिक हो सकता है।

यद्यपि ऊपर के विवेचनों से यह स्पष्ट हो गया है, कि विरक्त-महात्माओं का वंश दो चार दिनों में भी बदल सकता है-आज शिष्य हुए, चार दिनों के बाद शिष्य कर लिया, और ऐसा देखने में भी आताही है। बड़े बड़े स्थानों में ऐसी कितनी घटनायें देखी गई हैं, अतः इसमें सन्देह करना व्यर्थ है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक आचार्य का समय औसत ११-१२ वर्ष भी कम नहीं है। फिर भी यदि किसी की यह धारणा हो, कि ऐसी केवल कल्पना ही की जा सकती है, वस्तु स्थिति नहीं होती, तो ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि एक तो कितनी ऐसी घटनायें देखी हुई है कितनी देख रहे है। दूसरे इसके लिये स्थायी प्रमाण भी है। यथा मिर्जापुर स्थान (मिथिला) के अधिकारी श्री रामसुन्दरदासजी की ६ पीढियाँ अभी आंखो के सामने कायम है, और शायद उनके सामने ही और पीढियाँ भी बढे। अधिकारी श्रीरामसुन्दर दासजी के शिष्य श्रीरामरूपदासजी ने आज से १२ वर्ष पूर्व श्रीभगवद्दास जी को शिष्य किया था। श्रीभगवद्दासजी के शिष्य श्रीभरतदासजी है, और इनके भी प्रशिष्य तक हो चुके है। यह सिलसिला आज से ६ वर्ष पूर्व ही सम्पन्न हो चुका था, अर्थात् श्रीरामरूपदासजी की ये चार पीढ़िया ६ ही वर्ष मे सम्पन्न हुई। अब यदि इनके वंश-क्रम का हिसाब जोड़ें, तो प्रत्येक पीढ़ी के लिये डेढ ही वर्ष पड़ता है। ऐसी स्थिति में विरक्त-महात्माओं का पीढ़ियों से समय निरूपण करना जान-बूझ कर अँधेरे में ठोकर खाना है। हाँ, इसके लिये जब जबदस्त सबूत हो, तो अलवत्तः माना जा सकता है।

अब रही श्रीशठकोपस्वामीजी के बाद से श्रीरामानुजस्वामीजी तक ६ पीढ़ियों में ४ हजार वर्ष बीत जाने की बात। इस दर से प्रत्येक आचार्य का प्रायः ६६७ वर्ष समय होता है, जो सर्वथा असम्भव है। किन्तु ऐसा तो तब कहना चाहिये था, जब कि यह सिलसिला प्राकृत-शरीर-सम्बन्ध युक्त होता। किन्तु वस्तुस्थिति तो वैसी है नहीं। श्रीशठकोपस्वामीजी ने कलि के ४३ दिन बीतने पर अवतार धारण किया, और

लोक-मर्यादा के अनुसार ससार में रह कर अन्त में परधाम पधार गये। उनके परधाम पधार जाने के ३७ ३८ सौ वर्षों के बाद श्रीनाथमुनि स्वामीजी ने उनकी 'सहस्रगीति' के पद से आकृष्ट होकर उनका आराधन किया और साक्षात्कार कर उनसे विधिवत् दीक्षा शिक्षा एवं सहस्र गीति' भी प्राप्त की। इस प्रकार श्रीनाथमुनिस्वामीजी श्रीशठ-कोपस्वामीजी के शिष्य हुए। पुन. क्रमशः परम्परा आगे बढ़ती हुई श्रीरामानुजस्वामीजी तक आयी है। अतः ६ पीढी में ४ हजार वर्षों के बीतने की शङ्का करना या उसके अनुसार पीढी निश्चित करने का हौसला जताना व्यर्थ है, और 'निज-गुरु' की परम्परा के सम्बन्ध मे पीढी एव समय की सारी दलीलें भी बेजड़ एवं अपान्य ही है।

उपर्युक्त परम्पराओं की उपस्थिति एवं निराधार शङ्का स्थापन के बाद आपने जिस कौशल से नूतन-परम्परा की उपस्थिति की है, उसको भी देखिये:—

"हम पहले लिख चुके है, कि ये सब सूचियाँ हमारे किसी आचार्य द्वारा निर्दिष्ट नही हैं। अस्तु, यदि किसी हमारे आचार्य की बनाई हुई परम्परा हमें मिल जाय तो इसमें कुछ सन्देह नही, कि हम लोगों जैसे आस्तिकों के लिये वही परम्परा शिरोधार्य और सर्वमान्य होनी चाहिए।

"पुरातत्त्वानुसन्धायिनी समिति अयोध्या को एक और परम्परा श्लोक-बद्ध मिली है, जो हमारे परमाचार्य श्रीस्वामीरामानन्दजी के बाद तीसरी पीढी में श्रीअग्रदासजी महाराज की लिखी हुई है। वह परम्परा इन सबों से विलक्षण और विशेष ध्यान से विचारणीय है। हम सब श्रीरामानन्दीय-वैष्णवों का परम कर्त्तव्य है, कि श्रीस्वामी श्रीअग्रदासजी महाराज की बताई हुई परम्परा पर खूब विचार करें। हमलोग यह तो कह ही नही सकते, कि श्रीअग्रदासजी महाराज ने झूठ लिखा है। लिखा है तो किसी आधार पर, अतः हमलोगों को सावधान होकर प्रेम से इस पर विचार करना चाहिये।

"इस परम्परा से यह बात मालूम होती है, कि श्रीरामानन्दस्वामी जी महाराज श्रीरामानुजस्वामीजी के परिवार में से नहीं है। यद्यपि यह बात बहुत कोलाहल पैदा करनेवाली है, तथापि गम्भीरता के साथ इस पर विचार होना चाहिये।

"यह परम्परा श्रीमन्नारायण से शुरू नहीं होती, किन्तु श्रीरामजी से इसका आरम्भ होता है। जैसे कि:–

१–सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रजी महाराज	१२–श्रीरामेश्वराचार्यजी
२–श्रीजानकीजी	१३–श्रीद्वारानन्दजी
३–श्रीहनुमानजी	१४–श्रीदेवानन्दजी
४–श्रीब्रह्माजी	१५–श्रीश्यामानन्दजी
५–श्रीवशिष्ठजी	१६–श्रीश्रुतानन्दजी
६–श्रीपराशरजी	१७ श्रीचिदानन्दजी
७–श्रीव्यासजी	१८–श्रीपूर्णानन्दजी
८–श्रीशुकदेवजी	१९–श्रीश्रियानन्दजी
९–श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी	२०–श्रीहर्यानन्दजी
१०–श्रीगङ्गाधराचार्यजी	२१–श्रीराघवानन्दजी
११–श्रीसदाचार्यजी	२२–श्रीस्वामीरामानन्दजीमहाराज"

अब इसके स्वरूप पर एक दृष्टि डालिये। सब से पहले तो परम्परा पेश करने की कला पर ध्यान देने से ही स्पष्ट हो जाता है, कि अभीष्ट–सिद्धि की प्रेरणा से ही यह परम्परा बनायी गयी और इस प्रकार से उसको यहाँ स्थान दिया गया है। नही तो सभी श्रीरामानन्दीय वैष्णवों के आचार्य श्रीरामानन्दस्वामीजी कृत श्रीरामार्चनपद्धति की परम्परा क्यों नही ली? फिर आचार्य की बनाई हुई परम्परा मिल जाने की बातही कैसी? जो मिली ही नही बल्कि प्रचलित है, उसको कहाँ शिरोधार्य किया। श्रीरामानन्दस्वामीजी की तीसरी पीढी में हुए श्रीअग्रदासजी के नाम से गढ़ी हुई परम्परा पर तो इतने मनसूबे, पर स्वयं श्रीरामानन्दस्वामीजी की लिखी हुई परम्परा मान्य ही नही? श्रीरामानन्दस्वामीजो सभीके आचार्य है, और उनकी लिखी हुई परम्परा तो सबको मान्य नही, पर एक द्वारे के आचार्य श्रीअग्रदासजी के नाम पर गढ़ी हुई सभी श्रीरामानन्दीय वैष्णवों को मान्य हो जायगा! कसा बेसुरा राग है? परम्परा पेश करने में कितनी कलाबाजियाँ की गयी है–"हमलोग यह तो कह ही नही सकते कि श्रीअग्रदासजी महाराज ने झूठ लिखा है। लिखा है तो किसी आधार पर अतः हमलोगों को सावधान होकर प्रेमसे इस पर विचार करना चाहिये। इस परम्परा से यह बात मालूम होती है, कि

श्रीरामानन्दस्वामीजी महाराज श्रीरामानुजस्वामी के परिवार में से नहीं है। यद्यपि यह बात बहुत कोलाहल पैदा करने वाली है।" इत्यादि। इन पंक्तियों के द्वारा पहले से ही वे पाठकों को यह मान लेने को कहते है, कि यह श्रीअग्रदासजी के नाम पर है, अतः झूठ मत समझो, सत्यही मान लो! उन्होंने किसी आधार ही पर लिखा है अर्थात् आधार न भी मिले तो इसको सत्य मानकर आधार ठीक करलो! बल्कि भानुमती का कुनबा ही क्यों न होजाय? क्योंकि इसमें तो सन्देह करना ही नहीं है, कि यह झूठ या निराधार है! और विचार भी कैसे करे! सावधान होकर प्रेम से। अर्थात् प्रमाणों से असत्य साबित हो, तो उससे सावधानी पूर्वक बचाते हुए प्रेम से इसको सत्य समझो सभी परम्पराओं एवं व्यापक मान्यताओं से श्रीरामानन्दस्वामीजी, श्रीरामानुजस्वामीजी के ही परिवार में सिद्ध होते है, परन्तु इससे वे भिन्न ही साबित होते हैं, अतः यह बात कोलाहल पैदा करनेवाली है, तौभी उसकी ओर दृष्टि न डालकर गम्भीर बनकर विचार करो! इनके सारे कथन का तात्पर्य यह है, कि यह कितना भी विपरीत मालूम पड़े, परन्तु इसे सत्य और साधार ही मान लो। इस प्रकार परम्परा उपस्थित करने के पहले ही इतनी पैरवी करते है कि पाठक उसे सत्य स्वयंसिद्ध मानले तब परम्परा उपस्थित की जाती है। कैसी कलाबाजी है! किन्तु इसी कलाबाजी से उसकी कलई भी खुल रही है। जो सम्पदाय का ज्ञान रखने वाला होगा, वह सोधे ही समझ जायगा, कि श्रीरामानन्दस्वामीजी कृत श्रीरामार्चनपद्धति की परम्परा एवं श्रीअग्रदासजी के ही शिष्य श्रीनाभाजी कृत भक्तमाल की परम्परा को, जो बहुत ही प्रचलित है, गुपचुप छोड़कर उससे विपरीत और अज्ञात श्रीअग्रदासजी के नामपर परम्परा उपस्थित कर कैसी धूर्तता खेली जा रही है। परन्तु जो सम्प्रदाय का सटीक ज्ञान नहीं रखता है, वह भी ध्यान देने से समझ सकता है, कि उपस्थित करने के पहले ही उसको सत्य मान लेने एवं उसमें प्रेम भाव रखने की पैरवी क्यों? अतः दाल में काला अवश्य है!

इसके सिवा सभी प्रतियों से श्रीरामानन्दस्वामीजी श्रीरामानुजस्वामी जी के ही परिवार में सिद्ध होते है, किन्तु इसी एक प्रति से उनके परिवार में सिद्ध नही होते, तो सभी परम्पराओं से जो सिद्ध होती है, वह

माननीय है, कि एक से सिद्ध होती है वह ? इसे अब पूर्व के नियम से भी विचार कीजिये। यदि पूर्व में उपस्थित की हुई परम्पराओं के समूह में इसको भी सम्मिलित कर विचार करें, तो उससे भी कहीं अधिक उलटी-पुलटी यह सिद्ध होगी, कि नहीं ? अतः उसी नियम से यह उन सबों से भी अधिक असत्य और अमान्य ठहरेगा, कि नहीं ?

यदि एक परम्परा से दूसरी में न्यूनाधिक भेद पड़ने या नामों में न्यूनाधिकता होने की ही दृष्टि से विचार करें, तो भी यही परम्परा सब से अप्रामाणिक एवं अमान्य ठहरती है। क्योंकि एक तो उन सबों में मूलतः साम्य है, सभी में श्रीरामानन्दस्वामीजी श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा में बतलाये गये है, परन्तु इसमें उन सबों से भिन्न ही लिखा गया है। अतः सबसे विभिन्न भी यही साबित होता है, अतः अप्रामाणिक तथा अमान्य है। एक बात और पूर्व में उपस्थित की हुई परम्पराओं से इसका मेल भी है, तो श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी से श्रीरामानन्द-श्रीस्वामीजी तक की गणना में ही, श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी से ऊपर श्रीरामजी तक की परम्परा गणना का मेल पूर्व की किसी सूची से नहीं है, परन्तु उन सबों में श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी ऊपर के आचार्यों की गणनाओं में भी साम्य ही है। 'निजगुरु' 'रहस्यत्रय' एवं 'श्रीवैष्णवधर्म-रत्नाकर' की परम्परा तो प्रायः ज्यों की त्यों एक है। इसके अतिरिक्त अन्य सूचियो से भी उन सबों का मूलतः साम्य ही है। जो अन्तर पड़ता भी है, वह 'राहचलतू' रहने के कारण। क्योंकि विराने लोगों के हाथो में पडने से उसमें उलटफेर या न्यूनाधिकता हो जाना कोई बडी बात नहीं है, अतः ऐसी बाजारू और गुमराह सूचियों को इसमें सम्मिलित करना ही अन्याय है। फिर भी उनका अधिक मेल पूर्व की ही सूचियो से होता है, अतः उन सातो सूचियो से विलक्षण होने के कारण श्रीअग्रदासजी के नाम पर पेश की हुई परम्परा ही सर्वतोभावेन अप्रामाणिक और अमान्य सिद्ध होता है। बल्कि इन सभी उपस्थित परम्पराओं पर विचार करने से 'निजगुरु' 'रहस्यत्रय' और 'श्रीवैष्णवधर्म रत्नाकर' की ही परम्परायें सब से प्रामाणिक तथा मान्य और श्रीअग्रदासजी के नाम पर पेश की हुई परम्परा ही सब से अप्रामाणिक असिद्ध तथा अमान्य ठहरता है। कोई भी ऐसी नयी युक्ति वा नियम पर कसा जाय, यही बातें सिद्ध होती

है। यदि परम्पराओं में न्यूनाधिक होने और कुछ भेद पड़ने एव उलट पलट हो जाने के कारण पर जरा भी दृष्टि दौडाये, तो उसकी प्रामाणिकता एवं सत्यता में इसमे कोई भी तात्विक व्याघात नहीं पहुँचता, क्योंकि कहीं की परम्पराये संक्षिप्त लिखी गयी है, तो कहीं की पूरी लिखी हुई है, अतः उसमें नामों की न्यूनाधिकता होने से भेद तो पड़ा, परन्तु परम्परा की सत्यता में तो इससे कोई व्याघात नहीं ही पहुँचा। उसी प्रकार कभी कभी यह भी देखने में आता है कि आचार्य के प्रताप शाली गुरु भाई आदि के होने पर उनका नाम भी परम्परा में लिख जाया करता है, अतः उससे भी नामों में न्यूनाधिकता और भेद पड़ता ह, परन्तु परम्परा की मूल सत्ता में इससे क्या व्याघात पहुँचा? इसी प्रकार कभी कभी क्रमज्ञान नहीं रहने से स्मरण रखने या लिखने में कुछ नामों का उलट-फेर भी हो जाता है, परन्तु इससे भी परम्परा की वास्तविक सत्यता में क्या व्याघात पहुंचा? क्या इन तीनों अवस्थाओं में भेद पडने पर भी परम्परा की मूल सत्यता अक्षुण्ण नहीं रहती? क्या इससे इसको असत्य मानकर दूसरी रचना खड़ी की हुई ही सच्ची हो जायगी? कभी भी नहीं। ठीक यही अवस्था इन परम्पराओं की भी है। किन्तु इससे यह असत्य क्योंकर मानी जा सकती है। असत्य तो वही है जो अकेले सर्वथा भिन्नसत्ता रखती है।

यदि ऐसा कहें, कि ऐसा उलट-फेर, मेल-जोल, और संक्षिप्त सम्पूर्ण नहीं करता तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इसके बहुत से प्रमाण दिये जा सकते है। इसी 'श्रीराममन्त्रराज परम्परा' में उपस्थित की हुई परम्परा-सूचियों से ही इसका बहुत कुछ स्पष्टी करण हो सकता है। इसके लिये 'निजगुरु' 'रहस्यत्रय' एवं 'श्रीवैष्णवधर्मरत्नाकर' की परम्पराओं पर ही विचार कर, क्योंकि ये तीनो श्रीरामानन्दीय वैष्णवो के ही निमित्त तथा मान्य ग्रन्थ है।

'निजगुरु' एवं 'श्रीवैष्णवधर्म रत्नाकर' की परम्परा में श्रीबोपदेवजी का नाम नही आया है, परन्तु रहस्यत्रय की परम्परा में है। जैसा कि भक्तमाल में है। पुनः श्रीवैष्णवधर्म-रत्नाकर तथा रहस्यत्रय की परम्परा में श्री रामानुजस्वामीजी के चारों गुरुबन्धुओं का नाम भी है जैसा कि भक्तमाल में है, परन्तु 'निजगुरु' की परम्परा में उन सबों का नाम

लिखना निष्प्रयोजन समझा गया है। इसी प्रकार 'रहस्यत्रय' एवं 'वैष्णवधर्म रत्नाकर' में श्रीरामानुजस्वामीजी, श्रीकूरेशस्वामीजी, श्रीपाराशरभट्टजी इस क्रम से परम्परा लिखी है, परन्तु 'निजगुरु, में कूरेश स्वामी के स्थान पर श्रीगोविन्दाचार्य लिखा हुआ है। श्रीकूरेशस्वामी'तथा श्रीगोविन्दाचार्य ये दोनो श्रीरामानुजस्वामीजीके शिष्य थे। और श्रीकूरेशस्वामीजी,श्रीपराशरभट्ट जी के पिता, तथा श्रीगोविन्दाचार्यजी श्रीपराशर भट्टजी के गुरु थे, यही कारण है, कि 'निजगुरु' की परम्परा में पराशरभट्टजी के गुरु श्रीगोविन्दा चार्यजी का नाम लिखा हुआ है, परन्तु 'रहस्यत्रय'एवं 'श्रीवैष्णवधर्मरत्नाकर' में उनके पिता श्रीकूरेशस्वामीजी का नाम लिखा हुआ है। श्रीकूरेशस्वामी जी उनके पिता होते हुए काकागुरु भी थे अतः गुरु ही थे। अतएवः इस सामान्य भेद से कोई वास्तविक भेद नही माना जा सकता। यदि इन परम्पराओं से श्रीग्रियर्सन साहब वाली परम्परा का मिलान करें तो इसमें नामो का उलट-फेर पुनरुक्ति,तथा बिशेषणो का अलग अलग नाम के रूप में प्रयोग तथा नामो में न्यूनता भी दिखलाई पड़ती है। यथा भगवान् का 'श्रीधर' विशेषण अलग नाम की तरह प्रयुक्त हुआ है, श्रीविष्वक्सेन जी के विशेषण 'सेनापति' सैन्यनाथ 'कर्मसूनु' का भी अलग नाम की तरह प्रयोग हुआ है, अतः कुछ लोगों को सन्देह हो सकता है, परन्तु विचारक के लिये स्पष्ट है, क्योंकि विष्वक्सेनजी बड़े ही कर्मवीर सेनापति हैं। पुनः पराङकुशजी (महापूर्णाचार्य) का नाम श्रीयामुनाचार्यजी के बाद न होकर पहले हो गया है, शठकोपस्वामीजी का नाम नाथमुनिजी के पहले होना चाहिये था, वह श्रीरामानुजस्वामीजी के भी बाद होगया है, श्रीलोकाचार्यजी का नामदो जगह आ गया है। श्रीवरवरमुनिस्वामीजी का नाम, तथा इनके और श्रीपराशराचार्यभट्टजी के बीच के कई नाम नदारत हैं, किन्तु इससे वंशपरिचय मे कोई भी त्रुटि नहीं आ सकती,यह केवल लेखन-प्रमाद ही गिना जायगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि कारणवश नामों में उलट फेर एवं न्यूनाधिक आदि हो जाते हैं, परन्तु यह लेखन-प्रमाद है, इससे कोई वास्तविक गड़बड़ी नहीं पड़ती।

यद्यपि उपर्युक्त बातें सर्वथा अनुभूत एवं स्वयं सिद्ध है, फिर भी यदि यह आग्रह ही हो, कि ऐसी गड़बड़ियां पड ही नही सकती, अतः जहां पड़े उसे अप्रामाणिक परम्परा समझनी चाहिये, तो इसका एक ताजा उदाहरण भी दे देना उचित ही है। इसमें तो किसी को एतराज नही हो सकता, फिर नूतन-परम्परा का प्रकाशन सं० १९७७ वि० में हुआ था, तभी से उसमें

सम्मिलित होजाने वाले वैष्णवों ने अपनी पूर्वमान्य-परम्परा छोडकर इस नूतन-परम्परा के अनुकूल अपनी परम्परायें तैयार की, छपाई एवं प्रकाशित की। उनमें से यहां केवल 'निबन्धत्रयी' की परम्परा के विषय में ही दिग्दर्शन कराऊँगा।

इस परम्परा की समाप्ति श्रीशियाशरणजी पर की गयी है। श्रीशिया-शरणजी अभी वर्तमान हैं। आप स्थान जानकीघाट अयोध्या के श्रीरामचरण-दासजी के परिवार में से हैं अतः इस परम्परा के अन्तिमभाग में श्रीराम-चरणजी से श्रीसियाशरणजी तक का वर्णन हुआ है। यह श्लोकबद्ध भी है और वाक्यबद्ध भी, किन्तु दोनों में अन्तर है, उसे देखकर विचार कीजिये।

श्लोकवद्ध-परम्परा का नाम क्रम	वाक्परम्परा का नाम-क्रम
१-श्रीरामचरणजी	१-श्रीरामचरणजी
२-श्रीलक्ष्मण शरणजी	२-श्रीसीताराम सेवक शरणजी
३-श्रीकौशल्या शरणजी	३-श्रीजानकीवर शरणजी
४-श्री किशोरी शरणजी	४-श्रीलक्ष्मण शरणजी
५-श्रीशियाशरणजी	५-श्रीकौशल्या शरणजी
	६-श्रीसरयू शरणजी
	७-श्रीसीयावल्लभ शरण जी
	८-श्रीसीया रघुवर शरणजी
	९-श्रीकिशोरी शरणजी
	१०-श्रीसिया शरणजी

देखिये, दोनों में कितना अन्तर है ? एक में ५ नाम है, तो दूसरे में १०। एक में श्रीलक्ष्मणशरणजीश्रीरामचरणजी केशिष्यबनाये गये हैं, तो दूसरे में श्रीजानकीवर शरणजी के। एक में श्रीकिशोरी शरण जी श्रीकौशल्या शरणजी के शिष्य बनाये गये हैं, तो दूसरे में श्रीशिया रघुवर शरणजी के। ऐसा क्यों ?श्रीरामचरणजी को हुए अभी सौ-सवासौ वर्ष हुए है,इतने में ही जब इतनी अनिश्चितता है, कि नामों की न्यूनाधिकता उलट फेर एवं परम्परा क्रममें गड़बड़झाला होगया है, तो बहुत पहले की परम्पराओं में यदि कुछ नामों की न्यूनाधिकता एवं उलटफेर होगये तो उसकी वास्तविकता में शङ्का क्यो ? उसकी अपेक्षा तो कई गुणी गडबड़ी इसमें है। यदि उसमें शङ्का या अविश्वास हो, तो उस दृष्टिकोण से तो यह सर्वथा मिथ्या ही कहा जायगा। किन्तु क्या ऐसी बात है ? क्या श्रीसियाशरण जी, श्रीसियारघुवरशरण जी श्रीसीतारामसेवक शरणजी आदि श्रीरामचरणजी के परिवार में नही हैं ?

यदि है, तो इतनी गड़बड़ियों के रहते हुए भी यदि यह परम्परा ठीक है, तो प्राचीन परम्परा में नाम मात्र के भेद होने पर उसमें क्यों शङ्का या अविश्वास हो सकता है। इस परम्परा के विषय मे यही तो कहा जायगा, कि श्लोकबद्ध-परम्परा और व्यक्ति की लिखी हुई है, और वाक्-परम्परा और की, इसी कारण दोनों की जानकारी की न्यूनाधिकता के अनुसार परम्परा में न्यूनाधिकता एवं मेल जोल हो गया है। इस प्रकार जब एकही पृष्ठ के के आगे पीछे इतनी गड़बड़ियाँ मची, तो उतनी प्राचीन और कितने व्यक्तियो की लिखी हुई विभिन्न परम्पराओं मे नाममात्र की गडबड़ी तो कुछ भी नहीं है। अतः जिस प्रकार इस परम्परा की मूल-वास्तविकता मे सन्देह नही है, उसी प्रकार प्राचीन परम्परा के विषय मे सन्देह या भ्रम भी सर्वथा विचार-हीनता, अनुभव शून्यताएवं उच्छृङ्खलता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है, कि प्राचीन प्रचलित परम्परा मे शंका की कोई गुञ्जाइस ही नही है; केवल नियत दूषित हो जाने के कारण ही उसमे दोष एवं त्रुटि दिखलाने की चेष्टा की गयी है अब नूतन-परम्परा की स्थिति पर भी एक दृष्टि डाल लेना उचित है।

इसकी उपस्थित करते हुएकहा गया है, कि यह 'परम्परा श्रीमन्नारायण से न शुरू होकर श्रीरामजी से शुरू होती है।' किन्तु इस कथन में कुछ भी तत्व नही है। क्योकि श्रीरामनारायण में एवं श्रीसीता लक्ष्मी मे अभेद है, जैसा की शास्त्र तथा सम्प्रदाय से सिद्ध है, जो पहले दिखलाया भी जा चुका है। इसके सिवा श्रीभगवद्दासजी ने भी 'प्रकाश' मे ऐसाही माना है। अत. यह युक्ति ही अनर्गल है।

अब आचार्यो की नामावली पर ध्यान दीजिये। इसके देखने से यह सहज स्पष्ट हो रहा है कि श्रीरामानन्दस्वामीजी से श्रीपुरषोत्तमाचार्यजी तक की परम्परा तो ज्यो की त्यों' निजगुरु' 'रहस्यत्रय' एव श्रीवैष्णवधर्म रत्नाकर' से ही ली गयी है, इसमें जरा भी फर्क नही है। पहिले तो आपने इन्हीं सबो को अप्रामाणिक करार दिया था, परन्तु यहाँ उसी की परम्परा उठाकर रख ली है। केबल श्री वरवरमुनि स्वामी जी से लेकर ऊपर की सारी परम्परायें छाँट दी गयी है, क्योकि, उन्ही सबो से तो सम्प्रदाय अलग करना अभीष्ट था और यह इस लिये कि वे आचारी श्रीवैष्ण की परम्परा में भी आते हैं। इस प्रकार श्रीपुरुषोत्तमाचार्य जी से नीचे की परम्परा छाट कर उनका सम्बन्ध सीधे श्रीशुकदेवजी के साथ जोड़ दिया गया है। श्रीशकदेवजी का श्रीव्यासजी के साथ सम्बम्ध जोड़कर पुनः ब्रह्माजी

तक 'ब्रह्मसम्प्रदाय' की परम्परा पूरी ले ली गयी है ; पुनः ब्रह्माजी एवं श्रीरामजी के बीच श्रीहनुमानजी तथा सीताजी का नाम जोडकर इस ब्रह्म-सम्प्रदायका श्रीसम्प्रदायका पर्दा ओढ़ाया है। इस प्रकार श्रीसम्प्रदाय और ब्रह्म संप्रदायका मिश्रणकर एक स्वतन्त्र परम्परा खडीकी गयी है। अतः यह परम्परा मुख्यरूप से दो टुकडियो मे विभक्त हैं पहली श्रीरामानन्दस्वामीजी से श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी तक और दूसरी श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी से ऊपर श्रीरामजी तक। इसमें पहिली तो 'निजगुरु' 'रहस्यत्रय' एवं 'श्रीवैष्णवधर्म रत्नाकर' की परम्परा से ही ली हुई है, अत इसके सम्बन्ध मे कुछ कहने की आवश्यकता ही नही। दूसरी श्रीरामजी से प्रारम्भ होकर श्रीशुकदेवजी पर आकर समाप्त होती है, अर्थात् यह विभाग ऋष्यन्त है, अतः इसकी प्रामाणिकता का विचार ऋषि प्रणीत ग्रन्थो से ही होना चाहिये, जब तक यह ऋषी-प्रणीत ग्रन्थो से प्रमाणित नही होगा। तब तक योंही लिखी रहने से उसकी मान्यता नही हो सकती। यह नूतन परम्परा श्रीरामजी से शुरू होकर जिस प्रकार श्रीशुकदेवजी तक आयी है, और इसको जिस प्रकार 'श्रीराममन्त्रराज-परम्परा' की भूमिका मे प्रकाशित किया गया है, उसपर थोड़ा विचार करले।

इसमें सबसे पहले यह कहा गया है, कि 'सदाशिवसंहिता' मे लिखा है "राजमार्गमिमं विद्धि रामोक्तं जानकी कृतम्" इससे श्रीरामजी द्वारा इस मन्त्र काकथन होकर श्रीजानकीजी द्वारा प्रख्या होना सिद्ध किया गया है। यद्यपि श्रीरामनारायण तथा श्रीसीताजी एव लक्ष्मीजी में अभिन्नता है। अत इसके विषय मे कोई विवाद ही नही है, किन्तु श्रीरामनारायण एवं श्रीसीता जी एवं लक्ष्मीजीमे भेद भाव मानकर उसकी पुष्टि के मनोरथ से यहा 'सदाशिव संहिता' नामपर केवल धोखा देने की चेष्टा की गयी है, इसलिये इसकी वास्तविकता दिखा देना आवश्यक है।

सब से पहली बात तो यह है, कि 'सदाशिव संहिता' में ऐसा लिखा ही नही है, और दूसरी बात यह, कि उसमे जैसी परम्परा लिखी है, उससे प्राचीन परम्परा का ही समर्थन और इसका खण्डन होता है यथा.—

"देव्यानुबोधितः श्रीमान् विष्णुः सर्वजनेश्वरः।
ग्राहयामास तां देवीं तारकं ब्रह्मवाचकं॥ ७२॥
कृतकृत्या तदा लक्ष्मी लब्ध्वा मन्त्रषडक्षरम्।
ददौ प्रीत्या ततो देवी विष्वक्सेनाय तारकम्॥७३॥

इसके अतिरिक्त इसी में आगे चलकर श्रीवोपदेवजी, श्रीमहापूर्णस्वामी जी श्रीरामानुजस्वामीजी तथा उनके श्रुतिवेद, श्रुतिप्रज्ञ श्रुतिधाम एवं श्रुतोदधि इन चारो गुरु भाइयो का भी वर्णन हुआ है, जैसा कि भक्तमाल मे भी कहा गया है। अतः इसमें तो प्राचीन परम्परा ही लिखी हुई है। फिर भी नूतन परम्परा कारको कुछ निराला ही सूझता है।

पुन परम्पराकार ने 'सदाशिव-संहिता' के नाम पर अपने उपस्थित किए श्लोक की पुष्टि मे आगे चल कर लिखा है कि "हारीतस्मृति में लिखा है, "ॐ अस्य श्रीरामषडक्षर मन्त्रराजस्य श्रीजानकी ऋषि.।' ऐसे ही समस्त पटलो में भी छपा है।" अतः इस पर भी थोडा विचार कर लेना चाहिये।

इसके सम्बन्ध में भी वही बातें समझनी चाहिये अर्थात् 'हारीत-स्मृति' मे श्रीराम-मन्त्र के विषय में कुछ लिखा ही नहीं है। उसमें तो अन्य धर्मशास्त्रों की तरह केवल वर्णाश्रमधर्म का ही वर्णन किया गया है। हाँ, वृद्धहारीत' में श्रीराममन्त्र के सम्बन्ध मे लिखा है किन्तु वहाँ भी ऐसा नहा है, जैसा कि परम्पराकार ने भूमिका मे लिखा है, बल्कि इस प्रकार है।

"ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च अगस्त्याद्या महर्षयः।
छन्दश्च परमादेवी गायत्री समुदाहृता ॥
श्रीरामोदेवता प्रोक्ता विनियोगो यथारुचिः।"

इसमें भी श्रीराममंत्रराज के ऋषियो में ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा अगस्त्यजी का नामलेकर 'आदि' पद लगा दिया है। आदि पद से श्रीजानकी जी को ले सकते हैं, किन्तु यहाँ उपर्युक्त उदाहरणो के उपस्थित करने का तात्पर्य यही है, कि इसमें वैसा लिखा है फिर भी परम्पराकार ने इसके नाम पर झूठी बातें बना दी है। अब रही 'समस्त-पटलो' की बात।

पहले तो 'समस्तपटल' शब्द ही भ्रामक है, सम्प्रदाय में पञ्चपटल कहा जाता है। आपने नूतन-परम्परा की पुष्टि में पटलो की बातें उठाई हैं, तो इसका नजारा भी दिखा देना उचित है। रामपटल, सिद्धान्त पटल, पूजा पटल (रामपद्धति), मन्त्र पटल (मन्त्रमुक्तावली), और गायत्री पटल (चतु र्विन्शति गायत्री) यही पंचपटल कहे जाते है, अत अब इनके अनुसार क्रमशः विचार कर परम्पराकार की बातो का रहस्य समझें।

रामपटल में श्रीराममन्त्र के प्रकरण मे 'जानकी ऋषि' लिखा है, तो

इससे इनकार किसको है ? यदि श्रीरामार्चपद्धति की परम्परा की ओर बुद्धि दौड़ाने की नियत होती, तो इस अनर्गल प्रलाप की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। वहाँ तो साफ लिखा है 'जनकजा राम सदा सश्रये' और इसके स्थान में जहाँ लक्ष्मीनारायण लिखा भी गया है, वह अभेद होने के कारण जो कि शास्त्र तथा सम्प्रदाय सिद्ध बात है। इसके अतिरिक्त यदि इतनी दूर दृष्टि दौड़ाना नहीं भी चाहते थे, तो रामपटल ही क्यों नहीं पूरा देख लिया ? क्या उसमें इस सम्बन्ध की इतनी ही बातें लिखी है ? परम्परा के विचार के लिये मन्त्र के ऋषि श्रीजानकीजी को तो आपने देखा, परन्तु उसी में परम्परा का परिचय दिया हुआ है, वह आपको नहीं सूझा ? अच्छा तो अब देखिये।

इसमें चारों सम्प्रदाय के वैष्णवों का 'धामक्षेत्र' लिखा है। धामक्षेत्र में सम्प्रदाय का पूरा परिचय रहता है अर्थात् महात्माओं की बोली में सम्प्रदाय का परिचय को 'धामक्षेत्र' कहते हैं। इसमें चारों सम्प्रदाय के आचार्यों का पूरा नाम धाम और परिचय दिया गया है। सबसे पहली बात तो यह कि उन चारों आचार्यों का नाम जैसा भक्तमाल में लिखा है तथा सम्प्रदाय में माना जाता है, वैसा ही इसमें भी लिखा गया है। अर्थात् चारों सम्प्रदायों के आचार्यों में श्रीरामानुजस्वामी, श्रीनिम्बार्कस्वामी श्रीविष्णुस्वामी एवं श्रीमध्वाचार्यस्वामी को ही गिनाया है और उनका 'धर्मक्षेत्र' दिया है। पुनः श्रीरामानुजस्वामीजी का जैसा धामक्षेत्र दिया है, ठीक वैसा ही श्रीरामानन्दस्वामीजी का भी देकर एक प्रकार से परम्परा की एकता ही स्पष्ट कर दी गयी है। जैसा कि लिखा है—

अथ वक्ष्ये श्रीगुरूणां सम्प्रदाय चतुष्टयम्।
तत्रापि प्रथमं श्रीमद्रामानुज गुरोः क्रमात्।

इस प्रकार प्रारम्भ कर क्रमशः चारों आचार्यों का 'धामक्षेत्र' दिया गया है। इसमें पहले श्रीरामानुजस्वामीजी के विषयमें इस प्रकार लिखा है:-

अयोध्या नगरी क्षेत्रं धनुः कोटिश्च तीर्थकम्।
रामनाथाख्यकं धाम बहुभिः परिकीर्त्तितम्।
तथा सुखविलासः स्याच्चित्रकूटाख्यपर्वतम्।
इष्टं विदेहतनया रघुनाथ उपासना।
षडक्षरं महामन्त्रं कथितं रामतारकम्।

योगवाशिष्टश्च नाम ऋषिश्च कौशिको मुनिः ।
देवता हनुमान प्रोक्तो विष्णुधरश्च श्रीवैष्णवः ।
शाखा अनन्तशाखा च आसनं शुक्लमेवच । इत्यादि

पुनः श्रीरामानन्दस्वामी जी के धामक्षेत्र वर्णन में भी ठीक इसी प्रकार लिखा है । यथाः—

'श्रीरामानन्दगुरुप्रणाली---अयोध्या धर्मशाला, चित्रकूट पुष्व विलास, गोदावरी प्रदक्षिणा, क्षेत्र धनुपतीर्थ, रामनाथ धाम, शुक्लवर्ण, सीता इष्ट रामतारकमंत्र, अनन्तशाखा, लक्ष्मी आचार्य, विश्वामित्र ऋषि, योगवाशिष्ठो मुनि, हनुमान् देवता, विष्वक्सेन पार्षद, इत्यादि ।

इससे भी स्पष्ट है, कि श्रीरामानन्दस्वामीजी श्रीरामानुजस्वामीजी की ही परम्परा मे है, क्योंकि दोनों के धामक्षेत्र भी प्रायः एक है अतः इस वर्णन से नितान्त अभेद ही सिद्ध होते हैं। इसके सिवा अन्य तीनों सम्प्रदायाचार्यो के 'धामक्षेत्र' अलग ही अलग है, उसमें श्रीरामानन्दस्वामीजी का धामक्षेत्र न तो मिलता है न कोई स्वीकार ही कर सकता है। अतः स्पष्ट हो है, कि श्रीरामानन्द स्वामीजी श्रीरामानुज स्वामीजी की ही परम्परा में है ।

अब सिद्धान्त पलट को भी देखिये । इसमे तो और भी साफ लिखा ।

"ॐ आदिशेषलीन्ह लक्ष्मण अवतार, गुरुरामानुज गुण के रासी ।
मत राम रघुनाथ उपासी, श्रीरङ्गधाम हरि निकट निवासी ॥
सीता राम रूप की चाह अचल राज इन्द्र करे ॥इतिसम्प्रदायमंत्र"

इसके बाद पूजापटल (रामपद्धति) को देखिये । इसके तो प्रारम्भ में ही गुरुध्यान मे लिखा है :—

भक्तवत्सलभक्तेशमुत्पन्नं द्राविडेषु तम् ॥१०॥
श्रीरामानुजयोगीन्द्रमत्यादि शरणं भजे ।
श्रीरामाख्यं परं नित्यं जीवनमुक्तस्वरूपम् ॥११॥

शेष मन्त्रपटल (मन्त्रगुणावली) एवं गायत्री पटल (चतुर्विंशति-गायत्री) हैं, किन्तु उसमे केवल मन्त्र और गायत्रियाँ ही हैं, और बातें नहीं लिखी हैं । हां इतनी बात अवश्य है, कि पांचों पटलों के प्रारम्भ मे श्रीमते रामानुजाय नमः लिखा हुआ है जिससे इस सम्प्रदाय का श्रीरामानुजस्वामीजी से सम्बन्ध विदित होता है । पांचो पटलों की उपर्युक्त साक्षी

बातों से यह सन्देह सिद्धहो जाता है। कि श्रीरामानन्दस्वामीजी, श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा में हैं। किन्तु परम्पराकार को पटलो की इन सब बातो की ओर दृष्टि न जाकर केवल'जानकी ऋषि,इतनी ही दिखलाई पडी, यह विलक्षण सूझ है। एक मात्र में केवल 'जानकी ऋषि' लिखा रहने से आपको परम्परा-भेद का अनुमान सिद्ध हो गया। परन्तु परम्परा की एकता की इतनी स्पष्ट बातें लिखी रहने पर भी इस प्रत्यक्ष का ज्ञान नही हुआ यह गनीमत ही है! ठीक है, स्वार्थ-दृष्टि अन्धवेग से ही चलती है।

"इसके बाद श्रीजानकीजी से श्रीहनुमानजी के मन्त्र-ग्रहण करने के प्रमाण मे परम्पराकार ने लिखा है:—

'श्रीरामविजय सुधाकर मे हमारे पूर्वाचार्य श्रीमधुराचार्यजी लिख गये हैं—'सीता शिष्य गुरोर्गुरुम्'। इससे स्पष्ट होगया, कि श्रीहनुमानजी श्रीजानकी जी के शिष्य हैं।"

यहाँ कैसी धूल झोंकी गयी है। आर्षग्रन्थो का प्रमाण नहीं मिला, तो श्रीमधुराचार्यजी (श्रीमधुर अली?) के श्रीरामविजयसुधाकर की बात उठाई। मधुराचार्यजी तो हाल के महात्मा हैं, यदि आचार्यों की ही बातें माननी थी, तो कितने आचार्यों की लिखी हुई प्रचलित परम्परायें वल्कि श्रीनाभाजी के भक्तमाल की परम्परा, परमाचार्य श्रीरामानन्दस्वामी जी कृत श्रीरामर्चन पद्धिति श्रीहर्याचार्यस्वामी जी कृत श्रीरामस्तवराम भाष्य की परम्परा एव परम्परा-परिचय से क्या कोई ईर्ष्या थी? यदि नहीं, तो फिर उन आचार्यों के लेखों के सामने मधुराचार्यजी के लेखो की कौन गिनती है। क्या मधुराजार्यजी उनसे भी प्रामाणिक व्यक्ति है, इसके सिवा नाम भी ऐसे ग्रन्थ का लिया है, कि जिसको कोई जानता ही नहीं है। अतः जो जी में आये, झोंकते जाना आसान ही तो है।

इसके बाद कहा गया है—"पुन.श्रीहनुमानजी ने श्रीराममन्त्र का उपदेश ब्रह्माजी को दिया। प्रमाण सदाशिव-संहिता-

योऽयं महाविभूतस्थो हनुमान् रामतत्परः।
स प्रादाद्ब्रह्मणे तत्र मन्त्रराजं षडक्षरम्॥"

सदाशिव-संहिता में श्रीराममन्त्र की जैसी परम्परा लिखी है वह ऊपर बतलायी जा चुकी है। जिस प्रकार वहाँ इन्होने झूठ मूठ श्लोक गढ़ कर लिख दिया है, उसी प्रकार यहाँ भी किया गया है, अत· इस

सम्बन्ध में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। इससे स्पष्ट है, कि परम्परा के नाम पर केवल झूठी रचना का कन्था तैयार किया गया है।

इसके बाद इसी की पुष्टि में कहा गया है—"पुनः अथर्वण—श्री रामतापनी का प्रमाण—

'त्वत्तो वा ब्रह्मणो वापि ये लभन्ते षडक्षरम्।
जीवन्तो मन्त्रसिद्धाः स्युर्मुक्ता मां प्राप्नुवन्ति ते'

अर्थात् श्रीरामजी शिवजी से कहते हैं, कि हे शङ्कर! हमारी नित्य विभूति से पहले तुमको तथा ब्रह्मा को हमारा मंत्र प्राप्त हुआ है। अतएव तुम्हारी तथा ब्रह्मा की दो राममन्त्र की परम्परा पृथ्वी तल में प्रचलित हुई जो कोई इन दोनो परम्पराओं मे से किसी में भी दीक्षित होकर राममन्त्र का अभ्यास करेगा, वह जीते जी सिद्धि को प्राप्त होकर संसार समुद्र से तर जायगा।

उपर्युक्त मन्त्र के अर्थ पर तो पीछे विचार किया जायगा, पहले जैसा आपने किया है उसकी स्थिति पर ही प्रकाश डाल लें। आपका कहना है, कि श्रीजानकी जी से हनुमानजी ने मन्त्र ग्रहण किया और श्रीहनुमानजी से (नित्य-विभूति) ब्रह्मा तथा शिवजी ने। यदि ऐसा मान भी लिया जाय, तो चारो वैष्णव सम्प्रदायों की स्थिति पर ही पानी फिर जाता है, क्योंकि इस प्रकार से ब्रह्माजी तथा शिवजी भी श्रीसम्प्रदायी ही सिद्ध हो जायगें अतः ब्रह्मसम्प्रदाय एवं रुद्रसम्प्रदाय भी श्रीसम्प्रदाय की शाखामात्र हो जायगा। सम्प्रदाय के संस्थापक श्रीमध्वाचार्यजी एवं प्रचारक श्रीगौड़स्वामी तथा रुद्रसम्प्रदाय के संस्थापक श्रीविष्णुस्वामीजी तथा प्रचारक श्रीवल्लभाचार्य जी भी श्रीसम्पदायी ही सिद्ध होगे, अतः उनका सम्प्रदाय भी श्रीसम्प्रदाय ही होगा, फिर चतुसम्प्रदाय की तो स्थिति ही नही रह जाती। क्या त्रिकाल में भी किसी प्रकार ऐसा सिद्ध हो सकता या कोई मान सकता है! यह खिनवाड़ कब तक अपना कुलवश छोड़कर दूसरे के कुलवंश में घुसने का यही नतीजा है, कि उसकी असलियत पर ही सन्देह उत्पन्न हो जाता है। श्रीसम्प्रदायी बनकर ब्रह्माजी के सम्प्रदाय में घुसने चले है, तो क्या उसके वास्तविक अधिकारी (माध्व सम्प्रदायी) आपको इस रूप में अपना स्वीकार करेगे या दुनिया ही आपको इस रूप में ब्रह्माजी के सम्प्रदाय में मानेगी। अन्त में इसका नतीजा यही होगा 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' न इधर के रहे, न उधर के रहे। यह धाधली अधिक दिन तक चलने की

नहीं है, आखिर कलई खुलने और ठोकरें खाने पर न घर के रहेंगे न घाट के। इसी लिये कहते हैं, कि अब भी समय है, इस पर विचार कीजिये सम्हलिये।

अब उपर्युक्त मन्त्र पर भी एक दृष्टि डालिये। यह रामतापनीयोपनिषद् के उत्तरार्द्ध की चौथी कण्डिका का ११ वाँ मन्त्र है। इसका प्रकरण यह है, कि श्री काशीजी में हजार मन्वन्तर तक शिवजी के जप-होम एवं अर्चनादि करने पर प्रसन्न होकर श्रीरामजीने उनसे कहा, कि जो अभीष्ट हो, माँगो, मैं पूर्ण करूँगा। शिवजीने अविमुक्त क्षेत्र (काशी क्षेत्र) मणिकर्णिका, गङ्गातट में जहाँ भी कोई जीव जन्तु मरें, उनकी मुक्तिके लिये वर माँगा। श्रीरामजीने वरदान की स्वीकृति के ही सिलसिले में उपर्युक्त मन्त्र में कथित बातें भी कही हैं और उसका अर्थ यही है, कि "तुम से और ब्रह्मा से जो षडक्षरमन्त्र (श्रीरामतारक मन्त्र) प्राप्त करेगा, वह जीवित दशा में मन्त्रसिद्धि और मुक्त होने पर मेरी प्राप्ति करेगा।" इसमें कहाँ लिखा हुआ है, कि शिवजीने तथा ब्रह्माजीने हनुमानजी (नित्य विभूति) से मन्त्र ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त इसमें तो यह भी लिखा हुआ है, कि तुमसे (शिवजी से) अथवा ब्रह्माजी से अर्थात् साक्षात् जो मन्त्र ग्रहण करेगा, वह मन्त्रसिद्धि तथा मेरी प्राप्ति करेगा। इसमें तो परम्परा की बात भी नहीं है। किन्तु नूतन परम्पराकार को सब जगह निरालीही सूझती है।

इसके बाद परम्पराकार ने लिखा है—"अनन्तर ब्रह्मा, वशिष्ठ, पराशर, व्यास, शुकदेव द्वारा क्रमशः इस भूलोक में मन्त्रराज का प्रचार हुआ। प्रमाण अगस्त्य संहिता।

'ब्रह्मा ददौ वशिष्ठाय स्वसुतायमनुं ततः।
वशिष्ठोपि स्वपौत्राय दत्तवान्मन्त्रमुत्तमम् ॥
पराशराय रामस्य भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्।
स वेदव्यासमुनये ददावित्थं गुरुक्रमः ॥
वेदव्यास मुखेनात्र मन्त्रा भूमौ प्रकाशितः।
वेदव्यासमहातेजाः शिष्येभ्यः समुपादिशत् ॥

अब इस पर विचार करना यह है, कि ब्रह्माजी को किनसे मन्त्र मिला, और वेदव्यासजी ने किनको मन्त्र दिया। परम्पराकार ने हनुमानजी से

ब्रह्माजी को मन्त्र मिलने को लिखा है, और वेदव्यासजी से शुकदेवजी को, किन्तु उपर्युक्त श्लोक में ये बातें नहीं लिखी हैं, अतः इसका विचार करना आवश्यक है, कि यहाँ इसकी वास्तविक-स्थिति क्या है? सबसे पहली बात तो यह थी, कि जब अगस्त्य संहिता से परम्परा देने चले थे, तो पूरी परम्परा अगस्त्य-संहिता से ही देते। उचित था ऐसे कहीं का काट कर कहीं जोड़ देना तो भानुमती का कुनबा तैयार करना है।

दूसरी बात यह है कि व्यासजी ने शुकदेवजी के मन्त्र पाने के विषय में कोई भी प्रमाण न देकर यों ही मान लिया गया है, अतः उसकी अप्रामाणिकता स्वयं ही स्पष्ट है। अतः उसकी वास्तविक स्थिति उपस्थित कर देना उचित है।

सबसे पहले यही दिखला देना उचित होगा, कि अगस्त्य-संहिता के अनुसार ब्रह्माजी ने किनसे श्रीराममन्त्र ग्रहण किया है। यद्यपि प्रस्तुत-प्रसंग के पृष्ठ १४३ से १४९ तक बृहद्ब्रह्म-संहिता एवं पद्मपुराण (उत्तरखंड) से यह अच्छी तरह दिखलाया जा चुका है। इन दोनों ग्रन्थों से यह भली भाँति सिद्ध है कि उन्होंने भगवान् से ही श्रीराममन्त्र तथा अन्य भगवन्मन्त्रों की भी दीक्षा पाया है। किन्तु ग्रन्थान्तर का प्रमाण यहाँ उपस्थित न कर अगस्त्य संहिता से ही दिखला देना समुचित होगा, कि ब्रह्माजी ने किनसे श्रीराममन्त्र की प्राप्ति की है। परम्पराकार ने अगस्त्य-संहिता से ब्रह्मा जी की जो परम्परा उपस्थित की है वह उक्त संहिता के ८वें अध्याय के प्रारम्भ का है। इससे पहले-चौथे अध्याय में ही ब्रह्मा जी के श्रीराम मन्त्रादि पाने का वर्णन हुआ है। वहाँ लिखा है कि पूर्व समय में श्री ब्रह्माजी ने बहुत मुनियों के साथ दुर्द्धर्ष अनशन व्रत करते हुए ३ सौ करोड़ कल्प तक तप किया। उससे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सर्व आभूषणों से आभूषित शंख चक्र गदा पद्म लिये हुए प्रकट हुए। ब्रह्माजी ने प्रार्थना की। श्रीरामजी ने प्रसन्न होकर अभीष्ट वर मांगने के लिये कहा। ब्रह्माजी ने संसार के कष्टों का वर्णन करते हुए परम मुक्ति के लिये उपाय पूछा। श्रीरामजी ने श्रीरामषडक्षर मन्त्र दे उसका महात्म्य बताकर उनको इस मन्त्र का ऋषि होना भी कहा। जैसा कि लिखा है.—

(ब्रह्मा) कोपायो मनुष्याणां भक्तानां भक्तवत्सल ।।
एतच्छरीर पातान्ते तत्पर मुक्तिसिद्धये ।। २७ ।।
किञ्चिद्विचार्य भगवान् षडक्षरमुपादिशत् ।

एकैकवर्णविन्यासं क्रमाचाङ्गानि षट्पुनः ॥ २९ ॥
मुनिनामपि सर्वेषां तदा ब्रह्मा तदाज्ञया ।
उपादिदेश तत्सर्वं ततस्तं विष्णुरब्रवीत् ॥ ३३ ॥
ऋषिर्भवाऽस्य मन्त्रस्य त्वं ब्रह्मन्सर्वमन्त्रवित् ।
रामोऽहं देवता छन्दो गायत्री छन्दसां परा ॥३४॥

इससे सहज ही स्पष्ट है, अगस्त्य संहिता में ही श्रीब्रह्माजी ने विष्णु भगवान् (श्रीरामजी) से हो श्रीराममन्त्र पाया है यह लिखा है। इसीलिये ब्रह्माजी को इस मन्त्र का ऋषि भी स्वयं भगवानने ही कहा है। फिर भी परम्पराकारने उनको श्रीहनुमानजी से मन्त्र की बात केवल धोखा देने के लिये ही लिख दी है इतना ही नहीं, हनुमानजी का श्रीजानकी जीसे मन्त्र ग्रहण करना लिखकर जो परम्परा जोड़ी है, वह भी सर्वथा अप्रामाणिक अमान्य तथा झूठाही है वास्तविक बात ऐसी है, कि श्रीसम्प्रदाय तथा ब्रह्मसम्प्रदाय भिन्न ही भिन्न है, और यह शास्त्र तथा सम्प्रदाय में विदित तथा सर्वमान्य है। परन्तु परम्पराकार ने दोनो को मिलाकर मनमानी कुनवा जोड़ रक्खा है।

इस बात की स्पष्टता के लिये ब्रह्म-सम्प्रदाय-जिसके संस्थापक श्रीमध्वा चार्यजी हुए हैं, अतः माध्व-सम्प्रदाय भी कहा जाता है-कि परम्परा भी उपस्थित कर देना 'उचित है' जिससे यह और भी स्पष्ट होजाय, कि नूतन परम्पराकार ने अगस्त्य-संहिता की जो परम्परा यहाँ जोड़ कर नूतन-श्रीसम्प्रदाय की कंथा तैयार किया है, वह वस्तुतः ब्रह्म-सम्प्रदाय की परम्परा है, अतः उस सम्प्रदाय के संस्थापक श्रीमध्वस्वामीजी के सम्प्रदाय में वह परम्परा मान्य है। उदाहरण के लिये उस सम्प्रदाय के एक स्थान की परम्परा उपस्थित कर देता हूं जिससे उसका और भी स्पष्टीकरण होजाय।

मध्व-सम्प्रदाय के मूल गादी उड़पी (दक्षिण) के आचार्य श्रीवशिष्ठ जी के शिष्य श्रीरामसखेजी ने मैहर में स्थान बनाया था। यह बहुत ही प्रसिद्ध स्थान है, इस मैहर गादी के ७ वें महन्त श्रीरामरंगीले शरण जीने 'सम्प्रदाय-भास्कर' नामक एक पुस्तिका लिखी है, उसमें उन्होने वैष्णव सम्प्रदाय एवं अपनी परम्परा का भी परिचय दिया है। पहले तो वैष्णव सम्प्रदायों का परिचय देते हुए संहिता, पुराण एवं प्रसिद्धियों के द्वारा उन्होने यह स्पष्ट किया है, कि श्री, ब्रह्म, रुद्र एवं शनकादिक यही

चार वैष्णव-सम्प्रदाय हैं, और उनके संस्थापक श्रीरामानुजस्वामी, श्रीमध्व स्वामी,श्रीविष्णुस्वामी एवं निम्बादित्य स्वामी हे। इसके बाद उन्होने अपने ब्रह्म सम्प्रदाय (माध्व सम्प्रदाय) की परम्परा का वर्णन किया है। अपनी परम्परा का वर्णन करते हुए उन्होने अगस्त्यसंहिता के उपर्युक्त श्लोक को ही अपने सम्प्रदाय के सम्बन्ध में शास्त्रीय प्रमाण में उपस्थित किया है। पुनः पूरी परम्परा लिखी है, और वह वाक्वद्ध तथा श्लोकवद्ध दोनो प्रकार से वाक-परम्परा तो ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही इस प्रकार दी हुई है:—

"वंशावली—(१) आदिगुरु श्रीरामचन्द्रजी (२) श्रीब्रह्माजी (३) श्रीवशिष्ठजी (४) श्रीपराशरजी (५) श्रीव्यासजी (६) मध्वजी" इत्यादि

पुन मूल-ग्रन्थ के ३ रे पृष्ट में श्लोकवद्ध-परम्परा इस प्रकार लिखी है:
आद्यतः गुरू परम्परा लिख्यते:—

रामञ्चाद्यगुरुं धनुर्धरविभुं कामस्य बीज ध्रुव।
सर्वेषामवतारिणं च द्विभुजं वन्दे जगत्कारणम् ॥१५॥
मुक्ताधिपं विरञ्चिमनिश वन्दे वशिष्ठं गुरुं।
वन्देहं च पराशरं कविवरं व्यासं परं स्वामिनम् ॥१६॥
श्रीमध्वं पद्मसामं नरहरिमुनिशं माधवाक्षौम्यतीर्थौ।
टीकाकारो जयार्थान् स्वजनहितरतान् नौमि विद्याधिराजान्१७

इससे स्पष्ट है, कि परम्पराकारने अगस्त्य—संहिता की ब्रह्म सम्प्रदाय की परम्परा को अपनी नूतन-परम्परा में जोड़ कर कंथा तैयार किया है। उससे श्रीसम्प्रदाय की परम्परा की सिद्धि नही होती। वह तो खुलासे तौर पर 'ब्रह्मसम्प्रदाय' (मध्व सम्प्रदाय) की परम्परा है। जो अगस्त्य संहिता और माध्व-सम्प्रदाय की परम्परा से भी भली भाँति सिद्ध है,

अब श्रीव्यासजी से श्रीशुकदेवजी के मन्त्रग्रहण करने की बात पर भी दृष्टि डालिये। परम्पराकार के उपर्युक्त उद्धरण से भी यह स्पष्ट ही है, कि अगस्त्यसहिता में श्रीशकदेवजी के मन्त्र ग्रहण की बात ही नहीं लिखी है। यदि ऐसा कहें, कि "वेदव्यासो महातेजाः शिष्येभ्य समुपादिशत्" से श्रीशुकदेवजी को शिष्य मान लेंगे, तो यह भी नही चलने का, क्योंकि एक तो शुकदेवजी का नाम नही रहने से मनमानी मानना

अप्रामाणिक होगा ही; दूसरे वहाँ शिष्यों में प्रधान शिष्य श्रीशौनक बताये गये है। जैसा कि लिखा है:—

"वेदव्यासो महा तेजाः शिष्येभ्यः समुपादिशत् ॥ ३ ॥

गुरुशिष्यगुणनादौ शौनकायाब्रविन्मुनिः ।

स शौनकेन पृष्टः सन्नाहमन्त्रान्तराणि च ॥ ४ ॥

इससे स्पष्ट है, कि यदि श्रीशुकदेवजी भी श्रीव्यासजी से मन्त्र लिये होते, तो उनके शिष्यो में प्रधान रूप से इनका ही नाम आता क्योंकि शौनकजी से इनका दर्जा बहुत ही बढ़ा चढ़ा है। किन्तु यहाँ उनका नाम न आकर शौनकजी का ही आया है, इससे भलीभाँति सिद्ध है, कि शुकदेवजी व्यासजी के शिष्य नहीं हैं। इसके अतिरिक्त महाभारत से यह भी सिद्ध होता है, कि श्रीशुकदेवजी ने मोक्षमार्ग की दीक्षा नारदजी से ली थी, व्यासजी से नहीं; व्यासजी तो उनके पिता तथा विद्यागुरु थे। किन्तु धार्मिक-परम्परा में तो मोक्षमार्ग की दीक्षा से ही सम्बन्ध माना जाता है। अतः सिद्ध है, कि शुकदेवजी, नारदजी के शिष्य होने के कारण इनकी ही परम्परा में हुए, व्यास जी की परम्परा में नही। जैसा कि महाभारत के शान्तिपर्व के मोक्षधर्म के ३२९ वें अध्याय से ३३३ वें अध्याय तक भलिभाँति वर्णित हैं। वहाँ स्पष्ट ही लिखा हुआ है, कि श्रीशुकदेवजी ने श्रीनारदजी से मोक्षधर्म का उपदेश पाकर परमपद प्राप्त किया। यथा शान्ति पर्व के ३२६ वे अध्याय से इस प्रकार प्रारम्भ किया है :-

भीष्म उवाच।

एतस्मिन्नन्तरे शून्ये नारदः समुपागमत् ।

शुकं स्वाध्यायनिरतं वेदार्थान् प्रष्टुमीप्सया ॥ १ ॥

देवर्षिं तु शुको दृष्ट्वा नारदं समुपस्थितम् ।

अर्घ्ये पूर्वेन विधिना वेदोक्तेनाभ्यपूजयत् ॥ २ ॥

नारदोऽहथाब्रवीत् प्रीतो ब्रूहिधर्मभृतांवर ।।

केन त्वां श्रेयसा वत्स योजयामीति हृष्टवत् ॥ ३ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा शुकः प्रोवाच भारत ।।

अस्मिन् लोके हितं यत् स्यात्तेन मां योक्तुमर्हसि॥ ४ ॥

इसके बाद श्रीनारदजी ने मोक्षधर्म का उपदेश शुरू किया है। इन उपदेशो का वर्णन करते हुए ३३१ वें अध्याय के अन्त में लिखा है, कि

सब के सब जाली अथवा किसी एक जगह से पूरा न लेकर टुकड़ियों के रूप में नोचे हुए हैं. और उसीसे नूतन परम्परा के रूप में यह कथा तैयार किया गया है। अतः उनकी सारी जालसाजी पूरी तरह प्रकट हो रही है।

परम्पराकार ने अपनी नूतन-परम्परा के समर्थन में शास्त्रीय प्रमाणों की तो इस तरह दुर्दशा की; किन्तु जब आपको इतने पर भी सन्तोष नहीं हुआ तो आगे इतिहास की दुर्दशा करने के लिये भी कमर बाँध ली है। आप फर्माते हैं:—

"ये तो हुए शास्त्रीय प्रमाण। अब ऐतिहासिक प्रमाण भी सुन लीजिये। हमारे परमपूज्य आचार्य श्रीस्वामीरामानन्दजी महाराज के समकालीन काशीपुरी में मौलाना रशीद नामक एक मुसलमान सन्त हो गये हे। उहोंने "तजकीर तुलफकरा" नाम से एक पुस्तक फारसी भाषा में लिखी है। जिसमें विशेषत मुसलमान फकीरों की चर्चा की है और प्रसिद्ध हमारे हिन्दूसन्तो की भी महिमा गायी गयी है। उसी पुस्तक में उक्त मौलाना ने हमारे स्वामी जी की लोकोत्तर आध्यात्मिक शक्ति का परिचय देते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि स्वामीजी आदि श्रीसम्प्रदाय के आचार्य हैं इस मार्ग की मूल प्रवर्तिका श्रीसीताजी हैं, उन्होंने सबसे पहले इस सिद्धान्त का उपदेश देव स्वभावी हनुमानजी को दिया और भगवान् आञ्जनेय के द्वारा इस मन्त्र का प्रचार हुआ इसलिये इस तरीके का नाम श्रीसम्प्रदाय है और उपदेश मन्त्र को रामतारक कहते हैं।

देखिये, इतिहास के नाम पर किस प्रकार दिन दहाड़े आंख में धूल झोंकने की चेष्टा की गयी है? श्रीरामानन्दस्वामीजी के समय से आजतक सैकड़ों-हजारो प्रसिद्ध इतिहासकार हो गये हैं, किन्तु आपने उन सबो को छोड़कर ऐसा इतिहास तथा इतिहासकार ढूंढ़ निकाला, जिसकी दुनियाँ में स्थिति ही नहीं है। क्यो न हो, आप अलौकिक-खोजी ठहरे, और आपकी 'पुरातत्वानुसन्धायिनी-समिति' भी अलौकिक ही ठहरी, फिर उसकी कृतियाँ क्यो न अलौकिक हों। यही कारण है, कि अलौकिक नूतन-परम्परा के समान ही उसके प्रमाण भी अलौकिक ही ढूंढ़ ढूंढ़ कर उपस्थित किये गये हैं। अत इसकी स्थिति दुनियाँ मे क्यो होने लगी? इसके सिवा लिखी भी है ऐसी बातें, जो किसी लौकिक-पुरुष को नहीं सूझी। जो बात श्रीरामानन्दस्वामीजी को अपने सम्बन्ध में भी ज्ञात नहीं थी और न उनकी चौथी पीढ़ी में होनेवाले श्रीनाभाजी को ही ज्ञात थी, वह मौलाना रशीद की दिव्य-दृष्टि में आयी। यही तो अलौकिकता

है ! इसीसे तो श्रीअग्रदासजी का नाम पर आपकी गढ़ी हुई अलौकिक-परम्परा उनके शिष्य नाभाजी को भी ज्ञात न थी ? इसके बाद श्रीसम्प्रदाय की मीमांसा के रूप में कहा गया है—

"श्रीसम्प्रदाय की दो शाखायें हैं, एक श्री शब्दवाच्या श्रीजानकीजी के द्वारा श्रीराममन्त्रराज की परम्परा प्रकट हुई और दूसरी (श्रीशब्दवाच्या) श्रीलक्ष्मीजी द्वारा प्रकट हुई। यदि कहो, कि जानकीजी श्रीशब्दवाच्या हैं, यह कहाँ लिखा है तो समाधान यह है कि श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण युद्ध काण्ड सर्ग ११३ श्लोक २२ में लिखा है—"वसुधाया हि वसुधा श्रियाः श्री भर्तृवत्सलाम् ।"

"अब यहाँ पर यह विचार करना है, कि उपर्युक्त दोनों शाखाओं में मुख्यतः कौन सी शाखा चार सम्प्रदाय की गणाना में है। इस पर प्रथमतः पूर्वाचार्यों के आविर्भाव पर विचार करने से यह सिद्ध है, कि सर्वश्रेष्ठ श्रीसम्प्रदाय के मुख्य आचार्य प्रधान रूप से श्रीरामानन्दस्वामी ही हैं। क्योंकि उक्त स्वामीजी साक्षात् श्रीरामजी के अवतार हैं और श्रीरामानुज स्वामी श्रीशेषांश हैं।"

इसमें सबसे पहली बात तो यह है, कि जब 'जानकीजी' एवं 'लक्ष्मी जी' में ही भेद मानकर मूल में ही आप विभिन्नता मान रहे हैं, क्योंकि दोनों का वाचक शब्द (श्री) एक होते हुए भी वाच्य (लक्ष्मी एवं जानकी में भिन्नता माना है, जैसा कि वाचक शब्द 'कनक' से 'धतूरा' और सोना दो वाच्य (पदार्थ, व्यक्ति) का बोध होता है और वे दोनो एक पदार्थ नहीं, बल्कि दो भिन्न भिन्न पदार्थ है—तो फिर शाखा कैसे ? क्योंकि शाखा तो उसे कहते हैं, जो एक ही जड़ से उत्पन्न वृक्ष के भिन्न भिन्न विभाग हो ? अतः व्यक्तित्व मे भेद मानने से शाखा नहीं कहा जा सकता। और जब दो स्वतन्त्र परम्परा हो गयी तो फिर वैष्णवों के चार सम्प्रदाय क्यों पाँच-सम्प्रदाय हो गये। किन्तु क्या ऐसा है ? इसके सिवा कलि में चारों सम्प्रदाय के चार ही संस्थापकाचार्य हुए हैं, किन्तु आपकी राय से तो ५ हो जाना चाहिये था। इसके सिवा हरेक सम्प्रदाय के ग्रन्थों एवं शास्त्र में श्रीसम्प्रदाय के संस्थापक श्रीरामानुजस्वामीजी ही माने गये हैं। अतः आपको कल्पना के लिये कोई राह भी है ? यदि वाल्मीकि-रामायण का प्रमाण मानकर आप श्रीजानकीजी को 'श्रीजी' मानते हैं, तो फिर उसी ग्रन्थ में और आगे बढ़ कर भी क्यो नही झांक लिया ? लंकाकाण्ड में तो स्पष्ट ही लिखा है, कि श्रीजानकीजी श्रीलक्ष्मीजी ही हैं ।

फिर दो शाखा की बात ही कैसी ? यह केवल भ्रम विलास है। आप कहते हैं, कि 'श्रीशब्दवाच्या श्रीजानकीजी से श्रीराममन्त्रराज की परम्परा प्रकट हुई'। किन्तु बृहद्ब्रह्म-संहिता से स्पष्ट है, कि श्रीलक्ष्मीजीने भी भगवान् से श्रीराममन्त्रराज की दीक्षा पायी है और उसका प्रचार किया है। और कलि में उसके प्रचारक शठकोप स्वामी एवं रामनुजस्वामी हुए। अतः बिलकुल अभेद ही सिद्ध होता है। भेद और शाखा मानना भ्रमविलास है।

इसके सिवा एक बात और यह है कि श्रीरामानुजस्वामी शेषांश है और श्रीरामानन्दस्वामी साक्षात् श्रीरामजीके अवतार हैं, तो इससे क्या ? क्या आचार्यों के लिये भगवान् का अवतार होना ही चाहिये। यदि ऐसा कहें तो किसी सम्प्रदाय के ग्रन्थ अथवा शास्त्र में आचार्यों के लिये भगवान् के ही अवतार होने की आवश्यकता नहीं लिखी, बल्कि भगवान् के सेवक वर्गों का आचार्य के रूप में अवतार लेने और भागवत धर्म के प्रचार करने को लिखा है, जैसा कि मान्य प्रमाण प्रकरणादिमें पहले ही दिखाया जा चुका है। और यही युक्ति युक्त भी है, क्योंकि यह भी एक प्रकार से भगवान् की सेवा ही है जो उनका धर्म ही है। इसके सिवा जब दो भिन्न शाखा ही नहीं सिद्ध होती तो प्रधान गौण का तो विवाद ही नही उठता।

इसके बाद परम्पराकारने भविष्य पुराण के तृतीय प्रतिसर्ग पर्व के अध्याय २ रे खण्ड ३२ वें द्वारा ही यह सिद्ध करने की चेष्टा की है, कि 'चारो वैष्णव सम्प्रदायों के आचार्य सूर्यबिम्ब से अर्थात् सूर्यान्तर्यामि प्रभु से प्रकट हुए हैं और उनके नाम श्रीरामानन्द, श्रीनिम्बादित्य, श्रीमध्वाचार्य एवं श्रीविष्णुस्वामी है' अन्त मे निष्कर्ष निकाला है कि 'उपर्युक्त भविष्य वाक्यो से निश्चय होता है, कि श्रीसम्प्रदाय के मुख्य आचार्य श्रीरामानन्द स्वामी ही हैं।" अतः इसकी असलियत का खुलासा कर देना भी उचित है।

सबसे पहली बात तो यह, कि भविष्यपुराण में न तो चारों वैष्णव-सम्प्रदायों का जिक्र है, न उसके आचार्य की हैसियत से इन सबों का वहां वर्णन ही हुआ है, बल्कि महापुरुप की हैसियत से इनका तथा अन्य लोगो का भी उसमें वर्णन है, अतः उससे यह सिद्ध नही होता, कि ये ही चारों भागवत-सम्प्रदायाचार्य हैं। यदि यह कहे कि केवल इनका ही आविर्भाव सूर्य बिम्ब से हुआ है, इसलिये इनको ही आचार्य मानना पड़ेगा, तो ऐसी बात भी नही है। वहाँ और भी कितनों का बल्कि अधिक का, आविर्भाव सूर्यबिम्ब से ही बतलाया गया है। क्यों न हो, वह तो विशेषतः सूर्यमहिमा

का ग्रन्थ ही है। इसके सिवा ऐसी बात भी नहीं है, कि इन सबों का एक क्रम में वर्णन हुआ है, इस लिये इनको ही चारों वैष्णव सम्प्रदायाचार्य मानलें, बल्कि बीच मे दूसरों का भी वर्णन तथा सूर्यबिम्ब से ही आविर्भाव लिखा हुआ है। फिर वे बीच वाले क्यों न आचार्य मान लिये जायँ ? इसके अतिरिक्त एक बात और भी है। परम्पराकार ने श्रीनिम्बादित्यजी का सूर्यबिम्ब से प्रकट होना लिखा है, परन्तु भविष्य पुराण मे उन्हे सुदर्शन का अवतार लिखा है। अतः इसे भविष्य पुराण से कुछ और खुलासा कर देना उचित है।

भविष्य पुराण के प्रतिसर्ग पर्व के चतुर्युग खण्डापरपर्याय के ७ वें अध्याय से १४ वें अध्याय तक धर्माचार्यों भक्तो एव विद्वानो का मिश्रित तौर पर वर्णन हुआ है, किन्तु परम्पराकार ने ३२ वाँ अध्याय बतला दिया है। यह इसी लिये की असलियत खोजने मे अड़चन पड़े। दूसरे श्रीनिम्बादित्यजी के आविर्भाव के सम्बन्ध मे आपने श्रीराममंत्रराज परम्परा में इस प्रकार उद्धरण दिया है।

"कलौ भयानके देवा मदंशोहि जनिष्यति।
लिम्बादित्य इति ख्यातो देवकार्य करिष्यति॥"

किन्तु यह श्लोक सरासर कृत्रिम और झूठा बनाकर उपस्थित किया गया है। भविष्य पुराण के उपर्युक्त ७ वें अध्याय के ६७—६८ वें श्लोक में उनका आविर्भाव इस प्रकार लिखा है:—

"सुदर्शनो द्वापरान्ते कृष्णाज्ञप्तो जनिष्यति।
निम्बादित्य इति ख्यातो धर्मग्लानिं हरिष्यति॥"

अब वर्णन क्रम पर भी ध्यान दीजिये। सातवें अध्याय में श्रीरामानन्द स्वामीजी का अवतार सूर्य्यबिम्ब से लिखा है। पुन: श्रीनिम्बादित्य जीका अवतार सुदर्शन से दिया है। पुनः आठवें अध्याय मे श्रीमध्वाचार्यजी का आविर्भाव सूर्यांश से लिखा है। इसके बाद श्रीधरस्वामी को सूर्य का अवतार बताया है। पुनः श्रीविष्णुस्वामी को भी सूर्य का ही अवतार लिखा है। इसके बाद पं० (वाणीभूषणजी कान्यकुब्ज) भट्टोजी दीक्षित बराह मिहिर, जयदेव आदि का अवतार भी सूर्य का ही लिखा है। पुनः अन्य लोगों का वर्णन करते हुए १४ वें अध्याय मे श्रीरामानुज स्वामीजी को शिवजी का अवतार लिखा है। अब यदि आप के अनुसार लिया जायगा, तो श्रीरामानन्दस्वामी, श्रीनिम्बादित्य स्वामी,

श्रीमध्वाचार्य्यस्वामी तथा श्रीधरस्वामी जी पर ही चार संख्यायें पूरी हो जाती हैं, अतः इन्ही को वैष्णव सम्प्रदायाचार्य मानना पड़ेगा। यदि सूर्य्य से अवतरित होने की दृष्टि से चुने जायेंगे, तो श्री निम्बादित स्वामी जी को भी छोड़ कर अन्य बहुतो को वैष्णव सम्प्रदायाचार्य मानना पड़ जायगा। यदि क्रम और सूर्यावतार दोनो की सम्मिलित-दृष्टि से चुनेंगे, तो भी श्रीनिम्बार्दित्य स्वामी जी को छोड़ कर श्रीधरस्वामीजी को ही लेना पड़ेगा। इसके सिवा चौथी कोई राह नही है, क्योकि वहा वैष्णव सम्प्रदाय और उसके आचार्यो के अवतार का जिक्र ही नही है।

इसके अतिरिक्त अब जरा भविष्य पुराण की बातो की प्रामाणिकता की स्थिति पर भी एक दृष्टि डाली जाय। यहाँ से आगे १८-१७ वें अध्याय में श्रीरामानन्दस्वामीजी के शिष्यो का वर्णन हुआ, उसमें पीपा जी को दक्षिण देश के वणिक कुल में जन्म होना लिखा है, परन्तु यह इतिहास प्रसिद्ध तथा निश्चित बात है, कि वे मालवा के गागरौनगढ़ के क्षत्रिय राजा थे। यही बात श्रीप्रियादास जी ने भी भक्तमाल की टीका में लिखी है। इसी प्रकार इसी अध्याय में नरसी भक्त को गुजरात देश के वैश्य कुल में जन्म होना लिखा है। किन्तु यह सब कोई निश्चित रूप से जानता है, कि वे गुजरात प्रदेश के जूनागढ़ के नागर ब्राह्मण थे। इसी लिये उनका पूरा नाम भक्त नरसीमेहता या नरसिमेहता कहा जाना, तथा लिखा भी है। मेहता, गुजरात के नागर-ब्राह्मण हैं, यह सब कोई अच्छी तरह जानता है, ऐसी निश्चित सत्य बात के लिखने में भी ऐसी गलती की गयी है। इतना ही नही, आगे चल कर तो लेखक ने गलती और मनमानेपन की पराकाष्ठा कर दी है। १९ वें अध्याय में श्रीविष्णु स्वामी और श्री मध्वाचार्यस्वामी जी को भी कृष्णचैतन्यजी का शिष्य होना लिखा है। भला इस अनर्गल प्रलाप को कोई भी विवेकशील पुरुष त्रिकाल में भी मान सकता है? ये दोनो वैष्णव-सम्प्रदाय के संस्थापकाचार्य श्रीकृष्णचैतन्यस्वामी जी से बहुत पहले होगये हैं, यहाँ तक श्रीमध्वाचार्यो की ही वंश-परम्परा में श्रीकृष्णचैतन्य स्वामी हुए हैं, उनको इनका शिष्य होना लिख दिया है। इसी प्रकार इसमें और भी बहुत सी अनर्गल और मन मानी बातें लिखी भरी हैं। इससे इस ग्रन्थ को सब कोई बनावटी और झूठा ग्रन्थ मानते हैं, कि परम्पराकार इसी को अपनी कीर्ति का स्तम्भ मान रहे है। किन्तु आप का अभीष्ट तो इससे भी सिद्ध नही होता, क्योकि अवतार-वर्णन से चारो

वैष्णव-सम्प्रदायाचार्यों की गणना हो ही नहीं सकती। उसमें श्रीविष्णु स्वामी तथा श्रीमध्वाचार्य जी श्रीकृष्णचैतन्य के शिष्य ही हो गये! अब आपके चार सम्प्रदाय का क्या रूप रह गया। इसी से समझ लेना चाहिये, कि नूतन-परम्परा के असलियत की क्या स्थिति है।

इसके आगे परम्पराकार ने शब्द कल्पद्रुम तथा वाचस्पत्यभिधान कोष की 'सम्प्रदाय' शब्द की व्याख्या स्वीकार कर उसे प्रमाण रूप उपस्थित किया है, इसमे उन्होने दूषित स्वार्थ-सिद्धि जन्य पतनकी पराकाष्ठा दिखा दी है। उक्त कोषो मे 'शक्तिसगमतन्त्र' नामक शाक्तों के एक ग्रन्थ से भी वैष्णवो के लक्षण उद्धृत किये गये हैं, जिसमे वैष्णव सिद्धान्त एव मान्यता के विरुद्ध मनमाने लक्षण विभाग एव दूषित आक्रमण हुआ है, परम्परा-कार ने उसीको प्रमाण मानकर यहाँ उपस्थित किया है। इसका अर्थ क्या है? क्या उसमे की गई अपनी निन्दाओ को स्वीकार करना नही है? अत. मैं उसको यहाँ उद्धृत कर देता हूँ, जिसमें सब लोग उस प्रमाण की स्थिति और परम्पराकार के नीयत एवं क्रिया कलाप का स्वयं विचार कर ले। परम्पराकार ने लिखा है:—

"शब्द कल्पद्रुम तथा वाचस्पत्यभिधान नामक कोष ग्रथोंमें 'सम्प्रदाय' शब्द के अर्थ के अन्तर्गत लिखा है:-

पद्मपुराणे—अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः।
श्री-माध्व-रुद्र-सनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः॥
रामानन्दो हविष्याशी निम्बार्कश्च महेश्वरि।,,

उपर्युक्त इन सब प्रमाणों से सिद्ध है, कि श्रीसम्प्रदाय के प्रधान आचार्य श्रीस्वामीरामानन्दजी ही हैं।

उपर्युक्त कोषों में से पद्मपुराण के नाम पर जो यहाँ डेढ़श्लोक उद्धृत किये गये हैं, वे उन कोषो में इस रूप में नही है, वलिक उनमें ऊपर की दो पंक्तियाँ (एक श्लोक) तो पद्मपुराण के नाम पर उद्धृत की गयी है और तीसरी पंक्ति शक्ति सगमतन्त्र के नाम से, और वस्तुतः है भी ऐसी ही, परन्तु परम्पराकार ने धोखा देकर मतलब साधने के लिये दोनो को एक साथ मिला दिया है। अत. इनकी वहाँ जैसी स्थिति है, उसे उद्धृत कर देता हूँ।

"सम्प्रदाय विहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मताः।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः॥

श्री माध्व-रुद्र-सनका वैष्णवाः क्षिति पावनाः' इति श्रीपद्मपुराणोक्तम् तन्त्रोक्त वैष्णव सम्प्रदाया यथा –

श्रीशिव उवाच–

१ वैखानः सामवेदादौ २ श्रीराधावल्लभी तथा ।
३ गोकुलेशो महेशानि ! तथा ४ वृन्दावनी भवेत् ॥
५ पान्चरात्रः पन्चमः स्यात् षष्टः ६ श्रीवीरवैष्णवः ।
७ रामदन्दी ८ हविष्याशी ६ निम्बार्कश्च महेश्वरि !
ततो १० भागवतो देवि ! दश भेदाः प्रकीर्त्तिताः ॥

इसके बाद इन दशो के लक्षण दिये गये हैं उसमें से कुछ के लक्षण यहाँ उपस्थित कर देते हैं:—

"अन्तः शक्तिपरो देवि ! बहिर्वैष्णवरूपधृक् ।
गन्धर्वाचारनिरतो लतावेष्टन तत्परः ॥
सम्प्रदायो गोकुलेशः सर्व ासिद्धिकरा भुवि ॥
रा शक्तिरिति विख्याता म शिवः परिकीर्तितः ।
तदानन्दी शान्तचित्ती प्रसन्नात्मा विचारधृक ।
सर्वत्र समरूपश्च रामानन्दी प्रकीर्त्तितः ॥,, इत्यादि

इति शक्ति संगम तन्त्रे १ खण्ड ८ पटलः ।"

इससे सहज ही स्पष्ट हो जाता है, कि परम्पराकार ने दोनों ग्रन्थों के प्रमाणों से चिथड़ा लेकर कथा बनाया और यहाँ प्रमाण रूप में उपस्थित किया है, जिससे लोगों को भ्रम हो और आप का मतलब सधे। किन्तु इसकी वास्तविक स्थिति आपके कुमनोरथ पर पानी फेर डालती है। उपर्युक्त कोपो मे पद्मपुराण के जो श्लोक उद्धृत किये गये हैं, उससे तो कोई इनकार ही नही है, किन्तु उससे तो परम्पराकार का मनोरथ किंचित् अंश में भी सफल नहीं होता। अब शक्तिसंगमतन्त्रोक्त प्रमाणों पर दृष्टि डालिये कौन सा ऐसा वैष्णव होगा, जो इसको स्वीकार करेगा। वैष्णवो के मूल–सम्प्रदायों–श्रीब्रह्मरुद्र सनकादि—के नाम तो नहीं ही आये हैं, उनके संस्थापकों आचार्यों में से श्रीनिम्बार्कस्वामी के सिवा किसी के नाम नही

हैं। श्रीरामानुजस्वामीजी का नाम नही आने पर परम्पराकार हर्षोत्फुल्ल होकर फर्माते हैं, कि "इससे सिद्ध है, कि श्रीसम्प्रदाय के प्रधान आचार्य श्रीस्वामीरामानन्दजी ही हैं।" इससे तो आपका यही भाव प्रकट होता है, कि शक्तिसंगम तन्त्र में जिन आचार्यों के नाम नहीं आये हैं, उनकी गणना ही नहीं। किन्तु श्रीमध्वाचार्य एवं श्रीविष्णुस्वामीजी के नाम भी तो इसमें नही आये हैं, तो उनको भी सम्प्रदायाचार्य पद से वञ्चित करना आपका अभीष्ट है न? आपका अभीष्ट हो भी तो यह कभी प्रामाणिक एवं वैष्णव सम्प्रदाय मान्य तो नही ही हो सकता।

इसके अतिरिक्त श्रीरामानन्दस्वामीजी के नाम आने पर तो आप इतने वहाल हैं। किन्तु उनके परिचय में क्या लिखा है इस पर ध्यान ही नहीं दिया। उसमें श्रीरामानन्दस्वामीजी को 'राम' शब्द द्वारा शक्ति एवं शिवजी की उपासना में मग्न रहना और सर्वत्र इसी रूप का दर्शन करना माना है। इससे स्पष्ट ही है, कि उनको वैष्णव होते हुए भी तत्वतः शैव-शाक्त कहा है। इसी प्रकार गोकुलियों के लिये भी कहा है, वल्कि उनके विषय में तो और भी स्पष्ट कहा है, कि वे अन्तः शाक्त और बहिर्वैष्णव हैं। भला इससे बढ़कर और आक्रमण क्या हो सकता है। उसमें वैष्णव धर्म पर आक्रमण किये गये हैं, यह तो कोई बडी बात नहीं है, क्योंकि वह शाक्तो का ग्रन्थ है, परन्तु परम्पराकार ने उसको वैष्णवों के लिये प्रमाणिक मानकर उपस्थित किया है, यही दुःख का विषय है। क्यों न हो "विवेकभ्रष्टाना भवति विनिपातः शतमुखः।" सबसे पहले तो वह शाक्तों का तन्त्र ग्रन्थ होने के कारण वैष्णवो के लिये अप्रामाणिक था, दूसरे उसकी बात भी अप्रामाणिक एवं ऊटपटाग थी, तीसरे उसमें वैष्णवो की निन्दा थी, इतने पर भी परम्पराकार ने उसे प्रामाणिक मान कर उपस्थित किया है। किन्तु यह इसके आधार पर निश्चित की हुई वातें वैष्णवों के कितना मान्य है, यह सब कोई स्वयं ही विचार कर सकते हैं।

पुनः परम्पराकार ने अन्त में लिखा है -

"भारत के इतिहास से भी पता चलता है, कि गोसाइयो के प्रति भट अन्य तीनों सम्प्रदायो के साथ श्रीरामानन्दीय वैष्णव दल ही है। चढावो पर भी चतुः सम्प्रदाय की गणना में रामानन्दीय दल ही है।...और देखिये, हम चतुः सम्प्रदायी विरक्त हैं। चारों सम्प्रदाय के साधु एक पक्ति में बैठ कर भगवत् प्रसाद पाते हैं। चारो सम्प्रदाय की जय बोलने की भी

रीति प्रचलित है। चारों सम्प्रदाय वाले सदा कराठी धारण करते हैं और चतु सम्प्रदायी श्रीरामकृष्ण लीला को नित्य मानते हैं, आराधना परात्पर रूप से करते हैं एवं चतुः सम्प्रदायी श्रीभागवत धर्म को मुख्य मानते हैं। अतएव यह बात हर तरह से सिद्ध हो गई कि मुख्यतः श्री सम्प्रदायी श्रीरामानन्दीय वैष्णव ही हैं।"

इस पर विचार पूर्वक दृष्टि डालने से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है, कि यहां भी एकांगी बात लिख कर आँख में धूल झोकने की ही चेष्टा की गयी है, इसके आधार पर जो निष्कर्ष निकाला गया है, उसमें कुछ भी तत्व नहीं है। यह प्रसिद्ध बात है, कि गोसाईयों के मुकाबले में श्रीबाला नन्द स्वामीजी ने जो चतु' सम्प्रदायी वैष्णवों की सेना तैयार की थी, उसमें चारों सम्प्रदायों में से भिन्न—शाखाओं के ही लोग सम्मिलित हुए थे, सर्वाङ्ग कोई सम्प्रदाय सम्मिलित नहीं हुआ था क्योंकि उसमें उत्तर-भारत में जो विरक्त वैष्णव थे, वही सम्मिलित हुए थे। दक्षिण-भारत के किसी भी वैष्णव-सम्प्रदाय के लोग इसमें सम्मिलित नहीं हुए थे। ऐसी अवस्था में दक्षिण के आचारी वैष्णवो के इसमें सम्मिलित नही होने से यह कैसे सिद्ध हुआ, कि वे चतु. सम्प्रदाय में नही हैं, तब तो आपके मतानुसार दक्षिणीय मध्वादि वैष्णव भी चतुः सम्प्रदाय से बाहर हीं माने जायँगे? इसके सिवा यदि विरक्त रहने एवं एक साथ खाने वालों को ही आप चतुः सम्पदायी वैष्णवों के अन्तर्गत मानते है, अन्य को नहीं, तब तो बल्लभी-राधा वल्लभी, गौड़िया एवं दक्षिणीय मध्वादि सम्प्रदाय को भी आप चतुः सम्प्रदाय से बाहर ही मानेंगे, क्योकि इनमें आचार्य लोग गृहस्थ है और उनका इस चतुः सम्प्रदायी समाज के साथ खान पान भी नही है? यह चतुः सम्प्रदाय तो वैष्णव-सम्प्रदाय की रक्षा के लिये सेना तैयार हुई थी, जो सभी वैष्णव सम्प्रदाय की रक्षा करती और सबों से पूजित भी होनी थी। कौनसा वैष्णव सम्प्रदाय है, जो इन अखाड़ों का सत्कार नही करता। किन्तु यदि यह कहे, कि इसमें सम्मिलित है, वही चतु, सम्प्रदायी वैष्णव है, तो यह हो ही नहीं सकता, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। रह गयी कंठी धारण की बात। तो समाज मे कंठी का भी एक सा नियम नहीं है। कोई एक लड़ी माला, कोई दुहरी कराठी, कोई हीरा, कोई हर समय कोई समय समय पर धारण करते है। अतः इसके लिये कोई नियम या विभाग नही हो सकता और श्रीराम कृष्ण की लीला कौन नही नित्य मानता। और कौन से उपासक है, जो इष्ट को परात्पर नहीं

मानते। यह कौन सी दलील है ! और "चतु'सम्प्रदायी श्रीभागवत धर्म को मुख्य मानते हैं, इसका क्या अर्थ है ? ऐसा कौन सा वैष्णव है, जो भागवत धर्म को मुख्य नहीं मानता ? मुख्य नहीं मानेगा, तो वह भागवत कैसे ? यह उटपटांगे बात कैसी ? केवल कुछ न कुछ अनर्गल बकना टहरा। अतः इन सब भ्रामक एवं निरर्थक कथनों से सारी जालसाजी प्रसिद्ध ही हो गयी।

इस प्रकार श्रीराममन्त्रराज परम्परा अर्थात् नूतन-परम्परा की सिद्धि के लिये लिखी हुई भूमिका में जो कलाबाजियाँ एव जालसाजियाँ की गयी है, उसका तो भली भाँति भण्डाफोर करके दिखाया जा चुका, अब उस परम्परा की टीका में जो उसके समर्थन के लिये युक्तियाँ भिड़ायी गयी हैं, उसकी निस्सारता भी दिखा देनी उचित है। यद्यपि उसके समर्थन के लिये उपर्युक्त भूमिका में जो प्रमाण संग्रह एवं विवेचन किये गये हैं, प्राय' उसीका समावेश इस टीका मे भी है, अतः उसके ही रहस्योद्घाटन से इसका भी अपने आपही भण्डाफोर हो जाता है, इसलिये इसकी पुन. आलोचना की आवश्यकता भी नही है: किन्तु इसमें कुछ और बातें भी कही गयी हैं, अत' इस पर भी एक नजर डाल लेने की आवश्यकता है !

यह पहले कहा जा चुका है, कि नूतन-परम्परा को विचार सुविधे के लिये दो टुकड़ों में बांट सकते हैं, एक ऋषि-परम्परा जो ऋषि प्रणीत ग्रन्थो से सिद्ध तथा ऋषियों तक ही सीमित है, दूसरी आचार्य-परम्परा जो आचार्यकृत लेखों या अन्य प्रमाणो से सिद्ध और जिसमें ऋषियो के बाद की धारा और सम्बन्ध का वर्णन है। इसमें जिसका उल्लेख ऋषि-परम्परा के नाम से किया गया है, उससे तात्पर्य श्रीरामजी से श्रीशुकदेवजी तक की परम्परा से है। इसमें श्रीब्रह्माजी से श्रीव्यासजी तक की परम्परा तो अगस्त्य-संहिता में लिखी हो हुई है, अतः इसमें ब्रह्माजी का श्रीजानकी जी से तथा शुकदेवजी का व्यासजी से सम्बन्ध विचारणीय है इस विषय में भूमिका में जो विवेचन तथा प्रमाण दिये गये हैं, उस पर तो पहले ही विचार किये जा चुके है। अब यहाँ जो कुछ नई युक्तियाँ भिड़ाई गयी है, उस पर एक दृष्टि डालनी है।

सबसे पहले श्रीजानकीजी से ब्रह्माजी के परम्परा सम्बन्ध का जैसा वर्णन टीकाकार ने उसके समर्थन मे किया है, उस पर ध्यान दें। इसके लिये सब से अच्छा यही होगा, कि उक्त श्रीराममन्त्रराज परम्परा की टीका

से इसका पूरा विवेचन ही उद्धृत कर दें। तब इस पर विचार करें। इस प्रकरण मे वहाँ लिखा है:—

"श्रीरामजी से कथित इस मन्त्रराज रूपराजमार्ग की प्रवर्त्तिका श्रीजानकी जी हुई। तात्पर्य यह कि मन्त्रराज को प्रख्यात करने के लिये प्रथमतः श्रीहनुमानजी को प्रदान किया। क्योंकि 'रामविजय सुधाकर' के कर्त्ता श्रीमधुराचार्य के कथनानुसार श्रीहनुमानजी 'सीताशिष्य गुरोर्गुरुम्' अर्थात् श्रीसीताजी के शिष्य हैं और गुरुओं के भी गुरु हैं। और बृहद्ब्रह्मसंहिता पा० ३ अ० १ में कहा है:—

"श्रीराममन्त्र के तत्वज्ञ श्रीरामजी के अनुचर महाबली श्रीहनुमान जी हैं। नित्य महाविभूति में ईशान दिशा में सदा स्थिर रहते हैं। जब श्रीराम जी नित्य विभूति से पृथ्वी पर काकुत्स्थ कुल में अवतीर्ण होते हैं। तब श्रीहनुमानजी भी अञ्जनी के गर्भ से उत्पन्न होकर आञ्जनेय कहलाते हैं, सारांश भाव यह कि—'श्रियोंकी श्री' श्रीसीताजीने जीवों को दुःख से उद्धार करने लिये सदा श्रीरामचरण सेवक श्रीहनुमान जी को उस मन्त्रराज का उपदेश किया ॥६॥"

श्रीजानकीजीने श्रीहनुमानजी को मन्त्र प्रदान किया, इसका आपने कोई भी शास्त्रीय प्रमाण नहीं दिया है।

टीकाकार ने परम्परा के उक्त परम्परा में श्रीजानकीजी से श्रीहनुमानजी को मन्त्रलेनेके समर्थन में टीका के रूप में जो विवेचन किया गया है,उससे भी यह सिद्ध नहींहोता कि श्रीजानकीजी ने श्रीहनुमानजी को मंत्रदिया है। क्योंकि इसके लिये आपने कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं दिया है। और देने चले, तो श्रीमधुराचार्यजी के 'राम विजय सुधाकर' के नाम पर। एक तो 'राम विजय सुधाकर' नामका उनका कोई ग्रन्थ है, यह भी ठीक नही है, क्योंकि सम्प्रदाय में ऐसा कोई जानता भी नहीं। इसलिये हो सकता है, कि यह बात धोका देने के लिये झूठी ही लिखी गयी हो। यदि उसकी सत्ता मान भी ली जाय तो उसमें ऐसा लिखा है, यह कैसे माना जा सकता है,जब कि वह ग्रन्थ प्राप्यही नही है? इसके सिवा यह उसमें लिखा भी हो, तो उसकी प्रामाणिकता कैसे जब कि उनके पहले के कितने महात्माओं बल्कि दिव्यज्ञानी नाभाजी आचार्यप्रवर श्रीरामानन्दस्वामीजी, तथा अन्य सम्प्रदाय के महात्माओं के लेखों एवं मान्यताओं को आपने भुलभुलैया मानकर अप्रामाणिक समझा और दूसरी परम्परा खड़ी की है।

बृहद्ब्रह्म-संहिता में श्रीहनुमानजी को श्रीराममंत्र का तत्वज्ञ एवं अनुचर

तथा परधाम में सदा ईशान दिशा में स्थित रहने वाला, और श्रीरामावतार होने पर आञ्जनेय रूप से उत्पन्न होने वाला लिखा रहने से यह कैसे सिद्ध हुआ कि श्रीजानकीजीने उनको श्रीराममन्त्र प्रदान किया? हाँ, इससे इतना अवश्य सिद्ध है, कि वे श्रीराममन्त्र के उपासक श्रीरामजी के अनन्य सेवक है। फिर यह उन्होंने किनसे पाया, यह तो लिखा ही नही है। अतः श्रीरामजी से ही पाया हो, ऐसा मानने के विरुद्ध और उसके समर्थन के लिये कौन सी दलील है? अत. यह सिद्ध है, श्रीहनुमानजी को श्रीजानकीजी से श्रीराममन्त्र लेने का कोई प्रमाण नही है।

पुनः इसके आगे श्रीहनुमानजी से श्रीब्रह्मा के मन्त्र ग्रहण करने का उल्लेख करते हुए उसके समर्थन मे लिखा गया है —

"जब प्रथम नाभि कमल से उत्पन्न होकर ब्रह्माजी भगवन्माया से मोहित होकर विचार करने लगे, कि 'मै कौन हू और कैसे उत्पन्न हुआ हूँ, मेरा क्या कर्त्तव्य है।' तब इस प्रकार मूढ़ बुद्धि ब्रह्मा को देखकर नित्य विभूति मे विराजमान करुणास्वरूपिणी श्रीजानकीजी का हृदय दया से प्लावित हुआ और उन्होने हनुमानजी को प्रेरणा की, कि 'जाओ, भगवन्माया मे मोहित ब्रह्मा को कूटस्थ रूप से स्थित चारो वेदों के प्राण श्रीराममन्त्र का उपदेश दे आवो, जिसके जप करने से चारो वेद ब्रह्मा के हृदय मे उपस्थित हो जायँगे, और वे सृष्टि विस्तार मे समर्थशील होगे। इस आज्ञा को शिरोधार्य करके श्रीहनुमानजी ने ब्रह्माजी को श्रीराममन्त्र का उपदेश किया-यथा सदाशिव सहिता में।

"योऽयं महाविभूतिस्थो हनुमान् रामतत्परः।
स प्रादाद्ब्रह्मणे तत्र मन्त्रराज षडक्षरम् ॥"

अर्थात्—महाविभूति में सदा स्थित श्रीरामसेवा में तत्पर श्री हनुमान जी ने श्रीब्रह्माजी के प्रति श्रीराममन्त्र का उपदेश किया। किसी कल्प में ब्रह्मा जी का स्वयं श्रीराम जी ने ही उपदेश दिया था।"

सब से पहली बात तो यह है, कि 'सदाशिव-संहिता' में ऐसा लिखा ही नही है, कि श्रीहनुमानजीने श्रीब्रह्माजी को श्रीराममन्त्र दिया है, बल्कि वहाँ तो यह लिखा है कि श्रीजी ने श्रीविष्वक्सेनजी को श्रीराममन्त्र दिया और उन्हो ने श्रीशठकोपजी को इस प्रकार श्रीसम्प्रदाय एवं श्रीराम-मन्त्र राज की परम्परा चली। यहा सदाशिव-संहिता के नाम पर झूठा ही श्लोक गढ़ कर उपस्थित कर दिया गया है, जैसा कि पहले भी इस परम्परा की

भूमिका की आलोचना में दिखलाया जा चुका है। अतः इस विषय पर अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नही। अब देखना यह है, कि 'भगवन्माया से मोहित मूढ़ बुद्धि ब्रह्माजी को देख कर श्रीजानकी जी ने हनुमान जी के द्वारा उनको श्रीराम-मन्त्र का उपदेश करवाया, जिस के जप से उनको चारों वेदो का ज्ञान और सृष्टि-विस्तार की शक्ति हुई।' इस कथन में कहाँ तक तथ्य है। इसमे पहली बात तो यह है, कि आपने अपने इस कथन का कोई प्रमाण न देकर यो ही लिख मारा है, अतः इसकी मान्यता नहीं हो सकती है। दूसरे इसके विपरीत सारे इतिहास-पुराण, संहिता उपनिषद् एवं श्रुति तक प्रमाण है कि ब्रह्माजी को भगवान् ने ही वेद पढ़ाया है, उन्हीने उनको मन्त्र - दीक्षा दी है। यदि उन सब ग्रन्थों से इस बात का प्रमाण दिया जावे, तो एक दूसरा पोथा ही तैयार हो जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह, कि सभी इतिहास पुराण, संहिता, धर्म शास्त्र एवं वेद तक मे जहाँ भी इस विषय का उल्लेख है, सभी जगह यही लिखा है, कि भगवान् ने ही ब्रह्माजी को बेद पढ़ाया है, मन्त्रोपदेश किया है ऐसा एक भी स्थान नहीं, जहाँ हनुमानजी से ब्रह्माजी के वेद पढ़ने एवं मन्त्रोपदेश लेने का जिक्र भी हो। हाँ आगे वाल्मीकि-सहिता के समान कोई ग्रन्थ निकल आवे, तो अलबत्त, ऐसी अवस्था में टीका की उक्त बाते सिवा धोखा धड़ी के और क्या कही जा सकती है? यद्यपि भगवान् से ब्रह्माजी के वेद पढ़ने एवं मन्त्रोपदेश लेने की बातें सर्वत्र लिखी, मान्य एवं प्रचलित भी है, अतः उसके उदाहरण की आवश्यकता नही, फिर भी सन्तोष के लिये दो एक उदाहरण दे देता हूं। सब से पहले श्रुति का उदाहरण देखिये। श्वेताश्वेतरोपनिषद् में लिखा है:—

"यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं वेदाँश्च सर्वान् प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥"

इसी प्रकार महाभारत के शान्ति-पर्व-मोक्षधर्म प्रकरण के ३४८ वें अध्याय में लिखा है:—

"ततो ब्रह्मा नमश्चक्रे देवाय हरिमेधसे।
धर्मं चाग्र्यं स जग्राह सरहस्यं ससंग्रहम् ॥ ३० ॥
आरण्यकेन सहितं नारायणमुखोद्भवम्।
उपदिश्य ततो धर्मं ब्रह्मणेऽमिततेजसः ॥ ३१ ॥

त्वं कर्ता युगधर्माणां निराशी कर्मसंज्ञितम् ।
जगाम तमसः पारं यत्राव्यक्तं व्यवस्थितम् ॥३२॥
ततोऽथ वरदो देवो ब्रह्मा लोकपितामहः ।
असृजत् स ततो लोकान् कृत्स्नान् स्थावरजङ्गमान् ॥३३॥

ऐसा ही बृहद्ब्रह्म-संहिता के प्रथमपाद के पहले ही अध्याय में लिखा है:-

संस्कृतोऽहं समुत्पाद्य विष्णुना प्रभविष्णुना ।
अधीत वेदोऽपि पुरा मन्त्रराजार्थसिद्धये ॥ २९ ॥
असंस्कृताय दातव्यं नैव शुद्धार्थसाधनम् ।
द्वयाख्यस्य महाभागा भगवाननुशास्ति माम् ॥ ३० ॥
स देवो मामुपाहूय सद्यो नाभिसमुद्भवम् ।
उपादिदेश वेदं मां मनसैव दयानिधिः ॥ ३१ ॥

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत के पहले ही श्लोक में कहा है.-

"जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञ स्वराट्-
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः..."

इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है, कि भगवान् ने ही ब्रह्माजी को उत्पन्न कर उनको वेद पढ़ाया, एवं मन्त्रोपदेश भी किया है, जिससे जगत-रचना मे समर्थ होकर उन्होने इस जड़ चेतन विश्व-प्रपञ्च का निर्माण किया है। ब्रह्मा जी के मन्त्रोपदेश के सम्बन्ध मे प्रस्तुत-प्रसङ्ग के पृष्ट १४३ से १४६ और पूर्वोक्त परम्परा की भूमिका आलोचना मे बृहद्ब्रह्म-संहिता, अगस्त्य-संहिता, पद्मपुराण, विष्णुपुराणादि से अच्छी तरह प्रकाश डाला गया है, अतः वहा देखने मे इसका और भी स्पष्टी करण हो जायगा।

इस प्रकार सिद्ध है, कि ब्रह्माजी को भगवान् से ही वेद-शिक्षा एवं मन्त्र-दीक्षा मिली थी, हनुमानजी से नही, फिर थोड़ी देर के लिये आपकी ही बात मान लें, कि किसी कल्प मे उनको भगवान् से और किसी कल्प मे हनुमानजी से वेद-शिक्षा एव मन्त्र-दीक्षा मिली थी। परन्तु अब यह निर्णय करना चाहिये, कि इस कल्प मे ब्रह्माजी को भगवान से शिक्षा-दीक्षा मिली है या हनुमानजी से।

यह तो शास्त्र तथा सम्प्रदाय से भी सिद्ध तथा सर्वमान्य है, बल्कि

इस 'श्रीराममन्त्रराज परम्परा' की भूमिका में आपने भी स्वीकार किया है कि इस कलियुग में वैष्णव धर्म के श्री, ब्रह्म, रुद्र और सनकादिक ये चार सम्प्रदाय हैं। अब यदि आपके कथनानुसार ब्रह्माजी का हनुमानजी का शिष्य मान लें, श्रीब्रह्माजी भी श्रीसम्प्रदायी ही हो जायँगे, अतः ब्रह्म सम्प्रदाय की स्थिति ही नहीं रहेगी। फिर माध्व सम्प्रदाय का अस्तित्व ही हवा हो जायगा। किन्तु इन की स्थिति है ही, इस बात से तो किसी प्रकार इनकार ही नहीं हो सकता। इसलिये इस तरह भी मानना पड़ेगा, कि इस कल्प के ब्रह्माजी ने हनुमानजी से शिक्षा-दीक्षा नहीं पायी है, बल्कि भगवान् से ही पायी है। इस प्रकार श्रीजानकीजी एवं श्रीहनुमान् जी से श्रीब्रह्माजी का परम्परा-सम्बन्ध जोड़ने से नूतन-परम्पराकी जालसाजी का अपने आप उद्घोष एवं भण्डाफोर हो गया है।

सदाशिव-संहिता के नाम पर जानकीजी से हनुमानजी को मन्त्र लेने का, एवं हनुमानजी से ब्रह्माजी को मन्त्र लेने का जो प्रमाण नूतन-परम्पराकार ने दिया है, उसको सदाशिवसंहिता में नहीं रहने के कारण मैंने 'श्रीराममन्त्रराज-परम्परा' की भूमिका की आलोचना यह लिखी है, कि इसे परम्पराकारने ही गढ़ कर लिख दिया है। सदाशिवसंहिता नाम की एक छोटी सी पुस्तिका है,जो छपी नहीं,हस्तलिखित है,और मेरे पास भी है। उसमें नहीं रहने के कारण ही मैंने वहाँ वैसा लिखा है। खैर, उसमें तो ऐसी बात नहीं लिखी है, परन्तु अभी एक पुस्तक 'श्रीराम-नवरत्न' नामक प्राप्त हुई, उसमें 'महासदाशिव-संहिता' के नाम पर 'राजमार्गमिमाविद्धि रामाक्तं जानकी कृतम्' यह श्लोक दिया हुआ है। और इसी सिलसिले में इसी ग्रन्थ के नाम पर इस 'राजमार्ग' की उपासना सम्प्रदाय आचार्य एवं परम्परा भी दी हुई है।यहबड़ी विलक्षण बात है, अतः इसका परिचय दे देना अत्यावश्यक है। यदि यह ग्रन्थ पहिले से देखा होता तो पूर्व की उतनी आलोचनाओं की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। यह तो एक प्रकार से सारे सम्प्रदाय एवं सिद्धान्त को ही अलग कर डालता है, जिसे कोई भी स्वीकार करने की हिम्मत नहीं कर सकता। यदि किसी की हिम्मत हो, तो देखना है, कि वह साम्प्रदायिक-मैदान में इस पर कायम रह कर उप-स्थित होता, कि नहीं।

यह पुस्तक प्रायः अनर्गल-कृत्रिम-श्लोको एवं अशुद्धियों से भरी हुई है, और झूठ-मूठ उसे शास्त्रीय वचन कहकर इसमें उद्धृत किया है। इस पर लिखा हुआ है, कि यह 'अवधनिवासी महात्मा श्री ५ बाबा राम-

दासजी संगृहीत' है। न जानें इस कथन में कहाँ तक तथ्य है। ये बावा रामचरणदासजी कौन हैं ? अयोध्या के जानकीघाट स्थान सस्थापक हैं, या दूसरे ? परन्तु पता चलता है, कि वही है। 'श्रीजनक न्दिनिशरण युगेश्वर प्रसाद वकील-बाढ़ पटना ने' इस पर 'सुबोधिनी पाटीका' लिख कर 'सत्यसुधाकर प्रेस पटना सीटी' मे दिसम्बर ९१५ में छपवा कर प्रकाशित किया है। कहा जाता है, कि इसका जानकीघाट के रसिक-वैष्णवो में प्रचार है। ज्ञात होता है, परम्पराकार इसी से लेकर वैसा लिख दिया है, किन्तु सारी बातें लिखनेसे भयभीत कर काम चलाने भर अधूरा ही लिख कर धोखा दिया है। अत अब ही इसका पूर्ण प्रकाश कर देना हूँ। इसके 'पचम रत्न' में इस सम्प्रदायकी नारी बातो का वर्णन है। अत. उससे आवश्यक-अंश टीका सहित यहाँ दृधृत करता हूँ।

हाशम्भुसंहितायामगस्त्यवाक्यं सुतीक्ष्णं प्रति :-

शुद्धं द्वैतं मतं विद्धि सेवकः सेव्य भावदं।
सामीप्यं च सुमुक्तिच नित्यं गोलोकधामिकं ॥ ५ ॥
शृङ्गारं मैथिली कृत्यं श्रियं विन्दुं च चन्द्रिकां।
करोति रसिको नित्यं तिलकंतंतु मन्यते ॥ ९ ॥

हासदाशिवसंहितायां—

"राजमार्गमिमंविद्धि रामोक्तं जानकी कृतम्।
यद्दतेचान्य मार्गोस्तु चौराणाविधिका यथा॥ २४ ॥
श्रीमैथिल्याश्च मन्त्रंहि श्री गुरूं मारुतं महत्।
सखीभावदयंहीष्ट भुक्तिमुक्तिप्रदं तथा॥ २६ ॥
श्रीजानकीसम्प्रदायां रामरासमनन्यताम्।
ऋतेकेपिनयास्यन्ति वांछितं फल मेवच॥ २७ ॥
युग्म मंत्रं विनानास्ति मंत्रः कोपि सुखप्रदः।
जानकीवल्लभायास्ना विनायास्नानवल्लभा॥ ३१ ॥
हनुमत् परमाचार्यं बिनाचार्यो न को विभुः।
इतिद्धतिनिर्णीतं पूर्वोक्तं च मयोदितम्॥ ३२ ॥

महाशंभुः शिवं प्राह सशिवोनारदं तथा ।
नारदश्चाह बाल्मीकिं वाल्मीकिश्चलवं कुशम् ॥ ३४ ॥
हनुमांस्तु अगस्त्याय अगस्त्यश्च सुतीक्ष्णकं ।
सुतीक्ष्णेन महाभागा येंकितावहवो मुने ॥ ३५ ॥
भविष्यन्तिकलौघोरे जीवाहरिवहिर्मुखाः ।
रामाज्ञया हनुमान वै मध्वाचार्य प्रभांकरः ॥ ३६ ॥

'षष्टरन्त,—ब्रह्माण्ड पुराणेः—

सीतायाश्चत्रयोप्यंसाः श्रीभूलीलादिभेदतः ॥ ३७ ॥

टीका—द्वैतमत को शुद्ध मत समझो। जिस मत के सेवन से प्राणी को ऐसा प्रेम उत्पन्न होता है कि अपने को सेवक वो श्रीरामचन्द्रजी महाराज को स्वामी मानने लगते हैं ऐसा भाव रखने से सामीप्य मुक्ति मिलती है, जिसमे हमेशे गोलोक में निवास करते है ॥ ५ ॥ श्री जानकी जी के किया हुआ शृंगार और बिन्दु और चन्द्रिका श्रीरामजी के रसिक इस सब का नित्य तिलक लगावें और इन्हीं सब को तिलक माने ॥ ६ ॥ श्रीरामजी से कथित और श्रीजानकी कृत यह राजमार्ग है सो आप जानिये इसके बिना दूसरा मार्ग जो सब है सो सब कैसे हैं जैसे चोर के मार्ग निन्दित हैं ॥ २४ ॥ श्रीजानकीजी का मन्त्र और महान जो मारुत गुरु यह दोनों सखी भाव के देने वाले हैं ॥ २६ ॥ श्रीरामजी के रास में श्री जानकी सम्प्रदाय जो है, तिसके बिना दूसरा कोई वांछित फल देने वाले नही है ॥ २७ ॥ युगलमन्त्र के बिना कोई दूसरा मन्त्र सुख प्रद नहीं है रामजी के उपासना बिना दूसरा उपासना रामजी के प्रिय नहीं है ॥ ३१ ॥ हनुमान जी जो परम आचार्य हैं, तिनके बिना कोई दूसरा आचार्य नहीं है पूर्वाचार्य से कथित यह बात प्रसिद्ध है सो हम आपको कहा है ॥ १२ ॥ यह विषय महाशंभु शिव से कहा है शिवजी नारद से कहा है नारद वालमीकि से कहा है वालमीकिजी लौ और कुश से कहा है ॥ ३४ ॥ हनुमान जी अगस्त्यमुनि से कहा है, अगस्त्यमुनि सुतीक्ष्ण से कहा है सुतक्ष्णाजी से बहुत मुनि अङ्कित भए ॥ ३५ ॥ कलियुग में बहुत जीव परमेश्वर से वहिर्मुख हायगे श्रीरामज्ञा से हनुमानजी महा आचार्य भये (मूल में मध्वाचार्य है, परन्तु टीकाकार ने महाआचार्य लिखा है) ॥ ३६ ॥ ब्रह्माण्डपुराण में लिखा है श्री जानकी के तीन अंश

है। एक अंश श्री, दूसरा भूः, तीसरा लीला। (मूल में लीला के बाद आदि पद भी लगाया है) ॥ ३७ ॥

इससे सिद्ध है, रसिक वैष्णव समाज के सिद्धान्त में द्वैतमत, सामीप्य-मुक्ति, श्री बिन्दु एवं चन्द्रिका तिलक, श्रीजानकीसम्प्रदाय, हनुमान-महाचार्य और युगलमन्त्र ही मान्य है। इन सब बातों के बिना मुक्ति नही मानी जाती। इस सम्प्रदाय की दो परम्पराये बतायी गई हैं—एक महाशम्भु, शिवजी, नारदजी, वाल्मीकिजी एव लवकुश, दूसरी हनुमानजी अगस्त्यमुनि एव सुतीक्ष्णजी, कलि में हनुमानजी को ही मध्वाचार्य के रूप में अवतार लेकर धर्म प्रचार करनेको लिखा है। पुन श्रीजानकीजी एवं श्रीजी को भिन्न ही—श्रीजानकीजी का ही एक अंश—माना है। सम्भवतः इसी कारण परम्पराकार ने भूमिका में और यहाँ पर भी श्रीजानकीजी को बारम्बार श्रियो की श्री कहने पर जोर दिया है। किन्तु इससे स्पष्ट हो गया, कि इस प्रमाण से श्रीजानकीजी एव श्रीजी भिन्न ही है। इसी लिये उक्त ग्रन्थमें अपने सम्प्रदाय को श्रीजानकीसम्प्रदाय कहा भी है। इसलिये वह श्रीसम्प्रदाय नही है। किन्तु रसिक-समाज की ये सब बातें श्रीरामानन्दीय-वैष्णवो तथा सम्पूर्ण वैष्णव-समाज सिद्धान्त से सर्वथा अमान्य है, और न आज उन्ही लोगो को उसको लेकर सामने आने की हिम्मत हो रही है। किन्तु परम्पराकार ने उसीसे अधूरा प्रमाण छाँट कर नूतन-परम्परा का कथा तैयार किया है यदि ये सुतीक्ष्णजी से अपनी परम्परा जोड़ लेते तो काम भी चल जाता परन्तु अब तो चूक गये, दाव निकल गयी। इस प्रकार सिद्ध है, कि एक पोल के आधार पर दूसरी पोल यह नूतन-परम्परा तैयार हुई है।

यद्यपि 'श्रीराममन्त्र राजपरम्परा' रूप इस 'नूतन-परम्परा' की इतनी आलोचना से ही यह भलीभाँति सिद्ध हो गया है, कि यह परम्परा नितान्त बनावटी है, झूठी है, जाली है, और इसीसे इसका पूरा भण्डाफोर भी हो चुका, सारी पोल खुल गयी, अतः अब कोई विशेष आवश्यकता नही है, कि इसकी और भी आलोचना की जाय। किन्तु झूठे को सब ओर से दौड़ा देखना उचित होता है, अत संक्षिप्तरूप से कुछ और भी प्रकाश डाल दिया जाता है।

इसके बाद समर्थन के लिये टीका में ब्रह्माजी से व्यासजी तक की परम्परा 'अगस्त्यसंहिता' से उठाकर दी गयी है, अतः इसमें तो कोई विवाद ही नही है। रह गयी व्यासजी से शुकदेवजी के मन्त्र ग्रहण की

बात, क्योंकि व्यासजी से शुकदेवजी के मन्त्र ग्रहण का कोई प्रमाण नहीं है, बल्कि उन्होंने नारदजी से मोक्ष धर्म का उपदेश पाकर परधाम के लिये यात्रा की थी। जैसा कि इस परम्परा की भूमिका की आलोचना में भली भाँति दिखलाया जा चुका है, यहाँ भी टीका में व्यासजी से शुकदेवजी के मन्त्र गृहण की बात लिखी गयी है किन्तु उसका कोई भी प्रमाण नहीं दिया गया है, केवल उनकी श्रीरामजी में भक्ति लायी गयी है। अतः व्यासजी से शुकदेवजीका शिष्य होना प्रमाणित नहीं हुआ। पुनः शुकदेव जी का आराधना द्वारा साक्षात्कार कर उनसे श्रीपुरुषोत्तमाचार्यजी के मन्त्र ग्रहण की बात लिखी गयी है, परन्तु उसका किसी प्रकार-शास्त्रीय, साम्प्रदायिक या ऐतिहासि—का एक भी प्रमाण नहीं दिया है, जिससे उस पर कुछ विचार किया जाय। अतः यह भी अप्रामाणिक तथा अमान्य ही है। और फिर इधर भी परम्परा में कोई नूतनता ही नहीं है, अतः इस पर कुछ विचार करने की आवश्यकता ही नहीं।

किन्तु श्रीदेवानन्दजी के वर्णन की टीका में आपने यह कहा है, कि "श्रीनाभास्वामीजी ने निजकृत भक्तमाल में दोनो महानुभावों को समकक्ष आचार्य माना है,हम यह पहले कह आये हैं 'श्रीरामानुज पद्धति प्रताप अवनी अमृत ह्वै अनुसरचो। देवाचारज दुतिय महा महिमा हरियानन्द इत्यादि।' अर्थात् श्रीरामानुज स्वामीजी की पद्धति जिस प्रकार सुधा समान जीवो को कल्याण प्रद हुई उसी तरह स्वामी देवानन्दजी का ऐसा लोकोत्तर उपदेश हुआ कि लाखों सिद्ध इस सम्प्रदाय में हुए और होंगे।" अतः इसकी वास्तविक पर भी कुछ प्रकाश डालना उचित है।

सब से पहली बात तो यह है कि श्रीनाभाजी के इस पद से यह कहाँ सिद्ध होता है, कि श्रीरामानुजस्वामीजी एवं श्रीदेवानन्दस्वामी जी दो भिन्न भिन्न परम्परा के समकक्ष आचार्य हैं और श्रीरामानुजस्वामीजी की पद्धति के समान ही श्रीदेवानन्दस्वामीजी की पद्धति भी जीवों के सुधा के समान कल्याण प्रद हुई। बल्कि उससे तो यही सिद्ध है, कि श्रीरामानुजस्वामीजी की पद्धति का प्रताप पृथ्वी में अमृत के समान बहा और उसमें द्वितीय महामहिमा श्रीदेवाचार्य जी हुए। इससे तो स्वतः सिद्ध है, कि श्रीरामानुज स्वामीजी की ही परम्परा में श्रीदेवानन्दस्वामीजी भी हुए है 'यहाँ जिस प्रकार' और 'उसी तरह' यह अर्थ कहाँ से निकला। छप्पय में तो ऐसा पद पड़ा नहीं है, फिर आपने कैसे निकाला? इसके सिवा श्रीदेवानन्दस्वामी जी किस दूसरी परम्परा के आचार्य थे, इसका परिचय भक्तमाल में है?

इसमें तो श्रीसम्प्रदाय का जो परिचय दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि श्रीसम्प्रदाय के संस्थापक श्रीरामानुज स्वामीजी ही थे। जैसा श्रीरामानुज उदार सुधानिधि अवनि कल्पतरु' 'रमापद्धति रामानुज' एवं 'सम्प्रदाय शिरोमणि सिन्धुजा रच्यो भक्ति बितान' इत्यादि पद्यों से भलीभाँति स्पष्ट है। यदि श्रीनाभास्वामीजी अपने पूर्वाचार्य श्रीदेवानन्दजी को श्रीरामानुजस्वामीजी से भिन्न पद्धति का आचार्य मानते तो क्या उस पद्धति का परिचय नहीं देते? यह कैसी निराली बात है, कि जिस पद्धति (श्रीरामानुजस्वामीकी पद्धति) को आप श्री सम्प्रदाय की हैसियत से चतु: सम्प्रदाय में न मान कर एक दूसरे श्रीसम्प्रदाय की उसमें गणना करते हैं, उसका श्रीनाभाजी ने यहाँ क्यों भक्तमाल भर में कहीं जिक्र तक नहीं किया और चतु: सम्प्रदाय में भी श्रीरामानुज स्वामीजी की पद्धति की ही गणना की? फिर श्रीसम्प्रदाय की दूसरी पद्धित भी है और उसी में श्रीदेवानन्द स्वामीजी हुए हैं, यह अर्थ कहाँ से निकला? अतः भक्तमाल से स्पष्टतः सिद्ध है, कि श्रीसम्प्रदाय एक ही है, और उसके संस्थापक से श्रीरामानुजस्वामी जी हैं। उसी पद्धति में श्रीदेवानन्दस्वामी जी हुये हैं। इसका विशेष विवेचन प्रस्तुत प्रसङ्ग मे पूर्व ही हो चुका है, अतः यहाँ अब उसकी विशेष आवश्यकता नहीं। नूतन-परम्परा की मूल-कृति एवं प्रधान-साधन-स्वरूप इस श्रीराममन्त्र राज परम्परा' की आलोचना से यह सम्यक् रूपेण सिद्ध होगया, कि यह परम्परा सर्वथा जाली, तथा अमान्य है। श्रीरामानुजस्वामीजी से भिन्न, श्रीम्प्रदाय की कोई दूसरी पद्धति हो ही नहीं सकती।

श्रीराममन्त्रराजपरम्परा नामक नूतन-परम्परा की उपर्युक्त आलोचना से यह भली भाँति स्पष्ट हो गया है, कि वस्तुत: वह परम्परा धूल की रस्सी बाँटने की तरह धोखा देकर भ्रम पैदा करने के लिये तैयार की गयी थी, उसमें वास्तविकता रत्तीमात्र भी न थी। अतः इस पर लोगों का सहज-अविश्वास होना उचित ही था। बस, सब ओर से इसकी आलोचनायें होने लगी, भण्डाफोर हुआ, एवं खिल्लियाँ उड़ने लगी। अतः अब की बार इन्होंने गहरी दाव खेली। यह स्वाभाविक-नियम है, कि मर्म पर चोट पड़ने से मनुष्य की विचार-शक्ति विचलित हो जाती है, अतः वह सीमा से बाहर होकर भी प्रतिशोध के लिये उद्यत हो जाता है। यहाँ भी ठीक ऐसी ही बातें हुई। नूतन-परम्पराकार ने विचार किया, कि अपनी सफलता के लिये अब इसी मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये। अतः उन्होंने मर्म-स्थान चुनना आरम्भ किया। ध्यान देने से सहज ही स्पष्ट हो गया कि,

श्रीरामजी में अटल श्रद्धा-भक्ति यही इनका मर्म-स्थान है, जिसके जरा से अपमान से भी ये तिलमिला उठते और मरने-मारने तक के लिये तैयार हो जाते है, अतः इसी पर चाट करने से काम चल सकता है। यह सोच विचार कर इन्होंने जाली-नाम मैथिलीशरण पाण्डेय के नाम से 'रहस्योद्घाटन' नामक पुस्तिका लिखछपाकर प्रकाशित की। इसमें मुख्य रूप स और पहले यही दिखलाने का चेष्टा की गयी थी, कि आचारी-श्रीवैष्णवों के ग्रन्थो मे श्रीराममन्त्रादि की निन्दा की गयी है, अपमान किया गया है। यह इसलिये, जिससे लोग क्रोधित हो उठें, उत्तेजना फैलजाय, और प्रतिहिंसा एवं सम्बन्ध-विच्छेद की भावना प्रबल होजाय। फिर इसी से सहारा लेते हुए गोणरूपेण यह भी कहा गया, कि श्रीरामानुज-सम्प्रदाय में श्रीराममन्त्रराज की परम्परा नहीं है। फिर लोगो के हृदय पर चोट मारते हुए कहा गया था, कि "फिर इनसे हमारा क्या सम्बन्ध? अब क्यो इनमें घुसते फिरते हो, अलग हो जाओ" और इसी सिलसिले मे नूतन-परम्परा की स्वीकृति के लिये अपील की गयी थी। बस फिर क्या था, सीधे-सादे भावुक महात्माओं म उत्तेजना फैल गयी, और बहुत से लोग विना सोचे-विचारे सम्बन्ध-विच्छेद क लिये उद्यत हो गये और कर भी लिया। इस प्रकार इस नूतन-परम्परा के माननेवालो का एक छोटा-मोटा दल अयोध्या मे तैयार होगया। और इसका आन्दोलन एव प्रचार होने लगा।

इस पुस्तिका की खास आलोचना करने के पहले तो यही बाते विचारणीय है, कि जब नूतन-परम्परा ही सवथा जाली है, न श्रीअग्रदासजी की ही बनाई हुई साबित होती है, न शास्त्र, सम्प्रदाय एवं अन्य प्रकार से ही उसकी सिद्धि होती है। तो "आचारी-श्रीवैष्णवों के ग्रन्थो में श्रीराममन्त्र की निन्दा है, उनको आचार्यों ने इसमे श्रद्धा भक्ति नही दिखायी है, अतः उनस मेरा सम्बन्ध क्या?" इस कथन मे कोई तत्व ही नही है। क्योकि जब एक ही वंश मे दोनो है तो हमारी मान्यता की वे पाबन्दी नही करते, तो उनको मान्यता का हमे क्या पाबन्दी होने लगी? अगर वे अपनी मान्यताओं के अनुसार सम्प्रदाय का स्वरूप मानते हैं, तो हमें अपनी मान्यताओं क अनुसार सम्प्रदाय का स्वरूप मानने में क्या अड़चन है? उनकी मान्यताओं क सामने अपनी मान्यताओं को मुकाबले में न रखकर उस अपनेकुल से ही भाग कर दूसरे कृत्रिम एवं मिश्रित कुल-वंश में अपने को घोषित करना निपट कायरता एवं निन्द्य-प्रयत्न

है। अतः अपने कुल के सिद्धान्तों एवं मान्यताओं को लेकर मुकाबला करने मेंही बहादुरी थी। किन्तु ऐसा न कर कुल को मिट्टी में मिला देने का प्रयत्न किया गया! ऐसा क्यों न हो, जब इसके रूवें रवाँ श्रीभगवद्दासजी इस सम्प्रदाय के सर्व नाश के उद्देश्य से ही यह सब कर रहे थे?

यद्यपि इस 'रहस्योद्घाटन' का समुचित उत्तर श्रीअनन्ताचार्यजी ने 'तत्त्वोद्बोधन' नामक पुस्तिका द्वारा दिया था, पुनः श्रीभगवद्दासजी ने 'तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा' नामक पुस्तिका द्वारा इसका खण्डन किया है; अत अब पुन 'रहस्योद्घाटन' की आलोचना की आवश्यकता ही नहीं रह गयी है, क्योंकि अब तो इसका स्थान 'तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा' ने ग्रहण कर लिया है, अत इसी की समालोचना करना समुचित होगा। इसमे भी इसके कई मुख्य मुख्य अंशो की आलोचना 'प्रकाश' की आलोचना मे हो चुकी है, अतः जिन जिन अंशों की आलोचना की आवश्यकता रह गयी है, उसी पर प्रकाश डाला जायगा।

पहले 'सूची कटाह न्याय' से निन्दावाले अंश पर ही एक सरसरी दृष्टि डाले। विचार सुविधे के लिये इसे ५ भागों में इस प्रकार बाट सकते है।

(१) "श्रीराममन्त्रराज श्रीरामानुजीय परम्परा मे नहीं मिलता?"

(२) "श्रीरामानुजीय-परम्परा के किसी आचार्य ने श्रीराममन्त्रराज में श्रद्धा नही प्रकट की है, किन्तु इसके विरुद्ध उन्होंने उनकी घोर निन्दा की है।"

(३) "ये स्वयं पुकार कर कह रहे है कि हमारे यहाँ रामादिमन्त्र नहीं है, हम उनको कभी उपदेश नहीं करते?

(४) इनके ग्रन्थो मे श्रीरामकृष्णादि की घोर निन्दा की गयी है?

(५) "तब हम हठात् क्यो उनमें घुसते फिरें?"

प्रथम प्रश्न के उत्तर मे यह बहुत ही प्रामाणिक तौर पर कहा जा सकता है, कि कथन नितान्त असत्य है, इसके लिये शास्त्र और सम्प्रदाय दोनों प्रमाण हैं। सबसे पहले तो बृहद्ब्रह्म-संहिता में श्रीराममन्त्र के उद्धार प्रकरण में स्पष्ट ही श्रीरामानुजस्वामीजी को इस परम्परा के संस्थापकों में लिखा है। यथाः—

"विष्वक्सेनादिभिर्भक्तैः शठारि प्रमुखैर्द्विजैः।
रामानुजेन मुनिना कलौ संस्थामुपैस्यति॥"

इससे केवल श्रीरामानुजस्वामीजी का ही नहीं, विष्वक्सेनजी एवं शठकोप स्वामी जी के नामों के रहने से श्रीराममन्त्रराज एवं श्रीसम्प्रदाय की पूरी परम्परा ही स्पष्ट हो जाती है। इसके सिवा हम लोगो के ही मान्य ग्रन्थ पटल में ही धामक्षेत्र के वर्णन मे श्रीरामानुजस्वामीजी को श्री सीतारामजी एव श्रीराममन्त्र का उपासक लिखा है, जैसा कि नूतन परम्परा की आलोचना मे पहिले भली भांति दिखलाया जा चुका है। उक्त पटल में तो स्पष्ट ही लिखा है —

"अयोध्यानगरीक्षेत्रं धुनः कोटिश्चतीर्थम्।
तथा सुखविलासः स्याच्चित्रकूटाख्य पर्वते।
इष्टं विदेहतनया रघुनाथ उपासना।
षडक्षरं महामन्त्रं कथित रामतारकम्॥" इत्यादि

इसी प्रकार और भी कितने स्थानों में लिखा है। अतः शास्त्र, सम्प्रदाय एवं अपने समाज की मान्यताओं से भी स्पष्ट है, श्रीरामानुजस्वामी की परम्परा मे श्रीराममन्त्रराज एवं श्रीसीतारामजी की उपासना का प्रचार है। इसके विपरीत रहस्योद्घाटन मे जो लिखा और तत्त्वोद्बोधन-मीमांसा में समर्थित किया गया है, वह अपने घरको छोड़ कर दूसरे के दरवाजे को मुख्य समझ कर खटखटाने के ही कारण।

अब दूसरे प्रश्न को लीजिये। जब यह शास्त्र, सम्प्रदाय एवं अपने समाज की मान्यताओ से भी भलीभाँति सिद्ध है, कि श्रीरामानुजस्वामीजी तथा उनके पूर्वाचार्य श्रीराममन्त्रराज एवं श्रीसीताराम के उपासक थे, तब यह कहना कितनी उपहास्यप्रद बात है, कि उनकी परम्परा के किसी आचार्य ने श्रीराममन्त्रराज में श्रद्धा नही प्रकट की है, बल्कि घोर निन्दा की है।" क्या कोई उपासक अश्रद्धा रखकर एवं तुच्छ समझ कर भी इष्टदेव अथवा इष्टमन्त्र की उपासना कर सकता है। यह तो बुद्धिके बाहर की बात है। इसके सिवा श्रीरामानुजस्वामी एव उनके पूर्वाचार्यों के ग्रन्थो में श्रीरामजी मे श्रद्धा-भक्ति ही नही, अनन्य भावना का प्रवाह मिलता है जिससे उनके विरुद्ध उपर्युक्त बातें किसी प्रकार कहीं या मानी ही नही जा सकती। इसके लिये सहस्र गीति आलवन्दार स्तोत्र, श्री शरणागति गद्य एवं श्रीरङ्गगद्य आदि ग्रन्थो को देखना चाहिये। यदि यह कहें, कि श्रीरामानुजस्वामीजी के बाद के आचार्यों में ऐसी बातें पाई जाती हैं, तो यह कहना भी अनुचित है, क्योकि एक तो श्रीकूरेशस्वामीजी की

पंचस्तवी एवं श्री पराशरभट्टस्वामीजी के 'श्रीस्तव' 'रङ्गराज स्तव' एवं विष्णुसहस्रनाम भाष्य आदि ग्रन्थो से स्पष्ट है, कि श्रीरामानुजस्वामीजी के वाद के आचार्य्यों में श्रीसीतारामजी में पूर्णभक्ति थी। यदि किसी व्यक्ति विशेष को लेकर आप वैसा कहे, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि वे ऐसा कहे भी, तो वे व्यक्तिगत दोषी समझे जायँगे, न कि सम्प्रदाय।

अब तीसरे प्रश्न को लीजिये यदि किसी व्यक्ति को किसी खास नाम रूपादि में विशेष श्रद्धा हो या किसी प्रकार में किसी खास नाम-रूपादि के वर्णन में उनको विशेष महत्त्व प्रदान कर उस प्रकरण में अन्यो के गौण स्थान दिया गया हो, जैसा कि श्रीलोकाचार्यस्वामी, श्रीवरवरमुनि स्वामी एवं श्रीरङ्गाचार्यस्वामीजी के विषय में कहा गया है, तो इसे निन्दा नही कहा जा सकता। यदि ऐसा माना जाय, तो जिन शास्त्रो से भिन्न २ भगवन्नाम रूपो एवं मन्त्रादिकों का महत्त्व हम प्रामाणिक रूप से मानने का गर्व करते हैं, तो उनमे ही एक से दूसरे की निन्दाओ की भरमार हो जायगी। तो फिर प्रामाणिकता एवं मान्यता किसकी होगी? जिस प्रकार वे सभी वर्णन प्रामाणिकही माने जाते हैं। न कि उसमें छोटाई बड़ाई या निन्दा की कल्पना की जाती है। उसीप्रकार इसको भी समझना चाहिये, यदि इतने पर भी दुराग्रह ही सवार हो, कि ऐसा हो ही नहीं सकता, तो दो एक उदाहरण ही उपस्थित कर देना उचित है।

इस बात में तो किसी को अस्वीकार नही हो सकता, कि सभी श्रीरामानन्दनीय श्रीवैष्णव एकही सिद्धान्त के मानने वाले है, और रसिक वैष्णव भी उसी सिद्धान्त एव उपासना के अनुयायी हैं? अब इनके सिद्धान्तो एव मान्यताओ पर एकदृष्टि डालिये। इस समाज का परम प्रतिष्ठित और मान्य ग्रन्थ श्रीरामनवरत्न है इससे तो किसी को इनकार ही नहीं होगा। अब इसके पाचवे रत्न पर एक दृष्टि डालिये। उसमें लिखा है:—

"अवाचार्यं हनुमन्तं त्यक्त्वाह्यन्य मुपासते।
क्लिश्यन्ति चैवते मुग्धा मूला हाः पल्लवाश्रिता॥ २५॥
श्रीमैथिल्याश्च मन्त्रं हि आगुरु मारुतं महत्।
सखीभावदयेहीष्टं भक्ति मुक्ति प्रदं तथा॥ २६॥
श्रीजानकी सम्प्रदायां रामरास मनन्यताम्।
ऋते केपिन यास्यन्ति वांछितं फल मेवच॥ ७३॥

युग्म मंत्रं बिना नास्ति मंत्रः कोपि सुखप्रदः ।
जानकी वल्लभायास्ना दिनोयास्ना न वल्लभा ॥३१॥
हनुमत् परमाचार्य विनाचार्यो न को विभुः ।
इतिद्धति निर्णीतं पूर्वोक्तं च मयोदितम् ॥ ३२ ॥"

श्लोक निपट अशुद्ध और अंडबंड है, इस पर ध्यान न देकर जैसा अर्थ इसकी टीका में इस सम्प्रदाय के शिष्य द्वारा लिखा गया है, और जिसको उनके अनुयायी मानते और प्रचार करते हैं, उसी को यहाँ दे देते हैं अर्थात्—

"वर्तमान काल के जो कोई आचार्य हनुमान को त्याग कर दूसरे का सेवन करते हैं, सो सब मूढ़ हैं और क्लेश में प्राप्त हो जायगें, जैसे कोई वृक्ष का मूल काट करके पल्लव में आश्रित भये से दुख को प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥ श्रीजानकीजी का मन्त्र और महान जो मारुत गुरु यह दोनों सखी भाव के देने वाले हैं, स्त्री पुरुष के इष्ट हैं भोग्य मोक्ष के देने वाले हैं ॥ २६ ॥ श्रीरामजी के रास में जानकी सम्प्रदाय जो है, तिसके बिना दूसरा कोई वांछित फल देने वाला नही हैं, ॥ २७ ॥ युगल मन्त्र के बिना कोई दूसरा मन्त्र सुख प्रद नहीं है। रामजी की उपासना बिना दूसरी उपासना जानकीजी को प्रिय नहीं है ॥ ३१ ॥ श्रीहनुमानजी जो परम आचार्य हैं, तिनके बिना दूसरा आचार्य नहीं है, पूर्वाचार्य से कथित यह बात प्रसिद्ध है, सो हम आप से कहा है ॥ ३२॥

यद्यपि श्लोक की ही तरह टीका भी अशुद्धियों से भरी तथा अंडबंड ही है, फिर भी इससे इतनी बातें तो स्पष्ट हैं ही, कि इनकी मान्यता यह है, कि "श्रीरामजी के रास सम्बन्धी जो श्रीजानकी-सम्प्रदाय है, उनके विना कोई वांछित फल देनेवाला नहीं। इसमें श्रीजानकी मन्त्र है, हनुमानजी आचार्य हैं ये दोनों सखी भाव के देने वाले हैं। युगल मन्त्र के बिना दूसरा मन्त्र सुखप्रद नही, हनुमानजी के सिवा दूसरा कोई आचार्य नहीं है।,, इतना ही नहीं, रसिक-समाज के प्रतिष्ठित महात्मा श्रीसियलाल शरणजी 'प्रेमलता, ने भी वही बातें अपने 'बृहद् उपासना रहस्य, में लिखी है। उपरन्तु यह भी कहा है कि इस सम्प्रदाय के सभी आचार्य इसी पति-पत्नी भाव के उपासक हुए हैं। इतना ही नही, उनका आत्म-सम्बन्धी नामके रूप में स्त्री का ही नाम बतलाया है, यथा, हनुमानजी को चारुशीलाजी, भरतजी को चन्द्रकलाजी आदि वल्कि एक ग्रन्थ

'सीताराम रहस्य दर्पण, में' यह भी कहा है, कि बिना स्त्री भावना के जो सेवा में श्रीजानकीजी का अंग स्पर्श करता है, वह नारकी होता है। अब बतलाइये, क्या यही बाते सारे अन्य तथा श्रीरामानन्दीय-वैष्णवो को मान्य होगी ? यदि नही, तो क्यो ? यही न, कि इनका इस पद्धति में विशेष अनुराग हो गया, उसी के फल स्वरूप ये लेख हैं। इसी प्रकार उपर्युक्त श्रीवरवरमुनि स्वामीजी आदिके लेख सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

अब तीसरे प्रश्न पर विचार करें। यह कहना, कि ये स्वयं पुकार पुकार कह रहे हैं कि हमारे यहाँ रामादिमन्त्र नहीं है, हम उनको कभी उपदेश नही करते। इसलिये उस सम्प्रदाय में श्रीराममन्त्र नहीं है, यह ठीक नही। क्योंकि एक तो शास्त्र में श्रीरामानुजस्वामीजी एवं उनके पूर्वाचार्यों के लिये श्रीराममन्त्र की उपासना का प्रमाण है। इसके सिवा जब हमलोगो के मान्य ग्रन्थ पटल में लिखा ही है,कि श्रीरामानुजस्वामीजी श्रीसीतारामोपासक हैं,तो उनके नही कहने से हमारी क्या हानि ? हम अपनी मान्यताओ को देखेगे, कि उनकी ? यदि उनके कुल में नहीं है, तो यही मानना पड़ेगा, कि पहले से तो था ही, जिसका शास्त्रीय प्रमाण तक है, किन्तु उनके ही किसी पूर्वज से श्रीराममन्त्रका उपदेश कारण वश नही होने लगा होगा, तब से उनके यहाँ नहीं ही मन्त्र है। पीछे से उनको मालूम पड़ता होगा, कि श्रीराममंत्र कभी इस सम्प्रदाय में है ही नहीं। इसीलिये लिख दिया होगा। इस बातकी पुष्टि इससे सहज ही हो जाती है, कि तोताद्रि के स्वामीजी तथा काञ्ची के अनन्ताचार्य स्वामीजी ने इस बात को स्पष्टत. स्वीकार किया है, कि हमारे यहाँ श्रीराममन्त्र की दीक्षा-शिक्षा होती है जैसा कि उनके निम्न उद्धृत पत्रो से विदित होगा।

पहिला पत्र।

श्रीमते रामानुजाय नम।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्योभयवेदान्तप्रतिष्ठापनाचार्यैः श्रीमद्रामानुजापरावतारश्रीमद्वरवरमुनीन्द्राष्टदिग्गजप्रथमपरिगणितैः श्रीमद्रम्यजामातृयतिवरकृपालब्ध श्रीवरमङ्गासमेत श्रीदेवनायकान्तरङ्गकैङ्कर्यैकधुरन्धरैः अखण्ड महीमण्डलालङ्कारमहीपालकोटीरकोटिघटितमणिकिरणपटलपाटलितपादपीठपर्य्यन्ताचार्यैः परमपुरुषार्थलक्षणविलक्षणमोक्षैकप्रयोजनार्थपञ्चकज्ञानैकसाधन श्रीमदष्टादशरहस्यत्रयजगदुज्जीवनाचार्यैः सकलमुनिजनमानसार

विन्दसन्दोह समुल्लाससमुल्लसितश्रीराजहंसावतारैःश्रीभगद्रामानुजसिद्धान्त निर्धारकाचार्यसार्वभौमैः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रैः ।

श्रीतोताद्रिरामानुजयतीन्द्रैः

समस्तश्रीवैष्णवानाम् इदम् इदानीम्प्रकाश्यते-उत्तर भारतमें कोई कोई श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव लोग घोषणा किया करते हैं, कि दाक्षिणात्याचार्य श्रीवैष्णवों में श्रीनारायणाष्टाक्षरमन्त्र विना और कोई भगवन्मन्त्र गुरुपरम्परा प्राप्त उपदेश नही होता और श्रीरामचन्द्र भगवान् श्रीकृष्ण भगवान् तथा श्रीरामकृष्णादि मन्त्रोंकी भी निन्दा की है किन्तु ई तो श्री वैष्णवाचार्य गोष्ठी परिचयरहित वार्ता है क्योंकि हमारे श्रीवैष्णव सम्प्रदायमें श्रीलक्ष्मीनाथादि गुरुपरम्परागत श्रीअष्टाक्षर श्रीरामषड्क्षर श्रीहयग्रीव नरसिह सुदर्शनादि मन्त्रो का उपदेश समाश्रयण कालमें होता है और हमारे श्रीतोताद्रि पीठमें भी यही चाल है । अतः उत्तमाधिकारियों को अधिकारानुगुण अष्टाक्षर श्रीरामषड्क्षर हयग्रीव नरसिह सुदर्शनादि मन्त्रों का उपदेश देना लेना साम्प्रदायिक है और हमारे दाक्षिणात्याचार्य श्रीवैष्णवो का वहुत सा ग्रन्थोमें श्रीरामचन्द्रभगवान् श्रीरामषड्क्षर मन्त्र की उत्कर्षता वर्णन की गयी है, और उन्हीं ग्रन्थोमें यह भी उल्लेख है कि श्रीरामषडक्षर मन्त्र मुमुक्षुवों को अवश्य ग्रहण कर्तव्य है और हमारे दाक्षिणसर्वदिव्य देशोमें भी श्रीरघुनाथ और श्रीकृष्णादि मूर्ति प्रधान रूपसे स्थापित हो रही है और होती भी है । हम सबों का यह शिष्टाचार है ।

रक्ताक्षिनाम संवत्सरे
कन्यामासे शुक्लपक्ष
तृतीया बुधवार

(हस्ताक्षर)

दूसरा पत्र ।

श्रीमते रामानुजाय नमः । श्रीवादिभीकरमहागुरवे नमः ॥
उपास्स्व वैष्णवान्नित्यमसतोमोपसीसरः ॥

नित्यं विष्णुपरं कर्म कुरु निन्द्यानि मा कृथाः । सदात्मानं विबुध्यस्व मा कामेपु मनः कृथा । यजस्व नित्यमात्मेशं मानंसीरन्यदेवताः । लक्षस्व लक्षणैर्भर्तुर्लक्षिष्ठा माऽन्यलक्षणैः श्रीमान्करिगिरिनिलयः कमलादयितः करोतु कल्याणम् ।

श्रीदेवराजनामा परः पुमान परमकारुणिकः ॥

मायिमतङ्गजमस्तककोटीपाटनपाटलपाणितलो यः ।

श्रुत्यटवीकुहरेषु समिन्धे स प्रतिवादिभयङ्करसिंहः ॥

श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्योभयवेदान्तप्रवर्त्तकाचार्य्याः, जगद्गुरु श्रीभगवद्रामानुजमुनीन्द्रसंस्थापितचतुस्सप्ततिपीठाधिपतिमध्यपरिगणित श्रीमन्मुडुम्बैनम्बिवंशमुक्ताफलानाम्— श्रीमद्रामानुजयतिसार्धभौमापरावतार-श्रीमद्वरवर मुनीन्द्रप्रतिष्ठापिताष्टदिग्गजप्रधानानाम्, श्रीमल्लोकगुरुमहावंश-सम्भूतानाम्, श्रीभाष्यसिंहासनाधिपतीनाम्-श्रीमद्रम्यजामातृयतिवरकरुणालब्धश्रीवेणुगोपालान्तरङ्गकैङ्कर्य्यधुरन्धराणाम्--अनन्यसाधारणप्रतिवादिभयङ्कर-विरुदभाजाम्-श्रीमदखिलाण्डकोटिब्रह्माण्डनायक श्रीवेङ्कटेशप्रसाद-लब्धच्छत्रचामकाहलीभद्रासनादिपरिच्छदानाम्—श्रीहस्त्यद्रिनाथदेशि—केन्द्राणाम् सिंहासनमधितिष्ठन्तः, परमपुरुषार्थलक्षणविलक्षणमोक्षैकप्रयोजनाऽर्थपञ्चकज्ञानैकसाधनश्रीमदष्टाक्षरादिरहस्यत्रयतदर्थोपदेशपवित्रीकृतनि--खिलजगदुज्जीवनाचार्य्याः श्रीभगवद्रामानुजसिद्धान्तनिर्धारणधूर्वहाः ।

श्रीकाञ्चीप्रतिवादिभयङ्कर-सिंहासनाधीश्वराः,

श्री मद्-अनन्ताचार्य्या

इदमिदानीं प्रकाशयन्ति—यदुत केचिदविज्ञात—सत्सम्प्रदायशिष्टाचारमर्मा पुरुषा उद्घोषयन्ति दाक्षिणात्या श्रीवैष्णवाचार्य्या श्रीमन्नारायणाष्टाक्षरादन्यं कमपि मन्त्रं गुरुसकाशान्न गृह्णन्ति न चोपदिशन्ति शिष्येभ्य इति । तदिदं मिथ्याजल्पितमात्रं वय भावयामः, दाक्षिणात्या अप्याचार्याः श्रीरामचरमश्लोक श्रीवराहचरमश्लोक श्रीराम कृष्ण नरसिंहादिमन्त्राना-चार्य्येभ्यस्स्वाधिकारानुसारेण गृह्णन्त्युपदिशन्ति च शिष्येभ्यः । न चात्र प्रमाणान्तरमन्वेष्टव्यं पश्यामः, यतो वय स्वयं लक्ष्मीनाथादिगुरुपराप्राप्तान् श्रीराम-षडक्षर (तारक ब्रह्म) श्रीसुदर्शन हयग्रीवादिमन्त्रानाचार्य्येभ्यः प्राप्य शिष्येभ्यस्समुपदिशामः । इतीदं पत्रं माघ शुक्ल षष्ठ्यां १९८० तमे विक्रमाब्दे प्रयागे व्यलिख्यत ।

इससे यही मानना पड़ेगा, कि यदि श्रीरंगाचार्यजी वैसा मानते थे, तो यह उनके कुल के ही लिये लागू होगा, सम्प्रदाय के लिये नही। इस बात को एक प्रकार से और भी विचार कर सकते हैं और वह यह, कि उन्होने ऐसा वाद-विवाद के अवसर पर कहा है। हो सकता है, कि साधारण अवस्था में ऐसा नहीं मानते हो। और ऐसा कहने का कारण यह है कि उन घरानो में श्रीरामजी की ही उपासना का अधिक प्रचार है। उनके विख्यात शिष्य परमहंस श्रीराजेन्द्रसूरिजी तरेत (जिला पटना) श्रीरामजी

की ही उपासना करते थे। उन्होंने अपने स्थान के मन्दिर में श्रीसीताराम लक्ष्मण की ही स्थापना की थी। इतना ही नहीं, उनके बनाये हुए कम से कम मगध में १०-१५ मन्दिर होंगे, जिनमें श्रीसीताराम एवं लक्ष्मणजी की ही स्थापना की गयी है। इसी तरह उन्होंने नासिक-पञ्चवटी के स्थान में भी श्रीसीतारामजी एवं लक्ष्मणजी की ही स्थापना की थी। इससे यह सहज अनुमान होता है, कि वे श्रीसीतारामजी में भक्ति भाव रखते थे, तब तो शिष्यों को ऐसी शिक्षा दी, कि जिसमें उनके घरानों में श्रीसीतारामजी की भक्ति की ऐसी धूम है।

अब चौथे प्रश्न पर विचार करें। इसमें कहा गया है, कि "उनके ग्रन्थों में श्रीरामकृष्णादि की घोर निन्दा की गयी है।" इस सम्बन्ध में भी बहुत कुछ वही बातें कही जा सकती हैं, जो दूसरे प्रश्न के उत्तर में कही गयी है। इसके सिवा यह कहा जा सकता है, कि 'प्रपन्नामृत' तो निपट आधुनिक पुस्तक है, अतः उसकी पाबन्दी आचार्यों के सिद्धांत एवं व्यवहार पर कैसे होगी? आचार्यों में तो श्रीराम कृष्णादि में पूर्ण भक्ति भावना के प्रमाण स्वरूप उनके ग्रन्थ ही मौजूद हैं, जिसका पहले वर्णन भी किया जा चुका है। अतः इस सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।

इसके सिवा एक बात और। यदि किसी विशेष नाम-रूप उपासना में ही किसी का हृदय लग जाय, और उस भाव की उसमें तीव्रता हो जाय, तो वह तो सब से अच्छा, सब से बड़ा उसी को कहेगा ही, अतः इस भावना के आवेग को दोष मानकर सम्प्रदाय को दोषी ठहरावें, यह उचित नहीं, अधिकसे अधिक उस व्यक्ति को दोषी ठहरा सकते हैं, किन्तु अवस्था के विचार से वह भी क्षम्य है। हाँ, यह बात अवश्य है, कि उस बात की मान्यता नहीं हो सकती। और यदि देखना हो ही, तो सब से पहले अपना दोष देखना चाहिये। क्योंकि समाज में ऐसे लोग होते हैं। फिर अपना ढेंढ़ न देख कर दूसरे की फूली निहारा करें, यह अनुचित है। उदाहरण के तौर पर कुछ अपने घर की करतूत पर भी दृष्टि डालिये। श्रीरामनवरत्न का कुछ वर्णन पहले किया जा चुका है, अब कुछ और भी देखिये। श्रीरामनवरत्न के पंचमरत्न में लिखा है:—

वशिष्ठ संहितायां:—

रामदासात परोधर्मो यस्मिन्नन्यो निरूप्यते।
शास्त्रं तं म्लेच्छ बौद्धानां विष्वक्सेन विचक्षणः ॥३॥

महाशंभु संहितायामगस्त्य वाक्यं सुतीक्ष्णं प्रतिः—

कृपा च साधनं सिद्धिर्भक्तिः श्रीमैथिली पते।
अन्यन्तु केवलश्रमं साधितं मतवादिभिः ॥ ४ ॥
अद्याचार्य हनूमन्तं त्यक्त्वाह्यन्युमुपासते।
क्लिश्यन्ति चैवते मुग्धा मुलाहाः पल्लवाश्रित ॥२५॥

टीका—श्रीरामजी के दास से दूसरा कोईधर्म जिस शास्त्रमें निरूपित है, सो शास्त्र नहीं है मानो सो शास्त्र म्लेच्छ बोध बिष्वक्सेन के सदृस है ॥ ३ ॥ श्रीमैथिली पति जो राम उनका कृपा साधन, सिद्धि और भक्ती करना उचित है, इससे दूसरा कोई धर्म लिखा है, तिसमें केवल परिश्रम होते हैं, उससे कुछ फल नहीं है जो आचार्य ऐसा धर्म लिखा है, सो आचार्य मानो उन्मत है। उनको कुछ धर्म कर्मादिक विषय मालुम नहीं है ॥ ४ ॥ वर्तमान काल के जो कोई आचार्य हनुमान को त्याग करके दूसरे को सेवन करते हैं, सो सब मूढ़ हैं और क्लेश को प्राप्त होगये जैसे कोई वृक्ष का मूल काट करके पल्लव में आश्रित भये दुःख को प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

कहिये, अन्य भगवन्नाम-रूपों की उपासना, उपासक, आचार्य एव शास्त्र की इससे बढ़कर कही निन्दा देखी है ! जिनके शास्त्र को म्लेच्छ ग्रन्थ (कुरानादि) के समान आचार्य को उन्मत्त उपासक को 'मूढ़ और उपासना को निष्फल कहा गहा है ?

अब अन्य भगवन्नाम-रूपो की भी दुर्दशा भी देखिये। श्रीरामजी के सामने नाचगान करने वालियो का वर्णन सुनियेः—

द्वितीयरत्न—

उर्वसी मेनका रम्भा राधा चन्द्रावली तथा।
हेमाक्षेमा वरारोहा पद्मगन्धा सुलोचना ॥२४॥
हंसिनी मालिनी पद्ममा हरिणी मृगलोचना।
रामस्य परिनृत्यन्ति गीतवादित्र मोहिता ॥२५॥
हर्षिता राधिका तत्र जानक्यंश समुद्भवा।
रामस्यांश समुद्भुतः कृष्णो भवति द्वापरे ॥५५॥

टीका—उर्वसी मेनका रम्भा राधा चन्द्रावली हेमा क्षेमा यह सब कैसी हैं, सर्व स्त्री मे श्रेष्ठ है और पद्म गन्धा जिसके सुन्दर नेत्र हैं अरू हंसिनी मालिनी पद्मा हरिणा के सदृश नेत्र है, यह गीत और बाजा के प्रेम में मस्त है ॥ २४ ॥२५॥ श्रीराधिकाजी श्रीजानकीजी के अंश से उत्पन्न हुए, ऐसा ख्याल करके श्रीराधिकाजी प्रसन्न हुई और द्वापर में श्रीरामजी के अंश से श्रीकृष्णजी अवतार लिये ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीराधिकाजी को उर्वसी, मेनका आदि अप्सराओं के नृत्य करने वालियों में गिना गया। पुनः श्रीराधिकाजी को श्रीजानकीजी के अंश से उत्पन्न तथा श्रीकृष्णजी को श्रीरामजी के अंश से उत्पन्न लिखा। कहिये, यह राधाकृष्ण का परम सत्कार हुआ ? फिर अपना ढेढ़ क्यों नही सूझना ? दूसरो की बात लेकर इतनी उछल कूद मचा रहे थे।

अब जरा महारामयण की कुछ लीलायें भी देखिये ! यह २४ पन्ने की छोटी सी पुस्तिका है। उसमें लिखा है—

१—'अवताराविभोमुग्धे जायन्ते विश्वहेतवे ।

तेपिरामांघ्रि चिन्हेभ्यः संभवन्ति पुनः पुनः' ॥पात्र २श्लो० १६

४—'एवं श्रियां शृङ्गाराः श्रीकृष्णोत्पत्ति कारकाः'। प०३श्लो०२७

६—'वंश्यावंशी समुज्जाता कृष्णाधर सुधाप्रिया ।

७—वृन्दावनेऽद्भुतैर्नादैः सर्वलोक विमोहिनी ॥' प० ३—३३

'शक्तिराह्लादिनी राधा चन्द्रिकायां समुद्भवा' ४—३४

५—'ध्वजा पताकयोर्जातौ नरनारायणा वुभौ' ३—३१

३—'चिन्हेन च महालक्ष्मी तथा लक्ष्मीसमद्भवा ।' २—२०

२—'महाभद्रो महाविष्णुः जायते स्वस्तिकादपि' २—१७

इससे स्पष्ट हैं, सभी अवतारों, राधा कृष्ण, नर नारायण, लक्ष्मी-महालक्ष्मी विष्णु-महाविष्णु की उत्पत्ति श्रीरामजी के चरण चिन्हो से लिखी है। कहिये, यह निन्दा है कि स्तुति ? इस प्रकार जब हम देखते हैं, कि हमारे घर में भी ऐसे लोग हुए हैं। जिन्होंने अपनी भक्ति भावना की अनन्यता के उद्रेक अथवा अन्य कारणवश ऐसी बातें लिखी है, जो विचारक सभी वैष्णवों की दृष्टि में अनुचित कार्य है। क्योंकि सभी भगवन्नाम-रूपों में स्वरूपाभेद है, अतः किसी की भी निन्दा अथवा

अपमान करना अपराध है किन्तु किसी नाम रूपों में अधिक भक्ति भाव होने के कारण वह साधारण दृष्टि से क्षम्य समझा जाता है। अतः ऐसी बातें लेकर सम्प्रदाय की निन्दा या कलह बढाना अनुचित है और जो कोई ऐसा करता है। उसको पहले अपना घर सम्हालना चाहिये।

बुरा जो देखन मै चला, बुरा न दीखै कोय।
मै दिल खोजा आपना मुझसा बुरा न कोय॥

अब पाचवें प्रश्न को लीजिये। कि 'तब हम हठात क्यो उनमें घुसते फिरें।' अर्थात् जब वे—आचारी-वैष्णव--हमको अपना नही बताते, तो हम क्यो उनमे घुसते फिरें? बात ठीक है, किन्तु उनमें घुसने की बात कैसी? जैसे वे हैं वैसे हम है। भाई चारा-निबहे, तो साथ हैं, नहीं तो अलग। इसमें किसी मे घुसने की बात कहाँ आयी। श्रीरामानुजस्वामीजी जैसे उनके आचार्य है। वैसे हमारे क्या उनका उनपर पूर्ण आधिपत्य हो गया है, कि जिसका वे श्रीरामानुजस्वामी जी की परम्परा में कहे या उनका मन्त्र स्वीकार करें, वही उस वश का माना जाय? जैसा वे कह सकते हैं, वैसा हमको भी तो कहने का अधिकार है? अत' यह कथन ही अनुचित है।

इस प्रकार स्पष्ट हो गया, कि निन्दा आदि की बातें लेकर सम्प्रदाय की भिन्नता की जो कल्पना की गयी है, वह सर्वथा निस्तत्व है।

अब परम्परा वाले अंश पर भी विचार करे, इसमें श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर से सम्बन्ध रखने वाली जो परम्परा की बातें हैं, उस पर 'प्रकाश' की आलोचना में अच्छी तरह प्रकाश डाला जा चुका है, परन्तु भक्तमाल पर एक नये ढंग से धींगांधींगी शुरू की गयी है, अतः इसी पर एक प्रौढ़ दृष्टि डालनी चाहिये। यद्यपि श्रीरामानन्दस्वामीजी के परिचय देते समय वंश-स्वीकृति में भक्तमाल की अच्छी तरह विवेचना की गयी, पुन. नूतन 'श्रीराममन्त्र राजपरम्परा' की टीका मे भक्तमाल की बात आई थी, उसकी आलोचना में भी इसका पूर्ण स्पष्टीकरण कर दिया गया है, जिससे इसको मिला कर देखने मात्र से ही इसकी अनर्गलता स्पष्ट हो जायगी। फिर भी इस स्थल के अनुसार भी इस प्रकाश पर दृष्टि डालना समुचित ही होगा।

तत्वोद्बोधन-मीमांसा के ८ वें पृष्ट में लिखा है:—

"श्रीरामानुज उदार सुधानिधि अवनि कल्पतरु॥

ऐसा लिखा है वहाँ 'श्रीरामानन्द उदार सुधानिधि' ऐसा पाठ है और यही पढ़ने में भी अच्छा लगता हैं तथा छन्द का रस भी आजाता है।'

सब से पहली बात तो यह, झूठे ही कह डाला है, कि 'श्रीरामानन्द सुधानिधि' पाठ है। ऐसी कोई पुस्तक नहीं, जिसमें ऐसा पाठ हो। सारी पुस्तकों में 'श्रीरामानुज' ही पाठ है, जितनी भी छपी मूल या कोई भी टीका वाली पुस्तक है सबमें 'श्रीरामानुज' ही पाठ है। यहाँ तक कि डिपटी भगवान प्रसादजी की टीका के पीछे के संस्करण में आप या आपके अनुयायियों ने नूतन-परम्परा मिलवाई है, फिर भी उसमें उपर्युक्त पाठ श्रीरामानुज ही है श्रीरामानन्द नहीं। ऐसी अवस्था में भी 'मुँह है तो दस हाथ का हरें कहेंगे' वाली कहावत चरितार्थ करें, तो कौन रोके? पुनः कहते हैं 'यही पढ़ने में अच्छा लगता है।' तो अपने अच्छे लगने के झोंक में जो जी में आवे, पाठ बना डालें, यह उचित नहीं, क्षम्य नहीं, मान्य नहीं। ऐसा करना धांधली मचाना है। तब रह गयी 'छन्द में रस आ जाने' की बात किंतु छन्द मे कैसे रस आया, पता नहीं, दो मात्रायें बढ़ जाने से छन्द तो अशुद्ध हो गया, परन्तु आप को छन्द में रस मिल रहा है! यह तो प्रकृति का दोष है, कि आपको अशुद्धि मे रस मिलता है, असत्यता मे रस मिलता है, जालसाजी मे रस मिलता है अर्थात् त्याज्य-वृत्तियों में ही आपको सरसता मालूम होती है।

यह छप्पय छन्द है। यह छन्द मिश्र होता है। इसमें रोला और उल्लाला का मिश्रण होता है। यहाँ 'श्रीरामानुज उदार' वाला चरण रोले का है। रोला २४ मात्रे का छन्द है, अर्थात् उसके प्रत्येक चरण २४ मात्राओं के होते हैं। अब इसकी परीक्षा कीजिये।

२ २ २ १ १ १ २ १ १ २ १ १ १ १ १ २ १ १ १
श्री रा मा नु ज उ दा र सु धा नि धि अ व नि क ल्प त रु = २४ मात्रा
२ २ २ २ १ १ २ १ १ २ १ १ १ १ १ २ १ १ १
श्री रा मा न न्द उ दा र सु धा नि धि अ व नि क ल्प त रु = २६ मात्रा

इस प्रकार 'श्रीरामानन्द' पाठ करने से दो मात्राये बढ़ जाती हैं, और गति में भी इसका पाचन नहीं होता, अतः छन्द अशुद्ध हो जाता है। 'रामानन्द' शब्द में 'न्द' के पूर्ववर्ती न दीर्घ होता है अतः दो मात्रा होती है पुनः 'न्द' में 'द' 'न' से संयुक्त रहने के कारण ठहराव प्राप्त कर लेता है, अतः गति में परवर्ती 'उ' से संयोग होकर प्रवाह नहीं चलता, अतः 'द' और 'उ' दोनो एक एक मात्रा होकर २ मात्रा होजाती है। इस प्रकार पहले छन्द की दो मात्रा इसमे चार मात्रा हो गयी। 'श्रीरामानुजउदार' में 'नुज' में 'नु' ह्रस्व है ही, उसका परवर्ती 'ज'

भी ह्रस्व ही है अतः 'नु' ह्रस्व ही रह जाता है। पुनः 'ज' असंयुत वर्ण है, अतः उसकी गति ठहरती नहीं, बल्कि हलन्त के समान बहकर 'उ' कार से मिल जाती है, तब छन्द का लय इस रूप में हो जाता है 'श्रीरामानुजउदार सुधानिधि अवनि कल्पतरु' अतः छन्द के नियम से यह पाठ शुद्ध है। छन्द में लय के अनुसार ही मात्राओं एवं वर्णों की गणना होती है परन्तु मीमांसाकार को अशुद्ध बना लेने पर ही छन्दरस मिलता है। इससे स्पष्ट है, कि पाठान्तर के लिये केवल धींगाधींगी की गयी है, जो चल नहीं सकती है।

इसके बाद फिर दूसरी धाधली इस प्रकार शुरु की गयी है:—

"रमापद्धती रामानुज, विष्णुस्वामि त्रिपुरारि।
निम्बादित्य सनकादिका मधुकर गुरु मुखचारि॥

जहाँ ऐसा पाठ है,वहाँ 'रमापद्धति रामानन्दविष्णुस्वामि' इत्यादि पाठ है। इसी लिये भविष्यपुराण से भी विरोध नहीं हुआ। अन्यथा उस पुराण में चारों आचार्यों का नाम गिनाते समय सबसे प्रथम श्रीरामानन्दस्वामीजी, तब श्रीनिम्बादित्यजी, श्रीमध्वाचार्यजी श्रीविष्णुस्वामीजी का नाम गिनाया है। रामानुजस्वामीजी के नाम का पता ही नहीं है, ऐसी अवस्था में भी नाभाजी के भक्तमाल को भविष्यपुराण से विरुद्ध होने के कारण भक्तमाल में अश्रद्धेयत्वापत्ति अवश्य हो जाती"

सबसे पहली बात तो यह है, कि 'रमापद्धति रमानन्द' पाठ कहीं भी नहीं है, यह केवल आपकी धांधली है। यदि कहीं रहे तब तो? अब रही आपकी कल्पना की प्रामाणिकता की बात अतः उस पर भी एक दृष्टि डालें। जब आप लक्ष्मीजी एवं जानकीजी को भिन्न २ मान कर अलग अलग परम्परा होने की कल्पना कर रहे हैं, तो रमा का अर्थ लक्ष्मीजी छोड़कर किसी प्रकार भी जानकीजी हो ही नहीं सकता, जहाँ भी ऐसा मानने का कारण उपस्थित होगा, वहाँ लक्ष्मीजी से अभेद का वर्णन भी अवश्यही मिलेगा। ऐसा आप एक स्थल भी नहीं बता सकते जहाँ श्री लक्ष्मीजी एवं श्रीजानकीजी में भेद मानते हुए भी श्रीजानकीजी को रमा कहा गया हो। रमा शब्द का एकान्त अर्थ लक्ष्मीजी है, और लक्ष्मी जो एवं श्रीजानकीजी में अभेद-वर्णन कितने ग्रन्थों में भरा है। अतः यहां अभेद होने पर ही रमा का अर्थ श्रीजानकीजी माना जायगा, अन्यथा नहीं। किन्तु आपने भेद मानकर परम्परा अलग की है,

अतः रमा पद्धति रामानन्दजी को मानने की कोई राह ही नहीं रह गयी। हाँ अबकी 'सीतापद्धति रामानन्द, पाठ की कल्पना करिये। नहीं मानता परन्तु यहाँ आप स्वार्थान्ध होकर उसी को इस प्रकार पकड़े हैं, कि आपने नाभाजी जैसे महात्मा में अश्रद्धेयत्वापत्ति तक मानने को उतारू होगये हैं। इतना ही नहीं, 'श्रीमद्रामानन्द-दिग्विजय (२ प्र-स-) की भूमिका में उनकी लिखी हुई परम्परा से श्रीअग्रदासजी के नाम पर बनाई हुई परम्परा की बराबर पोल खुलती रहने के कारण उनको (नाभाजीको) भ्रान्त तक कहने का दुस्साहस आपने किया है। खैर, आप उनको भ्रान्त बनायें, या जो कुछ, परन्तु उसमे आपकी नूतन-परम्परा के अग्रदासजीकृत होने की पोल तो खुली ही ? अब भविष्य पुराण की बात लीजिये। यहाँ भी आपके ही प्रमाण से आपका मुँह बन्दकर देना अच्छा है। आप अपने श्रीमद्रामानन्द-दिग्विजय (प्रथमसंस्करण) की भूमिका पृष्ट ५२ को देखिये, और अपने पहले कथन से मिलाइये। क्या लिखा है:—

"इन श्लोकों से यह प्रतीत होता है, कि भगवान श्रीरामानन्दस्वामी सूर्यावतार हैं। श्रीरामावतार नहीं। साथही यह विदित होता है, कि उनके पिताका नाम देवलथा, श्रीपुण्यसदन नहीं तथा उनकी जन्मभूमि काशीथी, प्रयाग नहीं परन्तु मुझे मालूम होता है, कि ये सब श्लोक या तो कल्पान्तर की कथा को वर्णन कर रहे हैं अथवा तो पञ्चरात्र की संहिताओं तथा श्रीरामानन्दसम्प्रदाय के बृद्ध महापुरुषों की परम्परा प्राप्त ख्याति के विरुद्ध होने से अप्रमाणिक है जिस प्रकार से श्रीपीपाजी और भक्त नरसिं मेहता के सम्बन्ध में अनेक प्रमाणों के विरुद्ध दक्षिण देश का वणिक आदि अप्रमाणिक लेख भविष्य पुराण में कहीं से आ गये हैं, उसी प्रकार से यह भी प्रसङ्ग वहाँ अश्रद्धेय रीति से ही वर्णित हैं।"

अब देखिये, आपके कथन का टिकाऊपन। कैसा रङ्ग बदलते हैं। तत्वोद्बोधन मीमांसा में तो उसी भविष्य पुराण को लेकर आपने नाभाजी में अश्रद्धेयत्वापत्ति दोष मढ़ा, अब अपनी कृत्रिम पुस्तक वाल्मीकि-संहिता के विरुद्ध होने पर यहाँ भविष्य पुराण ही अश्रद्धेय रूप वर्णित कर डाला गया है। जहाँ देखिये, आप दाव पड़ते ही बात बात पर फिसलते हैं। तत्वोद्बोधन-मींमासा में तो भविष्य पुराण को ही उद्धारक समझ कर उसकी पूँछ पकड़ वैतरणी पार हो रहे थे, परन्तु यहाँ गोता खाते ही छोड़करभाग चले। इतना ही नही, इसीश्रीमद्रामानन्द-दिग्विजय की भूमिका के पृष्ठ १४-१५ में उसको प्रामाणिक माना गया है, सो भी श्रीरामानन्दस्वामीजी

की जीवनी के अंश में ही, फिर भी भूमिका के ही पृष्ट ५२ में भविष्य पुराण के लेख को अप्रामाणिक कह रहे है। इसी को कहते हैं 'मीठा मीठा गप्प और कड़वा थूः। अतः ऐसे विचार का मूल्य कानी-कौड़ी भी नही। अतः भली भाति सिद्ध है, कि भक्तमाल का पाठ समीचीन है, आपके पाठान्तरा की कल्पना बेजड़ और धाँधली है।

तब कुछ धांधली में दम आयेगा। किन्तु फिर भी नही बनेगा, क्योकि आगे श्रीनाभाजीने रमा 'पद्धति' का ऐसा खुलासा किया है, कि वहाँ आपकी दाल रत्ती भर भी नही गल सकती। इसीके आगे 'रमा पद्धति' के वर्णन का इस प्रकार आदर के साथ वर्णन कियाः—

"सम्प्रदाय शिरोमणि सिन्धुजा रच्यो भक्ति वितान।
विष्वक्सेन मुनिवर्य सुपुनि शठकोप पुनीता-इत्यादि॥"

कहिये, इस सिन्धुजा शब्द का अब क्या अर्थ करियेगा। यदि आप जनकजा' पाठकी फिर कल्पना करें तौभी गति नही, क्योकि इसीमें विष्वक्सेनजी शठकोपजी आदि को लेकर प्राचीन परम्परा लिखी हुई है। यदि आप कहे, कि यह हमारी परम्परा का वर्णन ही नही, तो फिर आपकी परम्परा गयी कहाँ? क्योकि चारो सम्प्रदायों मे सबसे पहले और 'सम्प्रदाय शिरोमणि' कहते हुए इसी का वर्णन किया है। तब फिर आपकी परम्पराका रूप ही रेख नही रहा, यदि 'रामानुज पद्धति प्रताप अवनी अमृत है अनुसर्‍यो। देवाचारज दुतिय महामहिमा हरियानन्द, मे आप देवाचार्यजी से अपनी परम्परा बतावे, तो एक ता आपको परम्परा के मूल का कुछ पता ही नही रहता, बीच से पथ के समान शरु होता दिखाई पड़ता है। दूसरी बात उसी छप्पय मे जब रामानुज पद्धति के प्रसार के रूप मे देवाचार्यजीका वर्णन मिलता है, तब उससे अलग कल्पना करने की राह ही कहाँ रही। अतः धाँधली किसी प्रकार भी चल नही सकती।

अब रह गयी भक्तमाल पर ही अश्रद्धेयत्वापत्ति दोष आने की बात। एक तो ऐसा कहना ही उच्छृङ्खलता है, क्योकि जब आप अग्रदासजीकी परम्परा की पुष्टि का विचार कर रहे है, तब सबसे पहली बात ता यह है कि गुरु-शिष्य की परम्परा ही एक दूसरे से अलग? अतः अग्रदासजीके नाम पर बनी हुई परम्परा की पोल ता खुल ही गयी। फिर समर्थन और पुष्टि

की बात ही चलाने की नहीं। तो भी आपके भविष्यपुराण के आग्रह को भी सुलझादें क्योंकि आप उसी के लिये चंचल हो रहे हैं।

'श्रीराममन्त्रराज परम्परा' की भूमिका की आलोचना में भविष्यपुराण पर अच्छी तरह प्रकाश डाला गया है, अतः विशेष तो वहां देखना चाहिये किन्तु संक्षिप्त कुछ यहाँ भी दे देता हूँ। सबसे पहली बात तो यह है कि उसमें आचार्य का अवतार कहकर इन सबों का वर्णन ही नहीं हुआ है न एक क्रम से है बल्कि बीच में श्रीधरस्वामीजीका नाम आया है, अत उन्हीं को क्यो नहीं आचार्य मानते? उनको छोड़ने के लिये कोई युक्ति है? जब उनको छोड़कर अगले महात्मा को आप आचार्य चुनते ही हैं, तो उससे आगे चलकर श्रीरामानुजस्वामीजीका वर्णन महत्व के साथ वर्णित है, उनको भी क्यो न लिया जायगा? इसके सिवा उसी सिलसिले श्रीमध्वाचार्य स्वामीजी, तथा श्रीविष्णुस्वामीजीको श्रीकृष्णचैतन्यजीका शिष्य होना लिखा है। अब कहिये, इस प्रकार माध्व सम्प्रदाय एवं विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय रहा ही कहाँ? अब एक कृष्णचैतन्य-सम्प्रदाय हुआ, अब चारो सम्प्रदाय की गणना और स्थिति कायम करिये। है कोई राह? यह सब कलाबाजी और धाँधली चलने की नही न है।

इसके सिवा एक बात और उसमे पीपाजीको दक्षिण का वैश्य और नरसीमेहता को भी वैश्य ही लिखा है, परन्तु पीपाजी गांगरौनगढ़-मालवा के राजा थे, और नरसीमेहता गुजरात के मेहता ब्राह्मण (नागर ब्राह्मण) थे। उसमे ऐसी ही अलूलजलूल अप्रामाणिक और असत्य बातें लिखी है। इसलिये कोई उसको प्रामाणिक ग्रन्थ नही मान सकता। अब आपकी दूसरी बातें भी सुन लीजिये। आप फर्माते हैं।

"दूसरी बात यह है, कि यदि जैसा पाठ इस समय प्रायः सबही पुस्तको में उपलब्ध होता है, वैसाही रखे तो नाभाजी महाराज का लेख असंगत हो जाता है। क्योंकि लिखा है कि:—

चौबीस प्रथम हरि वपु धरे त्यों चतुर्व्यूह कलियुग प्रकट।

अर्थात् जैसे भगवान ने पहले चौबीस अवतार लिखा था, उसीप्रकार कलियुग में भी ये चार अवतार प्रकट हुए। अब यहाँ विचारना यह है कि भविष्य पुराण के प्रमाण से यह तो सिद्ध हो जाता है कि श्रीस्वामी रामानन्दजी, श्रीनिम्बादित्यजी श्रीमध्वाचार्यजी, श्रीविष्णुस्वामीजी सूर्यान्तर्यामी भगवान के अवतार है। तथा वैश्वानर संहिता के प्रमाणों

से श्रीरामानन्दस्वामीजी के भगवदवतार होने मे तो कोई संशय नहीं रह जाता, परन्तु लक्ष्मणजी के अवतार श्रीरामानुजस्वामीजी को भगवदवतार किसी प्रकार से सिद्ध नहीं होने के कारण छप्पय में 'रामानुज' के स्थान में रामानन्द' पाठ ही समीचीन है।"

पहली बात तो यह है, कि यहाँ आपने यह कबूल किया है कि सभी पुस्तकों में 'रामानुज' ही पाठ है, केवल प्राय' शब्द लगाया है। इस प्रायः कीभी और कही स्थिति नहीं है, केवल इसी पुस्तक में आपने गढ़ी है। अत: अन्त में धांधली मचाकर प्राचीन पाठ को मान लिया है फिर उसमें आचार्यों के भगवदवतार होने की अनिवार्यता का दोष लगाया है। किन्तु भक्तमाल मे इसके पहले का मंगलाचरण वाला पद देखते, तो यह शंकाही नहीं होती। अथवा देखकर भी धांधली मचाते हो जैसा आपका स्वभावही है। मंगलाचरण वाला इस प्रकार है।

भक्तभक्ति भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक।
इनके पद वन्दन किये नाशै विघ्न अनेक॥

इससे स्पष्ट है, कि उन्होंने भक्त, भक्ति, भगवन्त एवं आचार्य में अभेद ही माना है। फिर परमाचार्यों को भगवान का अवतार कहा, इसमें आप बेचैन क्यों हैं? यदि इसको सामने रख लेते तो ऊपर वाली व्यर्थ बातें लिखने को कलम ही नहीं उठती। अब रही भविष्य पुराण की बात। इसकी ऊपर अच्छी तरह आलोचना हो चुकी है। यहाँ पर फिर सूर्यावतार की बात उठाई है। इस बात की भी आलोचना श्रीमन्त्रराज परम्परा की भूमिका की आलोचना में प्रस्तुत-प्रसंग पृष्ट २६४ से २६७ तक अच्छी तरह हो गयी है, अतः उसे ही देखना चाहिये उससे स्पष्ट है, कि निम्बादित्य स्वामीजी को सुदर्शन का अवतार लिखा है। इसके सिवा वहाँ सूर्य से श्रीधरस्वामी, पं० वाणीभूषण भट्टोजी दिक्षित, बराहमिहिर जयदेवजी आदि अनेकों व्यक्तियो को अवतार माना है। अतः सबको मानिये अवतार? इसके सिवा मध्वाचार्यजी एवं विष्णुस्वामी जीके वर्णन के बीच में श्रीधरस्वामीजी का वर्णन है। अतः श्रीधरस्वामी क्यों न अवतार माने जाँय। और सब अन्तिम बात तो यह प्रमाणिक-ग्रन्थ है ही नहीं और आपने भी श्रीमद्रामानन्द दिग्विजय में माना ही, तो अब आपके पूर्व कथन का कोई मूल्यही न रहा।

किन्तु हम आप की गागी - जमुनी चाल का भण्डाफोड़ कर देना चाहते हैं, इसलिये नूतन—परम्परा के जन्म-विकास के सिलसिले में

उनके विधाता के मायिक—प्रपञ्च का भी परिचय कराते चलते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि 'रहस्योद्घाटन के ही समर्थन में ही यह पुस्तक लिखी गयी है, किन्तु जब समर्थन करते नहीं बना, तब धांधली मचाना शुरू किया है। रहस्योद्घाटन में 'भक्तमाल' के ही अनुसार चारों सम्प्रदायों को मान कर एक नई कल्पना की थी, किन्तु जब नहीं चली, तब यहाँ दूसरी धांधली मचाई है। अब 'रहस्योद्घाटन' से उसके समर्थन ग्रन्थ तत्वोद्बोधन मीमाँसा के उपर्युक्त कथन का मिलान कीजिये। रहस्योद्घाटन के पृ० २० में लिखा है:—

' विष्णुस्वामी शिवांशभूत थे, उनके सम्प्रदाय का नाम 'शिवसम्प्रदाय' है, स्वामी वल्लभाचार्यजी उसके मुख्य प्रचारक हुए, जिनका शुद्धाद्वैत सिद्धान्त है। फिर मध्वाचार्यजी ब्रह्मांशभूत द्वैतमत के मानने वाले हुए इसी तरह सनकादिक निम्बादित्य जी थे, जिनका मत द्वैताद्वैत सिद्धान्त है। और श्री सम्प्रदाय के प्रचार के लिये श्री लक्ष्मणांश भूत श्रीस्वामी लक्ष्मणाचार्यजी हुए। उनको श्रीरामानुज भी कहते थे। ये वेही श्रीलक्ष्मणाचार्य हैं, जो भगवान श्री शंकराचार्य के समकालीन थे। उनका विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त था। उनके बाद एक और रामानुज हुए उन्होंने बहुत कुछ साम्प्रदायिक संगठन किया और पूर्व रामानुज के भाष्यों में भी हाथ लगाया। उनका संशोधन और प्रचार किया। पर दुःख की बात है, कि आदि रामानुज (श्रीलक्ष्मणाचार्य जी) को लोगों ने गौण कर दिया।...जब भागवत धर्म की मुख्य लक्षण भगवद्भक्ति गौण हो गई गौण भी क्या, नाम मात्र को रह गई और दम्भ का प्रावल्य हो गया तब श्रीरामांशभूत श्रीस्वामीरामानन्दजी महाराज का प्रादुर्भाव हुआ। उन परमोदार अखण्ड विज्ञान राशि धुरन्धर विद्वान् और सिद्धान्त शिरोमणि ने मूल श्रीसम्प्रदाय का उद्धार और प्रचार किया।"

देखिये, कैसी धांधली है, इस ग्रन्थ में भिन्न भिन्न संस्थापकाचार्यों का भिन्न-भिन्न अवतार माना है, जैसा कि मान्य—प्रमाण प्रकरण में मैंने भी लिखा है, अर्थात् विष्णुस्वामी शिवांश, मध्वाचार्य ब्रह्मांश, निम्बादित्य जी सनकादिक और रामानुजस्वामीजी लक्षणांश। किन्तु दो रामानुज की कल्पना की है। खैर यह मान लिया है, पहले कोई श्री सम्प्रदाय के संस्थापक रामानुज हुए थे, परन्तु द्वितीय रामानुज के कारण उनका मत गौण पड़ गया, फिर उसी के प्रचारक श्रीरामानन्दस्वामी जी हुए। इस प्रकार एक दूसरे श्री रामानुजजी के वंश में श्रीरामानन्दस्वामी

जी को स्वीकार किया। किन्तु गोरखधन्धा चलने का नहीं। एक तो यदि उन्हीं श्रीरामानुज की दबी हुई परम्परा में अतःउसका उद्धारक श्रीरामानन्दस्वामीजी को मानते ही हैं, तो वे आपकी नूतन—परम्परा में क्यों नहीं हैं ? इसके सिवा श्रीसम्प्रदाय के दूसरे कोई आचार्य रामानुज सिद्ध नहीं हो सकते। जब यह धाँधली नहीं चली, तब चारों सम्प्रदाय के आचार्यों को भगवदवतार सिद्ध करने की धांधली और भक्त माल में पाठान्तर की कल्पना करने लगे। इससे दुर्बलता और अनिश्चितता का रहस्य भली भाँति प्रकाशित हो जाता है।

इसके बाद तत्वोद्बोधन-मीमांसा के १३-१४ में भक्तमाल की असलियत पर फिर इस प्रकार झोंकना शुरू किया है:—

"हम पहले ही सप्रमाण दोहे का पाठान्तर सिद्ध कर आये हैं। इसलिये उसी क्रम से यहाँ पर इस दोहा के बाद पहले देवाचारज दुतिय' इत्यादि पाठ ३० वें छप्पय से लेकर अनन्तानन्द पद परसि के इत्यादि ३२ वें छप्पय तक श्रीस्वामी रामानन्दजी महाराज का वंश वर्णन होना चाहिये। उसके बाद यह शंका हुई कि 'श्रीरामानुज पद्धति प्रताप, इत्यादि ३० वें छप्पय में जो लिखा है कि श्रीरामानुज की पद्धति मत का जैसा प्रताप है उसी प्रकार प्रताप वाले श्रीरामानन्दस्वामीजी महाराज धर्मशून्य अतएव मृतप्राय भारत भूमिपर अमृत के समान अवतीर्ण हुए इत्यादि, वह श्रीरामानुज कौन हैं ? तब सम्प्रदाय शिरोमणि सिन्धुजा' इस ग्रन्थ का आरम्भ हुआ और २६ वें छप्पय तक श्रीस्वामी रामानन्दजी का वंश वर्णन किया गया। उसके बाद पुनः प्रकृत वर्णन आरम्भ हुआ। किसी किसी समय संशोधक के भ्रम से अथवा चातुर्य से ऐसा पाठ परिवर्तित हो गया और वह आज तक वैसाही चला आता है।"

सबसे पहली बात यह है, जो वस्तु स्थिति है, उसका आपके पाठान्तर से भी बाल बाँका नहीं हुआ, तब परिवर्तन करने के लिये आग्रह उठाया एक तो पाठान्तर की जैसी प्रामाणिकता एवं सिद्धि हुई है, सो ऊपर दिखायी ही जा चुकी है। अब जो बात है ही नहीं, स्वार्थवश उसके करने का नया प्रस्ताव कर डाला है। क्या जबर्दस्ती है ! इसीको कहते हैं कहना न सुनना हाउ हाउ करना। अर्थात् निरर्थक हल्ला मचाकर यह दिखलाना कि हमी सबसे ज्यादा बोलते हैं और ईंट पत्थर कुछ बकते जाना यदि सबको उड़ा भी दें, तो केवल 'श्रीरामानुज पद्धति प्रताप अवनि अमृत है अनुसरचों से भी श्रीरामानुज स्वामीकी ही परम्परा में श्रीरामा

नन्दस्वामीजी सिद्ध हो जाते हैं। 'जैसा प्रताप उसी प्रकार प्रतापवाले, यह कहाँ से आया अपने पेट से? साफ तो लिखा है, कि रामानुज की पद्धति का प्रताप ही अमृत के समान वह चला और उसी प्रवाह (परम्परा) में द्वितीय महामहिम देवाचार्यजी हुए। यहां 'जैसा वैसा' की गति कहाँ है? इसके सिवा दोहे के बाद ही जब आपके मनोरथानुसार इस छप्पय को माना जाय, तो देवाचार्य जी के लिये 'दुतिय' पद की गति कैसे प्राप्त होगी। अतः इस निरर्थक-जाल से काम नहीं चलेगा। सीधे इसका भी श्रीवैष्णवमताब्ज भास्कर के समान 'आठ प्राचीन प्रति लेकर क्यों नहीं संशोधन कर डालते, कि बखेड़ा ही तय हो जाय। न तो पाठ मानते, न क्रम पर सीधे कहते भी नहीं, कि हम नहीं मानते हैं। हां, श्रीरामानन्द दिग्विजय में तो उनको भ्रान्त कहा ही है, बाकी क्या रख छोड़ा है।

इसके बाद वोपदेव भागवत लुप्त उधरयो नवनीता' पर विवाद उठाया है। आचारी श्रीवैष्णवों की परम्परा में वोपदेवजी का नाम नहीं आता। इस कारण श्रीअनन्ताचार्यजी ने उनका स्मरण उपकार स्मृति में माना है। किन्तु वस्तुतः इस विषय में यह निश्चित नहीं किया जा सकता, उनका नाम-स्मरण उपकार-स्मृति में लिया गया है। श्रीरामार्चन पद्धति की गुरु परम्परा में उनका नाम आया ही, अतः वे आचार्य नहीं है, ऐसा मानने का कोई प्रमाण नहीं है, दूसरे, जब कि भक्तमाल से भी समर्थित हो रहा है। इसमें तो किसी को इनकार ही नहीं हो सकता, कि वे उत्कृष्ट भक्त थे, श्रीवैष्णव थे, प्रकाण्ड विद्वान थे। और भागवत जैसे अमूल्य रत्न का उद्धार करने के कारण भागवतों के लिये श्रद्धेय-महापुरुष हैं। श्रीरामार्चन पद्धति एवं भक्तमाल से उनका श्री रामानन्द स्वामीजी की गुरु—परम्परा में होना सिद्ध ही है, फिर आचार्य मानने के विरुद्ध कौनसा प्रमाण है? अतः इसमें कोई विवाद नहीं।

पुनः भक्तमाल में परम्परा मानने के विरुद्ध चार दोष इस प्रकार लगाये हैं:—

"आग्रहवश भक्तमाल में परम्परा मानने से चार दोष दुरूद्धर हो जायँगे। एक तो यह कि (१) नाभाजी ने परम्परा का आरम्भ विष्वक्सेन जी से किया, दूसरा यह कि (२ श्रीलक्ष्मीजी रामानुजस्वामीजी के बाद आ जायँगी, तीसरा यह कि (३) वोपदेवजी भी आचार्य माने जाने लगेंगे, और चौथा यह कि (४) राममिश्र के शिष्य यामुन और यामुन

के शिष्य परांकुश हैं परन्तु अब राममिश्र के शिष्य परांकुश और परांकुश के यामुन माने जावेंगे।"

वस्तुतः यह सब धाधली है। इसका विशेष विवरण भक्तमाल की परम्परा के विवेचन में पहले दिया जा चुका है। अतः यहाँ थोड़े में ही स्पष्ट कर देना उचित है क्रमशः चारो दोषों की निरर्थकता इस प्रकार है:-

(१) जब श्रीसम्प्रदाय का वर्णन करते हुए लक्ष्मीजी को सम्प्रदाय-शिरोमणि कहा है, और उन्होंने भक्ति का विनान रचा, जिसमें विष्वक्सेनजी से रामानुज स्वामी तकका वर्णन आया है तो फिर परम्परा का विष्वक्सेनजी से कैसे आरम्भ हुआ ? इससे तो स्पष्ट ही है, कि श्रीजीसे प्रारम्भ हुआ है, इसी लिये तो उनको सम्प्रदाय शिरोमणि और अग्रवर्णित भक्ति वितान को रचने वाली कहा है। (२) लक्ष्मीजी रामानुजस्वामीजी के बाद कैसे आ जायँगी जब कि वही सम्प्रदाय की शिरोमणि (सबसे ऊपर रहने वाली) हैं, इसको रचनेवाली है ? क्या छन्द में नीचे भी लिखने के कारण ! यदि नाभाजी के छप्पय-छन्द की शैली और इसके अर्थ पर विचार करते, तो यह धाँधली सूझती ही नहीं। नाभाजी के छप्पय की विशेषता यह है, कि जिस छप्पय में जो बातें कहनी होती है, उसको सूत्ररूप में पहले कह देते हैं, फिर उसीको नीचे रखकर सम्पुट कर देते हैं। यही शैली नाभाजी के गुरु श्रीअग्रदासजी की कुण्डलियों की भी है। इसके सिवा जब श्री लक्ष्मीजी के लिये पद 'सम्प्रदाय शिरोमणि' और क्रिया-'रच्यो भक्ति वितान' भिन्न ही है, तो उनकी गणना पीछे कैसे होगी। (३) वोपदेवजी आचार्य माने जायँगे, तो कौन पहाड़ टूट पड़ेगा? और इनके आचार्य माननेके विरुद्ध प्रमाण ही क्या है? बल्कि श्रीरामार्चनपद्धति से और भी समर्थन हो जाता है। (४) साहित्यालङ्कार की उपाधि भी इतनी धृष्टता क्योंकिया करतेहैं?यदि इसके अलङ्कारकीओर ध्यान देते, तो इस प्रकार गोरखधन्धा करने में अवश्य लज्जा होती। देख तो रहे हैं, कि यहाँ ग्रन्थकार सम्प्रदाय को भक्ति-वितान कह कर रूपक बाँध रहे हैं। भक्ति को वितान (चँदवा) कहा है। चँदवा बनता है कोई आधार पर। यहाँ भक्ति रूपी चँदवे का तनाव आचार्य रूपी खम्भ पर होना कहा गया है। चँदवा सीधा लम्बा तो तनता नहीं, वह वर्ग अथवा वृत्त रूप में होता है। अतः किसी स्तम्भ को पहिला, दूसरा, पिछला आदि कह कर निश्चित नहीं किया जा सकता। इसी कारण सभी आचार्यों को निश्चित तौर पर ही वर्णन कर दिया गया है।

अब एक बात और सुनिये। रहस्योद्घाटन में लिखा गया है, कि "श्री सम्प्रदाय के आचार्यो शेषांश लक्ष्मणाचार्य जी (रामनुजजी) शंकराचार्य के समय में हुए हैं। इनके बहुत समय बाद द्वितीय रामानुज हुए जो आचार्यी-श्रीवैष्णावों की गुरु—परम्परा में हैं, इसके उत्तर में श्री अनन्ताचार्य जी ने तत्वोद्बोधन में यह सिद्ध किया है, कि श्रीशंकराचार्य के समय में न तो कोई रामानुज हुए हैं, न आज तक किसी ने माना ही है। केवल यही रामानुज हुए हैं, जो प्रसिद्ध है, और सभी ऐतिहासकों ने माना है। इसके उत्तर में 'तत्वोद्बोधन-मीमांसा में लिखा गया है:-

"पृ० ७५ से अन्त तक आपने 'एक नवीन कल्पना का समाधान' शीर्षक लेख में जो कुछ लिखा है, वह यही कि "आज तक कितने ही इतिहास लेखक हुए हैं परन्तु किसी ने भी श्रीशंकर के काल में एक रामानुज के रहने की बात नहीं लिखी" आप यहाँ पर अत्यन्त क्रुद्ध हो बैठे हैं। इस लिये आपको शान्त करने के लिये अंग्रेजी इतिहासकारों के प्रमाणों को छोड़ कर हम भविष्यपुराण को आपके हाथ में पकड़ाते हैं। उसके प्रति सर्ग के १४ वें अध्याय का पाठ कर जाइये। बस आपके क्रोध का उबाल बन्द हो जायगा।

भविष्यपुराण की अप्रामाणिकता एवं असत्यता का अच्छी तरह विवेचन पहिले हो चुका है, अतः उसकी बातें प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। और स्वयं आपने ही 'श्रीमद्रामानन्द-दिग्विजय' की भूमिका में उसकी प्रामाणिकता नहीं मानी है। अतः यहाँ भी आपकी बातें केवल घांधली ही है। इतने पर आपको सन्तोष न होतोउपर्युक्त१४ वें अध्याय से और आगे बढिये, जहाँ कृष्ण चैतन्यजी की जगन्नाथ-यात्रा का वर्णन है। देखिये, क्या लिखा है! लिखा है न कि कृष्णचैतन्यजी के साथ शंकराचार्य रामानुजस्वामी रामानन्दस्वामी आदि भी जगन्नाथ गये! कहिये, अब आपको संतोष हुआ मिल गये आपके शंकराचार्य, रामानुज स्वामी एव श्रीरामानदस्वामी कृष्ण चैतन्य जी की मण्डली मे सम्मिलित होकर एक साथ चलते हुए।

नूतन-परम्परा के जन्म-और क्रम-विकास की उपर्युक्त आलोचनाओं एवं विश्लेषणों से यह भली भाँति प्रमाणित होगया है, कि वास्तव में यह परम्परा ऐन्द्रजालिक रचना है, धूल की रस्सी है, धूयें का धौरहर है, कि अपने सत्यवत्-आभास से कुछ लोगों को मोह-ग्रसितएवं

भ्रान्त बना दिया है। यदि इसके एक भी पहलू दुरुस्त रहते, तो भी कहने की बात होती, किन्तु इसका कोई भी अग ऐसा नही है, जिसकी कृत्रिमता एवं असत्यता का नग्नरूप सामने नहीं नाच रहा हो। अग्रदास जीके नाम पर बनाई गई, तो नाभाजीके भक्तमाल से उसकी कलई खुल गई, सदाशिव संहिता प्रमाणित करने चले, तो रहे-सहे का भण्डाफोर होगया, अगस्त्य संहिता का दामन पकड़ा, तो किये कराये पर भी चौका फिर गया, मौलाना रसीद की शरण में गये, वहाँ से भी दुरदुराये गये, भविष्य पुराण का चरण पकड़ा, कड़ी ठोकरें खायी, शब्दकल्पद्रुम की ओर लपके, मुँह के बल गिर पड़े। इस प्रकार किसी तरह भी उसकी वास्तविक-सिद्धी नही हुई।

तब इन्होने दूसरा प्रत्यत्न शुरु किया। निन्दा कर, बहकाकर धोखा देकर उत्तेजित कर काम लेना शुरू किया। इससे कुछ व्यवहारिक काम तो चल गया, परन्तु मूलकृति की जड़ और भी हिल गयी। यह स्पष्ट हो गया, नूतन-परम्परा का आधार न तो शास्त्र है न सम्प्रदाय है, न इतिहास हैं, न लोक हैं, वह सर्वथा निस्तत्व है, सत्यशून्य है, जाल है। तब इन्होने यह विचार किया, कि निराधार इतिहास गढ़ा नही जा सकता, लोकमत उन्मत्त नही है, सम्प्रदाय फिर क्यो मानने वाला है? तब फँसाये हुए लोगो को कैसे अधिकार में रखा जाय। बस, आप को एक अकल काम कर गयी। सोचा, फँसे हुए लोग ठहरे तो दुनियाँ से विरक्त, और शास्त्र से सर्वथा परतन्त्र। अत: इनको सम्प्रदाय, इतिहास और लोक किसी तरह रोक नही सकता, यदि शास्त्र के नाम पर कुछ कह दिया जाय। आजकल प्राचीन ग्रन्थो का बहुत अभाव हो ही गया है, अत: क्यो न कोई अप्राप्य संहिता ही बना डाली जाय? यही सोच विचार कर "बाल्मीकि-संहिता" नाम की ३० पन्ने की एक पुस्तिका बनाकर छपवा डाली और घोषणा कर दी, कि खोज मे मिली है। इसमें अन्य संहिताओं की कुछ बाते जोड़ तोड़ कर मुख्य रूपेण नूतन परम्परा की स्थिति के विरुद्ध जितने भी अकाट्य हेतु एवं प्रमाण थे, जिसका उत्तर त्रिकाल में भी होने का नहो, सारी असिद्ध बातो को ऋषि-मुनि आदि के कथोपकथनो में रचकर यहाँ शास्त्रीय रूप दिया गया। सर्व प्रकारेण असिद्ध बात, जिसका कहो, रेख रूप नही शास्त्रीय बन गई। जिस प्रकार लोकदुर्लभ गढ़ी हुई परम्परा खोज में मिली, उसी प्रकार खास उसी के समर्थन के लिये यह अलौकिक-गुफा में गढ़ी हुई संहिता भी मिल गयी! क्यों

न हों गड़ा एवं गढ़ी में अत्यन्त सभी पता भी तो है। गढ़ी कसा मर्थन गढ़ी छोड़ कर और किससे है। जातीयता ठहरी। भोले भाले महात्माओं को समझाया बुझाया गया, कि संहिता मिली है। इसमें वही नूतन परम्परा लिखदी है जो शास्त्रों तथा सम्प्रदायों से सर्वथा असिद्ध है। यथाः—

"इममेव मनुं पूर्वं साकेतपतिमामवोचत्।
अह हनुमते मम प्रियाय प्रियतराय स। वेदवेदिने ब्रह्मणे।
स वशिष्ठाय। सपरशराय। स व्यासाय।
स शुकाय। इत्युपनिषत्। इत्येषा ब्रह्म विद्या॥"

इसी प्रकार भानुमती का कुनबा शास्त्रीय होगया। किन्तु तौभी उसकी सिद्धि नही हो सकती, जैसा कि पहिले सिद्ध लिखआये है। अर्थात् जब ब्रह्माजी को भी श्रीसम्प्रदाय में ही डाल लिया तो ब्रह्म-सम्प्रदाय की स्थिति कहां रही? और माध्व-सम्प्रदाय भी तो श्रीसम्प्रदाय ही हो गया? अब वैष्णवों का चार-सम्प्रदायें, कैसे? अजी, यह कृत्रिम-कन्था सम्प्रदाय में कभी गृहीत नहीं हो सकती। इसकी आजचादनी है, पर चार ही दिन रहेगी।

इसी प्रकार श्रीरामानन्दस्वामीजीके सन्यासी होने का न तो कोई लेख है, न इस सम्प्रदाय में उसकी स्थिति है, न मान्यता ही है। आज नूतन-परम्परा के मानने वाले वैष्णव भी इस बात को नही स्वीकार करते। किन्तु आपने श्रीवैष्णव-मताब्ज भास्कर के 'यतिपति सहितान पर धाँधली मचाने के लिये जो सन्यासी बनाया, सो घसीटते घसीटते यहाँ शास्त्रीय रूप दे दिया। यह सब इसी लिये, कि जिसमें शास्त्र-परतन्त्र व्यक्ति इसमें फँसे रहे। इस प्रकार सारी अप्रामाणिक-बातों के संग्रह ने शास्त्र का रूप धारण किया। यही वाल्मीकि-संहिता है।

श्रीवैष्णव-मताब्ज भास्कर प्रचलित पुस्तक है। उसकी हस्तलिखित भी कितनी प्रतियाँ उपलब्ध हैं। काशी-सूर्यप्रभाकर प्रेस में वह अर्थप्रकाशिका टीका के साथ आज से ५०—६० वर्ष पूर्व छप चुका था। अतः सम्प्रदाय के विद्वानों के पास उसकी कितनी ही प्रतियाँ मौजूद हैं। ऐसी हालत में भी जब आपने शुद्ध करने के नाम पर 'प्रकाश' के रूप में उसको नष्ट भ्रष्ट कर डाला जैसा कि पूर्व की आलोचनाओं से सिद्ध हो चुका है तो यह सर्वथा अप्राप्य पुस्तक आपके ही द्वारा प्रकट हुई है, इसी से इसकी वास्तविकता का अनुमान कर लेना चाहिये।

अब एक और पुस्तक-परम्परा परिणाम् पर थोड़ासा प्रकाश डालकर इसविषय को समाप्त करूंगा। यद्यपि इसके आवश्यक अंशों पर 'प्रकाश' की आलोचना मे काफी प्रकाश पड़ चुका है, और नूतन परम्परा के जन्म विकास के सिलसिले मे जो विवेचन किए गये हैं, उससे भी इसका बहुत कुछ निराकरण हो चुका है, परन्तु कुछ ऐसे स्थल हैं, जिनपर यहा कुछ खास प्रकाश डालना उचित प्रतीत होता है। इस सारी पुस्तक की जो सैद्धातिक-स्थिति है, वह उसके पृष्ठ ११ से १३ तक लिखी गई है, पहले इसी को योग्यता का कुछ नमूना उपस्थित करूँ। इन्होने सम्प्रदाय के सम्बन्ध में तात्विक रहस्य इस प्रकार निवेदन किया है:—

"हमारे संप्रदाय के-श्रीरामानन्दसम्प्रदाय के-पूर्वाचार्यों की तथा वर्तमान समय के विद्वानो की धारणा है कि श्रीराममन्त्र के देवता श्रीराम हैं अतःइस मन्त्र का उपदेश साक्षात् श्रीरामजी के द्वारा ही होना चाहिये। तथा हमारे सम्प्रदाय में श्रीसीताजी द्वारा मानी गयी हैं। अतः श्रीराममन्त्र का प्रथमोपदेश श्रीसीताजी को ही होना चाहिये और उन्ही के द्वारा परवर्त्ती आचार्यों को इस मन्त्रराज का उपदेश होना चाहिये। यदि ऐसा न होगा तो श्रीराममन्त्र मे साम्प्रदायिकता नही आवेगी। साम्प्रदायिकता नहीं आने से श्रीरामन्त्र का उपदेश अप्रामिणिक हो जावेगा। अत. ऐसा मार्ग तो अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा, जिस मार्ग से श्रीराममन्त्र का उपदेश अनादिकाल से सम्प्रदायिक रीति से गुरपरम्परया प्राप्त होता आया है। इस मार्ग के ग्रहण करने में जितने भी विघ्न उपस्थित होंगे, जितनी भी बाधाये आवेगी उनका परिहार करते हुए हमें अपने मार्ग में ही स्थिर रहना होगा। इस मार्ग से हमे हटाने के लिये जितनी भी युक्तिया जितने भी प्रमाण दिये जावें-सब का उत्तर हमें यही देना चाहिये कि सब प्रमाण झूठे और भ्रम पूर्ण हैं।"

इस उद्धरण से स्पष्ट है,कि आपने धींगाधींगी की हद करदी है। इसमें आपकी मनोवृत्ति, सिद्धान्त, कार्य-प्रणाली और नूतन परम्परा की स्थिति का बीजही उपस्थित होगया। आप कहते हैं, अतः ऐसा मार्ग ग्रहण करना पड़ेगा" और "इस मार्ग के ग्रहण करने में जितने भी विघ्न उपस्थित होगे, जितनी भी बाधायें आवेंगी" "इसमार्ग से हमें हटाने के लिये जितनी भी युक्तियां जितने भी प्रमाण दिये जायें—सब का उत्तर हमें यही देना चाहिये,कि सब प्रमाण झूठे और भ्रमपूर्ण है।" इससे अब यह स्पष्ट होने में जरा भी कसर नही रही, कि आपने कुछ नियत से यह मार्ग नूतनपरंपरा'

तैयार किया है पकड़ लिया है। और इसके विपरीत शास्त्र-सम्प्रदाय, इतिहास आदि जितने भी प्रमाण हैं क्योंकि कृत्रिम परम्परा के विरुद्ध तो अवश्य ही सब प्रमाण होंगे ही जैसा कि पहले दिखलाया भी जा चुका है, उन सब का आपके पास एकही उत्तर है' वे सब झूठे हैं, भ्रमपूर्ण हैं।" भला इससे बढ़कर मनमानापन और दुराग्रह का और क्या प्रमाण हो सकता है। समाज को कितना अविवेकी बनाने का यह प्रयत्न है, कि अपनी कृत्रिम राह पकड़ा दी है,और उसके मानने वालों को उसकी स्थिति की रक्षा के लिये सब तरह से विचार शून्य अविवेकी एवं दुराग्रही बनने का आदेश दिया है। ठीक है, असत्य-मत अविचार और अन्ध-मान्यता के बिना टिक भी नहीं सकता। नूतन-परम्परा की आलोचना से तो यह भली भाँति स्पष्ट ही हो चुका है, कि यही इच्छा और मनोवृत्ति से आपने नूतन-परम्परा बना कर ग्रहण करवाया है, और उसका असत्य, कृत्रिम एवं अप्रामाणिक सिद्ध करने वाले सारे शास्त्रीय, साम्प्रदायिक और ऐतिहासिक प्रमाणों को न मानकर केवल धाधली मचाई है, और अब पेट की बात स्पष्ट करके रख दिया, कि कोई प्रमाण न मानो न उसपर विचार करो। अन्धमान्यता की हद हो गई। बस, समझ जाइये, आपकी नूतन-परम्परा की क्या स्थिति है, आपकी क्या कार्य-प्रणाली है और इसके मानने वालों की क्या अवस्था है। निदान् यह पुस्तक इसी धाधली से भरी हुई है। जहाँ जहाँ 'रामानुज' शब्द आया है, सर्वत्र अपनी ओर से 'रामानूक' बनाने का दुराग्रह दिखाया है। छन्द भले ही बिगड़ जाय, पर इसका कौन ख्याल करे! फिर नूतन-परम्परा टिकेगी कैसे?

अब इनके तत्व विवेचन की ओर दृष्टि डालिये। आप कहते हैं, कि "हमारे सम्प्रदाय के पूर्वाचार्यो तथा वर्तमान समय के विद्वानों की धारणा है" पूर्वाचार्य के लेखों को तो आप मानते ही नहीं, पर धारणा का अनुमान लगा रहे है। धन्यरी धांधली। रह गये वर्तमान समय के विद्वान। उसमे मुख्यतः आप और गौणतः आपके ही सहयोगी तथा अनुयायी हैं! और कौन हैं। श्रीराममन्त्र के श्रीरामजी देवता है, सीताजी द्वार हैं, श्रीरामजी से ही श्रीसीताजी को इस मन्त्र का उपदेश हुआ है, और पुनः क्रमशः परवर्ती आचार्य को उपदेश होता आया है, यह कौन नहीं मानता, किन्तु परब्रह्म कोई एक ही है, और उनका श्रीराम और नारायण भी नाम है, अतः स्वरूपाभेद है, इसको तो आपने भी 'प्रकाश' के पृष्ट ४०-४१ में प्रमाण युक्त विचार कर स्वीकार ही किया है। फिर यदि कहीं

श्रीराम जी एवं श्रीसीताजी तथा श्रीमन्नारायण तथा श्रीलक्ष्मीजी का भी नाम आता है, तो श्रीराममन्त्र में असाम्प्रदायिकता कैसे आवेगी ! क्या बृहद्ब्रह्म संहिता में श्रीमन्नारायणने ब्रह्माजी को, श्री जी को श्रीराम मंत्र का उपदेश किया है, तो उसमें असाम्प्रदायिकता की गन्ध आपको मिलती है। क्या उसमें राममन्त्र के प्रकरण में 'रामोऽहं देवता' कहके अपने को श्रीराम नहीं कहा है। आपने बृहद्ब्रह्म संहिता को अनेक स्थानों में प्रमाण माना ही, तो उसमे इतना और नहीं देखा। इसके सिवा 'अगस्त्य संहिता' पर आपकी बड़ी ममता है, इसी लिये उसको 'द्रविड़-प्रबन्ध' बनाने के लिये भी आप व्याकुल हैं, प्रयत्न शील है, क्या उसी में श्री-राम-नारायण को अभेद नहीं लिखा है ? फिर यह धांधली क्यों। अब रह गया इस बात पर विचार, कि "ऐसा मार्ग तो अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा जिस मार्ग ने श्रीराममन्त्र का उपदेश अनादि काल से साम्प्रदायिक रीति से गुरू-परम्परया प्राप्त होता आया हो।" इस सम्बन्ध में सब से पहली बात तो यह है, कि अनादि काल से आयी हुई परम्परा अविच्छिन्न को ही सम्प्रदाय नहीं कहते, बल्कि परब्रह्म से जिसका अवि- च्छिन्न परम्परा सम्बन्ध हो उसको कहते हैं। इसी कारण महाभारत- शान्तिपर्व के ३४८ वें अध्याय में धर्म-परम्पराओं के पुनः पुनः आविर्भाव और तिरोभाव का वर्णन किया है। उसका तात्पर्य यह है, कि परब्रह्म से शुरू हुई भागवत धर्म की जो चार अनादि परम्परायें-श्री, ब्रह्म, रुद्र एवं सनकादिक है।

इनका लोक में समय समय पर आविर्भाव और तिरोभाववत् हुआ करता है। जब उस धर्म का तिरोभाव सा होने लगता है, तब पुनः उसका भगवदिच्छा से प्रवर्त्तन होता है। कलि में भागवत-धर्म की लुप्ततासी होने लगी थी,इस कारण भगवदिच्छा से श्रीशठकोपस्वामीजी का अवतार हुआ। और श्रीजीकी आज्ञानुसार श्रीविष्वक्सेनजीने उनको मन्त्रोपदेश किया। फिर इनसे लोक में श्रीसम्प्रदाय की परम्परा प्रतिष्ठित हुई। इसी प्रकार अन्य परम्पराओं का लोप सा हो गया था उसको भी प्रतिष्ठा हुई।

इसके बाद इसमें 'श्रीरामानुज' को 'रामानूक' करने की धींगाधींगी की गयी है। यह आधी पुस्तक प्रायः इसी 'रामानूक, की धींगा धींगी से भरी है। इसका विचार श्रीरामस्तवराज भाष्य (श्रीहर्यानन्दस्वामीजीकृत) के विवेचन में भली भाँति हो चुका है, अतः पुनः इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। हाँ, श्रीरामार्चनपद्धति पर आपकी जो दलीलें हैं

उस पर अभी तक विचार नहीं हुआ है, अतः उस पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है। आपने लिखा है:—

"हस्तलिखित श्रीरामार्चन पद्धति में तो परम्परा का नामोनिशान नहीं है। परन्तु छपी हुई पुस्तकों में परम्परा है। मैंने ऊपर कहा है, कि स्वामीजीके नाम पर दो रामार्चन पद्धति छपी हैं। परन्तु एक दूसरे से मिलती नही है। परम्परा के नाम भी न्यूनाधिक हैं। श्लोक का छन्द भी भिन्न है, ऐसी दशा में किस परम्परा को सत्य मानना और किसे असत्य मानना यह एक गहन विषय है।"

हस्तलिखित प्रति या छपी हुई देखने का कष्ट आपने उठाया कहाँ? जयपुर श्रीबालानन्दजीके स्थान में प्रायः३७०वर्षकी लिखी हुई श्रीरामार्चन पद्धति है, सूर्यप्रभाकर प्रेस काशी में श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर (अर्थ प्रकाशिका टीका के साथ आज से ५०-५५ वर्ष पूर्व छपी है। इसके सिवा श्रीरामनारायणदासजीवाली जिस भाषाटीका श्रीरामार्चन-पद्धति का आप जिक्र कर रहे हैं, उससे बहुत वर्ष पहिले उन्होंने ही 'बृहद् वेदोक्त रामपद्धति' छपाई थी। इसको भी सेठ छोटेलाल बुक्सेलर अयोध्या ने ही छपाई थी। इसमे श्रीवैष्णवों के सभी कर्मो -धर्मो तथा सम्प्रदाय का परिचय दिया गया है। इसमें श्रीरामार्चन पद्धति भी छपी है। इसके सिवा एक कलकत्ते में भी बहुत समय पहिले छपी थी, किन्तु इस समय हमारे पास मौजूद नही है) इस प्रकार जब हम देखते है, कि प्राचीन-हस्तलिखित एव छपी हुई प्रतियों में भी एक सी ही परम्परा है, बल्कि श्रीरामनारायणदासजीने भी पहले जो छपाई थी, उसमें प्राचीन प्रतियों के जैसी ही परम्परा है, फिर उनकी भाषाटीकावाली श्रीरामार्चन पद्धति से उन सारी प्राचीन-प्रतियों की प्रामाणिकता पर कैसे पानी फिर जायगा। इससे सहज स्पष्ट है, कि सभी श्रीरामर्चनपद्धति की प्रतियों में एक सी ही परम्परायें है। इधर श्रीरामनारायणदासजीने भाषाटीका करते समय उसमे वर्त्तमान उपलब्ध परम्परा प्रतियों के अनुसार सम्मिलित करदी। अतः इसकी अप्रामाणिकता अपने आप सिद्ध है। यदि इस प्रकार पिछली छपी हुई प्रतियों से भेद पड़ने पर प्राचीन ग्रन्थो को अप्रामाणिक मानने लगे, तो कोई प्रामाणिक ग्रन्थ ही नहीं रह जायगा।

इसी कारण जब ऐसी अवस्था उपस्थित होती है, तो प्राचीनता की ही प्रामाणिकता मानी जाती है। और यदि एक ही समय के कई हों तो संख्याधिक्य की एकता से प्रमाणिकता मानी जाती है। यहां पर हम

देखते हैं, कि प्राचीनता की हैसियत से भी भाषाटीका वाली श्रीरामार्चन पद्धति की परम्परा अग्राह्य हो जाती है, और संख्याधिक्य की एकता की दृष्टी से भी। क्योंकि भाषाटीका वाली श्रीरामार्चनपद्धति की परम्परा अपनी सी अकेली है, किन्तु इधर कई एक समान है। अतः यहां सत्यता के निर्णय में कोई अड़चन ही नही है।

इसके वाद आपने लिखा है:--

"यह परम्परा नीचे से ऊपर को जाती है। अर्थात् श्रीरामानन्दस्वामीजी महाराज से आरम्भ होकर श्रीरामजी तक जाती है। परम्परा के तीन श्लोक वहाँ लिखे है। उसमे प्रथम श्लोक का आदि पद यह है--

'रामानन्दबुधो दयाजलनिधिं श्रीराघवानन्दनम्।'

अन्तिम श्लोक का अन्त यह है:--

'-द्वेषं श्रीपृतनापतिं जनकजां रामं सदा संश्रये।'

जो कोई विद्वान् संस्कृत का वेता होगा इस श्लोक को देखे तो फौरन् कह देगा किसी मूर्ख का बनाया हुआ यह श्लोक है। भला, 'रामानन्द बुधः इस प्रथम पुरुष का 'संश्रये' इस उत्तम पुरुष की क्रिया के साथ क्या सम्बन्ध है। कदाचित कोई कहे, कि इसमें 'अहम्' पद अध्याहृत है। तो भला यह बताओ कि आश्रय चाहने वाला कभी भी अपना महत्व प्रकट कर सकता है। कितना भी बड़ा आदमी हो महापुरुष हो, परम विद्वान् हो परन्तु जब वह किसी का आश्रय चाहेगा, तब कभी भी अपने को 'बड़ा' या 'महान्, प्रकट कर सकता है? यह सभ्य संसार की परिपाटी है। यहाँ इस परिपाटी का ध्वंस हो जाता है।'अहं रामानन्द बुधः...संश्रये' 'मैं रामानन्द विद्वान् इनकी शरण लेता हूँ।' इस कहने में बड़ा गर्व और बड़ी हीनता है। इसे पामर-हृदय नहीं समझ सकते।

यहाँ आपने सभ्य संसार की परिपाटी की बड़ी डीग हाँकी है, परन्तु आपको इस मुँह से ऐसी बात कहने में लज्जा आनी चाहिये थी। आपने गुरु-पूर्णिमा के उपलक्ष में गुरुजी को श्रीसम्प्रदायरक्षा गुरुपूजा में दी थी उसमें उनको 'आर्य-समाजियों की कुटिल भावना एवं ईसाइयो की अस्पृश्य-भावना से युक्त, तथा ढोंगी आदि कह कर भर पेट गालियाँ दी गयी है। इस प्रकार गालियों से गुरु की पूजा करनेवाले श्रीभगवद्दासजी सभ्य संसार की परिपाटी और हृदय की पामरता की दुहाई देते हैं! धन्य री कलि!

खैर, आप तो ऐसा कहने के अधिकारी नहीं हैं, परन्तु सभ्य-संसार की परिपाटी अवश्य है। अतः श्रीरामनन्दस्वामीजी को आचार्यों और भगवान की शरणागती करते हुए अपना गर्व अपनी महत्ता दिखलाना उचित नहीं, यह अवश्य विचारणीय है।

किन्तु उन्होने ऐसा किया होता, तब तो उनके ऊपर यह दोष मढ़ना चाहिये था? उन्होंने तो वैसा किया ही नहीं है। आचार्यों और भगवान की शरणागती करते हुए अपने लिये बुध शब्द का प्रयोग किया है, इसी बुध शब्द का अर्थ विद्वान् लेकर आपने गर्व और हीनता का दोष उनके ऊपर मढ़ दिया है। किन्तु यदि आप 'बुध' शब्द के अर्थों पर दृष्टि देकर यहाँ प्रकरण से उसका मिलान किये होते और फिर भी यदि यह दोष रह जाता, तो कहना उचित भी था। किन्तु ऐसा न कर आपने मनमानी अर्थ लेकर यह दोष मढ़ दिया है। यह साहित्य की रीति है, कि अनेकार्थ-शब्द के अर्थ-निर्णय में प्रकरण से काम लिया जाता है अन्यथा अर्थ ही असम्भव हो जाता है। इसीलिये वृन्द कवि ने कहा है, 'सैन्धव माँगे जेंवते घोड़ा को कहँ काम।' परन्तु अपने पीछे साहित्यालङ्कार आदि विविध उपाधि विभूषित करते हुए भी आपने वही उपहास्य काम किया। अब देखिये, बुध शब्द के कितने अर्थ है, और इस प्रकरणमें कौन कौन से लागू होते हैं। अमरकोष के द्वितीयकाण्ड ब्रह्मवर्ग में लिखाहैः।

"विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन्सुधीः कोविदो बुधः।
धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः ॥५॥
धीमान्सूरिः कृती कृष्टिर्लब्धवर्णो विचक्षणः।
दूरदर्शी दीर्घदर्शी.......................... ॥ ६ ॥

इसमें बुध शब्द के २२ पर्यायवाची शब्द आये हैं। इसमें से अब प्रकरण में कौन अर्थ उचित होता है, यह विचार कीजिये। आपने विद्वान् शब्द को लेकर उनके ऊपर दोष मढ़ा है, किन्तु उस शब्द का प्रयोग भी विना विचारे ही किया। विद्वान् शब्द का अर्थ है, ज्ञान, रखने वाला जानने वाला। अब यहाँ 'प्रकरण' से मिलाइये। किस चीज का ज्ञान रखने वाला? स्पष्ट है, कि पूर्वाचार्यो का, भगवान का, उनसे अपने सम्बन्ध का, शरणागती का और इसकी महिमा का ज्ञान रखने वाला होता है। कहिये, अपने सम्बन्ध में ऐसी बातें

कही गयी, तो दोष कैसे आया? इससे तो उनकी सेवा और नम्रता का ही बोध 'संश्रये' सम्बन्ध से स्पष्ट होता है। अब 'बुध' शब्द के दूसरे पर्य्याय 'ज्ञ' को लीजिये। इसका अर्थ भी है 'ज्ञाता' 'जानने वाला'। और संश्रये' शब्द के संयोग से उपर्युक्त प्रकार से ही इसकी अर्थसिद्धि होती है। अब एक शब्द 'दोषज्ञ' को और लीजिये। इसका अर्थ है दोष को जानने वाला। अब प्रकरण से मिलाइये, किसका दोष जाननेवाला? स्पष्ट है है अपना। अब 'संश्रये, शब्द के साथ इसका उपयोग देखिये। कितना सुन्दर है! कितनी दीनता है! अपने लिये दोषज्ञ विशेषण रखकर आप कहते है कि मैं दोषज्ञ रामानन्द—अपने दोषो को जानने वाला रामानन्द इनकी शरणागती करता हूँ। न जाने, क्यो आपको उलटी ही सूझा करती है। क्यो न हो प्रकृति ही उलटी है। यहाँ बुध शब्द रखकर कितना सौन्दर्य भर दिया है--आचार्यों और भगवान को जानने वाला, उनसे अपने सम्बन्ध और कर्त्तव्य को जानने वाला उनकी शरणागती एवं उसकी महिमा को जानने वाला और अपने दोषो को जानने वाला मैं रामानन्द इनकी शरणागती करता हूँ। कहिये, दोष आया कि गुण? आशा है, अब आप ऐसी धांधली कर आचार्य पर दोष आरोपित करने की कुचेष्टा न करेंगे।

अन्त में इसके एक प्रसंग पर और दृष्टि डालकर इस विषय को समाप्त करूँगा। इसके पृष्ठ ६३ मे आपने बडे गर्वितभावसे कुछ प्रश्न पूछे हैं। आपके विचार में आपकी नूतन-परम्परा के लिये ये प्रश्न अभेद्यकिले है, जिसके भीतर आप सुख की नींद सोते हैं अतः इसकी दुर्बलता एवं अक्षमता का परिचय भी आपको दे दूँ, ताकि आप और आपके अनुयायी इस हवाई किले को-धूयें के धौरहर को देखकर भ्रम में गाफिल न रहें। वह तो वायु के जरा से झोके से ऐसा लापता हो जायगा कि जिसके रेख रूप का नामोनिशान तक नही बचेगा। अब मैं आपके प्रश्नो का क्रमशः उत्तर शुरू करता हूँ।

प्रश्न—"(१) श्रीरामजी की उपासना अनादिकाल से आ रही है, या जैसा आर्यसमाजी लोग मानते हैं, उस प्रकार से कलियुग में ही इस उपासना का आरम्भ हुआ है?

उत्तर—(१) श्रीरामजी की उपासना अनादिकाल से आ रही है। आर्यसमाजी लोग जैसा मानते हैं वैसा मानने की हम बुद्धि कहाँ पावेंगे? यह तो आप से ही हो सकता है। क्योकि आप आर्यसमाज में पले हैं,

पढ़ा है, जीवन तैयार किया है, इस प्रकार रग-रग में आर्यसमाजी खूनभर कर तब इस सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुए हैं। इसका विशेष परिचय तो आगे देंगे यहाँ तो केवल इतना कहना ही काफी है, कि कलियुग से इस उपासना का प्रारंभ नहीं हुआ है, वह तो अनादि है, किन्तु परम्पराओं का आविर्भाव तिरोभाव हुआ करता है। कलि में श्रीसम्प्रदाय की परम्परा का तिरोभावसा होने लगा था, बल्कि सभी परम्पराओं का तिरोभाव सा ही हो गया था तब श्रीसम्प्रदाय का श्रीजीने विष्वक्सेन जी द्वारा पुनः लोक में प्रवर्त्तन करा दिया।

प्रश्न—"(२) यदि अनादि कालसे-सृष्टिके आरम्भ से श्रीरामजी की उपासना चली आती है, तो समन्त्रक या अमन्त्रक ?"

उत्तर—(२) समन्त्रक।

प्रश्न—"(३) यदि समन्त्रक तो, किस मन्त्र से उपासना होती चली आयी है ? श्रीराममन्त्र से या नारायण मन्त्र से ?"

उत्तर-(३) श्रीराममन्त्र से।

प्रश्न—"(४) यदि श्रीराममन्त्र से उपासना होती आई है, तो तुम्हारे मत से तो श्रीराममन्त्र सतयुग त्रेतायुग और द्वापर युग में था ही नहीं। कलियुग में भी साढ़े छः सौ या साढ़े सात सौ वर्ष से ही आप श्रीराममन्त्र को मानते हैं—क्योंकि आप कभी श्रीरामानन्दस्वामीजी महाराज से श्रीराममन्त्र का प्रचार मानते हैं-कभी श्रीराघवानन्दस्वामीजी से जो हो आपके मतके अनुसार साढ़े सात सौ वर्ष से पूर्व श्रीराममन्त्र का प्रचार ही नहीं था, तो उस मन्त्र से उपासना ही कैसे हो सकती थी ? "

उत्तर—(४) हमारे मत से श्रीराममन्त्र सतयुग, त्रेतायुग और द्वापरयुग में भी था। कलियुग में भी प्रारम्भ से ही श्रीराममन्त्र को मानते हैं। श्रीरामानन्दस्वामी जी या श्रीराघवानन्दस्वामी जी से नहीं मानते। परम्परा प्राप्त श्रीराममन्त्र का उन्हें प्रबल प्रचारक मानते हैं।

प्रश्न-"(५) कदाचित तुम अपनी नई परम्परा—जिसे नाभाजी की लिखी हुई परम्परा कहते हो- और जिसे मैं जड़ मूल से उखाड़ कर पीछे फेंक आया हूं-के अनुसार यह कहो कि श्रीरामजी से राममन्त्र का प्रथम से ही प्रारम्भ है। तो भाई साहेब मैं यह कहूँगा कि श्रीमान् की बुद्धि जब गङ्गापार से घास खाकर सायङ्काल पीछे लौट कर आवे, तो इस बात का जवाब देना कि क्या श्रीविष्कक्सेन ने पृथ्वी पर कभी भी श्रीराममन्त्र का प्रचार किया है ? यदि किया है, तो कब से लेकर कब तक ? और इसमें शास्त्रीय अथवा साम्प्रदायिक प्रमाण क्या है ? यदि नहीं किया है,

तो क्या शठकोपजी ने श्रीराममन्त्र का प्रचार किया है? यदि किया है, तो कब से कब तक? और कहाँ और उसमें क्या प्रमाण?"

उत्तर —(५) प्राचीन परम्परा को नई कहने में लज्जा भी नहीं आती? नाभाजीकी लिखी हुई अचल परम्परा को त्रिकाल में कोई बालबाँका भी नहीं कर सकता। अपनी आँख फोड़कर सूर्य के प्रकाश को मिटा डालने की घोषणा जैसे कोई समझदार करता फिरे, उस समझ से आप भी काम ले रहे हैं। श्रीविष्वक्सेनजी ने पृथ्वी पर श्रीराममन्त्र का उपदेश श्रीशठकोपजी को किया,और श्रीशठकोपजी की ही परम्परा में श्रीरामानुजस्वामीजी हुए। इसका शास्त्रीय प्रमाण बृहद्ब्रह्मसंहिता के श्रीराममन्त्रोद्धार प्रकरण में देखिये, वहां लिखा है:-"विष्वक्सेनादिप्रभृभिक्तै' शठारिप्रमुखैर्द्विजै। रामानुजेन मुनिना कलौ संस्थामुपेष्यति।।" (२-७-७१) यदि साम्प्रदायिक प्रमाण की आवश्यकता हो, श्रीरामार्चन पद्धति, श्रीरामस्तवराग भाष्य (श्रीहर्याचार्यजी कृत) भक्तमाल एवं सम्प्रदाय की सारी प्राचीन-परम्पराओं को देखिये। किन्तु जब आपने यह प्रतिज्ञा ही करली है, कि किसी प्रमाण को मानेंगे ही नहीं, केवल एक उत्तर झूठ और भ्रान्त कह कर किया करेंगे? तो शास्त्र, सम्प्रदाय और आचार्य के लेखों को पेश करना तो उनका अपमान कराना है। आप को प्रमाण से सरोकार क्या?

प्रश्न-"(६) श्रीरामानुजसम्प्रदाय की परम्परा में पठित अन्य आचार्यों ने श्रीराममन्त्र को कभी भी कहीं प्रचार किया है, तो इसमें क्या प्रमाण? और कहा किया? उत्तर भारत में या दक्षिण भारत में?

उत्तर—"(६) श्रीरामानुज सम्प्रदाय के आचार्यों ने श्रीराममन्त्र का प्रचार किया है, इसका प्रमाण तो शास्त्र तथा सम्प्रदाय से ऊपर दिखलाया ही जा चुका है। इसके सिवा 'सहस्रगीति' 'आलवन्दार स्तोत्र' 'श्रीरङ्गगद्य' 'शरणागति गद्य' 'पञ्चस्तवी' आदि ग्रन्थों में उनकी श्रीराम-भक्ति का उदाहरण आँख खोल कर पढ़ लीजिये। उन्हों ने इसका प्रचार उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत में भी किया है।

प्रश्न—"(७) 'तुष्यतु दुर्जनः' इस न्याय से मान भी लें, कि इन आचार्यों ने श्रीराममन्त्र का प्रचार किया भी हो तो इस पृथ्वी पर सतयुग त्रेतायुग और द्वापर युग तक श्रीराममन्त्र का प्रचार आप की परम्परा से सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि श्रीविष्वक्सेनजी ने तो इस पृथ्वी पर कभी भी श्रीराममन्त्र का प्रचार नहीं किया है। आपकी परम्परा में दूसरा एक भी ऐसा आचार्य नहीं है जो सतयुग, त्रेता और द्वापर में वर्त्तमान हो।

ऐसी पतित दशा में श्रीराममन्त्र का प्रचार किसने किया? क्या तुम समझते हो, कि सब की बुद्धि भूसा खाती है?"

उत्तर-(७) सत्ययुग, त्रेतायुग और द्वापरयुग में भी श्रीराममन्त्र का प्रचार था। इस परम्परा से नहीं था, इससे यह कैसे सिद्ध हुआ, कि उस समय श्रीराम मन्त्र का प्रचार नही था? विष्वक्सेनजी ने किया, इसका तो प्रमाण पहले ही दे चुके हैं। आप क्या समझते है, कि श्रीराममन्त्र केवल श्रीसम्प्रदाय में ही है, और सम्प्रदाय की एक ही परम्परा है? अगर इस पकार बहाल फिरियेगा तो पागल हो जाइयेगा। क्या आप समझते हैं, कि ब्रह्माजी ने श्रीराममंत्र का उपदेश नही पाया था? शिवजी को नहीं मिला था? यदि मिला है, तो उन्हो ने अपने सम्प्रदाय मे उसका प्रचार नही किया, यह आप को कैसे धारणा हो गयी? श्रीब्रह्माजी के सम्प्रदाय में राममंत्र होने का प्रमाण बृहद्ब्रह्मसंहिता, अगस्त्यसंहिता, आदि ग्रन्थों तथा माध्वसम्प्रदाय की परम्पराओं को क्यों नही देख लेते? यदि नहीं देखा है, तो श्रीरामसखेजी की मैहरगादी की परम्परा देखकर सन्तोष कर लीजिये। उनके सम्प्रदाय की परम्परा-सम्प्रदाय-भास्कर-पढ़ कर भ्रम दूर कर लीजिये। एक बात खूब समझ लीजिये, कि सम्प्रदाय-भेद मे मूल कारण मन्त्र नहीं है, गुरु-शिष्य परम्परा है। एकही मन्त्र होते हुए भी जो श्रीजीकी परम्परा मे हुए है, वे श्रीसम्प्रदायी और जो ब्रह्माजी की परम्परा में हुए है, वे ब्रह्मसम्प्रदायी है। समझे? एक बात और, परम्परा एवं सम्प्रदाय की स्थिति परब्रह्म (उपास्यदेव) और मूल आचार्य के अविच्छिन्न सम्बन्ध से है, न कि चारो युगों की चक्कर अनिवार्य है! यदि आप को मुख्यतः उसी की फिक्र पड़ी है, तो दूसरों के पूर्वाचार्य को आप तथा आपके अनुयायी जबर्दस्ती अपना आचार्य बनाते फिरे 'मान न मान मै तो तेरा मेहमान' की कहावत चरितार्थ करते फिरें। इन सात प्रश्नों के बाद एक अतिरिक्त प्रश्न इस प्रकार किया गया है:—

"इन प्रश्नों के अतिरिक्त एक यह भी प्रश्न विचारणीय है, कि विष्व-क्सेनजी के शिष्य श्रीशठकोपजी माने जाते हैं। परन्तु श्रीशठकोपजीने किसी को शिष्य नहीं बनाया है। ऐसा सम्प्रादायिकों की सम्मति है। तब यह बताना चाहिये, कि नाथमुनिजी किसके शिष्य थे? अच्छा गर्भ में ही किसी के शिष्य हो गये होगे। तो क्या शेष चार संस्कार भी उसी गर्भ में ही हुआ? अच्छा यह भी मान लिया, कि गर्भ में ही कुण्ड खोदा गया होगा। वहीं अग्नि प्रज्वलित किया गया होगा। होम भी वही हुआ होगा।

शंख चक्र भी वहीं तपाये गये होंगे और मुद्रासंस्कार भी वही सम्पन्न हुआ होगा।"

यद्यपि इस कथन से कोई प्रश्न नहीं खड़ा होता, क्योंकि श्रीशठकोपस्वामीजी के परधाम गमन के कोई तीन-साढ़े तीन हजार वर्ष बाद श्रीनाथ मुनिस्वामीजी ने उनकी आराधना कर उन्हे साक्षात्कार किया और उनसे विधिवत् दीक्षित हुए, यही साम्प्रदायिकों की मान्यता है, बल्कि इसी की नकल पर आपने अपनी नूतन-परम्परा में श्रीपुरुशोत्तमाचार्यजी का सम्बन्ध श्रीशुकदेवजी के साथ जोड़ा है, अतःयह निर्विवाद है, कि श्रीनाथमुनिजी उपर्युक्त रीति से श्रीशठकोपस्वामीजी से विधिवत दीक्षा ली थी; फिर भी जान बूझ कर आपने श्रीनाथमुनिजी को अपशब्द कहने की गरज से ही इस प्रकार उच्छृङ्खलता दिखाई है। इसका क्या उत्तर दिया जाय?

इसके बाद 'श्रीराममन्त्रराज परम्परा' की भूमिकावाली समय सम्बन्धी बातें उद्धृत की गयी हैं जिसका उत्तर प्रस्तुत-प्रसंग में पहलेही अच्छी तरह दिया जा चुका है। अतः अब उसकी आवश्यकता नही।

इस प्रकार नूतन-परम्परा की धांधली के चलते समालोचना के मार्ग में एक लम्बी सफर करने बाद इस विषय को समाप्त करता हूँ। इसमें सभी दृष्टिकोणों से नूतन-परम्परा पर विचार किया गया है, किन्तु ज्यों ज्यों उसकी तह में पैठते गये, त्यों त्यो उसकी निराधारता एवं कृत्रिमता अधिकाधिक ही उघड़ती गयी और अन्त में यही तय पाया, कि उसमें सत्यांश का, वास्तविकता का, लवलेश भी नही है। विचार करने से यह सहजही स्पष्ट हो जाता है, कि इसकी रचना में दो दृष्टिकोण काम में लाये गये है। एक तो श्रीरामानुजस्वामीजीकी परम्परा से सम्बन्ध विच्छेद हो, दूसरे इसकी स्थिति चारो युगों में सिद्ध हो, ताकि अनादि-परम्परा की व्यर्थ शेखी मारा करें। श्रीरामानुजस्वामीजी की परम्परा में होने के अकाट्य प्रमाण श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर तथा श्रीरामार्चन-पद्धति ये दो ग्रन्थ श्रीरामानन्दस्वामीजी के ही लिखे हुए हैं। इसके अतिरिक्त श्रीनाभाजीका भक्तमाल भी अमिट ही है, बल्कि उससे तो अग्रदासजीके नाम पर बनाई हुई नूतन परम्परा की पूरी तरह पोल खुल जाती है। इसके सिवा जितने भी परम्परा-सम्बन्धी लेख है, सभी से श्रीरामानुजस्वामीजीका ही सम्बन्ध सिद्ध होता है। ऐसी एक भी परम्परा नही पायी गयी, जो इस नूतन-परम्परा के समान हो। और यह नूतन-परम्परा भी कोई प्रचलित तौर से या ग्रन्थ से नही मिला है, बल्कि खोज कर 'गडामाल' ऊपर

किया है। उसके समर्थन में भी वहीं ग्रन्थ ऊपर हुए हैं, जो उसीके लिये गड़े हुए थे, कभी कहीं दिखाई नहीं पड़ते थे। उसके प्रकट होते सब क्रमश: प्रकट होने लगे। इस प्रकार सब तरह से उसका जालीपन स्पष्ट हुआ। इसके अलावे चतुर्युगी बनने की लालसा में, सिमिट कर ब्रह्मसम्प्रदाय में घुस पड़े। किन्तु जभी उसके अधिकारी सचेत होंगे, त्योंही इन्हें निकाल बाहर करेंगे। "इतो भ्रष्टस्ततोभ्रष्टः।

श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर की आपने इसी लिये दुर्दशा कर 'प्रकाश' की रचना की, ताकि श्रीरामानुजस्वाजीसे किसी प्रकार सम्बन्ध का लवलेश भी न रहजाय। अतः केवल परम्परा सम्बन्धी श्लोक की रद्दोबदल नहीं किया बल्कि सिद्धान्त एवं उपासना आदि के साम्य को भी दूर करने की चेष्टायें की किन्तु लापरवाही के कारण उसमें इतना गड़बड़िया समाविष्ट थीं, कि जिससे आपकी सारी कलाबाजी ही खुल गयी। इसमे आपकी कार्य-शैली की ऐसी पकड़ हो गयी है, कि जिससे आपके जीवन पर भी प्रकाश पड़ जाता है।

इससे लोगो को भलीभाति समझ लेनी चाहिये, कि नूतन-परम्परा कितनी जाली और निराधार है। तथा श्रीरामानन्दस्वामीजीको कीर्ति श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर का विनाश कर अपने मतवाद के अनुसार 'प्रकाश' की रचना कर कितनी बड़ी कृतघ्नताकी है। अतः ये कभी भी सत्पुरुषो के लिये मान्य नहीं हो सकते है।



श्रीभगवद्दासजी का स्वरूप-परिचय।

इन सारी समालोचनाओ से तो हरेक पाठक यह समझे विना नहीं रह सकते, कि नूतन-परम्परा एवं तत्सम्बन्धी सारी कृतियो के विधाता श्रीभगवद्दासजी ही हैं। इन्ही की इन कृतियो के चलते इस समाज का अङ्गभङ्ग हो गया तथा हो रहा है। अत उसकी वास्तविकता सम्यक्रूपेण स्पष्ट कर देने की गरज से मुझे समालोचना की इतनी लम्बी राह तय करनी पड़ी। इस प्रकार उनकी कृतियों का तो बहुत कुछ परिचय दिया गया, किन्तु स्वयं उनका कुछ भी परिचय नहीं देना एक प्रकार से समालोचना को अधूरा ही छोड़ना है। अतः यहाँ केवल संक्षिप्तरूप में स्वरूप परिचय दे देता हूँ, ताकि इतनी बड़ी कृति के विधाता का और उनकी योग्यता एवं कृति का लोग कुछ अनुमान कर सकें।

आपके वर्त्तमान-स्वरूप का परिचय देने के लिये पूर्व जीवन का कुछ परिचय देना भी आवश्यक है, क्योंकि वही तो देशकाल के अनुसार विकसित हुआ है। आप दानापुर-पटना के आर्यसमाज के अनाथालय के एक अनाथ बालक थे। छुटपन में वहीं पाले पोसे गये थे। जब कुछ बड़े हुए, तो पढ़ने लगे। पढ़ने मे तेज और स्वभाव चंचल देख कर पटने के डा० लक्ष्मीपतिजी आर्यसमाजी ने आपको अपने यहाँ आश्रय दिया। लाड़-प्यार से रखा। पढ़ने की अच्छी सुविधायें हुईं। वहाँ आपने पं० श्रीहरिशङ्कर जी से पढ़ना शुरू किया। कुछ दिनों बाद उन्होंने आपकी जातिकी अनिश्चितता के कारण चौंककर पढ़ाना बन्द कर दिया। तब आपने बहुत प्रार्थनायें की, उनके शिष्य पं० श्रीरङ्गनाथजीकी सेवा शुश्रूषाये की, अन्त में पं० श्रीरङ्गनाथजीने भी पंडितजीसे सिफारिशें कीं। तब परिडतजीने स्वयं पढ़ाना तो नही ही स्वीकार किया, परन्तु पं० श्रीरंगनाथजीको यह आज्ञा दे दी, कि यदि तुम चाहो, तो पढ़ादो। तब श्रीरंगनाथजीने सिद्धान्त-कौमुदी पढ़ादी। इधर डा० लक्ष्मीपतिजीका देहान्त होगया अत आपका एक अच्छा आश्रय टूट गया। इस दुःखमें आपने 'लक्ष्मीपति' के सम्बन्ध में अपना विलाप लिखा। उसके बाद मुंगेर के आर्य-समाज-मन्दिर में रहने लगे। फिर वही एक धनी, आर्यसमाजी सोनार हैं, उनके यहाँ रहने लगे। पुनः वही एक अंग्रेजी स्कूल मे नौकरी की। विशेष कारणवश लड़कों से नही पटी। अतः आप कलकत्ते चले गये, वहाँ वेद की परीक्षा दी। इस प्रकार घूम फिर कर दुनियाँ की हवाये खायीं। बचपन से आर्य-समाज में पले ही, पढ़े ही, संसर्ग में रहे ही, बाहरी-दुनियां की भी हवायें

खाई ही, अतः अब नवयुग के एक 'अप-टु-डेट' जेन्टिलमैन बन गये।

इसी समय आप अयोध्या पहुँचे। पढ़े-लिखे युवक-साधुओं से हेलमेल बढ़ा। आखिर श्रीरघुबरदासजी वेदान्तीने बड़े स्थान के भूत-पूर्व सिंहासनासीन महन्त श्रीराममनोहर प्रसादजीसे पैरवी करके इन्हें वैष्णव-धर्म में प्रविष्ट कराया। पहले आपका नाम था भवदेव, अब नाम पड़ा भगवद्दास। अबसे आप भगवद्दासजीके नाम से प्रसिद्ध हुए। आप अपने नामों में ब्रह्मचारी टाइटिल भी लगाया करते थे। अतः आप अपने को भगवद्दास ब्रह्मचारी भी कहते थे।

पहले कहा जा चुका है, कि बड़ा-स्थान-अयोध्या के भूत पूर्व महन्त श्रीराममनोहर प्रसादजी ने—आपके गुरुदेवजी ने—साम्प्रदायिक-ज्ञान-प्रसार के लिये अपने यहाँ वेदान्त-पाठशाला खोली थी। उसमें पढ़ाने के लिये दक्षिण से एक दक्षिणी मीमांसक बुलाये गये थे। मीमांसक-स्वामी जी ने अपने हृदय की संकीर्णता के कारण समय समय पर कई बार श्रीरामानन्दीय-वैष्णवों को अपमानित किया। इससे पढ़ने लिखने वाले वैष्णवों के दिल पर गहरी चोट पहुँची।

प्रश्न यह होता है, कि भगवद्दासजी इस सम्प्रदाय में किस लिये पैठे थे। अपने परमार्थ-साधन के लिये, कि इस समाज को ध्वस-कर आर्य-समाज के सिद्धान्तानुकूल बनाने के लिये? खैर जो भी हो, किन्तु आपके कार्यों से यह स्पष्ट है कि इस समाज को अपने आचार्यों, महापुरुषों एवं शास्त्रों की मान्यता से दूर कर अपने साथ ले चलने के लिये आपने विविध उपाय किये गये, क्योंकि यह समाज तो इसी मान्यताओं के ऊपर स्थित है। इन मान्यताओं के बन्धन को छोड़ते ही उसे मनमाना अपनी ओर लाया जा सकता था। चाहे आपने प्रकारान्तरसे आर्य-समाज के सिद्धान्तानुकूल इसे बनाने का उद्देश्य रखा हो, चाहे अच्छी नीयत से ही इस समाज को अपने संस्कार के अनुसार सुधार करना अभीष्ट रखा हो, परन्तु दोनों अवस्थाओं में आपके लिये इसे आर्य-समाज के जैसा बहुत कुछ बनाना अनिवार्य हो गया।

इस अभीष्ट-सिद्धि के लिये आपको यह करना अनिवार्य था, कि इस समाज को ऐसे बचाव से अलग कर दें, जिसके अटल-प्राचीर से इस किले पर किसी प्रकार आक्रमण करना असम्भव था। वह प्राचीर क्या था? ओह! दोहरा और बहुत जबर्दस्त प्राचीर था, जिसको देखते ही दुश्मनों के दाँत खट्टे हो जाते थे! बाह्य प्राचीर, आचारी-श्रीवैष्णवों से भ्रातृ-सम्बन्ध, एक कुल में होने का गर्व, था, जिन दोनों भाइयो की

सम्मिलित—शक्ति ने अपने विरुद्ध उठाते हुये काशी का सिर झुका दिया था। अन्तःप्राचीर, गुरु, आचार्य, सम्प्रदाय एवं शास्त्र की मान्यता थी, जिससे विदेशी-संस्कृति के प्रबल आक्रमण ने भी इनका बालबाँका नहीं किया बल्कि बहुत कुछ हार खाकर उसे इनकी शरण लेनी पड़ी। निदान इसको ध्वंस करना आपके लिये अनिवार्य था। शत्रु बनकर तो इसके ध्वंस करने का सपना देखना भी पागलपन था। किन्तु परिवार बनकर अपनी रायमें लाकर इसको बर्वाद करते कितनी देर थी? अपना घर कोई खुद खोद डाले, तो फिर उसकी रक्षा ईश्वर भी नहीं कर सकते। अन्त मे ऐसा ही हुआ।

पहले बाह्य-प्राचीर तोड़ने की ठानी गयी। कहा गया, अजी दो-दो प्राचीर की क्या आवश्यकता है। इससे स्वछन्द-वायु के गमनागमन मे बहुत बाधा पड़ती है अतः दुर्गन्ध फैलती है, किले के लोगों का स्वास्थ्य बिगड़ा करता है। अतः इस ढाह दो। लोग आनन्द-विभोर होकर जड़ से खोद डालने के लिये टूट पड़े। खुदाई शुरू हुई। किन्तु दूरदर्शी भाइयों ने इस काम को रोकने की चेष्टायें की। प्रयत्न व्यर्थ हुआ। अन्त जुदाई हो गई। कुछ लोगों ने अपना प्राचीर भंग नही किया, कुछ लोगों ने अपने प्राचीर की नीव तक खोद डाली। अत. एक ओर का एक प्राचीर पूर्णरूपेण उखाड़ फेका गया।

अर्थात् नूतन-परम्परा बनाई गया। इसमे आचारी-श्रीवैष्णवो एवं श्रीरामानुजस्वामीजी से सर्वथा सम्बन्धः विच्छेद का प्रस्ताव किया गया पुनः रहस्योद्घाटन के द्वारा आचारी-श्रीवैष्णवो एवं उनके सम्बन्ध वाले आचार्यों की निन्दाकर उनसे दूर रहने के लिये उभाड़ा गया। अन्य भाइयों ने विविध नोटिसो तथा 'तत्वोद्बोधन' के रूप में परम्परा-सम्बन्ध रूप प्राचीर के बचाव की रक्षा के लिये चेष्टाये की परन्तु तत्वोद्बोधन मीमासा के रूपमें फिर उत्तजना दी गयी अतःउत्तेजित भाइयों ने अपनी ओर का बाह्य-प्राचीर उखाड़ ही फेका—परम्परा विच्छेद हो कर डाला। इस प्रकार परम्परा-विच्छेद रूप बाह्य-प्राचार का एक अलग ध्वस हो गया। किन्तु इतना ही होकर नहीं रहा—भाईयों मे केवल जुदाई ही नही हुई, बल्कि इन उत्तेजित भाइयो ने दूसरी ओर के प्राचीर को भी नष्ट करने की चेष्टायें की, प्रत्युत दूसरे भाइयों ने अपने प्राचीर की—परम्परा—सम्बन्ध की-रक्षा करते हुए उस भग्न प्राचीर के पुनर्निर्माण की भी चेष्टायें किन्तु परिणाम मे कलह और वैर-विरोध ही बढ़ गया।

इस प्रकार बाह्य-प्राचीर तो भग हुआ, किन्तु उसके भग्न-खण्ड-

हगों एवं टीलों से दूसरा अव्यस्थित प्राचीर बना ही था, अतः उसका पुनः यथायोग सहज ही निम्माण हो सकता था। इसलिये दूर फेंकवाकर समतल मैदान कर दिया, ताकि साधन नही रह जाने के कारण इस प्राचीर का पुनर्निर्माण असम्भव हो जाय अर्थात् सारे साम्प्रदायिक एवं शास्त्रीय प्रमाणों एवं मान्यताओं के विरुद्ध इस सम्प्रदाय-विच्छेद का टिकना असम्भव था। इसलिये वाल्मीकि-संहिता की रचना कर डाली, कि जिससे शास्त्र के नाम पर होने के कारण इसके विरुद्ध मनोवृति ही उत्पन्न नहीं हो सके। इस प्रकार मनोरथ की पहली सफलता हुई।

किन्तु भीतरी प्राचीर के बने रहने से किले का ध्वंस करना कठिन काम था—जब तक गुरु, पूर्वाचार्य, सम्प्रदाय एव शास्त्र की आज्ञाओ की मान्यताओं में श्रद्धा-भक्ति थी, तब तक इनको अपनी इच्छित राह पर ले जाना असम्भव सा था। अतः उसके तोड़ने का प्रस्ताव निरापद नही था, क्योकि इससे साम्प्रदायिक किला सर्वथा अरक्षित हो जाता था। अतः युक्तियो से काम लेना शुरू किया। यह गुम्बज व्यर्थ है, इसको ढाह दो। यह व्यर्थ बोझ डालता है, इससे प्राचीर टूट जायगा। इधर प्राचीर टेढ़ी-मेढी है, इसमें दुश्मन छिप सकते हैं, इसको तोड़कर सीधी करो-इत्यादि कह कर इस पर भी जहाँ कही हाथ साफ होने लगा। आपके गुरुदेवजी ने इस अनर्थ को बढ़ते देख कर इसको दूर करने और उचित उद्बोधनके लिये'श्रीसम्प्रदायदिक्प्रदर्शन' नामक पुस्तिका छपाकर बटवायी

आपने सोचा, कि हमारे साथ अब एक उत्तेजित दल है ही, अतः ऐसे अवसर पर इन से ऐसा काम लिया जाय, ताकि अन्तः प्राचीर का कुछ अंश भी नष्ट हो। आपके गुरुदेवजी ने पहले प्राचीर के पुनर्निर्माण की, परम्परा सम्बन्ध स्थापनकी,चेष्टा की थी, वह तो अग्राह्य हुआ ही,अन्तः-प्राचीर पर भी धावा हुआ।गुरुजीको खूब जी भरकर गालियाँ दी गयी,मूर्ख बनाया गया, जीभर कोसा गया, अपमान किया गया जिसका स्मारक आज भी श्रीसम्प्रदाय रक्षा के रूप में विद्यमान है। इसको उत्तेजित लोगो ने सहर्ष देखा, छाती ठंढी की। उन्होने यह समझा कि गुरुही नासमझ और अयोग्य हैं चेला समझदार और पूर्ण योग्य है। ऐसे गुरु की ऐसी ही इज्जत होनी चाहिये। किन्तु इसके गूढ़-गर्भ में क्या उद्देश्य भरा था, यह नही समझे। श्रीरामानुजस्वामीजी तथा आचारी-श्रीवैष्णवों को तो विराना बनाकर गालियाँ दी गयी थी, अतः उससे स्वतन्त्र-साहस नहीं हुआ था। इसलिये अबकी बार अपने गुरुजीको गालियाँ देकर आजमाया गया, कि सम्प्रदाय के नाम पर यह सह्य होता है, कि नही। लोगों ने केवल सह्य

ही नहीं किया, स्वागत किया। अतः अब इन्होने समझ लिया, कि अन्तः प्राचीर ढाहने का काम शुरु करना चाहिये।

अब सम्प्रदाय की एक प्रबल-मान्यता और महापुरुष के ऊपर आक्रमण हुआ। गोस्वामी तुलसीदासजी तथा उनकी रामायण को इस समाज के लिये आचार्य, धर्म-कर्म आदि सब कुछ समझना चाहिये। अतः उनके विरुद्ध करने के लिये प्रयत्न शुरू किया गया। गौरी-पूजन तथा रामेश्वर-स्थापना की सुनहली, पर घातक ओट लेकर तुलसीदासजीकी कृतियों की मान्यता पर भारी आक्रमण किया। इसके लिये साधु-सर्वस्व में लेख लिखे पुनः उसे 'रामेश्वर-मीमासा' के रूप मे पुस्तिका का रूप दिया। अयोध्या मे आकर उनके विरुद्ध भाषण करते हुए ललकारा। यहाँ तक कि 'प्रकाश'(श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर) की भूमिका में यह भी लिख दिया, कि मन्दिर में तुलसी कृत रामायण का वह प्रसंग धोखे से भी निकल आवे, तो प्रायश्चित करना चाहिये।" किन्तु यह आक्रमण लोगों को सह्य नहीं हो सका— विचलित हो उठे, इसको मानने से इनकार कर दिया। इसी कारण क्रमशः एक के बाद दूसरे कई हमले हुए। अन्त मे लोगों ने इस हमले से रक्षा पाने के लिये स्वामी श्रीरामप्रसादजी (प्रथम आचार्य बड़ास्थान अयोध्या) कृत 'शिक्षापत्री' का प्रकाशन किया। इसके विरुद्ध भी आपने 'तत्त्वदर्शी' के दूसरे अङ्क में 'श्रीअयोध्या के वैष्णवों से प्रश्न' शीर्षक लेख में खूब जली कटी सुनाई। यथाः—

"तुलसीदासजीके सब काव्य मनोहर हैं। इसलिये श्रीरामप्रसादजी महाराज को इष्ट है। बस इतनी हो तो बात है और तो कुछ है नहीं। वह यह कहाँ कह रहे हैं कि यह सम्प्रदायिक पुस्तक है, अतएव मुझे इष्ट है? दूसरी बात 'ममेष्टानि' उनको इष्ट है। सब को इष्ट है, यह कहाँ से आया? क्या यह कोई नियम है, कि किसी के गुरु को चिलम इष्ट हो तो उसके शिष्य को भी इष्ट होनी ही चाहिये?" "तब तो अब सब वैरागियो के मन्दिर में एक एक छागवलि की वेदी तैयार हो जानी चाहिये। यदि दूसरी कोई विधि हो, तो उसको शीघ्र प्रकाशित करनी चाहिये। तथा अब यह भी बताना चाहिये, कि वैरागी समाज वैष्णव है या स्मार्त्त?" "यदि वैरागी समाज वैष्णव है, तो किस सम्प्रदाय का अनुयायी है, उसका आचार्य कौन है?" "इन सब बातो का स्पष्टीकरण हो ही जाना चाहिये। वैरागी समाज में सैकड़ो भविष्णु नवयुवको और अनन्य भगवतों का जीवन निरुद्देश होकर नष्ट न हो, इसके लिये अब वैरागी समाज को अपना स्वरूप प्रकट कर देना चाहिये। अब तक दुनियाँ उन्हें श्रीसम्प्रदायी

समझती थी, परन्तु अब उन्हें जगत क्या समझे इसका निर्णय भद्र शब्द में हो जाना आवश्यक है ।"

देखिये, इन थोड़े से शब्दों में ही इस समाज और आचार्य पर कितना घर आक्रमण किया गया है। तुलसीदासजी के ग्रन्थों को चिलम की उपमा देकर कितना अपमान किया गया है । आचार्य रामप्रसादजीको चिलम पीने वालो की समकोटि में गिनकर वैष्णवो के दिल पर कैसी बर्छी मारी गयी है। अयोध्या के वैष्णवो को अपनी आज्ञानुसार नहीं चलते देखकर सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार चलने में कैसा घोर अपमान किया गया है ? मन्दिर में छागवलि की वेदी बनाने को कहा जाता है ! प्रश्न पूछा जाता है, कि वैष्णव हो, कि स्मार्त ? और अन्त में कहा जाता है, कि 'अब वैरागी-समाज को अपना स्वरूप प्रकट कर देना चाहिये। अब तक दुनियाँ उन्हे श्रीसम्प्रदायी समझती थी, परन्तु अब उन्हे जगत क्या समझे इसका निर्णय भद्र शब्दो में हो जाना आवश्यक है।' उनके कथन का तात्पर्य यही है, कि जैसे हम चलाते हे, वैसा चलो तब तो वैष्णव कहेगे, नही तो पूर्वजो की चाल चले तो बस, खबरदार ! इस समाज को किस प्रकार अपने पंजे में समझ कर अपमान किया गया है। क्यों न हो, जब नूतन-परम्परा की नकेल पहना कर डोरी हाथ में रखी गयी है, कि ज्योही उनकी इच्छित-राह से इधर उधर सिर हिलाया, कि नकेल खीच कर नाक सीधी कर दी। देखें, समाज को यह अपमान कब तक स्वीकार है ? यदि इस समाज की रक्षा का वह पहला प्राचीर भंग न होता, तो गुरु-आचार्य और महापुरुष और समाज को इस प्रकार निर्भीक होकर अपमान करने की किस की हिम्मत थी। किन्तु हाँ, इससे उनको अब यह समझ में आ रही है, कि हम लोगो ने धोखा खाया है।

खैर, तुलसीदासजी पर हमला तो बहुत हुआ, किन्तु इसका असर कुछ भी न हुआ बल्कि समाज मे से कुछ लोग अपने इस हित-चिन्तक-परिवार की हित-चिन्ता से चौंक पड़े। जब उन्होने देखा, कि इस ओर का प्राचीर बहुत मजबूत तथा लोगों की इस पर ममता भी है, तो कुछ देर के लिये दूसरी ओर ध्यान दिया। देखा, तुलसीदासजी की रामायण के बाद नाभाजी के भक्तमाल की मान्यता है, यदि इसकी स्थिति भी सुरक्षित रह गयी, तो इस समाज में इच्छित-परिवर्त्तन करना मुश्किल है। इसलिये नूतन-परम्परा का बहाना लेकर उस पर आक्रमण किया। नूतन परम्परा का बहाना इसलिए लिया कि उसका सम्बन्ध जोड़ लेने से लोग सहज ही मान लेते थे, क्योकि उससे विश्वास और श्रद्धा-भक्ति पैदा करा

दी जा चुकी थी। नाभाजी इस समाज में दिव्य ज्ञानी माने जाते हैं, उनको इन्होंने भ्रान्त लिखा है। जैसा कि 'श्रीमद्रामानन्द दिग्विजय' की भूमिका पृष्ठ १७-१८ से स्पष्ट है:—

"यह मान ही लेना चाहिये, कि मनुष्य का ज्ञान सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं है। श्रीनाभाजी भी एक मनुष्य थे। उनको निर्भ्रान्त मानकर कोई भी सिद्धान्त स्थापन करने में बड़ी भारी भूल होगी। मेरे कथन का यह आशय नहीं है, कि उनका समस्त ग्रन्थ ही भ्रान्तिमय है। प्रत्युत जहां शास्त्र, सदाचार और लौकिक व्यवहार से विरोध प्रतीत होता हो वहां मानव-सुलभ-भ्रान्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई भी मार्ग नहीं है।"

इसके बाद आपने देखा, कि श्रीरामानन्दस्वामीजी कृत श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर की स्थिति यदि ठीक रह गयी, तो सम्भव है, कि इस किये कराये पर भी चौका फिर जाय। क्योंकि अभी तो उत्तेजना के जोर पर काम चल रहा है, ज्योंही शान्त परिस्थिति हुई और स्थिर से विचार करने का अवसर इनको मिला, कि सारी पोल खुल जायगी। अतः इसको अभी से नष्ट-भ्रष्ट करके रख छोड़ना चाहिये, कि आगे विचार करने का अवसर भी आवे, तो वे इसी से धोखा खा जायँ। अतः भाषाटीका करने के बहाने 'प्रकाश' के रूप में उसे नष्टभ्रष्ट कर दिया, जिसकी बृहत्समालोचना पूर्व में की जा चुकी है। इस प्रकार परम्परा-सम्बन्ध-विच्छेद होने पर निश्चिन्त होकर इनने हमले इस सम्प्रदाय के पूज्य ग्रन्थों, गुरुओं महापुरुषों एवं आचार्यों पर किये, परन्तु नूतन-परम्परा मानने वाले श्री रामानन्दीय-वैष्णवोंने इसे सह ही लिया। जरा सी 'रामायण' को लेकर तिलमिलाया, पर व्यर्थ क्योंकि नकेल तो कब्जे ही थी, फिर जायेंगे किधर!

इस प्रकार जब गुरु, आचार्य एवं महापुरुषों पर इतने हमले कर लिये और देखा, कि जिस समाज का मैंने गठन किया है, उसमें कोई मेरी गति रोकने वाला नहीं है, बल्कि कोई शक्तिशाली व्यक्ति विरुद्ध तक भी नहीं हुआ है, केवल कुछ तुलसीकृत रामायण के प्रेमी एक अंश लेकर तिल मिलाते हैं। परन्तु उनसे कुछ होने जाने का नहीं, उनकी स्थिति ही क्या है। तब अब की ऊँचा हमला करने का आपने साहस बाँधा। लखऊ की हिन्दी-मासिक-पत्रिका 'माधुरी' के सन् १९३० ई० के आषाढ़ के अङ्क में वाल्मीकि-रामायण पर हमला किया। यह लेख इस अङ्क के 'जीवन-ज्योति' स्तम्भ में छपा है। इसमें श्रीरामजी के चरित्र का बहाना लेते हुए मुख्य रूप से ग्रन्थ को अमान्य और अप्रामाणिक करने की चेष्टा की गयी है। यथाः—

"मेरे मत में यह संख्या वाल्मीकि कृत नही है। आदि काण्ड के चार सर्ग भी वाल्मीकि के नही हैं। इन्ही चार सर्गों में ही संख्या की गणना मिलती है। जब यह संख्या वाल्मीकि कृत नही है, तो २४ सहस्र के नियम को लेकर कितनी ही असम्बद्ध और अन्याय कथाओ का अस्तित्व स्वीकार करना बड़ा भयंकर कार्य है। वाल्मीकि रामायण का आरम्भ आदि काण्ड के पचम सर्ग से होता है। पंचम सर्गही प्रथम सर्ग है। लंकाकाण्ड पर्यन्त ही रामायण है। इन छः काण्डों में भी अनेक सर्ग प्रक्षिप्त हैं, जिनका संशोधन करना परम आवश्यक है।"

इससे स्पष्ट है, कि श्रीरामोपासकों के परममान्य और पूज्य ग्रन्थ 'वाल्मीकि-रामायण' को अप्रामाणिक, अग्राह्य और नष्टभ्रष्ट करने की पूरी चेष्टा की गयी है। पहले तो उसका 'उत्तरकाण्ड' साफ इनकार हुआ। आदि काण्ड के चार सर्ग उड़ाये गये, जिसमें पहले सर्ग को मूल रामायण कहते है और यह श्रीरामोपासकों के नित्य पाठ का ग्रन्थ है। इसके सिवा २४००० हजार श्लोक की संख्या रद्द कर इन छः काण्डो के अनेक सर्गों और कथाओ को भी प्रक्षिप्त ही कह डाला, तो अब निश्चित कहाँ रहा, कि कौनसी कथा मान्य है। इस प्रकार सारे ग्रन्थ को अमान्य करने की युक्तियाँ खेली गयी हैं। फिर संशोधन की आवश्यकता बतलाते हैं। आपके हाथ में पड़े तो जो इनकी गति होगी वह 'प्रकाश' की दुर्दशा से सहज-अनुमेय है।

इसके बाद माधुरी के आश्विन कार्त्तिक और अगहन के अंक में भी इस विषय पर लेख निकले, जिसमें मुख्यतः यह सिद्ध किया गया था, कि वाल्मीकि रामायण, त्रेता के वाल्मीकिजी की रचना नहीं है, वरन् कलियुग में उसकी रचना हुई है। यद्यपि इस लेख के लेखक का नाम दूसरा ही दिया हुआ है, परन्तु पता नहीं, कि यह नाम कहाँ तक सत्य है। हो सकता है, कि कोई दूसरे ही व्यक्ति लिखे हों, और भगवद्दासजी के लिखने में भी सन्देह नही, क्योकि उन्होने ही मैथिली शरण पाण्डेय के नाम से एक समय तत्त्वोद्बोधन मीमासा और रहस्योद्घाटन लिखा था। यदि ये न भी हों, तो भी उसका दायित्व इनके ऊपर अवश्य ही है, क्योंकि प्रथम लेख में आपने इस पर लिखने के लिये लेखको को आह्वान किया था, परन्तु इस लेखके निकलने पर इसके विरुद्ध कुछ नही लिखना यही सिद्ध करता है, कि चाहे तो आपने ही नामान्तर से लिखा हो, या आपके साथियो ने या किसी और ने, परन्तु उसकी बातें आपको मान्य हैं, तब तो इस पर लिखने के लिये छेड़ कर चुप्पी साधली?

इस प्रकार 'वाल्मीकि—रामायण' की मान्यता एवं प्रामाणिकता को अपनी शक्ति भर ध्वंस किया। फिर कुछ दिन चुप हो रहे। देखते थे, कि अपने समाज पर इसका क्या असर पडता है। जब देखा कि मेरी शक्ति अब इस समाज में अबाध्य हो गयी, क्योकि कोई साँस भी लेने वाला दिखाई नहीं पड़ा तब इन्होंने खुल कर खेलना ही ठान लिया। आज कल 'तत्त्वदर्शी' के रूप में आप खुल कर खेल रहे हैं, अपना असली रूप प्रकट कर रहे हैं।

अब इसके दो—एक नमूने देखियेः--

इसके पहले अंक में ही 'मूर्त्तिपूजा' शीर्षक लेख प्रारम्भ होता है और उसमें लिखा जाता हैः—

"हिन्दूप्रजा के सामने कभी ऐसा भी समय उपस्थित था, जब कि केवल शब्द प्रमाण के ऊपर ही प्रजा के समस्त जीवन का सार अवलम्बित था। संहिता ब्राह्मण, सूत्र जो कुछ कह दें, बस वही धर्म था। प्रजा मान के साथ उनकी आज्ञाओ के सामने मस्तक झुका देती थी। यह एक प्रकार की निर्बलता और कादर्य था। उसी समय यह लिखा गया है, कि 'वेदप्रणिहितो धर्मोऽधर्मस्तद्विपर्ययः' अर्थात् जो कुछ वेदों मे विधि है, करने की आज्ञा, उसीका अनुष्ठान करना धर्म है और उससे विपरीत अधर्म है। यह भावना बहुत दिनो तक हिन्दूप्रजा की गोदी में पलती और पुष्ट होती रही। इस भावना ने हिन्दूप्रजा को मनुष्यत्व से पृथक कर दिया था, यह मेरा नम्र मत है।"

"वैदिक-मन्त्रों मे से मूर्त्तिपूजा तो अभी तक प्रामाणिक रूप से नही निकाली जा सकी है,यह जीवित सत्य है। स्वामी दयानन्द संहिताओं को सर्व प्रथम और ब्राह्मणों को उसके पश्चात् प्रमाण मान कर संहिताओं का ही प्रमाण मूर्त्तिपूजा के लिये चाहते है। विद्वानों ने ऐसा न कर, इधर उधर के अस्तव्यस्त ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रमाण ही रख कर कुशकाशावलम्बन किया है और उसका रहस्य फूट गया। प्रजा के हृदय मे अविश्वास की मात्रा बढ़ चली, वेदो में मूर्तिपूजा करने की विधि नही है। इस धारणा ने उन्हे मूर्त्तिपूजा से अश्रद्धालु बना ही दिया।"

"जिनमें साहस न था वह अपने समाज के दबाव से बाहरी मन से मूर्त्तिपूजा करते रहे और उनके दुर्गन्ध से आज भी मूर्तिपूजक दुर्गन्धित हो रहे हैं। लड़ाई लड़ने की बात तो अलग है परन्तु यदि हाथ में शालिग्राम देकर शपथ लिया जावे और उनके दैनिक आचार और विचार का

अनुसन्धान किया जावे, तो मेरा एक एक अक्षर सत्य प्रमाणित होगा। और इसी लिये मैं कहता हूँ कि मूत्तिपूजा के विचार ने हिन्दूप्रजा की हानि ही सब से अधिक की है।"

इस प्रकार हम देखते हैं, कि पहले तो आपने संहिता ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों की आज्ञाओं के सामने मस्तक झुका लेने को—मान लेने को—निर्बलता और कादरता कहा है। फिर कहते हैं, कि वेदों की आज्ञा को धर्म और उसके विपरीत को अधर्म मानने की भावना ने हिन्दूप्रजा को मनुष्यत्व से पृथक् कर दिया। उसके बाद जोर देकर कहते हैं, कि "वैदिक मन्त्रों में से मूनिपूजा अभीतक प्रमाणिकरूप से नहीं निकाली जा सकी है, यह जीवित सत्य है।" फिर लिखते हैं कि 'मूर्त्तिपूजा को वैदिक सिद्ध करने के लिये कुछ विद्वानों ने इधर उधर के अस्त व्यस्त ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रमाण रख कर कुशकाशावलम्बन किया और उसका रहस्य फूट गया।" फिर अन्त में कहते हैं "मूर्तिपूजा के दुर्गन्ध से आज भी मूर्तिपूजक दुर्गन्धित हो रहे हैं" "मूर्तिपूजा के विचार ने हिन्दूप्रजा की हानि सबसे अधिक की है।" इस प्रकार वेद, शास्त्र को मनुष्यता से पृथक करने वाला ग्रन्थ मूर्तिपूजा को अवैदिक और सबसे बढ़कर हानिकर तथा मूर्तिपूजक को दुर्गन्धित अर्थात् भ्रष्ट निन्द्य कहा गया है।

फिर इसके दूसरे अङ्क में "श्री अयोध्या के वैष्णवों से प्रश्न' शीर्षक लेख में इस समाज का जैसा अपमान किया गया है, उसका कुछ विवरण दिया ही जा चुका है। अब तीसरे अङ्क के पृष्ट ५३-५४ अर्थात् 'ईशावास्योपनिषद्' की हिन्दी टीका जो इसी के साथ छपी है, उसके पृष्ट १५-१६ में लिखा है:—

"शास्त्रकार ईश्वर नहीं हुआ करते। मनुष्य सुलभ दोषों से परिपूर्ण ही पुरुष शास्त्र लिख जाते हैं। भविष्य की प्रजा उन्हें बड़ा श्रेष्ट ऊंच आचार्य ऋषि मुनि आदि पदवी से युक्त करके उनके बचन के पीछे चलने लग जाती है।"

देखिये, इसमें आचार्य, ऋषि मुनि एवं उनके प्रणीत ग्रन्थों का कैसा घोर अपमान किया गया है। उनको आप उत्कृष्ट पुरुष भी नहीं मानते, बल्कि मानवसुलभदोषों से परिपूर्ण। पूर्ण से भी सन्तोष नहीं हुआ, तो परिपूर्ण लगा कर दिल ठंढा किया। इससे स्पष्ट है, कि आप ऋषि मुनि एवं आचार्यों को साधारण मनुष्य से भी गिरा हुआ समझते हैं। इसके बाद भी यदि किसी को यह समझने में कसर रह जाय, कि

वेदों, संहिताओं, उपनिषदों धर्मशास्त्रों आचार्य ग्रन्थों ऋषि मुनि-आचार्यों का आपकी दृष्टि में क्या स्थान तथा मान्यता है, तो गनीमत ही समझनी चाहिये।

इसके बाद इसके चौथे अङ्क के पृष्ट ६२ में आपने लिखा है:—

"प्रिय मित्र महान्त श्रीसीतारामदासजो शास्त्रो के शब्दों मे यह मेरा कथन कड़वी कुनैन है। गले के नीचे उतरते ही कल्याण हो जावेगा।"

आपके ये "प्रियमित्र महान्त श्रीसीतारामदासजी शास्त्री, कौन हैं, जिनके 'शब्दों, की सर्टिफिकेट आपने अपने कथनो के लिये पेश किया है, यह थोड़े में ही दे देता हूँ। ये नासिक के एक वृद्ध श्रीवैष्णव महात्मा के पास आकर शिष्य हुए और शीघ्र ही उनके बाद आप उस स्थान के महन्त हुए। आज कल तो प्रसिद्ध हो रहे हैं। 'भविष्य' पत्र मे प्रशसा के साथ उनका फोटो छपा है। वे वैष्णवो मे प्रथम व्यक्ति बताये गये हैं। किस लिये, यह भी सुन लीजिये। नासिक के अछूतो का नेता बनकर उनको जमा करते हैं, और भगवन्मन्दिरो मे बलात् प्रवेश करने एवं कुण्डादिक तीर्थों में स्नान करने के लिये आक्रमण करवाते हैं। कई मन्दिरा में कई बार धावे कर प्रवेश करा चुके हैं। इन्ही के शब्दो को ईश्वरीय वाक्य के समान अकाट्य मान कर आप अपने कथनो की उत्कृष्टता में पेश कर रहे है, अतः अब भी उनकी नकेल पहिन कर उनके पीछे चलने वालों को समझ लेनी चाहिये कि वे कौन हैं? और क्या करेंगे?

यद्यपि इस ढग की बातें आर्य-समाजियों एवं पश्चिमी-हवा के झोके खाये हुए लोगो के द्वारा आज प्रायः बहुत कही-सुनी जाती हैं, परन्तु अपना परिवार बने हुए व्यक्ति के द्वारा वेद, शास्त्र, ऋषि-मुनि गुरु-आचार्य एवं महापुरुषा की इतनी निन्दायें इतना अपमान किया गया हो, यह पहला ही अवसर है। आर्य-समाजी लोग भी वेदो को आदर के साथ मानते हैं, परन्तु आपने उस पर भी हरताल फेर दिया। आपके विचार में वह मनुष्यत्व से पृथक् करने वाला ग्रन्थ है। हद हो गयी! यह क्यों सम्भव हुआ? इसका एक उत्तर यही है, 'इनको नहीं पहचाना था। यही कारण है, कि इस वैष्णव-समाज रूप किले के बाह्य प्राचीर—प्राचीन-परम्परा—को उखाड़ फेंकने के कारण ही भीतरी प्राचीर—वेद, शास्त्र, ऋषि मुनि एवं आचार्य की मान्यता—पर अनिच्छा रहते भी उसे ध्वस करने के लिये इस प्रकार गोलावारी हो रही है, धावे किये जा रहे हैं। और इसकी चोट का असर इस लिये पड़ता है, कि यह सब अपने घर से ही हो रहे हैं,

विरानों की ओर से नहीं, कि रक्षा करने का प्रयत्न किया जाय। यदि अब भी सावधानी नहीं की गयी, तो फिर इस समाज के विशाल अंग का क्या रूप होने वाला है, यह सोंचकर भविष्य धुन्धला हो जाता है। यदि आपके प्रियमित्र महन्त सीतारामदासजी शास्त्री के समान ही आपको और आप दश पाँच मित्रो को श्रीवैष्णव-आचार्यों का स्थान हाथ लग गया, तो इस समाज के नष्ट भ्रष्ट होने में अब देर नही दिखाई पड़ती।

इसलिये यदि आप कल्याण चाहते हों, तो प्राचीन-परम्परा ग्रहण रूप बाह्य-प्राचीर को शीघ्र तैयार कर दीजिये ताकि भीतरी-प्राचीर पर—वेद शास्त्र ऋषि-मुनि आचार्य पर—हमला ही असम्भव हो जाय। नूतन-परम्परा साहस के साथ बिना त्याग किये कभी कल्याण नही है, क्योंकि वही तो इस समाज को उनके बस में रखने की नकेल है। यह कभी सम्भव नही कि उसको स्वीकार करते हुए आप स्वतन्त्रता से रह सकें। कारण, उसके कर्त्ता-धर्त्ता सब तो वही हैं। जहाँ मीन-मेष किया, कि झट डराया, कि इधर उधर करोगे, तो पोल खोल देंगे। बस फिर सटक गये। अतः इस नूतन परम्परा को त्याग कर फिर अपने पूर्व रूप में आ जाइये। ऐसी भी तो बात नही है, यह बलात् गले पतित है, इसे तो स्वेच्छा से कबूल कर लिया है, जब चाहें तब फेंक सकते हैं। अतः अवश्य इस तबेले की लतियाहुज और समाज की अप्रतिष्टा दूर करने के लिये उनकी बनाई नूतन-परम्परा त्याग कर पूर्व रूप में आ जाइये। देखियेगा, तब तो वे एक दिन भी न टिककर अपनी असली राह लेंगे। आशा है अब लोग इसके लिये तैयार हो जायँगे।

उपसंहार।

इन ग्रन्थों के सम्पादन, संशोधन एवं प्रकाशन में जिन जिन महानुभावों एवं साधनों से मुझे सहायता मिली है, उनका मैं हृदय से आभारी हूँ। सब से पहले तो मैं मिथिला-मण्डल के महन्त महानुभावो तथा प्रकाशक महोदयजी का चिरकृतज्ञ हूं, जिन्होने मुझे आचार्य-चरण के इन ग्रन्थों की सेवाओं को देकर कृतार्थ किया। दूसरे, पं० रामशोभादासजी का भी मैं कृतज्ञ हूँ, जिनकी जयपुर की श्रीवैष्णव मताब्ज-भास्कर एवं श्रीरामार्चनपद्धति की प्राचीन हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि से मैंने इन ग्रन्थों के पाठ निश्चित किये। इसके सिवा सकल शास्त्र निष्णात विद्वद्वर आचार्य श्रीदामोदर लालजी गोस्वामी महोदय का भी मैं ऋणी हूँ,

जिन्होंने किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहने पर भी अपने सहज सौजन्य से मेरी प्रार्थना स्वीकार कर अमूल्य समय लगा इस ग्रन्थ और अर्थ प्रकाशिका टीका को, छपने के लिये शुद्ध करने का कष्ट उठाया। प० श्रीरामटहलदासजीका तो मै सबसे अधिक ऋणी हूँ, जिन्होने इस सम्बन्ध के अपने सारे संग्रहो को मेरे सुपुर्द कर दिया, जिनसे मुझे बड़ी सहायता मिली। उनके द्वारा सम्पादित श्रीवैष्णव-मताब्ज भास्कर के परिशिष्ट से भी मुझे कम सहायता नही मिली है, उसके द्वारा मुझे एतत्सम्बन्धी कितने ग्रन्थो का पता चला, जिनमें मुझे बहुत से उपयोगी साधन मिले। कहनेका तात्पर्य यह, कि कम से कम प्रस्तुत-प्रसंग के लिखने में मुझे उन साधनों से अमूल्य सहायताये मिली हैं, अत· मै उनका हृदय से आभारी हूँ। पं० रामरत्नदासजी का भी मै परम कृतज्ञ हूं, जिनसे संशोधन आदि में बहुत कुछ सहायता मिली है। पं० शत्रुघ्नदासजी से भी मुझे यथा समय सहायता मिलती ही रहीहै,अत· मैं इनका भी कृतज्ञ हूँ। इसके सिवा,टीकमणीकालेज-पुस्तकालय काशी, बड़ी महारानी दरभंगा का पुस्तकालय काशी, तथा नागरी प्रचारिणी सभा काशी के पुस्तकालयो का भी परम ऋणी हूं, जिनसे मुझे आवश्यक ग्रन्थों की सहाताये मिलती रही हैं। इसके सिवा और भी जिनसे साक्षात् या परम्परया, तथा प्रत्यक्ष या परोक्ष भी सहायतायें मिली हैं, उनका मै हृदय से कृतज्ञ हूं।

अन्त में मैं अपने मानव सुलभ दोषो एवं त्रुटियों के लिये महात्माओं पाठक-महानुभावों से क्षमा-याचना कर प्रार्थना करता हूं कि वे मेरी भूलों को अपनी ओर सम्हाल कर पढ़े। मेरी अनिवार्य विवशता के कारण गन्थ के प्रकाशन में बहुत विलम्ब हुआ है। इसके लिये भी मै क्षमा-प्रार्थी हूं। आशा है, आप मेरी त्रुटियों के लिये मुझे क्षमाकर इसे सहर्ष अपनावेंगे।

वसन्त पञ्चमी
सं० १९८८ वि०

आपलोगो का सेवक—
बलभद्र दास,
काशी।

सत्यनाम प्रेस, मैदागिन, बनारस में मुद्रित।

श्रीः

शुद्धि-पत्र

(श्रीवैष्णवमताब्ज-भास्कर)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध-शब्द	शुद्ध शब्द
२	५	जगद्गुरुं	जगद्गुरुं
२	१४	परिवृत्तां	परिवृतां
२	१७	भूतत्वेन	भूतान्
३	६	महा	महां
३	१४	साण्य	सारण्य
५	२६	वद्य	वन्द्यं
७	२०	ऽगाधौपि	ऽगाधोपि
८	२१	विषयेंषि	विषयेऽपि
९	२८	मभ्फे	मुभ्फे
११	२५	शणाम्	शरणम्
१२	४	चा.र्य्या	प्राचार्य्या
१४	३	पयि	मयि
१५	३	भदैः	भेदैः
१५	११	तत्त्वं	तत्त्वं
२३	२२	तत्व	तत्त्वं
२३	२३	परतत्वं	परतत्त्व
२४	१	तत्त्वोमे	तत्त्वोभे
२५	७	स्मृति	स्मृतीति
२६	१५	श्रेष्ठ	श्रेष्ठ
२७	२	,,	,,
२७	३	,,	,,
२७	१३	मान्त्राश्च	मन्त्राश्च
२७	२७	जान्मानि	जन्मानि
२९	४	तिष्ठति	तिष्ठति
२९	१४	पर्वं	पव
२९	१८	वाक्याद्य	वाक्यादव्य
२९	२०	सुख्य	मुख्य
२९	२३	संघास्त	सघातस्त
२९	२५	तत्वा	तत्त्वा
२९	३१	महार्षि	महर्षि
३०	२	हेऽथे	हेऽर्थे
३०	६	तत्रर्ष	तर्ष
३०	२०	रामस्या	रामस्यो
३१	२७	शुशभे	शुशुभे
३१	३१	सिसक्षया	सिसृक्षया
३२	१	नारा	तारा
३२	२	सर्व	सर्वा
३२	३	स्त्रि	स्त्रि
३२	१०	प्रापत्यु	प्राप्त्यु
३२	१६	ब्रह्मे	ब्रह्मे
३२	१७	पितमह	पितामह
३२	१७	व्युत्या	व्युत्यत्या
३२	३२	इत्यमि	इत्यभि
३३	२३	शक्या	शक्त्या
३५	१४	हिरण्यभें	हिरण्यगर्भे
३५	१६	सवर्णा	सवर्ण
३५	२२	स्वरूप	सप्न
३५	२५	र्थ्यंत	र्थ्यन्त
३६	१२	स्का	स्क
३७	५	सत्रषा	सर्वेषा
३७	२७	पदम	पदम्
४१	१४	शाश्वत्	शाश्वत्

पृ०	पं०	अशु०	शु०
४२	२९	मुमुक्ष	मुमुक्षु
४३	३	भवाना	भवान्ना
४३	१६	तत्वं	तत्त्वं
४३	२१	त्वेषु	स्वेषु
४३	२२	पत्या	पत्त्या
४४	२	सत्त्राद्यैरखिलेगुणै	सत्त्वाद्यैरखिलैगुणैः
४४	१५	शिष्ठा	शिष्टा
४४	१८	सम्पत्या	सम्पत्त्या
४५	१६	मंतम्	मतम्
४५	२८	रामय	रमय
४५	२९	मुमुक्षाबुभुक्षा	मुमुक्षुबुभुक्षु
४६	३१	लमी	लक्ष्मी
४७	३	महाणवे	महार्णवे
४७	६	क्षाभित	क्षुभित
४८	२६	प्राक्तः	प्रोक्त.
४८	३०	नामे	नाम
४९	१	व्युत्पत्य	व्युत्पत्त्या
४९	१९	प्राज्ञा	प्रज्ञा
५०	१८	ध्वातो	धातोः
५६	२८	क्षेज्ञ	क्षेत्रज्ञ
५९	८	यास्मस्तत्	यस्मात्तत्
५९	२२	स्वनैव	स्वेनैव
६१	१४	रष्ठितानि	रधिष्ठितानि
६३	२९	उत्पति	उत्पत्ति
६४	३१	सक्ष्मं	सूक्ष्मं
६७	१६	पर्व	पूर्व
६७	१८	शाषित्व	शेषित्व
६९	७	भोतृ	भोक्तृ
७०	६	वयपक्षे	वयवपक्षे
७०	७	चतुर्थ	चतुर्था

पृष्ठ	पंक्ति	अशु०	शु०
७०	६	बद्धे	बद्धो
७०	६	ज्ञानान्दा	ज्ञानानन्दा
७०	२६	पदताःऽप्यतो—	पदतोऽप्यतो
७१	२४	नन्दन	नन्द
७२	१२	सुरसुरनन्द	सुरसुरानन्द
७५	१	आखिल	अखिल
७५	८	चिद्रप	चिद्रूप
७५	१३	सुरामन्द	सुरानन्द
७५	१६	पतिश्च	पत्तिश्च
७५	२५	निवतेर्यत्	निवर्त्तयेत्
७६	२	ततकलि	तत्कलि
७७	३	त	तु
७७	८	निर्णा	निर्णी
७७	२६	जी	जीव
८१	८	तेहवः	हेतवः
८५	१	श्रोरामान्द	श्रीरामानन्द
८६	२७	वर्ययते	वर्ण्यते
८७	१८	पयन्त	पर्य्यन्त
८७	१६	कलम्	कुलम्
८७	२१	अयावती	आवयतो
८७	२५	सव	सर्वे
८८	५	नित्पे	नित्य
८८	१०	वात्सयल्य	वात्सल्य
८८	१५	रीकत्या	रीत्या
८८	२०	सौदेर्य	सौन्दर्य
८९	३	स्त्य	सत्य
८९	८	वतु	वस्तु
८९	१३	विभन्सैः	बीभत्सैः
८९	१३	कुसितै	कुत्सितै

पृष्ठ	पं०	अशु०	शु०
९०	१५	श्रुयते	श्रूयते
९०	२४	पुरुषा व्यघ्रः	पुरुषव्याघ्रः
९२	२५	दु:ख	दुःखं
९३	३	सौन्द्रर्य	सौन्दर्य
९३	२५	ति	इति
९३	२६	रुप	रूप
९३	२८	विद्युते	विद्युतो
९४	३	यच्चद्र	यच्चन्द्र
९४	३	त्तत्ते	तत्ते
९४	५	रितो	रिति
९४	६	सुरा	सुरासुरा
९४	२४	व्यादि	ल्य दि
९४	२६	दिव्य विग्रह-	दिव्यमगल विग्रह ,,
९५	४	ग्रर्हं	ग्रह
९५	७	ग्रस्य	ग्रहस्य
९५	९	उपापा	उपाया
९५	१०	ध्याव	ध्यत्र
९५	१९	मतम्	मत्तम् ।
९६	१३	न्त ।	न्तरा
९६	२१	निरुपाणम्	निरूपणम्
९७	१९	चतु इति	चतुर इति
९८	१	त्तवा:	वताः
९८	४	षिणा:	षिणः
१०४	२४	अन	अनु
१०७	१३	शया	संशया
१११	९	स्यैय	स्यैव
११७	१५	साघ	साध
११८	२४	घर	धार
११९	२४	विष्णा	विष्णु
१२४	३	उक्तै	उक्तैः
१२५	६	रूच्यते	रुच्यते
१२६	१४	साष्टि	सार्ष्टि
१२७	३	मुमुक्ष	मुमुक्षु
१२७	९	जन्त्रा	जन्या
१२७	१४	या	याः
१२७	२७	स्मृत्ते:	स्मृतेः
१२९	३०	स्मृतिनाम	स्मृतिर्नाम
१३६	२७	द	सर्वदा
१३९	१७	सेति	स्रेति
१५९	२	मम्तव्य	मन्तव्य
१५९	४	कर्षपल	कर्षःपलं
१५९	२१	प्राद	प्रादु
१५९	२४	युत्तायां	युतायां
१६०	२	शुक्ला	शुक्ल
१६०	१०	न भूव	बभूव
१६०	११	व्याबि	व्यापि
१६०	१२	म्हत्या	ह्वया
१६०	१९	स्वत्या	स्वात्यां
१६०	२५	मेषराशौस्थितेसूर्ये-	मेषलग्ने
१६४	६	गतेऽक	गतेऽर्के
१६४	१४	रूणे	पूरणे
१६५	१४	त्यर्थ	त्यर्थः
१६६	४	स्तै	स्तैः
१६६	७	विष्णु	र्विष्णु
१६६	८	विद्ध	विद्धं
१६६	११	अर्थ	अर्थं
१६६	२२	र	रा
१६७	९	शुद्ध	शुद्धा
१६७	२२	विप्रेन्द	विप्रेन्द्र
१६७	२३	म	मी

पृष्ठ	पं०	अशु०	शु०	पृष्ठ	पं०	अशु०	शु०
१६७	२५	ईतिमिमास	इतिमीमांस	१८३	११	वणः	वर्णः
१६८	३	विद्धद्धा	विद्धा	१८४	१५	ब्राह्मणदि	ब्रह्मणादि
१६८	६	सप्तम	सप्तमो	१८५	९	ग्यै	ज्ञै
१६८	१०	विशु	विष्णु	१८५	१७	मत्तज्ञैः	मतज्ञैः
१६८	१३	कृति	कृत्ति	१८६	२३	त्म	त्मय
१६८	१७	रोहे	रोहि	१८७	५	मयां	मया
१६९	११	द्वादा	द्वाद	१८८	२२	मांस	मांसं
१६९	१९	पनेषु	पन्नेषु	१८९	१२	प्रन्न	पन्न
१७१	१४	यत्त	यत्तु	१८९	२०	कमा	कर्मा
१७४	१५	न्यून	न्यूने	१९०	९	षज्जते	षज्यते
१७४	१६	पति	पत्ति	१९०	१०	वृत्यै	वृत्त्यै
१७५	१६	यान्त	पायान्त	१९०	१०	वष्णवो	वैष्णवो
१७५	१७	ा ा	का:	१९०	२९	मर्दपणं	मदर्पणं
१७५	२२	भगत	भगवत	१९१	१	दनं	दान
१७६	५	भतन्ती	भवन्ती	१९१	१	होम	होमं
१७६	१३	विष्ठ	विष्ठ	१९१	१६	व्युह	व्यूह
१७६	२३	द्रुहि	द्रुंहि	१९१	१९	महत्व	महत्त्व
१७९	१०	शुन्यै	शून्यै	१९१	१९	महत्व	महत्त्व
१७९	१७	क्यमखि	क्योऽखि	१९१	२०	बोध्यम्	बोध्यम्
१८०	३	त्तत्त्व	तत्त्व	१९१	२३	पुर्णो	पूर्णो
१८०	१०	मुमुक्ष	मुमुक्षु	१९२	६	काल का	काल की
१८०	१३	वष्णव	वैष्णव	१९२	२१	लक्ष्वमी	लक्ष्मी
१८१	२१	ाषणः	षिणः	१९२	२४	ऽद्यो	ऽर्घो
१८२	१४	गोभ	गोर्भ	१९४	२०	पाषर्दैः	पार्षदैः
१८३	२	कुल्प	कृत्य	१९५	१४	सः सङ्ग	सङ्गः स
१८३	८	कुलता	कूलता	१९६	२१	शत.	शतै.
१८३	९	गोप्त	गोप्तृ	१९६	२२	दुर्भा	दुर्लघा
१८३	२४	मुमुक्ष	मुमुक्षु	१९६	२१	आं ख्यैः	असख्यैः
१८४	१	वधौ	विधौ	१९६	२२	दुर्भा	दुर्लभा
१८४	९	शास्त्र	शास्त्रै	१९८	१	न्पेक्षि	नपेक्षि
१८४	१०	परै	परैः	१९८	७	दयलुम्	दयालुम्
				१९९	३	पूर्णो	पूर्णो

पृ०	पं०	अशु०	शु०	पृ०	पं०	अशु०	शु०
२४५	१७	चतुर्म	चतुर्मु	२५६	११	मुपत्य	मुपेत्य
२४५	२५	स्तै शोभमाना.परमप्ता	मुखायेषां-तै	२५७	३	नैचवा	नचैवा
				२५७	१३	।न	न
२४६	३	तरेण	त्तरैणा	२५८	१६	प्रणिर्ति	प्रणतिं
२४६	३	णाहंऽ	णाहं	२५८	२१	श्रा	श्री
२४७	१५	देव्ये	दिव्ये	२५८	२२	पुरुऽपि	पुरुषेऽपि
२४८	१३	द्रम	द्रुम	२५८	२३	शिष्टाना	शिष्टानां
२४८	१६	भिदे	भिर्दे	२५८	२४	पहष	पुरुष
२४९	९	।	णशीलः।	२५८	२५	योगं	प्रयोगं
२४९	२२	संत्संगी	सत्संगी	२५९	२६	करण	कारण
२५०	५	चारतम्	चाररतम्	२६०	४	कुटा	कूटा
				२६०	८	साष्टांग	साष्टाङ्गं
२५०	१६	भुक्तवा	भुक्त्वा	२६०	११	र्ना	ना
२५२	२१	रुप	रूपं	२६२	१०	कर्त्ता	कर्त्ता
२५३	१८	दवानां	देवानां	२६२	१८	पोस	पार्सं
२५३	२४	मुतितीणे	मुपैतीति	२६३	६	त।च्छ्री	च्छ्री
२५४	४	उत	उत्त	२६३	६	केमले	कमले
२५५	४	श्राराम	श्रीराम	२६४	६	तीय	द्वितीय

श्रीरामार्चन–पद्धति।

पृ०	पं०	अशु०	शु०	पृ०	पं०	अशु०	शु०
१	१६	निजि	निर्जि	१७	२	पचो	पञ्चो
१	१९	अचिचतुम्	अर्चिचतुम्	२०	१८	अर्चा	अर्घा
१	२१	चाय्य	चार्य्य	२१	३	भूम्ये	भूम्यै
१	२३	पूर्वीपं	पूर्वीयं	२२	१०	अत्र	अध
३	२४	के केशव !	हे केशव !	२९	२४	बत्साय	श्रीवत्साय
४	१५	पोगीन्द्र	योगीन्द्रं	३१	५	के	से
४	१९	श्रीमनं	श्रीमन्तं	३१	१०	मत्र	मन्त्र
६	५	प्रत.	प्रातः	३१	२१	अर्घादीनि	अर्घादीनि अर्घादीनि
९	१४	नु	मु				
९	२८	मुमुक्षु	मुमुक्षु				
१३	४	पर म्पर	परम्परा	३१	२४	मन्त्र	इस मन्त्र
१३	१५	विवि	विधि	३२	२	सर्घ्या	अर्घ्या

द्रव्य-सहायकों की उपकार-स्मृति

श्रीमान् महन्त श्रीलखननारायणदासजी चोरौत-मिथिला		१२५)
श्रीयुत महन्त श्रीरामलोचनदासजी नरघोघी-मिथिला		१२५)
,, ,, श्रीगजेश्वरदासजी पचाढ़ी-	,,	१४५)
,, ,, श्रीआनन्द दास जी मिर्जापुर-	,,	२४०)
,, ,, श्रीसियारामदासजी सीतामढ़ी—	,,	५०)
,, ,, श्रीरामदासजी ५०)	बलिराज पुर-,,	७०)
,, ,, श्रीरामलोचन दासजी २०)		
,, ,, श्रीबालमुकुन्ददासजी-अदलपुर		२५)
,, ,, श्रीनन्दकिशोरदासजी-विडरख-	,,	११)
,, ,, श्रीहरिगोविन्ददासजी छोटा स्थान-रामपट्टी- ,,		५)
,, ,, श्रीशत्रुघ्नदासजी कमलाबारी—,,		५)
,, ,, श्री ,, नौगछिआ—,,		४)
,, ,, श्री नक्कूदासजी मिर्जापुर-बाजार—,,		२)
,, पं० श्रीबद्रीनारायणदासजी व्याकरणाचार्य-,,		५)
,, ,, श्रीरामदासजी मकन पुर—	,,	५)
,, ,, श्रीरामरूपदासजी मिर्जापुर	,,	२)
,, ,, श्रीनारायणदासजी	,, ,,	१)
श्रीमिथिला साधु सभा—	,, मिथिला	५०
	जोड़	८७०)

इसके सिवा निम्नलिखित महन्त—महानुभावों ने देने के वचन दिये थे, जो अभी प्राप्त नही होसके हैं, आशा है, वे शीघ्र ही देकर उपकृत करेंगे.-

श्रीयुत महन्त श्रीमनमोहनदास जी रामपट्टी-मिथिला-		५६)
,, ,, वैकुण्ठवासी महन्त श्रीरामसुन्दरदासजी	बगही-,,	१२५)
श्रीयुतमहन्त श्रीरामकृपाल दासजी पोखरौनी—,,		२५)
,, ,, श्रीनन्दकिशोरदासजी विडरख	,,	१४)
,, ,, श्रीगङ्गादासजी बहोरबन	,,	२५)
,, ,, श्रीमाधवदासजी ठाहर	,,	२५)
	जोड़	२७०)

आवश्यकता वश इस ग्रन्थ का कलेवर बढ़ गया, अत द्रव्य व्यय भी अधिक हुआ है। प्रायः पन्द्रह सौ रुपये इसमें व्यय हुए, अतः प्रेस का रुपया बाकी पड़ गया है। आशा है, समाज के अन्य धनी-मानी महानुभाव भी इसमें यथायोग्य द्रव्य-साहाय्य कर उपकृत करेंगे। उपकार-स्मृति में उनके नाम भी छपा कर ग्रन्थ में स्लीप के रूप में लगा दिये जायँगे।

आप महानुभावों के अभारी प्रकाशक,

श्रीभाष्यकार प्रवर्तित धर्मप्रचारकाचार्य



जगद्गुरु १००८ श्रीमद्भगवत् रामानन्दाचार्य स्वामी जी महाराज

* श्रीरामो विजयतेतराम् *

* श्रीमते रामानुजाय नमः *

* श्रीमते रामानन्दाय नमः *

अथ श्री वैष्णव मताब्ज भास्करः ।

मू०—श्रीमन्तं श्रुतिवेद्यमद्भुतगुणग्रामाग्र्यरत्नाकरं—
प्रेयःस्वेक्षणसंसुलज्जितमहीजाताक्षिकोणेक्षितम् ।
भक्ताशेषमनोऽभिवाञ्छितचतुर्वर्गप्रदं स्वर्द्रुमं—
रामं स्मेरमुखाम्बुजं शुचिमहानीलाश्मकान्तिं भजे ॥१॥

मङ्गलाचरणम्

यत्स्वरूपेण रूपेण तुर्य्यातीते * परे पदे ।
नित्यजीवैः श्रिया चासीद् विहरन् करुणानिधिः ॥१॥
तत्स्वरूपेण रूपेण प्रादुर्भूतं महीतले ।
स्तौमि श्रीजानकीनाथं कारणं परमव्ययम् ॥२॥
वाक्यै 'र्दशरथस्ये' ति + स्वेष्टदेवस्य बोधकम् ।

---

* पादचतुष्टयात्मकं ब्रह्म । किं तत्पादचतुष्टयात्मकं ब्रह्म भवति । अविद्यापादः सुविद्यापादश्चानन्दपादस्तुरीयपादश्चेति । तुरीयपाद-स्तुरीयतुरीयं । तुरीयातीतञ्च । इति त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषदि।

\+ दुःखमात्रोत्पादकसदसत्कर्म्मभूतं तद्रहितम् उच्चैःस्थितमेकं-ज्योतिः लोकान् सप्तनिगीर्य्योद्गीर्णवन्तं मोहहेत्वाकर्षणकर्त्तृ यमभटानां-क्रूरविषमच्युतं दशरथस्य सुतं तं विनान्यशरणवान्नास्मि ।३।६।८।

अभ्यस्यन्तो राममुपकारकं विना किञ्चिदभ्यसेयुः किं। तृणपदार्थप्र भृतीनि सूक्ष्मपिपीलिकादीन्येकं विना समीचीनस्थानायामयोध्यायां-वर्द्धमानानि चराचराणि सर्वाणि सत्स्वभावं प्रापितवन्तं चतुर्मुख-सृष्टे लोके ।७।५।१।

रामादन्यस्य कस्यापि शरणं न गतं द्विजम् ॥ ३ ॥
इति स्वेनैव वचसा प्रोक्तवन्तं नमाम्यहम् ।
शठकोपं महाप्राज्ञं रामाङ्घ्रौ लग्नमानसम् ॥ ४ ॥
काकुत्स्थे× च पदतो युक्ते शरणागतेर्गद्ये ।
सम्प्रद्योतितहृदयं प्राचार्य्यं जगद्गुरुं नौमि ॥ ५ ॥
निवासशय्यादिकविग्रहैर्यो रामस्य सेवार्थमनेकधाभूत्।

द्रक्ष्यामः किं चेतः कठिनक्रियायामेव प्रवर्त्तमानस्य पौरुषे बलवद्वरेर्भुजबलवतो राक्षसस्य कुलं संहृत्य पुनश्च तस्यानुजायैव विस्तृतजलां लङ्कां दत्त्वा रक्षित्वा स्वज्योतिषि प्रविष्टममरहय्यृर्षभः ॥७।६।६।

प्रवेशाशक्यं वैकुण्ठं दद्यादस्माकं गोपकुलेऽतिबाल एको भूत्वा प्रविश्य माया एव कृत्वा अन्तकस्वभावं कंसं हत्वा पञ्चानामर्थे क्रूरसेनां-संहृत्य क्षमाधिको महति परं ज्योतिषि प्रविष्टः सिहः । ७।६।१०

दर्शनोपायमनुगृहाण काकुत्स्थ कृष्ण भक्तस्य मम कल्पक फला शावताममृतं महाशीतलजलपरिवृत्तां महापृथिवी धृतवन्महापुरुष । ८।१।२। सहस्रगीतिः

इत्यादिभिः श्रीरामे स्वानन्यतां द्योतयन् अन्याभिर्गीतिभिः श्रीराम स्यैवावतारभूतत्वेन श्रीरामाभिन्नकृष्ण नारायणादीन् भगवद्विग्रहान् स्तुतवान् आचार्य्यः । इति तद्ग्रन्थमवलोक्यैव विभावयन्तु सुधियः ।

× काकुत्स्थ श्रीमन्नारायण ! अशरण्यशरण्य ! अनन्यशरणस्त्वत्पादारविन्दयुगलं शरणमहं प्रपद्ये । इति शरणागतिगद्ये । काकुत्स्थ श्रीमन्नारायण ! श्रीपुरुषोत्तम ! श्रीरङ्गनाथ ! मम नाथ ! नमोऽस्तुते । इति श्रीरङ्गगद्ये ।

इत्यादिना काकुत्स्थात् श्रीरामात्स्वरूपतोरूपतश्चाभिन्नः श्रीमन्नारायणपरवर्य्याय उभयविभूतिनायकः श्रीरामस्तस्यैव शरणागतिं-कृतवता श्रीभाष्यकारेण श्रीरामे स्वानन्यता द्योतिता । अयमर्थः"सीता-कान्तप्रपन्नशर्मलपितं गद्यत्रयं नामकम्" इत्यादिनाऽभियुक्तैरप्यभिहितः । सन्देहनिवृत्तये इत्युक्तनद्रहस्यग्रन्थमवलोक्यैव विचारयन्तु सहृदया निर्मत्सरा विद्वांसःश्रीवैष्णवाः ।

सलक्ष्मणो जीवनिकायरक्षां रामानुजोऽभूत्प्रविधातुमीशः ६
स श्रीरामानुजाचार्य्यो राममन्त्रेण मुक्तिदः।
परमैकान्तिधर्म्मस्य प्रचारमकरोद् भुवि ॥७॥
तं श्रीरामानुजाचार्य्यं प्रणमामि पुनः पुनः।
यद्भाष्यलेशबोधेन जानाम्यात्मानमञ्जसा ॥ ८ ॥
पूर्वाचार्य्यसुरक्षितस्तु सततं यो धर्म एको महाँ-
स्तस्यास्यैव प्रचारकस्तु भगवान् रामः स्वयं भूतले।
रामानन्दमुनीन्द्रविग्रहधरो भूत्वा श्रुतीनां रसं-
निष्कृष्य व्यतनोन्निबन्धयुगलं श्रीवैष्णवानां धनम् ६
श्रीरामानन्दाख्यैः श्रीवैष्णवमताब्जभास्करोऽकारि।
श्रीरामार्चनपद्धतिरत्नं येषाम् विराजते लोके ॥१०॥
तं श्रीरामानन्दं मुनिवरनिकरैर्मुहुःसेव्यम्।
नत्वाऽन्वयप्रकाशं कुर्वे बलभद्रदासोऽहम् ॥११॥
सरय्वा उत्तरे भागे 'साराय' इति विश्रुते।
सिमर्याग्रामवासि-श्रीगङ्गादासाभिधं गुरुम् ॥ १२ ॥
पौहारीत्युपनाम्नैव विख्यातं जगतीतले।
श्रीबलभद्रदासोऽहं नमामि सततं धिया ॥ १४ ॥
श्रीमद्रामसमारम्भां श्रीरामानुजमध्यमाम्।
श्रीगङ्गादासपर्य्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम् ॥ १५ ॥

अन्वयः -श्रुतिवेद्यम्, अद्भुतगुणग्रामाग्रचरत्नाकरं, प्रेयःस्त्रेक्षण-संसुलज्जितमहीजाताक्षिकोणेक्षितं, भक्ताशेषमनोऽभिवाञ्छितचतु-

र्वर्गप्रदं, स्वद्रुमं, स्मेरमुखाम्बुजं, शुचिमहानीलाश्मकान्ति, श्रीमन्तं, रामं भजे सेवे ॥ १ ॥

श्रीमते रामानुजायनमः। श्रीमते रामानन्दाय नमः ।
रामकल्पद्रुमं बन्दे सीताकल्पलतान्वितम् ॥
नित्यमर्थ्यर्थसंदोहं भ्रातृस्कन्धं सुहृच्छदम् ॥ १ ॥
श्रीरामानन्दमीड्यं परिवृतमखिलज्ञानवैराग्यरत्ना-
म्भोधि शिष्यैः सुबोधैर्विविदिषुभिरलं रामतत्त्वादि तांस्तन् ।
आप्तं संबोधयन्तं परमुनिनिकरैरीडिताङ्घ्रि जगत्तं-
संसाराब्धेर्वतीर्णं हरिमहह समुद्धर्तुमेवाभिबन्दे ॥२ ॥
नत्वा रघुवरशरणस्तनुतेऽर्थप्रकाशिकां स्वगुरून्।
रामानन्दीयश्रीवैष्णवमताब्जभास्करव्याख्याम्॥ ३ ॥

अथ श्रीमत्सकलकल्याणगुणगणाकरः सर्वेश्वरः सर्वनियन्ता सर्वान्तर्यामी सर्वशरण्यःश्रीरामः स्वाज्ञारूपवेदमार्गमतीत्यानर्थे प्रवर्त्तमानचेतनान् संवीक्ष्य कृपाकूपारोदयमानमनास्तानपारसंसारमहार्णवादुज्जिहीर्षुस्तदङ्गीकारार्थमिह लोके रामानन्दरूपेणावतीर्य्य महाकुलप्रसूतसत्संप्रदायनिरतं श्रीराघवाचार्य्यं समाश्रित्य वेदवेदाङ्गोपाङ्गशब्दतर्कोभयमीमांसादिकसकलशास्त्राण्यधीत्य दिगन्तविश्रान्तयशा महाप्राज्ञो भूत्वा तीर्थाटनव्याजेन समस्तदुर्जनान्निर्जित्य पण्डितपामरविभागरहितसकलजनैरभिबन्द्यमानो महादेशिको भूत्वा काश्यां निवसन्, आकस्मिककृपया तात्कालिकसकलजनानुज्जीवय्य सकलेतरशास्त्राण्याहत्य वेदशास्त्रमेव प्रवर्तयन्, तदनन्तरं तावन्मात्रेण तृप्तिमनवाप्य इदानीन्तनसकलजनोज्जीवनार्थं ग्रहीतुमशक्यं वेदान्तार्थं सर्ववर्णाश्रमैरप्यधिकर्तुं श्रीरामानन्दीयश्रीवैष्णवमताब्जभास्कररूपेण ग्रन्थं चकार तत्र च मुमुक्षुभिरनुष्ठेयानर्थान्प्राचीकशत् । तथा चोक्तं वैश्वानरसंहितायाम्-

"माघे च कृष्णसप्तम्यां चित्रानक्षत्रसंयुते
कुम्भलग्ने सिद्धियोगे द्विसप्त दण्डके तथा॥१॥
रामानन्दः स्वयं रामः प्रादुर्भूतस्स्वयं हरिः ।
कलौ खलु मुनिर्जातः सर्वजीवदयाकरः ॥२॥
तप्तकाञ्चनसंकाशो रामानन्दः स्वयं हरिः ।
प्रियाऽनुरागदिव्यत्वकृते रामः कृपानिधिः ॥३॥
हेमवर्णस्तदर्थं तैर्विख्यातश्च महीतले ।
रामानन्दः स्वयं रामः प्रादुर्भूतो हरिस्स्वयम्॥४॥

षट्कोणं पूर्वमालिख्य तदग्रे वृत्तमालिखेत्।
बहिरर्कदलं पद्ममग्रे पार्थिवमण्डलम् ॥ ५ ॥
एवं मण्डलमालिख्य शोभनं व्यक्तमुज्ज्वलम्।
अस्मिन् यन्त्रे महापूजां कारयेद्विधिपूर्वकम् ॥ ६ ॥
तन्मध्ये पूजयेद्देवं रामानन्दं स्वयं हरिम्।
चतुर्थ्यन्तेन तन्नाम्ना गन्धपुष्पाक्षतादिभिः ॥ ७ ॥
वृत्ताकारेण तच्छिष्यान् द्वादशसूर्य्यसन्निभान्।
पूजयेद्भावसंयुक्तः षोडशभिरुपचारकैः ॥ ८ ॥
गुरुपादाब्जसन्निष्ठोऽनन्तानन्दो महामतिः
विज्ञः सुरसुरानन्दः सुखानन्दोऽपि तादृशः ॥ ९ ॥
स महान्नरहरियानन्दोऽनन्तगुणः सुधीः।
भावानन्दोऽपि गुणवान्गालवानन्द एव च ॥ १० ॥
योगानन्दः कवीरश्च रमादासोऽपि सन्नतिः।
सेना पीपा धनाः शिष्या द्वादशैते महात्मनः ॥११॥"

इति तादृशः स तत्र तावद् "आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशश्चापि तन्मुखम्" इति शिष्टसमाचारतो ग्रन्थस्यादिमध्यावसानेषु शिष्टैस्तत्र तत्र क्रियमाणं वक्तृध्येतृश्रोतृशुभावहं शिष्यशिक्षार्थं निबध्नन्, निर्देशश्चेति चकारतो विहितलब्धस्मरण भजनात्मकमपोहादौ मङ्गलमाचरति श्रीमन्तमिति–अहं श्रीसकललोकरमणशीलं निखिलयोगिरमणाश्रयं सत्यानन्दचिदात्मकं निखिलस्थावरजङ्गमात्मकप्रपञ्चेऽन्तर्यामितया विराजमानं श्रितचतुर्वर्गप्रदं रामं भजे सेवे "भजसेवायाम्" इति स्मरणात्। कीदृशं रामं श्रीमन्तं-नित्यं श्रीर्लक्ष्मीः सीतारूपा अस्ति अस्येति श्रीमाँस्तथोक्तं। नित्ययोगेऽत्रमतुप् "भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादय" "इत्युक्तेः 'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा'"अनन्या च मया सीता भास्करेण प्रभा यथा"'इत्युक्तेर्भास्करप्रभावन्नित्यानपायिसीतासहितमित्यर्थः। पुनः श्रुतिभिर्वेदैवेद्यं ज्ञातुं योग्यं "विद ज्ञाने"इतिस्मरणाद् "वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे"'इत्युक्ते 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नाय'"इत्यमरः। अद्भुतानां गुणानां वात्सल्यशौर्यादीनां ग्रामः समूहः अग्र्यरत्नानि श्रेष्ठरत्नानीवेत्युपमितसमासस्तेषामाकरम्। प्रेयसाऽतिप्रियेण वल्लभेन रामेण स्वस्याः सम्बन्धि यदीक्षणं दर्शनं शेषष्ठ्याः षष्ठीतिसमासः कर्मणि चेति समासनिषेधः कर्मषष्ठ्या-एवेतिसिद्धान्तात् तेन सम्यक् सुलज्जिता चासौ मह्याः पृथिव्याः सकाशाज्जातं जन्म यस्याः सा तस्या अक्ष्णः कोणेन नेत्रप्रान्तेन कटाक्षेण ईक्षितं-

दृष्टम् । भक्तानामशेषान् मनोवाञ्छितान् चतुर्वर्गान्धर्मार्थकाममोक्षान्प्रकर्षेणाविलम्बेन ददाति स चासौ स्वद्रुमः कल्पवृक्षश्च तथोक्तम् । स्मेरं स्मितविशिष्टम् ईषद्धसनशीलं मुखाम्बुजं कमलसदृशं मुखं यस्य स तथोक्तम् । नीलः-श्यामश्चासौ अश्मा च नीलाश्मा नीलमणिः महाँश्चासौ नीलाश्मा च महानीलाश्मा शुचिर्निर्मलश्चासौ स च तस्य कान्तिरिव कान्तिः शरीररमणीयता सौन्दर्यशोभा यस्य स तथोक्तम् ॥१॥

श्रीरामो विजयते तराम् ।

श्रीमते रामानुजाय नमः । श्रीमते रामानन्दाय नमः ।

भा०—श्रीसम्प्रदाय के प्रचारकाचार्य्यों में प्रधान श्रीभाष्यकार श्रीरामानुजाचार्य्यजी के गूढ़ सिद्धान्तोंके प्रचारक श्रीरामानन्दाचार्य्यजी समस्त श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादिरूप क्षीर सागर में घृतवत् निगूढ अति रहस्य मय सिद्धान्तों को मथ कर संसार सागर में निमग्न जीवों के कल्याण के लिये थोड़े शब्दों में स्पष्टरूप से वेदादिकों के सार सिद्धान्तों को वर्णन करते समय ग्रन्थ के आदि में मङ्गला चरण करते हैं—श्रीमन्तमिति——

मै (श्रीरामानन्दाचार्य्य), वेदों से जानने योग्य, सौशील्यवात्सल्यादि उत्तम गुणों के सागर, प्रियतम की प्रेम चितवन से सुलज्जिता (लजाती हुई) महीतनया (श्रीजानकी जी) के कटाक्ष कोण से देखे गये, भक्तों के अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष रूप समस्त मनोरथों को पूर्ण करने में कल्पवृक्ष के समान, उत्तम नीलमणि के सदृश निर्मल कान्ति से युक्त मधुर मुसकानमय (किञ्चित् मुस्कुराहट युक्त) मुखारविन्द वाले, श्रीमान् (सीतारूप श्रीयुक्त) श्रीरामजी का भजन (स्मरण) करता हूँ ॥ १ ॥

प्रत्यूहव्यूहभङ्गं विदधदुरुबलश्शक्तिमान् सर्वकारी
भूरिश्रेयःप्रतापो मुनिवरनिकरैः स्तूयमानो विमानः॥
रक्षोदैत्यादिनाशी क्षुभितजलनिधिर्लोकजिल्लोकमान्यो-
धन्यो नोमङ्गलौघं सपदि सुकुरुताद्रामशस्त्रास्त्रसङ्घः।२।

अन्वयः—उरुबलः (महावेगवान्), शक्तिमान् (निरतिशयपराक्रमवान्) सर्वकारी (अघटितघटनापटीयान्), भूरिश्रेयःप्रतापः, विमानः, (रावणादिशत्रूणामभिमाननिरसनशीलत्वेऽपिव्यभिमान रहितः), रक्षोदैत्यादिनाशी, मुनिवरनिकरैः स्तूयमानः, क्षुभितजलनिधिः, लोकजित्, लोकमान्यः, धन्यः (विजयाद्यैश्वर्यसम्पन्नः), रामशस्त्रास्त्रसंघः सपदि (शीघ्रम्) प्रत्यूहव्यूहभङ्गं (विघ्नसमूहविनाशं) विदधत् (कुर्वन्) सन् नः (अस्माकम्) मङ्गलौघं सुकुरुतात् (अतीव करोतु), ॥ २ ॥

प्रत्यूहेति । रामस्य शस्त्राणि च अस्त्राणि च रामशस्त्रास्त्राणि तेषां सङ्घः समूहः नोऽस्माकं मङ्गलानामोघं सपदि सुकुरुतात् शीघ्रं करोतु । किं कुर्वन् प्रत्यूहानां नानाविधविघ्नानां व्यूहस्य भङ्गं विनाशं विदधत्सन् "नाभ्यस्ताच्छतुः" इतिनुमोऽभावः। कीदृशो रामशस्त्रास्त्रसंघः उरु महदेव बलं वेगो यस्य स.। पुनः बह्वी प्रशस्ता नित्याऽतिशयितप्रकृष्टा शक्तिरस्यास्तीति शक्तिमान् "यन्निगृहीतोजयन्तः। त्रींल्लोकान्संपरिक्रम्य त्रातारं नाध्यगच्छत्। तमेनंशरणं गतः" इत्याद्युक्तेः । पुनः सर्वाणि अतर्क्यसप्ततालगिरिरसातलभेदादीनि करोति तच्छीलः सर्वकारी । भूरि बहवः श्रेयांसि प्रतापाश्च यस्य सः। मुनिवराणां मननशीलश्रेष्ठानां निकरैः समूहैः स्तूयमानः । विगतो रावणादिशत्रूणां मानोऽभिमानो येन स;वे पक्षिणो गरुडस्येव मानं वेगप्रमाणं यस्येति वा। रक्षोदैत्यादीन् विराधखरकबन्धवालिप्रभृतीन् विनाशयति तच्छीलः । क्षुभितो जडोऽगाधोऽपि जलनिधिः सागरो येन । लोकान्दुर्जनान् जयतीति लोकजित् "लोकस्तु भुवने जने" लोकानां त्रिभुवनानां मान्यः । धनं विजयाद्यैश्वर्यं लब्धा धन्यः ॥ २॥

भा०—महावेगवान्, अति सामर्थ्य युक्त, सब कुछ कर डालनेवाला, अतिश्रेष्ठ प्रतापी, अभिमानरहित, राक्षस दैत्यादि के विनाशक, अगाध-समुद्र को (निज तेज से) क्षुभित करने वाला, सर्वलोक विजेता एवं सम्मानित, परम धन्य, जो श्रीरामजी का अस्त्र शस्त्र समूह, वह शीघ्र मेरे विघ्न व्यूहों का विनाश करता हुआ समस्त मङ्गल करे ॥२॥

ऐश्वर्य्यं यदपाङ्गसंश्रयमिदं भोग्यं दिगीशैर्जगच्-
चित्रं चाखिलमद्भुतं शुभगुणा वात्सल्यसीमा च या।
विद्युत्पुञ्जसमानकान्तिरमितक्षान्तिः सुपद्मेक्षणा
दत्तान्नोऽखिलसम्पदो जनकजा रामप्रिया साऽनिशम् ३

अन्वयः—दिगीशैः (इन्द्रादिभिः) भोग्यम् (भोक्तुं योग्यं) ऐश्वर्य्यं (स्वर्गादि राज्यम्) यदपाङ्गसंश्रयम् (यस्याः श्रीसीताया नेत्रकटाक्षाश्रितम्) चित्रम् (चतुरशीतिलक्षयोनिभेदादुर्ज्ञेयम्) अद्भुतम् (आश्चर्य्यजनकम्) इदमखिलं जगच्च यदपाङ्गसंश्रयम्, या च जनकजा शुभगुणा (शरणागतरक्षणादिरूप कल्याणगुणवती) वात्सल्यसीमा, विद्युत्पुञ्ज समानकान्तिः, अमितक्षान्तिः, सुपद्मेक्षणा (अस्ति) सा रामप्रिया जनकजा नः (अस्मभ्यम्) अखिलसम्पदः (सर्वाः सम्पत्तीः) अनिशम् (निरन्तरम्) दत्तात् (ददातु) ॥ ३ ॥

एवं सशस्त्रास्त्रं श्रीरामं प्रार्थ्य श्रीजानक्या अप्याशिष संप्रार्थ्यते—ऐश्वर्य्यमिति। सा रामस्य प्रिया वल्लभा सीता नोऽस्मभ्यम् अखिलसम्पदः सर्वाः- सम्पत्तीः सर्वविधैश्वर्याणि अनिशं निरन्तरं दत्तात् ददातु। सा का दिगीशैर्दिशांप्राच्यादीनामीशैस्तत्रतत्राधिकृताधिपतिभिर्भोग्यमैश्वर्य्यं स्वर्गादिराज्यं- यदपाङ्गसंश्रयं यस्या रामप्रियाया अपाङ्गं नेत्रकटाक्ष एव संश्रयः सम्यगवलम्बो यस्य तत्। किञ्च इदमद्भुतं जगच्च यदपाङ्गसंश्रयम्। कीदृशं जगद अखिलं स्थावरजङ्गमात्मकं। पुनः चित्रं जात्यादिभिरनन्तदुर्बोधभेदम्। या च रामप्रिया वात्सल्यस्य सीमा अवधिभूता। खलरावणविषयेऽपि निःसीमकृपायास्तस्याः "तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि" इत्युक्तेः। शुभानि कल्याणानि "कल्याणं मंगलं शुभम्" इत्यमरः। गुणाः पातिव्रत्याश्रितरक्षणादयो यस्याः सा। विद्युतां तडिल्लतानां "तडित्सौदामनीविद्युत्" इत्यमरः पुञ्जं समूहो राशिरिति यावत् तेन समाना तुल्या कान्तिः शरीराप्रमेयसौन्दर्य्यातिरमणीयता यस्याः सा। शोभनेऽतिविशालतयातिमनोहरे पद्मसदृशे ईक्ष्यते दृश्यते रूपमाभ्यामितीक्षणे नेत्रे यस्याः सा। पुनः न मितं मानं यस्याः साऽमिता प्रमा-

तुमशक्या क्षान्तिः क्षमा यस्याः साऽमितक्षान्तिः। तथा च रावणश्वधवृत्तान्तकथनाय स्वसमीपमागतं स्वानवधिपीडाकारिराक्षसीगणहननाय प्रार्थयन्तमुद्यतं हनुमन्तं प्रति तयोक्तम्।

राजसंश्रयवश्यानां कुर्वन्तीनां पराज्ञया।
विधेयानां च दासीनां कः कुप्येद्वानरोत्तम!।
भाग्यवैषम्ययोगेन पुरादुश्चरितेन च।
मयैतत्प्राप्यते सर्वं स्वकृतं ह्युपभुज्यते।
प्राप्तव्यं तु दशायोगान्मयैतदिति निश्चितम्।
दासीनां रावणस्याहं मर्षयामीह दुर्बला।
आज्ञप्ता रावणेनैता राक्षस्यो मामतर्जयन्।
हते तस्मिन्न कुर्वन्ति तर्जनं वानरोत्तम!।
अयं व्याघ्रसमीपे तु पुराणे धर्मसंहितः।
ऋक्षेण गीतः श्लोकोऽस्ति तं निबोध प्लवंगम!।
न परः पापमादत्ते परेषां पापकर्मणाम्।
समयो रक्षितव्यस्तु सन्तश्चारित्रभूषणाः।
पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणां प्लवंगम!।
कार्यं करुणमार्य्येण न कश्चिन्नापराध्यति।
लोकहिंसाविहाराणां रक्षसां कामरूपिणाम्।
कुर्वतामपि पापानि नैवं कार्य्यमशोभनम्॥ ३॥ इति

भा०—उक्त विधि से श्रीरामजी और उनके अस्त्र शस्त्रों से प्रार्थना करने के बाद अब सम्प्रदाय प्रवर्तिका जगज्जननी महारानी श्रीजानकी जी से आशीर्वाद के लिये प्रार्थना करते है— इन्द्रादि दिक्पालों से भोगने योग्य स्वर्गादिरूप ऐश्वर्य और चौरासी लाख प्रकार के योनि (जाति) भेद से विचित्र, अतएव आश्चर्य्य जनक यह समस्त जगत् जिनके कटाक्षाधीन है, जिनमें आचार्य्य शरणागतों को भगवान के शरणागत करना इत्यादि अनेक शुभ गुण हैं, जो वत्सलताकी सीमा क्षमासागर भक्तों के अपराध को भूलने वाली, विद्युत्पुञ्ज के समान कान्ति युक्त कमल नयनी, श्रीरामजी की प्रिया, वही श्रीजानकीजी मझे समस्त सम्पत्ति दें॥ ३॥

तत्त्वं किं किञ्च जाप्यंपरमिह विबुधैर्वैष्णवैर्ध्यानमिष्टम्
मुक्तेःकिं साधनं सद्गुर!अधिकतमो धर्म्म एकोऽस्ति कश्च।
धर्म्माणां वैष्णवास्ते गुरुवर!कतिधा?लक्षणं किं च तेषां-
कालक्षेपः किमाप्यं कथमुरुशुभदं कुत्र कार्यो निवासः।४।

अन्वयप्र०—हे गुरुवर! इह (अस्मिन् संसारे) तत्त्वं किमस्ति? विबुधैः (विज्ञैः) वैष्णवैः परं जाप्यं च किमस्ति,? इष्टं ध्यानं-किमस्ति? मुक्तेः (मोक्षस्य) सर्वश्रेष्ठसाधनं किमस्ति? धर्माणां (मध्ये) अधिकतमः (अतिशयश्रेष्ठः) एकः (मुख्यः) धर्मश्च कोऽस्ति? हे सद्गुर! ते वैष्णवाः कतिधा (कतिप्रकाराः सन्ति)? तेषां (वैष्णवानां) लक्षणं च किमस्ति? (तैर्वैष्णवैः) कुत्र (कस्मिन् देशे) निवासः कार्य्यः? (तत्र) कालक्षेपः कथं (केन प्रकारेण) कार्य्यः? (एतैः मत्प्रश्नोत्तरभूतसाधनसमूहान्वितैर्वैष्णवैः) उरुशुभदं (मोक्षप्रदम्) आप्य (प्राप्यं) किं (भविष्यति)? ॥ ४ ॥

अथ द्वादशानां श्रीरामानन्दीयशिष्याणां मध्येऽतिविमलमतिः श्रेयोविमुखान् जनान्संसारादुद्धर्तुकामः कृपालुराचार्यवान्पुरुषोवेदेति सिद्धान्तमनुतिष्ठन् सकलवेदशास्त्रेतिहाससारभूतमल्पज्ञेभ्योऽपि जिग्राहयिषया स्वयंजिज्ञासुर्भूत्वा सुरसुरानन्दः श्रीरामानन्दं तत्त्वादिकं पृच्छति-तत्त्वं-किमिति। इह जगति ज्ञेयं तत्त्वं किमस्ति विष्णोरिमे भक्ता वैष्णवास्तैर्विबुधैरवगन्तृभिः परमुत्कृष्टं जाप्यं किमस्ति? तैरिष्टं ध्यानं च किमस्ति? मुक्तेर्मोक्षस्य साधनं च किमस्ति? हेसद्गुर! सतां महात्मनां मध्ये वर! श्रेष्ठ! धर्माणामनेकविधानां मध्ये एको मुख्यः?

"एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा।
साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते" इति कोपः।

अधिकतमोऽतिशयेनाधिको धर्मः कोऽस्ति? हेगुरुवर! गृणन्ति तत्त्वादिकमुपदिशन्तीति गुरवस्तेषां मध्ये वर!।

"गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निवर्तकः।

अन्धकारविरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते" इति निर्वचनात्।

ज्ञानान्धकारनिवर्तकश्रेष्ठास्ते वैष्णवाः कतिधा कतिप्रकाराः सन्तीति वचनविपरिणामेनान्वयःसन्तीत्यध्याहारेण "अप्रयुज्यमानोऽप्यस्तिर्भवन्तीपरः-सर्वत्र प्रयुज्यते" इति भाष्योक्तेः। तेषां वैष्णवानां लक्षणं चिह्नं च किमस्ति "चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्" इत्यमरः। तैर्निवासः स्थिति कुत्र कस्मिन् कीदृशे देशे कार्य्यः कर्तव्यः कर्त्तुं योग्य इत्यर्थः।कालक्षेपश्च तैःकथं केन प्रकारेण कार्य्यः। उरु महद् शुभं ददातीति उरुशुभदं मोक्षप्रदम् आप्यं प्राप्यं किमस्ति ॥ ४ ॥

भा०—श्रीरामानन्द स्वामी जी के बारह शिष्यों में श्रीसुरसुरानन्द स्वामी जी ने जीवों के संसारसागर से उद्धार करने की इच्छा से अपने गुरु जी से दश प्रश्न पूछे— हे गुरुवर! इस संसार में तत्त्व[१] क्या है, विज्ञ वैष्णवों का सर्वश्रेष्ठ[२] जप, उत्तम ध्यान[३] और मुक्तिका साधन[४] क्या है? अनेक धर्मों में अतिश्रेष्ठ (प्रधान) धर्म्म[५] कौन है? हे सत्पुरुषप्रवर! वैष्णव कितने[६] प्रकार के होते है और उनके लक्षण[७] क्या है, उन वैष्णवों को किस देश में निवास[८] करना एवं किस प्रकार समय[९] विताना चाहिये? और इन मेरे प्रश्नों के उत्तर स्वरूप साधनों से उन वैष्णवों का विशेष शुभप्रद (मोक्षप्रद) क्या प्राप्य[१०] होगा ॥ ४ ॥

इत्थं तत्त्वादिविज्ञोऽखिलविविदिषया विश्रुतःश्रौतनिष्ठो-
रामानन्दोऽभिवन्द्यो जगति सुरसुरानन्दपृष्टो गरिष्ठः ॥
प्राचार्य्याचार्य्यवर्य्यान् यतिपतिसहितान् प्रोक्तवांस्तत्प्रणम्य
श्रीमांस्तस्मै रमेशं शरणमुपगतस्तद्विजिज्ञासुमुख्यैः ॥५॥

अन्वयप्र०—इत्थं (पूर्वोक्तप्रकारेण) अखिलविविदिषया सकलतत्त्वादिज्ञानं वेदितुमिच्छया श्रीसुरसुरानन्दपृष्टः जगति विश्रुतः (प्रसिद्धः) श्रौतनिष्ठः (वेदविहितकर्मोपासनादि-निष्ठः) जगति विजिज्ञासुमुख्यैरभिवन्द्यः गरिष्ठः—(अतिशयित-गुरुः) तत्त्वादिविज्ञः रमेशं (रमाऽपरपर्य्यायजानकीशं) शरणम्

(रक्षकं) उपगतः (प्राप्तः) अतएव श्रीमान् (ज्ञानवैराग्यादि-साध्यपरमप्रेमलक्षणाभक्तिरूपश्रीयुक्तः श्रीरामानन्दः) तं (जानकीशं) प्रणम्य यतिपतिसहितान् (श्रीरामानुजस्वामिसहितान्) ।चार्य्याचार्य्यवर्य्यान् (श्रीशठकोपाद्याचार्य्यान् स्वाचार्य्यान) प्रणम्य तस्मै (श्रीसुरसुरानन्दाय) तत् (श्रीसुरसुरानन्दकृत-प्रश्नषट्कतत्त्वादि) प्रोक्तवान् ॥ ५ ॥

अखिलानां विविदिषया अखिलान् वेदितुमिच्छया इत्थं पूर्वोक्तश्लोकप्रकारेण सुरसुरानन्देन स्वशिष्येण पृष्टो रामानन्दो गुरुः कीदृश जगति लोके विश्रुतः प्रसिद्धः ।पुनः श्रौते श्रुतिविहिते कर्मणि निष्ठा यस्य सः । गरिष्ठोऽतिशयेन गुरुः । जगति लोकेऽभिवन्द्यः सकलसाधारणैर्जिज्ञासुमुख्यैर्वन्दनीयः।तत्त्वादीन् विशेषेण जानातीति तत्त्वादिविज्ञः "इगुपधज्ञाप्रीकिरःकः" इति जानातेः कः । रमेशं रमा लक्ष्मीस्तस्या ईशं विष्णुं शरणमुपगतस्सन् तं-प्रणम्य तस्मै सुरसुरानन्दाय तत् तत्त्वादिकं प्रोक्तवान् कथितवान् । किं कृत्वा यतीनां संन्यासिनां पतिर्यतिपतिर्यतीन्द्रः श्रीरामानुजस्तेन सहितान् युक्तान् प्रकृष्टा आचार्य्याः प्राचार्य्याः शठकोपप्रभृतयः आचार्य्याःस्वगुरवः ते च ते च प्राचार्य्याचार्याः ते च ते वर्य्याश्च तेषु वर्य्या इति वा तान्प्रणम्य नमस्कृत्य अज्ञानान्धकारनिवर्तकान् वेदाध्यायिनः परमात्मनिष्ठाँस्तान्प्रपद्येत्यर्थः।तथा च तल्लक्षणप्रतिपादिका श्रुतिः स्मृतिश्च ।तथाहि "आचार्यवान् पुरुषो वेदेति" "स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्"इति च

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः"
इति श्वेताश्वेतरोपनिषन्मन्त्रवर्णाश्च

"तस्माद्ब्रह्मैवाचार्य्यरूपेणावतिष्ठते"इति व्यासस्मृतिः ।

एकादशस्कन्धेऽपि—

"आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हि चित् ।
न मर्त्यबुद्ध्या सूयेत सर्वदेवमयो गुरुः"इति ।

गीतायां च—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे"इति।

विष्णुसंहितायामपि,—

"गुरौ तुष्टे स्वयं तुष्टो गुरौ रुष्टे न कश्चन।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरुमेव प्रसादयेत्।
गुरुः कारुणिको देवि ? सुहृद्वैसर्वदेहिनाम्।
वदान्यः सानुरागो हि ब्राह्मणश्च सदीक्षितः।
मद्गतं हि मनो यस्य शान्तो दान्तस्तथैव च।
निरहंकारः क्षमाशक्तोगुरुर्भागवतस्तथा।
मद्भक्ता मत्कथासक्तः शृणोति कथयन्ति च।
नित्योत्सवप्रमुदितो जन्मकर्मादिभिस्तथा" इति।
"मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम्।
अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः।
नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिन्न तरेत्स आत्महा"
इत्येकादशेपि।

स्मृतिसारे च—

"प्राकृतैः संस्कृतैश्चैव गद्यपद्याक्षरैस्तथा।
देशकालादिभिः शिष्यं बोधयेत्स गुरुः स्मृतः" इति।

वामनकल्पेपि—

"यो मन्त्रः स गुरुः साक्षाद्योगुरुः स हरिः स्मृतः।
गुरुर्यस्यभवेत्तुष्टस्तस्यतुष्टो हरिःस्वयम्"इति।
तथा शिष्यलक्षणप्रतिपादिकाऽपि श्रुतिः स्मृतिश्च-

"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्त्यकृतः कृतेन तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्" इत्याथर्वणिकी श्रुतिः।

स्मृतिस्तु—

"प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे" इति।

आस्तिक्यमनसं सद्भिरुपेतं धर्मवत्सलं।
श्रद्दधानं सदाचारं गुरुशुश्रूषणतत्परम्" इति च हारीते
विष्णुसंहितायामपि—
"आज्ञाहीनं दुराचारमदृढं चैव निन्दकम्।
वर्जयेदीदृशं शिष्य व्यग्रचित्तमलक्षणम् ॥१॥
ज्ञानहीनमनाचारं परद्रोहरतं सदा।
लोलुपं पिशुनं शिष्यं दूरतः परिवर्जयेत् ॥२॥
क्षणं रुष्टः क्षणं तुष्टश्चाभिमानी क्षणं क्षणम्
परापवादसंतुष्टः शिष्यस्त्याज्यो विचक्षणैः ॥ ३ ॥
सुशीले सानुरागे च निःसन्देहे गुरौ रते।
सन्देहोऽत्र न कर्तव्यो दीक्षां दद्यात्प्रयत्नतः ॥ ४ ॥
विधिहीने क्रियाहीने कुलहीने तथैव च।
दीक्षा तत्र प्रमोक्तव्या सानुरागिणि चेद् गुरौ" इति
स्मृतिसारावल्यां च—
"गुरुत्यागी भवेद्रोगी मन्त्रत्यागी दरिद्रता
गुरुमन्त्रावुभौ त्यागी विपदस्तु पदे पदे" इति।

दरिद्र एव दरिद्रता। आर्षः स्वार्थे तल्। उभाविति। कर्मणि षष्ठ्यभावोऽपि तथा विपद इति। द्वितीयाबहुवचनान्त प्राप्नोतीति शेष इति तदर्थः। सद्गुरौ प्राप्ते तिथिनक्षत्रभद्रादिकं न विचारणीयं तदुक्तं महाचिने।

"भक्तियुक्तःसदाचारो गुरुवाक्ये सदा रतः
दीक्षार्थी लयसंयुक्तस्तस्मै दीक्षा प्रदीयते" इति ॥
अत्र कर्मणि लिङर्थे लट् प्रदीयते गुरुणेति शेषः ॥५॥

भा०—इन दश प्रश्नों के पूछने वाले श्रीसुरसुरानन्दजी को श्रीरामानन्दस्वामीजी ने उत्तर देना शुरू किया पूर्वोक्तरीति से श्रीसुरसुरानन्द जी से पूछे गये, समस्तलोक में प्रसिद्ध, वेदविहित कर्म ज्ञान और उपासना में निष्ठावाले, जिज्ञासुप्रवरों से वन्दनीय सरहस्यवेदतत्त्व के ज्ञाता स्वयं तत्त्ववेत्ता, जगद्रक्षक श्रीजानकीरूपरमाकान्त श्रीरामजी को प्राप्त, श्रीमान् (ज्ञानवैराग्यादि साध्य परमप्रेमलक्षणा भक्तिरूपश्री से युक्त) जो श्रीरामानन्दस्वामी जी, उन जानकीश (श्रीरामजी) और यतिपति श्रीरामानुजाचार्य्य के सहित सब पूर्वाचार्यों (श्री लक्ष्मी विष्वक्सेन शठकोपादि आचार्यों को

और निज आचार्य प्रवर श्री राघवानन्द स्वामी जी) को प्रणाम कर उन तत्त्व-जिज्ञासु(श्री सुरसुरानन्द जी) के पूर्वोक्त प्रश्नों का उत्तर देते है ॥५॥

प्रश्नानामेकमाद्यं त्रिकमपि शृणु तद्भेदतो नामभेदैः-
र्नित्याऽज्ञाऽचेतना सा प्रकृतिरविकृतिर्विश्वयोनिश्शुभैका।
नानावर्णात्मिकाऽजात्रिगुणसुनिलयाऽव्यक्तशब्दाभिधेया
निर्व्यापारा परार्था महदहमितिसूरुच्यते तत्त्वविद्भिः ॥६॥

अन्वयप्र०—तत्त्वविद्भिः (तत्त्वज्ञैर्व्यासपराशरादिमहर्षिभिः) प्रश्नानां (मध्ये) आद्यम्(प्राथमिकं प्रश्नं "तत्त्वं किम्" इत्याकारकम्) एकमपि (चिदचिच्छरीरविशिष्टत्वेनैकां सङ्ख्यां गतमपि) तद्भेदतः (तयोः चिदचितोरीश्वरस्य च भेदैः) नामभेदैः (चिदचिदीश्वरवाचक शब्दभेदैः) त्रिकं (शब्दतः अर्थतश्च त्रिविधमुच्यते) तत् (तत्त्वं) शृणु (तत्र) या एका (अचित्) सा नामभेदैः (नाम्नां भिन्नत्वेन) नित्या, अज्ञा, अचेतना, प्रकृतिः, अविकृतिः, विश्वयोनिः, शुभा, नानावर्णात्मिका, अजा, त्रिगुणसुनिलया, अव्यक्तशब्दाभिधेया, निर्व्यापारा, परार्था, महदहमितिसूः, उच्यते ॥६॥

अथ तत्त्वं किमस्तीति प्रश्नस्योत्तरमाह—प्रश्नानामिति। तत्त्वविद्भिर्विद्वद्भिःप्रश्नानां पृच्छ्यमानानां तत्त्वादीनां मध्ये आद्यं प्रथमम् एकमपि तत्त्वं भेदतोऽचेतनाचेतनेश्वरभेदात् त्रिकमुच्यते त्रिधोच्यत इत्यर्थः । त्रयोऽवयवा अचेतनादिभेदप्रकारा यस्य तत्त्वसमुदायस्य तत् त्रिकम्। तद् नामभेदैरचेतनादिभिः शृणु। तत्र तावत्तत्प्रकृतिं निरूपयति-विकाररहिता मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तेत्युक्तेः स्थावरजङ्गमात्मकानां विश्वेषां जगतां योनिः, अतएव एकापि शोभते बहुधा इति शुभा शोभमाना शुभैरिगुपधेति कः नानावर्णात्मिका शुक्लादिभेदेन बहुवर्णा, तथाच—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजा जनयन्तीं सरूपाः।
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" इति ।

त्रयो गुणास्सत्त्वरजस्तमांसि, सुष्ठु निलीयन्तेऽस्यामिति त्रिगुणसुनिलया अव्यक्तशब्देनाभिधातुं योग्याऽभिधेया वाच्या इदमुपलक्षणम्। प्रधानशब्दादी-

नामपि निर्व्यापारा स्वातन्त्र्येण व्यापाररहिता जडत्वात् रथादिवद् परस्मै इयं परार्था पराधीना भगवदधीनेति यावत्। महदहमितिसूः महदहमादिकं-सूते उत्पादयतीति महदहमितिसूः इतिशब्द आद्यर्थकः "इति हेतुप्रकरणप्र-कारादिसमाप्तिषु" इति कोषः

तथा च भागवते तृतीयस्कन्धे षड्विंशेऽध्याये देवहूतिंप्रति भगवता श्रीकपिलेनोक्तं—

"यत्तत्त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवद्" इति।

यत्प्रधानं तदेव प्रकृतिं प्राहुः किं तत्प्रधानमित्यपेक्षायामाह-स्वतोऽविशेषं-विशेषवद् विशेषाः सन्त्यस्मिन्निति विशेषवद् निखिलविशेषाणामाश्रयः, तर्हि किं ब्रह्म? नहि त्रिगुणं, किं तर्हि महत्तत्वादि? न हि अव्यक्तमकार्यं, किं, कालादि? नहि, सदसदात्मकं कार्यकारणरूपमिति तदर्थः॥ ६॥

भा०—श्रीरामतत्त्वप्रचारक श्रीरामानन्दस्वामी जी श्रीसुरसुरानन्दजी को क्रमशः उत्तर देते है सुनो! तुम्हारे प्रश्नो में जो पहला प्रश्न है (क्या तत्व है) उसको तत्ववेत्ता (व्यास पराशरादि महर्षिगण) अचित् चित् और ईश्वर नाम से तीन प्रकार का कहते है। उनमें जो पहला अचित् है उसीको नाम भेद होने से नित्या १, अज्ञा २, अचेतना ३, प्रकृति *४, अविकृति ५, विश्वयोनि ६, शुभा ७, नानावर्णात्मिका ८, अजा ९, त्रिगुणासुनिलया १०, अव्यक्त ११, निर्व्यापारा १२, परार्था १३, महदहमितिसू १४, कहते है॥ ६॥

नित्योज्ञश्चेतनोऽजःसततपरवशः सूक्ष्मतोऽत्यन्तसूक्ष्मो-
भिन्नो बद्धादिभेदैः प्रतिकुणपमसौ नैकधा सूरिवर्य्यैः॥
श्रीशाक्रांतालयस्थोनिजकृतिफलभुक्तत्सहायोऽभिमानी
जीवः संप्रोच्यते श्रीहरिपदसुमते। तत्त्वजिज्ञासुवेद्यः॥७॥

---

*'प्रकृति' नाम के अन्तर्गतही पृथ्वी, जल, तेज वायु, आकाश पञ्च-महाभूत, शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध पञ्च तन्मात्रा, आँख कान नाक जिह्वा त्वचा हस्त पाद लिङ्ग गुदा वाणी इन्द्रि दश और मन बुद्धि चित्त अहंकार अन्तःकरण चतुष्टय इन सबों को भी जानना।

अन्वयप्र०—हे श्रीहरिपदसुमते! (सुरसुरानन्द!) सूरिवर्य्यैः (ज्ञानिश्रेष्ठैः) जीवः, नित्यः (सदैकरूपः) ज्ञः (ज्ञानगुणवान् अज्ञ इतिच्छेदेन भगवज्ज्ञानापेक्षयाऽल्पज्ञः नञर्थस्याल्पार्थकत्वात्) चेतनः (ज्ञानस्वरूपः) अजः (जन्ममरणादिषड्विकाररहितः) सततपरवशः (सर्वावस्थायां भगवदधीनः) सूक्ष्मतोऽत्यन्तसूक्ष्मः (परमाणोरप्यत्यल्पः) प्रतिकुणपं (प्रतिशरीरम्) असौ बद्धादिभेदैः (बद्धमुक्तनित्यभेदैः) भिन्नः नैकधा (अनेकः) श्रीशाक्रान्तालयस्थः (सीतास्वरूपलक्ष्मीकान्ताक्रान्तशरीरस्थः) निजकृतिफलभुक् (स्वकर्मजन्यफलभोक्ता) तत्सहायः (भगवदनुचरः) अभिमानी (बद्धदशायां स्वातन्त्र्येण शुभाशुभकर्तृत्वादीनामहंकारवान् मुक्तदशायान्तु भगवदधीनत्वाभिमानवान्) तत्त्वजिज्ञासुवेद्यः (चिदचिद्विशिष्टपरमेश्वरज्ञानान्वेषिणां ज्ञेयः) सम्प्रोच्यते (निगद्यते) ॥ ७ ॥

ननु तत्र तत्र तत्त्वानां चतुर्विंशतितत्त्वस्य पञ्चविंशतितत्त्वस्य वा श्रवणात् कथं त्रिकमिति चेन्न। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाश ५ गन्धस्पर्शरूपरसशब्द ५ श्रोत्रत्वक्दृक्रसनानासिकावाक्करचरणमेढ्रपायु १० मनोबुद्ध्यहंकारचित्ता ४ नां प्रकृतिविकृतित्वात्प्रकृतावेवान्तर्भावेण प्रकृतिशब्देनैव तेषामपि संग्रहात्। अथ जीवस्वरूपं निरूपयति-नित्य इति। हे श्रीहरिपदसुमते! सुरसुरानन्द! श्रीहरिपदे तच्चरणकमले शोभना मतिर्यस्य स तथोक्तः। सूरिवर्यैर्विद्वच्छ्रेष्ठैरेवं विशेषणविशिष्टोजीवः संप्रोच्यते सम्यक् कथ्यते। स च कीदृक् नित्यः सर्वदैकरूपः सनातनोऽनादिमध्यनिधन इतियावत्।

तथाच स्मृतिः—

"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" इति
"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः" इतिच
"न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजोनित्यः शाश्वतोयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे"। इति च।
पुनः अज्ञोऽल्पज्ञोबहुज्ञभगवदपेक्षया नञोऽत्राल्पत्वमर्थः

तदुक्तमभियुक्तैः—

"तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः" इति ।

तथाचश्रुतिः—

"ज्ञाज्ञौद्वावजावीशानीशौ" इति । ज्ञ इति च्छेदे जानातीति ज्ञोऽजड-इत्यर्थः । नतु प्रधानवज्जड इतिभावः। "इगुपधज्ञाप्रीकिरः क"इति जानातेः कप्रत्ययः।आद्ये तु चेतन इत्यस्यैवाजड इत्यर्थः।अन्त्ये तु अनेकशरीरानुभूत सुखदुःखस्मृतिमानित्यर्थः । "चितीसंज्ञाने"।अस्मान्नन्द्यादित्वाल्ल्युः। पुनः-अजः न जायत इत्यजोजननमरणविकारशून्यः । सततं निरन्तरमविच्छेदेन परस्य परमात्मनो वशास्तदधीनोऽस्वतन्त्र इत्यर्थः । पुनःसूक्ष्मतः सूक्ष्मेभ्यो ऽणुपरमाण्वादिभ्योऽपि अत्यन्तमतिशयेनसूक्ष्मः ।

तथाचोक्तं—

"वालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च
भागोजीवः सविज्ञेयस्स चानन्त्याय कल्पते" इति
"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" इति च ।

प्रतिकुणपं प्रतिशरीरम् । बद्धादीनां भेदैर्नैकधाऽनेकप्रकारः सन् भिन्नो नाना। पुनः आसमन्ताल्लीयते इत्यालयं शरीरं श्रीशेन परमात्मना-न्तर्यामित्वेनाक्रान्तं च तदालयं च तत्र तिष्ठतीति श्रीशाक्रान्तालयस्थः सन्। निजकृतिफलभुक् स्वकीयानेकविधकर्मफलभोक्ता ।

तथाच श्रुतिः—

"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योभिचाकशीति" इति ।

स परमात्मा सहायः सखा उपकारकोयस्य स तत्साहयः। अभिमानी भोक्तृत्वाद्यहंभावोऽस्यास्तीत्यभिमानी । तत्त्वजिज्ञासूनां तत्त्वानि ज्ञातुमिच्छूनां तत्त्वरूपत्वेन वेदितुं ज्ञातुं योग्यस्तत्त्वजिज्ञासुवेद्यः। एवं चाणुत्वपारतन्त्र्यादिविशिष्टोनित्योऽनेकोऽनेकविधस्वकर्मफलानामवश्यं भोक्ता जीवइति निष्कर्षः ॥७॥

भा०—भगवान् श्रीरामानुजाचार्य्यजी के प्रधान लक्ष्य के प्रचारक भगवान् श्रीरामानन्दस्वामीजी अपने प्यारे शिष्य श्रीसुरसुरानन्दजी से उनके द्वितीयप्रश्न का उत्तर कहते हैं कि ऐ भगवच्चरणानुरागी !

सुरसुरानन्द! ज्ञानिप्रवरों ने जीवको सदा एकरूप, ज्ञानगुणवान्, (या भगवत्ज्ञानापेक्षया अल्पज्ञ) ज्ञानस्वरूप जन्ममरणादिषड्विकारों से शून्य, बद्धमुक्तदशा में भी भगवान के अधीन, परमाणु से भी अति सूक्ष्म, प्रतिशरीर में सम्बन्ध रखने से और बद्ध मुक्त नित्य भेद से असङ्ख्य, सीतास्वरूप लक्ष्मीजी के स्वामी श्रीराघव से व्याप्त शरीर में स्थित, निजशुभाशुभ कर्मफल के भोक्ता, भगवदनुचर, बद्धदशा में स्वतन्त्रतापूर्वक शुभाशुभकर्म के करने और उसके फल को भोगने का अहंकारवाला, और चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर तत्त्व का अन्वेषण करने वाले से जानने योग्य कहा है ॥७॥

विश्वं जातं यतोऽद्धा यदवितमखिलं लीनमत्यस्ति यस्मिन्
सूर्य्यो यत्तेजसेन्दुः सकलमविरतं भासयत्येतदेषः।
यद्भीत्या वाति वातोऽवनिरपि सुतलं याति नैवेश्वरोज्ञः
साक्षी कूटस्थ एकोबहुशुभगुणवानव्ययो विश्वभर्ता ॥८॥

श्रीमानर्च्यःशरण्योविधिभवप्रमुखैर्योगिगम्याङ्घ्रिपद्मोऽ
स्पृश्यःक्लेशादिभिःसत्समुदितसुयशाःसूरिमान्योवदान्यः
शश्वन्नारायणोऽजः सुमहितमहिमा साधुवेदैरशेषै-
र्निर्मृत्युः सर्वशक्तिर्विकलुषविजरोगीर्मनोभ्यामगम्यः॥९॥

अन्वयप्र०—अखिलं (स्थावरजङ्गमात्मकं) विश्वं (जगत्) यतः (यस्मात्) अद्धा (साक्षात्) जातम् (उत्पन्नं) यदवितं (येन रक्षितम्) यस्मिन्नति (प्रकर्षेण) लीनमस्ति। यत्तेजसा (यस्य प्रभावेण) एषः सूर्य्यः,इन्दुः (चन्द्र) एतत् सकलं (विश्वम्) अविरतम्(निरन्तरम्)भासयति (प्रकाशयति) यद्भीत्या (यस्माद्भयेन) वातोवाति (वायुः संचरति) अवनिरपि (पृथ्व्यपि) सुतलं नैव याति (न गच्छति) यश्च ज्ञः (सर्वज्ञः) कूटस्थः (सर्वदाद्रिवत्सर्वत्राव-

स्थितः) (अतएव) साक्षी (जड़चेतनात्मकसमस्तविश्वस्य द्रष्टा) एकः (तत्वत्रयेषु प्रधानं) बहुशुभगुणवान् (शरणागत-वत्सलत्वाद्यनन्तकल्याणगुणयुक्तः) अव्ययः (अविनाशी) विश्वभर्त्ता (संसारसंरक्षकः) श्रीमान् (श्रियाः श्रीं भर्त्तृवत्सलाम् वा० रा० यु० १११ स० २१ श्लो० इति महर्षिवचनात् सीतारूपश्रीयुतः) विधिभवप्रमुखैरर्च्यः (आराध्यः) शरण्यः (शरणागतरक्षणे प्रवीणः) योगिगम्याङ्घ्रिपद्मः (परमप्रेमलक्षण-भक्तियोगवता पुरुषेण प्राप्यचरणकमलः) क्लेशादिभिरस्पृश्यः (अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशादिरूपक्लेशशून्यः) सत्समुदित-सुयशाः (वाल्मीक्यादिमहर्षिभिः कथितकीर्तिः) सूरिमान्यः (ज्ञानिप्रवराणां मननविषयः) वदान्यः (अर्थधर्मकाममोक्षादीनां दाता) नारायणः ("नारं घनरसः पुमान्" इतिशब्दार्णवात् नारं घनरसोजलमयनं गेहो यस्य स नारायणः "अयनं पथि गेहेऽर्कस्योदग्दक्षिणतोगतौ" इतिहेमात् । अथवा "पुरुषाः पूरुषा नराः" इति निघण्टुवचनात् नराः पुरुषाः तेषां समूहो नारम् अयनम् अन्तर्य्यामितया निवासस्थानं यस्य स नारायणः । यद्वा "नरतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः। नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीतिविदुर्बुधाः" इतिस्मरणात् नाराणि अखिलतत्त्वात्मकानि ब्रह्माण्डानि अयनं शरीरवन्निवासस्थानं यस्य स नारायणः "जगत्सर्वं शरीरं ते" इतिमहर्षिवचनात्) अजः (जन्मरहितः । जनिमतामवश्यं मृतिः "मृत्युर्जन्मवतां वीर" इति भागवतवचनात् । अस्य तु "विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरसहानुजः" इति महर्षिवचनतः सशरीर-गमनात् जन्मराहित्यं बोध्यम्) साधु (यथा स्यात्तथा) शश्वद्ध (निरन्तरम्) अशेषैः (समस्तैः) वेदैः सुमहितमहिमा (वर्णित-महिमा अतएव) निर्मृत्युः (मृत्युरहितः) सर्वशक्तिः (विविध-

स्वाभाविकीज्ञानादिशक्तिसम्पन्नः) विकलुषविजरः (अपहत-पाप्मत्वादिविशिष्टः) गीर्मनोभ्यामगम्यः (ब्रह्मादीनामपि वाङ्मनसाऽगोचरः) "न ब्रह्मा नेशानः" इतिश्रुतेः । स ईश्वरोवेदितव्यः ॥ ८ ॥ ९ ॥

अथ पूर्वोक्तचेतनाचेतनयोर्नियमेन धारकत्वनियन्तृत्वशेषित्वयोगात्सर्वशरीरिणां सर्वकार्यकारणभूतं निखिलहेयप्रत्यनीकतया सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादिसकलकल्याणगुणगणास्पदतया च स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणं निष्कर्षकेतरसमस्तशब्दवाच्यं सर्वशास्त्रीयकर्मसमाराध्यं सकलफलप्रदं सर्वेषामात्मनां स्वाभाविकसौहार्दसुगमं मुमुक्षूणामाश्रयभूतं मुक्तप्राप्यं निखिलवेदान्तवेद्यं पुरुषोत्तमं सीतापतिमीश्वरं निरूपयति--विश्वमितिद्वाभ्याम् । अखिलं सर्वं स्थावरजङ्गमात्मकमिदं विश्वं प्रपञ्चं यतः सकाशाद्धा साक्षाज्जातम् उत्पन्नं यदवितं येन जातं सत् अवितं रक्षितं यस्मिँश्च लीनं संहृतमस्ति-स ईश्वर इत्यन्वयः ।

तथाच श्रुतिः--

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" इति ।

स्मृतिश्च--

"यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे
यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये" इति ।

किञ्च यत्तेजसा यस्य तेजसा इन्दुःचन्द्रमा एष सूर्य्योभास्करोपि एतत्सकलं सर्वं विश्वमविरतं भासयति सततं प्रकाशयति "सन्ततविरतानिशम्" इत्यमरः ।

तथाच श्रुतिः--

"न तत्र सूर्य्योभाति न चन्द्रतारकं नेमाविद्युतोभान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सवमिदं विभाति" इति ।

स्मृतिश्च--

"यदादित्यगतं तेजोजगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजोविद्धि मामकम्" इति ।

स ईश्वरः। किञ्च पवनादयोपि स्वस्वाधिकारे यन्नियुक्ताश्चकिताः सन्तो यदाज्ञामविरतं शिरसा वहन्तीत्याह—यद्भीत्येति। यत् यस्माद्भीत्या भयेन वायुना जगदायुनेत्युक्तरीत्या जगतां परमायुर्भूतोवातोवातः पवनोदेव-तिर्यङ्नरादिषु वाति संप्रचरति। अवनिः पृथिवीरपि यद्भीत्या सुतलं नैव याति न निमज्जति। स ईश्वरः कीदृक् सः ज्ञः सर्वज्ञ इत्यर्थः।

तथा च श्रुतिः—

"भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः भीषास्मादिन्द्रश्चाग्निश्च मृत्युर्धावति पंचमः यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इति।

पुनः साक्षी स्वकर्मफलभोक्तुरात्मनः कर्मणां द्रष्टा "साक्षाद्द्रष्टरि सञ्ज्ञा-याम्" इत्युक्तेः। पुनः कूटस्थः स्वेतरसर्वलोकान्निहत्य कूट इवायोघन इव तिष्ठतीति कूटस्थोऽविकारी।

"मायानिश्चलयन्त्रेषु कैतवानृतराशिषु"।

"अयोघने शैलशृङ्गे सीराङ्गे कूटमस्त्रियाम्" इतिकोशः। एकोऽद्वितीयो मुख्योऽसहायः स्वयं सर्वसहायभूतः। बह्वोऽनन्ताः शुभगुणाः कल्याणगुणाः कृतित्वकृतज्ञत्वनिभृतत्वसंभृताकारत्वामोघक्रोधहर्षत्वस्थिरप्रज्ञत्वधर्मज्ञत्वस-त्यसन्धत्वप्रियसत्यवादित्वशरणागतवत्सलत्वदृढव्रतत्वमृदुत्वसौलभ्यादय स-न्त्यस्य नित्यमिति तथोक्तः। अव्ययोऽविनाशी। विश्वेषां जगतां भर्त्ता संरक्षकः "डुभृञ् धारणपोषणयोः" इत्युक्तेः शेषषष्ठ्या समासः॥ ८॥

"अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा"

इत्युक्तरीत्या नित्यमनपायिनी श्रीः सीतास्याऽस्तीतिश्रीमान् नित्ययोगे मतुप्। अर्च्यः स्वेतरसर्वैर्विधिभवप्रमुखैराराध्यः। शरणे साधुः शरण्य। शरणं रक्षणे गृहे "तत्र साधुः" इति यत्। योगिनां सनकादीनां गम्यं प्राप्यमङ्घ्रिपद्मं चरणकमलं यस्य सः। पुनःक्लेशादिभिरस्पृश्यः। स्प्रष्टुमशक्यः।

तदुक्तं भगवता पतञ्जलिना—

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" इति।

सद्भिर्वाल्मीकिप्रभृतिभिः समुदितानि सम्यग्वर्णितानि सुष्ठुयशांसि समुद्रावणादिनिग्रहादीनि यस्य सः। सूरिभिर्गरुडानन्तहनुमदादिभि-र्मान्यः पूज्यः "मानविचारे पूजायाम्" इत्युक्तेः। वदान्यःचतुर्वर्गफलप्रदाता नारा नरसमूहोजलानि वा अयनं वासस्थानं यस्य सः

"आपोनारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।

अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः" इति स्मृतेः।

नारायणपदाभिधेयोदाशरथी राम इतिभावः भवच्छन्दप्रतिपाद्यश्रीरामं विशेष्यत्वेनोद्दिश्य

"भवान्नारायणोदेवः श्रीमांश्चक्रायुधोविभुः।
एकश्रृङ्गोवराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित्।
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्येचान्ते चराघव"।

इति वाल्मीकीये श्रीरामं प्रति ब्रह्मणोक्तेः। अजोऽजन्मा। साधु यथा भवति तथा। शश्वत् सर्वदा। अशेषैर्निखिलैर्वेदैः सुष्ठु महितो-महिमा महत्त्वं यस्य स.। निर्गतोमृत्युर्मरणं यस्य स.। सर्वेषु सर्ववि-धावाशक्तिर्यस्य स.। विगता जरा यस्य स विजरः। विगतं कलुषं यस्य स विकलुषः। स चासौ विजरश्च तथोक्त.। विधिभवप्रमुखैरपि गीर्मनोभ्यामगम्यः वाङ्मनसाभ्यां गन्तुं प्राप्तुमशक्यः। "गीर्वाग्वाणी सरस्वती चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः" इत्यमरः।

तथाचश्रुतिः—

"अपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विजिघित्सोऽपिपासः" इति।

"यतोवाचोनिवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इति च।

एवं च सर्वनियन्ता सर्वान्तर्यामी सर्वशेषी सर्वशरीरी जगज्जन्मा-दिकारणभूतोऽनन्तकल्याणगुणगणैकतानोऽशेषवेदवेद्यः सीतापतिः श्रीराम ईश्वर इतिदिक् ॥ ९ ॥

भा०—अब भगवान् श्रीरामानन्दस्वामी जी श्रुति स्मृति इतिहास पुराणों के सारभूत त्रिस्वरूपात्मक (चिदचिद्विशिष्ट) तत्व के निर्णायक वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के अनुसार चित् और अचित् का स्वरूप दिखलाकर, दो श्लोकों में चिदचिद्विशिष्ट परतत्व के स्वरूप का उपदेश करते है।

समस्त जगत जिससे उत्पन्न हुआ है; जिससे यह रक्षित है; और जिस में यह लीन होता है, जिसके तेज से चन्द्रमा, और सूर्य्य अखिल विश्व को प्रकाशित करते हैं, जिसके भय से पवन-चलता है, पृथ्वी रसातल नही जाती, जो सर्वदा सर्वत्र पर्वत के समान स्थित (अचल) है;

अत एव, जड़चेतनात्मक समस्त विश्व का द्रष्टा है; और तीनों तत्वोमे प्रधान, शरणागत वत्सलता आदि अनेक दिव्य गुणों से युक्त, अविनाशी, जगत् का भरण पोषण कर्ता ["श्रियः श्री भर्तृ वत्सलाम्" इस महर्षिवाल्मीकि के वचन से] सीतारूपा श्री जी से संयुक्त, ब्रह्मा शिव आदि प्रमुख देवताओं का आराध्य देव, एवं शरणागतों की रक्षा में दक्ष है; जिनका चरणकमल परमप्रेमरूप भक्तियोग वाले भक्तों से प्राप्य है, जो क्लेशादि (अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश.कर्म विपाक आशय] से रहित है, जिनका यश वाल्मीकि आदि महर्षियों से कथित है, जो ज्ञानी प्रवर श्रीहनुमान गरुड़ बिष्वकसेन प्रभृतियों के चिन्तन का विषय और अर्थ धर्म काम मोक्ष का दाता है, जल अथवा जीव समूह जिनका निवास स्थान है ["नरतीतिनरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः। नराज्जातानि तत्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः" सनातन परमात्मा को हीं यथार्थ न्याय कर्त्ता होने के कारण नर कहते है, उससे उत्पन्न २५ तत्वात्मक असङ्ख्य ब्रह्माण्ड को नार कहते हैं, और इसीमें उनका निवास होने से उन्हें नारायण कहते है। इसीसे महर्षि ने भी श्रीरामजी के लिये "जगत्सर्वं शरीरंते" "भवान्नारायणोदेवः" का प्रयोग किया है) जो अजन्मा हैं (मृत्युर्जन्मवतांवीर) इस भागवत के वचन से जन्मग्रहण करनेवाले को अवश्य मृत्यु होती है। क्रिन्तु ये तो "विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः" इस महर्षि वचन से सशरीर जाने के कारण ही मृत्यु रहित है, अतएव जन्म रहित भी है समस्त वेद जिसकी महिमा का निरन्तर गान किया करता है, जिनकी ज्ञानादि असंख्य स्वाभाविक शक्तियाँ है, जो ज़रा अवस्था और पाप (अन्याय) से रहित और जो ब्रह्मा शिव आदि देवताओं के मन और वाणी का भी अविषय है, उसीको ईश्वर जानो ॥८॥६॥

जाप्यस्तत्तारकाख्यो मनुवरमखिलैर्वह्निबीजं यदादौ
रामोङेप्रत्ययान्तो रसमितशुभदस्वक्षरः स्यान्नमोऽन्तः।

मन्त्रोरामद्वयाख्यःसकृदितिचरमप्रान्वितो गुह्यगुह्यो।
भूताद्युत्संख्यवर्णःसुकृतिभिरनिशं मोक्षकामैर्निषेव्यः १०

अन्वयप्र०—यदादौ (यस्य तारकमन्त्रराजस्य आदौ प्रथमं) मनुवरम् (मन्त्रश्रेष्ठम्) वह्निबीजम् (अग्निबीजम्) नमोऽन्तः ङेप्रत्ययान्तः रामः (रामाय नमः अन्ते) स्यात्। (इत्थं) रसमितशुभदस्वक्षरः (षड्सङ्ख्याप्रमितकल्याणप्रदमनोहरवर्णयुक्तः) तत् (श्रुतिस्मृतिहासपुराणादिषुप्रसिद्धः) तारकाख्यः (तारकनामकमन्त्रराजः) अखिलैः (महर्षिभिः) जाप्यः (जपनीयोऽस्तीति वेदितव्यम् । मोक्षकामैः सुकृतिभिः सकृदिति चरमप्रान्वितः "सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम" इति चरमाख्यमन्त्रेण युक्तः। गुह्यगुह्यः (गोप्येष्वतिगोप्यः) भूताक्ष्युत्संख्यवर्णः (पंचविंशतिवर्णात्मकः) रामद्वयाख्यः (रामस्य द्वयनामकः) मन्त्रः "श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते रामचन्द्रायनमः"इत्याकारकः निषेव्यः (जाप्यः इतिवेदितव्यम्) ॥१०॥

एवं प्रधानचेतनेश्वरानुपदिश्य"किं च जाप्यम्"इति द्वितीयं प्रश्नं प्रत्युत्तरयनपरमंजाप्यमुपदिशति–जाप्यस्तदिति।अखिलैर्मुमुक्षुभिस्तारकाख्यःतारकनामक मन्त्र जाप्य.जपनीयोऽहरहरनुक्षणमनुष्ठेयः।जपेरदुपधत्वेपि"पोरदुपधाद् "इति यति स्वार्थिकःप्रज्ञाद्यण्। जापइति पाठोपिसुगम। मनुपु मन्त्रे पुवरं श्रेष्ठं वह्नेरग्नेर्बीजं रामिति यदादौ यस्य रामतारकस्यादौ अस्तीति शेषः। ततो ङे प्रत्ययान्तोरामोरामशब्दः रामायेतिपद स्यात्। कीदृक् सः नमोन्तः नमो नमः शब्दोऽन्ते यस्य ङेप्रत्ययान्तरामशब्दस्य रामायेत्यस्य स नमोऽन्तोरामायनम. इति। रसैः षड्भि संख्याभिर्मितानि प्रमितानि शुभदानि मोक्षप्रदानि सुष्ठु अक्षराणि वर्णा यस्मिन उक्तरीत्या उद्धृततारकमन्त्रे स तथोक्त।किञ्च रामद्वयाख्योऽपि "श्रीमद्रामचन्द्र चरणौ शरणं प्रपद्ये श्रीमते रामचन्द्राय नम." इति मंत्रः जपनीयः।सकृदिति

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम"

इति चरमेण प्रान्वितः प्रकर्षतया युक्तः। गुह्याद् गोप्यादपि गुह्यः गोपनीयोऽनधिकारिणोऽतिशयेनाप्रकाशनीयः। एतच्च तारकाख्यइत्यत्राप्यन्वेति, एवं चैतत्त्रयमपि नानधिकारिणे प्रकाशितव्यमितिभाव.। कीदृशो रामद्वयाख्यो भूताद्युत्संख्यवर्णो भूताद्यीणि पञ्चविंशतिः उन्मिता उत्कृष्टा वा संख्या येषां ते भूताद्युत्सख्याः ते वर्णा अक्षराणि यस्मिं स तथोक्तः। मोक्षकामैर्मोक्षाभिलाषैः सुकृतिभिः प्रशस्तपुण्यैर्जनैरनिशं सततं निषेव्यः नियमेन सेव्यः सेवनीयः।अयम्भावः परमजप्यत्वेनैतन्मन्त्रत्रयमहरहरनुक्षणं संसारमहार्णवादुत्तितीर्षुभिर्निरालसैरादृतसत्सङ्गैस्त्यक्तेन्द्रियार्थैः प्राप्यदृढमनस्कैर्मुमुक्षुभिरवश्यानुष्ठेयमिति ॥ १० ॥

ज्ञान, वैराग्य के सहित भक्तियोग के प्रचारक आचार्य्य प्रवर श्रीरामानन्द स्वामीजी चित् अचित् और ईश्वर तत्त्व के स्वरूप को उपदेश करके उक्त तत्वत्रय के ज्ञान का प्रधान साधन "किं च जाप्यम्" इस द्वितीय प्रश्नके उत्तर स्वरूप मन्त्रराज के स्वरूप का उपदेश करते है।

महर्षियों ने जिस श्रेष्टमन्त्र का नाम तारक कहा है और जिसवर्ण समुदाय के आदि में अग्नि बीज (रां) अन्त में "नमः" और मध्य में ङे प्रत्यान्तया राम अर्थात् "रामाय" शब्द है, उस कल्याण कारी मनोहर छ वर्णों से युक्त मन्त्रराज (षडक्षर तारकमन्त्र रां रामाय नमः) और सकृदेव प्रपन्नाय इत्यादि चरममंत्र सेयुक्त "श्रीमद्रामचन्द्र चरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते रामचंद्रायनमः" यह श्रीरामजी के द्वयनामक मंत्र मुमुक्षुओं को निरन्तर जपने योग्य है ॥ १० ॥

मंत्राणां व्यापकानां भगवत इहचाव्यापकानान्तुमध्येऽ
तिश्रेष्ठो व्यापकः स श्रुतिमुनिसुमतः शिष्टमुख्यैर्गृहीतः।
नित्यानामाश्रयोऽयं परित उरुशुभो राममन्त्रः प्रधानः
प्राप्यश्चप्रापकोऽपि प्रचुरतरगुणज्ञानशक्त्यादिकानाम् ११

अन्वयप्र०—इह अखिलनिगमागमप्रतिपादितमन्त्रेषु, भगवतः—जगज्जन्मादिकारणपरब्रह्मणो—मन्त्राः श्रेष्टाः, (तेषाम्) अव्यापकानां मन्त्राणां मध्ये व्यापका मन्त्राः श्रेष्टाः, तेषां व्यापकानामपि-मध्ये व्यापकः अतिश्रेष्ठः, श्रुतिमुनिसुमतः, शिष्टमुख्यैः—अगस्त्यादिमुनिश्रेष्ठैः—गृहीतः, नित्यानां प्रचुरतरगुणज्ञानशक्त्यादिकानाम्, आश्रयः, प्रापकश्च, उरुशुभः (परमशुभः), परितः (सर्वेभ्यो व्यापकेभ्यो मन्त्रेभ्यः) प्रधानम् सोऽयं (राममन्त्रः) प्राप्यः (आचार्येभ्यः प्रापणीयोऽस्ति) ॥११॥

अथ देवतान्तरमन्त्रेभ्योभगवन्मन्त्राणां श्रैष्ठ्यं प्रतिपादयन् तत्रापि "नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयाद्" इति विष्णुगायत्र्याम् धीयमानत्वेन—

"नृसिंहार्कवराहाणां प्रसादात्प्रणवस्य च ।
स्वनामपूर्वकाश्चेति मान्त्राश्च व्यापकाः स्मृता. ।
व्यापकेषु च मन्त्रेषु सिद्धारि नैव चिन्तयेद् ।"

इति स्मृतिवचनेन च व्यापकश्रेष्ठनारायणवासुदेवविष्णुमन्त्रत्रयस्य तत्त्वं च प्रतिपादयन् तत्र च प्रथमोपातत्वेनश्रेष्ठप्रधानभूतनारायणमन्त्रापेक्षयापि तारकस्य श्रीराममन्त्रस्य गूढाभिप्रायकत्वेनातिगोपनीयस्य "नास्तिचाष्टाक्षरात्पर" "न मन्त्रोष्टाक्षरात्पर" इत्यादौ "श्रीरामः शरणंमम" इति श्रीरामाष्टाक्षरात्परोमन्त्रोनेत्यर्थके पयसि घृतमिव निगूढस्य महद्भिरुद्धृतस्यातिश्रेष्ठतां प्रतिपादयितुं प्रतिजानीते—मन्त्राणामिति। देवतान्तरमन्त्रापेक्षया श्रेष्ठानां चराचरव्यापकीभूतभगवत्स्वरूपप्रतिपादकत्वाद् व्यापकानां भगवदवतारगुणचेष्टितेषु एकैकप्रतिपादकत्वादव्यापकानां च भगवतो जगज्जन्मादिहेतोः परमात्मनोमन्त्राणां मध्ये मन्त्राणामिति बहुवचनेन तेषामनेकत्वं ध्वनितम्

अत एव गुणराशिवद् गुणपरिवाहात्मनां जन्मनां न संख्या ।

बहवो नृपकल्याणगुणाः पुत्रस्य सन्ति ते।
तवानन्तगुणस्यापि षडेते प्रथमे गुणाः" ।
"बहूनि मे व्यतीतानि जान्मानि तव चार्जुन" ।

इत्याद्युक्तेर्भगवद्गुणा गुणपरिवाहरूपावताराश्च असंख्याता एव । एवं तत्तत्प्रकाशकमन्त्रविशेषाश्चाप्यनन्ता एव " अनन्ता वै भगवन्मन्त्राः "

इत्युक्तेः । रामस्य तन्निष्ठवैभवादेर्मननात् गुप्ततया भाष्यमाणत्वाच्च मन्त्रोऽति अतिशयेन श्रेष्ठः " मत्रि गुप्तभाषणे " इति स्मरणात् । रीयन्ते क्षीयन्ते इति राः क्षयिष्णव· " रीङ् क्षये '' इति धातोरौणादिके डप्रत्यये निष्पन्नरशब्दस्य क्षयिष्णुवाचिताभिधानाद्, राः क्षयिष्णवो न भवन्तीति रा नित्याः वेदव्यासो व्यास इत्यादाविव " विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयो र्लोपः' ' इति पूर्वपदभूतनञो लोपे ऽवशिष्यमाणपदेनैव लुप्यमानपदार्थ-घटितसमुदायार्थाभिधानात् । किं च प्रलये ऽपि भगवदाश्रयत्वेन निरन्तरं राजन्ते प्रकाशन्ते इति रा नित्याः "राजृ दीप्तौ" इत्यस्माद्धातोरौणादिके डे टिलोपे उक्ताभिमतार्थलाभात् तेषां राणां समूहा राः " तस्य समूहः" इति शैषिके रशब्दादणि " यस्येति च " इति प्रकृत्यकारलोपेन तत्सिद्धिः । ते च ज्ञानानन्दामलत्वादयो ज्ञानशक्त्यादयो वात्सल्यसौशील्या-दयश्च दिव्यात्मगुणाः दिव्यमङ्गलविग्रहः कान्तिसौकुमार्यादयो दिव्यमङ्गल विग्रहगुणाः दिव्यविभूषणानि दिव्यायुधानि दिव्यमहिष्य· नित्यसूरयः छत्रचामरादिपरिचरणसाधनानि द्वारपालका· गणाधिपा· मुक्ताः परमाकाशः मूलप्रकृतिः बद्धात्मानः काल· महदादिविकाराः अण्डानि अण्डान्तर्गतदेवा दिपदार्थाश्च । अत्र च ज्ञानादिकालान्ता· स्वरूपतोनित्याः । महदादय प्रवाहतो-नित्याः। तत्र स्वरूपतोनित्यत्वं नाम सत्त्वे सति उत्पत्तिविनाशात्यन्ताभाववत्त्वम प्रवाहतोनित्यत्वं तु उत्पत्तिविनाशयोग्यत्वे सत्येव पूर्वनामरूपानन्यथाभावव-त्त्वम् । आमः "अम् गत्यादिषु" इति धातोर्निष्पन्नोऽयमामशब्दः तथाहि गत्यर्थानान्धातूनाम्प्राप्त्यर्थत्वात् अम्यते प्राप्यते इत्यामः "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्'' इति सूत्रेणामतेः कर्मणि घञ् इति कर्मव्युत्पत्या स च प्राप्यवाची । अम्यतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या तु प्रापकवाची । यत्प्रयन्त्यभिसं-विशन्तीत्युक्त्या अमन्तिगच्छन्त्यस्मिन्नित्यधिकरणव्युत्पत्याऽऽश्रयाभिन्नाधार-वाची । तथा च राणां नित्यानां ज्ञानानन्दादीनामामः प्राप्यः प्रापक आधा-रश्चेति रामः । अनेन तस्य परत्वमभिव्यक्तम् । किं च रा आम आधारो यस्य स राम इति बहुव्रीहौ तु अनेनान्तर्यामित्वसौलभ्ये फलिते ।

नन्वत्र बहुव्रीहिसमासे प्रमाणं नास्तीति चेन्न ।

"अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनाना सर्वात्मा" ।

"अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्यनारायणः स्थितः" ।

"भवान्नारायणो देवः श्रीमाँश्चक्रायुधो विभुः" ।

"महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः" ।

इत्यादिवाक्यानामेकवाक्यतया नारायणो नारायणपदाभिधेयः श्रीरामः स्थित इतितदर्थः।

"यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः"
"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्टति
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया"
"सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टोमत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च"
"मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव"
इत्यादिवचनानामेव तत्र प्रमाणत्वात्। किंच तत्र
"ज्ञानादयोगुणाः सन्ति लक्ष्मीर्नित्यानपायिनी।
भूमिलीलादयोदेव्यः शेषाद्या नित्यसूरयः।
तद्धाम परमः कालः पुरुषः प्रकृतिस्तथा।
महदादिधरान्तानि सप्त चावरणान्यपि।
ब्राह्ममण्डं तदन्तस्था लोकाश्च सचराचराः।
एव मण्डान्यन तानि तत्सर्वं नारमुच्यते"।

इत्यत्र नारशब्देनाभिधीयमानानां ज्ञानादीनामिह रशब्देनैवाभिधाना त्तेषां ज्ञानादीनामामोनिवास इति राम इति सर्वमनवद्यम्

किंच—

"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः"
इति शक्तिग्राहकेषु व्याकरणस्य मुख्यतया
'नारास्त्विति सर्वपुंसां समूहः परिकीर्तितः।
गतिरालम्बनं तस्य तेन नारायणः स्मृतः"
"नारोनराणां संघास्तस्याहमयनं गतिः।
तेनास्मि मुनिभिर्नित्यं नारायण इतीरितः"
"नराज्जातानि तत्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः।
तान्येव चायनं तस्य तेन नारायणः स्मृतः"
"आपोनारा इतिप्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ताएव चायनं तस्य तेन नारायणः स्मृतः"
इत्यादि वचनैर्विध्रीयमाणनारायणपदेन श्रीराममुद्दिश्य
"भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधो विभुः"
इत्यादिभिः परमाप्तशिष्टतमवाल्मीकिमहार्षिणैव रामस्य विशेष्यतया

भिधानादत्र विवरणभूतवचनस्थनरशब्दस्य पृषोदरादित्वाद्रादेशेन चोक्तार्थोऽभिधीयते। तथाच नराणां समूहोरः "तस्य समूहः" इतिनरशब्दात्समूहेऽर्थेऽणि नरस्य रादेशे "यस्येति च" इत्यकारलोपे रस्य नरसंघातस्याभोगतिरालम्बनं वेतिरामः । नारा आप आमःशयनार्थ आश्रयो यस्य स राम इति विग्रहे जल वाचकनारशब्दस्य रादेश। अतएव कालमुखोक्तं श्रीराममुद्दिश्य

"महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः"
इति चतुर्मुखसंदिष्टवचनं संगच्छते।
"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तोजिज्ञासुरर्थोऽर्थी ज्ञानी च भरतर्षभ"

इति चतुर्विधस्वाश्रितेभ्योऽखिलान् धर्मार्थकाममोक्षान् राति ददातीति रामः। यद्वा महीस्थितः सन् राजते सर्वेभ्योऽधिकतरं राजते शोभतइति रामः। पृषोदरादित्वान्महीस्थितशब्दस्यादिवर्णशेषे इतरवर्णलोपे राजते राएव शेषः। यद्वा धर्मरक्षणपूर्वकशरणागतरक्षणाय राक्षसान्मारयतीति रामः। यद्वा राक्षसानां मरणं येन स राम इति बहुब्रीहौ पूर्वोत्तरपदयोरादिवर्णयो शेषे इतरवर्णलोपे

तथा च श्रीरामतापन्यामुक्तम्—

चिन्मयेऽस्मिन्महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ।
रघोः कुलेऽखिलं राति राजते योमहीस्थितः।
स राम इति लोकेषु विद्वद्भिः प्रकटीकृतः। राक्षसा येन मरणं यान्तीति"

अत एव रामोराक्षसमर्दनम् इति प्रसिद्धतरम्। एतेन श्रीरामस्याभयविभूतिनायकत्वमभिव्यक्तम् ।

तथा च वाल्मीकीय आरण्यकाण्डे प्रपत्तिपरायणैर्महर्षिभिरुक्तम्—

"ते वयं भवता रक्ष्या भवद्विषयवासिनः।
नगरस्थोवनस्थोवा त्वन्नोराजा सनातन" इति

व्याख्यातं चैतत्तथैव श्रीमधुराचार्य्यैः ते त्वत्प्रसादाज्ज्ञातभवत्सर्वोत्तमताका इति त्वत्संबन्धिनोवयं त्वत्पादार्पितस्वात्माद्यतया त्वदवलोकनामृतलाभाय त्वत्पुरस्तात्स्थितास्त्वदाज्ञाकाङ्क्षिणः केनापि याद्दच्छिकभाग्योदयेनापरोक्षीकृतेन भक्ताभीष्टं दातुं भवता विद्यमानेन निरवधिकासहायतेजसा वा भगवता कौशल्यानन्दनेन त्वया कृपारक्षणाय रक्षितुमर्हाः। अत्र

स्वतन्त्रस्य तवेच्छा यथा तथा भवत्विति कटाक्षितम्।तेन भगवति प्रणयकोपोऽपि सूच्यते । के यूयं कुत्रत्याश्च ज्ञात्वा रक्षेयमित्यत्राहुः भवदिति–

"सिंहस्कन्धं महाबाहुं पुण्डरीकनिभेक्षणम्।
पृथिव्याः सागरान्ताया भर्तारं धर्मचारिणम् ।
त्रैलोक्यमपि नाथेन येन स्यान्नाथवत्तरम्"

इत्याद्युक्तेश्च ये यत्र निवसन्ति ते तत्रैव विषयेषु वसन्ति न हि सर्वस्वामिनः स्वकीयवस्तुरक्षणे स्थानविशेषनियमो यागदानादिवदस्तीति तर्हि सर्वेऽपि त्वद्दासत्वमात्रेण रक्षितव्या भवन्ति । भवन्तु तावदेवालम् अनेन भगवत्परिगृहीतायोध्यादिवासिनां मोक्षोपायान्तराभावेऽपि निर्बाधा मोक्षसिद्धिरिति प्रतीयते भवतोभुक्तोच्छिष्टस्रक्चन्दनधूपपुष्पवासोऽलङ्कारभक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यपेयादिरूपविषयानेव वस्मह इति । भवत्संबन्धिरूपशब्दस्पर्शादिविषयसेविन इति वा अनेन भगवत्पादोदकप्रसादाशिनामनायासेन भगवद्रक्षाविषयत्वं भवतीति व्यक्तम् । इदानीमहं वनस्थोभवामि न राजा भवतां यदानगरस्थोभविष्यामि तदा मद्विषयवासिनोरक्षितव्या इति । अनेनोदासीनता भगवतः प्रतीता तस्मात्त्वदीयत्वाभिमानघटिततद्विषयवासित्वं तन्त्रं तदेवाहुर्नगरेति

"नहि तद्भविता राष्ट्रं यत्र रामोन भूपतिः ।
तद्वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति"

इत्याद्युक्त्या ज्ञायते सर्वेषां विषयाणां राजा स्वाभाविकोराजेति नहि तस्य स्वत्व केनाप्यपन्होतुं शक्यम् आभिमानिकराजत्वस्यावृत्तिः स्वराजत्वगोपननिवृत्तिश्च त्वमित्यनेन कृता । नहि करतलमणिवत्पुरस्तात्स्फुरति प्रमाणान्तरापेक्षास्तीति । अत्र वनं जलं महार्णवजलमित्यर्थः । तत्रस्थोयोराजा नः स त्वमेव पद्मनाभनामा यस्य नाभेर्ब्रह्माऽजायत

तदुक्तमुत्तररामायणे–

"पद्मे दिव्येऽर्कसदृशे नाभ्यामुत्पाद्यमामपि ।
प्राजापत्यं त्वया कर्म मयि सर्वं निवेशितम्" इति
"ताभिः परिवृतोराजा शुशुभे परमः पुमान् ।
सायोध्येति कीर्तिता" इत्यादिपुराणप्रसिद्धेरयोध्याख्यमहावैकुण्ठनगरस्थोयोराजा नः स त्वमेव । अनेन–

'जगृहे पौरुषंरूपं भगवान्महदादिभिः ।
संभूतं पोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया ।

एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्"

इत्यत्रोक्तोयः सर्ववतारावतारी प्रद्युम्ननामा कारणार्णवशायी पुरुषः नगरस्थशब्देन तस्याप्यवतारी भगवच्छब्दितस्त्रिपाद्विभूतिस्वामी साकेतनगरस्थो राजाऽपरपर्य्यायश्च पुरुषस्तयोरामस्वरूपैक्यं बोधितं। नगरस्थ इत्यनेन परमपदस्थकैङ्कर्य्यप्रार्थनं । वनस्थ इत्यनेन च प्रकृतिमण्डलस्थकैङ्कर्य्याकाङ्क्षा । अनेन–

"दासभूताः स्वतः सर्वे स्वात्मनः परमात्मनः ।
नान्यद्धि लक्षणं तेषां बन्धे मोक्षे तथैवच"

इत्याद्युक्तैः सर्वेश्वरजीवानां स्वभावस्वरूपसिद्धः शेषशेषिभावादिसम्बन्ध उक्तः । अत्र प्रार्थनं तत्प्राप्त्युपायत्वेन रक्षोभ्य इत्यनुपादानात नेदं दैहिकरक्षाभ्यर्थनं किन्तु स्वयमेवाविद्यादितो निर्मोच्यास्मभ्यं स्वानुभवानन्दजनितत्वच्चरणयुगलकैङ्कर्य्याणि प्रयच्छेत्यस्यैवमनुभवन्तोऽवगतमदैश्वर्यस्थानस्वभावादिकास्तपःप्रभावाच्च स्वयमेव स्वात्मनोऽसारससारान्मोचयितुं समर्थाभवथ इत्याशङ्क्याहुरिति। किच अश्च आश्च मश्च एतेषां समाहार आमं विष्णुब्रह्मेशसमूह

"अकारोवासुदेवस्स्यादाकारश्च पितमहः" इत्येकाक्षरकोशः "मकारः शंकरे प्रोक्त" इति च। राज्जातं रजातं तच्च तदामं चेति रामं शाकपार्थिवादित्वाज्जातशब्दलोपः जातार्थेशैषिकाणन्तरशब्देन बहुब्रीहिर्वा कर्मधारय पक्षे राममस्यास्मिन्वास्तीति राम. अर्शआद्यच् तदर्थोऽन्यपदार्थश्च दाशरथिः।अन्यथा समाहारस्य द्वन्द्वे प्राधान्याद्रामशब्देनदाशरथेर्वाच्यतानापत्तेः

तदुक्तं रामतापन्याम्–

"रेफारूढा मूर्त्तयः स्युः शक्तयस्तिस्त्र एव च" इति

अत एव वशिष्ठसंहितायामपि––

"यस्यानन्तावताराश्च कला अंशा विभूतय. ।
आवेशा विष्णुब्रह्मेशाः परब्रह्मस्वरूपभाः ।
स एव सच्चिदानन्दो विभूतिद्वयनायकः ।
वात्सल्याद्यद्भुतानन्तकल्याणगुणवारिधिः" इत्युक्तम्

अधिकरणकर्तृकर्मकरणव्युत्यापि रमधातुनिष्पन्नोरामशब्दः परमप्राप्यस्वरूपपर. । उक्तं च वेदार्थसंग्रहे श्रीभाष्यकारैः अकारार्थविवरणे स्वारस्यमपि तत्र दर्शितं सुदर्शनाचार्यैः. रामो वामनइत्यनुक्त्वा उपेन्द्रोदाशरथिरिति नरशब्दस्थानिक रपूर्वकामधातुनिष्पन्नोरामशब्दइत्यभिप्रेत्यैव

"महर्षे ! त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवं विधं नरम्" इति

नरत्वेन वाल्मीकिप्रश्नस्योत्तरमपि "तैर्युक्त श्रूयतां नर" इत्युक्त्वा "इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामोनामे"तिनारदेन दत्तम्। अत एवाचार्य्यैः श्रीमद्रामायणे मन्त्रार्थत्वेन व्याख्यानम् ।

किञ्च—

"रश्च रामेऽनिले वन्हौ भूमावपि धनेऽपि च ।
इन्द्रिये धनरोधे च भूये रश्च प्रकीर्त्तितः"

इत्युक्तेः रं वह्निसूर्य्यादितेजोऽमतिसकललोकहितार्थं प्रकाशकत्वेन प्राप्नोतीति रामः । जगत्प्रकाशकसूर्य्यादीनामपि तेजः प्रकाशक इत्यर्थः ।

अत एवेममर्थं "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति श्रुतिरप्यनुगृह्णाति ।

स्मृतिरपि—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्" इति

अत एव च—

"सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः,,

इति रामायणेऽप्युक्तम्,तदेतत्सकलमभिप्रेत्य व्यापक आश्रयः प्राप्यः प्रापकश्चेति विशेषणचतुष्टयमित्याह । तादृशरामस्वरूपप्रतिपादकत्वान्मन्त्रोऽपि तस्य तादृगेवेति भावः । तत्र हेयप्रत्यनीकगुणगणाकरत्वे नित्यत्वे च सति स्वेतरनिखिलवस्तुमात्रवृत्तित्वं व्यापकत्वम्।भगवद्भगवन्मन्त्रेतरावृत्तित्वे सति भगवद्भगवन्मन्त्रवृत्तित्वमेवात्राश्रयत्वम्।नित्यशरण्याखिलप्रकाशकाभिन्नदिव्यकल्याणगुणगणाकरत्वे सति जगज्जन्मादिहेतुत्वं प्राप्यत्वम् । अनुगुण-निखिलार्थसाधकत्वं प्रापकत्वम्।प्रचुरतरा अनन्ता ये हेयप्रत्यनीककल्याण-गुणा वात्सल्यादयःतेषां नित्यानां ज्ञानशक्त्यादिकानां चाश्रय इत्यर्थः । वात्सल्यादीनां स्वरूपं त्वग्रे वक्ष्यते ।

"रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनाऽसौ परं ब्रह्माऽभिधीयते" ।

इति तापनीवचनानुगुण्यात्सर्वैर्गुणैर्योगिनो रमन्तेऽस्मिन्निति रामः । अधिकरणे घञ् । कारुण्यादिभिः स्वगुणैः स्वस्मिन् नित्यमुक्तादिभेदेन पञ्चविधान् जीवान् रमयतीति रामः।"अकर्तरि च" इति कर्तृभिन्ने कारके घञोविधानेऽपि "रामोरमयतां वरः" इति वाल्मीकीयवचनात् ।

"रमते सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च"

इति महर्षिवचनाच्च बाहुलकात् कर्त्तर्य्यपि घञ्।

किं च—

"रसो वै रसः रस ँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"

इत्युक्त्या यं प्राप्य नित्यमुक्ता योगिनो रमन्ते इति रामः। यद्वा स्वेनैव स्वस्मिन् सर्वान् रमयतीति रामः।

अत एवोक्तम्—

"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते" इत्यादि।

तथा च अशेषचेतनाचेतनरमयितृत्वेनापि व्यापकत्वमभिव्यज्यते। अत एव च

"अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः" इत्यादि।

"वृक्षे वृक्षे च पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम्।

रामभूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे"

इत्यादि च श्रीमद्रामायणेऽप्युक्तम्। किञ्च योगिरमणाधारतयाऽऽश्रयत्वादिकमपि तथा। कथंभूतो राममन्त्रः श्रुतीनां वेदानां मुनीनामृषीणां च सुमतः।

रामोत्तरतापिन्यां श्रुतयस्तावत्—

"जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासौ अमृतीभूत्वा मोक्षीभवति। अथैनं भारद्वाजः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं किं तारकं तरति सहोवाच याज्ञवल्क्यः तारकं दीर्घानलं बिन्दुपूर्वकं दीर्घानलं पुनर्मायनमः" "तारकत्वात्तारकोभवति। तदेव तारकं ब्रह्म त्वं विद्धि। तदेवोपास्यमिति ज्ञेयम्। गर्भजन्मजरामरणसंसारमहाभयात्संतारयतीति तस्मादुच्यते षडक्षरं तारकमिति। य एतत्तारकं ब्राह्मणो नित्यमधीते। स पाप्मानं तरति। स मृत्युं तरति। सब्रह्महत्यां तरति। स भ्रूणहत्यां तरति। स वीरहत्यां तरति। स सर्वहत्यां तरति। स संसारं तरति। स सर्वं तरति। सोऽविमुक्तात्माश्रितो भवति। स महान् भवति सोऽमृतत्वं च गच्छतीति"।

सामवेदे पिप्पलायनशाखायाम्—

"ओमथाह भारद्वाजो याज्ञवल्क्यं। स होवाच श्रीराममन्त्रस्य माहात्म्यं नो ब्रूहि भगवन् स होवाच याज्ञवल्क्यः। स्वप्रकाशः परंज्योतिः स्वानुभूत्येकचिन्मयः। तदेव रामचन्द्रस्य मनोराद्यक्षरं स्मृतम्। अखण्डैकरसानन्दस्तारकं ब्रह्मसञ्ज्ञकम्। रामायेति स विज्ञेयः स यानन्दचिदात्मकः। नमः पदं स विज्ञेयः पूर्णानन्दैकविग्रहः। सदा नमन्ति हृदये सर्वे देवा मुमुक्षव इति। य एवं

मन्त्रराजं श्रीरामचन्द्रस्य नित्यमधीते। सोऽग्निना पूतो भवति। स वायुना स आदित्येन स सोमेन स ब्रह्मणा स विष्णुना स रुद्रेण पूतो भवति। स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। तेनेतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि भवन्ति। प्रणवानामयुतकोटि जप्तं भवति। दशपूर्वान्दशापरान्पुनाति। स हि क्रियावान्भवति। स महान्भवतीति"।

ऋग्वेदे मन्त्ररामायणेपि—अष्टक.८अ ६व.११ में १अ.९सू.१२

*"सचन्त यदुषसः सूर्य्येण चित्रामस्य केतवो रामविन्दन्।
आयन्नक्षत्रं ददृशे दिवो न पुनर्यतो न किरद्धानुवेद इति"॥ ७॥

अस्य मन्त्रस्य नीलकण्ठीयभाष्यम्

* ईदृश ज्ञाने हेतुमुपासनामाह—सचंत इति। केतवो ज्ञानवन्तोऽस्य रामस्य रां संपदम् ऋचः सामानि यजूंषि—"सा हि श्रीरमृता सताम्" इति श्रुतां त्रयीं तत्सारभूतप्रणवरूपां शब्दतोऽर्थतश्चाविन्दन्, यस्त्वत्र शब्दमय्यां सम्पदि उकारो नास्तीति मन्यते, तं प्रत्येवं वदेत्, यत् यतः उषसः उषसम् उषो वदल्पप्रकाशं विराजम् अकाररूपं सूर्य्येण पूर्णप्रकाशेन हिरण्यगर्भेण उकाररूपेण सचन्त ऐक्यमनयन्, कार्य्यत्वसामान्यादकारमध्ये एव उकारस्याऽन्तर्भावो बोध्यः॥ एवमपि अमित्येवापेक्षितं न तु रामित्यत आह—चित्रामिति। चित्रभानुत्वाच्चित्रो अग्निः रेफः सोऽस्यामस्ति चित्रा सस्वरशब्दवर्ती ततः सवर्णादीर्घे रामित्यर्थः॥ चित्रशब्दान्मत्वर्थीये अर्श आद्यचि टाप्। एवं च रेफार्थेनाग्निनाचिदाभासेन सहितानि समष्टिस्थूलसूक्ष्मकारणानि रामित्यनेन दर्शितानि, अर्द्धमात्रा तु प्रणववदत्राप्यन्तरस्ति, यां रां केतवोऽविन्दन् सा पुनर्ददृशे रामिति रेफाकारमकाराः पुनर्दृश्यन्त इत्यर्थः तत्र दृष्टान्तो—दिवो नेति। नेत्युपमार्थः। दिवः स्वप्नाः स्वल्पं प्राप्य यथा जाग्रद्दृष्टमेवार्थजातं पुनस्तत्सदृशं दृश्यते, तद्वत्समष्टित्रयवाचकात् रांपदात् क्रमेण सद्व्यष्टिस्थूलसूक्ष्मकारणवाचि रामिति पदं पुनः पठेदित्यर्थः॥ अस्य विशेषणम् आयन्नक्षत्रमिति। आ इति स्वरूपं य इवाचरतीति यत् आचारक्विबन्तात् यत् प्रातिपदिकात् कर्तरि क्विबिति तस्मिँस्तुक्। तेन य इति स्वरूपं सिद्धम् इदं वर्णद्वयं द्वितीयेन रामित्यनेन सह पठितं चेत रामायेतिचतुर्थ्यन्तं नाम भवति, नक्षत्रपदेन मुख्यत्वाच्चन्द्रः तेनाऽस्य कारणम् "हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमाः" इति श्रुतिप्रसिद्धं हृदयं गृह्यते। यथा-"तान्नमसृजन्त इत्यन्न शब्देन पृथिवी तद्वत् तेनागमप्रसिद्धोहृदयशब्दार्थो नमः शब्द उद्धृतोभवति। एषां सर्वेषां वर्णानां संकलनेन रां रामाय नमः इति उद्धृतो वेदितव्यः। एतत्फलमाह—यतो नकिरद्धानुवेदेति। यत इति तस्य यतमानस्य यतेः नकिः न किरति इतस्ततो विक्षिप्यत इति नकिः

बृहदारण्ये च—

"यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" इति ।

श्रीमद्रामायणेऽपि—

"स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः।
सीतामुवाचातियशा राघवं च महाव्रतम्" इति ।

श्रीमद्भागवते च—

'यस्यामलं नृपसदः सुयशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्।
तन्नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टं पादाम्बुजं रघुपतेः शरणं प्रपद्ये ,इति ।

अविक्षिप्तं मनः श्रद्धा साक्षात् नु निश्चितं वेद जानति एनं मन्त्रं जपन्नेनदर्श मनसा साक्षात् करोतीत्यर्थः ॥ "मनसैवेदमाप्तव्यम्" इति श्रुतेः मंत्रार्थस्तु रां रां चासौ आश्चेति रां रामः तस्मै रामाय नमस्करोमि प्रह्वो भवाम्यहम्—"तत्राकारे वै सर्वा वाग्" इति श्रुतेः । अर्धमात्रागर्भितौ साभासौ व्यष्टिसमष्टित्रिकौ अकारार्थः ईप्सिततमत्व चतुर्थ्यर्थः । तच्च नत्रान्वितमपि नान्तः प्रज्ञमित्यादि— "स आत्मा स विज्ञेयः" इत्यन्तश्रुत्या इतरेषां द्वादशानां निरस्तत्वेनार्धमात्रार्थो त्रयोदश एव पर्यवस्यति । तेन नम्यत्रयं नन्तृत्रयं नतिश्चैतेषां प्रकाशार्थं यदी- प्सिततममर्धमात्राख्य वस्त्वहमस्मीति तत्र—"नान्तः प्रज्ञाम्" इति सौत्रस्य चिदा भासस्य निरासः—"न बहिः प्रज्ञम्" इति वैराजस्य नोभयतः प्रज्ञमित्युपहितानु- पहितोभयस्वरूपदर्शिन ऐश्वरस्य न प्रज्ञमिति तस्मद्दूषणत्वेऽपि तदन्यस्य तैजसी यस्य—" न प्रज्ञानघनम्" इति विशेषविज्ञानहीनस्य प्राज्ञीयस्य, तथा—"अदृष्टम्" इति दृष्टसजातीयस्य सौत्रस्योपाधेः "अव्यवहार्यम्" इति व्यवहारार्हस्य बैजोपाधेः "अग्राह्यम्" इति योगिग्राह्यस्यैश्वरोपाधेः, "अलक्षणम्" इति विशेषलक्षणवतो वैश्वोपाधेः, "अचिन्त्यम्" इति चिन्तानिर्वर्त्यस्य तैजसोपाधे. । "अव्यपदेश्यम् " इति "न किञ्चिदवेदिषम्" इति व्यपदेशार्हस्य प्राज्ञोपाधेः । "एकात्म्यप्रत्ययसा- राम्" इति षण्णामाभासानां प्रपञ्चोपशममिति षण्णामुपाधीनामद्वैतमिति सर्वेषां निरासः । शिवमित्यर्थमात्रार्थानन्दमात्रस्य परिशेष इति विभा- गो ज्ञेयः ॥ अष्टक. ८ अ. ६ व. ११ म. १० अ. ९ सू. १२ मन्त्रः ७ ।

तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र यत्तेजनिम चारु चित्रम् ॥ पदं यद्विष्णोरुपमं निधायि तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम् तृतीयेऽष्टके अ. ८ व. १६ म. ५ अ. १ सू. ३ ३मन्त्र॰ १।

मुनयोऽपि अगस्त्यसंहितायाम्—

"सुतीक्ष्ण! मन्त्रवर्गेषु श्रेष्ठो वैष्णव उच्यते ।
गाणपत्येषु शैवेषु शाक्तसौरेष्वभीष्टदः ।
वैष्णवेष्वपि सर्वेषु राममन्त्रः फलाधिकः ।
मन्त्रराज इति प्रोक्तः सर्वेषामुत्तमोत्तमः" इति।
इदं च प्रमाणमतिश्रेष्ठं प्रधानमिति विशेषणद्वयेऽपि बोध्यम् ।

बृहद्ब्रह्मसंहितायां च—

"श्रीराममन्त्रराजस्य माहात्म्यं गिरिजापतिः ।
जानाति भगवाँच्छम्भुर्ज्वलत्पावकलोचनः" इति ।

हारीतेऽपि—

"तस्य श्रवणमात्रेण सर्व एव दिगम्बराः ।
अनन्ता भगवन्मन्त्रा नानेन तु समाः कृताः " इति।

शारदातिलकेऽपि—

"वेदानां च यथा सामवेदश्चो जायते वरम् ।
तथा समस्तमन्त्राणां राममन्त्रः प्रकीर्तितः " इति ।

स्कान्देऽपि—

"विश्वरूपस्य ते राम विश्वशब्दा हि वाचकाः।
तथैव मूलमन्त्रस्ते विश्वेषां बीजमक्षयम् ।

एतस्य मुख्यमुपासकं रुद्रं स्तुवन्ति—तव श्रिय इति । हे रुद्र हे हनुमन् तव श्रिये त्वदविगतसम्पत्प्राप्त्यर्थम् राजविद्यावाप्त्यर्थं मरुतो देवा मर्जयन्त शोधयन्ति, तपोध्यानादिनात्मानं यत् यतस्ते तव जनिम जन्म चारु रम्यं यतस्त्वया चित्रं पद रेफाख्येणाग्निना युक्तम् 'चित्रामस्य केतवो रामविन्दन्, इत्युदाहृतमंत्रे प्रसिद्धं रामित्येवं रूपं विष्णोरुपम विष्णुवाचकस्य पदस्य समीपे दृश्यमानम् यथा स्यात्तथा निधायि न्यधायि निहितम् अत्र "गं गणपतये नमः, दु दुर्गायै नमः इति, मन्त्रशास्त्रमर्यादया रामितरा समीपे गपूर्वकमेव'विष्णुवाचिपदं निधेयम्—तच्च राघवादिपदेभ्यः शीघ्रतरं रामपदमेव वर्णसारूप्याधिक्याद्धुपस्थितं भवति, तेन रामपदेन सह नाम नमन्त्यनेनेति नाम नतिवाचिपदम । उपासिनामविशिनष्टि गोनां गुह्यमिति । गोनामिन्द्रियाणां गूहनस्थानं हृदयमित्यर्थः । तेन हृदयशब्दितं नमः पदमुद्धृतं भवति, तद्योगाच्च रामपदादपि चतुर्थी भवति, तेन 'रां रामाय नमः " इति त्र्यक्षराण्युद्धृतानि भवन्ति । यतस्त्वया चित्रपदं विष्णोरुपमं निधायि, तस्मात्तेन सह गोनां गुह्यनाम पाति, अतस्ते जनिम चार्वित्यन्वयः ।

अचिन्त्योऽयं महाबाहो ! मन्त्रश्चिन्तामणिर्विभो ! ।
विहायैनं विमूढात्मा ततश्चेतश्च धावति" इति ।

अगस्त्योऽपि—

"मन्त्ररूप प्रवक्ष्यामि शृणु नारद ! तत्परः ।
रकारादिमकारान्तं मन्त्रं षड्वर्णसंयुतम् ।
षडक्षरात्मकं मन्त्रं तारक ब्रह्मसञ्ज्ञकम्" इत्याह ।

शिवसंहितायाञ्च—

"अहं दिशामि ते मन्त्रं तारकं ब्रह्मसञ्ज्ञितम् ।
एष मन्त्रश्च विज्ञेयस्तारकश्चेति सञ्ज्ञितः ।
कल्पद्रुम इति ख्यातः साधकानां फलप्रदः ।
सर्वेषां मन्त्रवर्याणां श्रेष्ठो वैष्णव उच्यते ।
तेषु वैष्णवमन्त्रेषु राममन्त्रः फलाधिक." इति ।

सनत्कुमारसंहितायामपि—

" श्रीरामेति परं जाप्य तारकं ब्रह्मसञ्ज्ञकम ।
ब्रह्महत्यादिपापघ्नमिति वेदविदोविदुः" इत्याहुः ।

तत्र गर्भवासजन्मजरामरणादिरूपसंसारमहाभयादुपासकान् तारयति मोचयतीति तारकमिति श्रीमन्त्रराजस्य राममन्त्रस्य षडक्षरात्मकस्य परमजाप्यत्वमिति बोध्यम् । पुन. कीदृशो राममन्त्र' शिष्टानां मुख्याः शिष्टमुख्यास्तै' शिष्टमुख्यैः शिवागस्त्यसुतीक्ष्णशरभङ्गसुदर्शनप्रभृतिभिः परमाप्तैः परितोगृहीतः ।अनेन परमशिष्टपरिगृहीतत्वमस्य श्रीराममन्त्रस्याभिहितम् । तत्रशिष्टमुख्यत्वं नाम-भ्रमप्रमादलिप्साशून्यपरमात्माभिन्नयथार्थदर्शित्वे सति यथार्थवादित्वम् । तत्र हेतुमाह उरुशुभ इति । उरु महत् कदाप्यक्षय्यं शुभं कल्याणं यस्मात् स उरुशुभो मोक्षप्रद इति यावत् अत्रेद तत्त्वम यथाष्टाक्षरो मन्त्रः प्रणवेन सार्धमेवाष्टाक्षरोभवति यदा तदैन वैदिकत्वं तत्रैव त्रैवर्णिकानामधिकारोभवति ।यदा तु प्रणवरहितस्तदा तान्त्रिकत्वं तत्र सर्वेषां वर्णानामधिकारित्वमस्ति ।

तथाचोक्तम्—

"वैदिकं ब्राह्मणानां स्याद्राज्ञांवैदिकतान्त्रिके ।
तान्त्रिकं वैश्यशूद्राणां सर्वेषां तान्त्रिकन्तु वा ' इति ।

इदं च वचनं प्रायिकं ब्राह्मणप्राशस्त्यपरम्। शूद्राणां वैदिकानधिकारपरञ्च वैश्यानामपि वैदिकेऽप्यधिकारात्।

किञ्चात्रान्यदपि—

"न स्वरः प्रणवोऽङ्गानि नाप्यन्यविधयस्तथा।
स्त्रीणां च शूद्रजातीनां मन्त्रमात्रोक्तिरिष्यते"।

इति प्रभृति वचनशतमत्रानुसन्धेयम्। एवञ्च स्त्रीशूद्रेभ्यो गुरुभिः प्रणवविरहितस्यैवोपदेशः कर्त्तव्य इति फलितं भवति। न च तद्विरहे मन्त्रस्याष्टाक्षरता कथमिति वाच्यम् अमित्येतत्पूर्वकोच्चारणेन तत्सिद्धेः।

"अभावे प्रणवस्यादौ मूलमन्त्रस्य तत्र तु।
अमित्येतत्समुच्चार्य तेनाष्टाक्षरता भवेत्"

इत्यभियुक्तोक्तेः। तथा तारकमन्त्रोपि प्रणवि रांबीजेन सार्द्धमेव षडक्षरोभवति। तत्र ब्राह्मणादित्रितयस्यैवाधिकारः वैदिकत्वात्। बीजविरहिते तान्त्रिके तु सर्वेषां स्त्रीशूद्रादीनामप्यधिकारित्वमस्तीति बोध्यम्। तद्रहिते षडक्षरता तु तस्य श्रीशब्दोच्चारणेन सम्पादनीयम्। न च तद्रहिते तस्य तारकत्वाभावः।

"श्रीराममिति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसञ्ज्ञकम्" इत्युक्तेः।
"मुमुक्षोर्मणिकर्णिकायामर्धोदकनिवासिनः।
रुद्रस्तु तारकं ब्रह्म व्याचष्टे" इतिश्रुतौ।
"सर्वेषामधिकारो वै ज्ञातव्योदेशिकोत्तमैः।
इत्याद्या अन्य सन्ति स्मृतियश्च सहस्रशः।
एतदेव विनिर्मुक्ते श्रीरुद्रः कथयति स्वयम्"

इत्यादिषु चेत्थमेव व्यवस्थेति बोध्यम्। वस्तुतस्तु सत्सङ्गाद्भगवन्मनस्कभगवत्तत्त्वजिज्ञासुगुरून् प्रपित्सूनाम्—

"विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्
मन्ये तदर्पिततदृशो वचने हितार्थप्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरिमानः"
"अहोवत एव श्वपचोऽतोगरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपो जुहुवुः सस्नुरार्य्या ब्रह्मान्नूचुर्नाम गृणन्ति ये ते"

इत्याद्युक्तरीत्याभीर-कङ्क-पुष्कस-यवन-खस-श्वपचप्रभृतीनामपि परमपावनकारि भगवन्नाम विवक्षूणामत एव यज्ञाद्यर्हाणां विधिवत्परीक्ष्य श्रद्धावतां चक्रादिभगवदायुधसंस्कृतानां भगवत्संमुखानां स्त्रीशूद्राणामप्यत्राधिकारित्वे बाधकाभाव इति सुधियोविभावयन्तु। किञ्चैवमेव संस्कारानर्हस्यापि

तिरश्चो जटायुषो गृध्रस्यासंस्कृतभक्ष्याभक्ष्यमांसाशिनो भगवदर्थसमर्पितशरीरस्य पितृमेध्यविधानेन संस्कारकरणं भगवता श्रीरामेण तदर्थं पिण्डप्रदानं वैदिकयाम्यसूक्तस्य जपकरणं चारण्यकाण्डस्थं सङ्गच्छते। एवमन्यदप्यूह्यमित्यलम्॥११॥

भाषा०—परमैकान्तिक श्रीवैष्णवों के प्राण धन श्रीराम रहस्यत्रय का स्वरूपको दिखलाकर अग्रिम ग्रन्थ से उसका वैभव को दिखलाते है।

इन—अखिल निगमागम प्रति पादित मन्त्रों में, भगवान—जगज्जन्मादि कारण परब्रह्म—के मन्त्र, श्रेष्ठ, और उसमें भी अव्यापक मन्त्रों से व्यापक मन्त्र श्रेष्ठ है। इन व्यापक मन्त्रों का भी व्यापक, श्रुति मुनि सम्मत, शिष्ट मुख्यों—अगस्यादि मुनि श्रेष्ठों से गृहीत, नित्य और प्रचुरतर गुण, ज्ञान एवं शक्त्यादि का आश्रय एवं प्रापक, परम शुभ, सभी व्यापक मन्त्रों से प्रधान जो राममंत्र वह आचार्यों से प्राप्त करने योग्य है॥११॥

यावद्वेदार्थगर्भं प्रणवि जगदुदाधारभूतं सविन्दु
सुव्यक्तं रामबीजं श्रुतिमुनिगदितोत्कृष्टषड्व्याप्तिभेदम्
रेफारूढत्रिमूर्त्ति प्रचुरतरमहाशक्ति विश्वोन्निदानम्
शश्वत्संराजते यद्विविधसकलसंभासमानप्रपञ्चम्॥१२॥

अन्वयप्र०—यावद्वेदार्थगर्भम् (सकलवेदार्थगर्भम्) प्रणवि (प्रकर्षेण नूयते स्तूयते उपास्यते वाऽनेनेति प्रणवः स विद्यते ऽस्मिन्निति प्रणवि। प्रणव ओङ्कारो यस्य कार्य्यमित्याशयः) जगदुदाधारभूतम् (जगतामुत्कृष्टाधारभूतम्) सविन्दु (जलबिन्दुवद् बिन्दुसहितम्) सुव्यक्तम् (उत्पादितसंस्कारम्) श्रुतिमुनिगदितोत्कृष्टषड्व्याप्तिभेदम् (यस्योत्कृष्टानां नाम-रूप-यशो-गुण-स्वरूप-मन्त्राणां षण्णां व्याप्तिभेदा व्यापकत्वभेदाश्च वेदैर्महर्षिभिश्च कथिताः) रेफारूढत्रिमूर्त्ति (रेफाश्रिता विष्णु-विरञ्चि-

शम्भ्वात्मकह्रस्वाकारदीर्घाकारमकाररूपाः तिस्रोमूर्तयोवर्णा यस्य बीजस्य सन्तीति वेद्यम्) प्रचुरतरमहाशक्ति (सृष्टिस्थितिसंहार करणशीलनिरतिशयमहाशक्तिमत्) विश्वोन्निदाम् (जगतामुत्कृष्ट कारणम्) विविधसकलसम्भासमानप्रपञ्चम्(अण्डजपिण्डजोष्मजादि भेदेनानेकप्रकारकभासमानाखिलप्रपञ्चाधिकरणम्) यत् रामबीजम् (रामस्य परब्रह्मणो बीजं "रां" रूपं तत् पूर्वोक्तविशेषण विशिष्टं बीजं) शश्वत् (सततम्) संराजते (अखिलनिगमागम-प्रतिपादितमन्त्राणां सम्राडस्तीतिभावः) ॥ १२ ॥

अथ चिकीर्षितमन्त्रजपस्य मन्त्रार्थानुसन्धानपूर्वकत्वाद्रामित्येतद्बीज-प्रतिपाद्यं जगज्जन्मादिकारणभूतं ब्रह्म दर्शयति । अथ स्वप्रकाशचै-तन्यस्य वस्तुनो मायातीतस्य रामाख्यपरमात्मनस्त्रिगुणात्मक-जगत्सृष्टिस्थितिलयकारणत्वं दर्शयन्नेव रामाभिन्नमन्त्रराजावयवस्य रामिति बीजस्यार्थं प्रतिपादयति–यावद्वेदेति । यत् रामबीजं तारकमन्त्ररा-जस्यादौ स्थितं रामिति बीजं तत् शाश्वत् राजत इत्यन्वयः। कीदृशं रां बीजं यावद्वेदार्थगर्भं यावद्वेदार्थाः सकलवेदार्था गर्भे यस्य तत्। ननु रामिति बीज-स्य यावद्वेदार्थगर्भत्वं कथं प्रतीयत इति चेत् शृणु सर्ववेदमयगायत्र्यां देवस्य सवितुस्तदभिन्नभर्गशब्देनानेकविधमाहात्म्यविशिष्टः सूर्यमण्डलनिष्ठदेवः पुरुषोत्तम श्रीराम उच्यते ।

तथाचोक्तं सनत्कुमारसंहितायाम्–

"सूर्यमण्डलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम् ।
नमामि पुण्डरीकाक्षममेयं गुरुतत्परम्"इति।

ननु—

"ध्येयःसदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टः।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान्किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्रः" ।

इतिभविष्योत्तरवचनान्नारायणस्तथा प्रतीयत इति चेन्न तयोरेकत्वा-भिधानस्यानुपदमेव वक्ष्यमाणत्वात् ।

योगियाज्ञवल्क्योप्याह–

"भ्रस्जपाके भवद्धातुर्यस्मात्पाचयते ह्यसौ ।
भ्राजते दीप्यते यस्माज्जगच्चान्ते हरत्यपि ।

कालाग्निरूपमास्थाय सप्तार्चिःसप्तरश्मिभिः।
भ्राजते यत्स्वरूपेण तस्माद्भर्गः स उच्यते।
तथा भेति भीषयते लोकान् रेति रञ्जयते प्रजाः।
ग इत्यागच्छति जलं भगवान्भर्ग उच्यते" इति।

सविता च सर्वभावानां प्रसविता उत्पादकोपि स एव "षूङ् प्राणिप्रसवे" इति स्मरणात्।

तथोक्तं तेनैव—

"सविता सर्वभूतानां सर्वभावान्प्रसूयते।
सवनात्पवनाच्चैव सविता तेन उच्यते" इति।
"दीव्यते क्रीडते यस्माद्रोचते द्योतते दिवि।
तस्माद्देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदैवतैः"।

इतिवचनाद् दीप्तिक्रीडादियुक्तो देवोपि स एव। न चात्र मन्त्रे सवितृभर्गयोर्भेदप्रतीतेः कथमत्र तयोरभेद इति वाच्यम् आपाततो भेदप्रतीतावपि परमार्थविचारतोऽभेदस्यैवाभिधानात्। न च नीलोघट इतिवदभेदे प्रथमाया एवोचितत्वात्षष्ठ्यर्थोऽत्रानुपपन्न इति वाच्यम् तत्रौपाधिकभेदमाश्रित्य राहोःशिर इतिवद्भगवत्पतञ्जलिना षष्ठीसाधनस्याप्युपपादितत्वात। तथा च स एवात्र रामिति बीजे रशब्देनाभिधीयत इति सिद्धमस्य यावद्रूदार्थगर्भत्वम्। किञ्च "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" "जन्माद्यस्ययत" इत्यादिभिरभिधीयमानो हेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणगणैकतानोजगज्जन्मादिकारणभूतो भगवान्नारायणोदेव इत्याद्युक्तं नारायणविष्णुवासुदेववामननृसिंहाद्यभिन्नः परब्रह्माभिधानः सीतापतिः श्रीराम एवात्र रेणाभिधीयत इति स्पष्टतस्तत्सिद्धम्। किञ्च तत्त्वमसीति वाक्येनाधीयमानस्य संबन्धावच्छिन्नस्य रमाभ्यामभिधानात्तत्सिद्धम्।

तदुक्तं शिवसंहितायाम्—

"आद्यस्तु तत्पदार्थः स्यान्मकारस्त्वंपदार्थवान्।
तयोः संयोजनमसीत्यात्मतत्त्वविदो विदुः" इति।

किञ्च—

"यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं वेदांश्च सर्वान् प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देव मात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये"।

इतिश्रुतौ दीव्यन्ति रमन्ते योगिनोऽत्रेतिव्युत्पत्त्या रमधातुसमानार्थदिवधातोर्बाहुलकादधिकरणे घञि। दीव्यति रमतेऽन्तर्यामितया-

सर्वभूतेषु इति वा पचाद्यचि। दीव्यति स्वात्मनीति वा। देवयति जन्मादिदातृत्वेन रमयति भूतानीति वा। देवयति प्रलये स्वकुक्षौ स्वापयति भूतानीति वा "भवान्नारायणोदेवः" इत्याद्युक्तरीत्या दीव्यते स्तूयते ब्रह्म पुरःसरैः सुरैरिति वा। "अकर्त्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम्" इति कर्मणि घञ्। चराचरेषु दीव्यति द्योतते व्याप्नोतीति देवो राम इत्यर्थकदेवशब्देनाभिधीयमानश्चतुर्मुखोत्पादकः सर्वशरण्यः श्रीरामोऽत्र रेणोच्यत इति स्पष्टत एव तत्सिद्धम्। महदाद्यन्तर्यामित्वेनाप्सुशयनाच्च राम एव नारायणशब्दवाच्यः

"नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः।
तानि ह्यस्यायनं यस्मात्तेन नारायणः स्मृतः"
"आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृत" इति स्मृतेः

श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीयेऽपि—

"संक्षिप्य हि पुरा लोकान्मायया स्वयमेव हि।
महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः।
ततस्त्वमसि दुर्धर्षस्तस्माद् भावात्सनातनात्।
रक्षां विधास्यन्भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान्

इति श्रीरामं प्रति ब्रह्मणोक्तत्वाच्च। एवञ्च तत्र तत्र प्रदर्शितबहुवाक्यानामेकवाक्यतया श्रीरामस्यैव तत्तद्रूपधारित्वान्नारायणादिशब्दवाच्यत्वमवगम्यते। अत्रेदं तत्त्वं "नराज्जातानि तत्त्वानि" "आपो वै नरसूनवः" "नरतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातन" इतिवचनैर्नरशब्दवाच्य एव स्वजाततत्त्वेषु महदादिषु अप्सु चायनकरणान्नारायण इति संज्ञामवाप्तः" इति प्रतिपत्त्या महर्षिवचनात् श्रीराम एव महदाद्यन्तर्यामित्वेनाप्सु शयनाच्च नारायण इतिसंज्ञां प्राप्तवानित्यवगम्यते द्वयोः परमकारणत्वासंभवेन प्रदर्शितबहुवाक्यानामेकवाक्यतया वाक्यार्थाभिधानस्यौचित्यात् सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन कारणवाक्यानामेकस्मिन् पर्यवसानस्य युक्तत्वाच्च।

स्कान्देपि—

"विश्वरूपस्य ते राम विश्वशब्दा हि वाचकाः।
तथापि मूलमन्त्रस्ते विश्वेषां बीजमक्षयम्" इति।

स्मृतयश्च—

"अजेन विश्वरूपेण निर्गुणेन गुणात्मना।
सगुणो निर्गुणो विष्णुर्ज्ञानगम्यो ह्यसौ स्मृत"

नहि तस्य गुणाः सर्वेसर्वैर्मुनिगणैरपि ।
वक्तुं शक्यावियुक्तस्य सत्वाद्यैरखिलेर्गुणैः" इति

किञ्च अज आनन्दरूपो नित्यो ऽणुरव्यक्तोऽचिन्त्योनिरवयवो निर्विकारोज्ञानाश्रय ईश्वरनियम्यो धार्यः शेषभूतश्चात्मा चिच्छब्दाभिधेयः। तथा द्रव्यं ज्ञानशून्यं विकारास्पदं च शुद्धसत्वमिश्रसत्वसत्वशून्यभेदात्त्रिविधमेतदचिच्छब्दाभिधेयम्। तथा निखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणोज्ञानानन्दैकस्वरूपोज्ञानशक्त्याद्विभूषितः सकलजगत्सर्गस्थितिलयकर्ता आर्तजिज्ञास्वर्थार्थिज्ञानिरूपचतुर्विधाधिकारिसमाश्रयणीयो धर्मार्थकाममोक्षाख्यचतुर्विधफलप्रदो महालावण्याद्यास्पद विलक्षणविग्रहयुक्तो लक्ष्मीभूमिलीलानायकश्चेश्वरशब्दाभिधेय इति क्रमेण वेदप्रतिपाद्यचिदचिदीश्वराख्यतत्वत्रयाभिधानदर्शनादत्र रामिति बीजे स्फुटतरमेव यावद्वेदार्थगर्भत्वं सिद्धम्।

तथाचोक्तमगस्त्यसंहितायाम—

रेफो ज्योतिर्मयं तस्मात्कृतमाकारयोजनम्।
मकारोऽभ्युदयार्थत्वात्साचमायेति कीर्त्यते" इति

किञ्च वेदप्रतिपाद्यविशिष्टाद्वैतमपीत्थमत्रसिद्धमिति तस्य तत् सिद्धम्। एवमन्यदप्यूह्य मित्यलम्। पुनः कीदृशं रामिति बीजं प्रणवि प्रकृष्टतया नूयते स्तूयते उपास्यत इति यावदिति प्रणवः ओम् प्रणवंजपतां प्रणवाभिधेयश्रीराममनुभावयतां योगिनां चित्तैकाग्र्यसम्पत्या समाधिलाभः फलमुत्पद्यते।

तदुक्तं भगवत्पतञ्जलिना—

"तज्जपस्तदर्थभावनम्" इति।

तद्भाष्यकारश्चाह—

"प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनं तदस्ययोगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थे च भावयतश्चित्तमेकाग्रं संपद्यते।

तथाचोक्तम्---
स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते" इति।

तस्येश्वरप्रणिधानस्यासन्नतमः समाधिलाभ फलमिति। सप्रणवो ऽस्मिन्नित्यमस्तीति प्रणवि। र् अ आ म् इत्यत्रपृषोदरादित्वाद्रकारस्याकारादेशरूपे विकारे कृते रेफाकारेण सह द्वयोरकारयोर्दीर्घे पुनर्दीर्घाकारस्योकारादेशेगुणे च कृते बीजात्प्रणवोद्धारसिद्धिरिति भाव।

तदुक्तमभियुक्तैः—

"सर्वेऽर्थो वेदगर्भस्था वेदाश्चाष्टाक्षरे स्थिताः ।
अष्टाक्षरश्च प्रणवे अकारे प्रणवस्थितिः ।
यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महाद्रुम. ।
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्" इति ।

अत एवेदमेवाभिप्रेत्य श्रीमहर्षिवाल्मीकिनापि श्रीमद्रामायणे आरण्य-काण्डे सर्ववेदमूलप्रणवार्थप्रतिपादकः—

"अग्रतः प्रययौ रामः सीता मध्ये सुमध्यमा ।
पृष्ठतस्तु धनुष्पाणिर्लक्ष्मणोऽनुजगाम ह"

इति श्लोक उपनिबद्धः । अकारोकारमकारयोगेनोमिति सिद्धम्भवति । तत्र चाग्रगताकारार्थोराम. मध्यगतोकारार्थो लक्ष्मीत्यपरनाम्नी सीतोत्तर-स्थितमकारार्थोऽयं सर्वजीवनियमनकर्मा लक्ष्मणः । एवमावर्त्यमानः प्रणवार्थः सर्ववेदपारायणजन्यफलदो भवति ।

एतदेवाभिप्रेत्याह व्यासः—

"विष्णोरेकैकनामानि सर्ववेदाधिकं मतम् ।
तादृङ्नामसहस्रेण रामनामसमं मतम्" इति ।

महादेवोऽपि—

'रामरामेति रामेति रमे रामे मनोरमे ।
सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनामवरानने" इति ।

विष्णोस्तु—

"यागो ज्ञानं तथा सांख्यं विद्याः शिल्पादिकर्म च ।
वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत्सर्वं जनार्दनात् ।
एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः'
इत्यादि माहात्म्यम् । अतएव
"रमन्ते योगिनो यस्मिन् सत्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते"

इत्यधिकरणघञन्तरामपदेन नित्यविभूतिनायको नित्यं नित्यमुक्तानु-भाव्यो "रमोरामयतां वरः' इति वाल्मीकिमते बाहुलकवललब्धकर्तृघञन्त-रामपदेन च लीलाविभूतिनायको मुमुक्षुबुभुक्षुसेव्यः पुरुषोत्तम उच्यते।सीता च पृथिव्यादिसर्वतत्त्वाधिष्ठात्री देवता सुमध्यमा भवति । जीवात्मपरमात्मनां

तद्रूपार्थविभाजकत्वरूपं सुष्ठु मध्यमो व्यापारो यस्याः सा पृष्ठेति बन्धे मोक्षे च सीतारामयोस्तच्छेषत्वेनानुगामी । एवं चोभयविभूतिनायकत्वे विभुत्वे सीतापतित्वे चेतनत्वं रामस्य स्वरूपम् । जीवेश्वरोपाधिविभाजकत्वे रामाऽविनाभूतत्वे सर्वजीवशेषित्वे चेतनत्वे च स्त्रीत्वं सीतायाः स्वरूपम् । सीतातत्कान्तशेषत्वे चेतनत्वे तदनुगामित्वं लक्ष्मणस्यापि स्वरूपमिति सिद्धं भवति । तुशब्देन त्रयाणामात्यन्तिकः स्वरूपभेदो वृत्तिभेदश्चोच्यते । अथेत्यनेन सदा सन्निधानेऽप्यवैमत्यमुच्यते । अन्योऽन्याभिप्रायवेदितृत्वं च लक्ष्मणस्य धनुष्पाणिर्वोक्त्या प्राणप्रियोक्तमशस्त्रसेवनवाक्यं नैव मुधा स्यादिति मन्दस्मेरमुखाम्बुजो रामः कतिचित्पदानि निरायुधो गृहीतमुनिवृत्तिर्जगामेति व्यज्यते सीता स्वभावेन सलोलगामिन्यपि मत्तमातङ्गगामिरामपदानुपदगमना चुम्बकमाणिक्यानुगता स्वर्णशलाकेवासीत् । यद्वा पूर्णेन्दौ गच्छति तज्ज्योत्स्ना न पृथग्गमनार्हा "अनन्या राघवेणाहं कान्तिश्चन्द्रमसा यथा" इत्युक्तेः रामगमनमेव सीतागमनम् । एवं च सौकुमार्यादिविरोधितापि नास्ति । निर्भयविलासगतिरुच्यत इति श्लोकार्थः । पुनः कीदृशं रां बीज "जगदुदाधारभूतम्" उत्कृष्ट आधार आश्रय उदाधारः जगतां स्थावरजङ्गमात्मकप्रपञ्चानामुदाधारो जगदुदाधारस्तं भूतं प्राप्तं भावप्रधाननिर्देशात्तत्वं प्राप्तं तद्रूपमित्यर्थः ।

तथा च श्रुतिः–

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" "तदैक्षत बहु स्याम् तत्तेजोऽसृजत" "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति"

तथा रामतापिन्याम्–

"सीतारामौ तन्मयावत्र पूज्यौ जातान्याभ्यां भुवनानि द्विसप्तस्थितान्येव एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्" इति ।

स्मृतिरपि–

"सर्ववेदाश्रयत्वाच्च सर्वलोकस्य कारणात्" ।
ईश्वरप्रतिपाद्यत्वादखण्डब्रह्मवाचकः" इति ।

पाद्मेपि–

"त्वं विष्णुस्त्वं परं ब्रह्म योगिध्येयः सनातनः ।
त्वमेव सर्वदेवानामनादि निधनोऽव्ययः ।
त्वं हि नारायणः श्रीमान् सीता लक्ष्मीः सनातनी" इति

रामायणेऽपि—

"संक्षिप्य हि पुरा लोकान्मायया स्वयमेवहि।
महार्णवे शयानोऽप्सुमां त्वं पूर्वमजीजनः" इति।

अगस्त्य संहितायामप्युक्तम्—

"यथा घटश्च कलशः पदार्थस्याभिधायकः।
तथा ब्रह्म च रामश्च नूनमेकार्थतत्पर" इति।
"एवंभूतं जगदाधारभूतं रामं वन्दे स च्चिदानन्दरूपम्" इति

रामतापिन्यामप्युक्तम्।पुनः कीदृशं बीजं 'सबिन्दु' बिन्दुना सह वर्तमानम्। तथाहि सृष्ट्यादौ शब्दार्थसृष्ट्यर्थं परमेश्वरक्षुभितगुणाद्यंशकलाकरणवत् कृततयाविद्याकलाव्यक्तञ्चोच्यते। तच्छब्दार्थवत्यविद्या बिन्दु महत्तत्त्वंचेत्य भिधीयते।महतोऽहंकारःततः पञ्चतन्मात्राः ताभ्योभूतानि तेभ्योऽखिलंजगदित्यर्थसृष्टिक्रम.।बिन्दोर्नाद·सच परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीतिचतुर्विधाख्यामवस्थामनुभूय स्वरवर्णपदवाक्यात्मको भवतीतिशब्दसृष्टिक्रमः। अतःशब्दसृष्टेर्बिन्दुपूर्वकत्वात् वटकणिकानिदर्शनेन बिन्दुशिरस्कं तारकाख्यंबीजमुद्धरेत्। मकारतत्त्वावयवद्योतकोऽमृतरूपश्चन्द्रःतदाकारवात्र बिन्दुस्तद्योजनया प्रकाशानन्दचिदात्मकं बीजमुद्धृतं भवति"मःशिवश्चन्द्रमावेधाः"इतिकोशः।बिन्दुग्रहणं चात्र कलानादयोरप्युपलक्षणम्।ततश्च मन्त्रबीजमस्तके बिन्दुनादकलाः प्रदर्शयेत्। अतोऽर्थसृष्टिर्वाच्या। शब्दसृष्टिस्तु वाचिका। तदेवं तारकस्थस्य बिन्दोरर्थसृष्टिशब्दसृष्टिकारणत्वं दर्शितं भवतीति।अर्थसृष्टिहेतोर्महत्तत्वस्य बिन्दोश्चैकरूपत्वार्थसृष्टेरपि बिन्दुकार्यत्वमुपपद्यते। अत्रांशे श्रुतिरपि मानम्

"इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मन.।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेर्यस्तु महान्पर·।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः पर.।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः" इति।

स्मृतिरपि—

"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः।
एवं बुद्धेः परं बुध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।
"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते'।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्ययमीश्वरः" ।
अन्दण्डब्रह्मणो रामाज्जगतां प्रेरकस्तथा ।
प्रकृतिर्महान्प्रकृतेस्ततोऽहं त्रिगुणात्मकः ।
रामनाम्नःसमुत्पन्नः प्रणवोमोक्षदायकः" इतिच।

स्मृतिः

"प्रणवं केचिदाहुर्वै बीजं श्रेष्ठं तथा परे ।
तत्तु ते नामवर्णाभ्यां सिद्धमाप्नोति मे मतम्" ।

महारामायणेऽपि —

"अंशांशौ रामनाम्नश्च त्रयः सिद्धा भवन्ति हि ।
बीजमोंकारः सोऽहं च सूत्रमुक्तमितिश्रुतिः"

इत्यादौ श्रीरामनाम्नोवर्णविश्लेषविपर्ययादिक्रमेण सिद्धप्रणवोत्पत्तिरुक्ता भवति ।

पद्मपुराणेऽपि—

"जपतः सर्ववेदांश्च सर्वमन्त्रांश्च पार्वति।
तस्मात्कोटिगुणं पुण्यं रामनाम्नैव लभ्यते' इति ।

आनन्दाख्यसंहितायामपि —

"स्थूलमष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं चैव चतुर्भुजम् ।
परं तु द्विभुजं रूप तस्मादेतत्त्रयं यजेत् ।
आनन्दोद्विविधः प्रोक्तो मूर्त्तश्चामूर्त्त एव च ।
अमूर्त्तस्याश्रयो मूर्त्तः परमात्मा नराकृतिः" इति

पुनः कीदृशं बीजम् "सुव्यक्तम्" सुव्यज्यत प्रकाश्यते चराचरं येन तत्सुव्यक्तम् । अस्मिँश्च बीजे चतुर्व्यूहावतारः स्फुटतरतया प्रतीयमानो दृश्यते। तथाहि रमन्ते योगिनो यस्मिन् रमयति जन्मादिदातृत्वेन चराचरं विश्वमिति वा स्वयं वान्तर्यामित्वेन रमते चराचरविश्वेषु राजते वा "रमिराजिरातिभ्य" औणादिके डप्रत्यये

"महर्षे त्वं समर्थोसि ज्ञातुमेवं विधं नरम्"

इति नरत्वेन वाल्मीकिपृष्टः "तैर्युक्तः श्रयतांनरः" इति नरत्वेनैव नारददत्तप्रत्युत्तरा "नरतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातन" इतवचनात् "इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामोनाम" इतिवचनाच्च नररामशब्दयोः पर्यायत्वप्रतीत्या चराचरेषु

नरति व्याप्नोतीति व्युत्पत्या "नृ नये"इत्यस्मादौणादिके कप्रत्यये पृषोदरादित्वान्नलोपे ऋकारस्य यणि सिद्धेन रेण प्रतिपादितोऽखिलहेयप्रत्यनीकानन्तकल्याणगुणाकरो दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्टोऽनन्तपरिजनसेव्यमानः स्वानुरूपदिव्याभरणायुधपरिवृतः परमपदनिलयः सीतासमेत उभयविभूतिनायकः श्रीरामश्चतुर्धाऽवततार। तत्र लीलाविभूतौ स्वकृतधर्माधर्मव्यवस्थाभङ्गाय प्रवृत्तान्काँश्चिन्निरङ्कुशानधमान् निग्रहीतुं स्वयं त्रिपादविभूतेः सकाशात्सकलभागवतैः गेश्वर्य्यपरिपूर्ण एव यदा भूमाववततार तदावतीर्ण इत्युच्यते ।

"स च ब्रह्मानन्दैकविग्रहो रेफरूपार्द्धमात्रात्मक विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसीति न ते विष्णोर्जायमानो न जातो देव-महिम्नः पारमन्तमाय सहस्रधा महिमान. सहस्रस्'

इत्यादिश्रुतिभिर्निर्दिष्टानन्तकल्याणगुणगणाकरत्वं च तस्य सिद्धम् । वीजोद्धृतप्रणवविश्लिष्टवर्णानामकारोकारमकाराणां मध्ये प्रथमाक्षरादकारात्प्रणवावयवाल्लक्ष्मणस्याविर्भावः । तदवयवाद् द्वितीयाक्षरादुकारात्तैजसात्मकस्य शत्रुघ्नस्याविर्भाव. । तदवयवात्तृतीयाक्षरान्मकारात्प्रज्ञात्मकस्य भरतस्याविर्भावः ।

तथाचोक्तं रामतापिन्याम्—

"अकाराक्षरसंभूत. सौमित्रिर्विश्वभावनः ।
उकाराक्षरसंभूत· शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः ।
प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकाराक्षरसम्भवः ।
अर्द्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः"इति ।

एवं च षडक्षरं तारकमेव ओङ्कारात्मकम्। तथाच तदीयाःषडपि तन्त्रवर्णा ब्रह्मवाचका ब्रह्मवाचकत्वादेव ब्रह्मस्वरूपाः, सच्चिदानन्दरामाववोधकत्वादेव सच्चिदानन्दाख्या इति साधनचतुष्टयसम्पन्नैर्मुमुक्षुभिस्तदेव सततमुपासितव्यम् । ब्रह्मणश्च ओंरूपाख्यः सदाख्य आनन्दाख्य इति त्रिविधभेदेनोपासितव्यताया अभिधानात् ।

तथाचोक्तं गीतायाम्—

"ओंतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः" इति ।

एवं हि ओंकारात्मका रामाद्याख्याश्चतुर्व्यूहरूण बीजस्था उपासितव्या इत्युक्तं भवति ।

तदुक्तं श्रीरामतापिन्याम्—

"इत्योतद्ब्रह्मात्मकं सच्चिदानन्दाख्यमित्युपासितव्यम् । अकारः

प्रथमाक्षरो भवति। उकारो द्वितीयाक्षरो भवति । मकारस्तृतीयाक्षरो भवति। अर्द्धमात्रश्चतुर्थाक्षरो भवति। बिन्दुः पञ्चमाक्षरो भवति। नादः षष्ठाक्षरो भवति" इति।

तत्र हि प्रणवावयवोऽकारो राममन्त्रस्य प्रथमाक्षरः प्रथममक्षरं भवति। "लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य" इति महाभाष्यकारोक्तेश्छान्दसत्वाद्वा-लिङ्गव्यत्ययः । एषामकारादयस्त्रयोऽत्रमूर्त्ता अर्द्धमात्रादयस्त्रयस्त्वमूर्त्ता नादात्परे च शक्तिशान्ताख्ये अप्यवस्थे वेदितव्ये। तदेवं रांबीजमेव प्रणवा-त्मकत्वाद्ब्रह्मणो वाचकमिति चतुर्वर्गफलप्रदस्य तस्योपासितव्यत्वं सिद्धम् । किञ्च विलक्षणचित्रजगदाकारनिर्माणातिपट्वी सकलदेहिनामुत्पत्तिस्थिति-संहारकरणशीला मूलप्रकृतिनामधेया मूलप्रकृतिरविकृतिरितिनाम्नी सीतापि प्रणवात्मिका ।

तथाचोक्तम्—

"श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्ददायिनी ।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ।
सा सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता ।
प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः " इति ।

प्रणूयते प्रस्तूयते महदाद्याकारनिर्माणे या सा प्रणवा "णु स्तुतौ" इति-धातोः कर्मणि "ऋदोरप्" इत्यप् तस्या भावस्तत्त्वं तस्मात्प्रणवत्वात् प्रकर्षेण क्रियतेऽनया प्रकरोति स्वयमिति वा प्रकृतिः। ब्रह्म प्रणवमूलो वेदस्तद्वदनशीला वेदविचारपरा वदन्तीति तदर्थः। एवं हि बीजस्थप्रणवप्रतिपाद्य.—

"इति रामो वचः श्रुत्वा सह भ्रात्राभिवाद्य च ।
प्रतस्थेऽगस्त्यमुद्दिश्य सानुजः सह सीतया" इति

योगिवृन्दवृन्दारकवृन्दाभिवन्द्यपादपद्मद्वन्द्वहस्तगतपुरुषोत्तमत्वत्यागेना-पि गुर्वादिभक्तिविषयं दर्शयन् रामः प्रभाहीनान् राक्षसान् कृत्वा राजते यो महीस्थित इति कृत्स्नाया मह्या युगपत्पर्यायेण वा राजमानो मुनिजनरक्ष-णाद्वा।—

"रामो दाशरथिः शूरो लक्ष्मणानुचरो बली" इति ।

"सीता सुमनसेवाभिवादयांबभूव" इति सहेति चेति चकारात्प्रक्रम्य स्वभक्ताभिवादनं भगवतो नैश्वर्य्यभञ्जनम् । तत्र कौशल्याबालत्वेनैव रामा-भिगमनात् ऐश्वर्यद्रावणे तु सहसा हृदयद्रवणात् ऐश्वर्यमपि हृदयं भिनत्ति । न तु द्रावयति। तेन द्रष्टरि नीचबुद्धिवत् परऽस्मिन्नत्युच्चबुद्धिजननात् भोग्यत्वादौ

भयजननाच्चात्र सहशब्दद्वयं वदति। रामलक्ष्मणयोः प्रस्थानमन्यदेवेति सीतारामयोश्च ततोऽन्यदेवेति च रामस्य गतिचातुर्यादन्यत्र दुर्लभादुभयानुगतिस्तेनैव ज्ञातव्येति कैवल्यार्थिभिर्जीवसहचरत्वेन तत्स्वामित्वेन च श्रीराम एवोपासितव्यः। ऐश्वर्यमोक्षकामैः केवलकैङ्कर्यकामैरपि सीतासख्त्वेन च सेव्यः। तत्सेवने च नातीव देशकालविशेषापेक्षत्वम्। अत्र च प्रणवार्थद्वैविध्यमपि वर्णयन्ति कुशलाः। तथाहि "अकारमकारवाच्ययोरीश्वरजीवयोरुकारः सम्बन्धावगमकः" इति "स्वस्वामिभावेन स्थितौ जीवेश्वरौ प्रणवार्थो एकः। अकारोकारार्थयोः सीतारामयोर्मननान्मुक्तिः" इतिमन्तव्यत्वेन स्थितौ लक्ष्मीनारायणौ प्रणवार्थो द्वितीय "मन ज्ञाने" इति धातोरौणादिके डुवि प्रत्यये टिलोपे मकारो मननार्थकः। ननु लक्ष्मीनारायणवाचकस्य प्रणवस्य सीतारामवाचकत्वं कथमिति चेन्न

"सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवो नारायणः प्रभुः"

इत्यगस्त्यवाक्यात्सीतारामयोर्लक्ष्मीनारायणाभ्या स्वरूपैक्यावगमात्। विग्रहभेद इतिचेत् नहि प्रणवे विग्रहभेदवाचकं किंचिल्लिङ्गं दृश्यते। यथा ब्रह्मस्वरूपं सर्वविद्यानुवृत्तम् आनन्दादयः प्रधानस्येत्यत्रोक्ता स्वरूपानुवृत्ता आनन्दादयश्च तथोभयोःस्वरूपमुभयविग्रहानुवृत्तमिति मन्तव्यम् अन्यथा "गायत्रीविवरणरूपरामायणसर्वप्रसिद्धस्तदर्थश्च जानकीरामौ" इति कथं संगच्छेत। आचार्या अपि "गायत्रीमूलमन्त्रद्वयशरणागतिमन्त्रविवरणरूपं रामायणं व्याख्येयम्" इति कथमाहुः "चतुर्वेदसमन्वितमिति सर्ववेदार्थोपबृंहणप्रतिज्ञानम्" च कथं संगच्छेत।

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्" इतिन्यायेन स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग इतिचेन्न "अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगः" इतिन्यायेन चाप्रामाण्यं च स्यात्

"वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
चरितं रघुनाथस्य शतकोटि प्रविस्तरम्"।

एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्" इत्यादिभिर्विरोधश्च। यद्वा प्रणवव्यक्तिभेदेन भिन्नभिन्नविग्रहवत्स्वरूपं प्रतिपाद्यत इति सर्वमनवद्यम्। किञ्च बीजाभिन्नप्रणवब्रह्मणोः सर्वारपदत्वेन साम्यादोंकारज्ञानमेव ब्रह्मज्ञानम्। बहुश्रुतिसिद्धप्रकारैरोंकारस्य ब्रह्मधीहेतुत्वमभिप्रेत्यैव ब्रह्मप्रतिपत्तये माण्डूक्योपनिषद् ओंकारमेवोपादिशति–

'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव सर्वं ह्येतद्ब्रह्माय-

मात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पाज्जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः" इति ।

एवं प्रथममात्रादिभेदोऽपि तत्रैव व्याख्यात इति तत एवावगन्तव्यम् । पुनः कीदृशं बीजं श्रुतिमुनिगदितोत्कृष्टषड्व्याप्तिभेदम् । श्रुतयश्च मुनयश्च श्रुतिमुनयःतैर्गदिता उक्ता उत्कृष्टाः समीचीनाः नामरूपयशोगुणस्वरूपमन्त्रभेदेन षड् व्याप्तिभेदा यस्मिन् तत् । तत्र नामव्याप्तौ—

यजुर्वेदीयश्रुतिः—

"न यस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः" इति ।

बृहदारण्यकेऽपि

"ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति" इति ।

आश्वलायनशाखीयश्रुतिरपि—

"जपान्तेनैव शरीरेण देवता दर्शनं करोति । कलौ नान्येषां भवति । यजूंषि नामेति नामैव ब्रह्मरूपेण श्रुतय आहुः"

अथर्वणेऽपि—

"सदा रामोऽहमित्येतत्तत्त्वतः प्रवदन्ति ये ।
न ते संसारिणो नूनं राम एव न संशयः" इति ।

महाभारते शान्तिपर्वण्युत्तरार्द्धे—

"ऋग्वेदे स यजुर्वेदे तथैवाथर्वसामसु ।
पुराणे सोपनिषदे तथैव ज्योतिषेऽर्जुन ! ।
सांख्ये च योगशास्त्रे च आयुर्वेदे तथैव च ।
बहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभिः ।
गौणानि तत्र नामानि कर्मजानि च कानि च" इति ।

विष्णुरहस्येऽप्याह

"वेदे रामायणे शास्त्रे पुराणे भारते तथा ।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र कीर्त्यते" इति ।

बृहस्पतिस्मृतौ च—

"यथा प्रलपते मूर्खो देशराज्यादिकं बहु ।
तथा चेत्प्रलपेद्रामं को न मुच्येत बन्धनात्" इति ।

पद्मपुराणेऽपि—

"जपतः सर्ववेदांश्च सर्वमन्त्रांश्च पार्वति ! ।
तस्मात्कोटिगुणं पुण्यं रामनाम्नैव लभ्यते" इति ।

ब्रह्मयामले च—

"रामनाम परं बीजं रामनाम परं जगत् ।
रामनाम परो मन्त्रो रामनाम परा क्रिया" इति ।

अध्यात्मरामायणेऽपि—

"यस्मिन रमन्ते मुनयो विद्ययाऽज्ञानविप्लवे ।
तं गुरु प्राह रामेति रमणाद्राम इत्यपि" इति ।

वृद्धमनुस्मृतौ—

"सप्तकोटिमहामन्त्राश्चित्तविभ्रमकारकाः ।
एक एव परो मन्त्रो राम इत्यक्षरद्वयम्" इति ।

तथा दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्टस्य भवगतो रूपव्याप्तावपि श्रुतिस्मृतयः प्रमाणानि । ननु विग्रहस्य कर्माधीनत्वाद्भगवतो दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्टत्वं कथमिति चेदत्रोच्यते—भगवतो दिव्यमङ्गलविग्रहत्वस्यानेकश्रुतिस्मृतिसिद्धत्वात्तादृक्सन्देहस्यानवकाशात् ।

तथाहि छान्दोग्ये—

"य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णस्तस्य कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी" इति । कं जलं पिबतीति कपि नालं तत्रास्ते तिष्ठतीति कप्यासं तेनाम्लानत्वं तस्य प्रतिपादितं तादृशं पुण्डरीकं यथा, एवं तस्याक्षिणी इति कप्यासमित्यस्यार्थः । सुवर्णः अप्राकृतः प्राकृतस्यैव देहस्य कर्माधीनत्वम् भगवद्विग्रहस्याप्राकृतत्वान्न तथात्वम् । सूत्राणि च "ज्योतिषि भावाच्च" "ज्योतिर्दर्शनात्" "रूपोपन्यासाच्च" इति ।

रामतापिन्यामपि—

"अर्द्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः"
"पूर्णानन्दैकविग्रहं परं ज्योतिःस्वरूपिणम्"
"द्विभुजः कुण्डली रत्नमाली धीरो धनुर्द्धरः"
"अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्" इति ।

स्मृतिश्च—

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" इति ।

भारते च—

"न भूतसंघसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः" इति ।

बृहद्वैष्णवेऽपि—

"यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः ।
स सर्वस्माद्बहिष्कार्य्यः श्रौतस्मार्तविधानतः ।
मुखं तस्यावलोक्यापि सचैलं स्नानमाचरेत्"

ब्रह्माण्डपुराणेऽपि रामतापिन्यामपि—

"सच्चिदानन्दविग्रहः" इति ।

उपनिषदि च—

"तमेतं सच्चिदानन्दविग्रहम्" इति ।
न च विग्रहादिशब्दानां नात्मवाचकत्वमेवेति वाच्यम् ।
"अतसीपुष्पसंकाशं नाभिस्थाने प्रतिष्ठितम्" इत्यमृतबिन्दूपनिषदि ।
"दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं श्यामं विशारदम्" इत्यलातोपनिषदि ।
"पद्मकोशप्रतीकाशम्" इति महोपनिषदि ।
"प्रकृत्या सहितः श्यामः पीतवासा जटाधरः" इति रामतापिन्याम् ।
"पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्" इत्यादिना वर्णविभागोक्तेः ।
"जरामरणनिर्मुक्ताः सर्वे धर्मा· स्वभावतः" इत्यलातोपनिषदि ।

जरामरणादेरात्मन्य सक्त वाच्छरीर एव निर्मुक्तिवचनं संगच्छते । "सुस्मितं भावयेन्मुखम्" इत्यादेः श्रीभागवतादिषु बहुशः श्रुत वाच्च ।

रामायणेऽपि—

"वृक्षे वृक्षे हि पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम् ।
गृहीतधनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम् ।
अपि रामसहस्राणि भीतः पश्यामि रावण ! ।
रामभूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे" ।

पाद्मे च—

"पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिन ।
दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भो तुमैच्छन्सुविग्रहम्' इति ।
"रामरूपनिमग्नानि पश्यच्चक्षुर्मनासि च ।
नापकष्टुं हि ते शेकुः पश्यन्तो राममच्युतम् ।
न कश्चिन्मनस्तस्माच्चक्षुषा वा नरोत्तमात् ।
नरश्शक्तोत्यपाक्रष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे ।
यश्च रामं न पश्येत य च रामो न पश्यति ।
निन्दितः स भवेल्लोके स्वात्मा येनं विगर्हते इति ।

रामायणेऽपि मधुरकवि·

"द्विनेत्री द्विभुजाऽनर्घ्यहरिन्माणिक्यवर्णभा ।
या मूर्ती रामचन्द्रस्य रूपं तत्र प्रतिष्ठितम् ।
कोटिशो मूर्तयः सन्तु साद्भुताद्भुतभावका· ।
हरेस्ताभ्योप्युपादेया मूर्तिरेषैव भावदा ।
त्रैलोक्यमोहनं रूपं राममूर्त्यैव संहितम् ।
आशिखन्नखपर्य्यन्तं पूर्णब्रह्मैव भास्वरम्" इति । यशोब्याप्तावपि प्रमाणं श्रुतिः। "सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णु·" इत्युक्तरीत्या विष्णोः परब्रह्माभिधानस्य श्रीरामस्य

"विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचयः पार्थिवानि विममे रजांसि न ते विष्णोर्जायमानो न जातो देवमहिम्नः पारमन्तमाय सहस्रधा महिमानः सहस्रम्" इति ।

ताभिरेव तस्य निर्दोषानन्तकल्याणगुणगणाकरत्वमपि सिद्धम् ।

स्मृतयश्च—

"गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं यो वा अनन्तस्य गुणाननन्तान् ।
अनुक्रमिष्यन्स तु बालबुद्धि र्नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मुः ।
नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये ।
गायन्गुणान् दशशताननं आदिदेवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्यपारम्"

इत्यादयः ।

"वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ।
तस्माद्रामायणं देवि वेद एव न संशयः" इत्यगस्त्यसंहितायाम् ।

"स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदार्थपरिनिष्ठितौ ।
वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयतः प्रभुः ।
काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्" इति वेदोपबृंहणप्रयोजनकरामायणवचनेन यशोव्याप्तिरपि प्रतिपादिता भवति ।
"चरितं रघुनाथस्य शतकोटि प्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्" इति च ।

स्कन्दपुराणे-

" सकृदुच्चरितं येन रामायणमनुत्तमम् ।
भस्मीभवन्ति पापौघा हृदि रामस्तु तद्भवान्"

तत्र गृहीतनानावतारस्येश्वरस्य लीलैव संसारिजनानामपवर्गादिसाधकता च प्रयोजनम् ।

तथा च ब्रह्मसूत्रम्—

"लोकवच्च लीलाकैवल्यम्" इति ।
"लीला जगत्पतेस्तस्य छन्दतः संप्रवर्तते" इति च ।

आचार्य्या अपि—

"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः ।
भवन्ति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीयगम्भीरमनोऽनुसारिणः"

इत्याहुः । किञ्चैकस्वभावतः पृथिव्यादिसंघातस्य भगवच्छरीरत्वं भगवदात्मकत्वं च श्रुतयो वदन्ति "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यान्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्" "य पृथिव्यन्तरो यमयति स आत्मान्तर्याम्यमृत" इत्यारभ्य य इत्यारभ्य च "आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् य आत्मा नन्तरो यमयति स आत्मान्तर्याम्यमृतः" इत्याद्याः । इदमेवान्तर्यामितया सर्वक्षेत्रज्ञानामवस्थानं भगवतः सामानाधिकरण्येन व्यपदेशबोधिका स्मृतिरपि—

"अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः ।
न तदस्ति विना यत्स्यान् मया भूतं चराचरम् ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति ।

"प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः पतिर्विश्वस्यात्मेश्वरेशश्च तं शिवमच्युतम्" इति बृहदारण्ये । "त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोकः मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः त्रयो वेदा एत एव वागेवर्ग्वेदः मनोयजुर्वेदः प्राणः

सामवेदः” इति । ज्ञानशक्त्यादिगुणकस्य श्रीरामस्य गुणव्याप्तावपि “यः सर्वज्ञः सर्ववित्”

“पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च”

इत्यादिकाः श्रुतयः प्रमाणानि । “समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ”

“कोह्यस्मिन्प्रथितो लोके सद्गुणैर्गुणवत्तरः” इत्याद्युपबृंहणानि च ।

ननु कामधेनुचिन्तामणिकल्पद्रुमक्षीरोदपूर्णचन्द्रवत्सीताकान्तस्य गुणैः किं प्रयोजनमिति चेदुच्यते—स्वत एवाप्तसमस्तपुरुषार्थस्यानन्दमहोदधेरपि तस्य गुणानां चेतनाचेतनस्वरूपसत्तास्थितिप्रवृत्तिनिवृत्तिधर्मार्थकाममोक्षरूपप्रयोजनहेतुत्वात्सार्थक्यं भवतीति । न चाचेतनानां सकलपुरुषार्थानर्हत्वात् कथं तेषु भगवद्गुणसार्थक्यमिति शङ्क्यम । सकलचेतनात्मकजगदुत्पत्तिस्थितिसंहारादिरूपभगवद्व्यापाराणां बहुप्रमाणसिद्धत्वात् “भोगमात्रसाम्यलिङ्गात्” “जगद्व्यापारवर्जम्” इत्यादिप्रमाणैस्तदितरचेतनानां जगद्व्यापारादिवर्जनश्रवणाच्च तत्रेश्वरस्य लीलैव प्रयोजनं संसारिचेतनानामपवर्गादिसाधकता च प्रयोजनम ।

तथा च ब्रह्मसूत्रम्—

“लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्” इति ।

“लीला जगत्पतेस्तस्य छन्दतः संप्रवर्तते” इति च ।

आचार्या अपि—

“त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः ।

भवन्ति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीयगम्भीरमनोऽनुसारिणः” इत्याहुः

“वरदसकलमेतत्संश्रितार्थं चकर्थ”

“मात्रार्थं च भवार्थं च जनानामसृजत्प्रभुः” इत्यादि च ।

श्रीमद्रामायणे—

“नास्ति रामस्य सदृशः” इत्यादिवचनैः “विष्णोर्नुकं वीर्याणि” इति श्रुत्या

“यो वा अनन्तस्य गुणाननन्तान” इत्यादिस्मृत्या च ।

अनन्तकल्याणगुणगणव्याप्तिमत्त्वं श्रीरामस्यैवेति तत्प्रतिपादकबीजस्याऽपि तत्त्वमिति सुधियो विभावयन्तु । स्वरूपव्याप्तिरपि श्रीरामस्यैव तत्र तत्र स्फुटमित्यनुसंधेयम् ।

तथाहि—

“दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते रामं दृष्ट्वा महर्षयः ।

अभ्यगच्छँस्तदा प्रीता वैदेहीं च यशस्विनीम्”

इत्यारण्यकाण्डरामायणवचनादभिगम्यत्वेन महर्षिनिश्चिता

"दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्" इतिवत् यः समस्तचराचरकारणसर्वतत्त्वाश्रयमूर्तिः

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म वृक्षइव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं सर्वं य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सो विपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्प सर्वकामः सर्वकर्मा सर्वगन्ध. सर्वरसः एप सर्वेश्वर एष भूतपाल एषां लोकानामसंभेदाय"

'न तत्समोऽभ्यधिकश्च दृश्यते तस्य नाम महद्यश'"

इत्यादिलक्षणवेदान्तवेद्यस्वरूपगुणः

"वैकुण्ठे परे लोके श्रिया सार्द्धं जगत्पति' ।
आस्ते विष्णुरचिन्त्यात्मा भक्तैर्भागवतैः सह ।
यत्किञ्चिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।

अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः"इतिस्मृतिस्मारितस्थानविशेषोत्तमपरिजनपरिकरादिविभूतिविस्तार. भवान्नारायण वासुदेव-कृष्ण विष्णु-केशव माधव हृषीकेशाच्युत जनार्दन-पुरुषोत्तमाधोक्षज मुकुन्द-मधुसूदन वैकुण्ठ हरि-महेश्वर श्रीपति-श्रीजगन्नाथादिसर्वशब्दवाच्य

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"

इत्यादिना योगिध्येयत्वेन योगशास्त्रोक्तश्च स एवायं सर्वजगदवितुं स्वभक्तहृदयानन्दनः कौशल्यातनयवेषेण भरतप्रसूदशरथकृतवरव्याजेन भक्तानस्माननुजिघृक्षुरिहायातीति दिव्यचक्षुषो महर्षयः । नैतादृशं ज्ञानं लौकिकानामस्ति । अत एव तेषां परमाप्ततमत्वेन रामविषयप्रार्थनपूजनादिव्यापारा नाज्ञानकृता नापि सुकृतिविशेषनरवरबुद्ध्या कृता अपि तूक्तदृष्ट्यैव कृता इति तद्वचनान्यमृतवद्ग्राह्याणि। अत्रैतदाचारेण श्रीरामस्वरूपज्ञानं मुनिनोद्दिष्टमिति मन्तव्यमिति ।। अथ सर्ववेदमयगायत्र्यर्थप्रतिपादकप्रणवार्थाधारभूताकारस्य बीजस्थत्वेन सर्ववेदमयत्वं च रात्त्वराधारभूतबीजार्थप्रतिपादनेन मन्त्रव्याप्तिस्तूक्तप्रायेति सुधीभिराकलनीयम् । पुनः कीदृशं बीजम् "रेफारूढत्रिमूर्ति" रेफोऽत्र रवर्णः तमारूढास्तदुपश्लिष्टा वृक्षारूढा वानरा वृक्षाश्रिता इतिवत् रेफाश्रिताः तिस्रो मूर्त्तयो ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपा वर्णा अकारद्वयं मकारश्च यस्मिंस्तत् । तत्र प्रथमाकारो ब्रह्मरूपः, द्वितीयोऽकारो विष्णुरूपः मकारो रुद्ररूपः इति त्रिमूर्तिशब्देन वर्णत्रयमुच्यते । नन्वकारद्वयमकाराणां सृष्ट्यादिशक्त्यभावे कथं ब्रह्मा

द्यात्मकत्वमित्याह्-प्रचुरेति। प्रचुरतरा अतिशयाधिका महती उत्पत्तिस्थिति-संहारशीला शक्तिर्यस्य तत्। न चैतस्य बीजविवरणत्वेन बीजस्यैव तादृश-शक्तिमत्त्वं नत्वकारद्वयमकाराणामिति वाच्यम् बीजस्य तादृशशक्तिमत्त्वे-नैवोपरञ्जकतया तेषामपि तत्सत्त्वात्। अत एव "रेफारूढा मूर्त्तयः स्यु शक्त-यस्तिस्र एव च" इति शक्तित्रयस्यापि रेफारूढत्वेनाभिधानं रामतापिन्यां संग-च्छते। पुनः विश्वोन्निदान विश्वेषां जगतामुत्कृष्टं निदानमादिकारणम् "निदानं त्वादिकारणम्" इत्यमरः। पुनः जरायुजादिभेदेन विविधमनेकधा सकलं स्थावरजङ्गमात्मकं भासमानं प्रपञ्चं जगद्यास्मस्तत्। श्रुतिश्च "रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्" इति। एवञ्चैवंविशेषणविशिष्टस्य रामिति बीजस्यैव मुमुक्षूणां परमयोगिनामुपास्यत्वमिति परमनिष्कर्षः।

तथा च हारीतस्मृतौ—

"रामित्येकाक्षर रामं योगिनः समुपासते" इति।

राममहिम्नाख्येऽपि—

"कृशानुः शेषाद्यशशिधरयुतो बीजमिति ते
भजन्ति ध्यायन्तस्तव चरणपङ्केरुहयुगम्।
गृहे तेषां पद्मा विहरति मुखे गीः सुललिता
सुभोगान्भुक्त्वान्ते तव वरपदं यान्ति परमम्"

पिप्पलायनसंहितायां श्रुतिश्च—

"स्वप्रकाशः परं ज्योतिः स्वानुभूत्येकचिन्मयः।
तदेव रामचन्द्रस्य मनोराद्यक्षरं स्मृतम् इति।

श्रीरामतापिन्यां च—

"स्वभूर्ज्योतिर्मयोऽनन्तरूपी स्वनैव भासते।
जीवत्वेनेदमो यस्य सृष्टिस्थितिलयस्य च।
कारणत्वेन चिच्छक्त्या रज सत्वतमोगुणैः।
यथैव वटबीजस्थ प्राकृतश्च महाद्रुमः।
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्।
रेफारूढा मूर्त्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव च" इति।

अगस्त्यसंहितायामपि—

"श्रीराममन्त्रराजस्य सम्यगर्थोऽभिधीयते।
संहितोपनिषन्मूलः सर्वकार्य्यार्थसिद्धिदः।

रकारो वह्निवचनः प्रकाशे पर्यवस्यति ।
सच्चिदानन्दरूपोऽस्य परमात्मार्थ उच्यते ।
व्यञ्जनं निष्कलं ब्रह्म प्राणो मायेति च स्वरः ।
व्यञ्जनैः स्वरसंयोगो विद्धि तत्प्राणयोजनम् ।
रेफो ज्योतिर्मयं तस्मात्कृतमाकारयोजनम् ।
मकारोऽभ्युदयार्थत्वात्सामायेति च कीर्त्यते ।
अयमेवान्तमुत्सृज्य कार्यमेकाक्षरो मनुः ।
सोऽयं बीजं स्वकं तस्मात्समायं ब्रह्म उच्यते ।
सबिन्दुः सोऽपि पुरुषः शिवसूर्येन्दुरूपवान् ।
ज्योतिस्तस्य शिवो रूपं नादः स प्रकृतिर्मता ।
प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ समायं ब्रह्म सस्मृतौ ।
बिन्दुनादात्मकं बीजं वह्निः सोमकला मता ।
अग्नीषोमात्मकं विश्वं रामबीजे प्रतिष्ठितम्" इत्युक्तम्

शिवसंहितायां च–

"अक्षरार्थोऽधुनास्यैव विशदीक्रियते मनोः ।
बीजोक्तमुभयार्थत्वं रामनामनि दृश्यते ।
बीजं मायाविनिर्मुक्तं परं ब्रह्मेति कीर्त्यते ।
मुक्तिदं साधकानां तन्मकारो मुक्तिदो मतः ।
सरूपत्वादतो रामो भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ।
आद्यस्तु तत्पदार्थः स्यान्मकारस्त्वंपदार्थवान् ।
तयोः संयोजनमसीत्यात्मा तत्त्वविदो विदुः ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यन्तु केवलं मुक्तिदं यत ।
भुक्तिमुक्तिप्रदं चेदं तस्मादप्यतिरिच्यते ।
रमन्ते योगिनो नित्यं यद्वा रमयति स्वकान् ।
निर्गुणं सच्चिदानन्दं सगुणं चेति कीर्त्यते ।
योनिलिङ्गात्मकं विश्वं रामबीजे प्रतिष्ठतम् ।
रामबीजसमुद्भूतं बहुसोमात्मकं जगत् ।
यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महाद्रुमः ।
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्" इति ॥ १२ ॥

भाषा—चारों वेद का अर्थ जिसके गर्भ में–कुक्षी में है, जो प्रणव है (उपासना या स्तुति जिससे की जाती है, उसे तो प्रणव

कहते है वह प्रणव इसमें विद्यमान रहने से यह प्रणवि हुआ) समस्त विश्व के आधार रूप बिन्दु से जो युक्त और संसार को उत्पन्न करने वाला है, वेद और स्मृति ने जिसके नाम, रूप, यश, गुण, स्वरूप और मन्त्रों की व्यापकता का वर्णन किया है, विष्णु ब्रह्मा और महेश का वाचक अकार आकार, और मकार जिस राम बीज के आश्रित है,*सृष्टि स्थिति और संहार करने वाली महाशक्ति (ब्रह्मा, बिष्णु, महेश) जिसमें विद्यमान हैं, और जो अण्डज पिण्डज उष्मज स्थावर भेद से अनेक विध भासमान समस्त ब्रह्माण्ड (विश्व प्रपञ्च) का आधार रूप है, वह श्री राम जी का बीज (रा) उपरोक्त विशेषणों से युक्त होनेके कारण समस्त श्रुति स्मृति प्रतिपादित मन्त्रों के सम्राट् (सवमन्त्रों से श्रेष्ठ) है॥१२॥

---

*अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटिब्रह्माण्डानि सावरणानि ज्वलन्ति। चतुर्मुख-पञ्चमुख-षण्मुख-सप्तमुखादि-संख्याक्रमेण सहस्रावधिमुखान्तैर्नारायणांशै रजोगुणप्रधानैरेकैक सृष्टिकर्तृभिरधिष्ठितानि विष्णुमहेश्वराख्यैर्नारायणांशैः सत्त्वतमोगुण-प्रधानैरेकैकस्थितिसंहारकर्तृभिरधिष्ठितानि महाजलौघमत्स्यबुद्बुदानन्तसङ्घवद् भ्रमन्ति। त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषदि षष्ठाऽध्याये।

इस ब्रह्माण्ड के चारोतरफ स्थित, आवरण(पञ्चमहाभूत महत्तत्त्व अहंकार मूलप्रकृति) संयुक्त, एतादृश अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड प्रकाशित है वे ब्रह्माण्ड चतुर्मुख से आरम्भ कर क्रमशः सहस्रमुखपर्य्यन्त रजोगुणप्रधान, केवल सृष्टि करने वाले नारायणके अंशभूत ब्रह्मा से अधिष्ठित हैं।

और ऐसाही सत्त्वगुण तमोगुण प्रधान, केवल स्थिति और संहार करने वाले नारायण (नार नाम चौबिशतत्त्व, और जीव समुदाय अयन नाम, निवास स्थान हैं जिसके अथवा चौबिशतत्त्व और जीव समुदाय का निवासस्थान होने से याने अन्तर्व्यापक बहिर्व्यापक होने से ही रामजी की "नारायण" संज्ञा है। क्योंकि ''रमते सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च'' "रमन्ते सर्वभूतानि यस्मिन्निति'' रामः।

तत्राद्येन पदेन रेण भगवान् सीतापतिः प्रोच्यते
श्रीरामो जगतां गुणैकनिलयो हेतुश्च संरक्षकः ।
तच्छेषी पदतोऽप्यतो भगवतोऽनन्यार्हशेषत्वकम्
व्यावृत्तिस्तु सुरान्तरादिगतमत्तच्छेषताया मुहुः॥१३॥

अन्वयप्र०—तत्र (रामबीजे) आद्येन (प्रथमेन) रेण पदेन जगतां हेतुः (त्रिविधकारणम्) संरक्षकः गुणैकनिलयश्च (शौर्यगाम्भीर्यमाधुर्य्यसौलभ्यादिगुणानां प्रधानाश्रयः) भगवान् सीतापतिः श्रीरामः प्रोच्यते (कथ्यते) अतः पदतोऽपि (अकारेण पदेन) तच्छेषी (जीववर्गस्य शेषी नियामकः) अपेः समुच्चायकत्वेन

इत्यादि श्रुति स्मृति विहित व्युत्पत्तिके अनुसार नारायण नाम राम जी) के अंशभूत विष्णु महेश से अधिष्ठित, कारण समुद्र में अनन्त मत्स्य बुद्बुद के झुण्ड समान भ्रमण करते है ।

इसी अर्थ को महर्षि वाल्मीकिने अति स्पष्ट रूप से यों वर्णन किया है कि ("रक्षां विधास्यन् भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान्" वा रा. उ. १०४ सं) भूतमात्र की रक्षा करने के लिये श्रीरामजी विष्णुरूप (विग्रह)धारण किया और "महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः" सृष्टि करने के लिये महार्णव (कारण समुद्र में) विष्णुरूप से शयन करते हुये ब्रह्मा को उत्पन्न किया। और ब्रह्मारूप अपने अंश से शिव को उत्पन्न किया। इस प्रकार महर्षि ने वेद का परम रहस्य अर्थ का वर्णन किया है। अतएव श्रीभाष्यकार १०८ श्रीरामानुजाचार्य्य जी निरवधि, निःसीम, चिदचिद्विशिष्ट पर ब्रह्म के ज्ञाता होने पर भी "यद्यदाचरतिश्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते" इस स्मृतिको चरितार्थ करते हुये अपने गुरुवर्गों से १८ बार श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण पढ कर यह शिक्षा दिए कि वेदप्रतिपाद्य परम कारण जानने की इच्छा हो तो मेरे जैसे अनेकबार विशुद्धगुरु से श्रीमद्-रामायण का अध्ययन करो। विशेष देखना हो तो भूमिका पढ़िये ।

दीर्घाऽऽकारमकारयोः समुच्चयः। अतो दीर्घाकारेण भगवतः(रवाच्य-स्य परमात्मनः श्रीरामस्य) अनन्याऽर्हशेषत्वकं (श्रीरामस्यैव स्वेतर समस्तचेतनाचेतनानामेकमात्र नियामकत्वम्) मुहुः (पुनः) मकारेण सुरान्तरादिगतसत्त्वच्छेषतायास्तु (निश्चयेन) व्यावृत्तिः (श्रीरामेतरसमस्तसुरादिगततच्छेषताया अनन्यार्हशेषताया अभा वश्च) प्रोच्यते । अन्यथा आचार्य्यचरणानाम् "रेफारूढत्रि-मूर्त्ति" इति ग्रन्थस्य व्याहतिः स्यात्। अतोऽपिना समुच्चयग्रहणं सङ्गच्छते ॥१३॥

एवं सविस्तरबीजसमुदायार्थमभिधाय सम्प्रति तदवयवतत्तद्वर्णाभिधेयार्थोऽभिधीयते–तत्राद्येनेति। तत्र राममन्त्रबीजविषयकेण आद्येन प्रथमेन पदेन "सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः" इति लुकाऽव्यक्तचतुर्थ्यन्तेन रेण रेफेण रमन्ते योगिनो यस्मिन् यद्वा स्वाश्रितान् रमयति भुक्तिमुक्तिप्रदानेन स्वयमेवाऽन्तर्यामितया चराचरेषु रमते "रमयामास धर्मात्मा" इत्युक्तरीत्या श्रीरूपिणीं सीतां रमयति स्वयं वा तया सह रमते। अथवा राति ददाति धर्मार्थकाममोक्षान्, चराचरेषु राजते प्रकाशते' न तत्र सूर्यो भाति'' "य एषोऽन्तरादित्यः" इत्याद्युक्तरीत्याऽन्तर्भावितण्यर्थतया प्रकाशयतीति रः "रमिराति राजिभ्यः' औणादिके डप्रत्यये टिलोप इत्यर्थकेन श्रीरामः प्रोच्यते। रमन्ते योगिनो यस्मिन्नित्यादि व्युत्पत्त्या "अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्" इत्यधिकरणे घञ् "रामो रमयतां वरः" इत्युक्तेर्बाहुलकात्कर्तरि वा घञ् "राति राजिभ्याम्" औणादिके मप्रत्यये राजेष्टेरात्वे च रामः।

"अनन्या च मया सीता भास्करेण प्रभा यथा।
अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा"।

इत्युक्तरीत्याऽनन्ययाऽनपायिन्या श्रिया सीतया सहितो रामः श्रीरामः अत्र यद्वक्तव्यं तद्बीजव्याख्यायामुक्तप्रायम्। कीदृक् श्रीरामः भगवान्

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीरणा" इत्युक्तेः।

समग्रैश्वर्यादिषडात्मको भगोऽस्यास्तीति भगवान् नित्ययोगे मतुप् सदा समग्रैश्वर्यादिषट्सम्पन्न इत्यर्थः।

"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति"

इति च विष्णुपुराणे। पुनः कीदृक् सीतापतिः सीताया अयोनिजाया विदेहराजस्य तपोबललभ्याया विपुलसम्पत्तिवर्द्धिन्याः प्रियेण तुल्यैश्वर्य-शीलवयःकुलाचारादिकायाः "सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुः" इत्युक्ते. लक्ष्म्याः पतिः सीतापतिः अनेनास्य पुरुषकाररूपसीतासहितस्याविरतं शरणागतपालकत्वं ध्वनितम्। पुनः कीदृक् गुणैकनिलयः गुणानां शौर्यवीर्य-माधुर्य्यकृतज्ञत्वदृढव्रतत्वसर्वज्ञत्व सौलभ्यादीनाम् एकश्चासौ निलयश्च। पुनः जगतां हेतुः कारणं "हेतुर्ना कारणं बीजम्" इत्यमरः। तच्च कारणं त्रिविधं निमित्तोपादानसहकारिभेदात्। तत्र संकल्पविशिष्टवेषेण निमित्तत्वम्। यथा घटस्य दण्डादि। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टवेषेणोपादानत्वम्। यत्समवेतं कार्य्यमुत्पद्यते तदुपादानम् यथा घटादेर्मृदादिः। सहकारिभूतकालाद्यन्तर्य्यामितया सहकारित्वमिति विभागोऽत्र द्रष्टव्यः। एवं च ब्रह्मविष्णुरुद्रप्रभृतीनामपि सर्वेषां रवाच्यो रामो हेतुरिति बोध्यम्।

तथाच श्रुतिः—

"ओं भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। सोऽब्रवीद्राम एव परं ब्रह्म रामादन्यन्न किञ्चन। यत एते रामादेवोत्पद्यन्ते। राम एव विलीयन्ते। राम एव स्थितिं वसन्ति। तस्माद्राम एव विभुः" इति।

किञ्च श्रुत्यन्तरमपि प्रमाणम्—

"यस्यांशेनैव ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा अपि जाताः। महाविष्णुर्यस्य दिव्यगुणाश्च स एव कार्य्यकारणयोः परः परमपुरुषो रामो दाशरथिर्बभूव" इति।

किञ्च—

"रामात्सञ्जायते कामः कामाद्विश्वं प्रजायते।
तस्माद्धनुर्धराः सर्वे द्विभुजा मूलरूपिणः" इति।

पराशरस्मृतौ चोक्तम्—

"राम एव परं ब्रह्म परमात्माभिधीयते।
रामात्परतरन्नास्ति यत्किंचित् स्थूलसूक्ष्मकम्।
ब्रह्मविष्णुशिवाः सर्वे इन्द्रोऽग्निर्वरुणो यमः।
सूर्य्यश्चन्द्रश्च खं भूमिराकाशस्त्वनिलोऽपदः।
सर्वे ते रामचन्द्रस्य तेजसा संप्रतिष्ठिताः।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं रामसमुद्भवम्" इति।

आनन्दाख्यसंहितायामपि चोक्तम्—

"स्थूलमष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं चैव चतुर्भुजम्।

परं तु द्विभुजं रूपं तस्मादेतत्त्रयं यजेत्।
आनन्दो द्विविधः प्रोक्तो मूर्तश्चामूर्त एव च।
अमूर्तस्याश्रयो मूर्तः परमात्मा नराकृतिः।''इति।

पाद्मेऽपि—

"रामान्नास्ति परो देवो रामान्नास्ति परं व्रतम्।
नहि रामात्परो योगो नहि रामात्परो मखः।
ब्रह्मविष्णुमहेशाद्या यस्यांशा लोकसाधकाः।
तमादिदेवं श्रीरामं विशुद्धं परमं भजे" इति।

पञ्चरात्रे बृहद्ब्रह्मसंहितायामपि—

'वासुदेवादिमूर्त्तीनां चतुर्णां कारणं परम्।
चतुर्विंशतिमूर्त्तीनामाश्रयः शरणं मम"

श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीयेऽपि—

"महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः।
पद्मे दिव्येऽर्कसंकाशे नाभ्यामुत्पाद्य मामपि।
रामस्य पुरुषो लोके सत्यधर्मयशोगुणैः।
समो न विद्यते कश्चिद्विशेषश्च कुतः पुनः"।

अयोध्याकाण्डेऽपि—

"सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः।
श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्याः कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा।
दैवतं देवतानां च भूतानां भूतसत्तमः।
तस्य के ह्यगुणा देवि! देशे वाप्यथवा वने।
पृथिव्या सह वैदेह्या श्रिया च पुरुषर्षभः।
क्षिप्रं तिसृभिरेताभिः सह रामोऽभिषेक्ष्यते"।

इति सहृदयैराकलनीयम्। संरक्षतीति संरक्षकश्च चकारात्संहर्ता। "यतो वा इमानि" इत्यादिश्रुतिः। 'जन्माद्यस्य यतः"इति ब्रह्मसूत्रम्। "यतः सर्वाणि भूतानि भवन्ति" इत्यादि स्मृतिश्च प्रमाणम्।

पुनस्तच्छेषी तस्य जीववर्गस्य शेषी अतः पदतः अकारेण पदेन उक्तरीत्या प्रथमान्तेन द्वितीयेन भगवता रवान्यस्य श्रीरामस्य अनन्यार्हशेषत्वं प्रोच्यते। अन्यमर्हतीति अन्यार्हः न अन्यार्हः शेषो यस्य सोऽनन्या-

ईशेषस्तस्य भावः तत्त्वम् तदेवेति स्वार्थे कन । मुहुः पुनः सुरान्तरादिगतत-च्छेषताया व्यावृत्तिः प्रोच्यते । श्रीरामापेक्षयाऽन्यः सुरः सुरान्तरं ब्रह्मादि. मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । सुरान्तरम् आदिर्येषां ते सुरान्तरादयः तान गता, सती चासौ तच्छेषता अनन्यार्हशेषता च तस्याः। अयं भावः भगवान श्रीराम एव जीववृन्दस्यानन्यशेषी न तु ब्रह्मादिदेवगण इति। एवं च शेषभूतैर्जीववृन्दैः शेषी श्रीराम एव सदाऽवश्योपास्य इति बोध्यम् ॥१३॥

इस प्रकार बीज का समुदायार्थ कह कर, अब उसके अवयवों के अर्थ का उपदेश करते है कि—

भाषा—महर्षिगण, श्रीरामबीज में जो प्रथम रेफपद है, उससे भगवान सीतापति श्रीरामजी को, जगत् का * त्रिविध कारण, संरक्षक, शौर्य्य वीर्य्य माधुर्य्य लावण्य सौहार्द सौलभ्यादि गुणों का प्रधान आधार, जीवों के अन्तर्यामी, और रेफोत्तर अकार पद से समस्त चेतन अचेतनों का शेषी (नियामक) कहते हैं। और आकार पद से, उन में ही अनन्यार्हशेषत्व—जीवों की एक मात्र नियामकता—बतलाते हुए, पुनः मकार पदसे, उन से भिन्न ब्रह्मादि देवताओं की नियामकता की व्यावृत्ति कहते हैं ॥ १३ ॥

पितापुत्रत्वसम्बन्धो जगत्कारणवाचिना।
रक्ष्यरक्षकभावश्च रेण रक्षकवाचिना ॥ १४ ॥

अन्वयप्र०—जगत्कारणवाचिना रेण (रेफेण) पितापुत्रत्व-सम्बन्धः (प्रोच्यते) रक्षकवाचिना रेण (रेफेण) रक्ष्यरक्षक-भावश्च (सम्बन्धः प्रोच्यते) ॥१४॥

किञ्च सकलब्रह्मादिजगत्कारणभूतेन रेण पितापुत्रत्वादिसंबन्धोऽप्य-भिधीयत इत्याह पितापुत्रत्वेन्यादि । जगतामुक्तरीत्या त्रिविधं कारणं वक्ति तच्छीलः स तथोक्तेन रेण पिता च पुत्रश्च पितापुत्रौ तयोर्भाव. पितापुत्रत्वं तच्चा-

---

*सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट वेष से उपादान कारण, संकल्प विशिष्ट वेष से निमित्त कारण और कालान्तर्यामी वेष से सहकारी कारण है, इस तरह जगत का त्रिविध कारण श्री राम जी ही हैं।

सौ संबन्धश्च पितापुत्रत्वसम्बन्धः प्रोच्यते। क्रियापदमनुकृष्य संबध्यते। रक्षतीति रः "रक्ष पालने" इति धातोरौणादिके डे टिलोपे तत एव तादृशे मप्रयये टेरात्वे तु राम इति रक्षकवाचिना रेण रक्षितुं योग्यो रक्ष्यः रक्षति पालयतीति रक्षकः स च स च तौ तयोर्भावः रक्ष्यरक्षकत्वसंबन्धश्च प्रोच्यत इत्यर्थः। १४।

आगे के श्लोकों से, ब्रह्मादि से कीट पर्य्यन्त समस्त जगत् का, रेफार्थ श्रीरामजीके साथ अनेक तरह का सम्बन्ध दिखलाते है—

भाषा—महर्षिगण जड़ चेतनात्मक जगत् का श्रीरामजी के साथ, रेफ को उसका कारण वाचक होने से पिता पुत्रत्व, और रक्षक वाचक होने से रक्ष्य—रक्षकत्व सम्बन्ध कहते है ॥१ ४ ॥

शेषशेषित्वसम्बन्धश्चतुर्थ्या लुप्तयोच्यते ।
भार्य्याभर्तृत्वसम्बन्धोऽप्यनन्यार्हत्ववाचिना ॥१५॥
अकारेणापि विज्ञेयो मध्यस्थेन महामते ! ।
स्वस्वामिभावसम्बन्धो मकारेणाथ कथ्यते ॥ १६ ॥

अन्वयः—हे महामते! सुरसुरानन्द!(र्-अ-आ-म् इत्यत्र रेफान्तर चतुर्थी विभक्तिरासीत् तया "सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्याया-जालः" इत्यनेन-लुप्तया चतुर्थ्या (जीवात्मपरमात्मनोः) शेष-शेषित्वसम्बन्ध उच्यते। अनन्यार्हत्ववाचिना मध्यस्थेन अकारेणापि भार्य्याभर्तृत्वसम्बन्धोऽपि ज्ञेयः । एकेनाऽपिना दीर्घाऽऽकारः समुच्चीयते। द्वितीयेनाऽपिना अनुक्तवात्सल्यादिसम्बन्धःसमुच्चीयते। अतो दीर्घाऽऽकारेणाऽनुक्तवात्सल्यादिसम्बन्धः कथ्यते। अथेत्यन-तरं मकारेण स्वस्वामिभावसम्बन्धः कथ्यते ॥ १५ ॥ १६ ॥

" सुपां सुलुग् " इति रशब्दोत्तरलुप्तया चतुर्थ्या जीवेश्वरयोः शेषशेषित्वसंबन्ध उच्यते निरूप्यते। अयं भावः भगवते हेयप्रत्यनीकानन्तक-ल्याणगुणगणमहार्णवाय रवाच्याय शेषिणे श्रीरामायैव निखिलजीववर्गाःशेष-भूत इति। अत्रन्योत्तरार्द्धस्य उत्तरश्लोकपूर्वार्द्धेन सार्धमन्वय इत्याह-भार्येति।

महती सत्वादिविविदिषया पूज्या मतिर्बुद्धिर्यस्य स तथोक्तः । हे महामते ! सुरसुरानन्द ! अनन्यार्हत्ववाचिना मध्यस्थेनाऽकारेण तु आशिशब्दस्तुशब्दार्थे भार्याभर्तृत्वसंबन्धस्त्वया ज्ञेयो बोध्य इत्यर्थः । अथ अनन्तरम् मन्यत इतिम् "मन ज्ञाने" इति धातोर्ड् विप्रत्यये टिलोपे "वेरपृक्तस्य" इति विलोप इति ज्ञातृवाचिना मकारेण स्वं जीवः स्वामीश्वरः स्वं च स्वामी च तौ तयो भावः स्वस्वामित्त्वसंबन्धः कथ्यते । ॥ १५ ॥ १६ ॥

भाषा—हे सुरसुरानन्द ! रां (र्-अ-आ-म्) इस बीज में जो रेफ है, उससे पर चतुर्थी का "सुपा सुलुक्" इस पाणिनीय सूत्र से लोप हो गया है, उस लुप्त चतुर्थी विभक्ति से महर्षिगण, जीवात्मा परमात्मा में शेष-शेषित्व सम्बन्ध कहते है, अनन्यार्हत्व वाचक मध्यस्थ अकार अक्षर से भार्य्याभर्त्तृत्व सम्बन्ध कहते है, दीर्घाकार से, बाकी बचे हुये वात्सल्यादि सभी सम्बन्धों को कहते हैं, और मकार से स्वस्वामिभाव सम्बन्ध कहते है, ऐसा जानों ॥ १५ ॥ १६ ॥

आधाराधेयभावोऽपि ज्ञेयो रामपदेन तु ।
सेव्यसेवकभावस्तु चतुर्थ्या विनिगद्यते ॥ १७ ॥

अन्वयः-(महर्षिभिः) रामपदेन तु आधाराधेयभावः (सम्बन्धः) विनिगद्यते (तत्त्वया) अपि ज्ञेयः (ज्ञातव्यः) (व्यक्तया) चतुर्थ्या सेव्यसेवकभावो निगद्यते ॥ १७ ॥

निखिलरमणप्रकाशनाधारभूते रामे ।

"यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" "यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरच युगक्षये"

इति श्रुतिस्मृतिभ्यां जीवनिकायस्य सिद्ध आधाराधेयभाव इत्याह आधारेति । रामपदेन जीवेश्वरयोराधाराधेयभावः संबन्धो ज्ञेयः । व्यक्तया चतुर्थ्या आयेत्यनेन सेव्यसेवकभावः सम्बन्धो निगद्यते उच्यते । जीववृन्दानामवश्यसेव्यः श्रीराम इति व्यक्तं चतुर्थी वदतीत्याशयः ॥१७॥

षडक्षर मन्त्रराजके बीजकी व्याख्या कर, उसी बीज से सम्बोधित जो स्वरूप; उसका सम्बन्ध दिखलाते है—

भाषा—महर्षिगण, रामपद से, चित् अचित् (चेतन जड़) और

पर-ब्रह्म में आधाराधेयत्व सम्बन्ध कहते है, और व्यक्त (प्रकट रूप से विद्यमान) जो चतुर्थी (आय), उससे सेव्यसेवकत्व सम्बन्ध कहते है ॥१७॥

नमः पदेनाऽखण्डेन त्वात्मात्मीयत्वमुच्यते ।
षष्ठयन्तेन मकारेण भोग्यभोक्तृत्त्वमप्युत ॥१८॥

अन्वयम-(महर्षिगणैः) अखण्डेन नमःपदेन आत्मात्मीयत्वमुच्यते । षष्ठयन्तेन मकारेण भोग्यभोक्तृत्वमुच्यते अप्युत (त्वयाऽपि आत्मात्मीयत्वं भोग्यभोक्तृत्वं वितर्क्यताम् विशेषेण श्रुतिस्मृतिभ्यां प्रमितिविषयीक्रियताम्) ॥१८॥

न खण्डश्छेदो यस्मिन सोऽखण्डस्तेन अखण्डेन समुदितेन नमःपदेन जीवेश्वरयोरात्मात्मीयत्वं सम्बन्ध उच्यते । नमःशब्दस्य सखण्डताम-भिप्रेत्याह-तूच्चेति । षष्ठयन्तेन मकारेण भोग्यभोक्तृत्वं सम्बन्ध उच्यते ॥१८।

षडक्षर मन्त्रराज (तारकब्रह्म) के आदि चार अक्षर की व्याख्या दिखला अन्तिम पञ्चम और षष्ठ पद की व्याख्या दिखलाते है—

भाषा—महर्षिगण, अखण्ड, नमः, पद से, जड़ चेतन-मय-जगत और परब्रह्म मे आत्मात्मीयत्वसम्बन्ध और षष्ठ्यन्त 'म.' पदसे भोग्य-भोक्तृत्व सम्बन्ध कहते है।हे सुरसुरानन्द! आत्मात्मीयत्व, भोग्यभोक्तृत्वादि सम्बन्धको तू भी श्रुतिस्मृतिद्वारा अपने अंतःकरण में विचारो ॥ १८ ॥

ज्ञानानन्दस्वरूपोऽवगतिसुखगुणो येन वेद्योऽणुमानो
देहादेरप्यपूर्वो विविदितविविधस्तत्प्रियस्तत्सहायः ।
नित्यो जीवस्तृतीयेन * तु खलु पदतः प्रोच्यते स्वप्रकाशो
जिज्ञासूनां सदेत्थं शुभनतिसुमते!शास्त्रवित्सज्जनानाम् १९

---

* विदितमेवैतत्तत्रभवतां श्रीवैष्णवानां यत्खलु तारकब्रह्माख्यषडक्षर-मन्त्रराजस्य "सर्वेषु राममन्त्रेषु मन्त्रराजः षडक्षर. । एकधाऽथ द्विधा त्रेधा चतुर्धा पञ्चधा तथा॥ १ ॥ षट्सप्तधाष्टधा चैव बहुधाऽयं व्यवस्थित. । षडक्षरस्य माहात्म्यं शिवो जानाति तत्वत." ॥२॥ इति रामरहस्योपनिषद् छुत्यनुमोदिताष्टा

अन्वयश्च हे शुभमतिसुमते ! महर्षिभिः तृतीयेन मेन पदतः (पदेन) शास्त्रवित्सज्जनानां जिज्ञासूनां सदावेद्यः, ज्ञानानन्दस्वरूपः, अवगतिसुखगुणः, अणुमानः (अणुपरिमाणः), देहादेरप्यपूर्वः, विविदितविविधः, तत्प्रियः, तत्सहायः, नित्यः, स्वप्रकाशः, जीवः प्रोच्यते । तु (स तु जीवः) इत्थम् (उक्तप्रकारेण त्वया ज्ञातव्यः) अष्टावयवपक्षेतु—तृतीयेन—दीर्घाकारेण नित्योजीव प्रोच्यते । तु (पुनः) मेन चतुर्थऽवयवमकारेण) पदतः (पदेन) नीत्यजीवादवशिष्टोमुक्तोबद्धश्च जीवः प्रोच्यते । सच नित्योमुक्तो बद्धेजीवः सदा (सर्वस्मिन्काले) इत्थंज्ञानान्दादि विशेषणविशिष्टत्वप्रकारेण जिज्ञासूनां वेद्योऽस्तीतिवेदितव्यमितिभावः। अन्यत्सर्वं पूर्ववज्ज्ञातव्यम् ॥ १९ ॥

ननु तृतीयपदमकारेण वाच्य. क इत्याह ज्ञानेति। पदेनेति पदत. तृतीयान्तात्तसि । तृतीयेन पदेन मेन मकारेण जिज्ञासूनां ज्ञातुमिच्छूनां सदा वेद्यो जीवः प्रोच्यते । कीदृशो जीवः ज्ञानानन्दस्वरूपः। पुनः अवगतिर्ज्ञानं सुखं च गुणो यस्य स ज्ञानानन्दगुणक इत्यर्थः। पुनः स कीदृक् अणुः मानं परिमाणं यस्य सोऽणुमानः ।

तदुक्तं श्वेताश्वतरोपनिषदि पंचमाध्याये—

"वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च" इति ।

पुनः देहादेरपूर्वो विलक्षणः । पुनः विविदितश्चासौ विविधश्च बद्धादिभेदादनेकधा । पुनः तस्य परमात्मनः प्रियस्तत्प्रियः । स परमात्मा सहायो

वयवत्वं तदेवाभिमतं भगवत्पूज्यपादानामाचार्य्यचरणानां श्रीरामानन्दाचार्य्याणाम्। "रेफारूढत्रिमूर्त्ति" इतिन्दुक्तिभिरभिव्यज्यमानत्वेऽपि श्रुतीनां मूलभूतत्वेन परमरहस्यभूतं श्रीभगवद्भागवताचार्य्यकैङ्कर्य्यविधुरैरज्ञायमान श्रीभगवद्भागवताचार्य्यदास्यमात्रावबोध्यं मनोरष्टावयवत्वम् अपितुभ्याम् समुच्चितं श्रीमद्ग्रन्थकारैरितिसुधिभिर्विभाव्यमस्ति । र्-अ-आ-म् राम-आय-न-मः इत्यष्टविधविभक्तस्य "तत्राद्येन पदेन रेण" "तच्छेषी पदतोऽप्यतो" "नित्यो जीवस्तृतीयेन तु" इत्यादिभिर्यथाश्रुताभिप्रायेण षड्विधत्वं निगदितम् । तत्रत्यापितुभ्यामष्टविधत्वं समुच्चितमितितात्पर्यभेदेन न विरोधः शङ्कनीयः

धित्सया (वाक्यार्थं विधातुं कर्त्तुमिच्छया) इत्थमेव (पूर्वोक्तप्रकारेणैव वाक्यार्थः) बोध्यः (ज्ञातव्यः) ॥ २० ॥

एवं रादिपदार्थं क्रमेण प्रतिपाद्य तद्वाक्यार्थन्निरूपयति—मवाच्य इति । तद्विधित्सया मन्त्रपदार्थज्ञानपूर्वकवाक्यार्थं विधातुमिच्छया जानन्तीति ज्ञास्तैर्ज्ञैर्मन्त्रार्थविद्भिः इत्थमेव इति वाक्यार्थो बोध्यो ज्ञातव्य इत्यर्थः । इति किम् ? मेन वाच्यो मवाच्योऽहं जीव. रेण वाच्यो रवाच्यः तस्मै रवाच्याय भगवते परमात्मने शेषिणे श्रीरामायैव सर्वदाऽविच्छिन्ने सर्वस्मिन्काले शेषभूतोऽस्मि भवामीति । एवं राम इत्येतन्निष्ठपदत्रयस्य पदार्थबोधनपूर्वकवाक्यार्थो विशदीकृतो मुमुक्षुभिर्मन्त्रार्थं जिज्ञासुभिरवश्यमविरतं बोध्य इत्याशयः ॥ २० ॥

इसमें सम्पूर्ण बीज का एकत्र शाब्द-बोध कहा गया है—

भा०—हे सुरसुरनन्द मन्त्रराज का वाक्यार्थ स्वशिष्यों के जानने की इच्छा से सर्वज्ञ महर्षियों ने, बीज के वाक्यार्थ को इस प्रकार कहा है:—'म' वाच्य मै, 'र' वाच्य परब्रह्म श्रीरामजी के शेषभूत—यथेष्ट विनियोग के (चन्दन, कुसुम, ताम्बूलवत् नियुक्ति के) योग्य हूँ, इसी प्रकार तुम भी जानो ॥ २० ॥

रामायेति चतुर्थेन श्रिया देव्यास्तु सर्वदा ।
चेतनाऽचेतनानाञ्च रमणाश्रयतेर्य्यते ॥ २१ ॥

अन्वयम् (हे सुरसुरानन्द ! महर्षिभिः) रामाय इति चतुर्थेन (पदेन) श्रिया देव्याः (सीतादेव्याः) चेतनाचेतनानाञ्च सर्वदा (सर्वस्मिन्काले) रमणाश्रयता (सीतादेव्या जडचेतनात्मकस्याऽखिलविश्वस्य विलक्षणभोग्यादिप्रदानेन सदा रमयितृत्वम्) ईर्य्यते (प्रतिपाद्यते) अत्राऽऽगमान्वयपक्षे च—चतुर्थी विभक्ति विद्यतेऽस्मिन् न चतुर्थं तेन चतुर्थेन रामाय — इति पञ्चमषष्ठावयवेन । अन्यत्पूर्ववद्बोध्यम् ॥ २१ ॥

अथ चतुर्थपदार्थमभिदधाति—" रामो रमयतां वरः " रमयामास धर्मात्मा" इत्याद्युक्तरीत्या श्रियं चेतनाचेतनात्मकं विश्वं चाविलक्षणभोग्या–

दिवस्तुप्रदानेन जन्मादिदातृत्वेन चाविरतं रमयतीति रामः। बाहुलकात्क-
र्त्तर्यपि घञ इत्यर्थकेन रामायेति चतुर्थेन पदेन व्यक्तचतुर्थ्यन्तेन श्रिया
देव्या लक्ष्म्या सीतायाश्चेतनाचेतनानां स्थावरजङ्गमात्मकप्रपञ्चानां
च रमणाश्रयता रमयितृत्वं सर्वदा सर्वस्मिन्काले निरन्तरमीर्य्यते प्रतिपाद्य-
त इत्यर्थः। ब्रह्मादिगणैः श्रीयते सेव्यते इति श्रीः "श्रिञ् सेवायाम्" इत्यतो
बाहुलकात्कर्मणि क्विप् "क्विब्वचि" इत्यादिना श्रिञो दीर्घश्च। यद्वा शृणाति
आश्रितदोषान् हिनस्तीति श्रीः "शॄ हिंसायाम्" इति धातोरौणादिके
डीप्रत्यये टिलोपे। यद्वा सर्वविज्ञापनं भगवन्तं श्रावयति स्वयं वात्सल्यजल-
धित्वात् शृणोतीति श्रीः अन्तर्भावितण्यर्थात्केवलाच्च शृणोतेरौणादिके
डुविप्रत्यये टिलोपे, स्वयं श्रयति निजपतिं श्रीरामं जनैश्च श्रावयतीति श्रीः।
किञ्चात्र—

"श्रयन्तीं श्रीयमाणां च शृणतीं शृण्वतीमपि।
शृणाति निखिलान्दोषान् श्रीणाति च गुणैर्जगत्।
श्रीयते चाखिलैर्नित्यं श्रयते च परं पदम्"

इत्यादिनिरुक्तिरप्यनुसंधेया। किञ्च मातृत्वप्रयुक्तवात्सल्यातिशयाऽ
हितं रावणादिकमपि हितार्थान् श्रावयति बोधयतीति श्रीः।

उक्तं श्रीमद्रामायणे—

मित्रमौपयिकं कर्तुं रामः स्थानं परीप्सता।
बधं चानिच्छता घोरं त्वयाऽसौ पुरुषर्षभः।
विदितः स हि धर्मात्मा शरणागतवत्सलः।
तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि।
प्रसादयस्व त्वं चैनं शरणागतवत्सलम्।
मां चास्मै प्रयतो भूत्वा निर्यातयितुमर्हसि' इति।

न चात्र "लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया" इतिकोशाच्छ्रीश
ब्देन लक्ष्म्या एव ग्रहणं न सीताया इति शङ्क्यम् राममुद्दिश्य "सीता लक्ष्मी-
र्भवान् विष्णु" इति वाल्मीकीयवचनेन सीतालक्ष्म्योरभेदाभिधानादित्यलम् २१

इसमें 'रामाय' पद का अर्थ दिखाया गया है—

भा०—हे सुरसुरानन्द! महर्षियों ने, 'रामाय' इस चतुर्थ्यन्त पद से, श्रीसीता जी और जड़ चेतनात्मक समस्त विश्व को विलक्षण भोग्यादि देने के कारण श्रीरामजी में रमणाश्रयत्व प्रतिपादन किया है॥ २१॥

ससर्वविधबन्धुत्वं सर्वप्राप्यत्वमेव च।
सर्वप्रापकता तेन तथाचोभयलिङ्गता ॥ २२ ॥

अन्वयमः-(हेसुरसुरानन्द ! अन्तर्य्यामित्वेन जड़चेतनात्मकासंख्यब्रह्माण्डेषु यः स्वयं रमते सर्वान्रमयति स राम इत्यर्थकेन) तेन (रामायेति पदेन) एव (रामस्यैव) ससर्वविधबन्धुत्वं सर्वप्राप्यत्वं सर्वप्रापकताच (महर्षिभिरीर्य्यते) तथाच (श्रीरामस्य) उभयलिङ्गता (सर्वान्तर्य्यामित्वेन पृथिव्यादिप्राकृतहेयवस्तुवस्थितस्यापि परब्रह्मणः श्रीरामस्याखिलहेयगुणात्मकत्वदोषरहितत्वं दिव्यकल्याणगुणाकरत्वञ्चेत्युभयलिङ्गत्वमीर्य्यते इति वेदितव्यम्) ॥ २२ ॥

किञ्च चराचरेषु रमतेऽन्तर्यामितयेति राम इत्यर्थकेन तेनैव रामायेति पदेन तस्य सर्वप्राप्यत्वं चेर्य्यत इति पूर्वेणैव सम्बन्धः। अयं भावः जातिगुणशौचादिकमनाश्रित्यैव सर्वेषां निषादगृध्रशवरीवानरादिप्रभृतीनां कण्ठमणिरिव प्राप्यः सर्वप्राप्यस्तस्य भावः। अनेन परमसौलभ्यं तस्याभिहितमिति। कीदृशं सर्वप्राप्यत्वं सर्वविधबन्धुत्वेन सह वर्तमानं ससर्वविधबन्धुत्वम् सर्वा विधानं विधाः प्रकारा यस्य स सर्वविधः स चासौ बन्धुश्च श्रीरामस्यैव सर्वविधबन्धुत्वं जीवनिकायैराश्रयणीयम्।

तथाचोक्तं श्रीमद्रामायणे—

"अहं तावन्महाराजे पितृत्वन्नोपलक्षये।
भ्राता भर्त्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः" इति।

आचार्य्या अपि—

"माता पिता युवतयस्तनया विभूतिः।
सर्वं यदेव नियमेन मदन्वयानाम्" इत्याहुः।

तथा तस्य सर्वप्रापकता च तेनैव पदेनेर्य्यते सर्वान्धर्मार्थकाममोक्षानाभिताम् प्रापयतीति सर्वप्रापकस्तस्य भावः। उभयलिङ्गतापि तस्य तथैवेर्य्यते ॥ २२ ॥

भा०—जो सर्व प्रकार का बन्धु, सबों की प्राप्ति के योग्य, सब कुछ-अर्थ धर्म काम मोक्ष—की प्राप्ति कराने वाला और उभय चिन्ह युक्त है।

(उभय चिन्ह का तात्पर्य अखिल हेय गुण रहितत्व और अखिल दिव्य गुण सहितत्व है) ॥ २२ ॥

पदेनैवोच्यते सत्यानन्दचिद्रूपता तथा ।
यावद्विभूतिनेतृत्वं रामपादाब्जसन्नते ! ॥ २३ ॥

अन्वयप्र—हे रामपादाब्जसन्नते !"रमन्तेयोगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि । इति रामपेदनासौ परं ब्रह्माभिधीयते" (इत्यर्थकेन रामायेति चतुर्थ्यन्तेन—पदेनैव (परब्रह्मश्रीरामस्य) सत्यानन्द—चिद्रपता उच्यते । तथा यावद्विभूतिनेतृत्वम् उच्यते ॥ २३ ॥

पादावब्जमिव पादाब्जं रामस्य पादाब्जे सम्यक् नतिर्य्यस्य स तत्संबुद्धौ हे रामपादाब्जसन्नते ! सुरसुरानन्द ! "रमन्ते योगिनो यस्मिन्सत्यानन्दे चिदात्मनि" इत्युक्तरीत्या तेनैव रामायेति पदेन तथा तस्य सत्यानन्दचिद्रूपता चोच्यते । यावद्विभूतिनेतृत्वं च नेता नायकः ॥२३॥

भा० — हेरामजीके चरण कमलमें सम्यक्नतिवाले सुरसुरानन्द ! (जिस अनन्त सच्चिदानन्द परमात्मा में योगी जन रमण करते है, उसी परब्रह्म परमात्मा को राम इस पद से कहते है इत्यर्थक) 'रामाय' इस चतुर्थ्यन्त पदसे परब्रम्ह श्रीरामजीको सच्चिदानन्दरूप, एवं लीला विभूतिके सहित समस्त त्रिपाद विभूतिके नायक भी कहते है ॥२३॥

रागादिकारणे बन्धौ तेनैव विनिवर्त्त्यते ।
बन्धुत्वप्रतिपत्तिश्च भासमानाऽविचारतः ॥ २४ ॥

अन्वयप्र—तेनैव (सर्वविधबन्धुत्वप्रतिपादकेन रामायेति पदेनैव) अविचारतः अविवेकात् रागादिकारणे बन्धौ (भ्रातृपुत्रकलत्रमित्रादौ भासमाना (प्रतीयमाना) बन्धुत्वप्रतिपत्तिश्च बन्धुत्वनिश्चयश्च विनिवर्त्यते ॥ २४ ॥

अविचारतोऽविचारेण भ्रमेण शुक्तौ रजतमिव भासमाना बन्धौ भ्रातृपुत्रकलत्रमित्रादौ बन्धुत्वस्य प्रतिपत्तिर्निश्चयः तेनैव रामायेति पदेन निवर्त्यते

दूरी क्रियते। कीदृशे बन्धौ ? रागादिकारणे सर्वविधबन्धुत्वप्रतिपादनेनैव बन्धौ बन्धुत्वप्रतिपत्तिनिवृत्तिः फलितेति तत्फलितार्थकथनमेवेदमिति बोध्यम्॥२४॥

भा०—सर्वविधबन्धुत्व प्रतिपादक 'रामाय' (इस चतुर्थ्यन्त) पद से ही रागादिके कारण भ्राता पुत्र कलत्र पित्रादि में विना विचारे प्रतीयमान बन्धुत्व (मदीयत्व) के निश्चय की निवृत्ति होती है ॥ २४ ॥

तच्चतुर्थ्या स्वानुरूपकैङ्कर्य्यप्रार्थनोच्यते ।
विषयान्तरसेवाऽपि प्राप्ता सा विनिवर्त्त्यते ॥२५॥

अन्वयप्र—तच्चतुर्थ्या (रामपदोत्तरतादर्थ्यया चतुर्थ्येक वचनङेविभक्त्या) स्वानुरूपकैङ्कर्य्यप्रार्थना (स्वाधिकारानुगुणां सर्वविधबन्धु परब्रह्मपरमात्मनः श्रीरामस्य यत्कैङ्कर्य्यं तस्य प्रकृष्टयाच्ञा) उच्यते (महर्षिभिरितिशेषः) रागादिवशात्) प्राप्ता (या) विषयान्तरसेवा (श्रीरामभिन्नदेवताऽऽराधना) साऽपि विनिवर्त्त्यते ॥२५ ॥

तच्चतुर्थ्या रामपदोत्तरचतुर्थ्या आयेत्यनेन स्वानुरूपं जीवयोग्य स्वामिनो भगवतः कैङ्कर्य्यं तस्य प्रार्थना प्रकृष्टत्वेन याचना उच्यते प्रतिपाद्यते भगवदपेक्षयाऽन्यो विषयो विषयान्तरं ब्रह्मादिस्तस्य रागतः प्राप्ता या सेवा सापि निवर्त्यते सर्वं वाक्यं सावधारणमितिन्यायेन भगवतस्तवैव कैङ्कर्य्यं ममानुरूपं प्रतिभवतु न ब्रह्मादिकैङ्कर्य्यमिति तत्सिद्धिरिति बोध्यम् ॥२५॥

भा०—महर्षिगण, इस (तादर्थ्य) चतुर्थी से अर्थात रामपदोत्तरङे विभक्ति से परब्रम्ह परमात्मा श्री रामजी के ही अनुरूप कैंकर्य की प्रार्थना (याचना), और (रागादिवशात) प्राप्त अन्यों की सेवा की निवृत्ति भी बतलाते है ॥ २५ ॥

पदेन नेनात्र तु पञ्चमेन प्रकथ्यतेऽथो तदनन्यशेषता ।
हेयंतदन्यार्थ्यमपिस्वतन्त्रतानिवर्त्यतेऽतःसततंस्वकीया २६

अन्वयप्रः—अथो—(चतुर्थ्यन्तपदव्याख्यानानन्तरम्) अत्र षडक्षरमन्त्रौ पञ्चमेनैव तुरेवार्थे नेन (नकारेण) पदेन तदनन्यशेषता प्रकथ्यते। तदन्यार्थ्यमपि हेयं (भगवदितरवस्तुनिरूपितजीवनिष्ठमयो

जनत्वं त्याज्यं कथ्यते) अतः स्वकीया स्वतन्त्रता सततं (निरन्तरं यथा स्यात्तथा) निवर्त्यते। अष्टावयवत्वमुररीकृते "पदे न ने नात्र न पञ्चमे न" इत्यत्र पञ्चमशब्दोत्तर तृतीयाविभक्तिरुतसप्तमीविभक्तिरितिसंशयः?तत्रोच्यते—प्रकृतश्रीराममन्त्रराजस्य "एकधाथ द्विधा त्रेधा" इत्यादिरामरहस्योपनिषदि अष्टविधत्वं दृश्यते। षडक्षरत्वन्तु शास्त्रतः प्रत्यक्षतश्च प्रसिद्धमेव "रेफारूढत्रिमूर्ति" इत्यादिग्रन्थस्वारस्यात्'एकधा'इत्याद्युपनिषदुद्घोषादुक्ततृतीयचतुर्थपदव्याख्यानात् वक्ष्यमाणषष्ठपदव्याख्यानाच्च सप्तमी विभक्तिरित्येव निर्णीयते। तथाचात्र प्रकृतमनौ कोषशब्दशास्त्रसिद्धनमइत्यव्ययखण्डे पञ्चमाक्षरे नकारे नार्थप्रकाशकत्वम् इतिप्रथमनकारेण सूचयन द्वितीयतृतीयनकाराभ्यां द्रढितं स्वार्थं प्रकटयन् ग्रंथकारः न पञ्चमे अर्थात् सप्तमे नइत्यव्यये पदे न तदनन्यशेषता न (तदनन्यशेषतैव) प्रकथ्यते महर्षिभिरित्युक्तवान्। द्वौ नञौ स्वार्थं द्रढयतः इतिशब्दशास्त्रव्यवस्थया वेदितव्यम्॥ २६ ॥

अथ सखण्डपक्षमवलम्ब्य पञ्चमपदार्थमाह—पदेनेति। अथो चतुर्थपदव्याख्यानानन्तरं पञ्चमेन पदेन नेन नकारेण तदनन्यशेषता कथ्यते। न अन्यस्य शेषः अनन्यशेषस्तस्य भगवतोऽनन्यशेषस्तदनन्यशेषस्तस्य भावः। इयं त्याज्यं तदन्यार्थ्यं तदन्यप्रयोजनत्वम् "अर्थोऽभिधेयरैवस्तु प्रयोजननिवृत्तिषु" इत्यमरः। स्वकीया स्वतन्त्रता च सततं निवर्त्यते॥२६॥

अब पञ्चम 'न' अक्षर का अर्थ दिखलाते हैं—

भा०—महर्षियोंने यहां पञ्चम पद 'न' से तदनन्यशेषता—जीवको, परब्रह्म परमात्मा श्री रामचन्द्र जी के एकमात्र विनियोग के योग्य—कहते हुए उन से अन्यों के प्रयोजन को त्याज्य बतलाया है। अतः अपनी स्वतन्त्रता का सतत निवारण किया है॥ २६ ॥

पदेन षष्ठेन म इत्यनेन स्वस्वाम्यनन्यार्हकशेषतापि।
समुच्यते चेतनजीवाचिना तत्किङ्करत्वैकप्रयोजनत्वम्॥२७

अन्वयप्र–चेतनजीववाचिना षष्ठेन म इत्यनेन पदेन तत् किङ्करत्वैकप्रयोजनत्वम् स्वस्वाम्यनन्यार्हकशेषताऽपि समुच्यते महर्षिभि रितिशेषः। अष्टावयवस्त्वेतु षष्ठी विभक्तिर्विद्यते यस्मिन्निति षष्ठं तेन षष्ठेन 'म'इत्येनेन अष्टमेन पदेन (वस्तुना) स्वस्वाम्यनन्यार्हकशेषता समुच्यते अन्यत्पूर्ववद्बोध्यम् ॥ २७॥

चेतनश्चासौ जीवश्च चेतनजीवस्तं वक्ति तच्छीलस्तेन चेतनजीववाचिना 'म 'इत्यनेन पदेन स्वस्वाम्यनन्यार्हशेषता समुच्यते प्रतिपाद्यते। स्वस्य जीवस्य स्वाम्यनन्यार्हशेषता भगवदनन्यार्हशेषत्वमित्यर्थः। तस्य भगवतः किंकरस्तत्किकरस्तस्य भावस्तत्किङ्करत्वमेव एकं मुख्यं प्रयोजनं यस्य जीवस्य स तस्य भावस्तत्त्वम्। अपिशब्दाज्जीवस्य भगवत्पारतन्त्र्यस्वरूपं च प्रतिपाद्यते ॥ २७ ॥

पञ्चमाक्षर को निरुपण कर षष्ठाक्षर का निरूपण करत हैं–

भा०–महर्षिगण चेतन जीववाचक छटवां ' मः ' पद से जीव को श्रीरामजीका कैङ्कर्य्य ही मुख्य प्रयोजन, और स्व स्वामि निरूपित अनन्यार्हशेषता कहते है अर्थात् यह जीव दूसरे के नही केवल श्री रघुनाथजी के ही विनियोग के योग्य है ॥ २७ ॥

उपायार्थपरेणासावखण्डनमसोच्यते ।
उपायो हि मवाच्यस्य रवाच्यो राम एव सः ॥२८॥

अन्वयप्र–(हेसुरसुरानन्द!) उपायार्थपरेण (उपायार्थवाचकेन) अखण्डनमसा (खण्डरहितनमःशब्देन) रवाच्यो (योऽसौरामः सएव मवाचस्य (जीवस्य) हीति निश्चयेन उपायः (लोकपरलोकसाधनम्) उच्यते (प्रतिपाद्यते महर्षिभिरिति शेषः) ॥ २८ ॥

अखण्डपक्षे आह–उपायार्थेति। अखण्डनमःशब्दस्योपायवाचकत्वात् उपायश्चासावर्थश्च उपायार्थः तस्य पर उपायार्थपरस्तेन उपायार्थपरेणउपायार्थवाचकेनाऽखण्डनमसाऽखण्डनमःशब्देन मवाच्यस्य जीवस्य रवाच्यो सौराम एवोपाय उच्यतेप्रतिपाद्यते।हीतिनिश्चितोऽयमर्थः।किञ्च रामित्यनेनाऽनन्या

हशेषत्वं रामायेत्यनेनाऽनन्यभोग्यत्वं नमःशब्देनाऽनन्योपायत्वमित्याशयः। तथाच मवाच्यो जोवो रापायैवं स्वस्मै नान्यस्मै भगवद्भोग्यभूत शेषभूतो दास भूतोऽहमिति वाक्यार्थः फलितः। नन्वत्र दासशब्दस्य शूद्रवाचकत्वेन दासत्वाभिधानं निन्द्यम् "दासनाम तु शूद्राणां न द्विजानां कथंचन" इति निषेधाच्चेति चेन्न "दासः सेवकशूद्रयोः" इति कोशे सेवकवाचिनोऽपि दासशब्दस्य दर्शनेनात्र प्रकरणात्तस्यैव ग्रहणात् नानार्थे सैन्धवमानयेत्यादौ लवणाश्वादीनामुपस्थित्या प्रकरणादिनाऽन्यतरस्यैवेतिवत्। किंच स निषेधो भगवत्संबन्धिरामकृष्णनारायणनृसिंहवामनादिदासान्तातिरिक्तस्थले। यथा शर्मान्तं ब्राह्मणस्य नाम वर्मान्तं क्षत्रियस्य पालितान्तं वैश्यस्य दासान्तं शूद्रस्य। तत्र ब्राह्मणविषये देवदत्तदासविष्णुदत्तदासेति निन्द्यं न तु विष्णुदासनारायणदासादयो दासान्ता निन्द्याः।

तथा च पाद्मे—

"ब्रह्माणं रुद्रमिन्द्रं च यमं वरुणमेव च।
नारायणस्य दासास्ते ये चान्येऽण्डस्य मध्यगाः।
यः परः पुरुषो विष्णुर्नारायण उदाहृतः।
दासभूतमिदं तस्य ब्रह्मादि सकलं जगत्।
सृष्टं पुनस्तथा सर्गे तस्मान्नारायणादुमे!।
तस्य दास्यं चतुर्थ्यन्तं मन्त्रे प्रोक्तं तु पार्वति!।
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न व्रतैश्चोपवासकैः।
प्राप्यते वैष्णवो लोको नचादास्येन कुत्रचित्।
तस्माद्दास्यं हरेर्भक्त्या भजेतानन्यमानसः।
प्राप्नोति परमां सिद्धिं कर्मबन्धविमोचनीम्"

श्रीमद्रामायणे हनुमद्वाक्यम्—

"दासोऽहं कोशलेन्द्रस्य रामस्याऽक्लिष्टकर्मणः।
हनूमान् शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः" इति।

श्रुतिश्च—

"ब्रह्मदासा ब्रह्मदासा ब्रह्माहमेतिकितवाः" इति।

आनन्दगणना तु श्रुतौ न मुक्तस्यानन्दतारतम्यविवक्षया अपितु ब्रह्मणो निरतिशयानन्दत्वविवक्षया।

आनन्दगणना तु यथा तैत्तिरीयोपनिषदि--

"भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्यु र्धावति पञ्चम इति । सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात्साधु युवा-ध्यापकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः । स एको मनुष्य गन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणा मानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः । स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रि-यस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः । स एकः आजानजानां देवानामानन्दः।श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः ।स एकः कर्म्मदेवानां देवानामानन्दः । ये कर्मणा देवानपि यन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः।स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः । स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । स यश्चायं पुरुषे । यश्चाऽसावादित्ये । स एकः । स य एववित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्न-मयमात्मानमुपसंक्रामति" इत्यादि।

किञ्च अन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्तीत्य विदुषां क्षय्यलोकत्वकार णमनन्यराजत्वमुच्यते । तच्च निष्कृष्टकर्माधीनत्वमेव तन्निवृत्तिश्च विदुषः स स्वराड् भवतीत्यत्र विवक्षिता। अतोऽपि कर्मवश्यत्वमेवात्र निषिध्यते . न स्वाभाविकभगवद्दासत्वम । अतएव "चानन्याधिपति" इति सूत्रे चानन्या-धिपतित्वमेवोक्तं न त्वनधिपतिरिति । तस्मात्स्वाभाविकभगवद्दासत्वमेव पुरुषार्थः।

पाद्मेऽप्युत्तरखण्डे--

"अविच्छिन्ना सदा तेषां विष्णुना संगतिः शुभा ।
तत्समानसुखं नित्यं प्राप्नुवन्ति मनीषिणः ॥
यत्र यत्र हरेर्लोकानाविश्य शुभचेतसः ।
नाप्नुवन्ति पुनः स्वर्गं स्वर्गस्था इव जन्तव. ॥
यथा सौमित्रिभरतौ यथा सकर्षणादयः ।
यथा तेनैव जायन्ते सत्यलोकाद्यपेच्छया ॥

पुनस्तेनैव यास्यन्ति तत्पदं शाश्वतं परम्।
न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते।
विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिणः।
न वै दास्यं परेशस्य बन्धनं परिकीर्तितम्।
सर्वबन्धविनिर्मुक्ता हरिदासा निरामयाः।
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावृत्तिलक्षणाः।
कर्मबन्धमया दुःखमिश्रसौख्यभयप्रदाः।
बह्वायासकृता दुःखजनिनाशैकतेहव" इत्यादि।

ब्रह्मवैवर्त्तेऽपि —

"हरेरुपासना चात्र सदैव सुखरूपिणी।
न च साधनरूपा सा सिद्धरूपाऽत्र साध्यते" इति।

एवं चोपासनाविशेषजनितसालोक्यादौ तत्तल्लोकादिसुखानुभवपूर्वकं यत्किञ्चिद्भगवत्साक्षात्कारसुखमात्रं न तु ज्येष्ठकैङ्कर्यादिसुखमिति।

"दीयमानन्न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः" इत्युक्तमिति ज्ञेयम्। तस्माद्भगवदनुभवजनितप्रीतिकारितसर्वदेशसर्वकालसर्वावस्थोचितसर्वप्रकारकैङ्कर्यमेव परमपुरुषार्थ इति सिद्धम्। तादृशपरमपुरुषार्थपरायणा अत्राम्बरीषखट्वाङ्गविभीषणहनुमदादयो व्रजलोकाश्च प्रसिद्धाः प्रपन्नत्वेनानुसन्धेयाः। किञ्चैकान्तित्वसबन्धवतो गुरुशापनिमित्तिकशूद्रभावभाजोऽप्यग्निदाहनैमित्तिककरणवतोऽपि ब्रह्मप्राप्तिरित्यत्र वैवस्वतमनुपुत्रपृषध्रवृत्तान्तो नवमस्कन्धस्थो द्रष्टव्यः।

यथा—

"एव शप्त स गुरुणा प्रत्यगृह्णात्कृताञ्जलिः।
अधारयद्व्रतं वीर! ऊर्ध्वरेता मुनिप्रियम्।
वासुदेवे भगवति सर्वाऽऽत्मनि परेऽमले।
एकान्तित्वं गतो भक्त्या सर्वभूतसुहृत्तमः।
विमुक्तसङ्गः शान्तात्मा संयताक्षोऽपरिग्रहः।
यदृच्छयोपपन्नेन कल्पयन् वृत्तिमात्मनः।
आत्मन्यात्मानमाधाय ज्ञानतृप्त समाहितः।
विचचार महीमेतां जडान्धबधिराकृतिः।
एवंवृत्तो वन गत्वा दृष्ट्वा दावाग्निमुत्थितम्।
तेनोपयुक्तकरणो ब्रह्म प्राप परं मुनिः" इति।

श्रीमद्रामायणे च–

"बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम् ।

न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परंतप !" इत्युक्त्वा प्रपन्नत्यागो न कश्चिदिति ज्ञेयम् ।

"मोघमन्नं विन्दते अप्रचेतः स्वर्गाल्लोकाद्भ्रश्यते भ्रष्टचेष्टः ।
भीतं प्रपन्नं प्रददाति शत्रवे सेन्द्रा देवाः प्रहरन्ति वज्रम्" इति श्रुतिरपि ।
अतो भगवान्प्रपन्नानङ्गीकरोत्येवेत्यलम् ॥ २८ ॥

सखण्ड 'नमः' पदकी व्याख्या कर, अब अखण्ड 'नमः'
पद के अर्थ को दिखलाते है–

भा०—महर्षिगण, उपायार्थ (साधन) वाचक अखण्ड 'नमः' शब्द से, रकारार्थक रामजी को ही, मकारार्थ जीव का उपाय (लोक परलोक का साधन) कहते है ॥ २८ ॥

बीजेनैवाऽथ जीवस्य स्वरूपं प्रतिपाद्यते ।
रामायेति परस्यापि चतुर्थ्या तत्फलस्य च ॥ २९ ॥
उपायस्य त्वखण्डेन नमःशब्देन चोच्यते ।
सखण्डेन मकारेण षष्ठयन्तेन विरोधिनः ॥३०॥

अन्वयप्र–(महर्षिभिः) बीजेन (षडक्षरमन्त्रराजस्य बीजेन "रां"इत्यनेन) जीवस्य स्वरूपं, रामाय इत्यनेन परस्य(परब्रह्मणः श्रीरामस्य) स्वरूपं, चतुर्थ्या तत्फलस्य च स्वरूपं, प्रतिपाद्यते । तु (पुनः) अखण्डेन नमःशब्देन च उपायस्य स्वरूपमुच्यते (प्रतिपाद्यते) सखण्डेन षष्ठ्यन्तेन मकारेण विरोधिनः स्वरूपं प्रतिपाद्यते ॥ २९ ॥ ३० ॥

अथ श्लोकद्वयेनाऽर्थपञ्चकमाह-बीजेन रामित्येन जीवस्य स्वरूपं प्रतिपाद्यते । रामायेति रामपदेन परस्य परमात्मनः स्वरूपं प्रतिपाद्यते । चतुर्थ्या व्यक्तचतुर्थ्या आयेत्यनेन तत्फलस्य स्वरूपं प्रतिपाद्यते ॥ २९ ॥

अखण्डेन नमःशब्देन उपायस्य स्वरूपं प्रतिपाद्यते। सखण्डे नमःशब्दे षष्ठ्यन्तेन मकारेण विरोधिनः स्वरूपं प्रतिपाद्यते। एवं च तत्तत्पदेन जीवपरमात्मोपायफलविरोधिरूपार्थपञ्चकस्वरूपप्रतिपादनमभिहितमिति सुधीभिरवगन्तव्यम् ॥ ३० ॥

अब श्रीमदाचार्य्य श्रीरामानन्दस्वामी जी दो श्लोकों से
अर्थपञ्चक का उपदेश करते है—

भा०—महर्षियों ने षडक्षर मन्त्रराज के बीज से जीवका स्वरूप, रामाय इस चतुर्थ्यन्त घटक राम पद से परब्रह्म परमात्मा श्रीरामजी का स्वरूप, और तादर्थ्य चतुर्थी आय से जीव कृत समस्त कर्मों के फल के स्वरूप का प्रति पादन किया है और अखण्ड 'नमः' शब्द से उपाय (साधन) का स्वरूप कहा है। सखण्ड पक्ष मे तो षष्ठ्यन्त मकार पद से भगवत्प्राप्ति के विरोधियों के (अहङ्कार ममकारादि) स्वरूप का प्रतिपादन किया है ॥ २९ ॥ ३० ॥

तात्पर्य्यार्थोऽशेषवेदशास्त्राभिरुचिसंश्रयः ।
वाक्यार्थः प्राप्यसम्बन्धि स्वरूपाभिनिरूपणम् ॥३१॥
तारकस्य प्रधानार्थः स्वस्वरूपनिरूपणम् ।
सम्बन्धस्यानुसन्धानमनुसन्ध्यर्थ इष्यते ॥ ३२ ॥

अन्वयप—(हे सुरसुरानन्द !) अशेषवेदशास्त्राभिरुचिसंश्रयः तारकस्य (षडक्षरमन्त्रराजस्य) तात्पर्य्यार्थः। प्राप्यसम्बन्धिस्वरूपाभिनिरूपणम् (तारकस्य) वाक्यार्थः। स्वस्वरूपनिरूपणम् (तारकस्य) प्रधानार्थः । सम्बन्धस्यानुसन्धानम् (तारकस्य) अनुसन्ध्यर्थः (अनुसंधेयार्थः) इष्यते (निरूप्यते ब्रह्मर्षिभिरिति शेषः) ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

अथ मन्त्रराजतारकस्य कस्तात्पर्य्यार्थः का वाक्यार्थः कः प्रधानार्थः कोऽनुसन्धानार्थ इत्यपेक्षायां तत्तत्स्वरूपं निरूपयन्नाह—तात्पर्य्येति युग्मेन। अशेषाणां वेदानां शास्त्राणां चाभिरुचे संश्रयस्तारकस्य तात्पर्य्यार्थ

इष्यते इति द्वितीयेनान्वयः। तथा प्राप्यभगवच्छ्रीरामसंबन्धिस्वरूपस्याभि निरूपणं प्रतिपादनं तस्य वाक्यार्थ इष्यते । तथा स्वस्वरूपस्य जीवस्वरूपस्य निरूपणं प्रतिपादनं तस्य प्रधानार्थ इष्यते । एवमेव जीवपरमात्मनोः संबन्धस्यानेकविधस्यानुपदमुक्तप्रायस्यानुसन्धानमनु-भवोऽहरहरनुसंधानम "उपसर्गे घोः किः" इति धात्रु धातोर्भावे किप्रत्ययः इत्थं "जाप्यस्तत्तारकाख्यः' इत्यारभ्यैतत्पर्य्यन्तैर्द्वाविंशतिभिःपद्यै विस्तरतया तारकश्रीमन्त्रराजार्थो विशदीकृतः प्रथमरहस्यत्वेन मुमुक्षुभि निर्मत्सरैर्निरन्तरमनुसन्धेयः ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

षडक्षर (ब्रह्मतारक) मन्त्रराज के षट् पदार्थों को और अर्थपञ्चक को दिखला कर अग्रिम दोश्लोकों से तारक मन्त्र राज के तात्पर्य्यार्थ, वाक्यार्थ, प्रधानार्थ, अनुसन्धनार्थादि के स्वरूप को दिखलाते है--

भा०—(हे सुरसुरानन्द ! ब्रह्मर्षिगण) समस्त वेद शास्त्र की रुचि का आश्रय षडक्षरमन्त्रराज का तात्पर्य्य है अर्थात समस्त श्रुति स्मृति इतिहास पुराण का पर्य्यवसान जिसमें है, वही षडक्षर श्री-रामतारकमन्त्र का तात्पर्य्यार्थ है, परम प्राप्य परमात्मा श्रीरामजी के स्वरूप का निरूपण करना मन्त्रराज का वाक्यार्थ है, जीव के स्वरूप का निरूपण करना मन्त्रराज का प्रधान अर्थ है, जीवात्मा और परमात्मा के अनेकविध सम्बन्ध का अनुसन्धान करना ही मन्त्रराज का अनुसंन्धार्थ है। (यह निरूपण करते है) ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

उक्त्वेत्थं तारकार्थं तु द्वयार्थः प्रतिपाद्यते ।
विमत्सराः प्रपश्यन्तु प्रगृह्णन्त्ववयन्तु च ॥ ३३ ॥

अन्वयम-(हे सुरसुरानन्द !) इत्थम् (पूर्वोक्तप्रकारेण) तारकार्थन्तु (षडक्षरमन्त्रराजस्य विस्तरव्याख्यानम्) उक्त्वा (अस्माभिः)तु पुनः द्वयार्थः(द्वयमन्त्रस्यार्थः)प्रतिपाद्यते (तमर्थ) विमत्सरा (मत्सरो नाम अन्येषां शुभकर्म्मणि द्वेषः तद्रहिताः) भवन्तः प्रपश्यन्तु (धातूनामनेकार्थत्वाच्छृण्वन्तु विचारयन्तु

वा) (तमेवार्थं) प्रगृह्णन्तु (श्रुत्वा विचार्य्य वा (तमेवार्थं) प्रगृह्णन्तु (श्रुत्वा विचार्य्य वा तमेवार्थं स्वीकुर्वन्तु) (तमेवार्थम) श्रवयन्तु (ध्यायन्तु) ॥ ३३ ॥

अथ द्वितीयं रहस्यं व्याचिख्यासुराचार्यो द्वयार्थमभिदधाति-उक्त्वेति । इत्थ पूर्वोक्तप्रकारेण तारकार्थमुक्त्वा द्वयस्य "श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये श्रीमते रामचन्द्राय नम." इति रामद्वयाख्यमन्त्रस्यार्थः प्रतिपाद्यते मया निरूप्यते। हे निर्मत्सरा. ! भवन्तस्तं प्रपश्यन्तु प्रकृष्टत्वेन चाक्षुषज्ञानविषयं कुर्वन्तुः गृह्णन्तु । प्रकृष्टत्वेन शब्दतो गृह्णन्तु श्रवयन्तु अवगच्छन्तु अर्थतो जानन्त्विति यावत् ॥३३॥

भगवान् श्रीरामान्दस्वामी जी "जाप्यस्तत्तारकाख्यो" यहाँ से आरम्भ कर "तारकस्य प्रधानार्थः" इस ३२ वां श्लोकपर्य्यन्तु षडक्षर मन्त्रराज का विशद व्याख्या कर ३३ वा श्लोक से ४३वा श्लोक पर्य्यन्त द्वयमन्त्र के विस्तर अर्थ का उपदेश अपने शिष्यों को दिये है—

भा०—(हे सुरसुरानन्द ! (इस प्रकार षडक्षरमन्त्रराजका अर्थ कह कर अब द्वय मन्त्र का अर्थ प्रतिपादन करता हूँ । निर्मत्सर (राग द्वेषरहित) होकर उस अर्थ को समझो, उसे विशेष रीति से ग्रहण करो और उसका सदा चिन्तन करो ॥ ३३ ॥

श्रीरामद्वयमन्त्रमद्भुततमं वाक्यद्वयं षट्पदं
वाणाक्षिप्रमिताक्षरन्तु भवता वेद्यो दशार्थान्वितम् ।
युक्तं तत्त्रिपदैस्तु तत्र सुमते! पूर्वं शुभस्यास्पदं ।
वाक्यं पञ्चदशाक्षरं तदनु दिग्वर्णात्मकं तूत्तरम्॥३४॥

अन्वयप्र—हे सुमते ! (सुरसुरानन्द !) वेदतत्त्वाभिज्ञामहर्षयः—वाक्यद्वयं षट्पदं वाणाक्षिप्रमिताक्षरम् (पञ्चविंशतिवर्णात्मकम्) दशार्थान्वितम् "सीता पुरुषकारार्था श्रीत्यनेन पदेन तु ॥३५॥इत्यारभ्य विरोधिनो निरासस्तु "नमःशब्देन वर्ण्यते ॥४॥इत्यन्तेन ग्रन्थेन

वक्ष्यमाणः पुरुषकारार्था सीता; तस्याः श्रीरामेण शार्कं नित्यसंबन्धः इत्यादिभिर्दशभिरर्थैर्युक्तम् (यतः) अद्भुततमम् (अत्याशु परमकारुणश्रीरामस्य चरणद्वन्द्वे निरतिशतमालसत्वादाश्चर्यजनकम्) श्रीरामद्वयमन्त्रम् (वदन्तीतिशेषः) तु भवता वेद्यः (भवता-सुरसुरानन्देन त्वया-तु-इत्थंभूतःश्रीरामद्वयमन्त्रः अवश्यमेव ज्ञातव्यः) तत्र (श्रीरामद्वयमन्त्रे) पूर्वं वाक्यन्तु शुभस्यास्पदं पञ्चदशाक्षरं त्रिपदैः (त्रिभिः पदैः) युक्तम् (वेदितव्यम्) तदनु (पूर्ववाक्यस्य पश्चात्) उत्तरं वाक्यन्तु (शुभस्यास्पदम्) दिग्वर्णात्मकं (दशाक्षरात्मकम्)त्रिपदैः युक्तम (वेदितव्यम्)॥३४॥

तत्रादौ तदीयवाक्यपदवर्णानामवापोद्धापनिरासाय तेषां स्वरूपबोधार्थं तदीयवाक्यादीन्वदति । हे सुमते! सुरसुरानन्द! भवता श्रीरामद्वयमन्त्रमुक्तस्वरूपवाक्यद्वयं वेद्यं द्विवाक्यं बोध्यमित्यर्थः । वाक्यद्वयमस्ति यस्मिन्निति अर्शआद्यच् । कीदृशं तत् षट्पदानि यस्मिन् तत्षट् पदम् । पुन बाणाक्षिभिः पञ्चविंशत्या प्रमितानि अक्षराणि यस्मिँस्तद्बाणाक्षिप्रमिताक्षरम् पञ्चविंशतिवर्णात्मकमित्यर्थः । पुरुषकाररूपसीतादिभिर्दशभिरर्थैरन्वितं युक्तं दशार्थान्वितम् । तत्र द्वयोर्वाक्ययोर्मध्ये पूर्वं वाक्यम् "सुप्तिङन्तचयो वाक्यम्" इत्युक्तरीत्यासुबन्ततिङन्तचयात्मकं पूर्वार्द्धम् "श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये" इत्येतत् त्रिभिः पदैः "श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ"इत्यादिभिर्युक्तं विशिष्टम् । कीदृशं पूर्वं वाक्यं पञ्चदश अक्षराणि श्यादयो वर्णा यस्मिन तत् पंचदशाक्षरम् । पुन. शुभस्य परममङ्गलस्याऽऽस्पदं स्थानं मोक्षपदमिति यावत्। तदनु तत्पश्चादुत्तरं वाक्यम् "श्रीमते रामचन्द्राय नम." इत्येतत्तु दिशो दिग्मिता दशवर्णा अक्षराणि यस्मिन् तत् दिग्वर्णात्मकं दशाकाक्षरम् शुभास्पदं च ॥ ३४ ॥

अब द्वय मन्त्र के अक्षर और पद के वर्णन पूर्वक अवश्य ज्ञातव्य को दिखलाते है—

भा०—हे सुन्दर बुद्धिवाले! सुर सुरानन्द! वेद के मर्मज्ञ महर्षिगण दो वाक्य, छः पद, २५ वर्ण (अक्षर) जिसमे है और 'सीतापुरुषकारार्था' इस ३१ वाँ श्लोक से लेकर 'विरोधिनोनिरासस्तुनमः शब्देन वर्ण्यते' इस ४० सम श्लोक पर्य्यन्त 'श्री सीताजी पुरुषकार का अर्थ है और

उनको श्रीरामजी के साथ नित्य सम्बन्ध है' इत्यादि दश अर्थ से युक्त है। अतः परम कारण श्रीरामजी के चरण में अति शीघ्र साधक के मन को लगा देने से ही आश्चर्य्य जनक श्रीरामद्वयमन्त्र को कहते है।

जिस श्रीरामजी के द्वयमन्त्र में प्रथम वाक्य तो शुभ गुणों के स्थान पन्द्रह अक्षर वाला, तीन पद से युक्त है और उत्तर वाक्यको भी शुभगुण के स्थान, दश अक्षरवाला, तीन पद से युक्त जानो ॥३४॥

सर्वाधीशेश्वरस्याप्तिहेतुरत्राभिधीयते।
सीतापुरुषकारार्था श्रीत्यनेन पदेनतु ॥३५॥

अन्वयप्रः--(हे सुरसुरानन्द!) अत्र (श्रीरामस्य द्वयमन्त्रे) श्रीत्यनेन पदेन सर्वाधीशेश्वरस्य (सर्वेषामधीशानां जगन्नियन्तॄणां ब्रह्मविष्णुमहेशानामीश्वरस्य नियन्तुः श्रीरामस्य) आप्तिहेतुः (प्राप्तेः कारणम्) पुरुषकारार्था सीता अभिधीयते (कथ्यते) ॥ ३५ ॥

एव तदीयवाक्यादिविभागं प्रदर्श्य वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानस्य कारणत्वात्तत्रास्यार्थबोधाय तदीयतत्पदनामार्थं प्रतिपादयति–सर्वेत्यादिना। अत्र श्रीरामद्वयमन्त्रे श्रीत्यनेन पदेन पुरुषकारः अर्थः प्रयोजनम् यस्याः सा। पुरुषकारायेयं पुरुषकारार्था सीताऽभिधीयते उच्यते। कीदृशी सीता सर्वेषां ब्रह्मादिस्थावरपर्यन्तानामधीश्वरस्य श्रीरामस्याप्तिहेतुः प्राप्तिहेतुः प्राप्तिकारणम्। आप्तेर्हेतुराप्तिहेतुरित्यत्र "देवदत्तस्य गुरुकुलम्" इत्यत्रेव नित्यसाकाङ्क्षत्वात्समासः। अय भावः आश्रितदोषान् शृणाति नाशयति तत्प्रार्थनाः स्वयं शृणोति निजपतिं रामं श्रावयति अहितमपि हितान् श्रयावतीति श्रीरित्यादिव्युत्पत्त्या तत्तदर्थाभिधायिश्रीत्यनेन पदेन आश्रितदोषनिहननशीला तद्विज्ञप्तिश्रवणश्रावणतत्परा अहितहितश्रावणशीला ब्रह्मादिभिःश्रीयमाणा निखिलब्रह्माण्डपूरणसमर्था परमकरुणाजलनिरूपा सदा सदया भगवती प्राप्यसर्वेश्वरप्राप्तिहेतुः सीतोच्यत इति ॥३५॥

"वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानं कारणम्" वाक्यार्थज्ञान मे पदार्थ ज्ञान कारण है। विना पदार्थज्ञान के वाक्यार्थ ज्ञान दुर्लभ है। इस लिये ग्रन्थकार श्रीरामानन्दस्वामीजी सुरसुरानन्दजीसे पदार्थ ज्ञानका उपदेश करते है–

भा०–(हे सुरसुरानन्द !) श्रीरामजीके द्वय मन्त्र मे जो प्रथम 'श्री' पद है, उससे सर्वाधीश–ब्रम्हा, विष्णु, महेश्वर–के भी इश्वर श्रीरामजी की प्राप्ति कराने का कारण पुरुषार्थ स्वरूप श्रीसीता जी को कथन करते है ॥ ३५ ॥

मता पुरुषकारस्य नित्यं सम्बन्ध उच्यते ।
रामचन्द्रेतिपदतो वात्सल्यादिगुणस्य च ॥ ३६ ॥

अन्वयप्रः–(हेसुरसुरानन्द ! महर्षिप्रवरैः) मता (मतुप्प्रत्ययेन) पुरुषकारस्य (सीतायाः) श्रीरामेणशाकं) नित्यसम्बन्धः उच्यते । रामचन्द्रेतिपदतो (रामचन्द्रेति पदेन) (भगवति श्रीरामे) वात्स्यल्यादि गुणस्य च नित्यसम्बन्ध उच्यते (कथ्यते) ॥ ३६ ॥

"भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।

सम्बन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः" इति स्मरणान्नित्ययोगे विहितेन मता मतुपा प्रत्ययेन पुरुषकारस्य सीतारूपस्य "अनन्या च मया सीता भास्करेण प्रभा यथा" इत्युक्तरीत्या प्रभासूर्ययोरिव जातिव्यक्त्योः समवायसबन्ध इव सर्वेश्वरभगवता रामेण सह नित्यसम्बन्धो नित्ययोग उच्यते । रामचन्द्रेति पदतः रामचन्द्रेतिपदेन रामे वात्सल्यादिगुणस्य नित्यसम्बन्ध उच्यते प्रतिपाद्यते इत्यर्थः । ते च वात्सल्य-स्वामित्व सौशील्य सौलभ्य-सर्वज्ञत्व सर्वशक्तित्व-दया कृपानुकम्पा करुणावत्त्व-सौन्दर्य-सौहार्द-क्षमादयः । तत्र वात्सल्यं नाम आश्रितदोषाभ्रातृत्वम्।

तदुक्तं रामायणे–

'न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया' इति । केचित्तु स्वाश्रिताग स्तिरस्कारबुद्धिर्वात्सल्यमिति वदन्ति ।

तथा चोक्तम्—

"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ! ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ।
नाहमात्मानमाशंसे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ।

श्रियं चात्यन्तिकी ब्रह्मन्! येषां गतिरहं परा ।
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याता कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे'' इति।

किञ्च रामोऽपि सुग्रीवं प्रत्याह—

''त्वयि किञ्चित्समापन्ने किं कार्यं सीतया मया ।
भरतेन महाबाहो! लक्ष्मणेन यवीयसा' इति ।

स्वापराधानुसन्धानप्रयुक्तभगवज्जनितभयाभावोऽस्य प्रयोजनमपि बोध्यम् । स्वव्यतिरिक्तसमस्तवस्तुमात्रे स्वकीयत्वाभिमानः स्वामित्वम् ।

''स्वत्वमात्मनि संजातं स्वामित्वं ब्रह्मणि स्थितम्'

इत्युक्तेः । मत्कार्यमयमवश्यं करिष्यतीति प्रत्ययाय स्वामित्वम्। हीनदीनमलिनबीभत्सकुत्सितादिभिरप्यालिङ्गनसंभाषणादिकर्तृत्वम् सौशील्यम् ।

तथा चोक्तम्—

''हीनैर्दीनैर्मलिनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि ।
महतोऽच्छिद्रसंश्लिष्टं सौशील्यं विदुरीश्वरे ।
विराधं नीचबीभत्सं नियुद्धेन समागतौ ।
अपरिक्षणवमेघौ शुद्धाङ्गौ रामलक्ष्मणौ ।
शोणितोत्सिक्तसर्वाङ्गं न्यादं च जटायुषम्
अङ्कमारोप्य पप्रच्छ संचस्कार च तं मृतम् ।
अहं च रघुवंशश्च लक्ष्मणश्च महाबलः ।
वैदेह्या दर्शनेनाद्य धर्मतः परिरक्षिताः ।
एष सर्वस्वभूतस्ते परिष्वङ्गो मया कृतः'' इति ।

'न मांसचक्षुरभिवीक्षते' इत्युक्त्या मांसचक्षुरविषयस्य तद्विषयनामापद्य नित्यसन्निहितत्वं सौलभ्यम् ।

''अहं नो माधवो जातः सुहृद सर्वदेहिनाम्' इत्याद्युक्तेः ।

''नारायणः परः साक्षाद्वैकुण्ठनिलयः सदा ।

अर्चावतारतां प्राप्तो भक्तानां हितकाम्यया'' इति भगवद्दौर्लभ्यभयनिवृत्तिरस्य प्रयोजनमपि ।

''यो वेत्ति युगपत्सर्वं प्रत्यक्षेण सदा स्वतः''
इत्युक्तेः । सदा वस्तुमात्रविषयकत्रैकालिकज्ञानवत्त्वं सर्वज्ञत्वम् ।

'अज्ञातं नास्ति ते किञ्चित्त्रिषु लोकेषु राघव'।
आत्मानं पूजयन् राम ! पृच्छस्यस्मान् सुहृत्तया' इति वाल्मीकिनोक्तेः अस्य सर्वज्ञत्वानुसंधानात् भगवान्मार्तिं जानाति न वा जानीयाच्चेत्तां निवारयेदिति फलम्। कर्तुं कर्तुं अन्यथा कर्तुं सामर्थ्यं शक्ति। तादृशी सर्वा शक्तिर्यस्य स तस्य भावः।

स्वस्मिन्सर्वशक्तित्वं रामायणे रामः स्वमुखेनैवाह

'नैव देवा न दैतेया न पिशाचा न राक्षसा।
भविष्यन्ति मम क्रोधात्त्रैलोक्ये विप्रणाशिते।
यथा जरा यथा मृत्युर्यथा कालो यथा विधिः।
नित्यं न प्रतिहन्यन्ते सर्वभूतेषु लक्ष्मण !।
तथाहं क्रोधसंयुक्तो न निवार्योऽस्म्यसंशयम्।
स देवगंधर्वमनुष्यपन्नगं जगत्ससर्वं परिवर्तयाम्यहम्।
अङ्गुल्यग्रेण तान्हन्याम्" इति।

तथा श्रुतिश्च—

"पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रुयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाच" इति।

पुनरपि रामायणे

"असाध्यः कुपितो रामो विक्रमेण महायशाः।
आपगायाः सुपूर्णाया वेगं परिहरेच्छरैः।
सतारग्रहनक्षत्रं नभश्चाप्यवसादयेत्।
असौ रामः सुसीदन्तीं श्रीमानभ्युद्धरेन्महीम्।
भित्वा वेलां समुद्रस्य लोकानाऽऽप्लावयेदिमान्।
वेगं वापि समुद्रस्य वायुं वा विधमेच्छरैः।
संहृत्य वा पुनर्लोकान् विक्रमेण महायशाः।
शक्तः स पुरुषव्याघ्रः स्रष्टुं पुनरपि प्रजाः"।

इति शत्रुवचनैरपि श्रीरामस्य सर्वशक्तित्वं स्पष्टतरम्प्रतिपादितम् विभूतिद्वयशेषि वा सकलभोग्यपरिपूर्णत्वमवाप्तसमस्तकामत्वम्।

तथा चोक्तं भगवता—

"न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि" इति।

वाल्मीकिनाप्येतदेव सूचितम्—

"न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति
लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षयः।
न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम्।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया।
सर्वो ह्यभिजनः श्रीमान् श्रीमतः सत्यवादिनः।
नालक्षयत रामस्य कञ्चिदाकारमानने।
उचितं च महाबाहुर्न जहौ हर्षमात्मनः।
शारदः समुदीर्णांशुश्चन्द्रस्तेज इवात्मजम्" इत्यादिभिः।

सत्स्वपि हर्षादिकारणेषु भगवति श्रीरामे सततमविक्रियत्वलाभोऽस्य गुणानुसन्धानस्य फलम्। प्रतिकूलाऽनुकूलोदासीनसर्वचेतनाचेतनवस्तुविषय-स्वरूपसत्तोपलम्भनरूपपालनानुगुणव्यापारो दया। यद्वा स्वार्थमनपेक्ष्य परदुःखनिराचिकीर्षया परदुःखे दुःखित्वं सा।

तथा चोक्तं रामायणे—

"व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः।
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति।
दृष्ट एव हि नः शोकमपनेष्यति राघवः।
तमः सर्वस्य लोकस्य समुद्यन्निव भास्करः" इति।

अतो भगवतस्तत्स्वरूपस्थितिप्रवृत्तिसंरक्षणदशायां दयायाः प्राधान्यम्
"देङ् धात्वर्थमादाय निर्मितो यो हरेर्गुणः।
दयाख्यः श्रुतिविख्यातो नित्यो ह्यपि स्वरूपतः" इति चोक्तम्।

कृपा तु—

"रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः" इति सामर्थ्यसाधनं कृपा। सा परमेश्वरीयस्वसामर्थ्यानुसन्धानाधीनः कालुष्यनाशनो हार्दो भावविशेषो यः। कृपा सा जगदीश्वरात् 'कृपू सामर्थ्ये' इति धातुनिपन्नकृपाशब्दस्यायमर्थो निष्पन्नः।

अनुकम्पा तु—

"रक्षिताश्रितभक्तानामनुरागसुखेच्छया।
भूयोऽभीष्टप्रदानाय ययाताननुधावति।
अनुकम्पा गुणो ह्येष प्रपन्नप्रियगोचरः" इति।

तथा श्रीवासुदेवोऽप्याह–

"तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।
निर्वैरं मुनिं शान्तं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः" इति ।

श्रीरामोऽपि तथा–

"जागर्त्तव्यमतन्द्रिभ्यामस्मत्प्रभृति गच्छतु ।
योगक्षेमौ हि सीताया वर्त्तेते लक्ष्मणावयोः ।
यद् यत्फलं प्रार्थयते पुष्पं वा जनकात्मजा ।
तत्तत् प्रदद्या वैदेह्यै यत्रास्या रमते मनः ।
अहं सीतां च राज्यं च प्राणानिष्टान्धनानि च ।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्या भरतायाप्रचोदितः" इति ।

करुणा हि—

" अत्यन्तमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकृद्भवेत् ।
कथं कुर्य्यां कदा कुर्य्यामाश्रितार्त्तिनिवारणम् ।
इतीच्छादुःखदुःखित्वमार्त्तानां रक्षणत्वरा ।
परदुःखानुसंधानाद्विकलीभवनं विभोः ।
कारुण्याख्यगुणो ह्येष आर्तानां भीतिवारकः' इति ।

"भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः" इत्यादि प्रामाण्येनाकृत्यकरण-कृत्याकरणरसानां सर्वरक्षकसर्वकारणादेर्भगवतोऽपि भीत्युत्पत्तौ बाधकाभावः । अत एव परमकारुणिकस्य तस्याश्रयणम्–

"सर्वात्मना मुमुक्षूणामुपादेयतया मतः ।
आर्त्तानां तु विशेषेण चिन्तामणितयाधिकः ।
अयं गुणो न चेद्विष्णुर्दुराराध्यः सतामपि ।
निर्निष्ठोप्यदुःखोप्यसमर्थोपि परः पुमान् ।
तावत् तिष्ठति दुःखानि यावद्दुःखं न नाशयेत् ।
सुखीकृत्य पुरा भक्तान् स्वयं पश्चात्सुखी भवेत् ।
रामस्यैवं स्वभावोयं दृष्टो रामायणे स्फुटः ।
क्रूरः क्रूरतरोऽसत्सु स्याद्वा क्रूरतमोप्ययम् ।
अञ्जलेर्बन्धनादाशु पादयोः पतनादनु ।
प्रेमार्द्रहृदयो रामः आत्मदानात्प्रसीदति ।

दुःखादागामिनः पूर्वं सतां दुःखीत्यहो परः ।
अतोऽलङ्करणं स्यातस्त्रिषु लोकेषु राघव." इत्याद्युक्तेः ।

सौन्दर्यन्तु—

"यथार्हसन्निविष्टानामङ्गानां रुचिराङ्गणाम् ।
शोभोत्कर्षैकसन्दर्भं सौन्दर्यं सुरसत्तम ! ।
अन्योन्यभूषणतया तेषां तु करणैकदर्शनम् ।
आश्चर्यं अनङ्गानां सौन्दर्ये सुदृशां मतम् ।
अङ्गं न येन केनैव दृष्टान्तेण पश्यताम् ।
सुखमुत्पद्यते सद्यः सौन्दर्यं ततः तत्र च ।
इत्यादिवचनैर्लोकोत्तरलावण्यवदङ्गवत्त्वं द्रष्टव्यम् ।

सौहार्दमपि—

द्विजन्मायनपक्षेण येन मा गां हरिः पुनः ।
गुणेन ह्यगुणस्तस्य सौहार्दं परमं हरेः ।
स्वप्रीतेः स्वप्रपत्तेश्च कारणं करुणाम्बुधेः ।
हेत्वन्तरानपेक्षं हि सौहार्दं शाश्वतं हरेः ।

अत्र च

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वाऽसुरात्मजाः ।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न व्रतं न बहुज्ञता ।
इत्यादि प्रल्हादोक्तभागवतवचनानि प्रमाणतयाऽनुसंधेयानि ।

क्षमा तु—

अत्युग्रमनुजन्तूनामानुकूल्यं तिरस्कृताः ।
अत्युग्रानिग्रहोद्दर्कसंकल्पोपरतिः क्षमा इति ।

एवमेव भगवतोऽनन्तगुणानां स्वरूपाणि तत्तद्वचनैरनुसन्धेयानीत्यलम् रामचन्द्रशब्देन सकलजनानन्दकाह्लादजनकत्वमुच्यते ।

"चदि आल्हादने दीप्तौ च" इति धातोरनि प्रत्यये चन्द्रशब्दस्य व्युत्पादनात् उत्तरखण्डे तु दीप्तिरूपार्थमादाय सर्वप्रकाशकताऽभीधीयते ।

तथा च श्रुतिः—

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति ।

स्मृतिश्च–

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्' इति ।

एवं च वात्सल्यादिपुरस्कारेणैव निखिलजनरमणाल्हादकत्वप्रकाशकत्वमिति तस्मिन् वात्सल्यादिगुणस्य नित्यसंबन्धसिद्धिरितीबोध्यम ॥३६॥

भा०–(हे सुरानन्द ! महर्षिगण) 'मत' से-मतुमप्रत्यय से–पुरुषकार स्वरूप श्रीसीताजी का श्रीरघुनाथ जीके साथ नित्यसम्बन्ध, और 'रामचन्द्र' इस शब्द से परब्रह्म श्रीरामजी में वात्सल्यादि गुणों का नित्य सम्बन्ध कहते है ॥ ३६ ॥

चरणावित्यनेनैव वात्सल्यादिकसंततेः ।
विलक्षणस्य दिव्यस्य विग्रहस्याश्रयस्य च ॥३७॥

अन्वयः– (हे सुरसुरानन्द । महर्षिभिः) 'चरणौ' इत्यनेन पदेन वात्सल्यादिकसंततेः विलक्षणस्य दिव्यस्य विग्रहस्य च आश्रयस्य (परब्रह्मश्रीरामेण सह नित्यसम्बन्धः कथ्यते) ॥३७॥

चरणावित्यनेन वात्सल्यादिसंततेराश्रयस्य नित्यसंबन्ध उच्यते इति पूर्वेणैवान्वयः । किंच तेनैव पदेन दिव्यविलक्षणविग्रहाश्रयस्य च नित्यसंबन्धः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ।

सभ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः ।
सीतामुवाचातियशाराघवं च महाव्रतम्" ।

इति रामायणेऽभिधानेन चरणावित्यस्य तत्प्रतिपादकत्वमर्थात्कत्वं चरणौ प्रापयति आश्रितान् स्वानुरागात्तेरा । गत्यर्थचरधातोर्नन्द्यादित्वाल्ल्युः । [illegible] णाश्रितपादुकाश्रयणेन भरतस्यापि [illegible] यथावाञ्छितोऽभूत् किमुत चरणाश्रयणेन तिपक्तव्यमित्याशयः ॥ ३७ ॥

भा० –(हे सुरसुरानन्द !) महर्षिगण 'चरणौ' पद से वात्सल्यादिगुण और पुरुषकाररूप सीताजीका आश्रयस्वरूप जो विलक्षण श्रीरामजी का दिव्य विग्रह, उसका परब्रह्मरूप श्रीरामजी के साथ नित्य सम्बन्ध कहते हैं ॥ ३७ ॥

शरणेतिपदेनैवोपायस्तद्विग्रहोबुधैः ।
उपायाध्यवसायस्तु प्रपद्य इतिवर्ण्यते ॥३८॥

अन्वयम्–(हेसुरसुरानन्द !) बुधैः (प्राज्ञैः) शरणेतिपदेन च तद्विग्रहएव (परब्रह्मणः श्रीरामस्य विग्रह एव) उपायः (परब्रह्मपरमात्मनः सर्वाधारस्य श्रीरामस्य प्रापकः) वर्ण्यते (कथ्यते)। 'प्रपद्ये' इतिपदेन उपायाध्यवसायस्तु वर्ण्यते (उपायस्य भगवद्विग्रस्य प्रापकत्वेन दृढनिश्चयो निगद्यते) ॥ ३८ ॥

बुधैर्विद्वद्भिः परमार्षैर्महर्षिभिः तस्य विग्रहस्तद्विग्रहाभिन्न उपायः शरणेति पदेन वर्ण्यते। 'प्रपद्ये' इतिपदेन तु उपायाध्यवसायोवर्ण्यते अध्यवसानमध्यवसायो निश्चय उपायस्याध्यावसाय उपायाध्यवसायः ॥३८॥

भा०—पण्डितगण, 'शरण' पद से परब्रह्म स्वरूप श्रीरामजी के विग्रह को परब्रह्म श्रीरामजी की प्राप्ति का उपाय कहते है, अर्थात भगद्विग्रह के चिन्तन से ही भगवत्प्राप्ति होती है, यह कहते है । और 'प्रपद्ये' पद से उस उपायका (परब्रह्मस्वरूप श्रीरामजी के प्रापक जो श्रीराम विग्रह उसका) दृढनिश्चय कहते है ॥ ३८ ॥

प्राप्यं मिथुनमेवेति श्रीमते पदतो मतम् ।
रामचन्द्रेति पदतः स्वामित्वं प्रतिपाद्यते ॥ ३९ ॥

अन्वयम्–श्रीमते पदतः (श्रीमते इतिपदेन) मिथुनमेव (सीतारामस्वरूपमेव) प्राप्यम् इति (महर्षिणां) मतम् रामचन्द्रेतिपदतः (रामचन्द्र इत्यनेन पदेन) (श्रीरामस्य) स्वामित्वं प्रतिपाद्यते (महर्षिभिरितिशेषः) ॥ ३९ ॥

श्रीमते पदतः श्रीमते इति पदेन मिथुनं सीतारामरूपमेव प्राप्यमिति मुमुक्षूणां मतं तैर्मन्यत इत्यर्थः। रामचन्द्रेति पदत पदेन तस्य स्वामित्वं प्रतिपाद्यते वर्ण्यते ॥ ३९ ॥

भा०–(हेसुरसुरानन्द !) 'श्रीमते' इस पद से युगल स्वरूप श्रीसीतारामजी की प्राप्ति महर्षियोंका अभिमत है । अर्थात सीतारामजी के

विग्रह उपाय और विग्रहविशिष्ट स्वरूप प्राप्यहै । और रामचन्द्र पद से श्रीरामजी के स्वामित्व-सब जीवों के एक ही स्वामी-प्रतिपादन करते हैं ॥३९॥

विभक्त्यायेति पद्धतः शेषवृत्तिर्महात्मभिः ।
विरोधिनो निरासस्तु नमःशब्देन वर्ण्यते ॥ ४० ॥

अन्वयम-(हेसुरसुरानन्द !) महात्मभिः (महर्षिप्रवरैः) आय इति विभक्त्या (रामचन्द्रेति प्रातिपदिकोत्तरचतुर्थ्येकवचनङेविभक्त्या) शेषवृत्तिः (जीवानां व्यापारः) वर्ण्यते (कथ्यते) नमः शब्देन तु विरोधिनः (भगवत्प्राप्तेः विरोधिनः अहङ्कारममकाररूपस्य कामक्रोधादेर्वा) निरासः (प्रहाणोऽभावो) वर्ण्यते (कथ्यते ॥ ४० ॥

महात्मभिर्महर्षिभिर्विभक्त्या रामचन्द्रशब्दोत्तरचतुर्थ्याऽऽयेत्यनेन शेषाणां जीवानां वृत्तिराचरणं वर्ण्यते । नमःशब्देन तु तत्प्राप्तिविरोधिनः कामक्रोधादि जनितान्त यस्य निरासोऽभावो वर्ण्यते कथ्यते ॥ ४० ॥

भा०-(हेसुरसुरानन्द!) महर्षि प्रवर आयसे—रामचन्द्र इस पद से विहित जो चतुर्थी के एक वचनङे विभक्ति के स्थानमे आदेश हुआ जो आय इससे—जीवों के व्यापार को कहते हैं । और नमः शब्द से भगवत्प्राप्ति के विरोधी अहङ्कार ममकार जन्य जो काम क्रोधादि, उसको दूर करने को कहा है ॥ ४० ॥

तात्पर्य्यार्थोऽस्य विज्ञेय आचार्य्य रुचिसंश्रयः
वाक्यार्थस्तु मताभिज्ञैरेपनिर्णीयते बुधैः ॥ ४१ ॥
प्राप्यप्रापकसम्बन्धस्वरूपाभिनिरूपणम् ।
प्रधानार्थस्तु तद्युग्मकैङ्कर्य्यस्यप्रधानता ॥ ४२ ॥
स्वदोषाभ्यनुसंधानमनुसन्ध्यर्थ उच्यते ।
एवमेवानुसन्धेयं मोक्षकामैरहर्दिवम् ॥ ४३ ॥

अन्वयम्—(हे सुरसुरानन्द !) मताभिज्ञैर्बुधैः (सम्प्रदायज्ञैर्विद्वद्भिः) आचार्यरुचिसंश्रयोऽस्य (श्रीरामद्वयमन्त्रस्य) तात्पर्यार्थो निर्णीयते । प्राप्यप्रापकसम्बन्धस्वरूपाभिनिरूपणम् (परमात्मजीवात्मनोः सम्बन्धस्य स्वरूपस्य च प्रतिपादनम्) एष तु वाक्यार्थः (निर्णीयते) तद्युग्मकैङ्कर्यस्य सीतारामसेवायाः प्रधानता तु प्रधानार्थः (निर्णीयते) स्वदोषाभ्यनुसन्धानम् अनुसन्ध्यर्थः (अनुसन्धानार्थः) उच्यते । मोक्षकामैरेवमेव (उक्तरीत्या एव) अहर्दिवम् (दिवारात्रम्) अनुसन्धेयम् (अनुसन्धातव्यम्) ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

ननु द्वयमन्त्ररत्नस्य कस्तात्पर्यार्थः को वाक्यार्थः कः प्रधानार्थः कोऽनुसन्धानार्थ इत्यपेक्षायां तत्तत्स्वरूपं प्रतिपादयंस्तान्निरूपयति—तात्पर्येति त्रिभिः। त्रयाणामेकान्वयः। आचार्यरुचेः संश्रयोऽस्य द्वयमन्त्ररत्नस्य तात्पर्यार्थो मताभिज्ञैर्बुधैर्महर्षिभिर्निर्णीयते निश्चीयते ॥ ४१ ॥

प्राप्यो रामः प्रापको मुमुक्षुर्जीवः तयोः सम्बन्धस्वरूपयोरभिनिरूपणं प्रतिपादनं तु तैरेव वाक्यार्थो निर्णीयते। तौ च तौ युग्मौ च तद्युग्मौ सीतारामौ "युग्मं तु युगलं युगम्" इति कोशात्तयोः सीतारामयोर्युग्मं तद्युग्मं तद्युग्मस्य कैङ्कर्यं तद्युग्मकैङ्कर्यं तस्य प्रधानता तु तैः प्रधानार्थो निर्णीयते॥४२॥ स्वस्यात्मनो दोषाणां रागाद्यपचाराणामभितोऽनुसन्धानमनुसंध्यर्थोऽनुसन्धानार्थ उच्यते। "अहर्दिवम् अहन्यहनि" अचतुरविचतुरइतिवीप्सायां निपातः मोक्षकामैर्मुमुक्षुभिरेवमेवानुसन्धेयमनुसन्धातुं योग्यमित्यर्थः। मोक्षो मुक्तिः। ननु कतिमुक्तिविधा मुक्तयः सन्तीति चेत् शृणु—श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासोक्तरीत्या चतुर्धारित्यध्यवसीयते। अद्वैतमते तु तस्या न कोऽपि विशेषः। ते च यद्यपि तन्त्रभेदे जगदुत्पत्तिप्रकारा भिद्यन्ते तथापि संपन्नस्य सर्वधर्मास्पर्शिसुषुप्त्यवस्थासदृशं सुखदुःखशून्यतयावस्थानं सर्ववादिसम्मतं मुक्तिरित्याहुः। अपरे तु यथारुचि वर्णयन्ति यथादेहनाशो मुक्तिरिति नास्तिकाः। १ खञ्जिये २ पिञ्जिये मोक्ष इति दिगम्बराः। शून्यबोधो वेति शून्यवेदान्तैकदेशिनः। एकविंशतिदुःखध्वंसो वेति नैयायिकाः। लिङ्गभङ्गो वेति केचित्। अविद्यानिवृत्तिर्वेत्यन्ये। स्वरूपप्रतिपत्तिर्वेत्यपरे। चिच्छक्तिर्वेति सांख्याः। परमानन्दो वेति सिद्धान्तवेदिनः।

---

१ सर्वकर्मशून्यता।
२ सर्ववासनाऽभावः।

"वीक्ष्याऽलकावृतमुखं तव कुण्डलश्रि" इतिविभावयन्तः परमभागवताः सात्वताख्याः । कैङ्कर्यलाभो मुक्तिरिति मुनय ऊचु' ।

अत्र प्रमाणम्—

"विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिणः' इति ।

श्रीमद्रामायणेऽपि—

"कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते ।
कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्पते" इति ।

एवञ्च सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वात् । "वदतां किन्नु दुर्घटम' इतिन्यायेन-सर्वं समञ्जसमिति बोध्यम् । तत्र मोक्षे कामोऽभिलाषो येषां ते मोक्षकामास्तैः एवमेकादशश्लोकैरभिधीयमानदशार्थविशिष्टं श्रुतिस्मृतिपुराणप्रतिपाद्य-महत्त्वं द्वयमन्त्ररत्नमेव मुमुक्षुभिरहरहरनुक्षणमनुसन्धेयम ।

तथा च पाद्मे ब्रह्माणं प्रति हरिवचनम्—

"मामेकं च श्रिया युक्तं भक्तियुक्तो नरोत्तमः ।
द्वयेन मन्त्ररत्नेन मत्प्रियेण भजेत्सदा ।
अचिरान्मत्प्रसादेन मल्लोकं च स गच्छति ।
दुर्वृत्तो वा सुवृत्तो वा मूर्खः पण्डित एव वा ।
लक्ष्मीं च मां सुरेशेशं द्वयेन शरणं गतः ।
मल्लोकमचिराल्लब्ध्वा मत्सायुज्यं स गच्छति ।
पुरा मन्त्रद्वय ब्रह्मन् ! विष्णुलोके पुरे शुभे ।
तस्मिन्ननन्त पुरे लक्ष्म्यै मया दत्तं सनातनम् ।
लक्ष्म्या लब्धं तया चैव मन्त्ररत्नं द्वयं विभो ?" इति ।

हारीतस्मृतौ च—

"शृणु राजन् ! प्रवक्ष्यामि मन्त्रयोगमनुत्तमम् ।
यथोक्तं विष्णुना पूर्वं ब्रह्मणे परमात्मना ।
सर्वेषामेव मन्त्राणां प्रथमं गुह्यमुत्तमम् ।
मन्त्ररत्नं नृपश्रेष्ठ ! सद्यो मुक्तिफलप्रदम् ।
सर्वैश्वर्यप्रद श्रेष्ठं सर्वेषां सर्वकामदम ।
यस्योच्चारणमात्रेण परितुष्टो भवेद्धरिः ।
देशकालादिनियममरिमित्रादिशोधनम् ।

न स्ववर्गादिदोषश्च पुरश्चरणादिकन्न तु।
ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रास्तथोत्तरे।
तस्याधिकारिणः सर्वे सर्वशीलगुणा यदि।
अनन्यसाधना ये तु अनन्यशरणास्तथा।
अनन्यभोग्या ये राजँस्त एवास्याधिकारिणः।
पञ्चविंशाक्षरो मन्त्रः पदैः षड्भिः समन्वितः।
वाक्यद्वयं पर मन्त्रं ज्ञेय रत्नमनुत्तमम्" इति।

स्कान्देऽपि—

"द्वयाख्यं रामचन्द्रस्य मन्त्ररत्नमनुत्तमम्।
पञ्चविंशाक्षरं विद्वान् स याति परमां गतिम्" इति।

विश्वम्भरोपनिषदि च—

प्रथमं श्रीमदिति ततो रामचन्द्रचरणाविति ब्रूयात्। अनन्तरं शरणमिति पदम् पश्चात्प्रपद्य इति वदेत्। पुनश्च श्रीमते इति। अथ रामचन्द्रायेति तदग्रे नम इति। यो दाशरथेर्द्वयाख्यं मन्त्राणां प्रवरं मन्त्ररत्नमधीते। स सर्वान्कामानश्नुते। विपश्चिता सह मोदते इति। इदं च मुमुक्षुभिरवश्यानुष्ठेयं द्वयस्वरूपं श्रुतिस्मृत्यादिष्वप्युपनिबद्धम्।

तथाहि—

"पितरं मातरं दारान् पुत्रान् बन्धून् सखीन्गुरून्।
रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च।
सर्वधर्मांश्च संत्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान्।
लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो!" इति।

श्वेताश्वतरश्रुतिश्च—

"यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" इति।

श्रीमद्रामायणेनाप्येतद्वर्ण्यते "द्वयविवरणरूपत्वादस्य कालक्षेपोऽपि रामायणेनैव इति भूषणे चोक्तम्. अत एव 'रामायणं दीर्घशरणागतिः' इत्यभियुक्तैः। श्रीभाष्यकारैरपि "यावच्छरीरं द्वयमावर्तयेत्" इत्युक्तम्। तत्र बालकाण्डेन श्रीमच्छब्दार्थः। अयोध्याकाण्डेन कल्याणगुणानामुपवर्णनाद्रामचन्द्रशब्दार्थ उक्तः। आरण्यकाण्डेन "ते तं सोममिवोद्यन्तं दृष्ट्वा वै धर्मचारिणः" इत्यादिना दिव्यमङ्गलविग्रहवर्णनात् चरणशब्दार्थः। किष्किन्धासुन्दरकाण्डाभ्यां

शरणशब्दार्थः । युद्धकाण्डेन प्रपत्तिः । उत्तरकाण्डेनोत्तरखण्डार्थ इति । एवं च रामचन्द्रद्वयार्थ एव रामायणेन प्रतिपाद्यते तस्य श्रीरामचरितत्वात् ।

किञ्च श्रीमद्भागवते भगवता व्यासेनाऽपि श्रीरामचन्द्रद्वयमन्त्रार्थो निबद्धः—

"यस्याऽमलं नृपसदः सुयशोऽधुनाऽपि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम् ।
तन्नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टं पादाम्बुजं रघुपतेः शरणं प्रपद्ये" इति ।

तत्र "पादाम्बुजं रघुपतेः शरणं प्रपद्ये"इत्यनेन पूर्वखण्डार्थः प्रतिपादितः । "यस्यामलं नृपसदः सुयशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयः" इत्यनेनोत्तरखण्डार्थो प्रतिपाद्य श्रीरामचन्द्रस्य सर्वोत्कृष्टत्वं वदता "नाकपालवसुपालकिरीट-जुष्टम्"इत्यनेन नमःशब्दार्थ इति । एवं च सर्वतेजस्वितेजआच्छादकसर्वत-स्तेजस्करसर्वानुग्राहकजगत्कारणभूतश्रीरामचन्द्रशरणागतस्य श्रीरामानुग्रहेण बहिरन्तरप्रकाशस्तत्तेजसां गुणाष्टकाविर्भावपूर्विका स्वरूपाऽवाप्तिर्भवतीति-बोध्यम् ॥ ४३ ॥

श्रीरामजी के मन्त्रद्वय का स्वरूप और पदार्थ कह कर अग्रिम तीन श्लोकों से उसके तात्पर्य्यार्थ, वाक्यार्थ, प्रधानार्थ, और अनुसन्धानार्थ, के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

भा०—(हे सुरसुरानन्द !) सम्प्रदायज्ञ विद्वान्, आचार्य्य (गुरु) की आज्ञा का अवलम्बन करना, इस द्वयमन्त्र का तात्पर्य्यार्थ कहते हैं। परमात्मा (श्रीरामजी) और जीवात्मा के सम्बन्ध और स्वरूप का निरूपण करना यह द्वय मन्त्र का वाक्यार्थ है, युगलमूर्त्ति (श्रीसीताराम जी) की सेवाकी प्रधानता को प्रधानार्थ कहते हैं, और अपने दोषों को पूर्णरूप से अनु-सन्धान करने को द्वय मन्त्रका अनुसन्धेयार्थ कहते हैं; मोक्षकामियों को रात दिन इसी प्रकार से यह अनुसन्धान करने योग्य है॥४१॥४२॥४३॥

उक्तेत्थं शृणु मन्त्ररत्नविवृतिः सन्मानसाभीष्टदं ।
सद्वेद्यं सकृदेव प्रेतिचरमं निर्णीतवाक्यार्थकम् ॥
रामीयं हि तदीयमन्त्रनिरतैरुद्बोधनीयं परं ।
द्वात्रिंशत्प्रमिताक्षरं मनुपदं द्व्यर्द्धं जगद्विश्रुतम् ॥४४॥

अन्वयम्—इत्थं (पूर्वोक्तप्रकारेण) मन्त्ररत्नविवृतिः (मन्त्ररत्नस्य द्वयमन्त्रस्य विवरणम्) उक्ता (कथिता) सद्वेद्यं, सन्मानसाभीष्टदं, तदीयमन्त्रनिरतैरुद्बोधनीयं,(तस्य श्रीरामस्याऽयं तदीयः सचासौ मन्त्रश्चेति तदीयमन्त्रः तस्मिन् तदीयमन्त्रे षडक्षरमन्त्रराजे ये निरन्तरं रतास्ते तदीयमन्त्रनिरतास्तैस्तदीयमन्त्रनिरतैराचार्य्यैः उद्बोधनीयम् उत्कृष्टत्वेन ज्ञापनीयम् उत्कृष्टशिष्येभ्य एवोपदेष्टव्यम् नपुनरन्येभ्य इति वेदितव्यम्)निर्णीतवाक्यार्थकम्,जगद्विश्रुतम् द्वात्रिंशत्प्रमिताक्षरं मनुपदं (चतुर्दशपदात्मकम् द्व्यर्द्धं हि (यतः) रामीयं(रामेण प्रोक्तम् अतः) परं (सर्वचरमाख्यमन्त्रेभ्य उत्कृष्टम्) सकृदेवप्रेति चरमं च (चरमश्लोकाख्यम् मन्त्रञ्च) शृणु ॥४४॥-

एवं द्वितीयं रहस्यं सविस्तरं सार्थं प्रतिपाद्याऽथ तृतीयमपि रहस्यं तथा प्रतिपिपादयिषुराह-उक्तेत्थमिति । इत्थमुक्तप्रकारेण मन्त्ररत्नस्य द्वयस्य विवरणं विवृत्तिरुक्ता वर्णिता। निर्णीत वाक्यार्थो यस्य तन्निर्णीतवाक्यार्थकम । रामस्येदं रामीयं वृद्धाच्छः। सकृदेवेति चरमम्।

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम"

इति चरमश्लोकमन्त्र शृणु। सकृदेवपेत्यत्र संयुक्ताद्यप्रशब्दे परे वकारस्य लघुत्वं तु' प्रे ह्रे वा''इतिवचनाद्बोध्यम। कीदृश तत् सद्वेद्यम सद्भिर्महात्मभिरवश्यं वेदितु योग्यम। सता मानस मनोभिलषितमभीष्टमीप्सितं ददाति पूरयतीतिसन्मानसाभीष्टदम। तस्य रामस्येमे तदीया ते च ते मन्त्राश्च तदीयमन्त्रा मन्त्रराजमन्त्ररत्नचरमं तेपु नितरां रतैर्निरतैः उत्कृष्टतया बोधनीयमुद्बोधनीयम्। अथ जिज्ञासूनां तत्तदर्थभेदबोधनाय तदीयवर्णादिगणनामाह द्वात्रिंशदिति। पुनः कीदृशं तत् द्वात्रिंशत्संख्याभि' प्रमितानि अक्षराणि वर्णा यस्य तत् द्वात्रिंशत्प्रमिताक्षरम। पुन मनुमितानि चतुर्दशसंख्यानि पदानि यस्मिन् तत् मनुपदम। पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धभेदेन द्वे अर्द्धे खण्डे यस्मिँस्तत द्व्यर्द्धम। वेदवेद्यश्रीरामव। तन्मुखोक्तत्वात जगद्विश्रुतं चतुर्दशभुवनात्मकलोकप्रसिद्धम ॥ ४४ ॥

इस प्रकार द्वितीय रहस्य की व्याख्या कर, आगे के श्लोकों से चरममन्त्रके स्वरूप और अर्थ का उपदेश करते है -

भाषा—इस प्रकार मन्त्ररत्न-द्वय मन्त्र-का विवरण कहा है । और "सकृदेव प्रपन्नाय, तवास्मीति च याचते, अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम" जो चरममन्त्र है, जो बत्तीस अक्षरों बारह पदों एवं दो अर्द्धों पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध—से अंगित, जगत प्रसिद्ध, सत्पुरुषों के मनराभीष्ट का दाता एवं उन से ही जानने योग्य है और जिसका वाक्यार्थ निर्णीत है; उसको सुनो । यह, श्रीरामजी के ही मन्त्र में निरत रहने वालों से परम प्रकाश योग्य है ॥ ४४ ॥

अत्रोपायान्तरस्याऽथो निवृत्तिः प्रतिपाद्यते ।
सकृदित्येवकारेण तूपायनिरपेक्षता ॥ ४५ ॥

अन्वयम—अथो (वर्णपदविचारानन्तरम्) अत्र (अस्मिन् चरममन्त्रे) सकृदित्यनेन पदेन उपायान्तरस्य (भगवदपेक्षयाऽन्यस्योपायस्य) निवृत्तिः (अभावः)प्रतिपाद्यते (कथ्यते) एवकारेण तु (एव इति द्वितीयपदेन तु) उपायनिरपेक्षता (उपायस्य भगवद्विग्रहस्य निरतिशयसापेक्षता) प्रतिपाद्यते (महर्षिभिरितिशेषः) ॥ ४५ ॥

एवं पदविचारं कृत्वा तत्तदर्थमभिदधाति-अत्रेति । अथो अनन्तरम्पदविचारानन्तरम् अत्र चरमे तृतीये रहस्ये अथवाऽत्र एषु चतुर्दशसु तदीयपदेषु 'सकृत्' इति अनेन प्रथमपदेन उपायान्तरस्य भगवदपेक्षयाऽन्योपायस्य निवृत्तिरभावः प्रतिपाद्यते वर्ण्यते । सर्वासामेवोपायानामपेक्षया प्रपत्तिरेवोपासकानां धर्मार्थकाममोक्षसाधिकेति भावः । एवकारेणेति द्वितीयपदेन तु उपायानां देवतान्तरोपासनायागादीनां निरपेक्षता उपायनिरपेक्षता प्रतिपाद्यत इत्यन्वयः । उक्तसर्वोपायनिरपेक्षा प्रपत्तिरेवोपासकानामुक्तसर्वार्थसाधने बलवत्तरपरमोपाय इति भावः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार वर्ण और पद का विचार कर अग्रिम श्लोकों से पदों के अर्थ को दिखलाते है—

भाषा—चरम श्लोक के वर्ण और पदोंकी व्यवस्था करने के बाद

महर्षियों ने चरममन्त्र में 'सकृत्' इस प्रथम पद से, प्रपत्ति से अन्य उपायों की निवृत्ति बतलायी है। और 'एव' इस द्वितीय पद से भगवद्विग्रह रूप उपाय की ही निरतिशय अपेक्षा का प्रतिपादन किया है ॥४५॥

प्रपन्नायेति पदतस्तूपायस्थानमुच्यते।
उपायत्वं भगवतस्तवेति पदतस्तथा ॥४६॥

अन्वयम—प्रपन्नाय इति पदतः (प्रपन्नाय इति तृतीयपदेन) उपायस्थानम् (उपायस्य भगवद्विग्रहस्य स्थानमाश्रयःस्वरूपम्) उच्यते। तथा तवेति पदतः (तव इति पदेन) भगवतः (श्रीरामस्य) उपायत्वम् (उच्यते) ॥ ४६ ॥

प्रपन्नाय इति अनेन तृतीयेन पदतः पदेन उपायस्थानमुच्यते। प्रपन्नाय प्रपत्तिं कुर्वते उपासकाय उपायस्य बलवत्तरवक्ष्यमाणषड्विधशरणागतिरूपपरमोपायस्य तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानमाश्रय उच्यते प्रतिपाद्यते। तथा तवेति पदतः चतुर्थेन तवेति पदेन।

"यथा त्वं कृपया भूत्या तेजसा महितौजसा।
जुष्ट ईशगुणैः सर्वैस्ततोऽसि भगवान्प्रभुः"

इत्युक्तरीत्या कृपादिसत्य-संकल्पत्वादिगुणगणौघमहार्णवस्य भगवतो रामस्य प्रपत्तिफलदातृकोपायत्वमुच्यते। प्रपत्तिसफलकर्तृत्वेन स एवोपाय इति भावः ॥४६॥

भाषा—'प्रपन्नाय' इस तृतीय पद से उपाय (षड्विध शरणागति) के (स्थान आश्रय) को कहते हैं, तथा 'तव' इस चतुर्थ पद से भगवान् श्रीरामजी को ही उपाय कहते हैं ॥ ४६ ॥

अस्मीत्युपायस्वीकारः सुमते! मतकोविदैः।
समाप्त्यर्थेतिशब्देन तूपायानन्यतोच्यते ॥ ४७ ॥

अन्वयम—हे सुमते! (सुरसुरानन्द!) मतकोविदैः (सम्प्रदायविद्भिः) अस्मीति (अस्मि—इति पञ्चमेन पदेन) उपायस्वीकारः उच्यते। समाप्त्यर्थेतिशब्देन तु (समाप्त्यर्थकेन "इति" इतिपष्ठेन

पदेन तु) उपायानन्यता (उपायात्प्रपत्तेरन्यस्योपायस्याभावः) उच्यते (कथ्यते) ॥ ४७ ॥

हे सुमते! सुरसुरानन्द! मतस्य कोविदैर्वैष्णवमताभिज्ञैः अस्मीति पञ्चमेन पदेन उपायस्य स्वीकारोऽङ्गीकारः प्रतिपाद्यते "इति हेतुप्रकरणप्रकारादिसमाप्तिषु" इति कोशात्। समाप्तिः अर्थो यस्य स समाप्त्यर्थः स चासावितिशब्दश्च तेनेतिशब्देन तु उपायानन्यतोच्यते न अन्यः अनन्यस्तस्य भावस्तस्योपायस्यानन्यता उपायानन्यता प्रपत्तौ कृतायामुपाय समाप्तौ नातः परोऽन्य उपाय इतीतिशब्देन षष्ठेन पदेनोच्यत इत्याशयः ॥ ४७ ॥

भाषा—हे सुन्दरमतिवाले सुरसुरानन्द! श्रीसम्प्रदायके मर्मज्ञ विद्वान् "अस्मि" इस पाँचवे पद से उपाय के स्वीकार को कहते हैं। समाप्त्यर्थक "इति" इस छठवें पद से प्रपत्ति की (शरणागति की) अनन्यता अर्थात् प्रपत्तिकी अपेक्षा अन्यउपायों के निषेध को कहते हैं॥४७॥

चकारतोऽनुक्तसमुच्चयार्थतो
निगद्यते त्वन्य उपाय आत्मवित्।
उपायसंसेव्यधिकारि रूपं
पदेन वै याचत इत्यनेन ॥ ४८ ॥

अन्वयप्र—हे आत्मविद्! (सुरसुरानन्द!) (मतकोविदैः) अनुक्तसमुच्चयार्थतः (अकथितार्थसंग्राहकार्थकेन) चकारतः (चकारेण सप्तमपदेन) अन्यः (मानसिकप्रपत्तेः भिन्नः) उपायः (कायिकवाचिकप्रपत्तिरूपः) निगद्यते (कथ्यते) याचते इत्यनेन वै पदेन उपायसंसेव्यधिकारिरूपम् (उपायस्य त्रिविधप्रपत्तेः सम्यक्सेवनशीलस्य अधिकारिणः स्वरूपम्) निगद्यते ॥ ४८ ॥

अनुक्तानामकथितानामर्थानां समुच्चयोऽर्थो यस्य सोऽनुक्तसमुच्चयार्थस्तेन चकारतश्चकारेण सप्तमपदेन अन्य उपायो निगद्यते अनद्यते प्रपत्त्या बोधनायेति भावः। आत्मानं परमात्मानं वेत्तीति हे आत्मवित्! सुरसुरानन्द! अष्टमेन "याचते" इत्यनेन पदेन उपायं सम्यक् सेवते तच्छील उपायसंसेवी

स चासावधिकारी च तस्य रूपं निगद्यते। सकलार्थसाधकशरणागतिरूपपरमोपायमसेव्यधिकारिस्वरूपं याचन इति पदेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ॥४८॥

भाषा—हे आत्मवित ! (सुरसुरानन्द !) सम्प्रदाय के ज्ञाता लोग अकथित समुच्चयार्थक 'च' इस सातवें शब्द से मानसिक प्रपत्ति से भिन्न, कायिक और वाचिक प्रपत्तिरूप उपायको कहते है। "याचते" इस आठवें पद से त्रिविध प्रपत्तिरूप उपायों के सम्यक् अनुष्ठान करने वाले अधिकारी के स्वरूप को कहते हैं ॥ ४८ ॥

अभयमित्यथ प्राप्यप्रतिबन्धकवारणम् ।
सर्वभूतेभ्य इत्येव प्राप्यस्य प्रतिबन्धकम् ॥४६॥

अन्वयस—अथ अभयमिति (इत्यनेन नवमेन पदेन) प्राप्यप्रतिबन्धकवारणम् (निगद्यते) (प्राप्यस्य श्रीरामस्य प्राप्तौ यानि अहंकारममकारकामक्रोधादिरूपाणि प्रतिबन्धकानि तेषां वारणं चित्तवृत्तिनिवर्त्तनं स्वयं भगवता क्रियते इत्युक्तम्) चतुर्थ्यन्तेन पञ्चम्यन्तेन वा "सर्वभूतेभ्यः" इति (इत्यनेन दशमेन पदेन) प्राप्यस्य प्रतिबन्धकम् (निगद्यते) अर्थात् भगवत्प्राप्तौ कानि प्रतिबन्धकानि इति प्रश्ने आह—सर्वभूतानि तेभ्यः प्रतिबन्धकेभ्यो-भयहेतुभ्योऽभयं ददामीति । अथवा न केवलं विभीषणायैव अपितु सर्वेभ्यः परस्परप्रतिबन्धकरूपेभ्यो भूतेभ्योऽपि अभयं भयहेतोः जन्ममरणरूपसंसारात् निवृत्तिरूपं यथेप्सितचतुर्विधमोक्षं ददामीति भावो वेदितव्यः ॥ ४९ ॥

अथ अभयमिति नवमेन पदेन प्राप्यस्य भगवतः प्राप्तौ यानि प्रतिबन्धकानि अहं कृतापचारः पापात्माऽनधिकारी जातिवर्णाश्रमतदीयोचितकर्महीनोऽनुचितकर्मानुष्ठाता वेदबाह्यो निन्दितः श्रीनिवासं भगवन्तं श्रीरामं कदा कीदृक् कथं प्राप्स्यामीत्यादिसंशयादीनि विरोधीनि तेषां तादृग्विरोधिप्रतिबन्धकानां निवारणं प्रवृत्तिविघातः प्रतिपाद्यत इत्यनुषज्यते। प्राप्यस्य प्रतिबन्धकं प्राप्यप्रतिबन्धकस्वरूपं सर्वभूतेभ्य इति दशमेन पदेनोच्यत इत्यर्थः । अयमाशयः सर्वभूतेभ्य इति पञ्चमी चतुर्थी च तत्र पञ्चमीपक्षे

संकोचे विनिगमनाविरहात् भयहेतुभ्यः सर्वेभ्यो भूतमात्रेभ्यः सर्वशब्दग्रहणात्स्वस्मादपि अन्यस्माच्च प्रतिबन्धकमात्रात् सत्यसन्धत्वदिव्यकल्याणगुणगणात्मत्वसर्वलोकशरण्यत्वादिविशिष्टो रामोऽहमभय मोक्षं ददामि । चतुर्थीपक्षेऽपि न केवलं विभीषणायैव अपि तु तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि अनन्यप्रपत्तौ सर्वावस्थां गतानां पशुपक्षिसरीसृपदेवमनुष्यादिजीवानां सर्वदेशगताना सर्वदाऽधिकारः सूचितः । अत एव

"स तं निपतितं भूमौ शरण्यः शरणागतम् ।
वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्य्यपालयत्"

इतिवायसशरणागतिः सफला संगच्छते इत्यर्थकसर्वभूतेभ्य इति पदेन प्राप्यप्रतिबन्धकमात्रस्वरूपमुच्यत इति ॥४९॥

भाषा०—तदनन्तर 'अभयम्' इस नवमें पदसे भगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धक का निवारण और "सर्वभूतेभ्यः" इस दशवें पद से सर्वभूत को ही भगवत्प्राप्ति का प्रतिबन्धक—अवरोधक कहा है ।

तात्पर्य्य यह है, कि काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार आदि नीच वृतियों से सम्पन्न समस्त भूत ही भगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धक है । श्रीरामजी इस 'अभयम्' पद से घोषणा करते हैं, कि मैं सभी शरणागतों को इन प्रतिबन्धकों से भय रहित करता हूँ ॥ ४९ ॥

ददामीति पदेनाऽथोपायस्य सर्वशक्तिता ।
एतदित्येव पदतोऽसंशयत्वमितीर्य्यते ॥ ५० ॥

अन्वयम—अथ (एकादशेन) "ददामि" इति (इत्यनेनैकादशेन) पदेन उपायस्य (प्रपत्तेः फलदातुः) सर्वशक्तिता (सकलप्रयोजननिष्पादकता) ईर्य्यते (कथ्यते) (द्वादशेन) "एतद्" इतिपदतः (इत्यनेन पदेन) असंशयत्वम् (पूर्वोक्तसकलार्थे संशयाभावो वेदितव्यः) इति ईर्य्यते (कथ्यते स्वयं भगवता इति शेषः) ॥५०॥

अथ एकादशेन ददामीति पदेन उपायस्य प्रपत्तेः फलदातुः सर्वशक्तिता सर्वार्थसाधकता ईर्य्यते वर्ण्यते । द्वादशेन एतदिति पदतः पदेन तृतीयान्तात्तसि. सर्वत्र सार्वविभक्तिकः उक्तार्थस्याऽसंशयत्वं संशयाभाव एवेर्य्यते पूर्वोक्तेऽर्थेऽत्र संशयो नास्त्येवेति भावः ॥५०॥

भाषा०—पुनः "ददामि" इस ग्यारहवें पद से उपाय-प्रपत्ति के फलदाता श्रीरामजी की सर्वशक्तिता (सकल प्रयोजनकी सम्पादिका) और "एतद्" इस बारहवें पद से स्वयं भगवान् ने पूर्वोक्त समस्त अर्थों में संशयका अभाव कहा है। अर्थादेतत्पूर्वोक्तसमस्तपदार्थमहं ददामि अत्र संशयो न कर्तव्यः। कुतो न संशयः इत्यत आह-व्रतं ममेति। पूर्वोक्तसमस्तपदार्थको मैं देता हूं इसमें संशय नही करना, क्योंकि शरणापन्नजनों को सकल पदार्थ देना यह मेरा व्रत नाम प्रतिज्ञा है। हे सुरसुरानन्द! यह अर्थ स्वयं सत्यसन्ध्य श्रीराम जी कहे है। इसको दृढ निश्चय करो। यह पूर्वोक्त श्लोक का तात्पर्य है ॥ ५० ॥

व्रतमेतत्पदेनाथो तद्दाढ्यमभिधीयते।
निर्भरत्वानुसंधानं ममेति प्रतिपाद्यते ॥ ५१ ॥

अन्वयम—(हे सुरसुरानन्द!) अथो 'व्रतम्' एतत् पदेन तद्दाढ्र्यम् (पूर्वोक्तसकलार्थे संशयाभावस्य दृढता) अभिधीयते (कथ्यते) ममेति (मम इत्यनेन पदेन) निर्भरत्वानुसन्धानम् (आत्मनो जीवस्य निर्भरत्वस्य निरन्तरं भ्रियमाणत्वस्य ध्रियमाणत्वस्य पुष्यमाणत्वस्यानुसन्धानं चिन्तनम्) प्रतिपाद्यते (निगद्यते महर्षिभिरितिशेषः) ॥ ५१ ॥

त्रयोदशेन ममेति पदेन निर्भरत्वस्य निरन्तरं भ्रियमाणत्वस्य रक्ष्यमाणत्वस्याऽनुसंधानं चिन्तनं प्रतिपाद्यते। "भृञ् भरणे" "डुभृञ् धारणपोषणयोः" आभ्यां कर्मणि "ऋदोरप्" निःशब्दो नैरन्तर्ये प्रपद्यमानोऽवश्यं निरन्तरं सर्वथा मया भरणीय इति चिन्ता तत्परत्वमित्याशयः। पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयानिति न्यायेनार्थक्रममादाय चरमेण चतुर्दशेन पदेन दृढस्य भावो दाढर्च तस्य त्रयोदशपदैरभिधीयमानोक्तार्थस्य दाढर्च पुष्टता निश्चयोऽभिधीयते ५१।

भाषा—तदनन्तर 'व्रतम्' इस तेरहवें पद से पूर्वोक्त समस्त अर्थ की दृढता (निश्चय) का कथन किया है और 'मम' इस चौदहवें पद से निर्भरता के अनुसन्धान का प्रतिपादन किया है।

'निर्भरता के अनुसन्धान' से तात्पर्य्य, श्री रामजी के ही ऊपर सब प्रकार का भरोसा रखने, और उन्हें धारक पोषक—धारण और पोषण करनेवाला-समझने तथा उसके अनुसन्धान से है ॥५१॥

तात्पर्य्यार्थोऽस्य विज्ञेयः शरण्यरुचिसंश्रितम् ।
तत्प्रापकस्वरूपस्यवा क्यार्थोऽथ निरूपणम् ॥ ५२ ॥

अन्वयम—हे सुरसुरानन्द ! अस्य (चरमश्लोकस्य) शरण्यरुचिसंश्रितम् (शरणे रक्षायां यः साधुः दीनरक्षायाः साधनकर्त्ता श्रीरामः शरण्यः तस्य रुचेः छवेः संश्रितमवलम्बनम् विधातव्यमित्यस्य चरमश्लोकस्य) तात्पर्यार्थो विज्ञेयः। तत्प्रापकस्वरूपस्य तस्य परब्रह्मणः श्रीरामस्य प्रापकस्वरूपम् छवेराश्रयस्तद्विग्रहः। अथवा प्रापकस्वरूपम् (पुरुषकाररूपा सीता तस्याः) निरूपणम् अस्य (चरमश्लोकस्य) वाक्यार्थो विज्ञेयः (विशेषेण ज्ञातव्यः) ॥ ५२ ॥

एवं तत्पदैः पदार्थमभिधाय संप्रति चरमस्यैतस्य कस्तात्पर्यार्थ को वाक्यार्थः कःप्रधानार्थः कोऽनुसंधानार्थ इति जिज्ञासायां क्रमेण तं तमर्थन्निरूपयति तात्पर्य्येति। शरणे रक्षणे साधुः शरण्य श्रीरामः शरण्य. शरणागतमित्युक्तेः "शरणं गृहरक्षित्रोः रक्षणंच" इति कोशः। तस्य रुचेः प्रसन्नतायाः संश्रितं संश्रयश्चरमश्लोकस्य तात्पर्यार्थो विज्ञेयो विशेषेण ज्ञातव्यः। अथ तत्प्रापकस्वरूपस्य निरूपणं वाक्यार्थो विज्ञेयः ॥५२॥

चरमश्लोक के पदार्थों को कह कर अब तात्पर्य्यार्थ, वाक्यार्थ प्रधानार्थ और अनुसन्धानार्थ का निरूपण करते है।

भाषा—हे सुरसुरानन्द ! दीनों की रक्षा के साधन कर्त्ता श्रीरामजी की छबि या प्रेम का अवलम्बन करना, इस चरम मन्त्र का तात्पर्यार्थ है और परब्रह्म श्रीरामजी की छबिका आश्रय जो तद्विग्रह या पर्पा उस का निरूपण करना अथवा श्रीरामजी के प्रापक पुरुषकार रूप सीता जी के स्वरूप का निरूपण करना चरम मन्त्र का वाक्यार्थ जानो ॥५२॥

निवेदयत मां प्राप्तं विभीषणमुपस्थितम्'' इत्युक्त्या विभीषणस्य वाचिकी गजेन्द्रस्य मानसीत्याद्यूह्यम्। तत्रापि प्रत्येकं सात्विकी राजसी तामसीतिभेदात्षड्विधापि सा त्रिधेति तासामष्टादश भेदाः।

तथाचोक्तं भरद्वाजसंहितायाम्-

"प्रपत्तिरानुकूलस्य संकल्पोऽप्रतिकूलता।
विश्वासो वरणं न्यासः कार्पण्यमिति षड्विधा।
कृतानुकूलसंकल्पः प्रातिकूल्यं विवर्जयन्।
विश्वासशाली कृपणः प्रार्थयन्न् त्वणं प्रति।
आत्मानं निक्षिपति यद्धीमान्देवस्य पादयोः।
सा प्रपत्तिरियं सद्यः सर्वपापप्रमोचनी।
आर्त्तानामाशु फलदा सकृदेव कृताह्यसौ।
दृप्तानामपि जन्तूनां देहान्तरनिवारिणी।
एषा च त्रिविधा ज्ञेया कारणत्रयभेदतः।
गुणत्रयविभेदादप्येकैका त्रिविधा पुनः।
प्रणामाङ्कनमुख्येन न्यासलिंगेन केवलम्।
गुर्वधीना हि भवति प्रपत्तिः कायिकी क्वचित्।
अविज्ञातार्थतत्त्वस्य मन्त्रमीरयतः परम्।
गुर्वधीनस्य कस्याऽपि प्रपत्तिर्वाचिकी भवेत्।
न्यासलिङ्गपताऽङ्केन धियार्थज्ञस्य मन्त्रतः।
उपासितगुरोः सम्यक् प्रपत्तिर्मानसी भवेत्।
यदीच्छन् प्रतिकूलानि सर्वभूतानुकम्पनम्।
प्रपद्यते हरिं मोहात्सा प्रपत्तिस्तु तामसी।
अभीप्सयन् विविधांश्च कामान् यदकामैकवत्सलम्।
प्रपद्यते हृषीकेशं तामिमां राजसीं विदुः।
परित्यज्याऽखिलान्कामान् भक्त्यैवात्मेश्वरं हरिम्।
प्रपद्यते दास्यरतिर्यदेषा सा तु सात्त्विकी।
हीना हीनतमाश्चैव रजसा तमसा कृताः।
सत्त्वेन याः प्रयुज्यन्ते मुख्यास्ताः परिकीर्तिताः।
सत्त्वजा मानसीत्येका तत्र मुख्यतमा मता।
तया हि परमां सिद्धिं सद्यो यान्ति मनीषिणः।
प्रणामः कीर्तनं वापि स्मरणं वाऽपि केवलम्।

एकैकमपि चाङ्गाना प्रपत्ति. प्राज्ञसंश्रयात् ।
अन्वयादपि चैकस्य सम्यक् न्यस्तात्मनो हरौ ।
सर्व एव प्रमुच्येरन् नरा: सर्वेऽपरे तथा ॥
बालमूकजडान्धाश्च पङ्गवो वधिरास्तथा ।
सदाचार्य्येण सदिष्टा: प्राप्नुवन्ति सदा गतिम्" इति

केचित्तु—

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच"

इत्यस्यैव चरमत्वं न "सकृदेव प्रपन्नाय" इत्यस्येति वदन्ति । वस्तुतस्तु "सकृदावृत्ति प्रपत्तिः" इति पूर्वाचार्यैः सिद्धान्तितत्वेन चिरंतनोक्तत्वेन च सकृदेवेत्यत्रैव सकृत्पदश्रवणेन चास्यैव चरमत्वमिति सहृदयैरवश्याऽऽकलनीयम ।अस्तु तस्यापि तत्त्वं न तत्रास्माकमाग्रहः । एवं च तादृशप्रपत्तेरपि देशादिनियमाभावः प्रपित्सुभिर्मुमुक्षुभिरवगन्तव्यः।

तथा च सूत्रम्—

"प्रपत्तेर्देशनियमः कालनियमः प्रकारनियमोऽधिकारिनियम. फलनियमश्च नास्ति" इति भगवच्चरणवरणरूपाया: प्रपत्तेर्देशनियमो नाम पुण्यदेशेषु प्रपत्ति: कर्त्तव्या तदन्यदेशेषु नेति नियमो नास्तीत्यादिरर्थोऽस्य द्रष्टव्यः।किंच परमजप्यमिदं पूर्वोक्त रहस्यत्रयं श्रुतिस्मृतिष्वपि महर्षिभिः संसूचनेन प्रतिपादितमस्ति ।

तथाहि श्रुतौ तावत्—

"यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।"

अत्र वेदाश्चेति वेदशब्देन सकलवेदमयं रामिति बीजं प्रतिपाद्यते । रमधातुसमानार्थदिवधातुनिष्पन्नोक्तार्थदेवशब्देन रामः मुमुक्षुशब्देन नमः शब्दार्थ इति मन्त्रराजः समुद्धृत सम्पन्नो भवति । अथ देवश्च देवी च 'पुमान स्त्रिया" इतिसाहित्ये एकशेषेण श्रीमच्छब्दार्थः छान्दसत्वाद्द्विवचनाभाव. छन्दसि सर्वविधीनां वैकल्पिकत्वाच्च "न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकम" इति श्रुत्यन्तरसंवादात् ।

"यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम"

इति स्मृतिश्च निखिलतेज प्रकाशकदेवविशेषणात्मशब्देन दीप्त्यर्थ चदिधातुनिष्पन्नचन्द्रशब्दार्थश्च, एकदेशप्रयोगाभिप्रायेण चरणाविति च शेषं तृपात्तमेव उत्तरखण्डार्थस्तु स्पष्ट एव इत्थम् हि मन्त्ररत्नमपि समुद्धृतं भवति । तुल्यन्यायात्तद्गर्भोऽष्टाक्षरश्च समुद्धृत. । सफलया सर्वलोकशरण्यपरमकारुणिकदेवशरणागत्या च सर्वभूताभयप्रदानदर्शनात्तृतीयमपि रहस्यं सूपन्नं भवति ।

एवं श्रीमद्रामायणेऽपि–

"स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दन ।
सीतामुवाचातियशा राघवं च महाव्रतम् ।

इत्यत्र रघुनन्दनो लक्ष्मणो भ्रातुरित्यनेन रामिति बीजमुद्धरणीयम् षष्ट्या संबन्धः । राघवपदेन ङेन्तो रामशब्द श्चोद्धरणीयः । चरणौ गाढं निपीड्येति नमःशब्दार्थ इति मन्त्रराजः समुद्धृत. । सीतामुवाचेति श्रीमच्छब्दः भ्रातुश्चरणावित्यनेन रामचन्द्रचरणाविति प्रतिपादितः । गाढं निपीड्येत्यनेन शरणं प्रपद्य इत्युक्तं भवति । उत्तरखण्डस्त्वर्थतः सिद्ध इति मन्त्ररत्नतद्गर्भोऽष्टाक्षरश्चोद्धृत. । महाव्रतमित्यनेन सकृदेव प्रपन्नायेति तृतीयमपि रहस्यं संसूचितम् ।

एवमेव श्रीमद्भागवते श्रीपाराशर्येणाऽपि–

'यस्याऽमलं नृपसद· सुयशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम् ।
तन्नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टं पादाम्बुजं रघुपते, शरणं प्रपद्ये''

इति श्लोके सर्वविधपापशमनसमर्थम्परमार्थभूत महर्षिभिरहर्दिवसवश्यगेयं सर्ववेदमयं रामिति बीजं व्याख्यातम् अर्चनवन्दनादिना नाकपालादि किरीटजुष्टपदेन नमःशब्दार्थो व्याहृतः रघुपतेरित्यनेन राम इति मन्त्रराजः सूपपन्न. ।

"अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा"

"अनन्या च मया सीता भास्करेण प्रभा यथा"

इत्युक्तरीत्या नित्ययोगभास्करप्रभावन नित्ययोगसीतासहितस्य रघुपतेः पादाम्बुजमित्यनेन "श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ" इति शेषंतूपात्तमेव । उत्तरखण्डस्त्वर्थतः सिद्ध इति मन्त्ररत्नम् समुद्धृतम् तद्गर्भोऽष्टाक्षरश्च श्रुत्यन्ते तृतीयरहस्यसाधकोक्तयुक्त्या तृतीयरहस्यमपि समुपपन्नं भवतीति सूचितमित्यलम् ॥ ५३ ॥

भाषा०—(हे सुरसुरानन्द !) इस चरम श्लोक का प्रधानार्थ तो सच्चिदानन्दात्मक ईश्वर के स्वरूप का निरूपण करना कहा है । और परमेश्वर ही जीव का धारण भरण पोषण करते हैं, इस बात का निरन्तर चिन्तन करने को चरम श्लोक का अनुसन्ध्यर्थ (अनुसन्धेयार्थ) कहते हैं ॥ ५३ ॥

(यहा तक दूसरे प्रश्न—जप क्या है—का उत्तर हुआ)

अथोच्यते महाप्राज्ञ ! ध्यानं ध्येयस्य चिन्तनम् ।
बुधैरात्मरतैर्नित्यं जितप्राणैर्जितेन्द्रियैः ॥ ५४ ॥

अन्वयप्र—हे महाप्राज्ञ ! (महामते ! सुरसुरानन्द !) जितेन्द्रियैः (विषयेभ्यः प्रत्याहृतेन्द्रियैः) जितप्राणैः (निरुद्धश्वास प्रश्वासैः) नित्यं (सर्वदा) आत्मरतैः (परमात्मनि निरतिशयप्रेमयुक्तैः) बुधैः अथ (रहस्यत्रयरूपपरमजप्यकथनानन्तरम्) ध्येयस्य (परमकारणस्य श्रीरामस्य) नित्यं चिन्तनम् (अनुक्षणस्मरणम्) ध्यानमुच्यते (महर्षिभिरि तिशेषः) ॥ ५४ ॥

एवं सार्थं साभिप्रायं सप्रमाणं परमार्थभूतं परम-मङ्गलायनं परमश्रेयोमोक्षसाधकं जननमरणात्मकसंसारभयनिवृत्तिकाङ्क्षिभिः फल-रहितविहितकर्मात्यजद्भिर्वैष्णवैरहरहरनुष्ठेयमिदं रहस्यत्रयं परमजप्य-त्वेन समभिधाय संप्रति किं ध्यानमिति तृतीयप्रश्नस्योत्तरं समुपदिशति-अथोच्यत इति। तत्र तावद्ध्यानस्वरूपमाह हे महाप्राज्ञ! महामते! अथ रहस्य-त्रयरूपपरमजप्यकथनानन्तरम् ध्येयस्य ध्यातुमर्हस्य परमात्मनः श्री मद्रामचन्द्रस्य बुधैर्नित्यं चिन्तनमनुक्षणं स्मरणं ध्यानम् "ध्यै चिन्तायाम्" इत्युक्तं ।कीदृशैर्बुधैः. जितानि इन्द्रियाणि यैस्ते तथोक्तैः। विषयेभ्यो वशी-कृतेन्द्रियैः।पुनः जितप्राणैः प्राणायामपरायणैः। नित्यमिति सर्वत्रान्वेति।पुनः आत्मनि परमात्मनि रतिरनुरागो येषां ते तथोक्तैः॥ ५४॥

यहाँ से तृतीय प्रश्न—वैष्णवों का अभिमत ध्यान क्या है ?—का उत्तर प्रारम्भ होता है ।

भाषा- हे महाप्राज्ञ ! (सुरसुरानन्द ! महर्षिगण) पुनः जितेन्द्रिय,

निरुद्धश्वास, सदा परमात्म सम्बन्धी निरतिशय प्रेमयुक्त, विद्वानों के ध्येय परम कारण रूप श्रीरामजी के निरन्तर स्मरण को ही ध्यान कहते हैं ॥५४॥

विकचपद्मदलायतवीक्षणं,
विधिभवादिमनोहरसुस्मितम् ।
जनकजादृगपाङ्गसमीक्षितं
प्रणतसत्समनुग्रहकारिणम् ॥५५॥
मुनिमनःसुमधुव्रतचुम्बित-
स्फुटलसन्मकरन्दपदाम्बुजम् ।
बलवदद्भुतदिव्यधनुःशरा-
महितजानुविलम्बिमहाभुजम् ॥५६॥
परार्ध्यहाराङ्गदचारुनूपुरं
सुपद्मकिञ्जल्कपिसङ्गवाससम्
लसद्घनश्यामतनुं गुणाकरं
कृपार्णवं सद्धृदयाम्बुजासनम् ॥५७॥
प्रसन्नलावण्यसुभृन्मुखाम्बुजं
नरं शरण्यं शरणं नरोत्तमम् ।
सहानुजं दाशरथिं महोत्सवं
स्मरामि रामं सह सीतया सदा ॥५८॥

अन्वयप्र- (हे सुरसुरानन्द !) विकचपद्मदलायतवीक्षणम्, (विकसितपद्मदलायतलोचनम्) विधिभवादिमनोहरसुस्मितम् (ब्रह्मशिवादिमनोहरेषद्धास्यम्) जनकजादृगपाङ्गसमीक्षितम् (सीतानेत्रकोणेन सादरं दृष्टम्) प्रणतसत्समनुग्रह-

कारिणम् (सतां प्रपन्नानां सम्यगनुग्राहकम्) मुनिमनः सुमधुव्रतचुम्बितस्फुटलसन्मकरन्दपदाम्बुजम् (मुनिमनांस्येव सुशोभनाः भगवच्चरणचिन्हचिन्तकत्वेन रसज्ञा मधुव्रता भ्रमरास्तैरास्वादिते विकसिते लसन्मकरन्दे पदाम्बुजे यस्य स तम्) बलवदद्भुतदिव्यधनुःशरामहितजानुविलम्बिमहाभुजम् (विविधबलशक्तिसम्पन्नौ सौन्दर्य्यादिगुणेन मनोहरौ दिव्यौ शार्ङ्गधनुर्बाणाभ्यामासमन्तात्पूजितौ जानुपर्य्यन्त लम्बायमानौ महाबाहू यस्य स तम) परार्ध्यहाराङ्गदचारुनूपुरम् (अमूल्यमाल्याङ्गदमनोहरनूपुरवन्तम्) सुपद्मकिंजल्कपिसङ्गवाससम् (मनोहरकमलकेशरवत्पीताम्बरधरम्) लसद्घनश्यामतनुम्, गुणाकरम्, कृपाऽर्णवम्, सद्धृदयाम्बुजासनम् (सत्पुरुषहृदयकमलरूपासनवन्तम्) प्रसन्नलावण्यसुभृन्मुखाम्बुजम् (लावण्यमनुक्षणमभिनवसौन्दर्य्यं तद्युक्तप्रसन्नमुखकमलम्) शरण्यम् (शरणागतपालकम्) शरणं (निखिलब्रह्माण्डरक्षकम्) महोत्सवम् (महान उत्सव आनन्दावसरो यस्य स महोत्सवस्तम्) सहानुजम् (अनुजेन लक्ष्मणेन सहितम्) सीतया सह (वर्त्तमानं) दाशरथिम् (दशरथराजकुमारम्) नरोत्तमम् (नरश्रेष्ठम्) नरं (परमात्मानम्) रामं सदा (अनुक्षणं) स्मरामि (अहं श्रीरामानन्दस्वामीति- शेषः) ॥५५॥५६॥५७॥५८॥

विकचानि विकसितानि यानि पद्मानि तेषां दलानि विकचपद्मदलानि तत्सदृशे आयते विशाले वीक्षणे नेत्रे यस्य स तम्। सहानुजम्। अनुजेन लक्ष्मणेन सह वर्तमानम्। सीतया श्रीजानक्या सह सहितम्। दशरथस्याऽपत्यं दाशरथिस्तम्। नरोत्तमं नरश्रेष्ठम् 'नरतीति नरः प्रोक्तःपरमात्मा सनातनः" इत्युक्तरीत्या सर्वोत्तमं परमात्मानं रामं सदा तैलधारावदविच्छेदक्षणं स्मरामीति चतुर्थश्लोकेन सहान्वयः। कीदृशं रामं जनकजादृशोऽपाङ्गेन अपरिच्छेद्य सौन्दर्य्यलावण्यवात्सल्यादिगुणाढ्यसीतानेत्रकोणेन समीक्षितं सम्यक् सादरं दृष्टम्। पुनः विधिभवादीनां ब्रह्मशिवादीनामपि मनोहरतीति

मनोहरं सुष्ठु शोभनं स्मितम् ईषद्धसनं यस्य स तम्। प्रणताः प्रपन्नाश्च सन्तश्च प्रणतसन्तस्तेषां समनुग्रहं सर्वभूतेभ्योऽभयं करोति तच्छीलस्तम्॥५५॥

पुनः कीदृशं रामं, मुनीनां मननशीलानां मनांसि मुनिमनांसि तानि मुशोभमानाः रसज्ञा मधुव्रता इव तान्येव वा मधुव्रताः भ्रमरास्तैश्चुम्बिते आस्वादिते स्फुटे विकसिते लसन्तौ सकरन्दौ ययोस्ते पदाम्बुजे यस्य स तम्। पुनः बलवन्तौ सर्वलोकोत्तरप्रशस्तबलयुतौ अद्भुतौ अद्भुतलक्षणसौन्दर्यादिविशिष्टौ दिव्यौ अप्राकृतौ धनुःशराभ्यां शार्ङ्गतद्बाणाभ्यामासमन्तान्महितौ पूजितौ जानुपर्यन्तं विलक्षणतया लम्बेते तच्छीलौ जानुविलम्बिनौ महान्तौ भुजौ यस्य स तम् ॥५६॥

परार्धसंख्यामितानि द्रव्याणि मूल्यत्वेनार्हन्तीति परार्ध्यां अमूल्यः हारश्चाङ्गदौ च चारुनूपुरौ च यस्य स तम्। पुनः शोभमाने पद्मकिञ्जल्कवत् कमलकेशरवत् पिशङ्गे पीते वाससी वस्त्रे यस्य स तम्। पुनः लसन्ती घन इव श्यामा घनश्यामा तनुर्मूर्तिर्यस्य स तम् "स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः" इति कोशः। पुनः कीदृशं रामं, गुणानां वात्सल्यादीनामाकरस्तम्। पुनः कृपायाः अर्णवः कृपार्णवो दयासमुद्रस्तम्। पुनः सतां हृदयं मानसम् अम्बुजमिव सद्धृदया बुजमासां स्थित्याश्रयो यस्य स तथोक्तम् ॥ ५७ ॥

पुनः प्रसन्नं लावण्यमनुत्तममभिनवसौन्दर्यास्पदत्वं सुष्ठु विभर्तीति लावण्यसुभृत् मुखमम्बुजमिव मुखाम्बुजं यस्य स तम्। शरण्यं शरणागतपालनतत्परम्। शरणं जगन्मात्ररक्षकम्। महोत्सवम्-

'न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति"

इति न्यायेन दुःखजन्यविकाररहितमित्यर्थः ॥५८॥

अब ध्यान के योग्य श्रीरामजीके रूपका वर्णन करते हैं-

भाषा०-जिनकी आँखें, खिले कमल दल के समान लम्बायमान हैं; जिनका मधुर मुसकान, ब्रह्मा शिव आदि के मन को भी हरनेवाला है; जो श्री जानकी जी के कटाक्ष से देखे गये हैं, सज्जनों पर, प्रणति मात्र से अनुग्रह करने वाले हैं, जिनका चरण-कमल सरस, विकसित एवं मुनियों के मन रूपी मधु लुब्ध भौंरों से चुम्बित है, जिनकी घुटने तक लम्बी पूज्य-भुजाओं में, सामर्थ्यवान अद्भुत एवं दिव्य धनुष बाण हैं, जो बहुमूल्य एवं सुन्दर हार, अङ्गद (बिजायठ) नूपुर एवं कमल केशर

क रागान पीतवस्त्र —पीताम्बर से सुशोभित है; जिनका शरीर मेघ के समान श्याम है, जो गुणों की खान और कृपा का समुद्र है, सज्जनों का हृदय कमल ही जिनका आसन है; जिनका मुखारविन्द प्रसन्न, और लावण्य—अभिनव—सौन्दर्य से अच्छी तरह युक्त है;जो नर (सनातन परमात्मा) शरणागतों की रक्षा में सदा तत्पर, जगन्मात्र का रक्षक, नरोत्तम, दशरथ-तनय एवं महोत्सव रूप है, श्री लक्ष्मण जी एवं श्री सीताजी के सहित ऐसे श्रीरामजी का सदा स्मरण करता हूँ * ॥५५।५६॥५७॥५८॥

एवं तेऽभिहितं ध्यानं शृणु तन्मुक्तिसाधनम्।
मुमुक्षूणां परं वेद्यं विधेयं सुमहामते ! ॥ ५६ ॥

अन्वयम-हे सुमहामते ! (सुरसुरानन्द !) ते (तुभ्यम्) एवं (पूर्वोक्तप्रकारेण) अभिहितम् (कथितम्) (यत्) मुमुक्षूणां परं वेद्यं (उत्कृष्टरूपेण वेदितुं योग्यम्) विधेयम् (विधातुं कर्तुं योग्यम्) तन्मुक्तिसाधन शृणु ॥ ५९ ॥

अथ मुक्तेः किं साधनमिति चतुर्थप्रश्नस्योत्तरमाह एवमिति हे सुमहामते! सुरसुरानन्द! ते तुभ्यं ध्यानम् एवमुक्तप्रकारेणाभिहितं कथितम्। तत् त्वत्पृष्टं मुक्तिसाधनं सुवक्तव्यं शृणु-कीदृशं तं परमुत्कृष्टम्। पुनः मुमुक्षूणां संसारान्मोक्तुमिच्छावतां सतां विधेयं विधातुं योग्य कर्तव्यमित्यर्थः। तेषामेव वेदितुं योग्य वेद्यं ज्ञातव्यम् "विद ज्ञाने" इति स्मरणात तत. कर्मणि ण्यत ॥५९॥

---

* इसमें श्री वैष्णवधर्म प्रवर्द्धकाचार्य श्री रामानन्द स्वामी जी ने षडक्षर मन्त्रराज के अर्थानुगुण सीता और लक्ष्मण सहित श्री रघुनाथ जी के ध्यान का उपदेश अखिल रामानन्दीय श्री वैष्णवों को दिया इसके विरुद्ध जो कोई भगवच्चिन्तन करे उनको समझना चाहिये कि मैं अपने पूर्वाचार्यों की आज्ञा के प्रतिकूल अनुष्ठान कर रहा हूँ। क्योंकि उक्त पद्य में आचार्य्यके "स्मरामि" इस पद से मैं उक्त विशेषण विशिष्ट का चिन्तन करता हूँ यह कहने का तात्पर्य्य यह है कि मेरा शिष्य भी ऐसाही करे क्योंकि मेरा यही सिद्धान्त है।

श्रीवैष्णवधर्मप्रवर्द्धकाचार्य्य श्रीरामानन्द स्वामी जी "मुक्तेः किं साधनम्" इस चौथे प्रश्न का उत्तर देते हैं

भाषा—हे सुन्दर बुद्धि वाले सुरसुरानन्द ! इस प्रकार ध्यान कहा। अब जो मुमुक्षुओं के जानने योग्य परम कर्त्तव्य है, उस मुक्ति-साधन को सुनो ॥ ५९ ॥

तप्तेनमूले भुजयोःसमङ्कनं चक्रेणशङ्खेन तथोर्ध्वपुण्ड्रम्
श्रुतिश्रुतं नाम च मन्त्रमाले संस्कारभेदाःपरमार्थहेतवः६०

अन्वयम—(हे सुरसुरानन्द!) श्रुतिश्रुतं (श्रुतिविहितम्) तप्तेन चक्रेण शङ्खेन च भुजयोर्मूले समङ्कनं कर्त्तव्यमिति प्रथमसंस्कारः। तथा श्रुतिश्रुतं ऊर्ध्वपुण्ड्रम् धार्यम् इति द्वितीयसंस्कारः । श्रुतिश्रुतं नाम च (कार्यम्) इति तृतीयसंस्कारः। श्रुतिश्रुते मन्त्रमाले मन्त्रो ग्राह्यः इति चतुर्थसंस्कारः। माला धार्या इति पञ्चम संस्कारः। तथा च मार्कण्डेयपुराणम् "अष्टोत्तरशतेनैव तुलसी काष्ठ-संभवाम् । कण्ठादिनाभिपर्यन्तां धारयेद्वैष्णवोत्तमः" इति संस्काराणां भेदाः(इमे सर्वे संस्काराः)परमार्थहेतवः परमार्थस्य भगवतः प्राप्तेः हेतवः कारणानि श्रुतिभिर्निगद्यन्ते ॥ ६० ॥

तत्र तावत्पञ्चसंस्कारसंस्कृतानामेव मुक्तावधिकारिता श्रोतव्य वैष्णवानां तत्कारकान पञ्चसंस्कारांस्तावदादीनाह तप्तेनेति। तप्तेन अग्निनिचितेन चक्रेण हेतिराजभगवत्सुदर्शनप्रतिकृतिरूपेण तथा शङ्खेन पाञ्चजन्येन च भुज-योर्मूले बाह्वोर्मूले समङ्कनमिति प्रथमः संस्कारः।

तथा च स्मृतिः—

"ताप पुण्ड्रं तथा नाम माला मन्त्रश्च पञ्चमः ।
अमी परमसंस्काराः परमैकान्तहेतवः" इति ।

नन्वत्र संस्कारेषु तापपदेन कथं तप्तशङ्खचक्रधारणमेव गृह्यते न पुनः कृच्छ्रचान्द्रायणतप आदिरत आह "श्रुतिश्रुतम्" इति श्रुतौ वेदेऽपि श्रुतं श्रूय-माणमनेन वेदोक्तत्वादस्यानादित्वं भणितम्।

तथा च श्रुतिः—

"पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः अतप्ततनु
र्न तदा मोक्षम् अश्नुते शतास इद्वहन्तस्तत्समासत" इति ऋग्वेदे ॥

अस्यार्थः हे ब्रह्मणस्पते ! चतुर्मुखस्यापि नायक ! प्रभुस्त्वं विश्वतो वि-शेषां सर्वेषां गात्राणि पर्येषि व्याप्नोषि ते व्यापकस्य तव विततं पवित्रचक्रम्।

"सुदर्शनं महस्रार पवित्रं चरणं पविः" इति नैघण्टुकाः ।

श्रीशास्त्रे च—

"पवित्रं चरणं चक्रं लोकद्वारं सुदर्शनम् ।
पर्यायवाचका ह्येते चक्रस्य प आत्मनः" इति ।

तदा तेन पवित्रेण चक्रेण न तप्ता तनुर्यस्य सोऽतप्ततनुर्मोक्षं नाश्नुते न प्राप्नोति तदेत्यत्र त्यदाद्यत्वाभावश्छान्दसस्तत्र सर्वविधेर्वैकल्पिकत्वात्। तच्च भगवत्पञ्चायुधमात्रस्योपलक्षणम् अतो मोक्षकाङ्क्षिभिरवश्यमेव चक्रादितप्त-तनुभिर्भवितव्यमिति श्रुतिरेव तप्तचक्रादिधारणे जीवान्प्रवर्त्य परमं शिष्ट-परिग्रहीतमपि शिष्टाचारनिदर्शनेन बोधयति—तत् इत् इदं चक्रादि वहन्तः प्राप्नुवन्तो दधतः शतासः शतानि जयविजयविष्वक्सेनगरुडादयः सम् समीचीने उत्कृष्टे स्थाने परमपदे भगवता सहाऽऽसते तिष्ठन्ति इति ।

तथा कठशाखायाम्—

"धृतोर्ध्वपुण्ड्रः धृतचक्रधारी विष्णुं परं ध्यायति यो महात्मा ।
स्वरेण मन्त्रेण सदा हृदिस्थं परात्परं यन्महतो महान्तम् "

इत्यादिनोर्ध्वपुण्ड्रादिधारणं सर्वेषां विहितम् तथा तद्वत् ऊर्ध्वपुण्ड्रं द्वादशसु स्थानेषु सर्वैर्धार्यमिति शेषः ।

इत्थम् तत्र-

"ऊर्ध्वपुण्ड्रं मृदा शुभ्रं यो धत्ते नियमान्मवान् ।
तस्य प्रसाद कुरुते विष्णुर्लोकनमस्कृतः" इति द्वितीयः संस्कारः ।

तृतीयं लक्षयति नाम चेति—

"अस्मिन्मासि भवेद्दीक्षा तन्मूर्तिनामतोदितम् ।
शक्त्यावेशावताराणां वर्जयेन्नाम वैष्णवः" ।

यथा रामकृष्णनारायणादिसम्बन्धेन रामदास एवमादि नाम कुर्यादिति भावः । चतुर्थपञ्चमे लक्षयति 'मालामन्त्रे' इति ।

तत्र माला—

"शङ्खचक्रधरो विद्वान्माला तुलसिजा धृता ।
स जीवन्मुक्त इत्येवं कमलाक्षादिधृक् तथा ।
यज्ञसूत्रं विना विप्रा वेदहीना क्रिया यथा ।
सत्यहीनं यथा वाक्यं मालाहीना न वैष्णवा ।
ब्राह्मणानां यथा संध्या गृहिणां पितृतर्पणम् ।
अदक्षिणो यथा यज्ञो मालाहीना न वैष्णवा ।"

मन्त्रस्तु—

"मन्त्ररूपं प्रवक्ष्यामि शृणु नारद तत्त्वतः ।
रकारादिमकारान्तं मन्त्रे षड्वर्णसंयुतम्" इति ।

एवं च मन्त्रो भगवन्मन्त्रस्तारकादिरिति । पञ्चैते संस्काराणां भेदाः संस्कारभेदाः परमार्थस्य मोक्षस्य हेतवः कारणभूताः "हेतुर्ना कारणं बीजम्" इत्यमरः ॥ ६० ॥

मुमुक्षुओं के परम कर्तव्य-मुक्ति के साधन के स्वरूप-को दिखलाते हैं—

भाषा०—बाहुमूल में तप्त शंख और चक्र से किया हुआ स्पष्ट-चिन्ह, (मस्तक आदि में) ऊर्ध्वपुण्ड्र, (भगवत्सम्बन्धी) नाम करण, (तारक) मन्त्रराज और (तुलसी की) माला ही और मोक्ष का कारण स्वरूप वेद विहित संस्कार-भेद- पंच संस्कार हैं ॥६०॥

परीक्ष्य शिष्यं समुपासकं गुरुर्वर्षं समभ्यर्च्य च देवमग्निम्
चक्रादिभिर्हेतिवरैःसुतप्तैर्दिने सुपुण्ये नियतःसमङ्कयेत् ६१

अन्वयः—गुरुः (अज्ञानतमोनिरासकः) वर्षं समुपासकं (संवत्सरपर्यन्तं सम्यग् उपासितगुरुं) शिष्यं (शासनार्हं जिज्ञासुं) परीक्ष्य (शिष्यस्य भावश्रद्धादीनां परीक्षां कृत्वा) देवं (श्रीरामं) समभ्यर्च्य (षोडशोपचारैः संपूज्य) अग्निञ्च समभ्यर्च्य (वेदिनिर्माणकुशकण्डिकाकरणपूर्वकं घृतादिहविषा संपूज्य) (सम्पूजितेन तेनाऽग्निना) सुतप्तैः (दाहकरणायोग्यैर्वा संतापकरणायोग्यैः) हेतिवरैः (भगवदायुधेषु श्रेष्ठैः) चक्रादिभिः

सुपुण्ये दिने (श्रीरामनवम्यादितिथियुक्ते वासरे) नियतः (समाहितो भूत्वा) समङ्कयेत् (चक्रादीनां विहितस्थाने चिन्हं कुर्य्यात्) ॥६१॥

एवं तत्तत्स्वरूपमभिधाय संप्रति विधिपूर्वकं तत्तत्करणमाह-परीक्ष्येति। गुरुस्तत्त्वोपदेष्टा-

"गुशब्दस्त्वन्धकारस्स्याद्रुशब्दस्तन्निवर्तकः ।
अन्धकारविरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥"

इत्युक्तरीत्या अज्ञानान्धकारनिवर्तकः शिष्यं शासनीयं शासनार्हं जिज्ञासुं वर्षं संवत्सरपर्यन्तं समुपासकं निष्कपटतया उपासितगुरुं परीक्ष्य तत्स्वभावश्रद्धादिपरीक्षां कृत्वा,

तदुक्तं भरद्वाजसंहितायाम्-

"उपासितगुरोर्वर्षं विष्णोर्दास्यमभीप्सतः ।
विहिताः पञ्चसंस्काराः युक्तस्यैकान्त्यहेतवः ।।"

इति । देवमुपास्यं श्रीरामं समभ्यर्च्य षोडशोपचारैः संपूज्य; अग्निञ्च समभ्यर्च्य, वेदिकानिर्माणकुशकण्डिकाकरणपूर्वकं घृतादिहविषा सम्पूज्य; तदग्निसुतप्तैर्हेतिवरैर्भगवदायुधश्रेष्ठैश्चक्रादिभिः सुपुण्ये श्रीरामनवम्यादौ दिने नियतः समाहितचित्तः सन् समङ्कयेदित्यन्वयः ॥ ६१ ॥

(पंच संस्कार के स्वरूप को कह कर अब विधिपूर्वक शंख चक्रादि धारण करने को बतलाते हैं)

भाषा०—गुरु, वर्ष भर सम्यक् रीति से उपासना करने वाले शिष्य की परीक्षा कर, देव—श्रीरामजी-की एवं अग्नि की सम्यक प्रकार पूजा कर के, भगवदायुधों में श्रेष्ठ चक्रादि (शंख—चक्र) को उसी में तपा कर अच्छे पुण्य दिनों—श्रीरामनवमी जन्माष्टमी आदि-में उससे भली प्रकार अङ्कित करे ॥ ६१ ॥

तथोर्द्ध्वपुण्ड्रं सुमृदा विधाय,
रामादिदासान्तमथो समुच्चरेत् ।

मन्त्रं तथैवोपदिशेद्विधानतो,
मालां वरां तां तुलसीसमुद्भवाम् ॥६२॥

अन्वयः—(हे सुरसुरानन्द !) अथो (अनन्तरम्) तथा (शास्त्रविधिर्यथा स्यात् तथा) सुमृदा (शुभ्रमृत्तिकया) (शिष्यस्य ललाटाद्यङ्गे) ऊर्ध्वपुण्ड्रं विधाय (कृत्वा) रामादिदासान्तं (रामदासः कृष्णदास इति) समुच्चरेत् (नाम कुर्यात्) विधानतः (शास्त्रविधिर्यथा स्यात्तथा) तुलसीसमुद्भवां वरां (शुभां-भनां) तां (प्रसिद्धाम्) मालां (शिष्यकण्ठे निधाय) तथैव (शास्त्ररीत्यैव) मन्त्रं (तारकाख्य षडक्षरमन्त्रराजम्) उपदिशेत् ॥ ६२ ॥

तथा सुमृदा शुभ्रमृत्तिकया ऊर्ध्वपुण्ड्रं विधाय कृत्वा अथो अनन्तर रामादिदासान्तन्नाम समुच्चरेत् शिष्यस्य नाम कुर्यात् । राम आदिर्यस्य तत् दासोऽन्तो यस्य तत् रामदासकृष्णदास इत्यादि । एवमधिकारिणं संपाद्य तथैव मन्त्रं तारकादि विधानतो विधानेनोपदिशेत् । तुलसीसमुद्भवा तुलसीकाष्ठनिर्मितां वरां श्रेष्ठां मालां चोपदिशेद् ग्राहयेत् ।

तदुक्तं भरद्वाजसंहितायाम्—

"तापयिष्यन्गुरुः शिष्यं चक्राद्यैर्हेतिभिर्हरेः ।
पुण्येऽह्नि नियतः स्नात्वा स्नातं मन्त्रजलाप्लुतम् ॥
ऋचा दक्षिणतः कुर्याद् वैष्णव्या बद्धकौतुकम् ।
ततः समर्चयेद्देवं स्वार्चायां स्थण्डिलेऽपि वा ।
पश्चिमे स्वेन तन्त्रेण कृत्वाऽग्नेः स्थापनादिकम् ।
मूलमन्त्रेण हुत्वाऽऽज्यं ततः पञ्चदशाहुतीः ॥
एकां पुनश्च सर्वेण पौरुषीभिश्च षोडश ।
हुत्वा त्रिर्विष्णुगायत्र्या वैष्णव्या चाथ हेतिभि. ॥
हविर्निवेद्य देवाय तच्छेषेण तथाहुती ।
अथोपसन्ने हैमानि ताम्राणि राजतानि वा ।
प्रक्षाल्य पञ्चगव्येन मन्त्रतोयाप्लुतानि च ।
बिम्बानि पूर्वहेतीनां स्वभागलिखितानि तै ।
निधाय वह्नौ प्रत्येकं तत्रावाह्य स्वमन्त्रत ।

अर्घ्य पाद्यं तथाचम्यं गन्धं पुष्पं च धूपकम् ।
दीपं च दत्वाऽथाभ्यर्च्य प्रणम्याग्निसमप्रभम् ।
आचार्यः स्वयमादाय नियुक्तो वाऽथ मन्त्रवित् ।
प्राङ्मुखस्योपविष्टस्य न्यसेद्बाहौ च दक्षिणे ।
सुदर्शनं तथा वामे पाञ्चजन्यं स्वमन्त्रत ।
एवं गदां धनुः खड्गं ललाटे मूर्ध्नि वक्षसि ।
चक्रं वा शङ्खचक्रे वा धारयेत्सर्वमेव वा ।
तन्त्रं समाप्य देवेशं सहशिष्यः प्रदक्षिणम् ।
कृत्वा प्रणम्य सान्निध्यं प्रार्थ्य शेषं समापयेत् ।
कुर्य्यात्सर्वत्र कर्मान्ते द्विजैः पुण्याहवाचनम ।
आचार्यस्यार्चनं चैव वासःस्रग्भूषणादिभिः ।
सर्वमङ्गलसंयुक्तमिति चिह्नानि शार्ङ्गिणः ।
धारयित्वा यथोत्साह वैष्णवानभितर्पयेद्" इति ।
एवमूर्ध्वपुण्ड्रादीनामपि विधानं तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥ ६२ ॥

भाषा०—(हे गुरसुरानन्द !) गुरु, शास्त्र विधि के अनुकूल शिष्य को (ललाट आदि अङ्ग में) शुभ्र (श्वेत) मृतिका का ऊर्ध्वपुण्ड्र लगा कर रामदास कृष्णदास ऐसा नाम करण करे। यथा शास्त्र तुलसी के अष्ठोत्तर शत दाने की नाभि पर्य्यन्त लम्बायमान माला शिष्य के गले में पहना दे, और यथा शास्त्र तारक नामक षडक्षर मन्त्रराज का उपदेश दे ॥ ६२ ॥

एवं महान्भागवतः सुसंस्कृतो,
रामस्य भक्तिं च परां प्रकुर्य्यात् ।
महेन्द्रनीलाश्मरुचेः कृपानिधेः,
श्रीजानकीलक्ष्मणसंयुतस्य ॥६३॥

अन्वयार्थ एवं (पूर्वोक्तपञ्चसंस्कारैः) सुसंस्कृतः महान् भागवतः (वैष्णवः) श्रीजानकीलक्ष्मणसंयुतस्य कृपानिधेः

महेन्द्रनीलाश्मरुचेः (इन्द्रनीलमणिवच्छ्यामलस्य) रामस्य परां भक्तिं (स्मृतिसन्तानरूपां) प्रकुर्यात ॥६३॥

एवमुक्तप्रकारेण उक्तै पञ्चभिः संस्कारैः सुसंस्कृतो जिज्ञासुर्मुमुक्षुर्महान्भागवतो भगवतः श्रीरामस्य भक्तः सन् श्रीजानकीलक्ष्मणाभ्यां संयुतस्य भास्करप्रभावत्सततमवियुक्तस्य कृपानिधेर्दयामहाजलधेः महेन्द्रनीलाश्मनः इन्द्रनीलमणेरुचिरिवरुचिर्यस्य स तस्य रामस्य परां भक्तिं कुर्य्यादित्यन्वयः ॥ ६३ ॥

भाषा०—इस प्रकार (पूर्वोक्त पञ्च संस्कारों से) सुसंस्कृत (सुन्दर संस्कार युक्त) महान् वैष्णव, श्रेष्ठ नील मणिवत श्यामल, कृपा सागर, श्रीजानकी लक्ष्मण सहित श्रीरामजी की (तैल धारावत निरवछिन्न परम प्रेम लक्षणा अथवा स्मृतिसन्तानरूपा) परा भक्ति करै ॥ ६३ ॥

उपाधिनिर्मुक्तमनेकभेदा
भक्तिः समुक्ता परमात्मसेवनम् ।
अनन्यभावेन मुहुर्मुहुः सदा
महर्षिभिस्तैः खलु तत्परत्वतः॥ ६४ ॥

अन्वयप्र—तैः (सुप्रसिद्धैर्वाल्मिक्यादिभिः) महर्षिभिः सदा (सर्वदा) खलु (इति निश्चयेन) अनन्यभावेन (अनन्यत्वेन) तत्परत्वतः (परब्रह्मश्रीरामपरायणतया) मुहुर्मुहुः (वारंवारम्) उपाधिनिर्मुक्तम् (प्रयोजनान्तरमोचनं यथा स्यात्तथा) परमात्मसेवनम् परमात्मनः श्रीरामस्य कायिकवाचिकमानसिकभजनम् अनेकभेदा (श्रवणाद्यनेकप्रकारा भक्तिः) समुक्ता (सम्यक् कथिताः) ॥ ६४ ॥

तत्परत्वतः तत्परत्वेन अनन्यभावेन अनन्यत्वेन उपाधिनिर्मुक्तं कामनाविवर्जितं सदा सर्वदा "सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः" इतिवदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपं मुहुर्मुहुः पुनः पुनः परमात्मनो रामस्य

सेवनं भजनं महर्षिभिर्भक्तिः समुक्ता सम्यक् कथिता। कथंभूता सा अनेकभेदा अनेके भेदाः प्रकारा यस्याः सा। अनेके भेदाः के भक्तेरिति चेत् शृणु—

सामान्यतो भक्तेः स्वरूपं नारदपञ्चरात्रे—

"सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते।"

शाण्डिल्यतत्त्वसुधायां च—

"सर्वस्मादधिकस्नेहो भक्तिरित्युच्यते बुधैः।"
सैवैवमूर्ध्वं नयति साक्षात्कारयति ह्यजम्।
तस्मात्सा भूयसी भक्तिः सैका निःश्रेयसेऽप्यलम्।"

सिद्धभक्तेः स्वरूपन्तु तृतीये—

"देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥

भक्तिरसामृतसिन्धौ प्रेमस्वरूपम्—

"सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते" इति।

नारदपञ्चरात्रेऽपि—

अनन्यममता विष्णोर्ममता प्रेमसङ्गता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रल्हादोद्धवनारदैः" इति।

एकादशे च—

"शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः।" इति

शाण्डिल्यसूत्रे परालक्षणम्

'सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे' इति ईश्वरे परमगुरौ चन्द्रकलेवाऽनुदिनं वर्द्धमाना वितर्करहिता वा याऽनुरक्तिः सैव परा भक्तिः

या च सकामा साऽपरा गदितरिति । त्वर्थेन निष्कामेति तदर्थः । द्वेषप्रतियोगाभावादपराग्दाच्च राग. ... अनुवर्तते सा ... रागरूपा कुत द्वेषप्रतियोग्यभावान् ... विरोधित्वात् । लोके द्वेष्योऽयं भक्तोऽयमिति विरुद्धधर्मद्वयवत्ति प्रतीयते । अत्र द्वेषविरोधी राग एव प्रसिद्धो न ज्ञानादिः अत एव ... कीर्तिन संस्तुतश्च ... फलं प्रयच्छति ।

अध्यात्मे सैव निर्गुणा भक्तिः—

"मद्गुणश्रवणादेव मय्यनन्तगुणालये ।
अविच्छिन्ना मनोवृत्तिर्यथा गङ्गाम्बुनोऽम्बुधौ ।
तदेव भक्तियोगस्य लक्षणं निर्गुणस्य हि ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिर्मयि जायते"

तृतीये निष्कामा लक्षणम्—

' सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।
स एव भक्तियोगाख्यः आत्यन्तिक उदाहृतः" इति

काठकोपनिषदि च—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।" इति

विष्णुधर्मोत्तरे ... —

"यो मे सम्बन्धोऽपगतः स विष्णुर्यश्चाभिभूतो मम सोऽपि विष्णुः ।
दिवं वियद्भूः ककुभश्च विष्णुर्भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः ।
न मेऽस्ति बन्धुर्न च मेऽस्ति शत्रुर्न भूतवर्गो न जना मदन्याः ।
त्वं चाहमन्यच्च शरीरभेदैर्विभिन्नमीशस्य हरेः शरीरम् ।
अतः भगवतस्तस्य मम चाऽपि गुरुरीश्वरः ।
तस्याऽहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।
नमो भगवते तस्मै येन सर्वमिदं ततम् ।
तमेव च प्रपन्नोऽस्मि मम यो गतिश्च चाप्यगम् ।"
इति । सैवानन्योपासनाभिधा ।

तल्लक्षणमेकादशे--

"खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।

सरित्समुद्रांश्च हरेःशरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः।" इति
अन्येच भक्तेर्भेदाः तत्र तत्र भक्तिरसामृतसिन्धुप्रभृतिग्रन्थे प्रतिपादितास्ते।
तत एवावगन्तव्या मुमुक्षुभिरिह बहुविस्तरभयान्न वर्ण्यन्तइतिदिक् ॥६४॥

भाषा०–अनन्य भाव से सदा सर्वदा निश्चय पूर्वक तत्पर रहने वाले महर्षियों ने, कामना, ममता, अहंता आदि से रहित परमात्मा-श्री रामजी–की सेवा स्वरूप जो भक्ति, उसका अनेक भेद कहा है ॥६४॥

सा तैलधारासमनित्यसंस्मृति सन्तानरूपेशि परानुरक्तिः
भक्तिर्विवेकादिकसप्तजन्या तथा यमाद्यष्टसुबोधकाङ्गा॥६५॥

अन्वयः–(महर्षिभिः) विवेकादिकसप्तजन्या (१–विवेक-विमोका ऽभ्यास-क्रिया-कल्याणा-ऽनवसादा-ऽनुद्धर्षरूपसप्तसाधन-जन्या) तथा यमाद्यष्टसुबोधकाङ्गा (यमनियमासनप्राणा-यामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिरूपाणि अष्टौ सुखेन बोधकानि अङ्गानि यस्याः सा) तैलधारासमनित्यसंस्मृति-सन्तानरूपा (तैलधारया समायाः अविच्छिन्नायाः परमात्मनः श्रीरामस्य स्वरूपस्य रूपस्य वा रामपद् स्मृतेः विस्ताररूपा या) ईशि (परब्रह्मणि श्रीरामे) अनुरक्तिः (निरतिशयप्रीतिः कर्त्तव्येति निगदिता) सा परा भक्तिः (त्वया ज्ञातव्येतिशेषः)

परां भक्तिं प्रकुर्यादित्युक्तौ का परेत्यपेक्षायामाह–सा तैलेति। ईष्टे इतीट् "ईश ऐश्वर्ये" अस्मात् क्विप् "ईशावास्यमिदं सर्वम्" इत्यत्र तथा निर्देशात् तस्मिन् ईशि ईश्वरे परमात्मनि अविच्छिन्नया स्निग्धया तैलधारया समायास्तुल्याया नित्याया अविच्छिन्नायाः संस्मृतेः सन्तानो विस्तारो रूपं यस्याः सा अनुरक्तिरनुरागः प्रीतिः सा परा भक्तिरित्यन्वयः तल्लक्षणं पूर्वव्याख्यायामुक्तम्। कीदृशी सा विवेकादिभिः सप्तभिर्जन्या तथा यमादयो ऽष्टौ सुबोधकानि अङ्गानि यस्याः सा ॥६५॥

परमरहस्य प्रचारक भगवान् श्रीरामनन्द स्वामी श्रीसुरसुरानन्द जी से "रामस्य भक्तिं च परां प्रकुर्यात् ॥६२॥" इस कहेहु ये कायिक, वाचिक, मानसिक परा भक्ति का स्वरूप और साधन का प्रतिपादन करते है–

जो विवेक[1] आदि (विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया कल्याण, अनवसाद, अनुद्धर्ष) सात साधनो से उत्पन्न है, और जिसके यम आदिक (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) आठ अच्छी तरह बोध कराने वाले अङ्ग है, तैलधारा के समान नित्य संस्मृति–अविरल स्मृति–से उत्पन्न जो श्रीरामजी में परम अनुरक्ति, उसे भक्ति कहते है ॥ ६५ ॥

टि० १–"तल्लब्धिर्विवेक–विमोका–ऽभ्यास–क्रिया–कल्याणा–ऽनवसादा–ऽनुद्धर्षेभ्यस्संभवान्निर्वचनाच्च" । इति बोधायनवृत्तिः । तथा च स्वयं बोधायनाचार्य्यैर्विवेकादीनां स्वरूपमभ्युक्तम् । तथाहि "जात्याश्रयनिमित्तादुष्टादन्नात्कायशुद्धिर्विवेकः"। दुष्टाहारात्,सात्त्विकाहाराणां विवेचनम् विवेकः । यथा जातिदुष्टम् कलञ्जगृञ्जनादि । आश्रयदुष्टम् अभिशस्त (महापातकयुक्त) पतित-चाण्डालादिद्रव्यम् । निमित्तादुष्टम् उच्छिष्टकेशाद्युपहतमन्नं ज्ञातव्यम् । एतद्विषयकमेव परमप्रमाणभूतग्रन्थेभ्यो निष्कृष्ट वचनम"आहारशुद्धौ खलु सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः" (छा ७।२६।२।) इतिनिर्वचनं बोद्धव्यम् ।

"विमोकः कामानभिष्वङ्गः" विषयसन्निधानेन विषयभोगमन्तरेणैव स्थातुं न शक्नोति येन चित्तविकारेण स चितविकारोऽभिष्वङ्ग इत्युच्यते । कामेन कामिन्यादिविषयेण चित्तविकाराऽभावरूपा ऽनभिष्वङ्गो विमोक इच्युते । अत्र "शान्त उपासीत" इति निर्वचनम् ज्ञातव्यम् ॥

"आरम्भणसंशीलनं पुन. पुनरभ्यास." आरम्भणम् आलम्बनं–शुभाश्रयः तस्य संशीलनम । इतिश्रुतप्रकाशिका । अस्यायमर्थः–परब्रह्म श्रीरामः जगदारभते सृजति पालयति संहरति इत्यतः आरम्भण परब्रह्मश्रीरामः तस्य पुनः २ सदा संशीलनं चिन्तनम् अभ्यासः । अनेनैवाभ्यासेन चिदचिद्विशिष्टपरब्रह्मण एव ध्रुवानुस्मृतिरूपोपासनस्यैव लब्धिर्भवतीतिवेदितव्यम् अतएव "सदा तद्भावभावित:" (गी. ८।६) इति निर्वचनं संगच्छते

"पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानं शक्तितः क्रिया"वेदपाठात्मको ब्रह्मयज्ञः, होमात्मको देवयज्ञः, अतिथिसपर्य्यात्मको मनुष्ययज्ञः, तर्पणात्मक. पितृयज्ञः, बलिहरणात्मको भूतयज्ञः,

पाठो होमश्चातिथीनां सपर्य्या तर्पणं बलिः ।

एते पञ्च महायज्ञा ब्रह्मयज्ञादिनामकाः" इत्यमरः ।

टि० तथा च मनुः—

"अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ ७० ॥
पञ्चैतान् यो महायज्ञान् न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन् नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥ अ० ३।
ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्" ॥ म०अ० ४। २१।

'न हापयति शक्तितः' 'यथाशक्ति न हापयेत्' इत्यादिना सदा कर्त्तव्यत्वेन विधानात् "उच्छ्वसन्न स जीवति"। म०।अ०३। ७२ इति निन्दनाच्चावश्यकर्त्तव्यत्व पञ्चानामिति बोद्धव्यम्। आदिना अन्येषामपि यज्ञानामनुष्ठानं शक्तितः यथासाध्य विधातव्यम् इत्यादि क्रियारूपं भगवद्भक्तेः साधनम्। एतत्साधनसम्पन्नो ब्रह्मविदां वरिष्ठो भवतीत्याह–निर्वचनम्—

"क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः" (मु० ३। १। ४)

"तमेनं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन" (बृ०। ४। ४। २२) इत्यादयोऽनुसन्धेयाः।

"सत्याऽऽर्जवदया दानाऽहिंसाऽनभिध्याः कल्याणानि"

सत्यं भूतहितम्। आर्जवं मनोवाक्कायानामैकरूप्यम्। दया स्वार्थनिरपेक्षपरदुःखप्रहाणेच्छा। दानम् स्वाधीनधनस्य यथादेशं यथाकालं यथा पात्रं यथावस्थं पराधीनत्वसम्पादनम्। अहिंसा मनोवाक्कायतः परपीडानिवृत्तिः। सति सामर्थ्येऽपि परकृतापकारचिन्ताराहित्यमनभिध्या। सत्यादयो ये कल्याणगुणास्तद्गुणवद्भिरेव परमेश्वरो लभ्यो भवतीति ज्ञातव्यम्। तथा च "सत्येन लभ्यः" (मु० ३। १। ५) "तेषामेवैष विरजो ब्रह्मलोकः" (प्र० १। १६) इत्यादि निर्वचनं सङ्गच्छते।

'देशकालवैषम्याच्छोकवस्त्वाद्यनुस्मृतेश्च तज्ज दैन्यमभास्वरत्वं मनसोऽवसादः' 'अनवसादाऽनुद्धर्षयोरवसादोद्धर्षविपर्य्ययरूपत्वादवसादोद्धर्षलक्षणमात्रमुक्तं वाक्यकारेण तद्विपर्य्ययरूपो नञर्थोऽर्थात्सिध्यतीति वाक्यकाराभिप्रायः' (इति श्रुतप्रकाशिका) देशकालयोः वैषम्यं वैगुण्यम् अर्थात् ययोर्देशकालयोः सात्विकभावोदयो न भवति तौ देशकालौ विषमौ विगुणौ सात्त्विकगुणरहितौ ज्ञातव्यौ। शोकवस्त्वाद्यनुस्मृतिर्नाम शोकप्रदवस्तु प्रणष्टधनपुत्रादि तस्य अनुस्मृतिनाम चिन्तनम्। तथाच ताभ्यां देशकालवैषम्यशोकप्रदवस्त्वाद्यनुस्मृतिभ्याम् जात मनसो भास्वरात्मकज्ञानाभावरूपं दैन्य खिन्नत्वमवसाद उच्यते।

टि० एवं सति सत्त्वशून्यत्वेन लोभमोहप्रमादजनकरजस्तमोगुणवर्द्धकत्वेन च तद्देशकालयोरवस्थितानामपि स्मारकाशान्तमनसां ध्रुवानुस्मृतिरूपायामुपासनाया मधिकारो न भवतीत्यतः देशकालवैषम्यशोकवस्त्वाद्यनुस्मृतिविपर्ययरूपानव-सादजुष्टमनसाम् 'उपासनं स्याद्ध्रुवानुस्मृतिर्दर्शनान्निर्वचनाच्च" (बो० वृ०) इति वृत्तिकारबोधितायां प्रत्यक्षताऽऽपन्नायामपवर्गसाधनभूतायां ध्रुवानुस्मृति-रूपायामुपासनायामधिकारो वेदितव्य इति भावः । इममेवार्थम् "नायमात्मा-बलहीनेन लभ्यः" इति निर्वचनमवगमयति । निर्वचनगतबलहीनेनेतिशब्द-स्य मनोबलहीनेनेत्यर्थो वेदितव्यः ।

"तद्विपर्ययजा तुष्टिरुद्धर्षः"

तयोः—देशकालवैषम्यशोकवस्त्वाद्यनुस्मृत्योः—विपर्ययः—देशकालसादृश्यप्रियवस्त्वाद्यनुस्मृतिरूपः—तेन जन्या तुष्टिः—मनोरमदेशकालदर्शनजन्यः स्वकीयत्वेनाऽभिलषितप्राकृतपदार्थस्य स्मरणजन्यश्चाऽप्राकृतपदार्थाऽऽकाङ्क्षा-रहितमनसोऽवस्थाविशेषोऽतिसंतुष्टिर्भक्तेर्बाधिका, तद्विपर्ययस्तु भक्तेः साधकः । अर्थात् अतिमनोरमदेशकालातिप्रियपुत्रकलत्रादिचिन्तनात्तत्रैवातितुष्टत्वेन निविष्टत्वेन च तदन्यचिन्तनाऽशक्तस्य मनसो भगवच्चिन्तनाऽनर्हत्वम् । अतोऽतितुष्टिरूप उद्धर्षः-उत्कृष्टसांसारिकहर्षो मनसो धर्मविशेषो भक्तेर्विरोधी। सांसारिक विषयनिमित्तकोद्धर्षाभाववन्मनसैव भगवान् ध्येयो भवितुमर्हति । अत उद्धर्षाभावस्यैव भक्तिं प्रति साधनत्वं सिद्धम् । तथाच प्राकृतविषयस्य न-श्वरत्वपरिणामित्वदर्शनेन तज्जिहासुः निगृहीतबाह्याभ्यन्तरेन्द्रियः सन् समाहितो भूत्वाऽऽत्मनि स्वस्वरूपे आत्मानं परमात्मानं पश्यत इत्यर्थकम् " शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति" (बृ० ४।४।२३) इति निर्वचनञ्च संगच्छते ।

विवेकादि—

बोधायन वृति में कहा है, कि "उसकी प्राप्ति विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष से सम्भव है" पुनः वही—बोधायनाचार्य ही—इसका स्पष्टीकरण भी कर देते हैं । कहते हैं, कि "जो अन्न दुष्ट-जाति, दुष्ट-आश्रय और दुष्ट निमित्त नहीं है, उससे शरीर का संशोधन करना विवेक है । अर्थात् दुष्ट आहार से सात्विक आहार का विवेचन करना विवेक है । जैसे--जाति-दुष्ट-अन्न, कलौंजी, गाजर लहसुन प्याज आदि; आश्रय-दुष्ट-अन्न, अभिशाप पाये हुए

महापातक युक्त और चाण्डाल आदि का द्रव्य; निमित्त दुष्ट अन्न, जूठा, केशयुक्त आदि अन्न को जानना चाहिये।" इसी प्रकार इसका अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों में भी निर्विवाद वचन मिलता है। जैसे-छान्दोग्योपनिषद के ७।२६।२ में कहा है, कि "आहार की शुद्धता से अवश्य ही सत्त्व की शुद्धि होती है और सत्त्व-शुद्धि से अविचल-स्मृति होती है।"

"विमोक, काम के अनभिष्वङ्ग को कहते है। विषय की समीपता में, उसको भोगने से अपने को नही रोक सकने का जो चित्त में विकार, उसको अभिष्वङ्ग कहते है। अत एव, कामानभिष्वङ्ग, कामिनी आदि विषयों से चित्त में विकार नही होने को समझना चाहिये; इसीको विमोक कहते है।"

"अभ्यास, आरम्भण-आलम्बन-के पुनः पुनः अनुशीलन को कहते है।" श्रुतप्रकाशिका में कहा है, कि-"आरम्भण जो आलम्बन-शुभ आश्रय, उसके बारम्बार अनुशीलन करने को अभ्यास कहते है।" परब्रह्म श्री राम जी से जगत का आरम्भ (उत्पत्ति) पालन और संहार होता है,अतएव, श्रीरामजी ही आरम्भण कहे जाते हैं, उन श्रीरामजी के निरन्तर चिन्तन को अभ्यास कहते है। इस प्रकार के अभ्यास से चिदचिद्विशिष्ट परब्रह्म—श्रीरामजी—की अविचल-स्मृति रूप उपासना की प्राप्ति होती है, यही कहा है। अतएव गीता का यह वचन— 'सदा तद्भावभावितः' अर्थात् सदा उनका चिन्तन करना-संगत होता है।

"क्रिया, शक्तिभर पंचमहायज्ञादि के अनुष्ठान को कहा है" वेद-पाठ को ब्रह्म-यज्ञ, होम करने को देवयज्ञ, अतिथि-सेवा को मनुष्य-यज्ञ, तर्पण को पितृ यज्ञ और बलिदान को भूत-यज्ञ कहा है। इस प्रकार "वेद-पाठ, होम, अतिथितर्पण पितृ तर्पण और बलि, इन पाँच महा-यज्ञों का ही नाम ब्रह्मयज्ञादि है" ऐसा अमर कोष में कहा है। मनुस्मृति में भी कहा है, कि—"अध्यापन ब्रह्म यज्ञ, तर्पण पितृयज्ञ, होम देवयज्ञ, बलि भूत यज्ञ, और अतिथि-पूजन, नृयज्ञ—मनुष्य

यज्ञ है । इन पाँचों महा-यज्ञो का जो शक्तिभर नही त्याग करता है, वह गृहमें नित्य बसते हुए भी सूना-दोष से लिप्त नही होता है। मनु, अ. ३ । श्लो० ७१ । (। सूना—दोष, चूल्हा, चक्की, ओखली, झाड़, भूमि जोतने से मरे हुए जीवों की हत्या को कहते है।) पुन मनुने ही ४।२१। में कहा है कि "सदा यथाशक्ति ऋषि-यज्ञ, देव-यज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और नृयज्ञ का त्याग नही करना चाहिये।" 'यथा शक्ति नही त्याग करना' इस बचन से, सदा करने का ही विधान होता है। मनु० ने ही ३ । ७ २ में कहा है, कि "उच्छ्वसन्न स जीवति" अर्थात जो ऐसा नही करता, वह साँस लेते हुए भी मुर्दा है।" इस निन्दा बचन से पाचो यज्ञों को अवश्य करने का ही बोध होता है । पंच-महायज्ञादि में आदि शब्द जो आया है, वह भी अन्य यज्ञों के शक्तिभर–यथासाध्य अनुष्ठान करने का ही विधायक है। इन्ही सब क्रियारूप भगवत्प्राप्ति के साधनों से सम्पन्न होने से श्रेष्ठ ब्रह्म ज्ञानी होता है। मुण्डक उपनिषद् के ३ । १ । ४ में कहा है–'क्रियावान् ही, ब्रह्मज्ञनियों में श्रेष्ठ है।" बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा है, कि–दोषों का नाश करने वाला जो यज्ञ, दान और तपस्या, उससे ब्राह्मण, इश्वर को जानने की इच्छा करता है।" इत्यादि बचन अनुसन्धान योग्य है।

"कल्याण, सत्य, आर्ज्जव, दया, दान, अहिंसा और अनभिध्या है। प्राणिगों का हित करना सत्य, मन, बचन और शारीरिक–व्यवहार की एकता को आर्ज्जव,स्वार्थ-रहित होकर दूसरे के दुःख को दूर करने की इच्छा को दया,अपने अधीन धन को,यथा देश,काल और अवस्था,के अनुसार यथा पात्र को दे देना दान; मन बचन और शारीरिक क्रियासे भी दूसरों को पीड़ा नहीं पहुँचाने को अहिंसा; और सामर्थ्य रहते हुए दूसरों के किये हुए अपकार की चिन्ता की रहितता को अनभिध्या कहते है। इसने कल्याण-गुणों से परमेश्वर की प्राप्ति होती है, यह इससे ज्ञात हुआ ।

मुण्डकोपनिषद में कहा है, कि 'सत्येन लभ्यः' अर्थात् सत्य से प्राप्ति होती है। प्रश्नोपनिषद् । १ । १६ । में कहाहै—"जिसमें कपट, असत्यता और माया नही है, उसीको इस विरज–रजोगुण तमोगुण–शून्य-ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।" इस (निर्वचन) से उक्त अर्थ संगत होता है।

अनवसाद—देशकाल की विषमता से और शोकप्रद वस्तु आदि की अनुस्मृति से उत्पन्न जो दीनता, उससे मन का प्रकाश नही होने को अवसाद कहते है, अतएव, उपर्युक्त शोक और दीनता से रहित प्रकाश–युक्त मन को अनवसाद कहते है। इसी को श्रुतप्रकाशिका में इस रूप में स्पष्ट किया है—'अनवसाद और अनुद्धर्ष, अवसाद और उद्धर्ष का ही विपर्य्यय रूप से हुआ है, इसीसे वाक्यकारने अवसाद और उद्धर्ष का ही लक्षण किया है। उसके विपर्य्यय से ही उसके अर्थ की सिद्धि हो जाती है, यही वाक्यकार का तात्पर्य है।" देश काल की विषमता को ही वैगुण्य कहते है; अर्थात् जिस देश काल में सात्विक भाव-सत्त्वगुण का उदय नहीं होता, उस देश काल को ही विषम, विगुण और सात्विक गुण रहित जानना चाहिये। शोकप्रद–वस्तु मात्र की अनुस्मृति-नष्ट हुए धनपुत्रादि शोकप्रद वस्तुओं की निरन्तर स्मृति—बनी रहने को यहाँ चिन्तन कहते है। इन दोनो—देश काल की विषमता और चिन्तन से उत्पन्न मन की अप्रकाशकता रूप दैन्य को अवसाद कहते है। इस प्रकार सत्त्वगुण की शून्यता से और लोभ, मोह, प्रमाद को उत्पन्न करने वाला जो रजोगुण तमोगुण, उसकी बढ़तीसे उस देश काल में स्थित अवसाद प्राप्त मन, संदेह दृढ–चिन्ता के कारण उपासना का अधिकारी नही होता, यह तात्पर्य हुआ। देश काल की विषमता और शोक प्रद–वस्तु आदि की अनुस्मृति के विपर्य्यय रूप अनवसाद से युक्त मन ही, मोक्ष-साधन-भूत दृढ–अनुस्मृति-रूप उपासना का अधिकारी होता है। इसी को बोधायन–वृत्ति में इस प्रकार कहा है—

उदारकीर्तेः श्रवणं च कीर्तनं
हरेर्मुदा संस्मरणं पदश्रितिः ।
समर्चनं वन्दनदास्यसख्य-
मात्मार्पणं सा नवधेति गीयते ॥६६॥

अन्वयप उदारकीर्तेः (अर्थधर्मकाममोक्षप्रदसुयशस्म) हरेः (भक्तजनानां कायिकवाचनिकमानसिकदुःखहरणकर्त्तुः श्रीरामस्य सर्वैश्वर्य्यसम्पन्नस्य सज्जनान्तःकरणरमणाश्रयस्य)

'उपासनं-स्याद्ध्रुवाऽनुस्मृतिर्दर्शनान्निर्वचनाच्च" अर्थात् दृढ चिन्तन ही उपासना है, ऐसी देखी भी जाती है और निर्वचन भी है। इसी प्रकार "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" (मानसिक-बल के बिना आत्मा की प्राप्ति नहीं होती) इस निर्वचन से भी अवगत है। बलहीन का तात्पर्य मनोबल ही से है।

अनुद्धर्ष "देशकाल की विषमता एवं शोकप्रद वस्तु आदि, की अनुस्मृति की विपरीतता से उत्पन्न तुष्टि को उद्धर्ष कहते हैं; अतएव, इसका (उद्धर्ष का) विपरीत अनुद्धर्ष हुआ।

अपनी अभिलाषा के अनुकूल एवं मनोरम देशकाल, धन धाम, पुत्र-कलत्र आदि प्राकृत-पदार्थों का निरन्तर स्मरण करते हुए इसी की पूर्ति-प्राप्ति में इस प्रकार परमनिमग्न, अतितृप्त एवं महाप्रसन्न रहे, कि इससे भिन्न अप्राकृत (भगवत-चिन्तन आदि) वस्तुओं की आकांक्षा के बोध एवं प्रवृति से ही रहित हो जाय, इसी उत्कृष्ट सांसारिक हर्ष को उद्धर्ष कहते है; किन्तु यह उद्धर्ष भगवद्भक्ति विरोधी है., अतएव; इसकी विपरीतता ही भक्ति— साधिका हुई, इसी को अनुद्धर्ष कहते है।

इसी को बृ० आ० उ० ४। ४। २३ में इस प्रकार कहा है:-

संसारिक-पदार्थों की नश्वरता एवं परिग्लानि के दर्शन से उसके परित्याग की इच्छा करते हुए बाह्याभ्यन्तर-इन्द्रियों के स्वेच्छागमन को रोकनेवाला एवं निरुद्ध-अन्तःकरण प्राप्त जीवात्मा, अपने स्वरूपमें ही परमात्मा को देखता है।

श्रवणम् (रामस्यपरव्यूहविभवान्तर्य्याम्यर्चाविग्रहस्य स्वाभाविकज्ञान-बलक्रियादिपराशक्तीनाञ्च प्रतिपादकश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादीनां शिष्टमुखतः श्रवणम्) मुदा (हर्षेण) कीर्तनम् (श्रुतस्य स्वयमेवा-न्यान्प्रति कथनम्) (यत्कथितं तस्यैव) संस्मरणम् (सम्यक्स्वान्ते चिन्तनम्) (तदनन्तरम्) पदश्रितिः (पादसेवनम्) समर्चनम् (गन्धादिषोडशोपचारैः सम्यक् पूजनम्) वन्दनदास्यसख्यम् (वन्दनम् अभिवादनं स्तुतिश्च, दास्यं नाम तस्यैवाहं किङ्कर इति बुद्ध्या तत्परिचर्या दासत्वम्, सख्यं नाम सखित्वं सच्चिदान-न्दत्वेन तत्समानत्वम्) आत्मार्पणम् (आत्मनिवेदनम् अर्थात् जीवस्वरूपस्य भगवदधीनत्वबोधनम् वेदितव्यम्) (एतत्पूर्वोक्तात्मिका या भक्तिः) सा नवधा पूर्वोक्तभेदभिन्नतया नवप्रकारिका इति गीयते (निगद्यते महर्षिभिरितिशेषः) ॥६६॥

श्रवणादिनाऽपि तस्या अनेकभेदत्वं प्रतिपादयति-उदारेति। उदारा महती कीर्त्तिर्यस्य तस्य हरेर्भगवतो रामचन्द्रस्य श्रवणं तद्यशोरामायणादेः श्रवणम्। तत्कीर्त्तनम्। मुदा हर्षेण तस्य सम्यक् स्मरणम। तस्य पदयोश्श्रितिः पादयोः सेवनम्। 'श्रिञ्सेवायाम् क्तिन्' पदं व्यवसितित्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इति कोशः। तस्य समर्चनं गन्धादिषोडशोपचारैः पूजनम्। तस्य वन्दनं च। दास्यं च। सख्युर्भावःसख्यं सखित्वं च एतेषां समाहारस्तथोक्तम्। आत्मार्पणम् आत्मनिवेदनम्। इतीत्थं सा भक्तिर्नवधा नवभिः प्रकारैर्गीयते महर्षिभिरिति शेषः।

तदुक्तं सप्तमस्कन्धे-

"श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्" इति ॥ ६६ ॥

(परा भक्ति का स्वरूप कह कर; उसका साधन दिखलाते हैं)

भाषा—वह भक्ति; हरि की उदार * कीर्ति का श्रवण, गान एवं स्मरण, उनके चरणों का पूजन तथा वन्दन, दास एवं सखा भाव का

* उदार कीर्ति—सबके प्रति सब प्रकार सहृदयता रखने और अर्थ धर्म काम मोक्ष आदि सब प्रकार के कल्याणों के देने का सुयश ।

ग्रहण तथा आत्म-समर्पण, इस तरह नव प्रकार की कही गयी है। ×

एकादशीत्यादिमहाव्रतानि
कुर्य्याद्विवेधानि हरिप्रियाणि।
विद्धा दशम्या यदि साऽरुणोदये
स द्वादशीन्तूपवसेद्विहाय ताम् ॥६७॥

अन्वयः—हरिप्रियाणि (भगवत्प्रसादकराणि) विवेधानि (अरुणोदयवेधादिरहितानि) एकादशीत्यादिमहाव्रतानि (भगवत्प्रपत्तये) स कुर्य्यात् (मुमुक्षुरनुतिष्ठेत्) यदि सा (एकादशी) अरुणोदये (रवेररुणोदयकाले) दशम्या विद्धा (स्यात्) तु(तर्हि)ताम् (दशमीविद्धामेकादशीम्) विहाय (त्यक्त्वा) स (श्रीवैष्णवः) द्वादशीमुपवसेत् ॥ ६७ ॥

एवं मुक्तेःपरमसाधनत्वेन भक्तिमभिधाय वैष्णवैर्मुमुक्षुभिस्तत्साधनत्वेन कर्त्तव्यानि व्रतानि निर्णेतुमाह-एकादशीत्यादीति । हरिप्रियाणि हरेः संतोषकारकाणि। विगता वेधा येषां तानि विवेधानि अरुणोदयवेधादिरहितानि एकादशीत्यादिमहाव्रतानि स मुमुक्षुः कुर्य्यादित्यन्वयः। अरुणोदये अरुणोदयकाले यदि सा एकादशी दशम्या विद्धा स्पृष्टा स्यात्तदा तां विहाय द्वादशीमेवोपवसेदित्यर्थः ॥ ६७ ॥

अपरा भक्ति के वहिरङ्ग साधनों का वर्णन।

भाषा—भगवत्प्राप्ति की इच्छा से साधक गण, परमात्मा को प्रसन्न करने वाले अरुणोदयवेधादिरहित एकादशी आदि महाव्रतों को करें। यदि वह एकादशी अरुणोदय कालमें दशमीतिथि से विद्धा हो, तो उस (दशमीविद्धा एकादशी) को त्यागकर शुद्ध द्वादशी व्रतको करें ॥६७॥

शुद्धा दशम्या सुयुतेतिभेदा-
देकादशी सा द्विविधा च बोध्या।

× आत्म समर्पण के बाद ही पराभक्ति होती है और श्रवणादि आठों के अनुष्ठान से जीव आत्म समर्पण के अधिकारी होता है। अपने को सर्वथा सदा परमात्मा के अधीन समझने को आत्म समर्पण कहते हैं।

वेधोऽपि बोध्यो द्विविधोऽरुणोदये
सूर्य्योदये वा दशमीप्रवेशात् ॥ ६८ ॥

अन्वयप्र—सा एकादशी शुद्धा (अरुणोदयसूर्य्योदयवेधरहिता) दशम्या सुयुता विद्धा चेतिभेदात् द्विविधा बोध्या। अरुणोदये सूर्य्योदये वा दशमीप्रवेशात् वेधोऽपि द्विविधो बोध्यः ('ज्ञातव्यो भवद्भिरितिशेषः) ॥६८॥

सा कर्तव्या एकादशी शुद्धा दशम्या सुयुता मिश्रा 'यु मिश्रणेऽमिश्रणे च'' इति स्मरणात् विद्धा चेति भेदात् द्विविधा बोध्या। स वेधः कथं कीदृक् इत्याकाङ्क्षायामाह-वेधोऽपीति। एकादशीभोगात्प्रागेव अरुणोदयेऽरुणोदयकाले अथवा सूर्योदये सूर्य्योदयकाले दशमीप्रवेशाद् वेधोऽपि द्विविधो बोध्य. ॥६८॥

भाषा०—उस एकादशी को, अरुणोदय एवं सूर्य्योदय काल में दशमी तिथिसे रहित रहने पर 'शुद्धा' एवं युक्त होने से विद्धा, इस तरह दो प्रकार की जाननी चाहिये और अरुणोदय एवं सूर्य्योदय,इन दो कालों में दशमी के प्रवेश होने से वेध को भी दो प्रकार का जानना चाहिये ॥ ६८ ॥

स पञ्चपञ्चप्रमितो ह्युषो बुधैः
कालस्तु षट्पञ्चमितोऽरुणोदयः।
प्रातस्तु सप्तेषुमितो निगद्यते
सूर्य्योदयः स्यात्तु ततः परं तथा ॥६९॥

अन्वयप्र—बुधैः पञ्चपञ्चप्रमितः (पञ्चपञ्चानां सङ्ख्यापरकः पञ्चपञ्चः पञ्चपञ्चाशत्तमदण्डात्मकः कालस्तेन प्रमितः प्रमाणितो विभाजितो वा यः षट्पञ्चाशत्तमदण्डात्मकोऽग्रिमकालः) स (लोकवेदप्रसिद्धः) उपः (कालः) निगद्यते ततः परम् (उपः-

कालात्परम्) षट्पञ्चमितः (षट्पञ्चानां सङ्ख्यापूरकः षट्पञ्चस्तेन षट्पञ्चाशत्तमदण्डात्मककालेन प्रमितः प्रमाणितो विभाजितो वा यः सप्तपञ्चाशत्तमादिदण्डचतुष्टयात्मकः कालः) स 'अरुणोदयः'कालो निगद्यते। "प्रातश्चतस्रो घट्योऽरुणोदयः" इति वक्ष्यमाणग्रन्थस्वारस्यात् "षट्पञ्चाशद्घटिकान्ते चतस्रो घटिकास्तु याः। अरुणोदय इत्याहुः" इति ब्रह्माण्डोक्तवचनात् "उदयात्प्राक् चतस्रस्तु नाडिका अरुणोदयः" इति स्कन्दनारदाभ्यामुक्तत्वात् "चतस्रो घटिकाः प्रातररुणोदयनिश्चयः" इति ब्रह्मवैवर्तवचनाच्च। (तस्य षट्पञ्चाशद्घटिकान्ते दण्डचतुष्टयात्मकाऽरुणोदयकालस्य कुक्षिप्रविष्टः) सप्तेषुमितः (सप्तेषुभ्यः परः सप्तेषुपरः तेन सप्तेषुपरेण मितः सप्तेषुमितः सप्तपञ्चाशत्तमदण्डात्मककालाऽव्यवहितोत्तरदण्डत्रयात्मकः कालः) प्रातस्तु (प्रातः काल एव) निगद्यते (कथ्यते) (तुशब्दो ऽत्रावधारणे) तथा ततः परन्तु सूर्योदयस्स्यात् (यथोषःकालाद्भिन्नोऽरुणोदयकालस्तथा रात्रिशेषे दण्डत्रयात्मकप्रातःकालाद्भिन्नः सूर्योदयकालोऽस्तीति वेदितव्यम्। अत्र तुशब्दो भेदे विद्यते "तु पादपूरणे भेदे समुच्चयेऽवधारणे। पक्षान्ते नियोगे च प्रशंसायां विनिग्रहे" इति मेदिनी। यद्यप्यत्र विद्धाशुद्धैकादशीज्ञानस्योपजीव्यत्वेनाऽरुणोदयसूर्योदयज्ञानस्यैवापेक्षितत्वं नोषःप्रातः-कालयोः तथापि ताभ्यां सहचरितत्वेन तयोरपि विमर्शः कृतः साहचर्यात्॥६६॥

ननूपजीव्यत्वेनारुणोदयादिकालज्ञानाय तत्तत्सञ्ज्ञानिर्णयमाह—सप्तेति। पञ्चपञ्चप्रमितः पञ्चपञ्चाशत्तमदण्डात्मककालादूर्ध्वकालो बुधैरुषःकालः स्मृतः प्रवेशकालादारभ्य षट्पञ्चमितः षट्पञ्चाशत्तमदण्डात्मककालादूर्ध्वकालो बुधैररुणोदयो निगद्यते। सप्तेषुमितःसप्तपञ्चमितः सप्तपञ्चाशत्तमदण्डात्मककालादूर्ध्वं बुधैः प्रातर्निगद्यते। ततः प्रातःकालात

परमवशिष्टभागः सूर्योदयः सूर्य्योदयकालस्स्यात्।एवं चोषःकालारुणोदयकाल-प्रातःकालसूर्य्योदयकालभेदात् कालचतुष्टयं सम्पन्नमिति बोध्यम्।

तदुक्तम् -

"पञ्चपञ्च उषःकालः षट्पञ्चारुणोदयः।
सप्तपञ्च भवेत्प्रातः शेषं सूर्य्योदयः स्मृतः" इति॥ ६९॥

भाषा०—विद्वान लोग दिनमान (अहो रात्र) ६० दण्ड में ५५ दण्ड बीतजाने पर जो छप्पन मा ५६ दण्ड है, उसको 'उषाकाल' ५६ दण्ड बीत जानेपर बाकी ४ दण्ड समय को 'अरुणोदय' काल ५७ दण्ड बीत जाने पर बाकी ३ दण्ड समय को 'प्रातः काल' और उसके पश्चात (अर्द्ध सूर्य्य उदित होने के बाद) सम्पूर्ण समय को 'सूर्य्योदय' काल कहते हैं॥ ६९॥

प्रातश्चतस्त्रो घट्योऽरुणोदयो-
द्विनिश्चयः कालविमर्शिभिः कृतः।
तथात्र वेधप्रभृतेर्विभाग-
चतुष्टयं तैः कथितं महात्मभिः॥७०॥

अन्वयम—अरुणोदयस्य स्पष्टीकरणपूर्वकं तत्र दशमीप्रवेशाद्वेधोऽपि विभज्यते—प्रातश्चतस्रेति त्रिभिः। (हे सुरसुरानन्द !) कालविमर्शिभिः (कालज्ञैः) प्रातश्चतस्रो घट्यः (रात्रिशेषे चतुर्दण्डात्मककालः) अरुणोदयोद्विनिश्चयः (अरुणोदय-कालस्योत्कृष्टनिश्चयः) कृतः। तथाऽत्र(यथाऽरुणोदय एव प्रातः कालो निर्णीतः तथैवाऽत्रैकादशीप्रकरणे) तैर्महात्मभिः (कालविमर्शिसर्वज्ञपुरुषैः) वेधप्रभृतेः (अरुणोदयवेधसूर्य्योदय-वेधयोः) विभागचतुष्टयं कथितम्॥७०॥

किञ्च कालविमर्शिभिः कालविचारतत्परैर्ऋषिप्रभृतिभिः प्रातश्चतस्रो घट्यः चतुर्दण्डात्मकः कालः अरुणोदयोद्विनिश्चयः अरुणोदयस्य

उत्कृष्टत्वेन विनिश्चयः कृतः। तथात्र वेधपभूतवेधादरुणमहात्माभावभाग चतुष्टयं कथितम् ॥ ७० ॥

भाषा०- काल ज्ञानियों के द्वारा प्रभात कालीन चार दण्ड का समय, जो अरुणोदयकाल, निश्चित किया गया है, महात्माओं ने चारों तरह के वेध आदि का विचार भी उसी काल में कथन किया है ॥ ७० ॥

घटीत्रयं सार्द्धमथारुणोदय-
वेधोऽतिवेधो द्विघटिस्तु दर्शनात् ।
रविप्रभासस्य तथोदितेऽर्द्धं
सूर्ये महावेध इतीर्यते बुधैः ॥७१॥
योगस्तुरीयस्तु दिवाकरोदये
तेऽर्वाक् सुदापातिशयार्थबोधकाः ।
सर्वेऽपि वेधा मुनिभिर्विनिश्चिता
निर्णेतृभिस्तस्य तु तत्त्वदर्शिभिः ॥७२॥

अन्वयश्च—अथ (अरुणोदयादिकालनिर्णयानन्तरम्) (तत्र चतुर्दण्डात्मकरात्रिशेषे)रविप्रभासस्य दर्शनादर्वाक्(पूर्वम्) सार्द्धं घटीत्रयमरुणोदयवेधो बुधैरीर्यते । (तत्रैवारुणोदयवेधे रविप्रभासस्य दर्शनादव्यवहितप्राक्) द्विघटिस्तु) तु पादपूरणं द्वे घट्यौ यस्मिन् स द्विदण्डात्मककालः)अतिवेध ईर्यते । तथा (यथा रविप्रभासस्य दर्शनात्पूर्वमरुणोदयवेधातिवेधौ कथितौ तथैव रविप्रभासस्य दर्शनात्परम्) अर्द्धं सूर्ये उदिते (सति) महावेध इति ईर्यते कथ्यते) इत्यरुणोदयवेधत्रयं कथितम् ॥७१॥

अन्वयप्र—अतः परं पूर्वप्रतिज्ञातसूर्य्योदयवेधः कथ्यते—दिवाकरोदये (अर्द्धसूर्य्योदयात्परस्मिन् काले दशमीप्रवेशात्) तुरीयस्तु योग ईर्य्यते (त्वत्रपादपूरणे; चतुर्थो योगवेधः पूर्वप्रतिज्ञातसूर्य्योदयवेधो वा कथ्यते) ननु पूर्वनिर्धारिताऽरुणोदये दशमीप्रवेशेनैव परदिनस्था एकादशी दशमीविद्धतया त्याज्या पुनर्वेधविभागो अनावश्यक इति शङ्कां परिहरन् श्रीमद्ग्रन्थकार आह—सुदोषातिशयार्थबोधका इति । तस्य(वेधस्य) तत्त्वदर्शिभिर्निर्णेतृभिर्विनिश्चितास्ते (निरुक्ताः) सर्वे पि वेधाः (अरुणोदयवेधातिवेध महावेध सूर्य्योदयवेधाः) अर्वाक् (पूर्वम्) सुदोषातिशयार्थबोधकाः (सन्तीति शेषः)दशमीविद्धायामेकादश्यामुपवासे कृते सुदोषाणां महापापानामतिशयार्थं बोधयन्ति।अर्थात् अरुणोदयवेधयुतायामेकादश्यामुपवासे कृते यादृङ्महादोषा भवन्ति। ततोऽप्यतिशयमहादोषा अतिवेधयुक्तायामेकादश्यामुपवासे कृते भवन्ति । ततोऽप्यतिशयमहादोषा महावेधयुक्तायामेकादश्यामुपवासे कृते भवन्ति।ततोऽप्यतिशयमहादोषा सूर्य्योदयवेधयुक्तायामेकादश्यां व्रते कृते भवन्ति । उत्तरोत्तराऽऽधिक्यवतां महादोषाणां प्रायश्चित्तान्यपि न्यूनाधिकानि भवन्ति । वेधादीनां दोषावहत्वं तत्प्रायश्चित्तञ्चोक्तं स्मृत्यन्तरे ।

"दशमीशेषसंयुक्ता न तु कार्य्या कथञ्चन ।
जम्भस्येयं पुरा दत्ता दशमीशेषसंयुता ।
उपोषित्वा प्रमादेन प्रायश्चित्त द्विजश्चरेत् ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणस्तत्फलेन विनाशितः ।
स गच्छत्यन्धतामिश्रं नरकञ्च सुदारुणम् ।
अज्ञानाद्यदि वा मोहात्कुर्वन्नेकादशीव्रतम् ।
दशमीशेषसंयुक्त प्रायश्चित्तमिदं चरेत् ।
तप्तकृच्छ्रं नरः कृत्वा गां दद्याच्च सवत्सकाम् ।

सुवर्णस्यार्धकं देयं तिलाढ्कसमन्वितम्" अत्र दशमीशेषसंयुक्ता इत्युपक्रम्य तिलाढ्कसमन्वितमित्युपसंहृतम्, तथाचोपक्रमोपसंहाराभ्यामतिवेधस्यैव प्रायश्चित्तमिदं व्यवस्थापितं न पुनर्वेधादेः

"उदयात्प्राङ्मुहूर्त्तेन व्यापिन्येकादशी यदा।
संयुक्तैकादशी नाम वर्ज्येयं धर्मवृद्धये"

इति निषेधवचनबलेन संयुक्तैकादश्याः सूर्योदयाव्यवहितप्राक्दण्डद्वयवेधावगाहित्वेन दण्डद्वयवेधस्य च "अतिवेधो द्विघटिकः प्रभासन्दर्शनाद्रवेः" इत्युक्तरीत्याऽतिवेधत्वात्। ननु संयुक्तैकादशीपदं वेधसामान्यसंयुतैकादशीपरं ननु अतिवेधसंयुतैकादशीपरमेवेति चेन्न॥

"अतिवेधस्तु वै प्रोक्तो जम्भासुरफलप्रदः"
"दशमीशेषसंयुक्ता न तु कार्या कथञ्चन।
जम्भस्येयं पुरा दत्ता दशमीशेषसंयुता"

इत्येकवाक्यान्तःपातिदशमीशेषसंयुक्त जम्भपदार्थयोरन्योन्यसम्बन्धित्वेनैकसम्बन्धिज्ञानविधया "नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्" इति न्यायेन चातिवेधयुक्तैकादशीपरमेव संयुक्तैकादशीपदम्। अतिवेधप्रायश्चित्तानुरोधेनैव केवलवेधे तन्न्यूनं महावेधादिषु च तदधिकप्रायश्चित्तानुष्ठानं विहितमिति तत्त्वम्॥७२॥

तत्र वेधभेदमाह–घटीत्रयमिति। रविप्रभासस्य रवितेजसो दर्शनात्पूर्वं सार्द्धमर्द्धाधिकं घटिकात्रयमरुणोदयवेधो बुधैर्मतः। तथा सूर्यतेजोदर्शनात् पूर्वं द्विघटिः घटिकाद्वयमतिवेधः। सूर्येऽर्द्धे उदिते पूर्वत्र दशम्यादिना स्पर्शो महावेधः।

हेमाद्रावरुणोदयस्वरूपमुक्तम्—

'निशि प्राप्ते तु यामार्द्धे देववादित्रवादने।
सारस्वतोऽनध्ययनं चारुणोदय उच्यते"। यामार्द्धं मुहूर्त्तद्वयात्मकम्।

अत एव सौरधर्मेषु

"आदित्योदयवेलायां या मुहूर्त्तद्वयान्विता।

सैकादशी तु सपूर्णा विद्धाऽन्या परिकीर्तिता" इति।

यच्च स्कान्दे—

"उदयात्प्राक् चतस्रस्तु घटिका अरुणोदय" इति

तदपि द्वात्रिंशद्घटिकारात्रिमानपक्षे मुहूर्त्तद्वयस्य तावत्परिमाणत्वादुक्तमिति बोध्यम।

येऽपि ब्रह्मवैवर्त्ते-

"चतस्रो घटिकाः प्रातररुणोदयनिश्चयः।

चतुष्टयविभागोऽत्र वेधादीनां किलोदितः।

अरुणोदयवेधः स्यात्सार्द्धं तु घटिकात्रयम्।

अतिवेधो द्विघटिकः प्रभासंदर्शनाद्रवेः।

महावेधोऽपि तत्रैव दृश्यतेऽर्को न दृश्यते।

तुरीयस्तत्र विहितो योग. सूर्य्योदये सति"

इत्यादयो वेधास्तेऽपि अर्वाग्दोपातिशयार्था इति निश्चेतव्यम ॥ ७१ ॥

अत एवाऽऽह योगस्तुरीय इति। दि वाकरोदये सूर्योदये सति तुरीयो योग इत्यन्वयः। वेधतत्त्वदर्शिभिर्निर्णेतृभिमुनिभिः अर्वाक् वेधकालात्पूर्वं वेधे सुदोषातिशयार्थबोधकाः सर्वेऽपि ते वेधा निश्चिता इत्यर्थः। यद्यपीत्थं कालवेधनिर्णयोऽत्र वैष्णवमते नाऽतीवोपयुज्यते तथापि मतान्तरे तूपयुज्यत एवेति सहृदयैराकलनीयम्॥ ७२ ॥

भाषा०—विद्वान लोग, सूर्य की प्रभा के दर्शनके पूर्वकेसाढ़े तीन दण्ड के समय में हुए वेध को 'अरुणोदय–वेध' प्रभा १ दर्शन के दो दण्ड पूर्व के समय में हुए वेध को 'अति वेध' प्रभा दर्शन से अर्ध सूर्य्य उदित होने तक के आधे दण्ड समय में हुए वेध को 'महावेध' और सूर्य्योदय हो जाने के बाद से सम्पूर्ण दिन-रातके अन्तर्गत हुए चौथे वेध को'योग-वेध' कहते हैं। तत्व दर्शियों ने, उपर्युक्त सर्व वेध-चारो वेध-का भिन्न

१ आधे सूर्य्य उदित होने के पूर्व के आधे दण्ड समय को 'सूर्य्य प्रभा दर्शन काल' माना है।

भिन्न २ विभाग, एक से दूसरे में महान दोषों की अपेक्षाकृत अधिकता बोध कराने के लियेही विशेष रूप से निश्चित किया है ॥७१॥७२॥

पूर्णेति सूर्योदयकालतः सा
या प्राङ्मुहूर्त्तद्वयसंयुता च ।
अन्या तु विद्धा परिकीर्त्तिता बुधै-
रेकादशी सा त्रिविधाऽपि शुद्धा॥७३॥
एका तु द्वादशीमात्राधिका ज्ञेयोभयात्मिका।
द्वितीया च तृतीया तु तथैवानुभयात्मिका॥७४॥
तत्राद्या तु परैवास्ति ग्राह्या विष्णुपरायणैः ।
शुद्धाप्येकादशी हेया परतो द्वादशी यदि ॥७५॥
उपोष्य द्वादशीं शुद्धान्तस्यामेव च पारणम् ।
उभयोरधिकत्वे तु परोपोष्या विचक्षणैः ॥७६॥

अन्वयम-अष्टषष्टितमे ६८-श्लोके उक्तायाः शुद्धाया विद्धायाश्च निर्णयं दर्शयति श्रीमद्ग्रन्थकारः—पूर्णेति चतुर्भिः । बुधैः या एकादशी सूर्योदयकालतः प्राङ्मुहूर्त्तद्वयसंयुता च(निरुक्तारुणो-दयकालेन मिश्रिता) सैव शुद्धा पूर्णेति परिकीर्तिता (कथिता) अन्या तु निरुक्तारुणोदयकालाभ्यन्तरे दशमीप्रवेशात् विद्धा परिकीर्तिता। शुद्धाऽपि सा एकादशी त्रिविधा।एका तु द्वादशीमात्रा-धिका, द्वितीया चोभयाधिका तथैव (पूर्वोक्तरीत्यैव) तृतीया अनुभयाधिका ज्ञेया । अत्राऽऽधिक्यन्तु दिनद्वयसूर्य्यस्पर्शित्वम् । तथाच यस्या एकादश्या द्वादशी दिनद्वयसूर्य्यस्पर्शिनी सा एकादशी द्वादशीमात्राऽधिका । यदा एकादशीद्वादश्यौ दिनद्वयं सूर्य्यस्पर्शिन्यौ तदैकादशी उभयाधिका। यदा एकादशीद्वादश्यौ

दिनद्वयं नहि स्पृशतः तदा अनुभयाधिका ज्ञातव्या। अर्थात् यदा रविवासरे दशमी ५५।५९। ततः न्यूनैव नत्वधिका। तथा सोमवारे एकादशी५८।०ततःन्यूनैव नत्वधिका। भौमवारे च द्वादशी६०।बुधवासरेऽपि द्वादशी०।१।तदा द्वादशीमात्राधिका शुद्धा एकादशी ज्ञेया ॥१॥यदा रवौ दशमी५५।५९ततः नाधिका सोमे एकादशी ६०।०। मङ्गलवारे एकादशी ०।१। तदूर्ध्वमहोरात्रव्यापिनी द्वादशी बुधवारे द्वादशी ०।५। तदा शुद्धाऽप्येकादशी उभयाधिका ज्ञेया ॥ २ ॥ यदा रवौ दशमी ५५।५९। सोमे एकादशी ५७।० मंगलवासरे च द्वादशी ५८।० तदा शुद्धा एकादशी अनुभयाधिका ज्ञेया ॥३॥ तत्र (तासु तिसृषु शुद्धैकादशीषु मध्ये) आद्या तु (द्वादशीमात्राधिका तु) परैव (परदिनस्थैव) विष्णुपरायणैः (वैष्णवैः) ग्राह्या (उपोष्याऽस्तीति शेषः) (अस्यैव विवरणमग्रिमग्रन्थेन स्वयं श्रीमदाचार्यैः क्रियते) यदि परतः(पूर्वदिनस्थद्वादशीभोगात्परेऽह्न्यपि) किञ्चिद्द्वादशी (स्यादित्यर्थः) तदा शुद्धाऽपि एकादशी हेया (त्याज्या भवतीति शेषः) शुद्धां द्वादशीमुपोष्य (उपवासं कृत्वा) तस्यामेवचपारणम् (पलात्मिकायामपि परदिनस्थायां द्वादश्यामेव पारणं विधातव्यम् । तथाचोक्त पाद्मे—"अरुणोदयवेलायां कृत्य सर्वसमाचरेत्। कलायामपि द्वादश्यां पारणा तत्र चोदिता" इति। केचित्तु तत्र पारणाया असम्भवात् सूर्योदयात्प्रागेव पारणं विधातव्यमित्याहुः ॥७३॥७४॥७५॥७६॥

एवं तदुपजीव्यत्वेन कालवेधौ निर्णीय संप्रत्येकादशीभेदमाह पूर्णेति। सूर्योदयकालतः प्राङ्मुहूर्त्तद्वयसंयुता या एकादशी सा पूर्णा संपूर्णा शुद्धा। अन्या तु विद्धा। शुद्धाऽपि एकादशी वक्ष्यमाणरीत्या बुधैः त्रिविधा परिकीर्तिता ॥ ७३ ॥

तथैवाह-एकेति। तत्र द्वादशीमात्रं द्वादश्येवाधिका यस्यां सा। द्वितीया

उभयाधिका च। अनुभयाधिका तथा तृतीया। एवं च शुद्धा त्रिविधा द्वादशीमात्राधिका उभयाऽधिका अनुभयाधिका चेतिभेदात्। तत्राद्या परैव।

तथा च हेमाद्रिमदनरत्नधृतभागवतादितन्त्रे—

"सम्पूर्णैकादशी त्याज्या परतो द्वादशी यदि।
उपोष्या द्वादशी शुद्धा द्वादश्यामेव पारणम्।
न गर्भे विशते जन्तुरित्याह भगवान्हरिः"। इति

उभयोराधिक्ये कैमुतिकन्यायेनैव प्राप्तपरत्रोपवासानुवादो भृगुनारदाभ्यामुक्तः।

"संपूर्णैकादशी यत्र प्रभाते पुनरेव सा।
तत्रोपोष्या द्वितीया तु परतो द्वादशी यदि"। इति

अनुभयाधिका तु पूर्वैवेत्थं संदेह एव अत्राऽऽधिक्याऽनाधिक्ये सूर्योदयानन्तरानुवृत्त्यननुवृत्तिरूपे बोध्ये न तु षष्टिघटिकोत्तरत्वतदभावरूपे ॥७४॥

तत्र ग्राह्यामाह तत्रेति। तत्र तासु आद्या द्वादशीमात्राधिका विष्णुपरायणैः वैष्णवैः परैव ग्राह्याऽस्ति यदि परतो द्वादशी वर्द्धमाना तदा शुद्धाऽपि एकादशी हेया-हातुं त्यक्तुं योग्या त्याज्या ॥ ७५ ॥

नन्वेवं व्रतलोपः स्यादतआह-उपोष्येति। तत्र शुद्धामेकादशीलेशरहिताम् षष्टिदण्डात्मिकां द्वादशीमुपोष्य तस्यामेव उपवासदिनोत्तरावशिष्टद्वादश्यामेव मुमुक्षुः पारणं कुर्यादिति शेषः। उभयोरधिकत्वे विचक्षणैः परैवोपोष्या ७६

भाषा—विद्वान लोग, सूर्योदय काल से पूर्व दो मुहूर्त-चार दण्ड एकादशी तिथि संयुक्त शुद्धा-एकादशी को पूर्णा, और उससे भिन्न को विद्धा कहते है; तथा उपर्युक्त शुद्धा एकादशी भी तीन प्रकार की कही गयी है * ॥ ७३ ॥

भाषा—पहली वह, जिसमें द्वादशी की मात्रा अधिक हो; दूसरी, जिसमें एकादशी—द्वादशी दोनों की मात्रा अधिक हो; और तीसरी, जिसमें दोनों की मात्रा अधिक नहीं—कम हो × ॥ ७४ ॥

---

*उपर्युक्त चारों श्लोको मे एकादशी की व्यवस्था इतनी चुस्त-रीति से की गयी है, कि उसके सहज-बोध में रुकावट सी पड़ जाती है; अतएव, सुगमता के लिए यहां कुछ खुलासा कर दिया गया है:—

इस श्लोक में जो यह कहा गया है, कि सूर्योदय काल से चार दण्ड पूर्व से ही एकादशी तिथि वर्तमान रहे, तो उसे शुद्धा एकादशी कहते हैं, इसका

इन तीनों में पहली में परतिथि का-द्वादशी का व्रत ही वैष्णवों के ग्रहण योग्य है। क्योंकि, यदि द्वादशी अपने बाद वाली—आगामी तिथि तक चली जाय, तो ऐसी अवस्था में शुद्धा एकादशी भी हेय है।

तब द्वादशी को ही उपवास-व्रत करके पिछली द्वादशी में

तात्पर्य यह नहीं है, कि उक्त चार दण्ड पूर्व और पहले से एकादशी वर्तमान रहने पर शुद्धा एकादशी होगी ही नहीं, बल्कि यह है, कि अधिक रहे तो अच्छा ही है, किन्तु अन्ततो चारदण्ड से कम नहीं होना चाहिये; क्योंकि इससे कम होने पर तो विद्धा एकादशी हो जायगी—शुद्धा नहीं, जैसा, कि पहले ही निरूपण किया जा चुका है ॥७३॥

× 'मात्राधिक्यवती' का तात्पर्य ऐसी तिथि से है, जो दो दिवस, सूर्य्य की विद्यमानता मे वर्तमान रहे। तात्पर्य यह, कि सूर्य के उगने से डूबने तकके अन्तर्गत जो तिथि रही हो, वही यदि दूसरे दिवस भी चली जाय तो वह तिथि मात्राधिक्यवती हुई। अतः द्वादशी मात्राधिक्यवती का अर्थ यह हुआ, कि द्वादशी दो दिवस सूर्य की विद्यमानता में वर्तमान रहे। द्वादशीमात्राधिक्यवती इस तरह कही जायगी, आज शुद्धा एकादशी में सूर्योदय हुआ और कल द्वादशी मे, पुनः शेष द्वादशी परसों भी चली गयी। इस अवस्था मे प्रथम द्वादशी में व्रत; और आगामी द्वादशी में पारणा होगी। द॰५५-५१। ए.५८-०द्वा. ६०-०२ २-५०, इसी प्रकार 'उभयमात्राधिक्यवती', को भी समझना चाहिये, अर्थात् सूर्य की विद्यमानता में दो दिवस एकादशी भी रहे और द्वादशी भी; यथा दशमी तिथि को चारदण्ड रात्रि शेष रहते एकादशी प्रवेश कर आगामी दिवस और रात्रि में बीतती हुई पुनः आगामी दिन मे भी आगयी। फिर इसी दिन सूर्य-विद्यमान कालमें द्वादशी भी प्रविष्ट हो गयी, फिर वह भी शेष दिवस एवं रात्रि मे गुजरती हुई आगे के दिन में भी पहुँच गयी। इस प्रकार सूर्य-विद्यमान-काल में, दो दिन एकादशी, और द्वादशी भी बीती। इसी को 'उभय मात्राधिक्यवती' कहते है। यथा दशमी ५५।५६ एकादशी प्रथम दिन ६०—० दण्ड द्वितीय दिन १ दण्ड; पुनः आजही इस एक दण्ड के बाद द्वादशी ६० दण्ड और फिर कलभी एकाध दण्ड। इस अवस्था मे प्रथम दिन की एकादशी में व्रत न कर दूसरे दिन की द्वादशी मिश्र एकादशी की जायगी और आगामी द्वादशी मे पारणा होगी। इसका एक दूसरा भेद इस प्रकार भी हो सकता है, कि जैसे आज दशमी १० दण्ड, पुनः एकादशी शेष दिनरात बीतती

पारण करना चाहिए। बुद्धिमान लोग, उभय की अधिकता होने पर पिछली एकादशी तिथि को ही उपवास-व्रत करते हैं

[यहाँ पर 'अनुभयमात्राधिक्यवती' के विषय में इस लिये कुछ विचार नहीं किया गया है, कि वह वैष्णवों-स्मार्तों दोनों के लिये निर्विवाद है अर्थात् एकादशी को व्रत, द्वादशी को पारणा] ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

हुई कल्ह १२ दण्ड तक पहुंची फिर बाद द्वादशी प्रविष्ट हुई और उसी प्रकार आगामी दिन भी १५ दण्ड तक गयी; इस तरह सूर्य्य के विद्यमान काल में एकादशी भी और द्वादशी भी दो दो दिवस रही; क्योंकि दशमी को १० दण्ड दिन बीतने पर ही एकादशी प्रविष्ट होकर दूसरे दिन तक चली आयी है और उसी प्रकार द्वादशी भी। इसमें भी पिछली ही एकादशी व्रत होगा, क्योंकि पहिली तो दशमी से विद्धा हो गयी है। तीसरी 'अनुभयाधिकामात्रावती, वह है, जिसमें एकादशी और द्वादशी दोनो, सूर्य-विद्यमान काल में एकही एक दिन ही हो। यथा-दशमी ५० दण्ड एकादशी ५२ दण्ड द्वादशी ५३ दण्ड। इस में दो तिथियों में मेल, बराबर रात्रि के समय में ही हुआ करता है, इसी कारण दोनो तिथि सूर्य के विद्यमान काल में एकही एक दिन रही। यह स्मार्त्त एवं वैष्णव दोनो के लिये एकसा ग्राह्य है अर्थात् एकादशी ही को व्रत और द्वादशी को पारण। यही कारण है, कि उपर्युक्त दोनों का खास निर्णय आगामी श्लोकों में किया गया है, किन्तु इसका नहीं।

धर्म सिन्धु आदि निर्णय ग्रन्थों में एकादशी पर विचार करते हुए उपर्युक्त शुद्धा एकादशी के चार विभाग किये गये है, उसमें तीन तो इसी ग्रन्थ वाले विभाग है और एक 'एकादशीमात्राधिक्यवती' के नामका स्वतन्त्र भी है। इसको इसी ग्रंथ में वंजुलिनी और त्रिस्पृशा द्वादशी के नाम से लिखा है। इसका तात्पर्य यह है, कि शुद्धा एकादशी तो सूर्य्य विद्यमान काल में दो दिन रहे, परन्तु द्वादशी एकही दिन; यथा—आज सोमवार को दशमी ५५। ५६ पला है, अतएव ४ दण्ड रात्रि से ही एकादशी प्रारम्भ हुई फिर मंगलवार को सारा दिनरात ६० दण्ड एकादशी हीं रही. और फिर बुधवार को भी एकाध दण्ड पहुँची; इसके बाद द्वादशी प्रविष्ट हुई और वह ५५ दण्ड तक रही, पुनः ४ दण्ड रात्रि से त्रयोदशी का प्रवेश हो गया, इस प्रकार सूर्यविद्यमान काल में मंगलवार और बुधवार दो दिन तो एकादशी तिथि रही, परन्तु द्वादशी केवल बुधवार को ही, और इसी दिन ४ दण्ड शेष

उन्मीलिनी वञ्जुलिनी सुपुण्याः
सा त्रिस्पृशाऽथो खलु पक्षवर्धनी।
जया तथाऽष्टौ विजया जयन्ती
द्वादश्य एता इति पापनाशनी ॥७७॥

अन्वयम-अथो (एकादशीनिर्णयकथनानन्तरम्) उन्मीलिनी, वञ्जुलिनी, त्रिस्पृशा, पक्षवर्धनी, जया, विजया, जयन्ती, तथा पापनाशिनी इति (भेदतः) एता अष्टौ द्वादश्यः खलु इति निश्चयेन सुपुण्याः (ज्ञातव्याः) ॥ ७७ ॥

अथैकादशीसहचरितद्वादशीविषयकनिर्णयमप्याह-उन्मीलिनीत्यादि-इति। एता उन्मीलिनीप्रभृतयोऽष्टौ द्वादश्यः सुष्ठु पुण्यं यासां ताः सुपुण्या मुमुक्षुभिरुपोष्या इत्यर्थः।

तदुक्तं तत्तल्लक्षणपूर्वकं ब्रह्मवैवर्ते—

"उन्मीलिनी वञ्जुलिनी त्रिस्पृशा पक्षवर्धनी।
जया च विजया चैव जयन्ती पापनाशिनी।
द्वादश्योऽष्टौ महापुण्याः सर्वपापहरा द्विज!"। इति

पाद्मे च—

"एकादशी तु संपूर्णा वर्द्धते पुनरेव सा।
द्वादशी न च वर्द्धेत कथितोन्मीलिनीति सा।
संपूर्णैकादशी यत्र द्वादशी च यथा भवेत्।
त्रयोदश्यां मुहूर्त्तोर्द्धं वञ्जुली सा हरिप्रिया।
शुक्ले पक्षेऽथवा कृष्णे यदा भवति वञ्जुली।
एकादशीदिने भुक्त्वा द्वादश्यां कारयेद्व्रतम्"।

रात्रि में त्रयोदशी प्रविष्ट हो गयी। इसमें द्वादशी का क्षय निश्चितरूपेण समझना चाहिये, क्योंकि विना ऐसा हुए 'एकादशीमात्राधिक्यवती' हो ही नहीं सकती। यदि द्वादशी भी आगामी दिन चली जाय, तो 'उभयमात्राधिक्यवती'। हो जायगी, इसी लिये इसे उपर्युक्त प्रकार सेही समझना चाहिये। इसमें वैष्णवों को दूसरे दिन की एकादशी का व्रत और आगामी त्रयोदशी में पारणा होगी। (उपर्युक्त विवेचनाओं से यह स्पष्ट है, कि अनुभयाधिका एकादशी के सिवा अन्य सभी अवस्थाओं में वैष्णवों के लिये द्वादशी ही व्रत होगा) ॥७४॥

नारदस्त्रिस्पृशालक्षणमाह—

"एकादशी द्वादशी च रात्रिशेषे त्रयोदशी।
त्रिस्पृशा नाम सा प्रोक्ता ब्रह्महत्यां व्यपोहति।
कुहूराके यदा वृद्धि प्रयाते पक्षवर्द्धनी।
विहायैकादशी तत्र द्वादशीं समुपोषयेत्"।

ब्राह्मे-

"जया च विजया चैव जयन्ती पापनाशनी।
सर्वपापहरा ह्येताः कर्त्तव्याः फलकाङ्क्षिभिः
द्वादश्यां तु सिते पक्षे यदा ऋक्षं पुनर्वसु।
नाम्ना सा तु जया ख्याता तिथीनामुत्तमा तिथिः।
यदा तु शुक्लद्वादश्यां नक्षत्रं श्रवणं भवेत्।
विजया सा तिथिः प्रोक्ता तिथीनामुत्तमा तिथिः।
यदा तु शुक्लद्वादश्यां प्राजापत्यं प्रजायते।
जयन्ती नाम सा ज्ञेया सर्वपापहरा तिथिः
यदा तु शुक्लद्वादश्यां पुष्यं भवति कर्हि चित्।
तदा सा तु महापुण्या कथिता पापनाशिनी" इति ॥७७॥

द्वादशी वर्णन।

भाषा०—उन्मीलिनी, वञ्जुलिनी, त्रिस्पृशा, पक्षवर्धनी, जया, विजया, जयन्ती, पापनाशिनी, इस तरह सुपुण्या (उत्तम पुण्यवाली) द्वादशी आठ प्रकार की है + ॥ ७७ ॥

+ इस श्लोक में जो आठ प्रकार की द्वादशी कही गयी है, उसका विशेष वर्णन भिन्न ग्रन्थो में इस प्रकार है:—

पद्मपुराण—

उन्मीलिनी = जो सम्पूर्ण एकादशी आगामी दिन में भी बढ़कर चली जाती है, और इस पिछले दिन वाली एकादशी के उपरान्त द्वादशी प्रविष्ट होती एव पुनः इसी दिन समाप्त भी हो जाती है; किन्तु, नही तो इस दिन त्रयोदशी का प्रवेश हो, न यही बढ़कर आगामी दिन में जा सके, तो इसे उन्मीलिनी द्वादशी कहते हैं; (यह 'एकादशी मात्राधिका' का ही एक भेद है)

वञ्जुलिनी = जहाँ सम्पूर्णा एकादशी के बाद द्वादशी प्रविष्ट होकर इस दिन रात में बीतती हुई आगामी दिन में भी एक दण्ड प्रविष्ट हो जाय, और

आषाढभाद्रोर्जसितेषु संगता
मैत्रश्रवोऽन्त्यादिगतद्व्युपान्त्यैः।
चेद्द्वादशी तत्र न पारणं बुधः
पादैः प्रकुर्याद्व्रतवृन्दहारिणी ॥ ७८ ॥

अन्वयप्र० आषाढभाद्रोर्जसितेषु (आषाढभाद्रकार्तिकमासानां शुक्लपक्षेषु) चेत् (यदि) या द्वादशी मैत्रश्रवोन्त्यादिगत-

---

उसके उपरान्त त्रयोदशी का प्रवेश हो, तो इसे वञ्जुलिनी कहते है। (यह, द्वादशीमात्राधिका ही है)

नारद पुराण—

त्रिस्पृशा—एक ही दिन मे, एकादशी, द्वादशी और शेष रात्रि में त्रयोदशी का भी प्रवेश हो जाय, तीन तिथियों का स्पर्श होने के कारण इसे त्रिस्पृशा कहते है।

(यह भी एकादशी मात्राधिका का ही दूसरा भेद है। उन्मीलिनी से इसमे सिर्फ प्रभेद इतना ही है, कि उसमें द्वादशी, रात तक पूरी होकर ही समाप्त होती है, नही घटती; नही बढती, किन्तु इसमें द्वादशी, कुछ रात्रि रहते ही समाप्त हो जाती और बाद इसी दिन, त्रयोदशी का भी प्रवेश हो जाता है।

पक्षवर्द्धिनी—कृष्ण या शुक्ल, किसी पक्ष की यदि वृद्धि हो जाय, अर्थात् वह पक्ष १६ दिनो का हो जाय, तो उस पक्ष में द्वादशी व्रत होगा, इसी द्वादशी-व्रत को पक्षवर्द्धिनी कहते है।

अनुभयाधिका के सिवा तो सभी अवस्था मे वैष्णवों के लिये द्वादशी व्रत या दूसरी एकादशी का निर्णय हैहीं, अतएव, यह व्यवस्था इसी के लिये लागू होती देख पड़ती है।

ब्रह्मपुराण—

जया, विजया, जयन्ती और पाप नाशीनीः—

शुक्ल पक्ष की द्वादशी में, यदि पुनर्वसु-नक्षत्र का संयोग हो, तो जया; यदि श्रवण नक्षत्र का हो, तो विजया, यदि प्राजापत्य (रोहिणी-नक्षत्र) का हो, तो जयन्ती; और यदि पुष्य नक्षत्र का हो, तो पाप नाशिनी कहते है।

द्व्युपान्त्यैः पादैः सङ्गता (अनुराधाश्रवणरेवतीनक्षत्राणां क्रमशः प्रथमद्वितीयतृतीयचरणसंयुक्ता स्यात्) सा व्रतवृन्दहारिणी, ज्ञेया तत्र (तस्यां द्वादश्यां) बुधः पारणं न प्रकुर्य्यात् ॥७८॥

एवं व्रतार्हद्वादशीरुक्त्वा निषिद्धपारणद्वादशीनिर्णयमाह—आषाढेति। आषाढभाद्रोर्जसितेषु आषाढमासभाद्रमासकार्तिकमाससंबन्धिशुक्लपक्षेषु चेद्यदि द्वादशी मैत्रश्रवोन्त्यादिगतद्व्युपान्त्यैः पादैः क्रमेणानुराधाश्रवणरेवतीगताऽऽदिचरणद्वितीयचरणतृतीयचरणैः संगता संयुक्ता स्यात् तदा तत्र तस्यां द्वादश्यां पारणं बुधो न प्रकुर्यात्। कीदृशी द्वादशी सा व्रतवृन्दानाम् एकादशीव्रतसमूहानां हारिणी नाशिनीत्यर्थः।

तथोक्तम्—

"आभाकासितपक्षेषु मैत्रश्रवणरेवती।
संगमेनैव भोक्तव्यं द्वादशी द्वादशं हरेत्।
आद्ये हि पादे स्वपितीह विष्णुः।
मध्ये हि विष्णोः परिवर्त्तनं च।
रेवत्युपान्ते विजहाति निद्रां।
तत्राऽन्नभोजी नरकं व्रजेच्च।
आभाकासितपक्षेषु मैत्रश्रवणरेवती।
आदिमध्यावसानेषु प्रस्वापावर्त्तनोत्सवः।
निशि स्वापो दिवोत्थानं सन्ध्यायां परिवर्त्तनम्"।

किञ्च—

"मैत्राद्यपादे स्वपितीह विष्णुः।
श्रवोद्वितीये परिवर्त्तमेति।
रेवत्युपान्त्ये विजहाति निद्रां।
न पारणं तत्र बुधः प्रकुर्यात्"।

अत्रायं निष्कर्षः—एकपलोनषट्पञ्चाशद्दण्डात्मकदशम्या उपरि पलामात्रस्याऽप्या-ऽऽधिक्येऽरुणोदयवेधमाश्रित्य एकादशीं विद्धामपहाय द्वादशीमेवोपवसेत्। 'शुद्धान्तु एकादशीमेव' तथैवोक्तत्वादिति। आषाढभाद्रकार्तिकशुक्लद्वादशीषु तत्र क्रमेणाऽनुराधाश्रवणरेवतीनक्षत्रसंगतद्वादशी द्वादशैकादशीव्रतविघातिकेति। तत्र पारणनिषेध इति केचित्। अन्ये तूक्तयुक्त्याऽऽषाढसितपक्षीयानुराधाप्रथमचरणसंगतद्वादश्यां विष्णोः स्वापस्मरणात्तत्रैव पारणनिषेधः द्वितीयचरणाऽऽदिसंगतद्वादश्यां पारणकरणे न दोषः।

एवं भाद्रे श्रवणद्वितीयचरणसंगतसितद्वादश्यां विष्णोः परिवर्तनस्मरणात्तत्रैव निषेधो नान्यत्र रेवतीसंगतद्वादश्यामप्येवमेवेति वदन्ति ॥ ७८ ॥

भाषा०—आषाढ़, भादो एवं कार्तिक महीने के शुक्ल पक्ष की द्वादशी, यदि अनुराधा, श्रवण एवं रेवती के प्रथम-द्वितीय-तृतीयचरणों से युक्त हो, तो विद्वान लोग इसमें पारणा न करें, क्यों कि यह, व्रत-समूहों के पुण्य को हरण करने वाली है ॥ ७८ ॥

मासे मधौ या नवमी सुयुक्ता
शुक्लाऽदितीशेन शुभेन भेन।
कर्के महापुण्यतमा सुलग्ने
जातोऽत्र रामः स्वयमेव विष्णुः ॥ ७९ ॥

अन्वयप्र—मधौ (चैत्रे) मासे अदितीशेन शुभेन भेन (पुनर्वसुनक्षत्रेण) सुयुक्ता महापुण्यतमा या शुक्ला नवमी अत्र [अस्यां नवम्यां] कर्के सुलग्ने विष्णुः (व्यापकः) रामः स्वयमेव जातः ("आविरासीत्सकलया कौशल्यायां परःपुमान्" इत्यगस्त्यसंहितोक्तवचनादिभिः स्वयमेव परः पुमान् परमपुरुष—परवासुदेव—पुरुषोत्तम-महाविष्णु—आदिनारायणपदवाच्य त्रिपादविभूतावपि परधाम्नि स्थितो यो रामः स स्वयमेव प्रादुर्भूतः इतितत्वम्) ॥७९॥

अथश्रीरामनवमीव्रतनिर्णयमाह।

"मधुर्दैत्यो मधुश्चैत्रो मधूकोऽपि मधुः स्मृत" इति कोषात् मधौ चैत्रमासे शुक्ला नवमी या शुभेन शुभावहेन भेन नक्षत्रेण।

"नक्षत्रमृक्षं भं तारा तारकाप्युडु वा स्त्रियाम्" इत्यमरः। सुयुक्ता कीदृशेन भेन अदितीशेन अदितिरीशः स्वामी यस्य स तथोक्तेन पुनर्वसुनक्षत्रेणेत्यर्थः कीदृशी नवमी महदतिशयं पुण्यं यस्यां सा। कर्के शोभने लग्ने विष्णुः स्वयमेवात्र एवंगुणगणविशिष्टायां नवम्यां रामो रामरूपः सन् जातः। अत एव सा रामनवमीतिलोकविख्याता ॥ ७९ ॥

भाषा०—चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की पुनर्वसु नक्षत्रादि सहित

और महापुण्यतम कर्क लग्न से युक्त नवमी तथि में स्वयमेव विष्णु (व्यापक) राम अवतीर्ण हुए पर धाम से उतर आये ॥७९॥

तामष्टमीवेधयुतां विहाय
व्रतोत्सवं तत्र तु वैष्णवश्चरेत्
असङ्ख्यसूर्य्यग्रहतोऽधिका सदा
या केवला सा नवमीप्युपोष्या ॥ ८० ॥

अन्वयश्च—वैष्णवः अष्टमीवेधयुतां तां (नवमीम्) विहाय तत्र तु (अविद्धायाम्) व्रतोत्सवं (व्रतमुपवासः, उत्सवः आनन्द-जनककार्य्यम्) चरेत (कुर्य्यात) या (चैत्रशुक्ला) नवमी केवला (नाम पुनर्वसुनक्षत्रादिरहिता अपिअसङ्ख्यसूर्य्यग्रहतो-ऽधिका (श्रेष्ठा) साऽपि (श्रीवैष्णवैः) सदा उपोष्या (उपासितुं योग्या) ॥ ८० ॥

वैष्णवोऽष्टमीवेधयुतां तां नवमीं विहाय तत्राऽविद्धायां सऋक्षायां व्रतोत्सवं व्रतं च उत्सवश्च स श्रीरामादिपूजनादिः चरेदाचरेत्कुर्य्यादि-त्यर्थः । या तु मधुमासशुक्ला नवमी केवला पुनर्वसुनक्षत्ररहिता साऽपि असङ्ख्यसूर्य्यस्य ग्रहतो ग्रहणतोऽधिका सापि मुमुक्षुभिर्वैष्णवैरुपोष्या ।

"वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः" इत्यपेरकारलोपः पिहितं पुरुषोत्तममित्यत्रेव । एवं च चैत्रशुक्लपक्षनवम्यां रामनवमीव्रतमिति निश्चितम् । तच्च परविद्धायां मध्याह्नव्यापिन्यां कार्य्यम् ।

तथा चोक्तमगस्त्यसंहितायाम्—

"चैत्रशुद्धा तु नवमी पुनर्वसुयुता यदि ।
सैव मध्याह्नयोगेन महापुण्यतमा भवेत् "

दिनद्वयऋक्षयुक्तमध्याह्नव्याप्तावव्याप्तावेकदेशव्याप्तौ वा परैवो-पोष्या ।

तदुक्तं तत्रैव—

"नवमी चाऽष्टमीविद्धा त्याज्या विष्णुपरायणैः ।
उपोषणं नवम्यां च दशम्यां पारणं भवेत्" । इति

तत्रैव—

"चैत्रे मासे नवम्यां तु जातो रामः स्वयं हरिः ।
पुनर्वस्वृक्षसंयुक्ता सा तिथिः सर्वकामदा ।
श्रीरामनवमी प्रोक्ता कोटिसूर्य्यग्रहाधिका ।
केवलाऽपि सदोपोष्या नवमीशब्दसंग्रहात् ।
तस्मात्सर्वात्मना सर्वैः कार्यं वै नवमी व्रतम् ।"

किञ्चाऽपरमपि अगस्त्यसंहितायामुक्तम्—

"चैत्रे नवम्यां प्राक् पक्षे दिवा पुण्ये पुनर्वसौ ।
उदये गुरुगौरांशे स्वोच्चस्थे ग्रहपञ्चके ।
मेषं पूषणि संप्राप्ते लग्ने कर्कटकाह्वये ।
आविरासीत्सकलया कौशल्यायां परः पुमान् ।"

तत्र प्राक्पक्षे शुक्लपक्षे अन्यत्र तथा श्रवणात् । उदये लग्ने गुरुगौरांशे गुरुनवांशे

"तस्मिन् दिने तु कर्तव्यमुपवासव्रतं सदा ।
तत्र जागरणं कुर्य्याद्रघुनाथपरो भुवि"
भुवीत्येतत्स्वर्गादिव्यावृत्त्यर्थम् ।
"प्रातर्दशम्यां कृत्वा तु संध्यायाः कालिकीः क्रियाः ।
संपूज्य विधिवद्रामं भक्त्या वित्तानुसारतः ।
ब्राह्मणान्भोजयेद्भक्त्या दक्षिणाभिस्तु तोषयेत् ।
गोभूतिलहिरण्याद्यैर्वस्त्रालङ्करणैस्तथा ।
रामम्भक्त्या प्रयत्नेन पूजयेत्परया मुदा ।
एवं यः कुरुते भक्त्या श्रीरामनवमीव्रतम् ।
अनेकजन्मसिद्धानि पातकानि बहून्यपि ।
भस्मीकृत्य व्रजेदेतत्तद्विष्णोः परमं पदम् ।
सर्वेषामप्ययं धर्मो भुक्तिमुक्त्येकसाधनः ।
अशुद्धो वापि पापिष्ठः कृत्वेदं व्रतमुत्तमम् ।
पूज्यः स्यात्सर्वभूतानां यथा रामस्तथैव सः ।
यस्तु रामनवम्यान्तु भुङ्क्ते स च नराधमः ।
कुम्भीपाकेषु घोरेषु पच्यते नात्र संशयः ।
अकृत्वा रामनवमीव्रतं सर्वव्रतोत्तमम् ।
व्रतान्यन्यानि कुरुते न तेषां फलभाग्भवेत् ।

रहस्यकृतपापानि ख्यातानि सुबहून्यपि ।
महान्ति च प्रणश्यन्ति श्रीरामनवमीव्रतात् ।
एकामपि नरो भक्त्या श्रीरामनवमीं मुने ।
उपोष्य कृतकृत्यः स्यात् सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
नरो रामनवम्यां तु श्रीरामप्रतिमाप्रदः ।
विधानेन मुनिश्रेष्ठ स मुक्तोनाऽत्रसंशयः" ।
विधानेनेत्यनेन प्रतिमादानविधिमाह–

सुतीक्ष्ण उवाच–

"श्रीरामप्रतिमा दानं विधानं वा कथं मुने ! ।
कथय त्वयि रामेऽपि भक्त्याऽस्य मम विस्तरात् ।

अगस्त्य उवाच–

कथयिष्यामि तद्विद्वन् ! प्रतिमादानमुत्तमम् ।
विधानं वाऽपि यत्नेन यतस्त्वं वैष्णवोत्तमः" ।

विधिश्चाऽपि तत्रैव–

"अष्टम्यां चैत्रमासे तु शुक्लपक्षे जितेन्द्रियः ।
दन्तधावनपूर्वं तु प्रातः स्नायाद्यथाविधि ।
नद्यां तडागे कूपे वा ह्रदे प्रस्रवणेऽपि वा ।
ततः सन्ध्यादिकाः कार्य्याः संस्मरन् राघवं हृदि ।
गृहमासाद्य विप्रेन्द्र ! कुर्य्यादौपासनादिकाः ।
दातुं कुटुम्बिनं विप्रं वेदशास्त्रापरं सदा ।
श्रीरामपूजानिरतं सुशील दम्भवर्जितम् ।
विधिज्ञं राममन्त्राणां राममन्त्रैकसाधनम् ।
आहूय भक्त्या सपूज्य वृणुयात्प्रार्थयन्निति ।
श्रीरामप्रतिमादानं करिष्येऽहं द्विजोत्तम ! ।
भक्त्याऽऽचार्य्यो भव प्रीतः श्रीरामोऽसि त्वमेव च ।
इत्युक्त्वा पूज्य विप्र तं स्नापयित्वा ततः परम् ।
तैलेनाभ्यज्य सुस्नायाच्चिन्तयन् राघवं हृदि ।
तत्र तैलेन चाभ्यज्य स्नापयित्वा प्रयत्नतः ।
श्वेताम्बरधरः श्वेतगन्धमाल्यानि धारयन् ।
अर्चितो भूषितश्चैव कृतमध्यान्हिकक्रियः ।
अर्चितः कृतार्चन ।

आचार्य्यं भोजयेद्भक्त्या सात्त्विकान्नैः सुविस्तरम्।
भुञ्जीत स्वयमप्येवं हृदि राममनुस्मरन्।
एकभुक्तव्रती तत्र सहाऽऽचार्यो जितेन्द्रियः।
शृण्वन् रामकथां दिव्यामहःशेषं नयेन्मुने!।
सायं संध्यादिकाः कुर्यात् क्रिया राममनुस्मरन्।
आचार्यसहितो रात्रावधःशायी जितेन्द्रियः।
वसेत्स्वयं न चैकान्ते श्रीरामार्पितमानसः।
ततः प्रातः समुत्थाय स्नात्वा संध्यां यथाविधि।
प्रातः सर्वाणि कर्माणि शीघ्रमेव समापयेत्।
ततः स्वस्थमना भूत्वा विद्वद्भिः सहितोऽनघ!।
स्वगृहे चोत्तरे देशे रामस्योत्तममण्डपम्।
स्वगृहे स्वगृहसमीपे।
चतुर्द्वारं पताकाढ्यं सुवितानं सुतोरणम्।
मनोरमं महोत्सेधं पुष्पाद्यैः समलंकृतम्।
शङ्खचक्रहनूमद्भिः प्राग्द्वारे समलङ्कृतम्।
गरुन्मच्छार्ङ्गबाणैश्च दक्षिणे समलङ्कृतम्।
मध्ये हस्तचतुष्काढ्यवेदिकायुक्तमायतम्।
प्रविश्य नृत्यगीतैश्च वाद्यैश्चाऽपि सुसंयुतम्।
पुण्याहं वाचयेत्तत्र विद्वद्भिः प्रीतमानसः।
ततः संकल्पयेदेवं राममेव स्मरन्मुने!।
अस्यां रामनवम्यां च रामाराधनतत्परः।
उपोष्याऽष्टसु यामेषु पूजयित्वा यथाविधि।
इमां स्वर्णमयीं रामप्रतिमां च प्रयत्नतः।
श्रीरामप्रीतये दास्ये रामभक्ताय धीमते।
प्रीतो रामो हरत्वाशु पापानि सुबहूनि मे।
अनेकजन्मसिद्धानि अनन्तानि महान्ति च।
विलिखेत्सर्वतोभद्रं वेदिकोपरि सुन्दरम्।
मध्ये तीर्थोदकैर्युक्तं पात्रं संस्थाप्य चार्चितम्।
सौवर्णे राजते ताम्रे पात्रे षट्कोणमालिखेत्।
ततः स्वर्णमयीं रामप्रतिमां पलमात्रतः
निर्मितां द्विभुजां दिव्यां वामाङ्कस्थितजानकीम्।
बिभ्रतीं दक्षिणकरे ज्ञानमुद्रां महामुने!।

वामेनाऽधःकरेणाऽऽराद्देवीमालिङ्ग्य संस्थिताम् ।
सिंहासने राजतेऽत्र पलद्वयविनिर्मिते ।
पञ्चामृतस्नानपूर्वं संपूज्य विधिवत्ततः ।
मूलमन्त्रेण नियतो न्यासपूर्वमतन्द्रितः ।
दिवैवं विधिवत्कृत्वा रात्रौ जागरणं ततः ।
दिव्यां रामकथां श्रुत्वा रामभक्तैः समन्वितः ।
नृत्यगीतादिभिश्चैव रामस्तोत्रैरनेकधा ।
यामाष्टके तथा पूज्या गन्धपुष्पाक्षतादिभिः ।
कर्पूरागुरुकस्तूरीकह्लाराद्यैरनेकधा ।
पूजयन्विधिवद्भक्त्या दिवारात्रं नयेद्बुधः ।
ततः प्रातः समुत्थाय स्नानसन्ध्यादिकाः क्रियाः।
समाप्य विधिवद्रात्रौ पूजयेद्विधिवन्मुने ! ।
ततो होमं प्रकुर्वीत मूलमन्त्रेण मन्त्रवित ।
पूर्वोक्त पद्मकुण्डे वा स्थण्डिले वा समाहितः ।
लौकिकाग्नौ विधानेन शतमष्टोत्तरं ततः ।
साज्येन पायसेनैव स्मरन्नामान्यनन्यधीः ।
ततो भक्त्या सुसंतोष्य आचार्यं पूजयेन्मुने !।
कुण्डलाभ्यां सरत्नाभ्यामङ्गुलीयैरनेकधा ।
गन्धपुष्पाक्षतैर्वस्त्रैर्विचित्रैः सुमनोहरैः ।
ततो रामं स्मरन् दद्यादेवं मन्त्रमुदीरयेत् ।
इमां स्वर्णमयीं रामप्रतिमां समलंकृताम् ।
चित्रवस्त्रयुगच्छन्नां रामोऽहं राघवाय ते ।
श्रीरामप्रीतये दास्ये तुष्टो भवतु राघवः।
इति दत्वा विधानेन दद्याद्वै दक्षिणां भुवम् ।
अन्येभ्यश्च यथान्यायं गाहिरण्यादि शक्तित ।
दद्याद्वासोयुगं धान्यं यथा विभवमादृत ।
ब्राह्मणैः सह भुञ्जीत ततो दद्याच्च दक्षिणाम्
ब्रह्महत्यादिपापेभ्यो मुच्यते नाऽत्र संशयः ।
बहुना किमिहोक्तेन मुक्तिस्तस्य करे स्थिता ।
कुरुक्षेत्रे महापुण्ये सूर्यपर्वण्यशेषतः ।
तुलापुरुषदानाद्यैः कृतैर्यल्लभ्यते फलम् ।
तत्फलं लभते मर्त्यो दानेनाऽनेन सुव्रत !" ।

इतीत्थं श्रीरामप्रतिमादानसहितरामनवमीव्रतनिर्णयो राममन्त्रादिपरै मुमुक्षुभिरवश्यमेव परमादरेण द्रष्टव्यो मन्तव्य उपासितव्यःपलमात्रतइत्यत्र-

"गुञ्जाभिः पञ्चभिश्चैको माषस्तु परिकीर्तितः ।
दशमाषमितः　　कर्षपलकर्षचतुष्टयम्"

इति प्रमाणं बोध्यम् । किञ्चाऽत्र तत्तद्ग्रन्थोक्त रामनवमीव्रतपूजा विधिना षोडशोपचारैः सीताभरतादिभ्रातृसहितं सपार्षदं सभृत्यं सायुधं सहर्षिमन्त्रिगणं ससुग्रीवहनुमदादिवानरगणं रामं सम्पूजयेत् । तत्प्रकारो ग्रन्थान्तरेभ्योऽवगन्तव्यः विस्तरभयान् नेह लिख्यते इति ज्ञेयम् ॥ ८० ॥

भाषा—श्रीवैष्णगण, अष्टमीविद्धा नवमी को छोड़ कर वेधरहित नवमी में व्रत एवं उत्सव करे । पुनर्वसु नक्षत्रादि रहित नवमी मात्र भी असंख्य सूर्य्य ग्रहण से अधिक फल (महत्व) वाली है, वह भी श्री वैष्णवों के करने योग्य है ॥ ८० ॥

पुष्यान्वितायां तु कुजे नवम्यां
श्रीमाधवे मासि सिते हलाग्रतः ।
भुवोऽर्चयित्वा जनकेन कर्षणे
सीताऽविरासीद्व्रतमत्र कुर्यात् ॥ ८१ ॥

अन्वयप्र०—श्रीमाधवे मासि (वैशाखे मासे) सिते (शुक्ले पक्षे) कुजे (मङ्गलवासरे) पुष्यान्वितायां (पुष्यनक्षत्र युक्तायाम्) नवम्यां [तिथौ] जनकेन अर्चयित्वा (पृथ्वीं पूजयित्वा) भुवः (पृथ्व्याः) कर्षणे (कृते सति) हलाग्रतः सीता (श्रीजानकी) आविरासीत् (प्रादुर्भूता) अत्र (पूर्वोक्त-जन्मतिथौ) व्रतं कुर्य्यात् ॥ ८१ ॥

अथ जानकीनवमीव्रतनिर्णयमाह—पुष्येति । श्रीमाधवे मासि वैशाखे मासे सिते शुक्लपक्षे कुजे मङ्गलवारे पुष्यान्वितायां पुष्यनक्षत्रसयुक्तायां नवम्यां जनकेन भुवः कर्षणे कृते सति हलाग्रतः सीताऽऽविरासीत् प्रादुर्भूतेत्यर्थः । किं कृत्वाऽर्चयित्वाऽर्थाद्भुवमेव पूजयित्वा "सीतालाङ्गल

पद्धतिः" इत्युक्तेरेव तज्जातत्वात्तन्नाम्ना व्यपदेश इति भावः। अत्र अस्यां वैशाखशुक्लानवम्यां जानकीनवम्यां व्रतमुत्सवं पूजनादिकं कुर्यात् मुमुक्षुर्वैष्णव इति शेषः।

तथा चोक्तम्–

"मासोत्तमे महापुण्ये वैशाखे माधवप्रिये।
कुजवारे शुक्लपक्षे नवमीपुष्यसंयुता।
पृथिव्याः पूजनं कृत्वा जनकस्तु नरेश्वरः।
हलेन कर्षणां चक्रे सर्वेषां पश्यतां सताम्।
लाङ्गलस्य मुखाग्रात्तु रमा कन्या विनिर्गता।
भित्त्वा क्षितितलं सद्य. सीता नाम्ना बभूव सा। इति

इयमपि तुल्यन्यायेन पूर्ववत् पूर्वोणाविद्धा मध्यान्हव्याविन्येव ग्राह्या तथा दिनद्वयमध्याम्हव्यापिन्याम्तु परैवेति बोध्यम्। पूर्वविद्धानिषेधेन "अ॰ण्यो ग्रामकुक्कुटः"। तेनाऽरण्यो भक्ष्य इतिवत्परविद्धाया ग्राह्यत्वेन स्वीकारात्॥ ८१॥

भाषा॰ वैशाख महीना, शुक्ल पक्ष, मङ्गल दिन, पुष्य नक्षत्र से युक्त नवमी तिथी मे जनक जी के पृथ्वी की पूजा कर हल जोतने पर उस हल के अग्र भाग से, सीता जी आविर्भूतहुई, इस तिथि में व्रत करें॥ ८१॥

स्वत्यां कुजे शैवतिथौ तु कार्तिके
कृष्णेऽञ्जनागर्भत एव साक्षात्
मेषे कपीट् प्रादुरभूच्छिवः स्वयं
व्रतादि ना तत्र तदुत्सवं चरेत्॥ ८२॥

अन्वयः– कार्त्तिके (मासि) कृष्णे (पक्षे) शैवतिथौ (चतुर्दश्यां तिथौ) स्वात्यां (स्वातिनक्षत्रे) कुजे (मंगलवासरे) मेषे (मेषराशौ स्थितेसूर्ये) साक्षात् शिवः एव (परधाम्निस्थितः कल्याणमूर्त्तिरेव) कपीट् (कपीश्वरोहनुमान्) स्वयमेव अञ्जनागर्भतः प्रादुरभूत् (प्रकटी भूतः) तत्र पूर्वोक्त कार्तिक कृष्ण चतु-

दश्यां) ना (नरः) तदुत्सवं व्रतादि (श्रीहनुमतः उत्सवं व्रतादि च) चरेत् (कुर्य्यात्)॥ ८२ ॥

अथ हनुमज्जन्मतिथिव्रतोत्सवविचारमाह–स्वात्यामिति । कार्तिके मासि, कृष्णे कृष्णपक्षे, शैवतिथौ शिवस्वामिके तिथौ चतुर्दश्याम स्वात्यां स्वातीनक्षत्रसंयुतायाम् मेषे मेषलग्नोदये,सूर्येऽस्तं गते सन्ध्याकाले,ईष्ट इतीट् कपीना वानराणामीट् कपीश्वरो हनूमान् अञ्जनागर्भतोऽञ्जनागर्भात् प्रत्यक्षं स्वयमात्मना शिव एव प्रादुरभूत्प्रकटो जात इत्यर्थः । तत्र कार्तिककृष्णचतुर्दश्यां तदुत्सवं तस्य हनुमतो जन्मव्रतपूजोत्सवं चरेदाचरेत्कुर्य्यादित्यर्थः । ननु–

"शालिशूकनिभाभासं प्रासूतेमं तदाऽञ्जना ।
फलान्याहर्तुकामा वै निष्क्रान्ता गहने वरा ।
एष मातुर्वियोगाच्च क्षुधया च भृशार्दितः ।
रुरोद शिशुरत्यर्थं शिशुः शरवणे यथा ।
तदोद्यन्तं विवस्वन्तं जपापुष्पोत्करोपमम् ।
ददर्श फललोभाच्च ह्युत्पपात रविम्प्रति ।
बालार्काभिमुखो बालो बालार्क इव मूर्तिमान् ।
ग्रहीतुकामो बालार्कं प्लवतेऽम्बरमध्यग ।
एतस्मिन्प्लवमाने तु शिशुभावे हनूमति ।
देवदानवयक्षाणां विस्मय सुमहानभूत् ।
नाप्येवं बलवान्वायुर्गरुडो न मनस्तथा ।
यथाऽयं वायुपुत्रस्तु क्रमतेऽम्बरमुत्तमम् ।
यदि तावच्छिशोरस्य ईदृशो गतिविक्रम ।
यौवनन्तु रामासाद्य कथ वेगो भविष्यति ।
तमनुप्लवते वायुः प्लवन्त पुत्रमात्मन ।
सूर्य्यदाहभयाद्रक्षंस्तुषारचयशीतलः ।
बहुयोजनसाहस्रं क्रामन्नेव गतोऽम्बरम् ।
पितुर्बलाच्च बाल्याच्च भास्कराभ्याशमागतः ।
शिशुरेष त्वदोषज्ञ इति मत्वा दिवाकरः ।
कार्यं चास्मिन् समायत्तमित्येव न ददाह सः ।
यमेव दिवसं ह्येष ग्रहीतु भास्कर प्लुतः ।
तमेव दिवस राहुर्जिघृक्षति दिवाकरम् ।

अनेन च परामृष्टो राहुः सूर्यं रथोपरि ।
अपक्रान्तस्ततस्त्रस्तो राहुश्चन्द्रार्कमर्दनः ।"

इत्युक्ते राहुः प्रातःकालिकसूर्योपरागसंभवसत्त्वे प्रातः कालेऽमावास्यायामस्य हनुमता जन्म सभवति । अमावास्याप्रतिपत्सन्ध्योरेव ग्रहणसंभवात् । न चतुर्दश्यमावास्यासन्ध्योर्नवा रात्रौ सूर्यग्रहणसम्भव इति । न चतुर्दश्या हनुमतो जन्म सम्भवतीति चेन्न "मेषलग्ने प्रादुरभूत्" इति वचनात्कार्तिके नियमेन तुलां गतस्याऽर्कस्यास्तसमय एव तुलापेक्षया सप्तमस्य मेषलग्नस्य सम्भवाच्चतुर्दश्यामस्तं गते एव सन्ध्यायां हनुमतो जन्मेति सिद्धान्तात्। न चोक्तम् "प्रासूतेमं तदाऽञ्जना" "ग्रहीतुकामो बालार्कं ह्युत्पपात रविं प्रति" "तमेव दिवसं राहुर्जिघृक्षति दिवाकरम्" इत्यादि विरुध्येतैवेति वाच्यम्।सन्ध्याकालेऽस्तं समुपागते सूर्ये प्रादुर्भूते हनुमति चतुर्यामात्मकरात्रिव्यतीतानन्तरमुदयमानजपापुष्पोत्करसमबालार्कग्रहणकामवातात्मजोत्पतनस्य दिवा राहुकर्तृकसूर्यजिघृक्षाया एव समञ्जसत्वादित्यलम् । तथाच सन्ध्याकालव्यापिन्येव कार्तिककृष्णचतुर्दशी व्रतोत्सवार्हा दिनद्वयसंध्याकालव्याप्तौ तु परैवेति बोध्यम् ।

तदुक्तम्—

"ऊर्जे कृष्णचतुर्दश्यां भौमे स्वात्यां कपीश्वरः ।
मेषलग्नेऽञ्जनागर्भाच्छिवः प्रादुरभूत्स्वयम्" इति हनुमत्संहितायाम्॥८२॥

भाषा-मेष राशि एवं स्वाती नक्षत्र युक्त कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी मंगलवार को, साक्षात् शिव (परधाम के महाशम्भु[१] नित्य मंगल-विग्रह) श्री हनुमानजी स्वयमेव अञ्जना के गर्भ से प्रकट हुए; अतएव, इस हनुमज्जयन्ती के दिन व्रत एवं उत्सव आदि करना चाहिये ॥ ८२ ॥

वैशाखमासीयचतुर्दशी सिता
निशामुखे याऽनिलभेन संयुता ।
सोमेऽवतारो नृहरेरभूदथो
व्रतोत्सवं तत्र मुदा समाचरेत् ॥ ८३ ॥

अन्वयप्र-अथा (हनुमज्जयन्ती कथनानन्तरम्) अनिलभेन संयुता

१ इस विषय को बृहद्ब्रह्म संहिता के ३ पाद १ अध्याय में देखो ।

(स्वातीनक्षत्रेण संयुक्ता) या सिता (शुक्ला) वैशाखमासीय-चतुर्दशी तत्र (तस्यां चतुर्दश्यां) सोमे (चन्द्रवासरे) निशामुखे (सायंकाले) नृहरेः (नृसिंहस्य) अवतारोऽभूत् (तत्रैव) मुदा (हर्षेण)व्रतोत्सवं समाचरेत् (सम्यक् कुर्य्यात् ॥ ८३॥

अथ नृसिंहजयन्तीनिर्णयमाह-वैशाखेति। वैशाखमासे भवा वैशाखमासीया या वैशाखमासस्य सिता शुक्ला चतुर्दशी अनिलभेन वातस्वामिकस्वातीनक्षत्रेण संयुता तत्र तस्यां सोमे सोमवारे निशामुखे सायंकाले नृहरेर्नृसिंहस्याऽवतारोऽभूत् । तत्रैव मुदा हर्षेण व्रतोत्सव समाचरेत् ॥ ८३ ॥

भाषा–वैशाख मास, शुक्ल पक्ष, स्वाती नक्षत्र संयुक्त चतुर्दशी तिथि सोमवार के सायंकाल में श्रीनृसिंह जी का अवतार हुआ। अतएव, इस दिन व्रत और उत्सवादि (श्रीवैष्णव गण को) करना चाहिये ॥ ८३ ॥

स्मरेण विद्धा तु चतुर्दशी यदा
भवेद्धनाऽपत्यविनाशिनी तदा।
तत्रोपवासो न जनैर्विधेयो
महात्मभिर्विष्णुपरायणैरपि ॥ ८४ ॥

अन्वयप्र०–यदा चतुर्दशी स्मरेण (कामदेवतया त्रयोदश्या) विद्धा भवेत तदा तु (तदैव सा चतुर्दशी) धनाऽपत्यविनाशिनी (ज्ञातव्या) तत्र (तस्या चतुर्दश्यां) विष्णुपरायणैर्महात्मभिरपि जनैरुपवासो न विधेयः (न कर्त्तव्यः) ॥ ८४ ॥

यदा तु चतुर्दशी स्मरेण कामेन "कामः पञ्चशरः स्मरः" इत्यमरः। त्रयोदश्या अरुणोदये विद्धा भवेत् तदा तत्र त्रयोदशीविद्धचतुर्दश्यां विष्णुपरायणैर्महात्मभिर्जनैः उपवासो न विधेयः व्रतमुत्सवश्च न कर्त्तव्य इत्यर्थः। कीदृशी तद्विद्धा चतुर्दशी धनापत्यविनाशिनी ॥ ८४ ॥

भाषा–जब चतुर्दशी त्रयोदशी से विद्धा होती है, तब धन और

सन्तान के विनाश करने वाली होती है, अतएव. उस चतुर्दशी मे विष्णु परायण महात्मा गण भी व्रत न करैं ॥ ८४ ॥

(श्रीकृष्णाष्टमीव्रतनिर्णयः)

पक्षे निशीथे खलु मासि भाद्रे
कृष्णेऽथ कृष्णोऽजनि देवकीतः ।
सिंहं गतेऽर्के विधिभेन युक्ता
तत्राष्टमी या तु विधूदये बुधे ॥ ८५ ॥
जन्माष्टमी साऽत्र मुदा व्रतोत्सवं
कृष्णार्चनं जागरणं महाफलम् ।
अनेकजन्मार्जितपापनाशनं
कृष्णस्य कीर्त्तेः श्रवणं च कीर्त्तनम् ॥ ८६ ॥

अन्वयम०-अथ (नृसिंहजयन्तीकथनानन्तरम्) भाद्रे मासि कृष्णे पक्षे सिंह (सिंहराशि) गतेऽर्के (सूर्य्ये) निशीथे (अर्धरात्रौ) खलु (खल्वत्रपादपूरणे) विधिभेन (रोहिणीनक्षत्रेण) युक्ता या तु (एव) अष्टमी सा जन्माष्टमी (ज्ञातव्या) तत्र(तस्यामुपरोक्तगुणगणविशिष्टायामष्टम्यां) बुधे (बुधवारे) विधूदये (चन्द्रोदये) देवकीतः कृष्णोऽजनि (जातः) अत्र (अस्यां जन्माष्टम्याम्) मुदा (हर्षेण) व्रतोत्सवं कृष्णार्चनम् (षोडशोपचारैः श्रीकृष्णस्य पूजनम्) कृष्णस्य कीर्त्तेः श्रवणम् [सति सामर्थ्ये स्वयमेव] कीर्त्तनम् (कथनं) जागरणञ्च (कुर्य्यात् एवं कृते सति] अनेकजन्मार्जितपापनाशनम् (अतः परम्) महाफल (निरतिशयप्रेमात्मका-परभक्तिरूपं फल भवतीति वेदितव्यम्) ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

अथ चतुर्भ्यां कृष्णाष्टमीनिर्णयमाह पद्ध इति । भाद्रे मासि कृष्णे पक्षे अर्के सूर्ये सिंहं गते सति या अष्टमी विधिभेन "विधिर्ब्रह्मा स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड्विधिः" इत्यमरः तस्य भ नक्षत्रं तेन ब्रह्मदैवाभिरूरोहिणीनक्षत्रेण युक्ता तत्र तस्यां सिंहार्करोहिणीनक्षत्रयुतभाद्रकृष्णाष्टम्यां निशीथेऽर्द्धरात्रे "अर्द्धरात्रनिशीथौ द्वौ" इत्यमरः । विधोरुदयो विधूदयस्तस्मिन् विधूदये चन्द्रोदये सति बुधे बुधवारे देवकीतः देवक्याः सकाशात् कृष्णो वासुदेवोऽजनि जात इत्यर्थः । दीपजनेतिजनयतो कर्त्त रिचिण् ८५

सा एवं गुणगणविशिष्टाऽष्टमी जन्माष्टमी कृष्णजन्माष्टमीति लोकप्रसिद्धा । अत्र अस्या पूर्वोक्तगुणाढ्यायां कृष्णजन्माष्टम्यां व्रतोत्सवं व्रतमुपवासम् उत्सवं नृत्यगीतादि मुदा हर्षेण कुर्यादिति शेषः। कृष्णार्चनं कृष्णस्यार्चनं षोडशोपचारैः पूजनम् । रात्रौ पूजनादि जागरणं कृष्णस्य कीर्त्तेः कीर्तिप्रकाशकस्य भागवतादेराचार्यमुखात् श्रवणं सति सामर्थ्ये स्वमुखेन कीर्तनं च कुर्यादिति सम्बन्धः । इदं च तत्र व्रतं कृष्णपूजनादि महाफलं महत्फलं यस्य यस्माद्वा तत् चतुर्वर्गप्रदमित्यर्थः । किञ्च अनेकजन्मभिरर्जितानामनेकविधपापानां नाशनम् निर्मूलनम् ॥ ८६ ॥

भाषा—सिंह—राशि के सूर्य होने पर भादो कृष्ण अष्टमी बुधवार की रोहिणी नक्षत्र युक्ता अर्द्धरात्रि में चन्द्रोदय होते, श्रीकृष्ण जी, श्रीदेवकी जी से प्रकट हुए हैं, ऐसी कृष्णजन्माष्टमी में उल्लास-पूर्वक व्रतोत्सव, श्रीकृष्णजी की पूजा-अर्चा एवं जागरण करने का महाफल है; और इस दिन श्री कृष्ण जी की कीर्ति का श्रवण-गान करना अनेक जन्मोपार्जित पाप का नाशक है ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

त्याज्याऽष्टमी चेदथ वाजिविद्धा
तथाऽग्निविद्धं विधिभं च हेयम् ।
चेदष्टमी नो विधिभेन युक्ता
महात्मभिर्विष्णुपरायणैस्तैः ॥ ८७ ॥

अन्वयप्र०—अथ (शुद्धाष्टमीविचारानन्तरम् विद्धाष्टमीस्वरूपं निदर्श्यते) चेत् (यदि) अष्टमी (जन्माष्टमी) वाजिविद्धा

(सप्तमीविद्धा) तथा विधिभं (रोहिणीनक्षत्रम्) अग्निविद्धम् (कृत्तिकाविद्धम्) (भवेत्तदा) हेयम् (त्याज्यम्) चेत् (यदि विधिभेन (कृत्तिकावेधरहित रोहिणीनक्षत्रेण) युक्ता अष्टमी (सप्तमीवेधशून्याष्टमी भवेत्तदा) विष्णुपरायणैस्तै प्रसिद्धैः महात्मभिः नात्याज्या (न हेया अर्थात् ग्राह्येत्यर्थः ॥८७॥

तत्र विशेषमाह-त्याज्येति । चेद्यदि अष्टमी वाजिविद्धा स्यात्तदा साऽष्टमी महात्मभिविष्णुपरायणैर्वैष्णवैस्त्याज्या नोपोष्येत्यर्थः । तथा विधिभं रोहिणीनक्षत्रञ्च अग्निविद्ध कृत्तिकानक्षत्रविद्धं हेयं त्याज्यमेव वेधश्चात्राप्यरुणोदयकालिक एव । कृत्तिकावेधविधुररोहिणीनक्षत्रेण युक्ता अष्टमी नो त्याज्या । केचित्तु एवंविचार. यदा अष्टमी यदि रोहिणी युक्ता न भवति तदा अयं भावः अष्टमी रोहिणी युता चेत् सप्तमी विद्धाऽपि ग्राह्या । कृतिकावेधस्यागोपि केवलरोहिण्या एव न त्वष्टमीयुतरोहिण्या इति । एवं च वेधनिषेधोऽत्राष्टमीरोहिणीयोगादन्यत्रैव बोध्य. ।

तथा चोक्तं नारदसंहितायाम्-

"विद्धाऽष्टमी जनैर्ग्राह्या सप्तम्यां रोहिणी यदि ।
तत्रोपवासं कुर्वीत तिथिभान्ते च पारणम् ।" इति

पाद्मेऽपि

'कार्या विद्धाऽपि सप्तम्या रोहिणीसहिताऽष्टमी ।" इति

वराहसंहितायां च-

"सिंहार्के रोहिणीयुक्ता नभःकृष्णाऽष्टमी यदि" इत्युपक्रम्य-
'विद्धा कृष्णाष्टमी ग्राह्या रोहिणीसहिता नृप ।
रोहिणीसहिता चैव सर्वाघौघविनाशिनी ।" इति

नारदीयसंहितायां च-

"चन्द्रोदयेऽष्टमीपूर्वा रोहिणी न भवेद्यदि ।
तदा जन्माष्टमी सा च न जयन्तीति कथ्यते ।"

चन्द्रोदये रोहिणी न भवेदित्यन्वय इति वदन्ति तच्चिन्त्यम् * ॥८७॥

भाषा०—यदि अष्टमी, सप्तमी से एवं रोहिणी, कृत्तिका से विद्धा हो, तो वह विष्णुपरायण (वैष्णव) महात्माओं के लिये त्यागने योग्य है, किन्तु, यदि (वेध रहित) अष्टमी, (वेध रहित) रोहिणीसे युक्त हो, तो वह नहीं, अर्थात् वह ग्रहण योग्य है ॥ ८७ ॥

विद्धा जयन्ती यदि सप्तमीयुता
शुद्धा तथा सा नवमीयुता चेत् ।
या रोहिणी वह्नियुता तु विद्धा
ज्ञेया च शुद्धा यदि सा परान्विता ॥ ८८ ॥

अन्वय—"जयन्ती द्विविधा ज्ञेया विद्धाऽविद्धाविधानतः । विद्धा तु सप्तमीयुक्ता शुद्धा तु नवमीयुता ॥ रोहिणी कृत्तिका-युक्ता विद्धा शुद्धा परान्विता" इति नारदीयमतमुरीकृत्य भगवान् श्रीरामानन्दाचार्य्यः शिष्यान्प्रत्याह–विद्धेति । यदि सप्तमीयुता (अष्टमी तदा) विद्धाजयन्ती ज्ञेया (ज्ञातव्या) चेत् (यदि)

---

*टीकोद्धृतवचननिर्धारितश्रीजन्माष्टमीव्रतं वैष्णवेतरपर ज्ञातव्यम्। अन्यथा' वर्ज्जनीया प्रयत्नेन सप्तमीसहिताऽष्टमी। सऋक्षाऽपि न कर्त्तव्या सप्तमीसंयुताऽष्टमी" इतिब्रह्मवैवर्त्तवचनम् "सम्पूर्णा चार्द्धरात्रे तु रोहिणी यदि लभ्यते । कर्त्तव्या सा प्रयत्नेन पूर्वविद्धा विवर्जयेत्" इतियाज्ञवल्क्यस्मृत्युक्तवचनम् । "पञ्चगव्यं यथा शुद्धं न ग्राह्यं मद्यसंयुतम् । रविविद्धा तथा त्याज्या रोहिणीसहिता यदि । जन्माष्टमी पूर्वविद्धां सऋक्षा सकलामपि । विहाय नवमीं शुद्धमुपोष्य व्रतमाचरेत् । सकलाऽपि सऋक्षाऽपि नवमीसंयुताऽपि च । जन्माष्टमी पूर्वविद्धा न कर्त्तव्या कदाचन । पलवेधेऽपि विप्रेन्द्र सप्तम्याश्चाष्टमी त्यजेत् । सुराया बिन्दुना स्पृष्टं गगाम्भःकलशं यथा" इति पाद्मवचनानि च सप्तमीविद्धाष्टमीनिषेधकानि भूरीणि पुराणवचनानि निर्विषयानि स्युः । मिथोविरोधश्च दुष्परिहरः स्यात् तस्माद्धिकारिभेदेनैव शास्त्राविरोधः सम्पाद्य इतिमीमांसकानां सरणिरितिदिक् ।

सा (अष्टमी) नवमीयुता (तदा) शुद्धा जयन्ती ज्ञेया (ज्ञातव्या) या तु रोहिणी वह्नियुता (कृत्तिकायुता) (तदा) विद्धा (विध्द्वाजयन्ती) ज्ञेया (ज्ञातव्या) यदि व परान्विता (मृग शिरानक्षत्रेण युता रोहिणी भवेत् तदा) सा (जयन्ती) शुद्धा ज्ञेया (ज्ञातव्या । तिथिवेधनक्षत्रवेधोभयवेधभेदेन त्रिविधो वेधो बोद्धव्यः अर्थात् सप्तमीविद्धा कृत्तिकाविद्धा सप्तमकृत्तिकाभ्यां वा विद्धा या भाद्रकृष्णाष्टमी सा विद्धा जयन्ती ज्ञातव्या। या तु सप्तमी कृत्तिकावेधरहिता नवमीमृगशिरावेधयुता सा भाद्रकृष्णाष्टमी शुद्धा जयन्ती ज्ञातव्या। "अष्टमी कृष्णपक्षस्य रोहिणी ऋक्ष-संयुता। भवेत्प्रोष्ठपदे मासि जयन्ती नाम सा स्मृता" इति विष्णु धर्मोत्तरवचनाज्जयन्ती-अवगन्तव्या।

अथ-

"जयन्ती द्विविधा ज्ञेया विद्धाऽविद्धाविधानतः।
विद्धा तु सप्तमी युक्ता शुद्धा तु नवमी युता।
रोहिणी कृत्तिकायुक्ता विद्धा शुद्धा परान्विता।"

इति नारदीयोक्तमतमभिप्रेत्याह-विद्धेति।जयन्ती विद्धाऽविद्धेति भेदाद्द्वि विधा ज्ञेया। तत्र यदि सप्तमीयुक्ता तदा विद्धा यदि सैव नवमीयुक्ता तदा शुद्धा। एवं रोहिणी च द्विविधा यदि वह्नियुता कृत्तिकायुक्ता रोहिणी तदा विद्धा यदि तु परान्विता परनक्षत्रेण युता तदा शुद्धा।

येतु—

"अष्टमी सप्तमी विद्धा रोहिणी कृत्तिका युता।
दशम्येकादशीयुक्ता हन्ति पुण्यं पुराकृतम्"
इत्यादिवचनमवलम्ब्य विवदन्ते तेषां साहसमात्रमेवेति बोध्यम्॥८८॥

---

१ येतु वैष्णवाः "अष्टमी सप्तमीविद्धा" इत्यादिवेधमवलम्ब्य सप्तम्यादि विद्धाष्टम्याद्युपवासेन वैष्णवेतरेषामपि प्रत्यवायित्वं वदन्ति तेषां साहसमात्रम् तत्रैव तेषामधिकारात्।

इसमें विद्धा एवं शुद्धा जयन्ती का बिचार है।

यदि अष्टमी, सप्तमी युक्ता एवं रोहिणी, कृत्तिका युक्ता हो, तो विद्धा (वेध×युक्ता) और यदि अष्टमी, नवमी युक्ता एवं रोहिणी, मृगसिरायुक्ता हो, तो उसे शुद्धा कृष्ण जयन्ती जानना चाहिये ॥ ८८ ॥

भाद्रेऽथ शुक्लेऽभिजिति प्रभुर्हरि-

र्या द्वादशी वैष्णवभेन संयुता।

तत्राऽदितावाविरभूच्च वामनो

व्रतोत्सवं तत्र मुदा समाचरेत्॥ ८६ ॥

अन्वयप्र०—अथ (श्रीकृष्णजयन्ती कथनानन्तरम्) भाद्रे (भाद्रपदे मासि) शुक्ले (पक्षे) वैष्णवभेन (श्रवणनक्षत्रेण) संयुता या द्वादशी तत्र (तस्यां द्वादश्यां) अभिजिति (मध्याह्ने तत्रैवाऽभिजितः सत्त्वात्) प्रभुः (समर्थः) हरिः (भक्तानां सकल दुःखहर्त्ताभगवान् + श्रीरामः) अदितौ वामनः (वामानरूपं धारयन्) आविरभूत् (प्रकटितः) तत्र (द्वादश्याम्) मुदा (हर्षेण) व्रतोत्सवं समाचरेत् ॥ ८६ ॥

× इसमें वेध तीन प्रकार के होते है—तिथिवेध, नक्षत्र वेध और तिथि नक्षत्र उभय वेध—एकादशी के प्रकरण में जिस प्रकार वेध कहा गया है वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिये। इस व्रत में तीनों वेध त्याज्य है।

1 अदित्यां वीर्य्यवान पुत्रो भ्रातृणां वीर्य्य वर्धनः। समुत्पन्नेषु कृत्येषु तेषां सहाय करर से ॥१०॥ इति महर्षि वचनात परवासुदेव श्रीराम एव वामन रूपेणावतीर्णः। ततो लोकरक्षणार्थ मुपेन्द्रोऽभूरित्यर्थः—इति गोविन्द राजेन लिखितमिति ज्ञातव्यम्।

अथ वामनद्वादशीनिर्णयमाह भाद्र इति। भाद्रे मासे शुक्लपक्षे वैष्णवभेन विष्णुस्वामिकनक्षत्रेण श्रवणेन संयुता या द्वादशी। तत्र तादृशद्वादश्याम् अभिजिति मध्यान्हे तत्रैवाऽभिजितस्सत्त्वात् प्रभुर्हरिर्विष्णुः अदितौ वामनो वामनरूपः सन् आविरभूत् प्रकटो जात इत्यर्थः। तत्र तत्समये मुदा हर्षेण व्रतोत्सवं समाचरेत्॥ ८६॥

(वामन द्वादशी निर्णय)

भाषा—भादो शुक्ल द्वादशी के श्रवण—नक्षत्र युक्त मध्याह्नकाल में, सर्व विध समर्थ परवासु देव श्रीरामजी श्रीअदिति जी से वामन रूप में प्रकट हुए है अतएव, उस दिन आनन्द—पूर्वक व्रत एवं उत्सव करना चाहिये॥ ८६॥

चेद्द्वादशी च श्रवणस्पृशैका-
दशीस्पृशा तत्र तु विष्णुशृङ्खलः।
अनुत्तमां सिद्धिमवाप्नुयान्नर-
स्तस्मिन्नुपोष्याऽर्चनवीतकल्मषः॥ ९०॥

अन्वयप्र०—चेत् (यदि) द्वादशी (भाद्रपदशुक्लद्वादशी) एकादशीस्पृशा (एकादशीविद्धा) श्रवणस्पृशा (श्रवणनक्षत्रयुता भवेत्। तत्र तु (तस्यामेव तिथौ) विष्णुशृङ्खलः (विष्णुशृङ्खलनामको योगो ज्ञातव्यः) तस्मिन् (विष्णु शृंखलनामके योगे उपोष्य (उपवासं कृत्वा) अर्चनवीतकल्मषः (पूजया पापरहितः) नरः अनुत्तमां सिद्धिम् (अर्थधर्मकाममोक्षरूपाम्) अवाप्नुयात्॥ ९०॥

चेद्यदि द्वादशी भाद्रशुक्लद्वादशी एकादशीं स्पृशतीति एकादशीस्पृशा इगुपधत्वात्के टापि श्रवणस्पृशा च श्रवणं नक्षत्रमपि स्पृशति तदा विष्णुशृङ्खलः। एवंच मध्यान्हे एकादशीस्पर्शपूर्वकश्रवणयुतद्वादशी भाद्रशुक्ले विष्णुशृङ्खलयोगो नाम। इदंच श्रवणद्वादशीव्रतम् एकादशीयुतद्वादश्यां श्रवणयोगे कार्य्यम्।

तथा च मात्स्ये—

'द्वादशी श्रवणस्पृष्टा स्पृशेदेकादशी यदि।
स एव वैष्णवो योगो विष्णुशृङ्खलसंज्ञकः।
तस्मिन्नुपोष्य विधिवन्नरः स क्षीणकल्मषः।
प्राप्नोत्यनुत्तमां सिद्धिं पुनरावृत्तिदुर्लभाम्॥" इति

विष्णुधर्मेऽपि—

"एकादशी द्वादशी च वैष्णव्यमपि तत्र चेत्।
तद्विष्णुशृङ्खलं नाम विष्णुसायुज्यकृद्भवेत्॥" इति

तदा तत्रैवैकादशीद्वादश्योरुपवासः कार्य्यः। यदा तु श्रवणमेकादशीं संस्पृश्य द्वादशीं स्पृशति तदा प्रशस्तेत्युक्तम्।

नारदीये—

"संस्पृश्यैकादशीं राजन् द्वादशी यदि संस्पृशेत्।
श्रवणं ज्योतिषां श्रेष्ठं ब्रह्महत्यां व्यपोहति॥" इति

यत्त 'उदयव्यापिनी ग्राह्या श्रवणद्वादशीव्रते' इति नारदीयवचन तत्पूर्वेद्युः शृङ्खलयोगाभावे दिनद्वये च श्रवणयोग उदयकाले च परदिन एव तद्योग उपवासविधायकम्।

द्वादश्यां श्रवणाभावे नारदीये—

'यदा तु प्राप्यते ऋक्षं द्वादश्यां वैष्णवं क्वचित्।
एकादशी तदोपोष्या पापघ्नी श्रवणान्विता॥' इति
उपवासद्वयसामर्थ्ये तु उपवासद्वयं कार्य्यम्।

तदुक्तं भविष्ये—

'एकादशीमुपोष्यैव द्वादशीं समुपोषयेत्।
न चात्र विधिलोपः स्यादुभयोर्देवतं हरिः॥" इति

विधिलोप एकादशीपारणहानिकृतः। तथाच तस्मिन् विष्णुशृङ्खले उपोष्य उपवासं विधाय अर्चनवीतकल्मषः सविधिभगवदर्चनेन वीतं कल्मषं यस्य सः नरोऽनुत्तमां श्रेष्ठां चतुर्वर्गरूपां सिद्धिं प्राप्नुयादित्यर्थः.९०

भाषा—यदि भादो-शुक्ल द्वादशी, एकादशी—विद्धा और श्रवण नक्षत्र से युक्त हो, तो विष्णु शृङ्खल योग होता है, उसमें व्रत एवं भगवान की पूजा अर्चा करने से मनुष्य, सकल पाप से रहित हो

अनुत्तमा सिद्धि (जिससे उत्तम अन्य दूसरी सिद्धि नहीं अर्थात् अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष आदि)—की प्राप्ति करते है ॥ ९० ॥

तथा यथाकालमतन्द्रितैस्तै-

रथाधिरोपादिकमुत्सवादिकम् ।

सदा विधेयं हरितोषणं परं

शुभप्रदं तद्बहुशास्त्रसम्मतम् ॥ ९१ ॥

अन्वयप्र०-(यथैकादश्यादिव्रतमनुष्ठेयम्) तथा (तेन प्रकारेण) [यत्] बहुशास्त्रसम्मतं परं हरितोषणम् (निरतिशयहरिसन्तोषकारकम्) शुभप्रद रथाधिरोपादिकम् उत्सवादिकमस्ति तत् (उत्सवादिकम्) अतन्द्रितैः (आलस्यरहितैस्तैःश्रीवैष्णवैः) यथाकालम् (शास्त्रनिर्दिष्टसमये) सदा (प्रतिवर्षम्) विधेय (विधातव्यम्) ॥ ९१ ॥

एवमन्यदपि भगवत्परितोषकं शास्त्रसम्मतमुत्सवादिकं कर्त्तव्यमेवेत्याह-तथेति । यथाकालं तत्तत्कालमनतिक्रम्यातन्द्रितैर्निरालस्यैस्तैर्यथोक्तद्व्रत निरतैर्वैष्णवैः रथाधिरोपादिकमुत्सवादिकं सदा प्रतिवर्षमावश्यकत्वेन विधेयं विधातुं योग्यं कर्तव्यमित्यर्थः। यतो बहुशास्त्रसम्मतं परं हरितोषणं विष्णुतोषकम् ।अत एव शुभप्रदं मोक्षप्रदमित्यर्थः। अधिरोपणमधिरोपः रथेऽधिरोपो रथाधिरोप आदिर्यस्य स तथोक्त। एव च आषाढशुक्लद्वितीयायां पुष्यनक्षत्रान्वितायां रथे सीतया सह रामं समारोप्य यात्रोत्सवं विधाय क्वचिदनक्षत्रायामपि तथा ब्राह्मणादीन् सन्तोषयेत् ।

तदुक्तं स्कान्दे—

"आषाढस्य सिते पक्षे द्वितीया पुष्यसंयुता।
तस्यां रथे समारोप्य रामं मां भद्रया सह।
यात्रोत्सवं प्रवर्त्याथ प्रीणयेत द्विजाँस्तथा।
ऋक्षाऽभावे तिथौ कार्य्या यात्रा सा प्रीतये मम।"
इत्यादिना दोलोत्सवादीनां संग्रह ।

तथा हि दोलोत्सवमाह गारुडे—

"दक्षिणाभिमुखं देवं दोलारूढं सुरेश्वरम्।
सकृद्दृष्ट्वा तु गोविन्दं मुच्यते ब्रह्महत्यया।
दोलारूढं प्रपश्यन्ति कृष्णं कलिमलापहम्।
अपराधसहस्रैस्तु मुक्तास्ते नैव संशयः।
तावत्तिष्ठन्ति पापानि जन्मकोटिकृतान्यपि।
यावन्नान्दोलयेद्भूप! कृष्णं कंसविनाशनम्।" इति

एवं श्रीरामलीलाविवाहलीलोत्सवादिकमपि सहप्रमाणं बोध्यम् ॥९१॥

भाषा—अनेक शास्त्र सम्मत, परमात्मा को अतिशय संतुष्ट करने वाले एवं शुभ फल प्रद (मोक्ष रूप कल्याण के दाता) रथ यात्रा आदि उत्सवों को भी, उपर्युक्त एकादशी आदि व्रतों की तरह, आलस्य रहित होकर प्रति वर्ष योग्य कालमें—पुष्य नक्षत्र युक्त आषाढ शुक्ल द्वितीया में अथवा पुष्य नक्षत्र नही मिलने पर केवल शुक्ल द्वितीया में—करना चाहिये ॥ ९१ ॥

कर्मप्रवाहेण तु चेतनस्य
मग्नस्य संसारमहार्णवे चिरम् ॥
उपर्य्यहो ससरतोऽवशस्य
कृपोद्भवत्येव हरेरहेतुका ॥ ९२ ॥

अन्वयप्र०—तिङ्कल बड़गल श्रीवैष्णवाचार्य्याणां परस्परम् हरेः कृपानिर्हेतुका सहेतुकेत्याद्यष्टादशभेदाः [विकल्पाः]। तत्र "कर्मप्रवाहेण" ९२ इत्यारभ्य "कैवल्यमितिमन्यते" १०९ इत्यन्तेन श्रीमदाचार्य्यैर्ग्रन्थकारैःस्वतिङ्कलाचार्य्याणां सिद्धान्तम् निर्दिश्यते—संसारमहार्णवे चिरम् मग्नस्य, कर्म्मप्रवाहेण तु कर्मानुगुण्येनैव संसरतः, अवशस्य (अस्वतन्त्रस्य) चेतनस्य (जीवस्य) उपरि हरेः (भक्तानां समस्तप्रतिकूलानुकूलहरणसंप्रदानकर्तुः स्वतन्त्रस्य श्रीरामस्य) अहेतुकैव कृपा उद्भवति ॥ ९२ ॥

अथ–

"भेदः स्वामिकृपाफलान्यगतिषु श्रीव्याप्त्युपायत्वयो–
स्तद्वात्सल्यदयानिरुक्तिवचसोर्न्यासे च तत्कर्त्तरि ।
धर्मत्यागविरोधयोः स्वविहिते न्यासाङ्गहेतुत्वयो
प्रायश्चित्तविधौ तदीयभजनेऽणुव्याप्तिकैवल्ययोः ।

इत्यत्र भगवत्कृपा निर्हेतुका सहेतुका चेति भेदः । एवं फले मोक्षे तारतम्यं नास्ति अस्तीति भेद. । अन्यगतौ उपायान्तरे कर्मज्ञानभक्तियोगास्त्रयोऽपि स्वातन्त्र्येण मोक्षसाधनानि कर्मज्ञानयोगौ भक्तियोगसहकारित्वेन साधनभूताविति । श्रीव्याप्तिरणुत्वेन विभुत्वेन। उपायत्वं श्रीः पुरुषकारभूता उपायभूतेति। वात्सल्यं दोषभोगित्वं दोषादर्शित्वमिति। दया परदुःखासहिष्णुत्वं परदुःखनिराचिकीर्षेति।न्यासः स्वप्रवृत्तिनिवृत्तिः आत्मात्मीयभरसमर्पण तत्कर्तरि सर्वे प्रपत्तेरधिकारिण अशक्ताः प्रपत्तेरधिकारिण इति । धर्मत्यागः कर्मणां स्वरूपत्यागः फलत्याग इति। विरोधः उपायान्तराणि प्रपत्तिविरोधीनि अधिकारिविरोधीनीति । स्वविहिते विहितनित्यादिकर्मणां लोकसंग्रहार्थमनुष्ठानम्। आज्ञा कैङ्कर्य्यकोटावन्तर्भूतत्वादवश्यमनुष्ठेयेति। न्यासाङ्गे आनुकूल्यादिषु एकाङ्ग न्यूनप्रपत्तिन्यूनता नास्ति । अङ्गपञ्चकमङ्गसम्भावितस्वभाव इति । हेतुत्वे न्यासो भगवत्प्रसादहेतु. मोक्षहेतुरिति। प्रायश्चित्त कृतप्रपतिस्मरणं पुनः शरणागतिरिति। तदीयभजने उत्कृष्टवर्णवैष्णवेन निकृष्टवर्णवैष्णवोऽनुसरणीयः नानुसरणीय इति । अणुव्याप्तिः भगवानणुपु अणुः सर्वत्र विभुरिति । कैवल्यं विरजापारम् अवारमिति । द्वैविध्येन विकल्पितकृपादिभेदानष्टादशसिद्धान्तभूतान्पूर्वाचार्यनिश्चितानष्टादशभिः सविस्तरमाह–कर्मप्रवाहेणेति । संसारमहार्णवे संसारसमुद्र चिरं मग्नस्य कर्मप्रवाहेण कर्मपरम्परया संसरतो जन्ममरणात्मना कर्मफलं भुञ्जतोऽवशस्यास्वतन्त्रस्य चेतनस्य जीवस्य उपरि अहेतुकैव हरेर्भगवतो रामस्य काऽपि कृपा उद्भवति सैव मोक्षहेतुरिति भावः ।। ९२ ।।

भाषा०–संसार सागर में कर्म प्रवाह के द्वारा चिरकाल से डूबते बहते हुए विवश–जीवों के ऊपर श्री हरि की–सकल अमंगल हारी श्रीरामजी की–अकारण कृपा होती है ।। ९२ ।।

मोक्षे मुमुक्षोर्नहि तारतम्यं
फले प्रपन्नस्य तु सत्प्रपत्तेः ।।

अस्त्येव तद्विष्णुकृपोपलभ्ये

पतिं श्रियोऽनन्तगुणार्णवं तम् ॥६३॥

अन्वयप्र०–अनन्तगुणार्णब तं(वेदपुराणादिषुप्रसिद्धम्) श्रियःपतिं (सीतारूपायाःश्रियः स्वामिनं श्रीरामं) प्रपन्नस्य (प्रपत्ति कृतवतः मुमुक्षोः (प्रकृतिबन्धनं त्यक्तुमिच्छोः) (जनस्य) सत्प्रपत्तेः (समीचीन*प्रपत्तेः) विष्णुकृपोपलभ्ये (सर्वत्रव्यापकस्य श्रीरामस्य कृपामात्रेणैवप्राप्ये मोक्षे तु फले(मुक्तिरूपेफले) हि (इति निश्चयेन) तारतम्यं नास्ति ॥ ९२ ॥

मुमुक्षोः सत्प्रपत्तेः फले मोक्षे तारतम्यं नहि अस्ति। कीदृशे फले तद्विष्णुकृपोलभ्ये। कथं भूतस्य मुमुक्षोः अनन्तगुणार्णवं तं श्रियः पति श्रीसीतापति प्रपन्नस्य शरणागतस्येत्यर्थः॥ ६३ ॥

भाषा०–प्रकृति बन्धन त्यागने की इच्छा से अनन्तगुणों के समुद्र श्री रामजी के, शरणापन्न भक्तों की शरणागती के और भगवत्कृपा प्राप्त मोक्ष रूप फल में निश्चय ही कुछ भी तारतम्य (छोटाई-बड़ाई) का भेद नही है ॥६३॥

भवन्त्युपान्तर एव सर्वे

स्वातन्त्र्यतस्ते खलु मोक्षसाधकाः

सुकर्मसंवेदनभक्तियोगा

अनुष्ठितास्तैस्तु प्रपत्तिनैष्ठिकैः॥ ६४ ॥

अन्वयप्र०–प्रपत्तिनैष्ठिकैः (प्रपत्तौ निष्ठावद्भिः) तैः (मुमुक्षुभिः) अनुष्ठिताः सुकर्मसंवेदनभक्तियोगाः (शोभायमानाः कर्म्मयोगज्ञानयोगभक्तियोगाः) उपायान्तरे (भगत्प्राप्तौ मुख्योपायः शरणागतिस्तद्भिन्नोपायाः उपायान्तरे सन्ति)ते सर्वे (सुकर्म

---

* समीचीनत्वम्—कायिकवाचिकमानसिकप्रपत्तेरेकरूपत्वम् ।

संवेदनभक्तियोगाः) स्वातन्त्र्यतःखलु(स्वातन्त्र्येणैव) मोक्षसाधका भवन्तीतिज्ञातव्यम् ॥९४॥

प्रपत्तिनैष्ठिकैः प्रपत्तौ निष्ठावद्भिः तैर्मुमुक्षुभिरनुष्ठिताः सुकर्मसंवेदनभक्तियोगाः शोभमानाः कर्मज्ञानभक्तियोगाः उपायान्तरे स्वातन्त्र्यतः स्वातन्त्र्येणैव खलु निश्चयेनैव मोक्षसाधका भवन्तीत्यन्वयः ॥ ९४ ॥

भाषा—शरणागति में निष्ठावाले एवं संसार—ममता—रहित भक्तों के द्वारा किए हुए कर्म—ज्ञान एवं भक्ति योग भी, मोक्ष के प्रधानोपाय शरणागति से भिन्न उपायान्तर है, और वे सब स्वतन्त्रता—पूर्वक मोक्ष के ही निश्चित—साधक है ॥९४॥

अथोच्यते निर्भरता परैस्तैः
श्रीव्याप्तिरद्धा सुबुधैरणुत्वतः
प्रपञ्चनिर्मातृविरिञ्चिहेतु-
श्रीरामपादाब्जनिविष्ठमानसैः ॥ ९५ ॥

अन्वयप्र० -अथ (नाम कर्मयोगज्ञानयोगभक्तियोगरूपोपायान्तरकथनानन्तरम्) प्रपञ्चनिर्मातृविरञ्चिहेतुश्रीरामपादाब्जनिविष्ठमानसैः निर्भरतापरैः (श्रीरामेसन्न्यस्तभारत्वेन स्वभरणपोषणादिचिन्तारहितैः) तैः (प्रपत्तिपरायणैः) सुबुधैः अद्धा (वस्तुतः) अणुत्वतः (अणुत्वेन) श्रीव्याप्तिरुच्यते न तु विभुत्वेन ॥९५॥

अथ अनन्तरम् अन्यगतिविषयकनिश्चयानन्तरम । तैर्निर्भरतापरैः सुबुधैर्मुमुक्षुभिरद्धा साक्षात् अणुत्वतोऽणुत्वेनैव श्रीव्याप्तिरुच्यते कीदृशैः सुबुधैः प्रपञ्चस्य स्थावरजङ्गमात्मकविश्वस्य निर्माता निर्माणकर्त्ता यो विरिञ्चिर्ब्रह्मा। धाताब्जयोनिर्द्रुहिणोविरिञ्चिः कमलासनः” इत्यमरः । तस्याऽपि हेतुः कारणं यो रामः ।

"महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजन" इति कालवाक्ये रामं प्रति ब्रह्मोक्तेः । तस्य पादाब्जयोर्निविष्ठं मानसंचित्तं येषां तैः ॥९५ ॥

भाषा—तदनन्तर, सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा जी के कारण स्वरूप श्री राम जी के चरणारविन्द में संलग्न मनवाले पूर्ण निर्भर एवं श्रेष्ठ विद्वान मुमुक्षुओं ने, श्रीजी—श्रीसीताजी—की व्याप्ति अनुरूप से कही है ॥ ९५ ॥

पुरुषकारपरा विनिगद्यते
सकमला कमला कमलप्रिया ।
इयमसौ कुशलैस्तदुपायता
नृभिरुपायसुशून्यपरैः परैः ॥ ९६ ॥

अन्वयप्र०—उपायसुशून्यपरैः (प्रपत्तिव्यतिरिक्तकर्म्मयोगादिरूपोपायशून्यैः मोक्षप्रधानसाधनभूतप्रपत्तिमात्रनिष्ठत्वेपि भगवदाज्ञया कर्माद्यनुतिष्ठद्भिः) कुशलैः (प्रपत्तिचतुरैः) नृभिः (महर्षिभिः) कमलप्रिया (अतएव)सकमला (कमलपुष्पवती) कमला इयमसौ (श्रीसीता) पुरुषकारपरा (असौ सीता भगवते श्रीरामचन्द्राय प्रपन्नान् जनान् निवेदयतीति) विनिगद्यते । परैः (अन्यैः)तदुपायता (तस्याः सीतायाः उपायत्वम्) विनिगद्यते॥९६॥

तदुपायता उपायत्वम् उपायसुशून्यपरैः उपायान्तररहितैः परैः उत्कृष्टैर्नृभिः इयमसौ कमला श्री. "कमला श्रीर्हरिप्रिया" इत्यमरः पुरुषकारपरा पुरुषकारभूता विनिगद्यते । कीदृशी कमला सकमला हस्तगृहीतकमलेत्यर्थः । पुनः कमलं प्रियं यस्याः सा ॥९६॥

भाषा०—शरणागति से भिन्न उपायों—कर्म्म, ज्ञान, भक्ति से रहित अर्थात् शरणागति में ही एक मात्र निष्ठावाले भगवान् की आज्ञा मानकर कर्मादि के अनुष्टान करनेवाले जग निपुण नर-श्रेष्ठों ने, इन कमल युक्त कमल-प्रिया श्री कमला जी (श्रीसीताजी) को १ पुरुषकारपरा

---

१ यह उपर्युक्त अर्थ में प्रचलित साम्प्रदायिक पारिभाषिक शब्द है ।

(श्री रामजी के शरणापन्न जनों को उनके आगे निवेदन करने वाली) कहा है और बड़गल लोग इनको ही, मोक्ष का उपाय, कहा है (ये मोक्ष के उपाय स्वरूप है अतः उसकी उपायता—(उपायत्व) भी इनमें ही हुई)

विभोश्च वात्सल्यमहार्णवस्य
वात्सल्यमिष्टं खलु दोषभोगिता
समुच्यते तैर्नृभिरस्वतन्त्रैः
सदा सदाचारपरायणैर्वरैः ॥९७॥

अन्वयप्र०—सदा (सर्वदा) सदाचारपरायणैः अत एव वरैः (श्रेष्ठैः) अस्वतन्त्रैः (भगवदधीनैः) तैः (मुमुक्षुभिः) नृभिः (पुरुषैः)इष्टम् (प्रपन्नानामनुकूलम) वात्सल्य महार्णवस्य(दयासागरस्य) विभोः (व्यापकस्य श्रीरामस्य) वात्सल्यम् खलु (इति निश्चयेन) [प्रपन्नानां] दोषभोगिता च (दोषाणामपराधानां भोगित्वमेव) समुच्यते। अर्थात् यथा गोःस्ववत्सस्य शरीरगतमलादिकं स्वयमेव लेहित्वा मलरहितं करोति तथैव भक्तवत्सलो भगवान् भक्तस्वरूपाच्छादकमाकृतिकसमस्तदोषापनोदनं स्वयमेव कृत्वा यथारुचि स्वसामीप्यादिमुक्तिं प्रयच्छतीति–भावः ॥ ९७ ॥

वरैः श्रेष्ठैः सदा सर्वदा सदाचारपरायणैः समीचीनाचारनिष्ठैः अस्वतन्त्रैर्भगवत्परतन्त्रैः तैर्मुमुक्षुभिर्नृभिर्वात्सल्यमहार्णवस्य विभोः श्रीरामस्य खलु निश्चयेन इष्टं दोषभोगिता दोषभोगित्वं समुच्यते सम्यक् कथ्यत इत्यन्वयः ॥ ९७ ॥

भाषा—सर्वदा सदाचार—सम्पन्न अपने को भगवदधीन मानने वाले श्रेष्ठ प्रपन्न पुरुषों ने शरणागतों के अनुकूल दयासागर व्यापक श्री रामजी की वत्सलता प्रपन्नो की दोषभोगिता को निश्चित रूप से

कहा है (अर्थात् जैसे गौ अपने बच्चों के शरीर गत मलादिओं को स्वयमेव चाट कर निर्मल कर देती है वैसाही भक्तवत्सल भगवान् भी जीवों के स्वरूपाच्छादक समस्त प्राकृतिक दोषो को अपनोदन कर भक्तों की यथा रुचि सामीप्यादि मुक्ति को देते हैं) ॥ ९७ ॥

दयाऽन्यदुःखस्य निगद्यतेबुधै-
रप्राकृतैस्तैरसहिष्णुता स्तुता।
कृपामहाब्धेः समुदारकीर्ते-
र्विष्णोरचिन्त्याखिलवैभवस्य ॥९८॥

अन्वयप्र०—अप्राकृतै. (प्रकृतिमनवलोकमानैः प्राकृतशरीरे अहन्ताममताशून्यैरित्यर्थः) तैः (ऐकान्तिकैः) बुधैरचिन्त्याखिलवैभवस्य समुदारकीर्तेः कृपामहाब्धेर्विष्णोः (व्यापकस्य) [जगत्कारणश्रीरामस्य] स्तुता (ऋषिभिः प्रशंसिता) [भगवति श्रीरामे या] अन्यदुःखस्यासहिष्णुता (विद्यते सा) दया निगद्यते ॥ ९८ ॥

अप्राकृतैस्तैर्बुधैः अचिन्त्याखिलवैभवस्य समुदारकीर्तेः कृपामहाब्धेर्विष्णोर्दया अन्यदुःखस्यासहिष्णुतेति निगद्यते इत्यन्वयः। अचिन्त्यं चिन्तयितुमशक्यमखिलवैभवोयस्य स तस्य। समुदारा महती कीर्त्तिर्यस्य तस्य। कृपाया महाब्धिस्तस्य ॥ ९८ ॥

भाषा०—संसारिक-विकार से रहित उन (प्रपन्न श्रीवैष्णव) विद्वानों ने, चिन्ता से परे अखिल ऐश्वर्य्य एवं प्रचुर उदार कीर्त्तिवाले कृपामहासागर व्यापक एवं जगत्कारण श्री रामजी में जो अन्य (शरणागतों) के दुःखों की प्रशंसित-असहिष्णुता है, उसी को दया कहा है ॥ [प्रशंसित—असहिष्णुता' का तात्पर्य्य, उसे सहन न कर दूर करने से है, और इसी कारण यहाँ असहिष्णुता के साथ प्रशंसित विशेषण है] ॥ ९८ ॥

स्वीयप्रवृत्तस्तु निवृत्तिरिष्टो
न्यासोऽथ वेद्योऽपि बुधैर्विचक्षणैः ।
ऐकान्तिकैस्तत्त्वविचारदक्षैः
परात्मनिष्ठैः परमास्तिकैस्तैः ॥९९॥

अन्वयप्र०—अथ तत्वविचारदक्षैः परमास्तिकैर्विचक्षणैः ऐकान्तिकैर्बुधैरपि परात्मनिष्ठैः (भगवन्निष्ठैः सद्भिः) स्वीयप्रवृत्तेः स्वभरणपोषणादि व्यापारतः (निर्वृत्तिस्तु (निवृत्तिरेव) इष्टः अभिमतः) न्यासो वेद्यः (वेदितव्यः) ॥ ९९ ॥

न्यासस्वरूपमुद्बोधयति-स्वीयेति। परात्मनिष्ठैर्भगवत्परायणैः परमास्तिकैर्गुरुवेदवाक्यनिष्ठैस्तैर्बुधैर्मुमुक्षुभिः स्वीयप्रवृत्तेः स्वप्रवृत्तेर्निवृत्तिरेव न्यासो-वेद्यो ज्ञातव्य इत्यर्थः । इष्टोपि स एव ॥ ९९ ॥

भाषा तत्वविचार में निष्णात, परम आस्तिक, विचक्षण; एवं ऐकान्तिक (स्वस्वरूपनिष्ठ) श्रीवष्णव विद्वान भी भगवन्निष्ठ होते हुए अपनी प्रवृत्ति (स्वभरण पोषणादिकव्यापार) की निवृत्ति को अभिमत-न्यास समझते है ॥ ९९ ॥

सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणः सदा
शक्ता अशक्ता अपि नित्यरङ्गिणः ।
अपेक्ष्यते तत्र कुलं बलञ्च नो
न चाऽपि कालो न हि शुद्धता च ॥१००॥

अन्वयप्र०—हि (यतः) [भगवता] तत्र (प्रपत्तौ) कुलं बलञ्च नोऽपेक्ष्यते। नचाऽपि कालो नहि शुद्धता चापेक्ष्यते [अतः] सर्वे शक्ता (समर्था जनाः)अशक्ता अपि [जनाः] नित्यरङ्गिणः (नित्यांदितस्य परब्रह्मणःश्रीरामस्य) प्रपत्तेःसदा (सर्वस्मिन् काले अधिकारिणः [सन्तीति शेषः] ॥ १०० ॥

तत्कर्त्तरि विशेषं बोधयति-सर्वे इति । शक्ताः समर्था अशक्ता असमर्था अपि सर्वे सदा सर्वदा अनेन कालनियमाभाव उक्तः अधिकारिणो ज्ञातव्या इत्यर्थः। अत एवाह तत्रेति । तत्र प्रपत्तौ कुलं बलं कालो वसन्तादिः शुद्धता च हि यतो नैवाऽपेक्ष्यत इत्यन्वयः ॥ १०० ॥

भाषा—भगवान् श्रीरामानन्द स्वामीजी अपने शिष्यों के प्रति कहतेहैं कि भगवान अपनी प्रपत्ति में जीवों के कुल (जाति) बल की और काल शुद्धता की अपेक्षा नहीं करते, इसी कारण समर्थ असमर्थ सभी जीव भगवान् की शरणागति के अधिकारी है ॥ १०० ॥

धर्मत्यागोऽपि परमैकान्तिकैरुच्यते वरैः ।
इत्थं हि कर्मणां त्यागः स्वरूपस्याऽखिलस्य च ।१०१।

अन्वयप्र०—इत्थंहि (प्रपत्तिप्रकारेणैव) वरैः (श्रेष्ठैः) परमैकान्तिकैः (श्रीवैष्णवैः) कर्म्मणाञ्चाऽखिलस्य स्वरूपस्य (कर्तृत्वाभिमानत्यागपूर्वकसमस्तफलस्य) त्यागोपि (एव) त्याग धर्म्मत्यागः उच्यते ॥ १०१ ॥

धर्मत्यागे विरोपमुपदिशति धर्मेति। वरैः श्रेष्ठैः परमैकान्तिकैर्मुमुक्षुभिः इत्थं कर्मणामखिलस्य स्वरूपस्यत्यागः धर्मत्याग उच्यते हि निश्चितोऽयमर्थः ॥ १०१ ॥

पूर्वोक्त प्रपत्ति के द्वारा ही श्री वैष्णवों में श्रेष्ठ परमैकान्तिक श्रीवैष्णवगण कर्मो के स्वरूपतः त्याग (कर्तृत्व के अभिमान-त्यागपूर्वक समस्त फल के त्याग) को ही धर्म्म त्याग कहते है ॥१००॥

अथोपायान्तराण्येव प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विरोधीनि प्रपत्तेः संबन्धज्ञानस्वरूपिणः ॥ १०२ ॥

अन्वयप्र०—अथ (धर्मत्यागनिश्चयानन्तरम्) सम्बन्धज्ञानस्वरूपिणः (भगवतो विविधसम्बन्धज्ञानस्य यत्स्वरूपं तस्य वेत्तारः) मनीषिणः (बुद्धिमन्तः) उपायान्तराण्येव (सकाम कर्मयोगादीन्येव) प्रपत्तेः (भगवच्छरणागतेः) विरोधीनि वदन्ति ॥१०२॥

विरोधभेदमाह-अथेति । संबन्धज्ञानस्वरूपमस्ति येषां ते संबन्धज्ञान-स्वरूपिणो मनीषिणः अथ त्यागनिश्चयानन्तरम् उपायान्तराण्येव प्रपत्तेर्विरोधीनीनि वदन्ति ॥ १०२ ॥

भाषा—भगवान के साथ जीव का जो नवविध सम्बन्ध है, इसके स्वरूप के ज्ञाता विद्वान् श्री वैष्णव गण,मोक्ष के दूसरे उपायों(कर्म योग ज्ञान योग भक्तियोग) को प्रपत्ति के विरोधी कहते है ॥१०२॥

लोकसंग्रहरणार्थन्तु श्रुतिचोदितकर्म्मणाम् ।
शेषभूतैरनुष्ठानं तत्कैङ्कर्य्यपरायणैः ॥१०३॥

अन्वयप्र०—ननु कर्मयोगादेःप्रपत्तेर्विरोधित्वञ्चेत्तर्हि कथमनुष्ठीयते श्रीवैष्णवैरित्यत आह-लोकेति । तत्कैङ्कर्य्यपरायणैः (भगवत्कैङ्कर्य्यनिष्ठैः) शेषभूतैः (भगवच्छेषभूतैः श्रीवैष्णवैः) लोकसंग्रहणार्थं तु (एव) श्रुतिचोदितकर्मणाम् (वेदविहितकर्मणाम्) अनुष्ठानं कर्त्तव्यमिति शेषः ॥ १०३ ॥

स्वविहिते भेदमाह—लोकेति । तत्कैङ्कर्य्यपरायणैर्भगवच्छेषभूतैर्लोकसंग्रहणार्थमेव श्रुतिचोदितकर्मणां वेदविहितकर्मणामनुष्ठानम् ।

तदुक्तं भगवता—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते" इति ॥ १०३ ॥

भाषा०—भगवत्कैङ्कर्य्य निष्ठ शेषभूत (भगवान के यथेष्ट नियुक्ति के योग्य) श्रीवैष्णव गण, लोक संग्रहके लिये वेदविहित कर्मो का अनुष्ठान करते है ॥१०३॥

तन्न्यासाङ्गानुकूल्याद्यन्यतमस्य महात्मभिः ।
शेषवृत्तिपरैर्हानौ प्रपत्तिन्यूनता नहि ॥ १०४ ॥

अन्वयप्र०—शेषवृत्तिपरैः (शेषस्य भगवद्यथेष्टविनियोगार्हस्य जीवस्य या भगवदधीना वृत्तिस्तत्रैव परायणैः तदनुसंधायकैः)

महात्मभिः तन्न्यासाङ्गानुकूल्याद्यन्यतमस्य (आनुकुल्यसङ्कल्प, प्रातिकुल्यवर्जन,रक्षणविषयक विश्वास गोप्तृत्ववरणात्मनिक्षेप कार्प्पण्येषु कस्यचित्) हानौ (सत्याम्) नहि प्रपत्तिन्यूनता (भवतीति वेदितव्यम्) ॥ १०४ ॥

तन्न्यासस्य भगवत्प्रपत्तेर्यान्यङ्गानि आनुकूल्यादीनि तेषामन्यतमस्य शेषवृत्तिपरैर्महात्मभिर्हानौ त्यागे प्रपत्तिन्यूनता नह्यस्ति ॥ १०४ ॥

भाषा—शेष शेषी सम्बन्ध में परायण महात्मा गण कहते है, कि न्यास के अङ्गों (अनुकुलता का संकल्प, प्रतिकुलता का वर्जन, रक्षण विषयक विश्वास, गोप्तत्ववरण, आत्मनिक्षेप, और कार्प्पराय रूप शरणागती के छ अंगों) में एकाध की हानि होने से भी शरणागती में न्यूनता नहीं होती ॥ १०४ ॥

रामप्रसादहेतुर्हि न्यासोऽयं विनिगद्यते ।
नित्यशूरैः सदाचारैर्हरिपादाब्जमानसैः ॥१०५॥

अन्वयप्र०—सदाचारैः ((सतामाचारसम्पन्नैः) (अतएव) हरिपादाब्जमानसैर्हि (भगवच्चरणचित्तैः) महात्मभिः नित्यशूरैः (भगवत्पार्श्ववर्त्तिनित्यभटैः) अयं न्यासः (पूर्वोक्त न्यासः) रामप्रसादहेतुर्विनिगद्यते (कथ्यते) ॥ १०५ ॥

अथ न्यासो रामस्य भगवतः प्रसादहेतुरिति सदाचारैर्न्नित्यशूरैर्नि-गद्यते ॥ १०५ ॥

भाषा—भगवत्पार्श्ववर्ती नित्यजीवगण और सदाचार सम्पन्न श्रीभगवान के चरण कमल मे चित्तवाले महात्मागण, इस न्यास को श्रीराम जी की प्रसन्नता का कारण कहते हैं ॥ १०५ ॥

कृतप्रपत्तिस्मरणं प्रायश्चित्तमथोच्यते ।
परमाप्तैश्च तन्निष्ठैः कोविदैस्तैर्मुमुक्षुभिः॥१०६॥

अन्वयप्र०—अथ तन्निष्ठै भगवन्निष्ठैः परमाप्तैश्च कोविदैर्मुमु-क्षुभिः (श्रीवैष्णवैः) कृतप्रपत्तिस्मरणम् प्रायश्चित्तमुच्यते ॥१०६॥

प्रायश्चित्तवधौ विशेषमाह कृतेति । अथान्यासविषयकविशेषकथनानन्तरम् तैर्भगवन्निष्ठैः परमाप्तैर्मुमुक्षुभि कोविदैः कृतप्रपत्तिस्मरणमेव प्रायश्चित्तमुच्यते इत्यन्वयः ॥ १०६ ॥

भाषा—परम आप्त भगवन्निष्ठ विद्वान मुमुक्षुश्रीवैष्णव गण; की हुई प्रपत्ति के स्मरण कोही प्रायश्चित्त कहते है ॥ १०६ ॥

उत्कृष्टवर्णैरपि वैष्णवैस्तै-
निकृष्टवर्णः स तदीयसेवने ।
तथाऽनुसर्त्तव्य इतीष्यते बुधैः
शास्त्रैर्विधेये विधिगोचरैः परैः ॥ १०७ ॥

अन्वयप्र०—विधिगोचरैः (शास्त्रविहितकर्मनिष्ठैः) परैः (प्रधानैः) उत्कृष्टवर्णैः (उच्चजातिभिरपि) तैर्वैष्णवैः शास्त्रैः विधेये (विधातुं योग्ये) तदीयसेवने (तदीयानां भगवत्सम्बन्धिनां ब्राह्मणत्वादिहीनानां क्षत्रियादीनां सेवने सेवानिमित्तम्) स निकृष्टवर्णः क्षत्रियादिर्वैष्णवः अनुसर्त्तव्यः । तथा (पूर्वोक्तप्रकारेण निकृष्टैरपि वैष्णवैः ब्राह्मणादिर्वैष्णवोऽनुसर्त्तव्य इतिवेदितव्यम्) इति बुधैरिष्यते ॥१०७॥

अथ तदीयभजने विशेषमाह उत्कृष्टेति उत्कृष्टो वर्णो येषां ते उत्कृष्टवर्णास्तैर्वैष्णवैर्ब्राह्मणादिभि. तस्य भगवत इमे तदीया वैष्णवास्तेषां सेवने भजने समाराधने निकृष्टवर्णः क्षत्रियादिः स वैष्णवोऽनुसर्त्तव्य. कीदृशे तदीय सेवने शास्त्रैर्विधेये इति बुधैरिष्यते ॥ १०७ ॥

भाषा—शास्त्र विहित कर्म में निष्ठावाले (साधारण श्रीवैष्णव) और उच्च जाति–प्रधान ब्राह्मणादि श्रीवैष्णवगण, ब्राह्मणजातीतर भगवन्निष्ठ (परमैकान्तिक) क्षत्रियादिजातिके श्रीवैष्णवोंकी शास्त्रविहित सेवा के निमित्त अनुसरणकरैं. तथा क्षत्रियादिजाति के साधारण श्री वैष्णवगण उच्चजातिके परमैकान्तिक श्री वैष्णवों की सेवा के

निमित्त अनुसरण करें ऐसा विद्वानो का कथन है × ॥ १०७ ॥

अणुव्याप्तौ च भगवान णुषु त्वणुरुच्यते ।
पराकाष्ठावरैर्विज्ञैर्मतविद्भिर्महात्मभिः ॥१०८॥

अन्वयप्र०–पराकाष्ठापरैः (परमैकान्तिकैः) विज्ञैर्मतविद्भिः (मतज्ञातृभिः) महात्मभिः (श्रीवैष्णवैः) अणु व्याप्तौ (भगवत अणुपुजीवेषु व्याप्तौ अन्विष्यमाणायाम्) भगवांस्तु अणुषु अणुः उच्यते (कथ्यते) ॥ १०८ ॥

अणुव्याप्तौ विशेषमाह–अणिवति । पराकाष्ठापरैर्मुमुक्षुभिर्विज्ञैर्महात्मभिर्मतविद्भिर्मताभिज्ञैरणुव्याप्तौ अणुषु भगवानणुरेवोच्यत इत्यर्थः॥१०८॥

भाषा–विज्ञ मतवेत्ता परमैकान्तिक श्रीवैष्णव महात्माओं ने, जीव भगवत की व्याप्ति अणु के भी अणु रूप से कही है ॥१०८॥

आत्मारामैस्तथोपायस्वरूपज्ञानिभिश्च तैः ।
मतज्ञैर्विरजापारं कैवल्यमिति मन्यते ॥१०९॥

अन्वयप्र०–मतज्ञैः (सम्प्रदायकोविदैः) उपायस्वरूपज्ञानिभिः आत्मारामैः (भगवन्निष्ठत्वेन परमैकान्तिकैः अथवा स्वरूप-निष्ठत्वेनैकान्तिभिः श्रीवैष्णवैः) विरजापारं कैवल्यं मन्यते॥ १०९॥

मतज्ञैः उपायस्वरूपस्य ज्ञानमस्ति येषां तैः आत्मनिपरमात्मनि आरमन्ते इत्यात्मारामास्तैर्मुमुक्षुभिर्विरजायाः पारं विरजापारमेव कैवल्यमिति मन्यते ॥ १०९ ॥

भाषा— सम्प्रदायवेत्ता, उपाय के स्वरूप को जानने वाले भगवन्निष्ठ (परमैकान्तिक) श्रीवैष्णवगण, कैवल्य विरजा (नदी) के उस पार मानते है ॥ १०९ ॥

× तात्पर्य्य यह है कि––सभी–उच्चजातिनीचजातिके–वैष्णव, सभी–उच्च नीच जातिके वैष्णवोके यथा योग्य यथासाध्य––अन्नवस्त्रद्रव्यसुन्दरवाणीद्वारा–आराधन (सेवा) करें ऐसा हि श्री सम्प्रदाय मे सर्वत्र प्रचलित है ।

जितेन्द्रियश्चात्मरतो बुधोऽसकृत्
सुनिश्चितं नाम हरेरनुत्तमम् ।
अपारसंसारनिवारणक्षमं
समुच्चरेद्वैदिकमाचरन् सदा ॥११०॥

अन्वयप्र०—जितेन्द्रिय आत्मरतः (एकान्तिकश्रीवैष्णवः) बुधः (विद्वान्) सदा (सर्वदा) वैदिकम् (वेदविहितकर्म) आचरन् (अनुतिष्ठन्) अपारसंसारनिवारणक्षमं सुनिश्चितम् अखिलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु प्रसिद्धमनुत्तमम् हरेर्नाम (राम कृष्णादि) असकृत् (निरन्तरं यथास्यात्तथा) समुच्चरेत् ॥ ११० ॥

एवं बहुधा मोक्षसाधनमभिधाय सकलवेदपुराणादिसम्मतं तन्महामहर्षिविनिश्चितं बहुप्रमाणप्रमितं सर्वसुसाध्यं सर्वसमाराध्यं झटिति फलप्रदं प्रमेयं सुसारभूतं तदाह जितेन्द्रिय इति । जितानीन्द्रियाणि येन स आत्मनि परमात्मनि रमते तत्र रतरतिरनुरक्तिर्यस्येतिवा तादृशो बुधो ज्ञानवान् अपारसंसारनिवारणक्षमं मोक्षप्रदमनुत्तमं सर्वसाधनश्रेष्ठं हरेर्नामैव समुच्चरेत् कालाऽव्यवधानेन सम्यगभ्यसेत् असकृत्पुनःपुनरभ्यसेत् किं कुर्वन् सदा वेदविहितं कर्माचरन् ।

तदुक्तम्—

"तेपुस्तपो जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ।
अहोवत श्वपचोऽतोगरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्" । इति

किञ्च तत्र तत्र बहुधाजामिलादिप्रसङ्गे हरिनामोच्चारणमाहात्म्य प्रदर्शनं महर्षिभिर्वर्णितमिति तत् तत एवावगन्तव्यमित्यलम् ॥११०॥

भाषा—जितेन्द्रिय एवं परमात्मा में अनुराग रखने वाले विद्वान, वेद विहित कर्मों का सदा आचरण करते हुए, अपार संसार—जन्म मरणादिक बाधा—के निवारण में सक्षम अन्यतम श्रेष्ठ, श्रीहरि

(श्रीरामकृष्णादि) के नामों का निश्चित रूप से निरन्तर स्मरण करें ११०

एवं तेऽभिहितं प्राज्ञ ! प्रकृष्टं मुक्तिसाधनम्
उत्तमं सर्वधर्माणां शृणु धर्मं सनातनम् ॥१११॥

अन्वयप्र०—हे प्राज्ञ ! (सुरसुरानन्द !) एवं (पूर्वोक्तप्रकारेण प्रकृष्टं (श्रेष्ठं) मुक्तिसाधनं ते (तुभ्यम्) अभिहितम् (मया कथितम्) सर्वधर्माणां (मध्ये) उत्तमं (श्रेष्ठं) सनातनं धर्म्मं शृणु ॥ १११ ॥

एवं बहुधाऽभिहितं मुक्तिसाधनोपदेशमुपसंहरति-एवमिति। हे प्राज्ञ ! सुरसुरानन्द ! प्रकृष्टं मुक्तिसाधनं त्वया पृष्टं ते तुभ्यम् एवमभिहितम् सर्व-धर्माणां मध्ये उत्तमं सनातनं धर्मन्त्वं शृणिवत्यन्वयः ॥ १११ ॥

भा०—हे सुरसुरानन्द हमने इस तरह तुमसे मुक्ति का श्रेष्ठ साधन कहा। अब सब धर्मों मे श्रेष्ठ सनातन धर्म्म को सुनो ॥१११॥

दानं तपस्तीर्थनिषेवणं जपो
न चास्त्यहिंसासदृशं सुपुण्यम्।
हिंसामतस्तां परिवर्जयेज्जनः
सुधर्म्मनिष्ठो दृढधर्मवृद्धये ॥११२॥

अन्वयप्र०—दानं, तपः, तीर्थनिषेवणं, जपश्च, अहिंसा सदृशं सुपुण्यम् (पुण्यजनकम्) नास्ति। अतः सुधर्मनिष्ठः (श्रीवैष्णवधर्मनिर्वाहकः) जनः दृढधर्मवृद्धये तां हिंसां (परपीडनरूपां) परिवर्जयेत् ॥ ११२ ॥

तदेवाह-दानमित्यादि। सुपुण्यं दानादि अहिंसासदृशं नैवास्ति अतोऽहिंसाऽभाव एव सर्वधर्मश्रेष्ठ इति भावः अतोदृढधर्मवृद्धये सुधर्मनिष्ठो मुमुक्षुर्जनस्तां हिंसां परिवर्जयेत् ॥ ११२ ॥

भा०—दान, तप, तीर्थ निवास और जप में अहिंसा के समान श्रेष्ठ पुण्य नहीं है, अतःउत्तम धर्म—श्रीवैष्णवधर्म—में ही निर्वाह करने

वाले मनुष्य, धर्म की दृढता की वृद्धि के लिये, पर पीड़न रूप हिंसा के त्याग करें ॥ ११२ ॥

श्रयन्ति धर्मास्तु तया विहीनान्
सुवक्रगाः सिन्धुमिवापि नद्यः ।
काष्ठस्थवह्नेरिव घातको हरे-
श्चराचरस्थस्य च जन्तुहिंसकः ॥११३॥

अन्वयप्र०—धर्मास्तु (स्वयमेव) सिन्धुं (समुद्रं) सुवक्रगाः (कुटिलाः) नद्य इव तया (हिंसया) विहीनान् (रहितान् जनान्) श्रयन्ति (आश्रयन्ति)। जन्तुहिंसकः काष्ठस्थवह्नेरिव चराचरस्थस्य हरेर्घातकः । अतो धर्मास्तान् जन्तुहिंसकान् नाऽऽश्रयन्तीतिभावः ॥ ११३ ॥

तया हिंसया विहीनान् रहितान् जनान् धर्मा निखिलाः स्वत एव श्रयन्ति अवलम्बन्ते सिन्धुं वक्रगाः कौटिल्यगा अपि नद्य इव च हेतौ यतो जन्तुहिंसको जनः काष्ठस्थवह्नेरिव चराचरस्थस्य हरेरेव घातकः ।

तथा चोक्तम्—

'नाऽहिंसासदृशन्दानं नाऽहिंसासदृशं तपः ।
नाऽहिंसासदृशं तीर्थं पुण्यभूषणशोभने ।
यथा वक्रगता नद्यः सिन्धौ चैव विशन्ति हि ।
तथैव धर्माः श्रयन्ति हिंसाहीनेषु साधुषु ।
यथा काष्ठस्थितो वह्निस्तथा देहे वसाम्यहम् ।
तस्माद्धिंसन्ति ये जन्तून् घातका मे न संशयः ।
न च काष्ठोद्भवं मांसं नोपलाच्च तृणादपि ।
हिंसया जायते मांसं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ।
ये च हिंसन्ति वै जन्तून् जलजांस्थलजांस्तथा ।
मज्जन्ति नरके घोरे कल्पकोटिशतैरपि'' इति ।
श्रुतिश्च "न हिंस्यात्सर्वाभूतानि''इति ॥ ११३ ॥

भाषा—जैसे नदियाँ, टेढी-मेढ़ी-बहती हुई समुद्र में जा मिलती है,

उसी प्रकार धर्म भी अहिंसक पुरुषका आश्रयलेताहै । जीवों के हिंसाकरने वाले पुरुष, काष्ठ में स्थित अग्नि की तरह चराचर में व्याप्त जो भगवान उनका घात करने वाले है, अतः; धर्म उन हिसको का अवलम्बन नही करता ॥ ११३ ॥

जलस्थलोत्पन्नशरीरहिंसया
विवर्जयेन्मांसमुदारधीः सदा ।
दयापरोऽधोगतिहेतुरूपया-
ऽचिराय लभ्यं भवभीनिवृत्तये ॥११४ ॥

अन्वयप्र०—दयापरः (दयालुः) उदारधीः (सर्वत्र परमेश्वरस्य व्यापकत्वानु सन्धानेन पूज्यबुद्धिः) अधोगतिहेतुरूपया जलस्थलोत्पन्न शरीरहिंसया अचिराय (आशु) लभ्यं मांसं भवभीनिवृत्तये विवर्जयेत् (त्यजेत्) ॥११४॥

अत एवाह—जलेति अधोगतिहेतुरूपया जलस्थलोत्पन्न शरीरहिंसया चिराय शीघ्र लभ्यं मांसं भवभीनिवृत्तये उदारधीर्दयापरो मुमुक्षुर्वर्जयेत् ॥ ११४ ॥

भाषा—उदारबुद्धिवाले (सर्वत्र परमात्मा की व्याप्ति होने से सभी पूज्य है, ऐसीबुद्धिवाले) दयालु पुरुष, अधोगति के दायक होनेके कारण जल एवं स्थल में उत्पन्न जन्तु की हिंसासे ही प्राप्त करने योग्य मांसका जन्म मरण के भय की निवृति के लिये त्याग करे ॥११४॥

समर्प्य कर्माणि शुभानि वैष्णवो
रामाय भक्ष्यं च निवेद्य भक्षयेत् ।
अर्हर्दिवं वीतभयं समुत्तमं
विमुक्तिधीः स्वाघनिवृत्तिकामः ॥११५॥

अन्वयप्र०—स्वाघनिवृत्तिकामः विमुक्तिधीः (स्वपापापनोदनपू-

र्गकमोक्षेच्छावान्)श्रीवैष्णवः अहर्दिवम्(अहन्यहनि कृतानि)शुभानि कर्माणि श्रीरामाय समर्प्य वीतभयो [भवति] समर्पणबुद्धि-लाभार्थं सर्वतः प्रथम] समुत्तमं निरतिशयश्रेष्ठं सात्त्विकं भक्ष्य (नैवेद्यम्) निवेद्य भक्षयेत् । "आहारशुद्धौ खलु सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः" इति श्रवणात् ॥ आहारशुद्धिमन्तरेण सत्त्वस्यान्तःकरणस्य शोधनं भवितुन्नार्हति । तद्विना कुत्रापि शुभ-कर्मणि प्रवृत्तिर्नभवति अतः सर्वतःपूर्वं सत्त्वशोधनार्थमाहारशोधनस्यावश्यकतास्तीतिभावः ॥ ११५ ॥

भवभीनिवृत्तये इत्यनुषज्जते विमुक्तौ मोक्षे धीर्यस्य स स्वावन्य निवृत्त्यै कामो यस्य स वष्णवोऽहर्दिवम् अहन्यहनि शुभानि कर्माणि स्वकृतानि रामाय समर्प्य समुत्तम सम्यक् श्रेष्ठं भक्ष्यं नैवेद्यं च निवेद्य तन्निवेदित भक्षयेत् अत एव वीतभयो विगतससारभयः स्यात् । तथा चोक्तम्–

" कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्" ।

किंच–

"ये मेऽर्पयन्ति कर्माणि शुभगे शुभजाः क्रियाः ।
कोटिजन्मार्जितं पाप नित्यं तेषां वहाम्यहम् ।
इष्टं दानं तपो देवि ये मेऽर्पयन्ति वैष्णवाः ।
तेनाऽहवै समाहूतो वत्सं दृष्ट्वा तु गौयथा ।
सात्त्विकेन स्वभावेन कृत्वा कर्म मदर्पणम् ।
असंख्यं फलमाप्नोति दीक्षितश्चैव मानवः ।
निष्कामो वैष्णवो देवि कर्मार्पणं करोति यः ।
नित्यं चैव शुचिर्भूतस्तेनाऽह भक्तवत्सलः ।
ये मे कुर्वन्ति कर्माणि ह्यर्पयन्ति त्वकामतः ।
तस्माद्भूमावतीर्य्याऽहं भक्तवश्यो भवामि ह ।
मदर्पणं न कुर्वन्ति पुण्यामेतां शुभक्रियाम् ।
तेषां चैवन पश्यामि कदाचिदपि सद्गतिम् ।

तपो 'दन च होम वै व्रतानि नियमाँस्तथा।
मदर्पणं न कुर्वन्ति हुतं भस्मनि वै घृतम्।
यावज्जन्मकृतं कर्म्मनार्पयन्ति शुभे मम।
ते विड्भुजां गतिं यान्ति न तरन्ति भवार्णवम्।
तेन शोचन्ति भो देवि यैः कृतं कर्मणोऽर्पणम्।
ते हि भासन्ति सर्वत्र यथा देवो दिवाकरः" इत्यादीनि॥ ११५॥

भाष-अपने प.पों की निवृत्ति-पूर्वक मोक्ष चाहने वाले जो श्रीवैष्णव रात्रि दिवा किये हुए अपने शुभकर्मों को रामजी का समर्पण कर श्रीरामजी के निवेदित अन्यतम श्रेष्ठ भोजन का सेवन करते है, वे जन्ममरणादिक यमसे रहित होते हैं॥ १५॥

अर्चावतारोपि च देश काल—
प्रकर्षहीनः श्रितसम्मतश्च।
सहिष्णुरप्राकृतदेहयुक्तः
पूर्णोऽर्चकाधीनसमात्मकृत्यः॥ ११६॥

अन्वयप्र०—कुत्रनिवेदयेन्नैवेद्यमित्यतोऽर्चावतारमुपदिशति भगवान् श्रीरामानन्दस्वामी-अर्चेति (यथा परव्युहविभवान्तर्यामिणो देशकालप्रकर्षहीनाः सन्ति तथा) अर्चावतारोऽपि च देशकाल प्रकर्षहीनो (ज्ञातव्यः अर्थात अयोध्यादिदेशे सत्ययुगादिसमये अर्चावतारस्याधिकमहत्वमन्यत्राऽल्पमहत्वमिति न देदितव्यम किन्तु सर्वत्र समानफलदत्वमितिबोध्यम्) श्रितसम्मतश्च (स्वा श्रित जनस्याभिमतश्च वेदितव्यः) अप्राकृतदेहयुक्तः (अतएव) सहिष्णुः (पूजकसमस्तापराधसहनशीलः) पूर्णः (गृहग्रामनगरवनपर्वतादिषु सर्वत्र परिपूर्णो नाम व्यापकः अर्चकाधीनसमात्मकृत्यः (पूजकाधीनसमस्तभगवत् स्नान भोजनादिक्रिय एवम्भूतः अर्चावतारो बोध्यः अन्ये तु न ह्येता-दृशः सुलभाः इतिभावः॥ ११६॥

अथार्चावतारं लक्षयति-अर्चेति। देशकालयोः प्रकर्षेण प्रकृष्टत्वेन हीनो रहितः श्रितसम्मत आश्रिताभिमतः सहिष्णुरर्चकसर्वापराधसहनशीलः अप्राकृतदेहयुक्तो दिव्यदेहयुक्तो दिव्यदेहविशिष्ट पूर्णः परिपूर्णो गृहग्रामनगरप्रशस्तदेशशैलादिषु वर्त्तमानो मूर्तिविशेष एवार्चावतार उच्यते सच कीदृक् अर्चकाधीनंसमं सर्वं समशब्दः सर्वपर्यायः आत्मकृत्यं स्नानादि यस्य सः ११६

भाषा--अर्चावतार देश काल का उत्कृष्टता से रहित आश्रित भक्तों के अभिमत (द्विभुज, चतुर्भज, बालक किशोर इत्यादि) सहिष्णु अप्राकृत देह युक्त एवं सर्वत्र व्यापक है, तथा उनके सभी आत्मकृत्य (पूजा राग भोगादि) अर्चा करनेवाले के आधीन है ॥ ११६ ॥

प्रशस्तदेशादिषु वर्त्तमान-
श्चतुर्विधः श्रीयुत एव सर्वदा ।
स च स्वयं व्यक्त इतिप्रभेदतो
दैवश्च सैद्धश्चस मानुषश्च ॥११७॥

अन्वय-स्वयंव्यक्तो दैवः सैद्धो मानुषश्चेतिप्रभदेतः चतुर्विधः सच (अर्चावतारः) प्रशस्तदेशादिषु (अयोध्यामथुरादिदिव्य देशेषु) सर्वदा (अर्चावतारः) श्रीयुत एव वर्तमानः (वेदितव्यः)॥ ११७॥

स्वयं व्यक्तो दैव. सैद्धो मानुषश्चेति प्रभेदः भेदात्स चार्चावतारश्चतुर्विधो बोध्य कीदृशः प्रशस्तदेशादिषु बृन्दावनादिषु वर्त्तमानः स च सर्वदा श्रीयुत एव लक्ष्मीयुत एव ॥ ११७ ॥

भाषा—१ स्वयं व्यक्त, दैव,, सैद्ध, मानुष इस भेद से चार प्रकार के अर्चावतार अयोध्या मथुरा आदि दिव्य देशों में सदा श्री [लक्ष्मी] जी के सहित रहते हैं ॥ ११७ ॥

आवाहनाऽऽसनाभ्यांतुपाद्याऽर्घ्योऽऽचमनैस्तथा ।

---

१ पूजनीय भगवत्प्रतिमा को अर्चावतार कहते हैं, इनके चार भेद है, स्वयमेव प्रकट को स्वयंव्यक्त, देवस्थापित को दैव, सिद्धों के स्थापित को सैद्ध, मनुष्य स्थापित को मानुष कहते है ।

स्नानवस्त्रोपवीतैश्च गन्धपुष्पसुधूपकैः ॥ ११८ ।
दीपनैवेद्यताम्बूल प्रदक्षिणविसर्जनैः ।
षोडशाऽर्चाप्रकारैस्तमेतैरर्चेत्सदा सुधीः ॥११९॥

अन्वयप्र०—सुधीः(सुबुद्धिजनः)आवाहनाऽऽसनाभ्यां तु पाद-पूर्णार्थम् तथा पाद्यार्घ्याचमनैः स्नानवस्त्रोपवीतैः गन्धपुष्प-सुधूपकैः दीपनैवेद्यताम्बूलप्रदक्षिणविसर्जनैश्च एतैः षोडशार्चा-प्रकारैस्तम् (अर्चावतारम्) सदा (सर्वदा) अर्चेत् (पूजयेत्) ॥११८॥ ११९ ॥

एवमर्चावतारमुक्त्वा तदर्चाप्रकारमप्याह—आवाहनेति । आवाहना-सनपाद्यार्घ्याऽऽचमनस्नानवस्त्रोपवीतगन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्यताम्बूलप्रदक्षिण-विसर्जनैरेतैः षोडशभिरर्चाप्रकारैः पुरुषसूक्तादिप्रोक्तैस्तत्तन्मन्त्रैस्तमर्चा-वतारं सुधीर्मुमुक्षुः सदा सर्वदैवार्चेदित्यर्थः । आवाहनादिमन्त्रा वैदिकाः पुरुषसूक्तोक्ताः षोडश ऋचस्तत एवावगन्तव्याः ।

तान्त्रिकास्तु—

"आवाहयामि विश्वेश ! चतुर्वर्गार्थद !प्रभो !
पूजायै करुणासिंधो! भक्त्या सन्निहितो भव ॥
सुखप्रद ! सुरेन्द्राद्यैः पूजित ! गुणोत्तर ! ।
स्थित्यै गृहाण देवेश ! भद्रासनमनुत्तमम् ॥
नारायण ! नमस्तेऽस्तु नरकार्णवतारक ! ।
पाद्यं गृहाण देवेश ! मम सौख्यं विवर्द्धये ॥
व्यक्ताव्यक्तस्वरूपाय हृषीकपतये नमः ।
मया निवेदितो भक्त्या अर्घोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥
मन्दाकिन्यास्तु यद्वारि सर्वपापहरं शुभम् ।
तदिदं कल्पितं देव ! सम्यगाचम्यतां प्रभो ! ॥
स्नानं पञ्चामृताद्यैस्त्वं गृहाण पुरुषोत्तम ! ।
अनाथनाथ ! सर्वेश ! गीर्वाणप्रणतप्रिय ! ॥
वेदसूक्तसमायुक्ते यज्ञसामसमन्विते ।
सर्ववर्णप्रदे देव ! वाससी ते विनिर्मिते ॥

ब्रह्मविष्णुमहेशानैर्निर्मितं ब्रह्मसूत्रकम् ।
गृहाण भगवन् ! विष्णो ! सर्वेष्टफलदो भव ॥
श्रीखण्डं चन्दनं दिव्यं गन्धाढ्य सुमनोहरम् ।
विलेपनं सुरश्रेष्ठ ! प्रीत्यर्थं प्रतिगृह्यताम ॥
मल्लिकादिसुगन्धीनि मालत्यादीनि वै प्रभो! ।
मयाहृतानि पूजार्थं पुष्पाणि प्रतिगृह्यन्ताम्॥
वनस्पतिरसो दिव्यो गन्धाढ्यः सुमनोहरः ।
आघ्रेय सर्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥
आज्यं सुवर्तिसंयुक्तं वह्निना दीपित च यत् ।
दीपं गृहाण देवेश ! त्रैलोक्यतिमिरापहम् ॥
घृतपक्वं हविष्यान्नं पायसं वा सशर्करम ।
नानाविधं च नैवेद्यं विष्णो ! मेप्रतिगृह्यताम् ॥
एलालवंगसंयुक्त ताम्बूलं सुरपूजितम ।
प्रीत्या गृहाण देवेश ! मम सौख्यं विवर्द्धये ॥
यानि यानि च दुःखानि सर्वपापकृतानि च ।
तानि तानि विनश्यन्तु प्रदक्षिणकृते मयि' ॥

प्रदक्षिणकृते कृतप्रदक्षिणे मयीति तदर्थः । कृता प्रदक्षिणा येन स तथोक्तः ।

गच्छ विष्णो ! सुरश्रेष्ठ ! स्वधामाऽनुत्तम विभो ! ।
सकलर्द्धिसमायुक्तं सेवितं पार्षदैः सदा ॥ इति ११८॥ ११९ ॥

भाषा—सुन्दर बुद्धिवाले मनुष्य, आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, उपवीत, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, प्रदक्षिणा, और विसर्जन, इस तरह सोलह प्रकार से उस अर्चावतारका सदा पूजन करते है ॥ ११८॥११९॥

जगत्पते ! श्रीश ! जगन्निवास !
प्रभो ! जगत्कारण ! रामचन्द्र ! ।
नमो नमः कारुणिकाय ते सदा
पदाब्जयुग्मे तव भक्तिरस्तु मे ॥१२०॥

अन्वयप्र०—हे जगत्पते! हेश्रीश! हे जगन्निवास! हे प्रभो! हे जगत्कारण! हे रामचन्द्र! कारुणिकाय ते (तुभ्यम्) नमो नमः (नमस्कारोऽस्ति) तव पदाब्जयुग्मे मे (मम) भक्तिः सदा [सर्वदा] अस्तु ॥१२०॥

एवं समभ्यर्च्य स्ववाञ्छितं प्रार्थयेदित्याह—जगदिति। हेरामचन्द्र! कारुणिकाय प्रशस्तकरुणायुक्ताय ते तुभ्यं नमो नमः तव पदाब्जयुग्मे तव चरणकमलद्वये मे मम मत्कर्तृका भक्तिः सदाऽस्तु शेषं स्पष्टम् ॥१२०॥

भाषा—हे जगत्पते! हे श्रीश! हे जगन्निवास! हे प्रभो! हे जगत्कारण! हे रामचन्द्र! आप दयालु है, उसके लिये मेरा बारम्बार नमस्कार है। आपके चरणकमल में सदा मेरी भक्ति हो॥१२०॥

मनोमिलिन्दस्तव पादपङ्कजे
रमाऽर्चिते संरमता भवे भवे।
यशःश्रुतौ ते मम कर्णयुग्मं
त्वद्भक्तसः सङ्गततं ममाऽस्तु ॥१२१॥

अन्वयप्र०—(हे रामचन्द्र!) भवे भवे (जन्मनि जन्मनि) मम मनोमिलिन्दःरमार्चिते तव पादपङ्कजे संरमताम्। मम कर्णयुग्मं ते (तव) यशःश्रुतौ (यशःश्रवणे) अस्तु। मम त्वद्भक्तसङ्गः सततमस्तु (निरन्तरम्भवतु) ॥ १२१ ॥

रमया लक्ष्म्याऽर्चिते पूजिते तव पादपङ्कजे मम मनोमिलिन्द इव मनो मिलिन्दःमनोभ्रमरो भवे भवे प्रतिजन्म सरमताम्। तव यश श्रुतौयशःश्रवणे सततं निरन्तरं कर्णयुग्मं कर्णद्वयमस्तु। त्वद्भक्तसङ्गश्च ॥ १२१ ॥

भाषा—हे रामचन्द्र! मेरा मनरूप भ्रमर, लक्ष्मी स्वरूपा श्रीसीताजी से पूजित आपके चरण कमल में रमण करे, मेरे दोनो कान आपके यश सुनने में लगे, और मुझको निरन्तर आपके भक्तों का संग हो १२१

उरःशिरोदृष्टिमनोवचोऽङ्घ्रि—
द्वयप्रराजत्करयुग्मजानुभिः।

अङ्गैः क्षितौ तं प्रणमेदथाऽष्टभि-
दीर्घं तथैतैः कृतधीश्च दण्डवत् ॥ १२२ ॥

अन्वयप्र०—अथ प्रार्थनानन्तरम् कृतधीः (भगवन्तं प्रणमितुं निश्चितमतिः) क्षितौ (पृथिव्याम्) उरःशिरोदृष्टिमनोवचोऽङ्घ्रिद्वयप्रराजत्करयुग्मजानुभिः एतैः (पूर्वोक्तैः) अष्टभिः अङ्गैः दण्डवत्तं [भगवन्तम्]दीर्घं (यथा स्यात् तथा) प्रणमेत् ॥१२२॥

अथाऽनन्तरं प्रार्थनानन्तरं दीर्घं यथा भवति तथा क्षितौ पृथिव्यामेतैरष्टभिरङ्गैः कृतधीर्दण्डवत्तं प्रणमेत् प्रणामं कुर्यात् । उरःशिरोदृष्टिमनोवचोऽङ्घ्रिद्वयेन प्रराजन्ति करयुग्मं जानुनी च येषु तानि तैः ॥१२२॥

भाषा—भगवान को प्रणाम करने में निश्चित बुद्धिवाले, मन, वचन, दोनो चरण, दोनों जानु (घुटना), छाती, शिर, नेत्र और प्रसारित दोनों हाथ, इन आठो अंगों से भूमि में दण्ड की तरह लेट कर उन परमात्मा को प्रणाम करे ॥ १२२ ॥

बाहू च पादौ च प्रसार्य्य साञ्जलिः
स्तवैः स्तुवन् दीर्घमथो नमेत्तम् ।
शतैः क्रतूनां तु सुदुर्लभां गतिं
स चाऽऽप्नुयाद्विष्णुपरायणो जनः ॥१२३॥

अन्वयप्र०—अथ (दण्डवत्प्रणामानन्तरम्) स च विष्णुपरायणो जनः साञ्जलिः स्तवैः स्तुवन् बाहू च पादौ च प्रसार्य्य तं परमात्मानम्) दीर्घं (यथाऽवकाशं तथा) नमेत् (एवंकृते) तु (तु इत्यवधारणे तथा सति च) क्रतूनां शतैः (अश्वमेधैः दक्षैर्या सुदुर्लभा गतिस्ताम्) सुदुर्लभां गतिं [illegible] प्राप्यते [illegible] यया तां सुषुम्नामार्गम् अथवा कर्म्माणि [illegible] परधाम आप्नुयात् (प्राप्नुयात्) इति विधिः ॥ १२३ ॥

स च विष्णुपरायणो जनो मुमुक्षुः साञ्जलिः स्तवैः स्तुवन् बाहू पादौ प्रसार्य्य तं भगवन्तं नमेत् । तथा च क्रतूनां शतैर्दुर्लभां गतिं प्राप्नुयात् ॥१२३

भा०—विष्णुभक्त अञ्जलिपूर्वक दिव्यस्तोत्रों से स्तुति करते हुए दोनों हाथों एवं पैरों को पसार कर दण्ड (लाठी) की तरह लम्बे लेट कर परमात्मा श्रीरामजी को नमस्कार करे । ऐसा करने से असङ्ख्य यज्ञों से भी न मिलनेवाली गति (भगवत्कृपा मात्र ही से साध्य परधाम को प्राप्त कराने वाला सुषुम्नामार्ग को या परात्परलोक की) प्राप्ति करते है ॥ १२३ ॥

(वैष्णव भेद वर्णन)

अथोच्यते वैष्णवभेद ईप्सितो
ज्ञातुं च ते विष्णुपरायणैर्जनैः ।
सुवेदनीयो बहुधा महामते !
सुनिश्चितो विज्ञवरैर्महर्षिभिः ॥१२४॥

अन्वयप०— हे महामते ! (सुरसुरानन्द !)अथ(अर्चावतारतत्पूजनादिकथनानन्तरम्) विज्ञवरैर्महर्षिभिर्बहुधा सुनिश्चितः विष्णुपरायणैर्जनैर्ज्ञातुमीप्सितः (अतएव) ते (तव) च सुवेदनीयो वैष्णवभेद उच्यते मयेति शेषः ॥ १२४ ॥

हे महामते ! सुरसुरानन्द! अथो अर्च्चावतारकथनानन्तरम् विष्णुपरायणैर्जनैर्ज्ञातुमीप्सितः ते तव सुवेदनीयः विज्ञवरैर्महर्षिभिर्बहुधा सुनिश्चितो वैष्णवभेदस्ते मयोच्यत इत्यन्वयः ॥ १२४ ॥

भाषा— हे महामते ! (सुरसुरानन्द) मैं, विज्ञवर (ज्ञानिश्रेष्ठ) महर्षियों द्वारा अनेक प्रकार से निश्चित, वैष्णवों के वाञ्छित और तुमको अनायास जानने योग्य, वैष्णव भेद को कहता हूँ ॥ १२४ ॥

प्राप्तुं परां सिद्धिमकिञ्चनोजनो
द्विजादिरिच्छञ्छरणं हरिं व्रजेत् ।

परं दयालुं स्वगुणानपेक्षित-
क्रियाकलापादिकजातिभेदम् ॥१२५॥

अन्वयप्र०—अकिञ्चनः (भगवदतिरिक्तं किञ्चन साधनं न विद्यते यस्य सः) जनो द्विजादिः (ब्राह्मणादिजीवसमूह) पराम् (उत्कृष्टाम्) सिद्धिम् (मुक्तिम) प्राप्तुमिच्छन् स्वगुणाऽनपेक्षितक्रियाकलापादिकजातिभेदं हरिम् (स्वभक्तकल्मषहारिणम्) परम दयालुम् शरणम् (सर्वरक्षकम्) व्रजेत् (गच्छेत्)॥१२५॥

अकिञ्चनो विरक्तो जनो द्विजादिः परामुत्कृष्टां मोक्षरूपां सिद्धिं प्राप्तुमिच्छन् परं दयालुं हरिं शरणं व्रजेत् कीदृशं तं स्वगुणैर्वात्सल्यादिभिर्न अपेक्षितः शरणागतौ क्रियाकलापादिको जातिभेदश्च येन स तथोक्तम् ।

तथोक्तम्—

"प्राप्तुमिच्छन्परां सिद्धिं जनः सर्वोऽप्यकिञ्चनः ।
श्रद्धया परया युक्तो हरिं शरणमाश्रयेत् ॥
न जातिभेदं न कुलं न लिङ्गन्न गुणक्रियाः ।
न देशकालौ नाऽवस्थां योगो ह्ययमपेक्षते ॥
ब्रह्मक्षत्रविशः शूद्राः स्त्रियश्चान्तरजास्तथा ।
सर्व एव प्रपद्येरन् सर्वधातारमच्युतम्" इति ॥१२५॥

भा० भगवान् से अतिरिक्त भगवत्प्राप्ति के उपायों से रहित द्विजादि [ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यादि] जनों को परम मुक्ति प्राप्ति की इच्छा करते हुए अपने गुणों से जीवों की ब्राह्मणादि जाति और विद्या आदि गुणों की अपेक्षा नहीं करने वाले परम दयालु परमात्मा के शरण में जाना चाहिए ॥१२५॥

महर्षिवर्य्यैः स तु बद्धमुक्त-
प्रभेदतोऽमन्यत चेतनो द्विधा ।

बद्धोऽपि तत्राऽस्ति मुमुक्षवश्च
बुभुक्षवश्चेति प्रभेदतो द्विधा ॥१२६॥

अन्वयप्र०—महर्षिवर्य्यैः बद्धमुक्तप्रभेदतः तु (पादपूर्णौ) स चेतनः द्विधा अमन्यत तत्र [बद्धमुक्तयोर्मध्ये] [यः] बद्धोऽस्ति सोऽपि मुमुक्षवश्च बुभुक्षवश्चेति प्रभेदतः [प्रभेदात्] द्विधा अमन्यत ॥१२६॥

बद्धमुक्तयोः प्रभेदात् प्रभेदतः महर्षिवर्य्यैर्महर्षिश्रेष्ठैः स चेतनो द्विधा द्वाभ्यांप्रकाराभ्याममन्यत । तत्र तयोर्बद्धमुक्तयोर्मध्ये मुमुक्षवो बुभुक्षवश्चेति प्रभेदात् बद्धो द्विधा तैरमन्यतेत्यन्वयः ॥१२६॥

भाषा—बड़े बड़े श्रेष्ठ महर्षिगण, चेतन [जीव] को बद्ध और मुक्त इस तरह दो प्रकार का और पुनः बद्ध भी मुमुक्षु (मोक्ष के इच्छुक) और बुभुक्षु (भोग के इच्छुक) इस तरह दो प्रकार का मानते हैं ॥१२६॥

अनादिकर्मोत्करजातनाना—
देहाभिमानी सुमतोऽथ बद्धः ।
स चाऽच्युताऽहेतुकृपाकटाक्षतो
ऽविद्याक्रियावासरुचिप्रवृत्तेः ॥१२७॥
विमोक्तुमिच्छुस्तु मुमुक्षुरुच्यते
सम्बन्धतः प्राज्ञसुसंमतोऽयम् ।
तथैव सांसारिकभोगमिच्छु—
र्बुभुक्षुरन्यः खलु कथ्यते बुधैः ॥१२८॥

अन्वयप्र०—अथ (बद्धमुक्तप्रभेदकथनानन्तरं तयोर्लक्षणं निगद्यते) बुधैः अनादिकर्म्मोत्करजातनानादेहाभिमानी (अनादिकर्म्मसमूहैरुत्पन्नानामण्डजपिण्डजोष्मजस्थावरभेदभिन्नानां देहानामभिमानी) बद्धः सुमतः (महर्षिवर्य्याणामिति

शेषः) स चायम् (बद्धः) अच्युताऽहेतुकृपाकटाक्षतः (श्रीरामस्य निर्हेतुककृपाकटाक्षेण) अविद्या-क्रिया—वास—रुचि-प्रवृतेः सम्बन्धतः (सकाशात) विमोक्तुमिच्छुःसन् प्राज्ञसुसम्मतः मुमुक्षुरुच्यते । तथैवान्यः (द्वितीयो बद्धः) सांसारिकभोगमिच्छुःसन् खलु (इति निश्चयेन वाक्यालङ्कारे वा) बुभुक्षुः कथ्यते ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

अथ बद्धस्य लक्षणमाह—अनादीति । अनादिकर्मणामुत्करैः समूहैर्जातेषु उत्पन्नेषु नानाजरायुजादिभेदेन चतुर्विधदेहेषु अभिमानोऽहंताममतारूपोऽस्याऽस्तीति चतुर्विधशरीरादिषुअहंताममतायुक्तो बद्ध इत्युच्यते मुमुक्षुबुभुक्षुभेदाद्बद्धो प द्विविध इत्याह स चेति.अच्युतस्य भगवतो रामचन्द्रस्याहेतुकृपा निर्हेतुका कृपा तत्कटाक्षेण अविद्या क्रिया कर्मवासना रुचिप्रवृते संबन्धतः सकाशाद्विमोक्तुमिच्छुर्बद्धोऽय प्राज्ञानां सुसंमतो मुमुक्षुर्बुधैरुच्यत इत्युत्तरश्लोकेनान्वयः। प्राज्ञेति। सुरसुरानन्दस्य संबुद्धिर्वा संसारेभव.सांसारिकास्तेषां सांसारिकविषयाणां भोगमिच्छुर्बद्धस्तु मुमुक्षोरन्यो बुधैर्बुभुक्षुः कथ्यत इत्यर्थः। तदुक्तम्—

'चेतना द्विविधाः प्रोक्ता बद्धमुक्तप्रभेदतः ।
बद्धा मुमुक्षवश्चाऽपि बुभुक्षव इति द्विधा'' इति ॥१२७॥१२८॥

भाषा—पण्डित गण, अनादि कर्मों के समुदाय से उत्पन्न; अण्डज, पिण्डज, ऊष्मज, एवं स्थावर (देह के अभिमानी जीव बद्ध हैं, ऐसी श्रेष्ठ बुद्धिवालों की सम्मति बतलाते है । ये बद्ध जीव यदि भगवान् के निर्हेतुक कृपाकटाक्ष से 'अविद्याजन्य संसारप्रद कर्म्म और तदनुगुण वासना (मानसिक व्यापार) में अत्यासक्ति पूर्वक प्रवृत्ति (तत्परता) के सम्बन्ध से मुक्त होने की इच्छा करें, तो इन्हें 'मुमुक्षु' और उसी तरह (अविद्या अज्ञान बढ़ाने वाले) सकाम कर्म और तदनुगुण (उसके मुताबिक) वासना (मानसिकव्यापार) में अत्यासक्ति पूर्वक प्रवृत्ति (तत्परता) के सम्बन्ध से सांसारिक भोगों की इच्छा करनेवाले को अन्य (बुभुक्षु) कहते है ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

मुमुक्षवोऽपि द्विविधा महर्षिभिः
प्रोक्ता अकामाः स्मृतिभक्तिनिष्ठाः ।

वेदोक्तवर्णाश्रमकर्मकारिण-
स्तूपासकादिप्रतिभेदभिन्नाः ॥ १२६॥

अन्वयप्र०—महर्षिभिः मुमुक्षवोऽपि द्विविधाः प्रोक्ताः (ज्ञानाद्यसाधनाश्चेतनान्तरसाधनाश्च तत्र ज्ञानाद्य-साधनानां लक्षणमाह—ज्ञानयोगकर्म्मयोगभक्तियोगानां भगव-त्प्राप्तिसाधनरूपत्वेन ग्रहणे) अकामाः (कामनारहिताः) स्मृतिभक्तिनिष्ठाः (तैलधारावन्निरवच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपायां भक्तौ निष्ठावन्तः सन्तः) वेदोक्तवर्णाश्रमकर्म्मकारिणः (भगवदाज्ञया लोकशिक्षार्थं वा श्रुतिस्मृतिविहितवर्णाश्रमकर्म्म-कारिणः ज्ञानाद्यसाधनाः प्रोक्ताः इति। अत्राऽपि) उपासकादिप्रति-भेदभिन्नाः (उपासकाः शुद्धभक्ताश्चेति द्वैविध्यमुक्तम्) ॥१२६॥

तत्र मुमुक्षूणामपि द्वैविध्यमाह-मुमुक्षव इति।महर्षिभिर्मुमुक्षवो द्विविधा प्रोक्ताः तत्रैके अकामाः ज्ञानाद्यसाधनाः कीदृशाः स्मृतिभक्तिनिष्ठाः फलाभि-सङ्गरहितकर्तृत्वत्यागपूर्वकानुष्ठितवर्णाश्रमोचितविहितकर्मयोगसमुचित तैल-धारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपसाक्षात्कारपर्यन्तभक्ति निष्ठावन्त इत्यर्थः ।

तदुक्तम्—

"ज्ञानाद्यसाधनाश्चैव चेतनान्तरसाधनाः ।
मुमुक्षवो द्विविधाः प्रोक्ताः पूर्वतनमहर्षिभिः" इति ॥

ते च उपासकादिप्रतिभेदेन भिन्ना आदिना शुद्धभक्तादीनां संग्रहः अत एवोक्तं—

"पूर्वे द्विधोपासकाश्च शुद्धभक्तास्तथा स्मृताः" इति ।

तत्रोपासकास्तु तदवान्तरविहितध्यानपूजनपुरश्चरणादिनिष्ठा. तेष्वेव देहारम्भककर्मनिवर्त्तकसाधनाः आत्मानुभवप्रतिबन्धनिवर्तकसाधना इति द्विधा कैवल्यविरोधिमुमुक्षवोऽन्तर्भाव्याः शुद्धभक्तास्तु भगवच्छ्रवणकीर्तन-वन्दनमात्रनिष्ठाः तेषु भगवत्स्वरूपगुणादिसाक्षात्कारानन्दप्रतिबन्धकान्मो-क्तुमिच्छवो भगवदनुभवविरोधिमुमुक्षवोऽन्तर्भाव्याः ॥ १२९ ॥

भाषा—महर्षियों ने, मुमुक्षु दो प्रकार का कहा है, एक

'ज्ञानाद्यसाधन' दूसरा 'चेतनान्तर साधन' इन दोनों में पहिले का लक्षण दिखलाते है—भगवत्प्राप्ति के साधन मानकर ज्ञानयोग कर्म्मयोग भक्ति योग के ग्रहण में कामनारहित केवल भगवान की आज्ञा मान कर अथवा लोक रक्षा के लिये श्रुति स्मृति विहित वर्णाश्रम धर्म के अनुष्ठान करते हुए केवल तेल की धारावत् विच्छेद रहित स्मृति (भगवान के नाम रूप लीला धाम के चिन्तन) रूप भक्ति में निष्ठावाले को 'ज्ञानाद्यसाधन' कहा है। इनमें भी 'उपासक' और 'शुद्ध भक्त' इस प्रकार दो भेद कहा है ॥ १२९ ॥

स्वकर्मसंज्ञादिप्रधानसाधनं
तथोररीकृत्य सुविज्ञ ! कञ्चन ।
सम्प्राप्य सम्बन्धविशेषमुत्तमं
सदा भवन्त्येव च मोक्षनिश्चयाः ॥१३०॥

अन्वयप्र०—चेतनान्तरसाधनान् लक्षयति श्रीमद्ग्रन्थकारः स्वकर्मेत्यादिना हेसुविज्ञ ! (सुरसुरानन्द !) स्वकर्मसंज्ञादिप्रधानसाधनम् (स्वकर्म्म, वर्णाश्रमविहितकर्म्म, संज्ञा, सम्यग ज्ञानम्, आदिनोपासनं ग्राह्यम् एतानि कर्म्मज्ञानोपसनानि भगवत्प्राप्तेः प्रधानसाधनम्) उररीकृत्य (गुरुशास्त्रतः स्वीकृत्य) तथा (पूर्वोक्तरित्यैव) उत्तमम (नवविधसम्बन्धेषु श्रेष्ठम्) कञ्चन सम्बन्धविशेषं च सम्प्राप्य सदा मोक्ष निश्चया भवन्त्येव (कैवल्यरूपो मोक्षो मे भविष्यत्येवेति निश्चयवन्तो भवन्ति) ॥ १३० ॥

अथ चेतनान्तरसाधनास्तु स्वानुष्ठितकर्मज्ञानादीनां प्रधानसाधनमङ्गीकृत्य कंचन संबन्धविशेषं लब्ध्वा निश्चयवन्तः ते च प्रपन्ना पुरुषकारनिष्ठा इति द्विधेति आह–स्वकर्मेति । स्वकर्मस्वानुष्ठितकर्म संज्ञासम्यग्ज्ञानादीनां प्रधान-साधनम् उररीकृत्य अङ्गीकृत्य हे सुविज्ञ ! उत्तमं कंचन सबन्धविशेषं संप्राप्य लब्ध्वा सदा मोक्षनिश्चया भवन्तीत्यन्वयः ॥ १३० ॥

भाषा—श्री मद्ग्रन्थकार 'चेतनान्तर साधन' का लक्षण दिखलाते हैं हे विज्ञ! सुरसुरानन्द! चेतनान्तरसाधन मुमुक्षुगण, कर्मयोग ज्ञानयोग भक्तियोग को ही भगवत्प्राप्ति के प्रधान साधन स्वीकार कर और नव विध सम्बन्धों में कोई एक उत्तम सम्बन्ध को गुरु से प्राप्त कर अपने को सदा कैवल्य रूप मोक्ष के अधिकारी मानते है—याने मुझे अवश्यमेव कैवल्य रूप मोक्ष होगा ऐसे निश्चय वाले होते है ॥ १३० ॥

विहाय चान्यत्परमं दयालुं
प्राप्यं समर्थं निरपायमीश्वरम् ।
उपायमेतेऽध्यवसाय सुस्थिता
ज्ञेयाः प्रपन्नाः सततं हरिप्रियाः ॥१३१॥

अन्वयप्र०—च (येच) एते अन्यत् (अव्यवहितपूर्वोक्त-श्लोकपदार्थजातम) विहाय (त्यक्त्वा) प्राप्यं (प्राप्तुं योग्यं) समर्थं (अनन्तदिव्यकल्याणगुणवन्तं) परमं (परलक्ष्मीनायकं) दयालुम् (परदुःखापनोदनकामम्) ईश्वरम् (अखिलब्रह्माण्ड-नियमनकर्त्तारं श्रीरामम्) निरपायं (नाशरहितम्) उपायम् संसारसागरादुत्तारकम्) अध्यवसाय (निश्चित्य) सुस्थिताः (सुखेनोपविष्टाः) [ते] सततं (निरन्तरम्) हरिप्रिया (हरेः प्रियाः हरिः प्रियो येषां वा ते) प्रपन्ना. ज्ञेयाः (बोद्धव्याः)॥१३१॥

अथ प्रपन्नास्तु विहितोपायत्रय हित्वा परमचेतनं परमसमर्थ परमदयालुं परमं प्राप्यमीश्वरं श्रीराममेव निरपायोपायमध्यवसाय स्थिता इत्याह-विहायेति । ये हि अन्यत् उपायान्तरं विहाय परमं दयालुं परमं समर्थंपरमं प्राप्यमीश्वरं श्रीराममेव निरपायमुपायमध्यवसाय विनिश्चित्य सुस्थितास्ते प्रपन्ना ज्ञेयास्ते च सततं हरिप्रियाः हरेः प्रिया हरिः प्रियो येषां ते इति वा ।१३१

भाषा—(हे सुरसुरानन्द !)जो अन्यों (कर्मज्ञान एवं भक्तियोग) छोड़कर, प्राप्ति करने योग्य, सर्व शक्तिमान, नाशरहित, परम दयालु

ईश्वर श्री रामजी को उपाय (संसारसागर से पार करनेवाले) निश्चयकर सुस्थित (शान्तचित्त) होते हैं, उन्हें निरन्तर श्रीभगवान् का प्रिय प्रपन्न जानना चाहिये ॥१३१॥

पौरुषैकसुनिष्ठास्तु हरिस्वातन्त्र्यमैक्ष्य च ।
कृपाप्रचुरमाचार्य्यं मत्वोपायमवस्थिताः ॥ १३२ ॥

अन्वयप्र०—ये पौरुषैकसुनिष्ठास्तु (पुरुषकारे पुरुषकर्तव्ये एका केवला निष्ठा तत्परता येषां ते तथोक्तास्तु) ते हरिस्वातन्त्र्यं (परमात्मनः श्रीरामस्य स्वतन्त्रताम्) वक्ष्य (अवलोक्य) आचार्य्यं कृपाप्रचुरं (दयाबाहुल्यम्) प्रेक्ष्य कृपाप्रचुरमाचार्य्यमेवोपायं मत्वा (बुद्ध्वा) अवस्थिताः (अर्थात्) मम पारलौकिकसमस्तक्रियासाध्यं भगवत्प्राप्तिरूप फलमाचार्य्य एव सेत्स्यतीति मत्वा आचार्य्यमात्रनिष्ठावन्तो भूत्वा निरुद्विग्नास्तिष्ठन्तीतिभावो वेदितव्यः ॥ १३२ ॥

पुरुषकारनिष्ठास्तु ईश्वरस्वातन्त्र्यमालोच्य किंचित्संकोचवन्तः कृपाप्रचुरमाचार्यमेवोपाय मत्वा स्थिता यथा क्षत्रबन्धुप्रभृतय इत्याह—पुरुषेति। हरेः श्रीरामस्य स्वातन्त्र्य स्वतन्त्रतामैक्ष्य आलोच्य कृपा प्रचुरा अधिका यस्मिस्तमाचार्यमेवोपायं मत्वा ये ऽवस्थितास्ते पुरुषकारैकनिष्ठा ज्ञेयाः ॥१३२ ॥

भाषा—पुरुष कार में निष्ठावाले मुमुक्षु, हरि की स्वतन्त्रता देख कर, परम कृपालु आचार्य्य को ही उपाय मान कर स्थिर हो जाते हैं ॥१३२॥

ते चाऽऽचार्य्यकृपामात्रप्रपन्ना द्विविधा मताः ।
तथा सेवातिरेकप्रपन्नाश्चेति सदा सताम् ॥१३३॥

अन्वयप्र०—ते च (पौरुषैकसुनिष्ठाश्च) सदा (सर्वदा) आचार्य्यकृपामात्रप्रपन्नास्तथा सतां (महात्मनाम्) सेवातिरेकप्रपन्नाश्चेति (भेदात्) द्विविधाः (द्विप्रकाराः) मताः (अभिमता व्यासादिमहर्षीणामितिशेषः ॥ ॥ १३३ ॥

ते चाचार्यकृपामात्रप्रपन्नास्तथा सतां महात्मनां सदा सेवातिरेक-प्रपन्नाश्चेति भेदात् मुमुक्षूणां द्विविधा मता इत्यर्थः ॥१३३॥

भा०—जो एक मात्र पुरुष कार में ही निष्ठ हैं उनका भी सर्वदा "आचार्य्य कृपामात्र प्रपन्न" और "सत्पुरुष सेवातिरेक प्रपन्न" इस तरह दो प्रकार का भेद व्यासादि महर्षियों को अभिमत है ॥१३३॥

प्रपन्नश्चाऽपि दृप्तः स तथा चाऽऽर्त्त इति द्विधा।
शरीरस्थितिपर्य्यन्तमाद्योऽत्रैव यथोचितम् ॥१३४॥
प्राप्तदुःखादिभुञ्जानः शरीरान्तेऽवसाय च।
महाबोधोऽतिविश्वासो मोक्षसिद्धिमवस्थितः ॥१३५॥

अन्वयप्र०—स प्रपन्नश्चापि (१३० तमे श्लोके उक्तश्चापि) "दृप्तः" तथाच "आर्त्तः" इति (भेदात्) द्विधा (द्विप्रकारकः) अत्रैव (अनयोरेव मध्ये) आद्यः (दृप्तः) शरीरस्थितिपर्यन्तम् (यावच्छरीरम्) यथोचितं प्राप्तदुःखादिभुञ्जानः (सन्) महाबोधः (परज्ञानवानेव) शरीरान्ते मोक्षसिद्धिमवसाय (निश्चित्य) अतिविश्वासः सन्नवस्थितः ॥ १३४॥१३५॥

स प्रपन्नो दृप्त आर्तश्चेति भेदाद्द्विधा द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां ज्ञेयः। तत्राद्यो दृप्तः प्रपन्नः शरीरस्थितिपर्यन्तं यावच्छरीरं यथोचितम् उचितमनतिक्रम्य प्राप्तं दुःखादि भुञ्जान इत्युत्तरश्लोकेनान्वयः ॥ १३४ ॥

शरीरान्ते शरीरनाशे मोक्षसिद्धिमवसाय विनिश्चित्य महान्बोधो ज्ञानं यस्य स अतिशयितो विश्वासो यस्य सोऽतिविश्वासः सन्नवस्थित इत्यर्थः१३५

भाषा—वे प्रपन्न भी दो प्रकार के होते हैं, 'दृप्त' और 'आर्त्त' इस में जो दृप्त हैं, वे परमज्ञानवान यावत्शरीर प्राप्त दुःखादियों का यथोचित भोग करते हुए शरीरान्त होने पर मोक्ष की सिद्धि में निश्चय पूर्वक अतिविश्वास करते हुए स्थित रहते हैं ॥ १३४-१३५ ॥

अथान्त्योऽसहमानस्तत्क्षणमेव तु संसृतिम्।

तथैव भगवत्प्राप्तौ सत्वरस्वान्त उच्यते ॥१३६॥

अन्वयप्र०—अथ (प्रपन्नस्य दृप्तार्त्तत्वेन भेदकथनान्तरम्) संसृतिं (संसारदुःखम्) असहमानस्तु तथैव तत्क्षणमेव भगवत्प्राप्तौ (भगवत्प्राप्तिनिमित्तम (सत्वरस्वान्तः) भगवत्प्राप्त्यर्थं शीघ्रायमाणान्तःकरणः (अन्त्यः आर्त्तः) उच्यते (व्यासादिभिर्गितशेषः) ॥ १३६ ॥

अथ दृप्तप्रपन्नवर्णनानन्तरम् संसृतिं तद्दुःखमसहमानः तत्क्षणमेव तथैव भगवत्प्राप्तौ सत्वरं त्वरया सहितं स्वान्तं यस्य स सत्वरस्वान्तोऽन्त्यो हि आर्तः प्रपन्न उच्यते "स्वान्तं हृन्मानसं मनः" इत्यमरः ॥ १३६ ॥

भाषा—तदनन्तर संसार बन्धन को एक क्षण भी सहन करने में असमर्थ और भगवत्प्राप्ति में अतिउतावल हृदय वाले प्रपन्न को महर्षियों ने आर्त्त कहा है ॥ १३६ ॥

श्रवणादिमात्रनिष्ठाः शुद्धा भक्ताः प्रकीर्त्तिताः ।
अन्तर्भाव्यास्तत्र तत्र तथानुक्ता मुमुक्षवः ॥१३७॥

अन्वयप्र०— (परब्रह्मणः श्रीरामस्य कीर्त्तनाम्) श्रवणादिमात्रनिष्ठाः (श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्" इत्येतेष्वेव निष्ठावन्तः) शुद्धभक्ताः प्रकीर्त्तिताः (कथिता) तत्र (पूर्वोक्तमुमुक्षुलक्षणे ये) मुमुक्षवः अनुक्ताः अकथिताः ते तत्र (पूर्वोक्तलक्षणे) तथा [पूर्वोक्तप्रकारेणैव] अन्तर्भाव्याः (अन्तर्गता वेदितव्याः) ॥१३६॥

भगवद्यशः श्रवणकीर्तनादिषु निष्ठा नितरां स्थितिर्येषां ते शुद्धभक्ताः प्रकीर्तिताः ये मुमुक्षवो मुमुक्षुभेदा अनुक्तास्तेपि तत्र तत्र आविन्तर्भाव्याः॥१३७॥

भाषा—व्यासादि महर्षियों ने परब्रह्म श्रीरामजी के यशों के श्रवण कीर्तन स्मरणादि मात्र में निष्ठा वाले को शुद्ध भक्त कहा है। पूर्वोक्त मुमुक्षुवों के लक्षणों में ग्रन्थान्तरोक्त मुमुक्षुवों के जिन अन्य

भेदों को नहीं कहा है, उसको भी पूर्वोक्त लक्षणों में ही अन्तर्भाव समझना चाहिये ॥ १३७ ॥

नित्यकादाचित्कभेदान्मुक्तद्वैविध्यमुच्यते ।
नित्याः कदाचित्तत्रापि सिद्धाः सुपुरुषा वराः ॥१३८॥
गर्भजन्मादिदुःखं येऽननुभूय स्थिताः सदा ।
सीतारामप्रियाः शश्वत् येऽनन्तगरुड़ादयः ॥१३९॥

अन्वयप्र०–नित्यकादाचित्कभेदात् [नित्या कादाचित्का इतिभेदात्] मुक्तद्वैविध्यमुच्यते) मुक्तानां द्विविधत्वं कथ्यते (तत्र) तेषु नित्यकादाचित्केषु) ये कदाचिदपि गर्भजन्मादिदुःखम् अननुभूय स्थिता ये जीवा कस्मिंश्चिदपि काले गर्भवासादिदुःखानुभवम कृत्वैव स्थितवन्तः) ते नित्याः (नित्यमुक्ताः) अतः सदा (सर्वदा) सिद्धाः (स्वस्वरूपेऽन्तर्य्यामित्वेन स्थितवन्त सीतानाथमनुभावितवन्तः)(अत एव) शश्वत् सीतारामप्रियाः (अतएव) सुपुरुषाः वराः (श्रेष्ठाः) अनन्ता गरुड़ादयो (वेदितव्या इति शेषः) ॥ १३८ ॥ १३९ ॥

अथ मुक्तानां भेदमाह-नित्येति। नित्याः कादाचित्काश्चेति भेदान्मुक्ताना द्विविधस्य भावो द्वैविध्यमुच्यते। तत्र तयोर्नित्यकादाचित्कयोर्मध्ये ये कदाचिदपि यदा गर्भजन्मादिदु खमननुभूय सिद्धाः साधनानपेक्षाः स्थितास्ते नित्याः शश्वत्सीतारामप्रियाः अत एव वराः श्रेष्ठाः सुपुरुषामुक्ता अन तगरुडादयः ज्ञेयाः आदिना विष्वक्सेनादीनां संग्रहः ॥ १३८ - ३९ ॥

भाषा-नित्य एवं कादाचित्क, इसतरह मुक्तजीव दो प्रकार के होते हैं। उन में जो कभी भी गर्भवासके दुःख का अनुभव नही किये है वे नित्य मुक्त कहे जाते है। अतः सर्वदा प्रकृति–बन्धन-विमुक्त–निज (जीव) स्वरूप में, अन्तर्य्यामी रूप से स्थित श्री सीतानाथ जी का अनुभव करते हैं। अतएव श्रीसीताराम जीके प्रिय, मुक्त जीवों में

भी श्रेष्ठ सुन्दर पुरुषाकार अनन्त गरुडादि को नित्य मुक्त समझना चाहिये ॥ १३८ ॥ १३९ ॥

परिच्छदाः परिजना नित्यमुक्ता अपि द्विधा ।
किरीटाद्या अनन्ताद्याः क्रमात्ते च प्रकीर्तिताः १४०

अन्वयप्र०—परिच्छदाः परिजनाः (इतिभेदात्) नित्यमुक्ता अपि द्विविधा ज्ञातव्याः क्रमात्(यथासंख्येन) ते च परिच्छदाः किरीटाद्याः करीटाद्याख्याःपुरुषाःपरिजनाः अनन्ताद्याः प्रकीर्त्तिता (कथिताः) ॥१९॥

परिच्छदाः परिजनाश्चेति नित्यमुक्ता अपि द्विधा बोध्याः ते च क्रमात् परिच्छदाः किरीटाद्याः । परिजनाअनन्ताद्याः प्रकीर्तिताः ॥ १४० ॥

परिच्छद और परिजन भेद से नित्य मुक्त भी दो प्रकार के हैं । किरीट आदि भूषणों को रखने और पहिराने वाले पुरुष को परिच्छद, और अनन्त [शेष] आदि को परिजन कहते है ॥ १३९ ॥

भागवताः केवलाश्च कादाचित्का अपि द्विधा ।
तत्र भागवता बोध्या ये तु ते भगवत्पराः ॥१४१॥

अन्वयप्र०—भागवताः केवलाश्चेति भेदात् कादाचित्का अपि द्विधा (द्विविधा ज्ञातव्याः) तत्र (तेषु कादाचित्केषु) ये तु भगवत्पराः श्रीसीतानाथैकनिष्ठावन्तः ते भागवता बोध्याः (वेदितव्या भवद्भिरितिशेषः) ॥ १४१ ॥

कादाचित्का अपि मुक्ता भागवता केवलाश्चेति भेदात् द्विधा । तत्र तयोर्मध्ये ये तु भगवत्परा श्रीरामैकनिष्ठास्ते भागवता बोध्या ॥ १४१॥

भाषा—भागवत और केवल इस तरह 'कादाचित्क मुक्त' भी दो प्रकार के हैं उस में श्रीसीतानाथ की सेवा पूजा करनेवालों को भागवत समझना चाहिये ॥ १४१ ॥

भगवद्भोग्यभून्यादिसाक्षात्कारसुखाश्रयाः ।
श्रीराममानसा नित्यं तदनुध्यानतत्पराः ॥१४२॥

केचिद्गुणानुसन्धान-पराः कैङ्कर्य्यतत्पराः।
इत्थं महर्षिभिः प्रोक्ता द्विविधा भगवत्पराः॥ १४३ ॥

अन्वयप्र०—(हे सुरसुरानन्द!) केचिद् (भागवताः) भगवद्भोग्यभूत्यादिसाक्षात्कारसुखाश्रया (अखिलब्रह्माण्डनायकस्य भगवतः श्रीरामस्य भोग्यानां विभूत्यादीनां साक्षात्कारेणोत्पन्नानां सुखानामाश्रयाः) श्रीराममानसाः (सीतारामन्यस्तचित्ताः सन्तः) नित्यं तदनुध्यानतत्पराः (सर्वदा श्रीरामध्यानतत्परा भवन्ति) [केचिद्भागवताः) गुणाऽनुसन्धानपराः सर्वदा श्रीरामध्यानतत्पराः सन्तः कैङ्कर्य्यतत्पराः (भवन्ति) इत्थं (पूर्वोक्तप्रकारेण) महर्षिभिर्भगवत्परा द्विविधाः प्रोक्ताः ॥ १४२ ॥ १४३ ॥

भागवतानामपि द्वैविध्यमाह- भगवदिति। भगवता श्रीरामेण भोग्या ये भूत्यादय ऐश्वर्यादय."विभूतिर्भूतिरैश्वर्य्यम्" इत्यमरः। विविधसंपत्तयस्तासां साक्षात्कारेण यानि सुखानि तेषामाश्रया। श्रीरामे मानसं चित्तं येषां ते। नित्यमेतस्य श्रीरामस्याऽनुध्यानेऽनुक्षणं ध्याने तत्पराः श्रद्धावन्तः॥१४२॥

केचित्तु तद्गुणानुसन्धानपराः सन्तस्तत्कैङ्कर्य्यपरायणाः। इतीत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण भगवत्परा भागवता द्विविधा महर्षिभिः प्रोक्ता ॥ १४३ ॥

भाषा—हे सुरसुरानन्द! भगवत्परायण भागवतों में कोई अखिलब्रह्माण्डनायक श्रीरामजी के भोग्यभूत समस्त विभूतियों के साक्षात्कार से उत्पन्न सुखों से सुखी होते हुए श्रीसीताराम जी में दत्तचित्त और सर्वदा उनके ध्यान में और कोई परब्रह्म श्री रामजी के गुणो के अनुसन्धान एवं कायिक वाचिक मानसिक सेवा में तत्पर रहते है; इस तरह महर्षियोंने भगवत्परायण भक्तों के दो प्रकार कहा है ॥१४२ ॥१४३॥

द्विविधाः केवला बोध्या दुःखभावैकतत्पराः।
आत्मानुभूतिपरमा इति चोक्ता महर्षिभिः ॥१४४॥

अन्वयप्र०—(हे सुरसुरानन्द!) दुःखभावैकतत्पराः (सुखेष्वपि दुःखभावनायां तत्पराः) आत्मानुभूतिपरमा (स्वात्मानुभूतौ परायणाः)

इति भेदात् महर्षिभिःकेवला द्विविधाः प्रोक्ताः च (तथाच त्वयापि) बोध्याः (ज्ञातव्याः) ॥ १४४ ॥

केवलानामपि द्वैविध्यमाह-द्विविधा इति।महर्षिभिःदुःखभावैकतत्परा दुःख भावनैकतत्परा आत्मानुभूतिपरमाः परमात्मानुभवपरायणाश्चेति भेदेनोक्ताः केवला अपि द्विविधा बोध्या इत्यन्वयः ॥ १४४ ॥

भाष-(हे सुरसुरानन्द !) महर्षियों ने 'केवल' को भी दो प्रकार के कहा है;एक, वह जो सुखों में भी दुःख को भावना ही करने वाले अर्थात जो प्रायः आत्मा से भिन्न सभी पदार्थों को दुःखमय समझने की भावना में लगा रहता है और कभी कभी आत्मानुभूति भी करता है; और दूसरा वह जो सदा आत्मानुभूति में ही तल्लीन रहता है ॥ १४४ ॥

समुच्यते सम्प्रति चारु लक्षणं
महात्मनां सद्गुणवैष्णवानाम् ।
विरञ्चिशम्भुश्रितरामचन्द्र-
पदारविन्दस्थितभृङ्गचेतसाम् ॥ १४५ ॥

अन्वयप्र०-(हे सुरसुरानन्द !) सम्प्रति (अधुना) विरञ्चिशम्भुश्रितरामचन्द्रपदारविन्दस्थितभृङ्गचेतसाम् (चतुर्मुखब्रह्मशिवाभ्यां सेविते श्रीरामचन्द्रपादारविन्दे स्थितं चञ्चरीकचित्तं येषां तेषा) महात्मनाम् (भगवच्चरणाश्रितत्वात् पवित्रमनसाम्) सद्गुणवैष्णवानां(समीचीनगुणानाम्) वैष्णवानाम् चारु (शोभनम्) लक्षणं समुच्यते (कथ्यते मया त्वं शृणु इति शेषः) ॥१४५॥

एव सप्रपञ्चं वैष्णवभेदमुक्त्वाऽधुना तेषां लक्षणं वक्तुं प्रतिजानीते-समुच्यत इति। सम्प्रतीदानीम्"एतर्हि संप्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा"इत्यमरः। महात्मनां विरञ्चिशम्भुभ्यां श्रिते सेविते रामचन्द्रपदारविन्दे स्थितं भृङ्ग इव चेतो भृङ्गचेतो येषां ते तेषां सद्गुणानां वैष्णवानां चारु रमणीयं लक्षणं समुच्यते वर्ण्यत इत्यर्थः ॥ १४५ ॥

भाषा—(हे सुरसुरानन्द !) अब मैं, ब्रह्मा एवं शिवजी से सेवित श्रीरामचन्द्र जी के चरणारविन्द में चंचरीक—चित्तवाले, समीचीन गुण—विशिष्ट, महात्मा वैष्णवों का सुन्दर लक्षण कहता हूँ ॥१४५॥

धृतोर्ध्वपुण्ड्रस्तुलसीसमुद्भवां
दधच्च मालाममलो हि कण्ठतः।
तज्जन्मकर्म्माणि हरेरुदाहरे-
द्गृह्णंश्च नामानि शुभप्रदानि ॥१४६॥

अन्वय प्र०—धृतोर्ध्वपुण्ड्रः (ललाटादिद्वादशाङ्गेषु वेदाद्युपदिष्टोर्ध्वपुण्ड्रं कृतवान्) तुलसीसमुद्भवां * मालां कण्ठतः (कण्ठे कण्ठेन वा) दधत् (धारयन्) शुभप्रदानि हरेर्नामानि (रामकृष्ण इत्यादीनि) गृणन् (उच्चरन् अत एव) अमलः (मल रहितो जनः) तज्जन्मकर्माणि (भगवतोजन्मकर्मसम्बन्धिकथाम्) उदाहरेत् (गदेदिति विधिः । हि इति पादपूरणे) ॥ १४६ ॥

धृता द्वादशस्थानेषु ऊर्ध्वपुण्ड्रा येन सः। तुलसीसमुद्भवां तुलसीकाष्ठसमुत्पन्नां मालां दधत् कण्ठतः कण्ठेन कण्ठे वा गृह्णन्। अमलः शुचिः स उपासकः हरेर्भगवतो जन्मकर्माणि अवतारावतारकथा उदाहरेत्। किं कुर्वन् शुभप्रदानि मोक्षप्रदानि नामानि राम इत्यादीनि गृणन् समुच्चरन् ॥१४६॥

भाषा—ललाटादि द्वादश अङ्गों में ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक एवं कण्ठ में तुलसी की माला धारण करते हुए शुद्ध वैष्णव को कल्याणप्रद भगवान् के नामों का उच्चारण और वेदादि प्रसिद्ध उनके सभी अवतार की कथा वर्णन करना चाहिये ॥१४६॥

---

* मार्कण्डेये-अष्टोत्तरशतेनैव तुलसीकाष्ठसम्भवाम् । कण्ठादिनाभिपर्य्यन्तं धारयेद्वैष्णवोत्तमः ॥

रथाङ्गपाणेः शृणुयान्निरन्तरं
कथां च गायेत्सुयशोऽङ्कितां मुहुः।
रूपं तदीयं तु चराचरात्मकं
पश्यन् सतां सङ्गमुदारधीश्चरेत् ॥ १४७ ॥

अन्वयप्र०—रथाङ्गपाणेः(चक्रिणः) सुयशोऽङ्कितां (अनादि-कर्म्मविमुक्तये जीवनां सर्जन सृष्टानां भक्तानां रक्षणं दुष्टानां विनाशं च कुर्वतां भगवतः कीर्त्तिमश्रिताम्) कथां (श्रीरामायणादिरूपाम्) (वैष्णवः)निरन्तर(प्रतिदिनम्)शृणुयात् (सति सामर्थ्ये स्वयम्)मुहुः (वारम्वारम्) गायेच्च (इति साधारणनियमानुष्ठानेन वैष्णवस्य उदारधीत्वं सम्पद्यते तस्य स्वरूपं दर्शयति रूपमित्यादिना। उदार धीत्वं नाम उ—सर्वत्र भगवत्स्वरूपानुसन्धानेन दृष्णाति भगवत्स्व-रूपेतरसमस्तप्रपञ्च त्यजति यया सा उदारा धीर्यस्य सः) उदारधीः चराचरात्मकं (जड़चेतनात्मकम्) तदी (भगवदीयम्) रूपं (विग्रहम्) पश्यन् (अवलोकयन्) सतां (सज्जनानाम्) सङ्गं चरेत् (कुर्यात्) ॥ १४७ ॥

किंच रथाङ्गं चक्रं पाणौ यस्य स तस्य रथाङ्गपाणेः शोभनैर्यशोभिरङ्कितां कथां मुहुः पुन पुनः शृणुयात्। शक्तश्चेत्स्वयं गायेच्च। तदपि निरन्तरं काला-ऽव्यवधानेन न तु कदाचिदिति भावः। चराचरे आत्मा यस्य तच्चराचरात्मकं तदीयं तस्य रथाङ्गपाणेरिदं रूपं पश्यन् सन् उदारधीः सतां सङ्गं च चरेत् ॥ १४७ ॥

भाषा—उदार बुद्धिवाले श्रीवैष्णव, श्रीचक्रपाणि भगवान् की सुयश युक्त कथाओं को निरन्तर सुने और गावे; तथा उनके जड़ चेतनात्मक रूप का दर्शन करते हुए सदा सज्जनों की संगति करे॥ १४७॥

चक्रादिपञ्चायुधचिह्निताङ्गः
समीक्ष्य हृष्टश्च हरिप्रियानसौ।

तथाविधान्भक्तिपरः समर्च्चेत्

सुवैष्णवान् जन्मफलादि संस्तुवन् ॥१४८॥

अन्वयप्र०—चक्रादिपञ्चायुधचिह्निताङ्गः भक्तिपरः (भगवद्भक्तिपरायणः अतएव) हृष्टः असौ (वैष्णवः) हरिप्रियान् सुवैष्णवान् समीक्ष्य (स्वस्य) जन्मफलादि संस्तुवन् तथाविधान् (पूर्वोक्तलक्षणलक्षितान् सुवैष्णवान्) समर्च्चेत् ॥ १४८ ॥

किञ्च चक्रादिभिः पञ्चभिरायुधैश्चिह्नितानि अङ्गानि यस्य सः। तथाविधान् उक्तलक्षणलक्षितान् हरिप्रियान् सुवैष्णवान् समीक्ष्य दृष्ट्वा समर्चेत् संपूजयेत्। किं कुर्वन् स्वजन्मफलभाग्यादिकं संस्तुवन् श्लाघमान इत्यर्थः॥ १४८॥

भाषा—चक्रादि पाँचों आयुधों से अङ्कित अंगवाले वैष्णव, भगवान की भक्ति में तत्पर, उनके भक्तों को देख कर प्रसन्न हो अपने जन्म ग्रहण के फल की प्रशंसा करते हुए उनकी सम्यक्-रीति से पूजा करें॥ १४८॥

पञ्चायुधाङ्काङ्कितवैष्णवा ये

सहद्विजक्षत्रियवैश्यशूद्राः।

स्त्रियस्तथाऽन्येऽपि च विष्णुरूपा

जगत्पवित्रप्रपवित्रिणः सदा ॥ १४९ ॥

ते सर्वतीर्थाश्रयभूतदेहा

देशे महाभागवता वसन्ति।

यत्रैव तद्दर्शनसंस्थितिभ्यां

जातं सुपुण्यं निखिलाघनाशनम् ॥१५०॥

अन्वयप्र०—ये द्विजक्षत्रियवैश्यशूद्राः सह (भक्त्या सह) पञ्चायुधाङ्काङ्कितवैष्णवाः (भवन्ति) तथा (पूर्वोक्तप्रकारेण)

स्त्रियः वैष्णव्यः (भवन्ति) अन्येऽपि च (अनुलोमप्रतिलोमजाःसंकर जातीयाः पञ्चायुधाङ्काङ्कितवैष्णवा भवन्ति) ते सर्वतीर्थाश्रयभूतदेहाः (अतएव) विष्णुरूपाः सदा जगत्पवित्रप्रपवित्रिणः [जगत्पावनी-गङ्गादिपावनशीलाः सन्तः] यत्र (यस्मिन् देशे) वसन्ति तद्दर्शन-सस्थितिभ्यां (तस्य देशस्य दर्शनेन निवासेन च) निखिलाघनाश-नम् (समस्तपापविघातकम्) सुपुण्य जातम् (उत्पन्नं भवतीति त्वया वेदितव्यमितिशेषः) ॥१४९॥१५०॥

एवं तल्लक्षणमुक्त्वा त महत्त्वमुद्बोधयति-ऽञ्चेति। पञ्चायुधाङ्कै-रङ्किता वैष्णवा ये द्विजक्षत्रियवैश्यशूद्रैःसहवर्त्तमाना स्त्रियः तथाऽन्ये संङ्करजातीयाश्च सदा सर्वदा विष्णुरूपा एव भवद्भिर्बोध्या इति शेषः। कीदृशास्ते जगत्पवित्रप्र वित्रिणः जगत् विश्वं पवित्र निष्पाप कुर्वन्ति पवित्रयन्ति। पवित्रयन्तीति पवित्राणि गङ्गादीनि तीर्थानि "पवित्रयते. पचाद्यच्"। त न्यपि प्रपवित्रयन्ति तच्छीला जगत्पवित्रप्रविञ्त्रिणः जग-त्पावनशीलगङ्गादितीर्थानामपि पावनशीला इत्यर्थः।

तदुक्तम्——

"भवद्विधा भागवता आत्मारामास्तदाश्रया. ।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तस्थेन गदाभृता" इति ॥
"न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः" ॥ इति च ॥१४९॥

अत एवाऽऽह-ते सर्वेति तेष्वाहस्ते ह्यघभिद्धरिरित्युक्तरीत्या सर्वतीर्थाना-माश्रयभूत आधारभूतो देहो येषां ते महाभागवता यत्र देशे वसन्ति तद्देश-दर्शनस्थितिभ्यां जातमुत्पन्नं शोभनं पुण्यं निखिलाऽघानां सर्व-विधपापानां नाशन विद्धीति शेषः ॥ १५० ॥

भाषा०-जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री या दूसरे लोग (वर्णसंङ्कर चाण्डालादि) इन पाँचों आयुधों से अङ्कित होते हैं; वे, समस्त तीर्थों के निवास-स्थान होने के कारण, संसार को सदा पवित्र करनेवाले गंगादि तीर्थों को भी पावन करने वाले और विष्णु स्वरूप ही हैं। ये महात्मा जिस देश में निवास करते हैं; उसके दर्शन एवं वहाँ निवास

करने से समस्त पापों के नाश करनेवाले पुण्यों की उत्पत्ति (प्राप्ति) होती है ॥ १४९॥१५० ॥

तदर्च्चनात्तत्पदनीरपाना-
त्तत्सङ्गतेस्तत्प्रणतेर्विधानात् ।
नृणां तदुच्छिष्टसुभोजनाच्च
स्यात्कोटिजन्मार्ज्जितपापनाशनम् ॥१५१॥

अन्वयप्र०—तदर्चनात् (१४६-१४७-१४८ एभिः श्लोकै-रुक्तानि यानि लक्षणानि तैः समन्वितानां वैष्णवानां पूजनात्) तत्पदनीरपानात् (पूर्वोक्तलक्षणलक्षितानां चरणोदकपानात्) तत्स-ङ्गतेः तत्प्रणतेर्विधानात् (पूर्वोक्तलक्षणयुतानां वैष्णवानां सङ्गस्य प्रणामस्य च करणात्) तदुच्छिष्टसुभोजनाच्च (पूर्वोक्तवैष्णवा नामुच्छिष्टस्याऽत्यादरेणाशनाच्च) नृणां कोटिजन्मार्ज्जितपाप-नाशनम् (भवति । इति ज्ञातव्यम्) ॥ १५१ ॥

तदर्चनात् तेषामुक्तलक्षणलक्षितानां भागवतानामर्चनात् तथा तत्पदनीरपानात् तत्पादतीर्थपानात् तत्संगतेः सत्सङ्गस्य विधानात् करणात् ।

अत एवोक्तम्—

"तुलयामलवेनाऽपि न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताऽऽशिषः" । इति

तथा तत्प्रणतेः प्रणामस्य विधानात् तेषां भागवतानामुच्छि-ष्टस्य सुभोजनात् भक्त्याऽत्यादरेण भोजनाद्धेतोः ।

अत एवोक्तं नारदेन व्यासं प्रति प्रथमस्कन्धे—

"ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके
दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि ।
चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः
शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि ॥

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः
सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः” । इति

नृणामर्चकादीनां कोटिभिर्जन्मभिरर्जितानां पापानां नाशनं स्यात्, पञ्चायुधाङ्केत्यादिभिर्यदुक्त तत्र प्रमाणान्यपि शृणु ।

“मद्रूपो वैष्णवो नाम तुलसीकाष्ठभूषणः ।
शङ्खचक्रगदापद्मैश्चिह्नितो यस्य विग्रहः ॥
ऊर्ध्वपुण्ड्रधरो भक्तस्तुलसीकर्णकण्ठयोः ।
पञ्चायुधाङ्कितो यो वै स एव मम वल्लभः ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव तथैव च ।
पञ्चाऽऽयुधाङ्किता देवि ! मद्रूपा नात्र संशयः ॥
दीक्षिताश्च चतुर्वर्णाः स्त्रियश्च श्वपचास्तथा ।
धारयन्त्यूर्ध्वपुण्ड्रं ये देवानामपि वन्दिताः ॥
तुलसीकाष्ठजा माला यस्य कण्ठे हि मण्डिता ।
चिह्नितः शङ्खचक्राभ्यां स मद्रूपो न संशयः ॥
एवं हि कथितं रूपं वैष्णवानां वरानने ! ।
बहूनि सन्ति रूपाणि किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥

पार्वत्युवाच—

वैष्णवानां दर्शने देव । कीदृशं फलमुच्यते ।
पुष्कराद्यानि तीर्थानि तेषु वा कतमोऽधिकः ॥

श्रीभगवानुवाच—

तिस्रः कोट्योऽर्द्धकोटी च सन्ति तीर्थानि सर्वतः ।
दर्शनाद्वैष्णवानां च न तुल्यं हि वरानने ! ॥

पार्वत्युवाच—

काष्ठपाषाणधातूनां तवांशानां हि केशव! ।
एतेषां दर्शनं देव ! साधूनामपि कीदृशम् ॥

श्रीभगवानुवाच—

वैष्णवा हि ममांशाश्च लोके नाऽन्यस्य वै क्वचित् ।
गायन्ति मम कर्माणि विचरन्ति मदात्मकाः ॥

पार्वत्युवाच—

यानि चाऽन्यानि धर्माणि पुराणानीह केशव ! ।
स्पर्शने वैष्णवानां च धर्माणामपि किं फलम् ॥

श्रीभगवानुवाच।

नारायणायुधैश्चिह्नं कुर्वन्ति बाहुमूलयोः।
तेषां संस्पर्शनाद्देवि! हन्ति पापं पुराकृतम्॥
यदा यदा विचरन्ति लोकपावनवैष्णवाः।
तदा तदा तीर्थभूताः पवित्रीकृतनामकाः॥
निष्कामश्चैव मद्भक्तः सकामो लोक उच्यते।
सकामान्पद्भ्यां यच्छामि निष्कामान्मूर्ध्नि चराम्यहम्॥
महाभागवता यत्र वसन्ति विमलाशयाः।
तद्देशो मङ्गलं प्रोक्तं यथा विष्णुपदं शुभम्॥
निमिषं निमिषार्द्धं वा यत्र तिष्ठन्ति वैष्णवाः।
तदेव परमं स्थानं तत्तीर्थं तत्तपोवनम्॥
वैष्णवः परमो धर्मो वैष्णवः परमं तपः।
वैष्णवः परमाराध्यो वैष्णवः परमा गतिः॥
वैष्णवा विष्णुवत् पूज्या मम मान्या विशेषतः।
तेषां कृतेऽवमाने तु विनाशो जायते ध्रुवम्॥
नातः परतरं तीर्थं वैष्णवाङ्घ्रिजलाच्छुभात्।
तेषां पदोदकं नित्यं गङ्गामपि पुनाति हि।
रामभक्तानुशेषं तु यो हि भुङ्क्ते दिने दिने।
सिक्थे सिक्थे भवेत्पुण्यं चान्द्रायणशताधिकम्॥
कोटिजन्मार्जितं पापं ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा।
सद्यः प्रणश्यते नृणां वैष्णवोच्छिष्टभोजनात्॥
अर्चावतारोपादानं वैष्णवोत्पत्तिचिन्तनम्।
मातृयोनिपरीक्षायास्तुल्यमाहुर्मनीषिणः"॥इति॥१५१॥

भाषा—इन उपरोक्त लक्षण युक्त वैष्णवों के दण्डवत, पूजन, चरणोदकपान, आदरयुक्त उच्छिष्ट भोजन एवं संग से मुनष्य के कोटि जन्मों के पाप नष्ट हो जाते है॥ १५१॥

कार्पासकैः सप्तभिरङ्कुतैर्गुणैः
सुनिर्मितं तत्कटिसूत्रमुत्तमम्।

कौपीनकं वस्त्रयुगं च धारये-
त्तथोर्ध्वपुण्ड्रादिकमेव वैष्णवः॥ १५२ ॥

अन्वयप्र०—कार्पासकैः (कर्पासोद्भवैः) अद्रुतैः [स्थूल-कृशत्वादिरहितैः अर्थात्सर्वत्र समानाकारैः) सप्तभिर्गुणैः (सप्त सङ्ख्याकसूत्रैः) [यत्] सुनिर्मितम् (सुरचितम्) तदुत्तमम् सर्वश्रेष्ठ कटिसूत्रम्, कौपीनकम् वस्त्रयुगं (युगल वस्त्रं सोत्तरीयं धौतवस्त्रम्) च वैष्णवः (सर्वत्रव्यापकपरब्रह्मश्रीरामभक्ति सम्पादकः) धारयेत । तथा (यथा श्रीरामभक्तिसम्पादनकामनया कटिसूत्रादिकं धृतं तथैव) ऊर्ध्वपुण्ड्रादिकमेव (ऊर्ध्वपुण्ड्रादिकं च धारयेत्) ॥ १५२ ॥

एवं तत्स्वरूपादिकमुक्त्वा सम्प्रति तत्कर्तव्याचरणमप्याह-कार्पासेति । वैष्णवः कर्पासेन निर्वृत्तानि कार्पासकानि तैः सप्तभिः सप्तसंख्याकैः गुणैः सूत्रैः सुनिर्मितं रचितमुत्तमं कटिसूत्रं कौपीनं च वस्त्रयुगमूर्ध्ववस्त्रमधोवस्त्रमिति वस्त्रद्वयं च तथैव ऊर्ध्वपुण्ड्रादिकं धारयेदित्यन्वयः ॥

तथा चोक्तं भरद्वाजसंहितायाम्—

"कौपीनं कटिसूत्रं वस्त्रयुग्मं च धारयेत् ।
न कन्था जीर्णवासो वा केशवस्त्रं न धारयेत् ॥
तामसं वस्त्रमेकं तु राजसं वसनद्वयम् ।
कौपीनसहितं यत्तु सात्विकं मुनिभिः स्मृतम् ॥
कौपीनं कटिसूत्रं च वस्त्रयुग्मं तु धारयेत् ।
धारयेदूर्ध्वपुण्ड्रांस्तु सच्छिद्रानेव दैशिकः ॥
पञ्चभिः सप्तभिर्वापि गुणैः कार्पासनिर्मितैः ।
इदं नव्यमिति प्रोक्तं कटिसूत्रस्य लक्षणम्" इति ॥१५२॥

भाषा—परब्रह्म श्री रामजी में परम प्रेम सम्पादन करने वाले वैष्णव, कपास (रुई) के सर्वत्र-समान (एकाकार) कते हुए सात-सूतों से अच्छी तरह बने उत्तम कटिसूत्र (आड़बन), कौपीन (लंगोटी), और

साफी के सहित धोती (अँचला) तथा उसी प्रकार ऊर्ध्वपुण्ड्रादिक को भी धारण करें ॥ १५२ ॥

तेषां निवासोऽथ निरूप्यतेऽधुना
मोक्षप्रदःशास्त्रसुसम्मतोऽयम् ।
महामते! वैष्णवभेदमुक्त्वा
जिज्ञासुबोध्यं बहुधा विबुध्यताम् ॥ १५३ ॥

अन्वयप्र०—हे महामते ! (विशुद्धप्रज्ञ !) बहुधा जिज्ञासुबोध्यम् (परब्रह्मज्ञातुमिच्छद्भिरनेकप्रकारेण ज्ञातव्यम्) वैष्णवभेदम् ("अथोच्यते वैष्णवभेद ईप्सित १२४इत्यारभ्य "तथा युक्ता मुमुक्षवः" १३७ इत्यन्तेन ग्रन्थसन्दर्भेण वैष्णवानां पार्थक्यम्) उक्त्वा (कथयित्वा) अथाधुना (सम्प्रति) शास्त्रसुसम्मतो मोक्षप्रदोऽयं तेषां (वैष्णवानाम्) निवासः (निवासस्थानम्) निरूप्यते (मया श्रीरामानन्देन कथ्यते) [त्वया सुरसुरानन्देन] विबुध्यताम् (विज्ञायताम्) ॥ १५३ ॥

तेषां कुत्र कार्य्यो निवास इति प्रश्नस्योत्तरमाह-तेषामिति । हे महामते ! सुरसुरानन्द ! जिज्ञासूनां बोध्यं ज्ञातव्यं बहुधाऽनेकप्रकारेण सलक्षणं वैष्णवभेदमुक्त्वा अथानन्तरं तद्भेदादिकथनानन्तरम् अधुना इदानीं मोक्षप्रदो मोक्षदायकः शास्त्राणां सुसंमतोऽयं तेषां वैष्णवानां निवासो निवासस्थानं निरूप्यते वर्ण्यत इति भवता विबुध्यतां विशेषेण ज्ञायतामित्यर्थः ॥ १५३ ॥

(निवास-स्थान-निरूपण)

भाषा—हे महामते ! (सुरसुरानन्द !) जिज्ञासुओं के जानने योग्य वैष्णव-भेदों के कथनानन्तर अब मैं, शास्त्र-सम्मत, एवं मोक्षप्रद वैष्णवों के निवास-स्थान का निरूपण करता हूँ, उसे अच्छी तरह समझो ॥ १५३ ॥

अशेषतीर्थेषु वसेत्समर्चयन्
स तत्र तत्राविरभूदनुत्तमम् ।
तथा तथा तं जगतामनन्यधीः
पतिं चतुर्वर्गफलप्रदं हरिम् ॥ १५४ ॥

अन्वयप्र०-सः (श्रुतिस्मृतिसुप्रसिद्धो हरिः, यत्र यत्र यथा यथा) आविरभूत् । तत्र तत्र (तेषु तेषु) अशेषतीर्थेषु (समस्ततीर्थेषु) तम् (आविर्भूतम्) जगतां पतिम् (समस्तलीलाविभूत्यादीनां पालकम्) चतुर्वर्गफलप्रदम् (अर्थधर्मकाममोक्षदम्) अनुत्तमम् (सर्वोत्तमम्) हरिम् (सेवकदुःखापहारकं भगवन्तम् तथा तथा) समर्चयन् (सम्यक् यथाशास्त्रं पूजयन्) अनन्यधीः (स्वेष्टदेवमात्रनिष्ठः) वसेत् (तेषु तेषु तीर्थेषु निवासं कुर्यात्) ॥१५४॥

न अन्यस्मिन् देवान्तरे मन्त्रान्तरे च धीर्यस्य सोऽनन्यधीर्वैष्णवः जगतां पतिं चतुर्वर्गधर्मार्थकाममोक्षरूपफलस्य प्रदातारम् यथा यथा तत्र तत्राऽयोध्यादिषु आविरभूत्तमनुत्तमं रामादिरूपं तथा तथा समर्चयन् सन् तत्र तत्रायोध्यादिषु अशेषतीर्थेषु सकलतीर्थेषु वसेत् निवासं कुर्यादित्यर्थः ॥१५४॥

भाषा०—अपने इष्ट मात्र में निष्ठा रखने वाले वैष्णवगण, संसार के पालक, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष के दाता श्रीहरि जिन जिन श्रेष्ठ स्थानों में आविर्भूत हुए हैं। उन उन समस्त तीर्थों में उनकी सम्यक्-रीति से अर्चना करते हुए वहाँ निवास करें ॥ १५४ ॥

वैकुण्ठदेशे खलु वासुदेव-
मामोदसंज्ञे त्वथ कर्षणाह्वम् ।
प्रद्युम्नमब्जाक्षमपि प्रमोदे
सम्मोद ईशन्तु तथाऽनिरुद्धम् ॥ १५५ ॥

तान्येव तत्तन्नामत आह-वैकुण्ठेति। वैकुण्ठदेशे वैकुण्ठे खलु निश्चयेन सकलार्थदायिन धर्मार्थकाममोक्षदानशीलं वासुदेवमाराधयद्भिः शुभार्थिभिर्मोक्षाकांक्षिभिर्वैष्णवोत्तमैर्नितरां सर्वदा निवासः कार्य्य इति त्रयोदशेन श्लोकेनान्वयः। एव प्रतिश्लोकमेतस्य संबन्धः। आमोदसञ्ज्ञे तु तीर्थविशेषे कर्षणाह्व सकर्षणनामानम्। प्रमोदे अब्जाक्षं कमलतुल्यनेत्रं प्रद्युम्नम्। तथा ईशमनिरुद्धं सम्मोदे॥१५५॥

शुभसत्यलोके वरेण्यं सर्वदेवश्रेष्ठं विष्णुम। अथ सूर्य्यमण्डले तु पद्माक्षम्। क्षीराब्धिमध्ये क्षीरसमुद्रमध्ये तु शोभते इति शुभं शोभमानं शेषशायिनम्। द्वीपवरे द्वीपश्रेष्ठे श्वेते श्वेतद्वीपे तारकं तारकनामानम्॥१५६॥

(उपर्युक्त कथित वैष्णवों के निवास योग्य स्थानों की क्रमशः इन तेरहों श्लोकों में सूची दी गयी है। इसमें वहाँ के भगवान के नाम के साथ स्थान का भी नाम दिया गया है)

१ 'वैकुण्ठ' तीर्थ में श्री वासुदेव जी, २ 'आमोद' में श्री संकर्षण जी, ३ 'प्रमोद' में श्री प्रद्युम्न जी, ४ 'सम्मोद' में श्री अनिरुद्धजी ॥१५५॥

५ 'सत्य-लोक' में श्री विष्णुजी ६ 'सूर्य्यमण्डल' में श्री पद्माक्षजी, ७ 'क्षीरसागर' में श्री शेषशायी जी, ८ 'श्वेतद्वीप' में श्री तारक जी ॥१५६॥

तथा बदर्य्याभिध आश्रमे वरे
सुरर्षिराजर्षिमहर्षिसेविते।
नारायणं तं निखिलाऽभिवन्द्यं
मुनीशसेव्ये त्वथ नैमिषे हरिम्॥ १५७॥
शालग्राममगोघदिव्यफलदं देवं हरिक्षेत्रतो-
ऽयोध्यायां रघुपुङ्गवं गुणनिधिं श्रीरामचन्द्रं प्रभुम्।
सत्स्थाने मथुराभिधाश्रमवरे श्रीबालकृष्णं परं
मायायां मधुसूदनं सुरनरध्येयाङ्घ्रिपद्मं सदा॥१५८॥

अन्वयप्र०—तथा बदर्य्याभिधे वरे आश्रमे (पूर्वोक्त-

रीत्यैव बदरीनामकाश्रमे श्रेष्ठे) निखिलाऽभिवन्द्यं नारायणम् (समस्तदेवदानवाद्यभिवन्दनीयं नारायणनामकं भगवन्तम्) अथ मुनीशसेव्ये नैमिषे तु (एवं मुनिवरैः सेवनीये नैमिषारण्ये) हरिम् (हरिनामानं भगवन्तम्) ॥ १५७ ॥

अन्वयप्र०—हरिक्षेत्रतः [हरिक्षेत्रनामकतीर्थे] अमोघदिव्यफलदं शालग्रामदेवम् [अनन्तदिव्यफलदातारं शालग्रामनामानं भगवन्तम्] अयोध्यायाम् [अयोध्यानाम्नि तीर्थे] रघुपुङ्गवं गुणनिधिं प्रभुं श्रीरामचन्द्रम् [समस्तजीवानां नाथं वात्सल्यादिगुणसागरं दिव्यादिव्योभयविभूतिनायकम् सीतासमेतं रामचन्द्राख्यं परं ब्रह्म] सत्स्थाने मथुराभिधाश्रमवरे [मथुरानामकशुभस्थाने] श्रीबालकृष्णं परं [श्रिया रुक्मिण्या सहितं बालकृष्णनामकं परमात्मानम्] मायायाम् [मायाख्यतीर्थे] सदा सुरनरध्येयाङ्घ्रिपद्मं मधुसूदनम् [सर्वदा देवैर्मनुष्यैश्च ध्यानार्हचरणकमलम्] ॥१५८॥

सुरर्षिराजर्षिमहर्षिभिः सेविते वरे श्रेष्ठे बदर्याभिधे बदरीति आसमन्तादभिधा नाम यस्य तस्मिन् बदरीसंज्ञके आश्रमे निखिलानां देवादीनामभिवन्द्यं वन्दनीयम् तन्नारायणम्। अथ मुनीशैः सेव्ये सेवनीये नैमिषे नैमिषारण्ये हरिम् ॥ १५७ ॥

हरिक्षेत्रतः हरिक्षेत्रे 'सार्वविभक्तिकस्तसिः' अमोघदिव्यफलदं मोक्षप्रदं देवं शालग्रामम्। अयोध्यायां तु रघुपुङ्गव रघुश्रेष्ठं गुणानां वात्सल्यादीनां निधिमाधारभूतं प्रभुं श्रीरामचन्द्र श्रिया सीतया सहितं रामचंद्रम्। मथुराभिधाश्रमवरे सतां स्थाने स्थितियोग्ये मथुरायाम् परं परमात्मानं श्रीबालकृष्णम्। मायायां हरिद्वारे सुरनरैर्ध्येये अङ्घ्रिपदे यस्य स तम् मधुसूदनं मधुसूदननामानम् ॥१५८॥

९ 'बद्रीआश्रम' में श्री नारायण जी, जो श्रेष्ठ सुरर्षि, राजर्षि और महर्षियों से सेवित हैं, १० 'नैमिषारण्य' में अखिल वन्दनीय मुनीशों से सेव्य श्री हरि, ॥१५७॥

११ 'हरिक्षेत्र' में अमोघ दिव्य फल के दाता श्रीशालग्राम जी

१२ 'अयोध्या' में गुण के सागर रघुवर श्रीरामचन्द्रजी प्रभु, श्रेष्ठ स्थान श्री १३ 'मथुरा' में श्री बालकृष्ण जी, १४ 'माया' में श्रीमधुसूदन जी, जिनके चरणकमल का सदा सुर नर ध्यान करते है ॥१५८॥

काश्यां भोगिशयं सनातनमथावन्त्यामवन्तीपतिं
श्रीमद्द्वारवतीतिनाम्नि शुभदे श्रीयादवेन्द्रं मुदा।
रम्ये श्रीव्रजनामके सुरनुतं गोपीजनानां प्रियम्
ब्रह्मेशादिकिरीटसेवितपदाम्भोजं भुजङ्गाश्रयम् ॥१५६॥

वृन्दावने सुन्दरनन्दसूनुं
गोविन्दमेवं त्वथ कालियह्रदे।
गोवर्द्धने गोपसुवेषधारिणं
तथा भवघ्नेऽपि च पद्मलोचनम् ॥१६०॥

अन्वयप्र०—काश्या (काशीनामके तीर्थे) सनातनं भोगिशयम् (सदा विद्यमान भोगिशयनामानं भगवन्तम्) अथाऽवन्त्याम् [एवम् अवन्तीनामकतीर्थे) अवन्तीपतिम् (अवन्तीपतिनामानं भगवन्तम्) श्रीमद्द्वारावतीतिनाम्नि शुभदे (शोभासमन्विते द्वारका इति प्रसिद्धे कल्याणप्रदे तीर्थे) श्रीयादवेन्द्रम् (रुक्मिणीसहितं यादवेन्द्राख्यं भगवन्तम्] रम्ये व्रजनामके (रमणीये व्रजनामके तीर्थे) गोपीजनानां प्रियम् [गोपीजनप्रियनामानं भगवन्तम्] ब्रह्मेशादिकिरीटसेवितपदाम्भोजभुजङ्गाश्रयम् (विधिशिवादीनां शिरोभूषणैः सेवितचरणकमलं शेषाऽऽसनम्) ॥१५९॥

अन्वयप्र०—वृन्दावने सुन्दरनन्दसूनुम् (वृन्दावनाख्ये तीर्थे सुन्दरनन्दसूनुनामानं भगवन्तम्]अथ कालियह्रदे तु [एवमेव कालियह्रदाख्ये तीर्थे) गोविन्दमेव (गोविन्दाख्यं भगवन्तमेव) गोवर्द्धने गोपसुवेषधारिणम् (गोवर्द्धनाख्ये तीर्थे गोपसुवेष-

धारिनामानं भगवन्तम्) तथा भवघ्नेऽपि पद्मविलोचनम् [पूर्वोक्तप्रकारेणैव भवघ्नाख्येऽपि तीर्थे पद्ममविलोचननामानं भगवन्तम् अर्चयद्भिरुक्ततीर्थेषु निवासः कार्य्यः] ॥१६०॥

काश्यां वाराणस्यां सनातनं नित्यं भोगिशयं भोगिशयननामानम् अवन्त्यां पुर्याम् अवन्तीपति भगवन्तम् । शुभदे मोक्षप्रदे द्वारवतीति नाम्नि तीर्थे द्वारकायां यादवेन्द्रम् । रम्ये रमणीये व्रजनामके व्रजे गोपीजनानां-प्रियं गोपीजनप्रियम् । कीदृशं तं ब्रह्मेशादीनां चतुर्मुखशिवादीनाम् किरीटैः शिरोभूषणैः सेविते पदाम्भोजे चरणकमले यस्य स तम् । पुनः भुजङ्गः शेष आश्रय आधारः शयनं यस्य स तम् ॥ १५९ ॥

वृन्दावने सुन्दरश्चासौ नन्दसूनुश्च तम् । अथ कालियस्य सर्पविशेषस्य ह्रदे कुण्डे यमुना मध्यस्थे तु गोविन्दं गोविन्दसञ्ज्ञकं भगवंतम् । गोवर्धने गोवर्धनाख्यपर्वते गोपस्य सुवेषं धरति तच्छीलस्तं गोपवेषं भगवन्तम् । संसारनिवर्तकत्वात् भवघ्ने भवघ्नसञ्ज्ञके तीर्थविशेषे पद्मलोचनं पद्म-लोचनसंज्ञं भगवन्तम् ॥ १६० ॥

१५ 'काशी' में श्री भोगिशय जी, जो सनातन है; १६ 'अवन्तिका' में श्री अवन्तीपति, १७ श्री 'द्वारावती' में श्रीयादवेन्द्र, १८ सुन्दर श्री 'व्रज' में गोपीजन प्रिय, जिनके चरणकमल ब्रह्मा शिव आदि के किरीट से सेवित और जो शेष पर शयन किये हुए है ॥१५९॥

१९ 'बृन्दावन' में सुन्दर श्री नन्दलला जी, २० 'कालीह्रद' में श्री गोविन्दजी, २१ 'गोवर्द्धन' में श्री गोपवेषधारी जी, २२ 'भवघ्न' में श्री पद्मलोचन जी ॥ १६० ॥

शारिं तथा गोमत एव पर्वते,
तथा हरिद्वार ऋजुं जगत्पतिम् ।
तीर्थे प्रयागे वत माधवं च
तथा गयायां तु गदाधरं परम्॥१६१॥
गंगासागरसंगमेऽतिशुभदे विष्णुं तथा राघवं

शश्वद्भूरिगुणालयं मुनिवृते श्रीचित्रकूटे विभुम्।
नन्दिग्राम उदारकीर्त्तिनिकरे श्रीराक्षसघ्नं प्रभुं
रम्ये श्रीमति विश्वरूपिणमथो क्षेत्रे प्रभासेऽमले॥१६२॥

अन्वयप्र०—तथा गोमते पर्वते शारिम् (गोमताख्याद्रौ शारिनामानं भगवन्तम्) तथा हरिद्वार ऋजुं जगत्पतिम् [हरिद्वार इति प्रसिद्धे तीर्थे कोमलस्वभावं जगत्पतिनामानं भगवन्तम्] प्रयागे तीर्थे वत माधवं (प्रयागाख्ये तीर्थे निश्चयेन माधवनामानं भगवन्तम्) तथा गयायान्तु परं गदाधरम् (पूर्वोक्त रीत्या गयाख्ये तीर्थे गदाधरनामकं परमात्मानम्) ॥ १६१ ॥

अतिशुभदे गङ्गासागरसङ्गमे विष्णुम् [मुक्तिप्रदे गङ्गासागरयोः सङ्गमे विष्णुनामानं भगवन्तम्] मुनिवृते श्रीचित्रकूटे [रामरहस्यत्रयादिमननशीलमहर्षिवृन्दैराक्रान्ते श्रीचित्रकूटाख्ये तीर्थे) शश्वद्भूरिगुणालयं विभुं राघवम् (समस्तकारुण्यवात्सल्याद्यनेकदिव्यगुणमहोदधिं सर्वत्र व्यापकं राघवनामानं भगवन्तम्) उदारकीर्त्तिनिकरे नन्दिग्रामे श्रीराक्षसघ्नम् प्रभुम् (नन्दिग्रामाख्ये तीर्थे राक्षसघ्ननामानम्) अथो अमले रम्ये श्रीमति प्रभासे क्षेत्रे विश्वरूपिणम् (मलरहितत्वादति रमणीये शोभासम्पन्ने प्रभासाख्यक्षेत्रे विश्वरूपिनामकं भगवन्तम् आराधयद्भिर्वैष्णवोत्तमैरुक्ततीर्थेषु निवासः कार्य इत्युत्तरेणान्वयः ।) ॥ १६२ ॥

तथा गोमते पर्वते शारिं शारिसंज्ञं भगवन्तम्। हरिद्वारे हरिद्वारसंज्ञे तीर्थे ऋजुं कोमलस्वभावं जगत्पतिम्। प्रयागे तीर्थे माधवं माधवसञ्ज्ञम् मा लक्ष्मीस्तस्या धवः पतिस्तम्। गयायां तीर्थे तु परं परमात्मानं गदाधरं गदाधरसञ्ज्ञम् ॥ १६१ ॥

अतिशुभदे मोक्षप्रदे गङ्गासागरयोः संगमे विष्णुं भगवन्तम्। मुनिभिः रामरहस्यत्रयादिमननशीलैर्महर्षिभिर्वृते श्रीचित्रकूटे विभुं चराचरव्यापकं

शश्वदविच्छेदेन भूरिगुणानामनन्तकल्याणवात्सल्यादिगुणानामालयमाश्रयं तं राघवं भगवन्तम् । रम्ये उदाराणां कीर्त्तीनां निकरो यस्मिन् तस्मिन्नन्दिग्रामे प्रभुं श्रीरात्तसघ्नम् । अथोऽमले पापनिवर्तके प्रभासक्षेत्रे विश्वरूपिणम् ॥ १६२ ॥

भा०—२३ 'गोमतपर्वत' में श्रीशारिजी, २४ 'हरिद्वार' में सुकुमार श्री जगत्पति जी, २५ 'प्रयाग' में श्री माधव जी, २६ 'गया' में श्री गदाधर जी ॥ १६१ ॥

भा०—२७'गंगासागर' में कल्याणप्रद श्रीविष्णुजी, मुनियों से भरे २८'चित्रकूट' में कल्याण गुणों के समूह का आश्रय 'श्री राघवजी' २९'नन्दि ग्राम' में उदार कीर्त्ति के समूह वाले श्री रात्तसघ्न जी प्रभु, ३०'प्रभास क्षेत्र' में सुन्दर श्री विश्वरूपी जी, ॥ १६२ ॥

श्रीकूर्मेऽचले उत्तमे च सदयं कूर्म्मं सुरेशेडितम्
नीलाद्रौ पुरुषोत्तमं त्वथ महासिंहं च सिंहाचले ।
श्रीमन्तं तुलसीवने तु गदिनं सर्वार्थदं तत्प्रिये
क्षेत्रे श्रीकृतशौचके तु सततं पापापहं चेश्वरम् ॥१६३॥
श्वेताद्रौ त्वथ सिंहरूपिणमथो श्रीधर्मपुर्य्यान्तथा
योगानन्दमशेषदेवसुनुतं श्रीकाकुले तु प्रभुम् ।
देवैर्वन्द्यमथान्ध्रनायकमिह श्रीदं तथाऽहोवले
तस्मिन्श्रीगरुडादिसंज्ञ उचिते देवं हिरण्यार्दनम् ॥१६४॥

अन्वयप्र०—उत्तमे श्रीकूर्मेऽचले सुरेशेडितम् सदयं कूर्म्मम् (पर्वत्तश्रेष्ठे कूर्माचले कूर्मनामानं भगवन्तम) नीलाद्रौ पुरुषोत्तमम् (नीलपर्वते पुरुषोत्तमनामानम् भगवन्तम्) अथ सिंहाचले तु महासिंहम् (सिंहाचलाख्ये पर्वते नृसिंहनामकं भगवन्तम्) तत्प्रिये क्षेत्रे तुलसीवने तु श्रीमन्तं सर्वार्थदं गदिनम् (भगवत्प्रिय-

क्षेत्रे तुलसीवनाख्ये तु अर्थधर्मकाममोक्षानां दातारम् गदिनामानं भगवन्तम्) श्रीकृतशौचके तु सततं पापापहम् ईश्वरञ्च (शोभने कृतशौचनाम्नि तीर्थे तु सर्वदा सर्वेषामीशनशीलं पापहराख्यं भगवन्तम्) ॥१६३॥

अन्वयप्र०—अथ श्वेताद्रौ तु सिंहरूपिणम्(श्वेताख्ये पर्वते तु सिंहरूपिणं भगवन्तम्) अथो धर्मपुर्य्याम् अशेषदेवसुनुतं योगानन्दम्(धर्मपुरीनामके तीर्थे समस्तदेवैः स्तुतं योगानन्दनामानं भगवन्तम्) अथ श्रीकाकुले तु देवैर्वन्द्यम् आन्ध्रनायकं प्रभुम्। तथा गरुडाद्रिसंज्ञे तस्मिन्नुचिते अहोबले हिरण्यार्दनं देवम् (समर्चयद्भिरुक्ततीर्थेषु निवासः कार्य्यः) ॥ १६४ ॥

उत्तमे श्रेष्ठे श्रीकूर्मे कूर्माख्येऽचले पर्वते सुरेशैरिन्द्रादिभिरीडितम् दयालुं कूर्मं धृतकमठाकृतिं भगवन्तम्। नीलाद्रौ नीलशैले पुरुषोत्तमं पुरुषोत्तमनामानम्। सिंहाचले महासिंहं नृसिंहम्। तस्य भगवतः प्रिये क्षेत्रे तुलसीवने तु सर्वार्थदं चतुर्वर्गफलस्य प्रदातारं गदिनं भगवन्तम् श्रीकृतशौचके कृतशौचनामके क्षेत्रे तु ईश्वरं सदा सर्वविधसमर्थं पापापहं पापनिवर्तनशीलं पापहरसंज्ञं भगवन्तम् ॥ १६३ ॥

अथ श्वेताद्रौ श्वेतपर्वते तु सिंहरूपिणम्। अथो धर्मपुर्य्याम् अशेषैर्देवैः सुनुतं सुष्ठु स्तुतं योगानन्दम्। अथ श्रीकाकुले तु प्रभुं देवैर्वन्द्यं वन्दनीयम् आन्ध्रनायकम्। उचिते अथाऽहोबले तस्मिन् गरुडाद्रिसंज्ञे पर्वते हिरण्यार्दनं देवं हिरण्यासुरमर्दनं भगवन्तम् ॥ १६४ ॥

भाषा—३१ 'कूर्माचल' में श्रेष्ठ दयालु श्री कूर्म्म जी, जो इन्द्र से पूजित है, ३२ 'नीलाद्रि' में श्री पुरुषोत्तम जी; ३३ 'सिंहाचल' में श्री महासिंह जी, श्री ३४ 'तुलसीवन' में श्री गदी जी, जो सभी प्रकार के मनोरथों के पूर्ण करने वाले है, ३५ श्री 'कृतशौचक' में श्री पापापह भगवान, ॥ १६३ ॥

३६ 'श्वेताचल' में श्री सिंहरूपी जी; श्री ३७ 'धर्म्मपुरी' में श्री योगानन्द जी; ३८ 'काकुल' में अशेष देवताओं से वन्दित श्री आन्ध्रनायक जी, ३९ 'अहोबल' नाम से प्रसिद्ध 'श्रीगरुड़ाद्रि' में श्री हिरण्यार्दनदेव जी १६४॥

श्रीविठ्ठलं तं किल पाण्डुरङ्गे
श्रीवेङ्कटाद्रौ तु रमासखं ह ।
नारायणं श्रीमति यादवाद्रौ
नृसिंहमित्थं घटिकाचलेऽपि ॥ १६५॥
सुरेशवन्द्यं वरदं त्वहर्दिवं
सुनिर्मले श्रीशुभवारणाऽचले ।
काञ्च्यां तथा श्रीकमलायताक्षं
समर्चनीयं बुधवैष्णवोत्तमैः ॥१६६॥

अन्वयप्र०—पाण्डुरङ्गे (एतन्नामके तीर्थे) किल (निश्चितम्) तं श्रीविठ्ठलम्, श्रीवेङ्कटाद्रौ (श्रीवेङ्कटपर्वते) तु रमासखम् श्रीमति यादवाद्रौ नारायणम् इत्थं (पूर्वोक्तप्रकारेण) घटिकाचलेऽपि नृसिंहम् (समर्चयद्भिस्तत्र निवासः कार्यः)॥१६५॥

सुनिर्म्मलश्रीशुभवारणाचले अहर्दिवम् (अहोरात्रम्) सुरेशवन्द्यं वरदम् (वरदनामानं भगवन्तम्) तथा काञ्च्यां (काञ्चीति प्रसिद्धक्षेत्रे) बुधवैष्णवोत्तमैः समर्चनीयं श्रीकमलायताक्षं (कमलनयननामकं भगवन्तं समर्चयद्भिर्वासःकार्य्यः) ॥ १६६ ॥

पाण्डुरङ्गे क्षेत्रे श्रीविट्ठलं विट्ठलसंज्ञं भगवन्तम् । वेङ्कटाद्रौ वेङ्कटपर्वते तु रमासखम् । यादवाद्रौ नारायणमाराधयद्भिर्निवास.कार्य्यः । घटिकाचले पर्वतविशेषे नृसिंहम् ॥ १६५ ॥

श्रीशुभे शोभमाने वारणाचले वारणगिरौ कीदृशे सुनिर्मले निवसतांपापविनाशके अहर्दिवम् अहन्यहनि 'अचतुरेति वीप्सायां द्वन्द्व.'सुरेशैर्वन्द्यं वन्दनीयं वरदं वरमभिलषितं ददातीति वरदसंज्ञं भगवन्तम् तथा काञ्च्यां पुर्यां बुधैर्वैष्णवोत्तमैः समर्चनीय श्रीकमले इव आयते विशाले अक्षिणी नेत्रे यस्य स तं कमललोचनसंज्ञं भगवन्तम् ॥ १६६ ॥

४०'पाण्डुरंग' में श्री विठ्ठल जी; ४१ "वेङ्कटाद्रि" में श्री निवास जी; '४२ यादवाद्रि' में श्री नारायण जी; ४३ "घटिकाचल" में श्रीनृसिंह जी,॥ १६५॥

अहर्निश निर्मल श्री४४ "वारणाचल" में इन्द्र से वन्दित श्री वरदराजजी, ४५'काञ्ची' में विद्वान् वैष्णवों से अर्चनीय श्री कमल लोचन जी; *॥ १६६

तोताद्रिसंज्ञादिषु वैष्णवोत्तमै-
रेवं तथा तुङ्गशयादिकं प्रभुम् ।
कार्य्यो निवासो नितरां शुभार्थिभि-
राराधयद्भिः सकलार्थदायिनम् ॥१६७॥

अन्वयप्र०—एवम् (उक्तप्रकारेण) तोताद्रिसंज्ञादिषु (तीर्थेषु) सकलार्थदायिनं तुङ्गशयादिकं प्रभुम् (भगवन्तम्) आराधयद्भिः नितरांशुभार्थिभिः (निरन्तर मोक्षाभिलाषिभिः) वैष्णवोत्तमैः तथा (पूर्वोक्तप्रकारेण) निवासःकार्य्यः ॥१६७॥

एवं तोताद्रिसंज्ञादिषु स्थानेषु प्रभु तुङ्गशयादिकम् तोताद्रौ तुङ्गशयन सञ्ज्ञं भगवन्तम् । अत्रादिशब्दाभ्यां कामाशिक्यां नृसिंह वलिपुरे महावल-मिति वलिपुरप्रभृतिषु महावलप्रभृतीनामाराधनपूर्वको निवासः संगृहीत इति बोध्यम् । एवञ्च मुमुक्षुर्वैकुण्ठदेशादिषु अनन्यत्वेन वासुदेवादीन् समर्चयन् निवसेदिति फलितम् ।

तथा चोक्तमष्टोत्तरशतस्थानस्तोत्रे—

"अष्टोत्तरशतस्थानेष्वाविर्भूतं जगत्पतिम् ।
नमामि जगतामीशं नारायणमनन्यधीः ॥

---

* काञ्ची में १ 'श्रीकमललोचन जी के सहित २ 'श्रीयथोक्तकारी जी; ३ श्री परमेशपुराश्रय जी; ४ श्रीपाण्डवदूत जी; श्रीत्रिविक्रम जी; ६ 'श्रीनृसिंह जी; ७ श्रीअष्टभुज भगवान; ८ श्रीमेघाकारजी; ९ श्रीशुभाकार जी; १० 'श्री शेषाकार जी, ११ 'श्रीशुभप्रद जी; १२ श्री कालमेघजी, १३ श्रीखगारूढ़जी;- १४ 'श्री कोटिसूर्य्यसमप्रभजी, १५ 'श्री दीपप्रकाशजी; १६ 'श्रीदेवाधिप जी; १७ 'श्रीप्रवालवर्ण जी; १८ 'श्री दीपाभ जी; ये अठारह भगवद्विग्रह पूजनीय है ।

श्रीवैकुण्ठे वासुदेव मामोदे कर्पणाह्वयम् ।
प्रद्युम्नं च प्रमोदाख्ये सम्मोदे चानिरुद्धकम् ॥
सत्यलोके तथा विष्णुं पद्माक्षं सूर्य्यमण्डले ।
क्षीराब्धौ शेषशयन श्वेतद्वीपे च तारकम् ॥
नारायणं वदार्याख्ये नैमिषे हरिमव्ययम् ।
शालग्रामं हरिक्षेत्रे त्वयोध्यायां रघूत्तमम् ॥
मथुरायां बालकृष्ण मायाया मधुसूदनम् ।
काश्यां तु भोगिशयनम वन्त्याम वन्तीपतिम् ॥
द्वारवत्यां यादवेन्द्रं व्रजे गोपीजनप्रियम् ।
वृन्दावने नन्दसुनुं गोविन्द कालियह्रदे ॥
गोवर्धने गोपवेषं भवघ्ने पद्मलोचनम् ।
गोमते पर्वते शारिं हरिद्वारे जगत्पतिम् ॥
प्रयागे माधवं चैव गयायां च गदाधरम् ।
गंगासागरके विष्णुं चित्रकूटे तु राघवम् ॥
नन्दिग्रामे राक्षसघ्नं प्रभासे विश्वरूपिणम् ।
श्रीकूर्मे कुर्म्ममचले नीलाद्रौ पुरुषोत्तमम् ॥
सिंहाचले महासिंहं गदिनं तुलसीवने ।
कृतशौचे पापहरं श्वेताद्रौ सिंहरूपिणम् ॥
योगानन्दं धर्मपुर्यां काकुले त्वान्ध्रनायकम् ।
अहोबले गारुडाद्रौ हिरण्यासुरमर्दनम् ॥
विठ्ठलं पाण्डुरगे तु वेङ्कटाद्रौ रमासखम् ।
नारायणं यादवाद्रौ नृसिंहं घटिकाचले ।
अन्तरा शिति कण्ठस्य कामकोष्ट्यां शुभप्रदम् ।
वरदं वारणगिरौ काञ्च्यां कमललोचनम् ॥
यथोक्तकारिणं चैव परमेशपुराश्रयम् ।
पाण्डवानां तथा दूत त्रिविक्रममथोन्नतम् ॥
कामासिक्यां नृसिंहं च तथाष्टभुजसञ्ज्ञकम् ।
मेघाकार शुभाकारं शेपाकारं तु शोभनम् ॥
प्रवालवर्णं दीपाभं काञ्च्यामष्टादशस्थितम् ।
श्रीमद्गृध्रसरस्तीरे भान्तं विजयराघवम् ॥
भिक्षारण्ये महापुण्ये १ वसन्त वीरराघवम् ।
तोताद्रौ तुङ्गशयनं गजार्तिघ्न गजस्थले ॥

---

१ शयानम पा

महाबलं बलिपुरे भक्तिसारे जगत्पतिम् ।
ऐन्द्रे तु देवदेवेशं गोपपुर्यां तु गोपतिम् ॥
महावराहं १श्रीमुष्ट्यां २महीन्द्रे पद्मलोचनम् ।
श्रीकोशे तु जगत्पथं श्रीधामे जानकीप्रियम् ॥
श्रीनिवासस्थले पूर्णं सुवर्णं स्वर्णमन्दिरे ।
महापुर्यां महाबाहुमाकाशनगरे हरिम् ।
उत्पलावर्तके शौरिं मणिकूटे मणिप्रभम् ।
कृष्णक्षेत्रे महाविष्णुं भवितस्थाने च भक्तिदम् ॥
श्वेतह्रदे शान्तिमूर्तिं हेमपुर्यां सुरप्रियम् ।
भर्गाख्यं भार्गवस्थाने वैकुण्ठाख्ये तु माधवम् ॥
पुरुषोत्तमे भक्तसखं चक्रतीर्थे सुदर्शनम् ।
कुम्भकोणे शार्ङ्गपाणि भूतस्थाने तु शार्ङ्गिणम् ॥
कपिस्थले गजार्तिघ्नं गोविन्दं चित्रकूटके ।
खण्डने ३ हरसापघ्नं भक्तानामभयङ्करम् ॥
अनुत्तमं चोत्तमायां श्वेताद्रौ सिंहरूपिणम् ।
पार्थस्थले परं ब्रह्म कृष्णकुड्या मधुद्विषम् ॥
नन्दपुर्यां महानन्दं वृपपुर्यां कृपाश्रयम् ।
असङ्गं सङ्गमग्रामे शरण्यं शरणाह्वये ॥
सिंहक्षेत्रे महासिंह मल्लारि मणिमण्डपे ।
निविडे निविडाकार धानुष्के जगदीश्वरम् ॥
मौद्गरे कालमेघं तु मधुरायां तु सुन्दरम् ।
वृषभाद्रौ महापुण्ये परमस्वामिसञ्ज्ञकम् ॥
श्रीमद्वरगुणे नाथं कुरूकायां रमासखम् ।
गोष्ठपुर्यां गोष्ठपतिं शयानं दर्भसंस्थले ।
धन्वीमंगलके शौरिं बलाख्य भ्रमरस्थले ॥
कुरङ्गे तु महापूर्णं विवेकं तडितस्स्थले ।
अच्युतं क्षुद्रनद्यां तु पद्मनाभमनन्तके ॥
सारक्षेत्रे सारनाथं घृतशैले पापहरम ।
दक्षिणद्वारकायां तु गोपालं जगतां पतिम् ।
रोमन्थपर्वते शौरिं कामकोष्ट्यां शुभप्रदम् ।

१–श्री मुष्णे पाठान्तरम् । २ यहसे पा. ३ हरचापहम पा.

व्याघ्रपुर्य्यां महाविष्णुम् भक्तानाम भयङ्करम् ।
एतानि विष्णुस्थानानि पूजितानि महात्मभिः ।
अधिष्ठितानि देवेश ! तत्राऽसीनं तु माधवम् ॥
यः स्मरेत्सततं भक्त्या चेतसाऽनन्यगामिना ।
स विधूयाखिलं पापं याति विष्णोः परं पदम् ॥
अष्टोत्तरशतं विष्णोः स्थानानि पठितानि च ।
अधीताः सकला वेदाःकृताश्च विविधा मखाः ।
वगाहितानि तीर्थानि ध्यातस्तु भगवान् हरिः ॥
संपादिता तथा मुक्तिः परमानन्ददायिनो ।
अवगाढानि तीर्थानि ज्ञातः स भगवान् हरिः ।
आद्यमेतत्स्वयं व्यक्त विमानं रङ्ग संज्ञकम् ॥
श्रीमुष्णां वेंकटाद्रिंच शालग्रामं च नैमिशम् ।
तोताद्रिं पुष्करञ्चैव नरनारायणाश्रमम् ॥
अष्टौ मे मूर्तयः सन्ति स्वयं व्यक्ता महीतले ॥१६७॥

इसी प्रकार ४६ 'तोताद्रि' आदि तीर्थ में सकल वाञ्छित दायक श्री तुङ्गशयादिक * प्रभु है । श्रेष्ठ मुमुक्षु वैष्णव, इन सकल वाञ्छा की पूर्ति करने वाले इन सब स्थानों के भगवान की अराधना करते हुए यहाँ निवास करें ॥ १६७ ॥

---

* सूची के अन्तिम अंक में स्थान और भगवान के नाम के साथ आदि शब्द लगा हुआ है यथा 'तोताद्रिसंज्ञादि' और तुङ्गशयादिक, । इससे और भी ऐसे निवास योग्य स्थानों की ओर संकेत होता हैं और वस्तुत. है भी ऐसी ही बात । अन्य ग्रन्थों में इसी प्रकार १०८ ऐसे स्थानों का वर्ण है, जिसे दिव्य देश कहा है । उसमें ४६ स्थान तो ठीक इसी क्रम से प्रारम्भ से लिखे हैं और बाकी स्थान इस प्रकार उल्लिखित हैं ।

४७ 'कामासिकी' में श्रीनृसिंहजी; ४८ 'गृध्रसरस्तीर' में श्री विजय राघवजी, ४६ 'भिक्षारण्य' में श्री वीरराघव, ५० 'गजस्थल' में श्री गजार्त्तिघ्नजी, ५१ 'बलिपुर' में श्री महाबलजी; ५२ 'भक्तिसार' में श्री जगत्पतिजी; ५३ 'ऐन्द्र' में श्री देवदेवेशजी; ५४ 'गोपपुरी' मे श्री गोपपतिजी;५५ 'श्री मुष्टी' तीथ में श्री महावराहजी; ५६ 'यहस' (महेन्द्र) नामक तीर्थ में पद्मलोचनजी;५७ 'श्री कोणतीर्थ में जगत्पथ जी; ५८ 'श्रीधाम' में श्री जानकीप्रिय;५९ 'श्रीनिवासस्थल'

अष्टानां प्रश्नानामुत्तरं विधाय "कालक्षेपः कथं (केन-प्रकारेण) कार्य्यः" इतिनवमप्रश्नस्योत्तर विवदिषता भगवता श्रीरामानन्दाचार्य्येणाभिधीयते-कार्य्योमहात्मभिरिति ।

कार्य्यो महात्मभिर्नित्यं कालक्षेपो मुमुक्षुभिः ।
परमात्मपरैरित्थं वैष्णवैरथ कथ्यते ॥ १६८ ॥

में श्री पूर्णभगवान; ६० 'स्वर्णमन्दिर' मे श्री सुवर्ण नामक भगवान ६१ 'महापुरी' में श्री महाबाहुजी; ६२ 'आकाशनगर' मे श्री हरि भगवान्, ६३ 'उत्पलतावर्तक' में श्री शौरिजी; ६४ 'मणिकुट, मे श्रीमणिप्रभजी; ६५ 'कृष्ण क्षेत्र' मे श्री महाविष्णुजी, ६६ 'भक्तिस्थान' मे श्री 'भक्तिद' नामक भगवान; ६७ 'श्वेतहृद' में श्रीशान्तिमूर्त्तिजी; ६८ 'हेमपुरी' में श्री सुरप्रिय नामक भगवान् ६९ 'भार्गवस्थान' मेंश्री भार्गाख्यजी; ७० 'वैकुण्ठाख्य'मे श्री माधवजी; ७१ 'पुरुषोत्तम तीर्थ' मे श्री भक्तसखाजी; ७२ 'चक्रतीर्थ' मे श्री सुदर्शनजी, ७३ 'कुम्भकोण में श्री शाङ्गपाणिजी; ७४ 'भूतस्थान' में श्रीशार्ङ्गीजी; ७५ 'कपिस्थल' मे श्री गजार्त्तिघ्नजी, ७६ 'चित्रकुटक' मे श्री गोविन्दजी, ७७ 'खण्डन' में श्री हर(सापद्म)चापहजी,७८'उत्तमा' मे श्री अनुत्तम नामक भगवान ७९ 'श्वेताचल' मे श्री सिंहरूपीजी;८० 'पार्थस्थल' में श्रीपरब्रह्मजी ८१'कृष्ण-कुटी' में श्री मधुद्विषजी ८२ 'नन्दपुरी' मे श्री महानन्दजी; ८३ 'वृषपुरी' में श्री वृषाश्रयजी, ८४ 'सङ्गमग्राम' मे श्री असङ्ग नामक भगवान, ८५ 'शरणतीर्थ' में श्री शरण्यजी, ८६ 'सिंहक्षेत्र' में श्री महासिंहजी;८७ 'मणिमण्डप' में श्री मल्लारिजी; ८८ 'निविड़' में श्री निविडाकार भगवान ; ८९ 'धानुष्क' तीर्थ में श्रीजगदीश्वरजी, ९० 'मौद्गर' में कालमेघजी, ९१ 'मधुरा' मे श्रीसुन्दरजी; ९२ 'वृषभाद्रि में श्रीपरमस्वामीजी ९३ श्रीमद्वरगुण मे श्रीनाथ भगवान्; ९४ 'कूरुका'में श्रीरमासखजी ९५ गोष्टपुरी में श्री गोष्ठपतिजी, ९६ 'दर्भसंस्थल' में श्री शयानजी; ९७ 'धन्वीमंगलक' में श्री शौरिजी; ९८ 'अमरस्थल' में श्रीमहापूर्णजी, ९९'कुरङ्गे'में श्रीमहापूर्णजी; १०० 'तड़ितस्थल'में श्रीविवेकजी, १०१ 'क्षुद्रनदी' में श्री अच्युतजी; १०२ 'अनन्तक' में श्रीपद्मनाभजी; १०३ 'सारक्षेत्र' में श्री सारनाथजी, १०४ 'घृतशैल' में श्रीपापहरजी, १०५'दक्षिण द्वारका' में श्री गोपाल जगत्पतिजी; १०६ 'रोमन्थपर्वत, मे श्रीशौरी जी, १०७ कामकोटि' में श्री शुभप्रदजी; १०८ 'श्रीव्याघ्रपरी में श्री महाविष्णु जी, इस प्रकार 'वैकुण्ठ' आदि तीर्थों में 'वासुदेव' आदि भगवान को पूजन करते हुए वैष्णवोत्तम महात्मा गण काल क्षेपकरें ।

अन्वयप्र०—अथ (उक्तक्षेत्रेषु निवासकथनानन्तरम्) परमात्मपरैः मुमुक्षुभिः महात्मभिर्वैष्णवैः नित्यं (प्रतिदिनं यथास्यात्तथा) इत्थ (वक्ष्यमाणरीत्या) कार्य्यः (कर्त्तव्यत्वेनविधेयः) कालक्षेपः कथ्यते ॥ १६८ ॥

वैष्णवानान्तेषां कालक्षेपः कथं कार्य इति प्रश्नस्योत्तरमाह-कार्य इति। अथ निवासस्थानकथनानन्तर कालक्षेप. कथ्यते कीदृशः परमात्मपरैर्भगवन्निष्ठैर्महात्मभिर्मुमुक्षुभिर्नित्यं कार्यः॥ १६८ ॥

भाषा—तदनन्तर, परमात्मा में पारायण मुमुक्षु वैष्णव महात्माओं से नित्य इस प्रकार करने योग्य काल-क्षेप को मैं कहता हूँ ॥१६८॥

इदानींकालक्षेपस्य रीतिः कथ्यते—

प्रातर्मध्याह्नसायं कृतशुचिकृतिभिः श्रीशमभ्यर्च्यरामं
श्रीमद्रामायणेन प्रतिदिनमखिलैर्भारतेन प्रपन्नैः।
शक्तैः श्रीभाष्यतश्च द्रविड़मुनिकृतोत्कृष्टदिव्यप्रबन्धैः
कालक्षेपोविधेयःसुविजितकरणैःस्वाकृतेर्यावदन्तम् १६९

अन्वयप्र०—सुविजितकरणैः(निगृहीतेन्द्रियैः) प्रातर्मध्याह्नसायं (प्रातःकाले मध्याह्नकाले सन्ध्याकालेच)कृतशुचिकृतिभिः(कृतशौचनित्यक्रियैः)शक्तैः (वेदादिबोधसम्पन्नैः) प्रपन्नैः (भगवच्छरणापन्नैः) प्रतिदिनं (प्रतिवासरं यथा स्यात्तथा) श्रीशं ("श्रियः श्रीं भर्तृवत्सलाम्" इतिमहर्षिवचनात् श्रियः सीताया ईशः भर्त्ता तम्) रामम् अभ्यर्च्य (षोडशोपचारैः पूजयित्वा) श्रीमद्रामायणेन महाभारतेन श्रीभाष्यतश्च (चकारात् श्रीमद्भागवतादिभिः) द्रविडमुनिकृतोत्कृष्टदिव्यप्रबन्धैः (श्रीशठकोपस्वामिप्रभृतिकृतसहस्रगीतिप्रभृतिभिः प्रबन्धैः) कालक्षेपः (समययापनम्) विधेयः (कर्त्तव्यः) ॥१६९॥

सुविजितानि करणानि इन्द्रियाणि यैस्ते तैः प्रातःकाले, मध्यान्हकाले, सायंकाले, च कृतशुचिकृतिभिः कृतस्नानसंध्यावन्दनादिक्रियैः शक्तैः शास्त्राभ्यासजन्यसामर्थ्यवद्भिरखिलैः प्रपन्नैर्मुमुक्षुभिः प्रतिदिनमह-

न्यहनि श्रीः सीता तस्या ईशं प्राणवल्लभं स्वामिनं राममभ्यर्च्य षोडशोपचारैः संपूज्य श्रीमद्रामायणेन श्रीमद्रामायणपरायणेन भारतेन भारतपारायणेन; श्रीभाष्यतः श्रीभाष्यपारायणेन, चकारात् श्रीमद्भागवतादिना ।

तदुक्तमभियुक्तैः—

"प्रातर्द्यूतप्रसङ्गेन मध्याह्ने स्त्रीप्रसङ्गः ।
सायं चौरप्रसङ्गेन कालो गच्छति धीमताम् । " इति

तथा द्रविडमुनिभिः कृता ये उत्कृष्टा दिव्याः प्रबन्धास्तैश्च कालस्य क्षेपो व्ययो विधेयः कर्तव्यः । तत्राऽवधिमाह-स्वाकृतेरिति स्वस्याः आकृतेर्देहस्या त नाशं यावत् अभिव्याप्य "आकारो देह आकृतिः" इति हि कोशः यावत्तावदित्येतौ साकल्यावधिमानावधारणेषु ॥ १६९ ॥

भाषा—जितेन्द्रिय एवं वेद शास्त्र के ज्ञान से सम्पन्न, प्रपन्न वैष्णव, प्रातः मध्याह्न एवं सायंकाल में शौचादि नित्य क्रिया से निवृत होकर प्रतिदिन सीतापति श्रीरामचन्द्र जी की षोड़शोपचार से पूजा कर श्रीमद्रामायण, श्रीमहाभारत, श्रीभाष्य, श्रीभागवतादि ग्रन्थ एवं द्रविड़मुनि (श्रीशठकोप स्वामी) प्रभृति कृत अति श्रेष्ठ दिव्य प्रबन्ध (श्री सहस्र गीति) आदि के अध्ययन मनन द्वारा कालक्षेप करे (समय बितावें) ॥ १६९ ॥

स्नानादि कर्म्माणि विधाय तत्र
श्रीभाष्यमेवं शृणुयादशक्तः ।
चेदादरान्नाम सुकीर्तनं च
द्वयानुसन्धानमथो विदध्यात् ॥१७०॥

अन्वयप्र०—चेद् (यदि) अशक्तः, (स्वयं पठनसामर्थ्यहीनो जनः) स्नानादिकर्माणि विधाय (कृत्वा) तत्र (तदा) एवम् (श्रीशं रामं समभ्यर्च्येत्युक्त रीत्या) श्रीभाष्यं च शृणुयात् (चकारात्—श्रीमद्रामायणादिकं शृणुयात्) अथो (श्रीभाष्यादि श्रवणानन्तरम्) नामसुकीर्तनं (रामकृष्णनारायणादिनामोच्चारणम्)

द्वयानुसन्धानं (श्रीरामद्वयमन्त्रस्यार्थानुसन्धानम्) विदध्यात् (कुर्यात्) ॥ १७० ॥

चेद्यदि अशक्तः तदा एवं श्रीराममभ्यर्च्य स्वाकृतेर्यावदन्तं जितेन्द्रियः सम्प्रदायनिष्ठैर्भागवतैरधीयमान श्रीभाष्य रामायणादिकं च प्रतिदिनं शृणुयात्। अथो अनन्तरं रामादिनामकीर्तनं श्रीरामद्वयमन्त्रा नुसन्धानं विदध्यात्कुर्यात्॥१७०॥

भाषा—यदि स्वयं पढने में असमर्थ हो तो, स्नानादि नित्य कृत्य करके उक्तरीति से श्री रामजी का पूजन कर श्री भाष्य, श्रीमद्रामायण श्रीमहाभारत, श्री मद्भागवतादि का श्रवण, राम कृष्ण, नारायण आदि नामों का कीर्त्तन और श्रीमद्-रामद्वय मन्त्र का अर्थानुसन्धान करै १७०

दिव्येषु देशेषु सतां प्रसङ्गं
तदीयकैङ्कर्य्यपरायणोऽनिशम् ।
यावच्छरीरान्तमहर्दिवं त-
त्कथामुदारां शृणुयाद्भवघ्नीम् ॥१७१॥

अन्वयप्र०- दिव्येषु देशेषु (श्रीमदयोध्या-बृन्दावन-मथुरा-काशी प्रभृति पूर्वोक्ततीर्थेषु) यावच्छरीरान्तम् (मरणपर्य्यन्तम् निवसन्) अनिशं (निरन्तरं यथास्यात्तथा) सतां (तत्वत्रय-ज्ञानिनाम्) प्रसङ्गं (सहवासं कुर्व्वन्) तदीयकैङ्कर्य्यपरायणः (श्रीमद्भगवद्भागवताचार्य्यकैङ्कर्य्यनिष्ठो जनः) अहर्दिवम् (प्रतिदिनम्) उदाराम् (अर्थ, धर्म, काममोक्षप्रदम्) भवघ्नीं (संसारनाशिनीम्) तत्कथां (भगवतः श्रीरामस्य श्रीमद्रामायणादि चरित्रम्) शृणुयात् ॥ १७१ ॥

किञ्च यावच्छरीरान्तं शरीरस्याऽन्तं शरीरान्तं स्वदेहावसानावधि विधाय अनिशं सतत "संततविरतानिशम्" इत्यमरः। तस्य भगवत इमे भक्तास्तदीयास्तेषां कैङ्कर्यमेव परमयनं यस्य स तथा भूतः सन् अहर्दिवम् "अहश्च दिवाचेति वीप्सायां द्वन्द्वः" अहन्यहनीत्यर्थः दिव्येषु देशेषु श्रीमदयोध्यावृन्दावनप्रभृतिषु सतां महतां प्रसङ्गं मोक्षसाधकतया प्रकृष्टं सङ्गं

कुर्वन्निति शेषः भवघ्नी संसारनिवर्त्तिनीमुदारां महतीं तस्य भगवतः श्रीरामस्य कथां शृणुयादित्यन्वयः ॥ १७१ ॥

भाषा—श्रीमद्-भगवद्, भागवत एवं आचार्य्यों के कैङ्कर्य्य में निष्ठावाले श्री वैष्णवगण, श्रीमद्-अयोध्या, वृन्दावन, मथुरा, काशी आदि दिव्य देशों में जीवन पर्य्यन्त निवास, और निरन्तर तत्वत्रय-ज्ञानवान श्री वैष्णवों का सहवास करते हुए, प्रतिदिन, अर्थ, धर्म्म, काम, मोक्ष को देनेवाली श्री रामजी की श्री रामायणादि कथा सुने ॥ १७१ ॥

तथाप्यशक्तास्तु कुटीरमात्रं
विधाय कुर्य्युस्त्वथ यादवाद्रौ ।
अन्यत्र वासं च गुरूपदिष्टा-
न्मन्त्राञ्जपन्तोऽहङ्कारशून्याः ॥ १७२ ॥

अन्वयप्र०—तथापि (पूर्वोक्त प्रकारेणापि) अशक्तास्तु (श्री भाष्यादिश्रवण—श्रीमद्भगवद्भागवताचार्य्यसेवा सामर्थ्यरहितास्तु) अहङ्कारशून्यास्तु गुरूपदिष्टान्मन्त्रान् जपन्तः (सन्तः) यादवाद्रौ कुटीरमात्रं (ह्रस्वां कुटीम्) विधाय (कृत्वा) वासं कुर्य्युः । त्वथ (अथवा) अन्यत्र च (पूर्वोक्तप्रशस्ततीर्थेषु च निवास कुर्य्युः । त्वत्रपादपूरणे । अप्यत्र समुच्चये । तथा मन्त्रजपेनाशक्ता जना अपि तथा पूर्वोक्तरीत्या मन्त्रादिजपन्तो यादवाद्रिप्रभृति तीर्थाद्रौ वासं कुर्य्युः) ॥ १७२ ॥

तथा अशक्ता अपि कथंचिदपि सामर्थ्यरहिता अहङ्कारशून्या गुरुभिरुपदिष्टान् मन्त्रान् तारकादीन् जपन्तः सन्तः यादवाद्रौ यादवपर्वते अन्यत्र च प्रशस्ततीर्थे कुटीरमात्रं ह्रस्वां कुटीं विधाय वासं कुर्य्युः ॥ १७२ ॥

भा०—श्रीभाष्य, श्रीमद्रामायण, श्री महाभारत, श्रीमद्भागवत, आदि सद्ग्रन्थों के श्रवण और श्रीमद्भगवद्भागवत-और आचार्य्य की सेवा में असमर्थ तो गुरूपदिष्ट मन्त्रों का जप करते हुए अहंकार से रहित छोटी

सी कुटी बनाकर यादवाचलमें अथवा पूर्वोक्त अयोध्या आदि दिव्य देशों या अन्य पवित्र स्थानोंमें बास करै । 'अपि' और 'तु' शब्द के स्वारस्य है कि समर्थ वैष्णव भी यादवाद्रि में कुटी बनाकर वास करे ॥ १७२॥

भक्त्यादि युक्तस्य तथा नहङ्कृते-
महात्मनस्तस्य निदेशपालनम् ।
उपायमेतं चरमं निरन्तरं
सुवैष्णवोऽयं विदधात्वतन्द्रितः ॥१७३॥

अन्वयप्र०—भक्त्यादियुक्तस्य (६५—तमतःआरभ्य ९२श्लोकपर्य्यन्तोक्तप्रकृष्टमुक्तिसाधनसम्पन्नस्य) अनहङ्कृतेर्महात्मनः यथा यस्मै निदेशः) तथा (तेनैव प्रकारेण) तस्य (आज्ञाकर्तुः) निदेशपालनम् (आज्ञापालनम्) एतं (यथाऽज्ञा तथा पालनम्) चरमम् (अन्तिमम्) उपायम् (साधनम्) अयं (मुमुक्षुः) सुवैष्णवोऽतन्द्रितः (आलस्यशून्यः सन्] निरन्तरं (अन्तररहितं यथास्यात्तथा] विदधातु (करोतु) ॥ १७३ ॥

अनहंकृतेरहङ्काररहितस्य भक्त्यादियुक्तस्य भक्त्या रामायणादिपरायणेन च युक्तस्य तस्य महात्मनो निदेशपालनमाज्ञाकरणमेतं चरममुपायम् अतन्द्रितो निरालसोऽयंमुमुक्षुर्वैष्णवो निरन्तर कुर्य्यात् ॥१७३॥

(श्रीरामानन्द स्वामीजी का अन्तिम उपदेश)

भाषा—६५ श्लोक से आरम्भ कर ९२ श्लोक पर्य्यन्त कथित भक्त्यादि (उत्कृष्ट मुक्ति साधन) से युक्त अहङ्कार रहित महात्मा का उपदेश, जिसके लिये जैसा हुआ है वैसाही पालन करना । इस अन्तिम उपाय को निरालसी मुमुक्षु वैष्णव निरन्तर करैं ॥१७३॥

तदर्थपुष्पप्रचयेन संततं
तथैव तन्मन्दिरमार्जनादिना ।

तदीयनामाऽभ्यसनेन तन्मनाः
क्षिपेत्स कालं नितरां निरालसः ॥१७४॥

अन्वयप्र०—संततं (निरन्तरम्) तदर्थपुष्पप्रचयेन, तथैव तन्मन्दिरमार्जनादिना तदीयनामाभ्यसनेन तन्मनाः (मुमुक्षु-वैष्णवः) नितरां निरालसः (सदाऽऽलस्यरहितः सन्) कालं क्षिपेत् (समयं यापयेत्) ॥ १७४ ॥

किंच संततं निरन्तरं तस्मै श्रीरामाय अयं तदर्थो यः पुष्पाणां प्रचय-स्तुलसीपुष्पादीनां संग्रहस्तेन तथैव तन्मन्दिरस्य मार्जनादिना शोधनादिना तदीयाना नाम्नामभ्यसनेनाऽभ्यासेनावृत्या तस्मिन्भगवति श्रीरामे मनश्चित्तं यस्य स मुमुक्षुः नितरां निरालसः सन् कालं क्षिपेत् कालव्ययं कुर्य्यादित्यर्थः। खण्डयोरन्वयभेदेनाऽत्र सन्ततं नितरामित्यनयोरपौनरु-क्त्यम् ॥ १७४ ॥

भाषा—मुमुक्षु वैष्णव, सदा आलस्य रहित होकर भगवान के नामों (राम, कृष्ण नारायणादि) को निरन्तर रटन, उनके लिये तुलसी-पुष्पादि के संग्रह और मन्दिर के मार्जन (स्वच्छ, शुद्ध एवं मनोरम बनाना) आदि कार्यों में तन्मय रहते हुए काल क्षेप करें ॥१७४॥

तीर्थेषु वासेन सतां महात्मनां
समागमेनाऽथ तदर्चनेन ।
जिज्ञासया तद्यशसः श्रवेण
तच्छ्रावणेन स्मरणेन तस्य ॥ १७५ ॥

अन्वयप्र०—तीर्थेषु (१५५—तमतः १६७ पर्य्यन्त श्लोकोक्त तीर्थेषु) वासेन सतां महात्मनां (प्रत्यक्षीकृततत्त्वत्रयाणाम्) समागमेन, अथ (समागमानन्तरम) तदर्चनेन (ज्ञानिनां पूजनेन) जिज्ञासया (परमकारणतत्वं ज्ञातुमिच्छया) तद्यशसः श्रवेण (परमकारणश्रीरामस्य रामायणादिकीर्त्तेः श्रवणेन, तच्छ्रावणेन

स्वयं श्रुत्वा अन्येभ्यः कथनेन) तस्य स्मरणेन (अस्य जगतो यत्परमकारणम् तस्य चिन्तनेन कालं क्षिपेदिति पूर्वेणान्वयो वेदितव्यः) ॥ १७५ ॥

किंच तीर्थेषु परमपावनगङ्गातटादिषु वासेन निवासेनेति वक्ष्यमाण श्लोकत्रयस्य मुमुक्षुर्नितरां कालं क्षिपेदिति पूर्वेणैवाऽन्वयः।

तथाचोक्तं सप्तमे—

"अथ देशान्प्रवक्ष्यामि धर्मादिश्रेयआवहान्।
स वै पुण्यतमो देश सत्पात्रं यत्र लभ्यते॥
विश्व भगवतो यत्र सर्वमेतच्चराचरम्।
यत्र ह ब्राह्मणकुल तथा विद्यादयान्वितम्॥
यत्र यत्र हरेरर्चा स देशः श्रेयसां पदम्।
यत्र गङ्गादयो नद्यः पुराणेषु च विश्रुता॥
शरांसि पुष्करादीनि क्षेत्राण्यर्हाश्रितान्युत।
कुरुक्षेत्र गयशिरः प्रयागः पुलहाश्रमः॥
नैमिषं फाल्गुन सेतु प्रभासोऽथ कुशस्थली।
वाराणसी मधुपुरी पम्पा बिन्दुशरस्तथा॥
नारायणाश्रमो नन्दा सीतारामाश्रमादयः।
सर्वे कुलाचला राजन् महेन्द्रमलयादयः॥
एते पुण्यतमा देशा हरेरर्चाश्रिताश्च ये।
एतान् देशान् निषेवेत श्रेयस्कामो स्वभीक्ष्णशः" इति।

तथा सतां महात्मनां समागमेन, अथ तेषां सतामर्चनेन, तद्यशसस्तस्य भगवतो यशसः श्रवेण श्रवणेन, तस्य यशसः श्रावणेन, तथा तस्य नितरां स्मरणेन कालं क्षिपेत् ॥ १७५ ॥

भाषा—इन तीर्थों के निवास, श्रेष्ठ-महात्मा-पुरुषों के समागम,उनके पूजन,परम कारण श्रीरामजीके जानने की इच्छा से उनकी रामायणादि कथाओं का श्रवण, पुनः उसके श्रावण (दूसरों को सुनाना), एवं स्मरण, (चिन्तन) द्वारा काल बिताना चाहिये ॥१७५॥

रामाय साङ्गाय सपार्षदाय
सीतासमेताय सहानुजाय।
आम्नाय वेद्याय विधाय शश्वत्
कैङ्कर्यमीर्ष्या रहितः समाहितः ॥१७६॥
पुंसे परस्मै सकलार्थदाय
प्रवृद्धभक्तिर्निवसन् सुतीर्थे।
देशे तथा भागवताऽभिषेविते
तीर्थाऽतितीर्थे परमार्थदे शुभे ॥१७७॥

अन्वयप्र०—(यथा—आचार्यैरुपदिष्टस्तथा) समाहितः (निश्चलमनाः) ईर्ष्यारहितः (सर्वाऽभ्युदयराहनशीलः) भागवताभिषेविते, तीर्थातितीर्थे, परमार्थदे शुभे सुतीर्थे देशे निवसन् (सन्) प्रवृद्धभक्तिः (वृद्धिं गता भक्तिर्यस्य स वैष्णवः) साङ्गाय सपार्षदाय सीतासमेताय सहानुजाय आम्नाय वेद्याय (वेदवेद्याय) सकलार्थदाय परस्मै पुंसे रामाय शश्वत् (निरन्तरम् यथा स्यात्तथा) कैङ्कर्य्य विधाय (कृत्वा कालक्षिपेदिति पूर्वेणान्वयः) ॥ १७६–१७७ ॥

तथा मुमुक्षुः ईर्ष्यारहितः समाहितः समाहितचित्तः सन् सकलार्थदाय धर्मार्थकाममोक्षप्रदाय परस्मै पुंसे रामाय शश्वत्कैङ्कर्य्यं विधाय कृत्वा प्रवृद्धा भक्तिर्यस्य स सुतीर्थे निवसन् कालं क्षिपेत्। कीदृशाय रामाय आम्नाय वेद्याय वेदवेद्याय "श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः" इत्यमरः शेषं स्पष्टम् ॥ १७६ ॥

शुभे शोभमाने परमार्थदे मोक्षप्रदे तीर्थानि अतिशायितानि तीर्थानि करोति अतितीर्थयतीति तीर्थातितीर्थस्तस्मिन् भागवतैरुक्तलक्षणैरभिषेवित्ते देशे निसन् ॥ १७७ ॥

भाषा०—आचार्यों के उपदेशानुसार चलने वाले इर्ष्यारहित भगवत–तत्व के ज्ञाता वैष्णवों से सेवित होने के कारण जो श्रेष्ठ तीर्थ, वहाँ निरन्तर निवास करने से उन्नत–भक्ति–प्राप्त–वैष्णव, वेदों से जानने योग्य एवं अर्थ धर्म्म काम मोक्ष के दाता परम पुरुष श्रीरामजी की श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी, विष्वक्सेनादिपार्षद, एवं अङ्ग * के सहित पूजा करते हुए काल–क्षेप करें ॥ १७६–१७७ ॥

(प्राप्यवस्तु निरूप्यते)

तथाविधैस्तैः परमार्थभूतं
सुवैष्णवैः प्राप्यमथोच्यते यत् ।
जितेन्द्रियैरात्मरतैर्बुधाग्र्यै–
र्महत्तमैः स्वाभिमतार्थदोहम् ॥ १७८ ॥

---

* वायुपुत्रेणोक्तास्ते योगीन्द्रा ऋषयो विष्णुभक्ता हनूमन्त पप्रच्छुः। रामस्याङ्गानि नो ब्रूहीति। हनूमान् होवाच। वायुपुत्रं विघ्नेशं वाणीं दुर्गां क्षेत्रपालकं सूर्यं चन्द्रं नारायणं नारसिंहं वासुदेवं वाराहं तत्सर्वान्त्समात्रान्त्सीतां लक्ष्मणं शत्रुघ्नं भरतं विभीषणं सुग्रीवमङ्गदं जाम्बवन्तं प्रणवमेतानि रामस्याङ्गानि जानीथाः। इति रामरहस्योपनिषदि।

विष्णु भक्त योगीन्द्र और ऋषियों ने श्री हनूमान्जी से पूछा कि श्रीरामजी के अङ्ग देवताओं को कहो। इस पर श्री हनुमानूजी ने कहा कि वायुपुत्र, विघ्नेश, वाणी, दुर्गा, क्षेत्रपालक, सूर्य, चन्द्र, नारायण, नरसिंह, बासुदेव, वाराह, स्वशक्ति सहित ये सब और श्री सीताजी, श्री लक्ष्मणजी, श्री शत्रुघ्नजी श्रीभरतजी, श्री विभीषणजी, श्री सुग्रीवजी, श्री अङ्गदजी, श्री जाम्बवन्तजी, एवं प्रणव को श्री रामजी की अङ्ग देवता जानो।

अन्वयप्र०-अथ (कालक्षेपकथनानन्तरम्) स्वाभिमतार्थ-दोहम् परमार्थभूतम् जितेन्द्रियैः, आत्मरतैः, बुधाग्र्यैः, महत्तमैः, तथा विधैः (परपुरुषभक्तिनिष्ठैः] तैः (भक्तैः) सुवैष्णवैः प्राप्य यत् (वस्तु) [तद्] उच्यते (मया कथ्यते) ॥१७८॥

मोक्षप्रदं प्राप्य वस्तु किमिति प्रश्नस्योत्तरं वक्तुमाह-तथेति । अथ कालक्षेपवर्णनानन्तरं जितेन्द्रियैर्बुधाग्र्यैर्ज्ञानिश्रेष्ठैर्महत्तमैरतिशयितैर्महद्भिरात्मरतैर्ब्रह्मनिष्ठैस्तथाविधैरुक्तलक्षणैः सुवैष्णवैः परमार्थभूतं सकलवेद-वेदान्तैकवेद्यं स्वस्याऽभिमतमर्थं दोग्धि पूरयतीति स्वाभिमतार्थदोहं प्राप्य यद्वस्तु तदुच्यते इत्यर्थः । ननु "कालक्षेप किमाप्यं कथमुरुशुभदं कुत्र कार्य्यो निवास" इति प्रश्नक्रमानुरोधेन अन्त एव निवासस्थानवर्णनमुचितं नकालक्षेपात्पूर्वमिति चेन्न "पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्" इति न्यायेनाऽविवक्षितप्रश्नक्रममनाश्रित्य कालक्षेपवर्णनात्पूर्वमेव निवासस्थानवर्णनमितिसिद्धान्तात् तत्त्वादिविचारानुष्ठानसाध्यफलतया प्राप्यवर्णनस्यान्त एवौचित्याच्च नहि प्राप्यप्राप्त्यनन्तरं किञ्चिज्ज्ञेयमनुष्ठेयं वाऽस्तीति सहृदयैः कलनीयम् ॥ १७८ ॥

भाषा०—तदन्तर अपने अभिमत दाता परमार्थस्वरूप (सबसे उत्कृष्ट) जितेन्द्रिय मननशील पण्डिताग्रगण्य सर्वश्रेष्ठ और परमात्मा की भक्ति में निष्ठा रखने वाले उन श्रीवैष्णवों से प्राप्ति करने योग्य वस्तुओं को कहता हूँ ॥ १७८ ॥

(तत्किम् इत्यत आह श्रीमानिति)

श्रीमान् दिव्यगुणाब्धिरौपनिषदो हेतुः शरण्यः प्रभुः
देवेशो जगतामनादिनिधनो ब्रह्मादिदेवार्चितः ।
ताराकानलचन्द्रमोबहुमहः सौदामिनीभासको
ऽजय्यो वीरसपत्नशास्त्रनिचयैर्जेता च तेषां मुहुः ॥१७९॥
नित्यो ब्रह्मविधायकश्च पुरुषस्तद्वेदबोधो बुधो

नित्यानां शरणं तपःप्रभृतिभिः सद्योगिनां दुर्लभः।
एकश्चेतनचेतनोभृतजगद्ध्येयःस्वतन्त्रोवशी स
प्राप्योऽस्ति मुमुक्षुभिःसुगुरुभिःसत्सङ्गिभिस्तत्परैः१८०

अन्वयप्र०—(यः) पुरुषःश्रीमान्,दिव्यगुणाब्धिः (वात्सल्यसौशील्यसौन्दर्य्यलावण्यशौर्य्यवीर्य्यादिगुणसागरः) औपनिषदः (उपनिषत्प्रतिपाद्यः) जगतां हेतुः (कारणम्) शरण्यः (शरणागतरक्षकः) प्रभुः (विश्वसृजनाद्यनुकूलशक्तिसम्पन्नः) देवेशः (ब्रह्मादिदेवानामीशनशीलः) अनादिनिधनः (उत्पत्तिविनाशशून्यः) ब्रह्मादिदेवार्चित (ब्रह्मादिदेवैःपूजितः) ताराऽर्कानलचन्द्रमोवहुमहः सौदामिनीभासकः (तारा सूर्य-वह्नि चन्द्राणाम् अतितेजस्विन्या विद्युल्लतायाश्च प्रकाशकः) वीरसपत्नशस्त्रनिचयैरजय्यः (वीरशत्रुशस्त्रसमूहैर्जेतुमशक्य) मुहुः (पुनः पुनः) तेषां (वीरशत्रुशस्त्रसमूहानां) च जेता नित्यानां नित्यः चेतनचेतनः, एकः (नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" इतिश्रुतेः मुख्यः) भृतजगद् (जगत्संरक्षकः) ब्रह्मविधायकः (चतुर्मुखस्योत्पादकः) तद्वेदबोधः (तस्मै-चतुर्मखाय वेदाना बोधयिता)बुधः (सर्वज्ञः) शरणं(रक्षिता उपायो वा)तपःप्रभृतिभिः सद्योगिनां दुर्लभः(दुःखेन लभ्यः)वशी(कान्तिमान् स्वतन्त्रः (निरङ्कुशः स्वच्छन्दः योऽस्ति) स (पूर्वोक्तविशेषण विशिष्टः) तत्परैः (भगवत्परायणैः) सत्सङ्गिभिः (निर्भ्रान्तं शिष्टं गतवद्भिः)सुगुरुभिः (मन्त्रमन्त्रार्थोपदेशकाचार्य्यं प्राप्तवद्भिः) मुमुक्षुभिः (संसारं त्यक्तुमिच्छद्भिः) ध्येयः (ध्यातुं योग्यः) प्राप्यश्चास्ति (स एवप्राप्तव्या भवतीति वेदितव्यम्॥१७९॥१८०॥)

अथ प्राप्यस्वरूपं युग्मेनाभिधत्ते श्रीमानिति। तत्परैर्भगवन्निष्ठैः प्रशस्तः सता सङ्गोऽस्ति येषां ते सत्सङ्गिनस्तैः शोभनाः परम प्राप्ता मुखो येषां

तैर्मुमुक्षुभिः एवं गुणमहार्णवः सर्वलोकशरण्यो जगज्जन्मादिहेतुः परम-कारुणिको द्विभुजः पुरुषोत्तमः सीतापतिर्यः श्रीरामः स एव प्राप्योऽस्ती त्युत्तरेणान्वय ।स कीदृशः प्रशान्ता "अनन्या राघवेणाहंऽ भास्करेण प्रभा यथा" "अनन्या च मया सीता भास्करेण प्रभा यथा" इत्युक्तरीत्या नित्ययोगा लोकोत्तरप्रकृष्टनिःसीमसौन्दर्य्यपरमलावण्यवती श्रीः सीताऽस्ति यस्य स श्रीमान्। पुनः दिव्यानां वात्सल्यादीना गुणानामब्धिर्दिव्यगुणाब्धिः। पुनः उपनिषद्भिः प्रतिपाद्य औपनिषदः। स्पष्टं चेदं रामतापन्याम्। शरणे साधुः शरण्य. जगतां चराचरात्मकविश्वेषां हेतुः कारण जन्मादेरिति शेषः ।

तथा च पाराशर्यसूत्रम्—

"जन्माद्यस्य यत" । इति

श्रुतिश्च—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" इति ।

नचात्र यच्छब्देन बृहणशीलब्रह्मचतुर्भुजश्रीमन्नारायणविष्णुवासुदेवादीनामेवाभिधानात्तत्र तत्र व्याख्यातृभिरपि तथैवाभिधानात्कथंसीतापते र्द्विभुजस्याभिधनमिति वाच्यम् तत्र तादृशलिङ्गाभावात् ।

"रमन्ते योगिनो यस्मिन्सत्यानन्देचिदात्मनि
तेन रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते' ।

इति रामपदेन बृंहणशीलब्रह्मण एवाभिधानाच्च ।

"तं वीरं राघवं मन्ये नारायणमनामयम् ।
यद्भयाद्धि पुरी लङ्का पिहितद्वारगोपुरा ॥
व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातनः ।
अनादिमध्यनिधनो महतः परमो महान् ॥
तमसः परमो धाता शङ्खचक्रगदाधरः ।
श्रीवत्सवक्षा नित्यश्रीरजय्यः शाश्वतो ध्रुवः ॥
मानुषं वपुरास्थाय विष्णुः सत्यपराक्रमः ।
सर्वैः परिवृतो देवै र्वानरत्वमुपागतैः ॥
सर्वलोकेश्वरः साक्षात् लोकानां हितकाम्यया ।
स राक्षसपरीवारं हतवाँस्त्वांमहाद्युतिः ॥"

इत्यादिभिः श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणस्थैः शास्त्रैरपि वचनैः

तथा

"भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधो विभुः।
एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित्॥
सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णु"।

इत्यादिभिश्चतुर्मुखप्रोक्तैश्च विशेषणभूतैर्नारायणादिशब्दैः सह भवच्छब्दाभिधेयस्य विशेष्यस्य द्विभुजस्य श्रीरामस्याऽभेदाभिधानाच्च। किंच पितामहप्रेषितः सर्वसमाहरः कालः श्रीरामं सबोध्य चतुर्मुखवाक्यानि श्रावितानि।

"संक्षिप्य हि पुरा लोकान्मायया स्वयमेव हि।
महार्णवे शयानोऽप्सु मा त्वं पूर्वमजीजनः॥
भोगवन्तं ततो नागमनन्तमुदकेशयम्।
मायया जनयित्वा त्वं द्वौ च सत्वौ महाबलौ॥
मधुं च कैटभं चैव ययोरस्थिचयैर्वृता।
इयं पर्वतसंबाधा मेदिनी चाऽभवत्तदा।
पद्मे दिव्येऽर्कसंकाशे नाभ्यामुत्पाद्य मामपि॥
प्राजापत्यं त्वया कर्म मयि सर्वन्निवेशितम्।
सोऽहं संन्यस्तभारो हि त्वामुपास्य जगत्पतिम्॥
रक्षां विधत्स्व भूतेषु मम तेजस्करो भवान्"।

इत्यादीति। अतोऽपि जगज्जन्मादिहेतुत्वं द्विभुजस्य स्पष्टतरमभिहितम् श्रुतिश्च 'योवैब्रह्माणंविदधातिपूर्वं वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तंहदेवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" इति। अत्र च महार्णवे शयानोऽप्सु माम् इत्यादिवाक्यानामेतच्छ्रुत्या सहैकवाक्यतासिद्धये रमिसमानार्थदिविधातोःपचाद्यचा सिद्धदेवशब्देन द्विभुजश्रीरामस्यैवाभिधानमुचितम् व्याख्यातं चास्माभिः पूर्वमेव तथैवेत्यलं पल्लवितेन। पुनः कीदृक् स प्रभुः जगत्सृष्ट्यादिकरणसामर्थ्यवान्।

तथोक्तमारण्यकाण्डे रावणं प्रत्यकम्पनशत्रुवाक्यम्—

"शृणु राजन्! यथावृत्तं रामस्य बलपौरुषम्।
असाध्यः कुपितो रामो विक्रमेण महायशाः॥
आपगायास्तुपूर्णाया वेगं परिहरेच्छरैः।
सतारग्रहनक्षत्रं नभश्चाप्यवसादयेत्॥
असौ रामस्तुसीदन्ती श्रीमानभ्युद्धरेन्महीम्।

भित्त्वा वेलां समुद्रस्य लोकानां प्लावयेद्विभुः ॥
वेगं वापि समुद्रस्य वायुं वा विधमेच्छरैः ।
संहृत्य वा पुनर्ल्लोकान् विक्रमेण महायशाः ॥
शक्तः श्रेष्ठः स पुरुषः स्रष्टुं पुनरपि प्रजा" इति ।
किंच स्वयमपि रामो लक्ष्मणं प्रत्याह ॥
"नैव यक्षा न गन्धर्वा न पिशाचा नराक्षसाः ।
किन्नरा वा मनुष्या वा सुखं प्राप्स्यन्ति लक्ष्मण ! ।
ममास्त्रबाणसंपूर्णमाकाशं पश्य लक्ष्मण ! ॥
असम्पातं करिष्यामि ह्यद्य त्रैलोक्यचारिणाम् ।
संनिरुद्धग्रहगण मावारितनिशाकरम् ।
विप्रनष्टानलमरुद्भास्करद्युतिसंवृतम् ॥
विनिर्मथितशलाग्रं शुष्यमाणजलाशयम् ।
ध्वस्तद्रुमलतागुल्म विप्रणाशितसागरम् ॥
त्रैलोक्यं तु करिष्यामि संयुक्तं कालकर्मणा ।" इति

पुनः देवानां ब्रह्मेन्द्रादीनामीशः सृष्ट्यादौ प्रवर्तकः अत एव स्वयमनादिनिधनः न आदिनिधने उत्पत्तिविनाशौ यस्य सः । ब्रह्मादिभिर्देवैरर्चितः ताराश्च अर्कश्च अनलोऽग्निश्च चन्द्रमाश्च बहूनि महांसि तेजांसि यस्याः सा चाऽसौ सौदामिनी विद्युच्च ता अपि भासयति दीपयतीति तथोक्तः । भासृ दीप्तौ ण्वुल् ।

तथाच श्रुतिः-

"न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" । इति

स्मृतिश्च—

"यदादित्यगतन्तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्" । इति

वीराश्च ते सपत्नाः शत्रवश्च तेषां शस्त्राणां निचयैः समूहैरजय्यो जेतुमशक्यः "क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे" तेषां वीरसपत्नशस्त्रनिचयानां मुहुः पुनः पुनर्जेता ॥ १७९ ॥

नित्यानामव्यक्तादीनां नित्यः चेतनानां जीवात्मनां चेतयतीति चेतनश्चेतनचेतनः ।

तथाच श्रुतिः—

"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्"ः इति । किञ्च ब्रह्मविधायकः सृष्टिकर्तृत्वेन त्रिभुवनविधातारमपि ब्रह्माणं विदधाति उत्पादयतीति ब्रह्मविधायकः। तस्मै ब्रह्मणे वेदं बोधयति उपदिशतीति तद्वेदबोध. ।

तथा च श्रुतिः ।

"यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इति ।

स्वत एव सकलवेदोपदेशकरणज्ञानवत्त्वात् बुधः सद्योगिना शरणं रक्ष- । तप प्रभृतिभि· तप आदिभिः साधनैस्तैस्सद्भिर्योगिभिर्दुःखेन लभ्यते इति दुर्लभः। एक. इच्छयैव स्वयं सर्वार्थसाधकत्वेन सहायोऽनपेक्षः भृत पालितं जगद्विश्वं येन भृतजगत् । स्वतन्त्रः स्वयं कैश्चिदनाज्ञापितो निरंकुशः सन् स्वस्वाधिकारे ब्रह्मादीनामाज्ञया प्रवर्तकः । अत एव वशी सर्ववशकारीत्यर्थ. ॥ १८० ॥

भाषा०—जो पुरुष, श्रीमान, दिव्य गुणों के सागर, उपनिषदों द्वारा प्रतिपादन करने योग्य, जगत के कारण, शरणागत पालक, विश्व की सृष्टि करने की शक्ति से सम्पन्न, ब्रह्मादि देवों के भी ईश्वर, उत्पत्ति—विनाश से रहित, ब्रह्मादिदेवों से पूजित, तारा सूर्य्य चन्द्रमा, विद्युत एवं अग्नि के भी प्रकाशक, वीरशत्रुओं के सभी प्रकार के अस्त्रों से अजय, पुनः पुनः उन शत्रु-समूहों के विजेता, चेतनों में चेतन, नित्यों में नित्य अद्वितीय, जगत-रक्षक, ब्रह्मा को उत्पन्न करने एवं वेद पढ़ानेवाले, सर्वज्ञ, रक्षक, तपस्या आदि से श्रेष्ठ-योगियों को भी दुर्लभ, कान्तिमान, और स्वतन्त्र हैं; वे, भगवत्परायण संसंगी—आचार्य्यवान मुमुक्षुओं से ध्यान एवं प्राप्त करने योग्य हैं ॥ १७९—१८० ॥

तथाविधं प्राप्यमथो मुमुक्षुः
सुचिन्तयन्नित्थमनुक्षणं सदा ।
सदा सदाचाररतं गुरुं वरं
ज्ञातुं भजेताऽखिलसंशयच्छिदम् ॥१८१॥

अन्वयप्र०—अथा (परमकारणस्य श्रीरामस्य ध्यानश्रवणानन्तरम्) मुमुक्षुः (लीलाविभूतिं त्यक्तुमिच्छुः) सदा (सर्वदा) अनुक्षणम् (प्रतिक्षणम्) इत्थं (पूर्वोक्तप्रकारकं प्राप्यं परब्रह्मश्रीरामम्) सुचिन्तयन् तथाविधं प्राप्यं (पूर्वोक्तप्रकारकप्राप्यं परमकारणभूतं श्रीरामम्) ज्ञातुं सदाचाररतम् अखिलसंशयच्छिदम् वरं (श्रेष्ठम्) गुरुं (परमतत्त्वोपदेष्टारम) भजेत (सेवेत) ॥ १८१ ॥

मुमुक्षुः सदा सर्वदाऽनुक्षणम् क्षणं क्षणमित्थं सुचिन्तयन् तथाविधमुक्तलक्षणं प्राप्यं श्रीराम ज्ञातुम् अखिलानशेषान् संशयान्संछिनत्तीति अखिलसंशयच्छिदम् अशेषसंदेहानां छेत्तारं वरं श्रेष्ठं विरक्तम्।

'गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निवर्त्तकः।
अन्धकारविरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ।"

इत्युक्तरीत्याऽज्ञानान्धकारनिवर्तनसमर्थं गुरुम्भजेत् समाश्रयेत्। कीदृशं सदा सर्वदा सदाचारे समीचीनाचरे रतम् ॥ १८१ ॥

भाषा०—तदनन्तर, मोक्षकी इच्छावाले वैष्णव, पूर्व में कहे हुए विशेषण-विशिष्ट सदा प्राप्त करने योग्य परब्रह्म श्रीरामजीका प्रतिक्षण चिन्तन करते हुए उन्हे जानने के लिये सदा सदाचार युक्त समस्त संशय को मिटाने वाले पूजनीय गुरु (परमतत्त्व के उपदेष्टा) की सेवाकरे ॥ १८१ ॥

सत्सङ्गतः सन् हि गतस्पृहो मुहुः
श्रीशं प्रपद्याऽथ गुरोर्मुखादसौ।
कर्म्माऽखिलं संपरिभुज्य चाऽत्मवान्
प्रारब्धमेवं प्रहताऽन्यकर्म्मकः ॥१८२॥
न्यासात्स्वतन्त्रेश्वरजातसद्दया-
निर्लूनमायान्वय एव दैशिकः।

हार्दोत्तमानुग्रहलब्धमध्य—
नाडीशुभद्वारबहिर्विनिर्गतः ॥१८३॥
मार्गं ततः सोऽर्चिरुपैतिमुक्त—
स्तथाऽर्चिषोऽह्नोदिनतः सुरार्चितः।
आपूर्य्यमाणं विविधैस्तु वासरैः
पक्षं प्रभूतोत्तमशर्म्मविज्वरः ॥१८४॥

अन्वयप्र०—असौ (मुमुक्षुः) मुहुः (पुनः पुनः) सत्सङ्गतः (समुपलब्धतत्वत्रयज्ञानानां सङ्गात्) गतस्पृहः (पराऽपरवैराग्यसम्पन्न अतएव) आत्मवान् सन् (स्वरूपज्ञानवान् सन्) गुरोर्मुखात् (तत्त्वत्रयज्ञानिनो मुखात्) श्रीशम् (श्रियः श्रीं भक्तवत्सलाम्" इतिमहर्षिवचनात् श्रियः श्रीः सीता तस्याईशं श्रीरामं) प्रपद्य (श्रीरामस्य शरणागतिं कृत्वा अथवा स्वस्वरूपे रामस्योत्कृष्टव्याप्तिमवगम्य) अथ (स्वस्वरूपे स्वशरीरे च रामस्य व्याप्त्यवगमानन्तरम्) एवं प्रहतान्यकर्मकः (एवं रीत्या प्रणष्टप्रारब्धेतरसमस्तकर्म्मा) अखिलं प्रारब्ध कर्म्म सम्परिभुज्य (सम्यग्निरवशेषं भुक्त्वा) न्यासादेव (स्वस्वातन्त्र्यपरित्यागादेव) स्वतन्त्रेश्वरजातसद्दयानिर्लूनमायाऽन्वयः (सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य निरङ्कुशेश्वरस्य श्रीरामस्य या मुक्तिप्रदायिनी दया कृपा तयोच्छिन्नजगन्मोहिनीमायासन्तानः अतएव) दैशिकः भगवद्देशं लब्धुं योग्यः "तदर्हति" ॥५।१।६३ इति ठञ्। अथवा दिशति—उपदिशतीति देशिक आचार्य्यः, तेन संस्कृतो दैशिकः पञ्चसंस्कारयुक्त इत्यर्थः "कुलत्थकोपधादण्" ॥४।४।४॥ इति ठकोऽपवादकेऽणि अस्मिन् पक्षे दैशिकपदं 'गुरोर्मुखात्' इत्यतः प्रागेवयोज्यम् उक्तार्थे तु यथास्थ.न युक्तम्) हार्दोत्तमानुग्रहलब्धमध्य-

नाडी शुभद्वारबहिर्विनिर्गतः (पुरुषोत्तमश्रीरामस्यानुग्रहेण लब्धाया मध्यनाड्याः मूर्ध्निविद्यमानात् द्वाराद्बहिर्निर्गतः) स मुक्तः (शरीरान्मुक्तः) प्रभूतोत्तमशर्म्मविज्वरः (भगवत्स्वरूपानुभवजन्य निरतिशयसुखेन विगतसंसारसंतापः) अर्चिर्मार्गमुपैति (तेजोऽभिमानिदेवो यत्र विद्यते तन्मार्गं प्राप्नोति) तथा अर्चिषः. अह उपैति (दिनाभिमानिदेवस्थानं प्राप्नोति) दिनतस्तु विविधैर्वासरैरापूर्य्यमाणपक्षमुपैति (शुक्लपक्षाभिमानिदेवस्थानम् प्राप्नोति) ततः (तस्मिन्मार्गे) सुरार्चितः (तत्तत्स्थानाधिपैर्देवैः पूजितो भवति) ॥१८२–१८३॥१८४॥

असौ मुमुक्षुः सत्सङ्गतः सतां सङ्गात् हि जातनिश्चयः मुहुर्गत. स्पृहो वस्तुमात्रे वीतरागः सन् गुरोर्मुखात् श्रीशं श्रीरामं प्रपद्य तत्प्रपत्ति विधाय एवमात्मवान् जातप्रशस्तज्ञान. अखिलं सकलं तत्फलं परिभुज्य प्रकर्षेण हतानि अन्यानि कर्माणि प्रपत्त्यतिरिक्तकर्मान्तराणि येन सः प्रहतान्यकर्मकः१८२

स दैशिकः न्यासात् न्यासादेव स्वतन्त्रस्य निरंकुशस्येश्वरस्य श्रीरामस्य जाता उत्पन्ना सती समीचीना दयातया निर्लूनो निश्छिन्नोमायान्वयो वस्तुमात्रेऽभिलाषो यस्य सः "लूञ् छेदने" निष्ठान्तः। हृदिजातो हार्दः स चाऽसावुत्तमोऽनुग्रह' श्रीरामहार्दोत्तमानुग्रहेण लब्धा या सुपुम्नाभिधा मध्यनाडी निर्गमनमार्ग' सैव शुभं मोक्षावह द्वारं तेन द्वारेण पाञ्चभौतिकाद्बहिर्विशेषेण निर्गतः ॥ १८३ ॥

ततः तद्द्वारबहिर्निर्गमादनन्तरं स एव विनिर्गतो मुक्तो मोक्षाधिकारी अर्चिर्मार्गम् अर्चीरूपं मार्गमुपैति प्राप्नोति। तथार्चिषः सकाशात् अहर्मार्गमुपैति ग्रामादायातीतिवदर्चिष इत्यादावपादाने पञ्चमी दिनतः अह्नः तत्र तत्र स्थैः सुरैर्देवैरर्चितः पूजितः सन् विविधैर्वासरैर्दिवसैरापूर्य्यमाणं पञ्चदशादिनात्मकं पक्षं मार्गं तत्र तत्र मार्गे प्रभूतानि प्रचुराणि उत्तमानि अमुक्तैरलभ्यानि यानि शर्माणि सुखानि तैर्विगतः संसारमहार्णवे नानायोनिपरिभ्रमणजन्यदुःखरूपो ज्वर. सन्तापो यस्य सः ॥१८४॥

भाषा०—जिस मुमुक्षु पुरुष का, बारम्बार के सत्संग से वैराग्यवान हो आचार्य मुख से श्रीसीताजी के नियन्ता श्री रामजी की

शरणागति करने से, प्रारब्ध से भिन्न समस्त पाप नष्ट हो गया एवं समस्त प्रारब्धकर्म्म के भोगने बाद, अपनी स्वतन्त्रता के परित्याग करने के कारण सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्री रामजी की समीचीन निर्हेतुकी-दया से माया सम्बन्ध निर्मूल हो गया है, ऐसा भगवद्-लोक प्राप्त करने योग्य अधिकारी, जीव, पुरुषोत्तम श्रीरामजी के अनुग्रह से प्राप्त सुषुम्नानाड़ी द्वारा शरीर से निकल मुक्त हो भगवान के स्वरूप के अनुभव से उत्पन्न निरतिशय सुख द्वारा सांसारिक तापों से छूट अर्च्चिर्मार्ग की प्राप्ति करते हैं और वहां के देवताओं से पूजित हो दिनाभिमानी देव-स्थान की प्राप्ति कर वहां की देवताओं से पूजित होते हुए शुक्ल पक्षाभिमानी देवस्थान में पहुचते हैं ॥१८२-१८३॥१८४॥

पक्षादुदङ्मासमथो षडात्मकं
तेभ्यश्च संवत्सरमब्दतोऽर्कम्।
चन्द्रं ततश्चन्द्रमसोऽथ विद्युतं
स तत्र तत्राऽखिलदेवपूजितः ॥ १८५ ॥

अन्वयप्र०-अथो (अनन्तरम्) पक्षात् (शुक्लपक्षाभिमानिदेवस्थानात्) षडात्मकम् उदङ्मासम् (उत्तरायण षण्मासाभिमानिदेवस्थानमुपैति) तेभ्यश्च (उत्तरायणषण्मासाभिमानिदेवानां स्थानेभ्यश्च) संवत्सरम् (संवत्सराभिमानिदेवस्थानमुपैति) अब्दतोऽर्कम् (संवत्सराभिमानिदेवस्थानात्सूर्य्यमुपैति) ततश्चन्द्रम् (सूर्य्यलोकाच्चन्द्रलोकं गच्छति) अथ चन्द्रमसो विद्युतम् (चन्द्रलोकाद्विद्युदभिमानिदेवस्थानं गच्छति) स (देहाद्बहिर्गतः) तत्र तत्र (पूर्वोक्तदेवस्थानेषु अखिलदेवपूजितः (उक्तस्थानस्थैर्देवैः सत्कृतोभवतिः) ॥ १८५ ॥

पक्षात् षडात्मकम् उदङ्मासम् उत्तरायणमासषट्कं मार्गमुतितीपै

पूर्वेणैव सम्बन्धः तेभ्य उत्तरायणमासेभ्यः संवत्सरं मार्गम् अब्दत:संवत्सरात् अर्कमार्गं ततोऽर्कात् चन्द्रं चन्द्रमसश्चन्द्रात् विद्युतं मार्गं स मुक्तः तत्रतत्र मार्गेऽखिलैर्देवैः पूजितः ॥ १८५ ॥

भाषा—वे मुक्तजीव, वहाँ की देवताओं से पूजित हो, उत्तरायण षडमासाभिमानी देवताओं के स्थान में पहुँचते, पुनः उनसे पूजित हो संवत्सराभिमानी देवताओं के स्थान में पहुँच उनसे पूजित होते हुए सूर्य्यलोक में पहुँचते, और फिर वहाँ की देवताओँ से पूजित हो चन्द्र लोक में पहुँच पुनः वहां की देवताओँ से पूजित होते हुए विद्युत–लोक में पहुँचते और वहाँ की देवताओं से पूजित होते है ॥ १८५ ॥

परं पदं सैव मुपेत्य नित्य-
ममानवो ब्रह्मपथेन तेन ।
सायुज्यकादि प्रतिलभ्य तत्र
प्राप्यस्य सन्नन्दति तेन साकम् ॥ १८६ ॥

अन्वयप्र०—एवं स (उक्तप्रकारेण सुषुम्नामार्गतो देहाद्बहिर्निर्गतः) अमानवः (मुक्तोजनः) तेन (पूर्वोक्तेन) ब्रह्मपथेन (परब्रह्म-श्रीरामलोकगमनमार्गेण) नित्यं परं पदम् (अयोध्याख्यं परं धाम) उपेत्य (प्राप्य) प्राप्यस्य (भगवतोरामस्य) सायुज्यकादि (सायुज्यसारूप्यसालोक्यसामीप्यमुक्तिम्) प्रतिलभ्य (लब्ध्वा) तत्रैव (अयोध्याख्ये महावैकुण्ठे) तेन साकम् (श्रीअयोध्या-नाथेन सह) सन्नन्दति (सम्यगानन्दति) ॥१८६॥

स मानवेभ्योऽन्यो-मानवो मुक्तस्तेन ब्रह्मपथेन अर्चिरादि मार्गेण नित्यं सनातनं परं सर्वोत्कृष्टं पदं श्रीवैकुण्ठम् उपेत्य उपगम्य तत्र श्रीवैकुण्ठे प्राप्यस्य श्रीरामस्य सायुज्यकं सायुज्यमादिर्यस्य तत् सालोक्यसामीप्यसार्ष्टि सायुज्यान्यतमं प्रतिलभ्य तेन प्राप्येण परब्रह्मणा श्रीरामेण सह संनन्दति सम्यक् समृद्धिजन्यसुखभोगपूर्वको विहरतीत्यर्थः ॥ १८६ ॥

भाषा—वे मुक्त जो सुषुम्ना मार्ग द्वारा शरीर से बाहर हुए है पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्मपथ (परब्रह्म श्रीरामजी के लोकमें गमन करने के मार्गद्वारा) प्राप्य श्रीरघुनाथजी के सायुज्यादि (सायुज्य, सारूप्य, सालोक्य और सामीप्य) को, पा, वहीं श्रीअयोध्यानाथ श्रीरामचन्द्रजी के साथ सम्यक—आनन्द करते हैं ॥ १८६ ॥

सीमान्त सिन्ध्वाप्लुत एव धन्यो
गत्वा परब्रह्मसुवीक्षितोऽनिशम् ।
प्राप्यं महानन्दमहाब्धिमग्नो-
नाऽवर्त्तते जातु ततः पुनः सः ॥ १८७ ॥

अन्वयम०—सीमान्तसिन्ध्वाप्लुतः (प्रकृतिमण्डलस्य सीमाभूता या विरजा नाम्नी नदी तस्यामाप्लुतः सम्यक् स्नातः) अनिशं निरन्तरम् परब्रह्म सुवीक्षितः (परब्रह्मणा श्रीरामेण निर्हेतुककृपाकटाक्षेण सुवीक्षितः अवलोकितः अतएव) धन्यः स एव (जनः) प्राप्यं (प्राप्तुं योग्यं श्रीरामम्) गत्वा (प्राप्य) महानन्दमहाब्धिमग्नः (निरतिशयानन्दमहासागरे निमग्नो जनः) जातु (कदाचिदपि) ततः (अयोध्याख्यस्थानात् पुनर्नाऽवर्त्तते नात्रागच्छतीति भावो वेदितव्यः) ॥ १८७ ॥

स ईदृशो धन्य एव सीमान्तसिन्ध्वाप्लुतः ससारतापहराऽमृतमहार्णवनिष्णातः अनिशं सततं परब्रह्मणा श्रीरामेण सुवीक्षितः कृपाकटाक्षनिरीक्षित. प्राप्य गत्वा महानन्दस्याऽपरिच्छेद्यानन्दस्य महाब्धौ मग्न.सन् ततः श्रीवैकुण्ठात् जातु कदाचिदपि स मुक्त. पुनर्नाऽऽवर्तते न निवर्तत इत्यर्थः ।

तथा च श्रुतिः—

"तेऽर्चिषमेवाऽभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽह्न अह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङेति मासान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्य-

मादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमानो इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते,, इति।

आचार्यपादैरप्युक्तम्-

सत्सङ्गाद्भवनिष्पृहो गुरुमुखाच्छ्रीशं प्रपद्याऽत्मवान्
प्रारब्धं परिभुज्य कर्म सकलं प्रक्षीणकर्मान्तरः।
न्यासेनैवनिरङ्कुशेश्वरदयानिर्लूनमायान्वयो-
हार्दानुग्रहलब्धमध्यधमनि द्वाराद्बहिर्निर्गतः।
मुक्तोऽर्चिर्दिनपूर्वपक्षषडुदङ् मासाब्दवातांशुमद्
ग्लौविद्युद्वरुणेन्द्रधातृमहितः सीमान्तसिन्ध्वाप्लुतः।
श्रीवैकुण्ठमुपेत्य नित्यमजडं तस्मिन्परब्रह्मणः।
सायुज्यं प्रतिलभ्य नन्दति समं तेनैव धन्यः पुमान्।
प्रातर्नित्यानुसन्धेयं परमार्थं मुमुक्षुभिः।
श्लोकद्वयेन संक्षिप्तं सुव्यक्तं वरदोऽब्रवीत्" इति॥ १८७॥

भाषा—प्रकृति मण्डल के सीमान्त पर स्थित विरजा नदी में सम्यक प्रकार से अवगाहित एवं परब्रह्म श्रीरामचन्द्र जी के कारण-रहित कृपा कटाक्ष से अवलोकित जन धन्य है, और वह निरन्तर प्राप्त करने योग्य श्री रामजी की प्राप्ति कर निरतिशय आनन्द के महासागर में मग्न हो, पुनः कभी भी वहां से नही लौटता॥ १८७॥

सदाऽनुसन्धेयमिमं त्रिकालं
मुमुक्षुभिस्तत्परमार्थमित्थम्।
ज्ञात्वा न चैवाऽस्ति सुवेदनीयं
जिज्ञासुभिस्तैरवशिष्यमाणम्॥१८८॥

अन्वयप्र०—(मुमुक्षुभिः इत्थम् (पूर्वोक्तरीत्या) त्रिकालम् (प्रातर्मध्याह्नसायङ्कालम्) सदाऽनुसन्धेयम् (प्रतिदिनं त्रिषु कालेषु चिन्तनीयम्) इमम् (पूर्वोक्तदेवयानमार्गम्) तत्परमार्थञ्च (श्रुति-स्मृतीतिहास पुराणेषु प्रसिद्धं परा मा लक्ष्मीर्यस्य स परमःसचासौ

अर्थः पदार्थश्चेति परमार्थस्तं भगवन्तं श्रीरामञ्च) ज्ञात्वा तैः (सुप्रसिद्धैर्मुमुक्षुभिः) जिज्ञासुभिः सुवेदनीयम् (ज्ञातव्यवस्तु) अवशिष्यमाणम्(पूर्वोक्तपदार्थेभ्योऽवशिष्टम्) नैचवास्ति ॥१८८॥

एवं दिव्यफलस्य तस्योपदेशं सकलसाधारणाधिकारिणं प्रत्याह-सदेति। स चासौ परमार्थस्तमिमं तत्त्वादिविचारपूर्वकं सुनिश्चितं प्राप्यं सदा मुमुक्षुभिस्त्रिकालमनुसन्धेयम् । प्रातर्मध्यान्हसायंकालमनुचिन्तनीयम् इमं मतं ज्ञात्वा च तैर्मुमुक्षुभिर्जिज्ञासुभिरवशिष्यमाणं सुवेदनीयं ज्ञातव्यं नैवास्तीत्यन्वयः ॥ १८८ ॥

भाषा—जिस मोक्ष चाहने वाले जिज्ञासु को, पूर्वोक्त रीति से त्रिकाल सन्ध्या में सदा अनुसन्धान करने योग्य उपर्युक्त 'अर्चिरादि—मार्ग' का ज्ञान हो जाता है, उनके लिये फिर कोई तत्त्वज्ञान शेष नहीं रह जाता ॥ १८८ ॥

गुरुद्रुहे नो न शठाय चेदं
न नास्तिकायोपदिशेत्कदाचन ।
नाऽवैष्णवायाऽपि रहस्यमुत्तमं
न दीनचित्ताय सुगोपनीयम् ॥१८९॥

अन्वयप्र०—अधिकारिणं दर्शयति—गुरुद्रुह इति। सुगोपनीयम् (निरतिशयगोपनीयम्) उत्तममिदम् (पूर्वोक्तग्रन्थप्रतिपाद्यम्) रहस्यम् (मतम्) गुरुद्रुहे (आचार्य्यद्रोहिणे) कदाचन (कस्मिश्चिदपि काले) नो (न) उपदिशेत् । शठाय (अनृजवे) नोपदिशेत् । नास्तिकाय (परलोकाभाववादिने) नोपदिशेत्। अवैष्णवायाऽपि नोपदिशेत् । दीनचित्ताय (दरिद्रमनस्काय)नोपदिशेत् ॥१८९॥

अनधिकारिणे कदापीदन्नोपदेशनीयमित्याह—गुरुद्रुहे इति । सुगोपनीयमतिशयेन गोपनीयमुत्तममिदमेतद्ग्रन्थप्रतिपाद्यं मतं रहस्यं गुरुभ्यो द्रोग्धीति गुरुध्रुट् तस्मै कदाचनापि नो निषेधार्थः नोपदिशेत् । शठाय गूढविप्रियकारिणे च नोपदिशेत्।नास्तिकाय वेदयज्ञब्राह्मणवैष्णवविनिन्दकाय

अवैष्णवाय वैष्णवभिन्नाय तद्विरुद्धाय च नोपदिशेत् । दीनचित्ताय कृपणाय अनेकैर्नञ्भिर्निषेधदाढर्च्यमिति ध्वनिः ॥ १८९ ॥

"अधिकारी निरूपण"

भाषा—इस परम गोपनीय उत्तम रहस्य को—जिसका इस ग्रन्थ में प्रति पादन हुआ है—गुरुद्रोही, शठ, नास्तिक, अवैष्णव और दरिद्र चित्तवाले (सांसारिक-विषय में लोलुप या अतृप्त, अथवा शून्य चित्त-वाले) को कभी भी उपदेश नही करना ॥ १८९ ॥

श्रुत्वा सुरसुरानन्दो रामानन्दादशेषतः ।
पृष्ट्वोत्तराणि च प्रश्नान् गुरून्नत्वाप सद्गतिम् ॥१९०॥

अन्वयप्र०-(श्रीसुरसुरानन्दस्वामी प्रणतिपुरस्सरस्वकृत-दशप्रश्नानामुत्तराणि स्वाऽचार्यमुखाच्छ्रुत्वा यत्फलं लब्धवान् तत्प्रदर्शनमुखेन श्रीमद्ग्रन्थकारः अस्य ग्रन्थस्य श्रवणफलं निर्दिष्टवान् श्रुत्वेतिश्लोकेन) सुरसुरानन्दः (ग्रन्थकारश्रीरामानन्दाचार्य्यस्य शिष्यः) गुरून् नत्वा (आदरस्य गुरुशब्दोत्तर द्वितीयाबहुवचनार्थत्वात् प्रणिपातस्य च नमधात्वर्थत्वात् तथाच आदरपूर्वकाचार्य्ये प्रणितिं विधायेत्यर्थः आदरश्चात्र सेवा रूपो बोध्यः "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" इति भगवदादेशानुसारात् तथाच प्रथमं सेवां विधाय पश्चात्प्रणतिं कृत्वा तदनन्तरम्) प्रश्नान् पृष्ट्वा ("किं तत्वं किञ्च जाप्यम्" इत्यादिचतुर्थश्लोकोक्तदशप्रश्नान् पृष्ट्वा) * रामानन्दात् (जगति प्रसिद्धिं गतस्य श्रीसंप्रदायस्याचार्याणां

* उत्तमपुरुऽपि प्रथम पुरुषस्य लिट्लकारस्य च प्रयोग शिष्टाना प्रदर्शयन् भगवान् श्रीरामानन्दाचार्य्यः ग्रान्थादौ ४ र्थ श्लोके उत्तमपुरुषस्थाने प्रथमपुरुष-प्रयोगं कृतवान् तथाऽत्रापि प्रथमपुरुषयोगं लिट्लकारञ्चाकार्षीत् । तथाच विदुषामपि व्यवहारो दृश्यते यथा—१ व्यातेने किरणावलीमुदयनः । २ म

श्रीशठकोप--श्रीनाथमुनि—श्रीरामानुजाचार्य्य—श्रीकूरेशाचार्य्यादीनां परमरहस्यभूतश्रीरामोपासनस्य प्रचारकात्स्वाचार्यात्) अशेषतः (सर्वाणि) उत्तराणि श्रुत्वा (अथवा अशेषतो नाम सर्वेषां प्रश्नानामुत्तराण्याकर्ण्य) सद्गतिम् (चिदचिद्विशिष्ट परब्रम्हणः श्रीरामस्य समीचीनज्ञानम्) आप *(प्राप्तवान् ॥१९०॥

एवं परमकारुणिकगुरुमुखोपदेशात्परममलभ्यं लभमानः कृतकृत्यो मुक्तः सुरसुरानन्द इत्याह–श्रुत्वेति। सुराणां देवानां सुरः सुरसुरो देवदेव. श्रीरामस्तमानन्दयति स्वानुष्ठानेन प्रसादयतीति सुरसुरानन्दः। यद्वा स आनन्दतीति आनन्दः प्रसन्नो यस्य सः। रामिति वीजे राबीजप्रतिपाद्ये आनन्दनमानन्दोयस्य स रामानन्दस्तस्मात्। यद्वा रामिति बीजप्रतिपाद्यं रहस्यत्रयानुष्टानेनानन्दयतीति रामानन्दः यद्वा रामं दाशरथिं रहस्यत्रयाद्यनुष्ठानेनऽऽनन्दयतीति रामानन्दः। यद्वा रामे दाशरथौ तद्वात्सल्यादिगुणात-च्छरण्यत्वादिचिन्तनादिनाऽनन्दो यस्यसः। यद्वा विनाऽपि प्रत्ययं पूर्वोत्तर-पदयोर्लोप इत्युक्त्या भीमो भीमसेनो वेदव्यासो व्यास इतिवत् रामान्

नतरितीर्णविद्याऽर्णवो-जगन्नाथपण्डितनरेन्द्रः। रसगङ्गाधरनाम्ना करोति कुतुकेन काव्यमीमांसाम् ।३नत्वा वरदराजः श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान्। करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीम् ।४ सरस्वतीदत्तवरप्रसादश्चक्रे सुबन्धुः सुजनैकबन्धुः। प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधिर्निबन्धम् (वासवदत्ता) ५ बहु जगद पुरस्तात्तस्य मत्ता किलाहम् (३९। माघः ११ सर्गे] ६ उत्तम पुरुषे चित्तविक्षेपादिना पारोक्ष्यम् कौमुदी) एतन्मतेतु कुत्रचित् ग्रन्थारम्भजाऽतिहर्षजन्यचित्तविक्षेपः कुत्रचित् ग्रन्थसमाप्तिजातिहर्षजन्यचित्तविक्षेपः ज्ञातव्यः। आदिना तु कुत्रचित् चित्तक्षेपाऽभावे ऽपिपारोक्ष्यं द्योतितं कौमुदीकारेण। तथाच कुत्रापि दोषदृष्टिस्थानं न विद्यते इति विदुषां पूज्यपादानां मत समीचीनम्। नात्र कुचोद्यकरणशालिनामवकाशः। वस्तुतस्तु नाप्युत्तमपुरुष पारोक्ष्याऽनुपपत्तिः किन्तु 'श्रीसुरसुरानन्दः सद्गतिमाप' इत्यत्रान्तर्बहिर्व्याप्तिमत्त्वेन सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट स्थूलचिदचिद्विशिष्टतया कार्यकरणस्वरूपतया च सामानाधिकरण्यविशिष्टत्वं श्रीरामस्य तद् विषयकश्रीसुरसुरानन्दकर्तृकसमीचीनज्ञानप्रापणस्य पारोक्ष्य सर्वेषामभिमतं तस्य चाक्षुषप्रत्यक्षत्वाभावात् इति सहृदयैर्विभावनीयम् इति दिक् ।

रामभक्तान् सुरसुरानन्दादीन् तत्त्वाद्युपदेशेनाऽऽनन्दयतीति रामानन्दः। यद्वा रामभक्तेषु तद्दर्शनसंङ्गादिनाऽऽनन्दो यस्य स रामानन्दः। यद्वा–"सुन्दरी रमणी रामा कोपना सैव भामिनी" इति कोशाल्लोकोत्तरसौन्दर्य कुटातिशयलावण्यवती रामा सीता सा च रामश्च "पुमान् स्त्रिया" इति एक शेषे रामौ सीतारामौ स्वानुष्ठानेनानन्दयतीति रामानन्दः। यद्वा तयोः पृथक् पृथग्गुणादिस्मरणेनाऽऽनन्दो यस्य स रामानन्द इत्याद्यूह्यम्। तस्माद्-शेषतः अशेषान् सकलान् सार्वविभक्तिकस्तसि· प्रश्नान् पृष्ट्वा उत्तराणि च दत्तोत्तरान् श्रुत्वा गुरुं श्रीरामानन्दं नत्वा साष्टांग प्रणम्य सद्गति मुक्तिम् आप प्रापेत्यर्थः। अनेन च सद्गुरूपासनपूर्वकप्राप्तश्रीरामतत्त्वाद्यनुष्ठानहेतुका जितेन्द्रियात्मरतबुधमुमुक्षुदायभूता मुक्तिरिति-ध्वनितम्। एवं च बहुदुःखे संसारमहार्णवे प्रवर्त्तनावर्त्तनपरम्परालब्धाऽनेक-जन्मावसानवर्णाश्रमोचितमनुष्यशरीराधिकारिसद्गुरुपरजिज्ञासुभिरित्थमेतदवश्यानुष्ठेयमिति बोध्यम्॥ १९०॥

भाषा—श्री सुरसुरानन्द स्वामी ने अपने दश प्रश्नों के उत्तर सून, जो फल लाभ किया, उस को दिखलाने के व्याज से श्रीमान ग्रन्थकार श्रीरामानन्दाचार्य्यजी श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर के श्रवण का फल इस श्लोक में दिखलाते है–श्रीसुरसुरानन्द, स्वाचार्य्य (मुक्त) को सेवा पूर्वक प्रणाम (साष्टांगदण्डवत्) और (तत्त्व क्या है, इत्यादि ४ र्थ श्लोकोक्त) दश प्रश्नों को कर; (जगत् प्रसिद्ध श्रीसम्प्रदाय के प्रचारकाचार्यों श्रीशठकोप स्वामी जी, श्रीनाथमुनि जी, श्री स्वामी रामानुजाचार्य्य जी, श्रीकूरेश स्वामीजी, प्रभृति की परम रहस्यरूप जो रामोपासना उसके प्रचारक) (मुक्त) श्रीरामानन्द से उन प्रश्नोके उत्तारों को सुन; चित् (चेतन) अचित् (जड़) से विशिष्ट ब्रह्म (श्री रामतत्त्व) का समीचीन ज्ञान प्राप्त किया॥ १९०॥

जितेन्द्रियः प्रपन्नस्तं बुध आत्मरतिर्हरिम्।
आप्नुयात्परमस्थानं योऽनुतिष्ठेदिदं मतम्॥१९१॥

अन्वयः०—(अस्य ग्रन्थस्य श्रवणफलकथनानन्तरम्

अस्मिन् ग्रन्थे उपदिष्टानां श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणसारभूतानां मुमुक्षुभिरवश्यमेव कर्त्तव्यानामनुष्ठानानां फलप्रदर्शनमुखेनाऽधिकारिणः प्रदर्शितवान् श्रीमद्ग्रन्थकारः जितेन्द्रिय इति) यो बुधः जितेन्द्रिः (कृतेन्द्रियदमनः सन्) इदं मतम् (श्रुतिमुनिसुमतं शिष्टमुख्यैर्गृहीतं षडक्षरब्रह्मविद्यैव परमैकान्तिनां शरणागतिविधायकत्वेन भगवतोऽभिमतम् मतं भगवत आरभ्य विष्वक्सेन शठकोपनाथमुनिप्रभृतिभिः परमार्थसाधनत्वेन निर्णीतं पञ्चसंस्कार पूर्वकार्चिरादिमार्गप्रपन्नपुरस्सरभगवदर्चनरूपम्) अनुतिष्ठेत् (कुर्यात्) इत्थंभूतोऽनुष्ठाता आत्मरतिः (परमात्मनि श्रीरामे अनुरागवान् सन्) तम् (श्रुतिस्मृतिपुपरमप्राप्यत्वेन प्रसिद्धम् एतद्ग्रन्थप्रतिपाद्यम्) हरिम् (करुणादिगुणमहोदधित्वेन भक्ताऽखिलदुःखापहारकम् श्रीरामम्) प्रपन्नः (प्रपत्तिं कृतवान् जनः) परमं स्थानं ("यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम" इति गीतायां भगवतोद्दिष्टं त्रिपाद्विभूतिस्थतुर्य्यातीताख्यस्थानम्) आप्नुयात् (अत्र विधौ लिङ्विधानात् इतिदेहविधिः सूचितः श्रीमद्ग्रन्थकारैरिति) ॥ १९१॥

अथैतद्ग्रन्थप्रतिपाद्यवस्तुप्राप्तयेऽधिकारिणः प्रोत्साहयत्याचार्य्यः—जितेन्द्रिय इति। योऽधिकारी जितानि ध्यानधारणासमाधिभिर्वशीकृतानि इन्द्रियाणि येन सः बुधो गुरूपदिष्टज्ञानवान् आत्मनि परमात्मनि श्रीरामे रतिरनुरागो यस्य स आत्मरतिः हरिं श्रीरामं प्रपन्नः सन् सर्वलोकशरण्यशरणागतवत्सलश्रीरामप्रपत्तिं कुर्वन् सन् इदम् एतद्ग्रन्थप्रतिपादितमतम् अनुतिष्ठेदाचरेत् स मुमुक्षु परमं "यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" इत्युक्त लक्षणं स्थानम् आप्नुयात्प्राप्नुयादित्यर्थः। तथा चावश्यमेवेदं मुमुक्षुभिरधिकारिभिरनुष्ठेयमिति भावः॥ १९१॥

ऐसे अनुष्ठाता श्रीरामजी में अनुराग वाले होते हुए वेद और पुराणों में परम प्राप्य कह कर प्रसिद्ध इस ग्रन्थ (श्रीवैष्णव मताब्ज

भास्कर) के प्रतिपाद्य श्रीरामजी की शरणागति कर परम स्थान (त्रिपाद्विभूति में साकेत, अयोध्या; तुर्य्यातीत आदि शब्दों से प्रसिद्ध स्थान) को प्राप्त करे इसी वैदिक विधि की श्रीमान् ग्रन्थकार ने सूचना या उपदेश दिया है ॥ १९१ ॥

रामानन्दीयः श्रीवैष्णवपूर्वो मताब्जभाष्कर आ (आः)
हृत्वाऽज्ञानसुतिमिरं ज्ञानाब्जं हृदि विकाशयतु १९२

अन्वयप्र०—(श्रीमदाचार्य्यः "ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते मङ्गलमाचरणीयम्" इति शिष्टाचारं स्वशिष्यशिक्षार्थमनुतिष्ठन् ग्रन्थान्तेऽपि मङ्गलं निवध्नाति रामेति) रामनन्दीयः (अस्य ग्रन्थस्य कर्त्ता श्रीमद्रामानन्दाचार्य्येण प्रोक्तः) श्री वैष्णवपूर्वो मताब्जभास्करः (श्रीवैष्णवमताब्जभास्करः) अज्ञानसुतिमिरम् हृत्वा (एतद्ग्रन्थमननशीलानामज्ञानान्धकारमपहाय) हृदि (मनसि) ज्ञानाब्जम् विकाशयतु आ (आ–इति वाक्यपूरणे "आ प्रगृह्यः स्मृतौ वाक्येऽनुकम्पायां समुच्चये" इतिमेदनी । इति स्वयं श्रीमदाचार्य्यः आशीर्वादात्मकं मंगलं विधाय समस्तग्रन्थ-रूपमहावाक्यं समाप्तवान् । अथवा सविसर्गस्याऽकारस्य-स्वीकारे अश्च आश्च आश्च आश्चेति आः तत्सम्बुद्धौ हे आः अर्थात् हे अ ! (हे विष्णो !) हे आ !(हे ब्रह्मन्) हे आ (रामोपोसकशिव !) हेआ (आचार्य्याः नाम्न एकदेशग्रहणेन नाममात्रस्यग्रहण मितिसिद्धान्तम्) रामानन्दीयः मयारामानन्देन निर्मितः श्री वैष्णवमताब्जभास्करः पाठकानामज्ञानान्धकारं हृत्वा हृदि ज्ञानाब्जं विकाशयतु इत्याशीः भगवद्भागवताचार्येभ्यः प्रार्थितवान् इति । " अकारो वासुदेवः स्यादाकारश्च पितामहः इति कोषः "आकारः शङ्करे प्रोक्तः' इति च कोषः ॥ १९२ ॥

एतादृशेन जगद्गुरुणा श्रीरामानन्दाचार्येण निर्मितः 'श्री वैष्णवमताब्जभास्करः' श्रीवैष्णवानां मतं = सिद्धान्तं तदेव कमलम् तस्य विकाशको भास्करः 'सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यः' इतिमहर्षिसिद्धान्तात् श्रीरामः तस्याऽन्वयः (श्री जानकी, श्रीविष्वक्सेन-श्रीशठकोपप्रभृतयः शिष्यवर्गाः तेषां प्रकाशः ज्ञानं यस्मिन् व्याख्याने तदन्वयप्रकाशाख्यव्याख्यानमेतत्) च्छ्रीवैष्णवानांकरकमलेसमर्पयामि

इति श्रीभगवद्भागवताचार्य्यकैङ्कर्य्यप्रचारकाचार्य्य सारण्य
(छपरा) मण्डलान्तर्गतसरयूतटस्थ'सेमरिआ' पीठ-
धर्मनिर्वाहकपयहारिश्री गङ्गादासचरणा-
श्रितबलभद्रदासकृतान्वयप्रकाश
सहितः 'श्रीवैष्णवमताब्ज-
भास्करः समाप्तः ।

अथाऽऽचार्य्यो ग्रन्थान्ते तस्यादिमध्यावसानेषु अवश्यविधेयं मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थमाचरन्निबध्नाति-रामेति। रामानन्देन प्रोक्तो रामानन्दीयः "तेन प्रोक्तो वृद्धाच्छः" इतिच्छः श्रीवैष्णवानां मतमब्जं कमलमिवश्रीवैष्णवमताब्जं तस्य विकाशकत्वाद्भास्कर इव भास्करः सूर्य्य इति श्री वैष्णवमताब्जभास्करः सततं । महतां महात्मनां हृदि हृदये ज्ञानमब्जमिव ज्ञानाब्जं विकाशयतु प्रकाशयतु । किं कृत्वा हृदि हृद्विषयकम् अज्ञानं सुतिमिरमन्धकार इव अज्ञानसुतिमिरं हत्वा नाशयित्वा । एवं च यथा भास्करः स्वकिरणसन्दोहैः कमलानिचयं विकाशयति । तथाऽयं मोक्षसाधकं ज्ञानं श्री वैष्णवमताब्ज-भास्करो ग्रन्थः प्रकाशयति । अतो महद्भिरनुष्ठितोऽयं महतांहृदये निरन्तरं ज्ञानं विकाशयतु इत्याशीर्वादोक्तिः ॥ १९२ ॥

आविश्य लोकत्रयमीश्वरो यो विभर्ति नित्यं पुरुषोत्तमः सः ।
श्रीजानकीजानिरमर्त्यवन्द्यः सह श्रिया तिष्ठतु मानसे मे ॥
रघुवरशरणकृतेयं व्याख्यार्थप्रकाशिका नाम ।
शरशिखिनवकुमितेऽब्देऽगात्पूर्त्तिं श्रावणे कृष्णे ॥

इतिश्रीसाकेतजन्मस्थाननिवासिविद्वद्रघुवरशरणकृता श्रीरामानन्दीय-श्रीवैष्णमताब्जभास्करव्याख्याऽर्थप्रकाशिका नाम समाप्ता सम्वत् १९३५

भाषा०—श्रीमान् ग्रन्थकार श्रीरामानन्दाचार्य्य "ग्रन्थके आदि, मध्य तथा अन्त में मंगलाचरण करना चाहिए" इस शिष्टाचार को अपने शिष्यों के उपदेश के लिये अपने ग्रन्थ के अन्त में आशीर्वादात्मक मंगलाचरण करते है कि—मुझ (श्रीरामानन्दाचार्य) से निर्मित (बनाया हुआ) 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर' पाठकों के अज्ञानान्धकार को दूर कर हृदय में ज्ञानरूप कमल को प्रफुल्लित (विकसित) करे। इस प्रकार भगवान् श्रीरामानन्दाचार्य ने स्वयं पाठकों को आशीर्वाद देकर 'श्रीवैष्णवमताब्ज भास्कर' रूप महावाक्य की समाप्ति की है। अथवा उक्त श्लोक के द्वितीय चरण के अन्त में 'आः' पद है उसका अ, आ' आ, आ, ऐसा पदच्छेद होने से हे भगवन् (श्रीराम) हे ब्रह्मन् ! हे शिव ! (हे भागवत) हे आचार्य्य ऐसा अर्थ होने से श्रीमान् ग्रन्थकार भगवत् भागवत आचार्य्य से पाठकों के लिये उक्त आशीर्वाद की प्रार्थना की है॥१९२॥

ऐसे जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य्य विरचित "श्रीवैष्णवमताब्ज-भास्कर" श्री वैष्णवों के मत सिद्धान्त रूप कमल के प्रफुल्लित प्रचार करने वाले भास्कर "सूर्यस्यापि भवेत्सूर्य्यः" इस महर्षि कथन से श्रीरामजी के अन्वय श्रीसीता जी आदि शिष्य परम्परा के प्रकाश ज्ञान है जिस व्याख्यान में उस श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर के अन्वयप्रकाश की रचना कर श्री वैष्णवों को समर्पण करता हूँ।

इति श्रीभगवद्भागवताचार्य्यकैङ्कर्य्यप्रचारकाचार्य्य सारण्य [छपरा]
मण्डलान्तर्गतसरयूतटस्थ 'सेमरिआ' पीठधर्मनिवाहक—
पयहारि श्रीगङ्गादासचरणाश्रितबलभद्रदासकृतः
श्रीवैष्णवमताब्जभास्करस्य भाषात्मकान्वय—
प्रकाशः समाप्तः ॥



बाबू नन्दन प्रसाद द्वारा—'सत्यनाम प्रेस' मैदागिन, काशी में मुद्रित।

॥ श्रीः ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

श्रीमते रामानन्दाय नमः ॥

श्रीरामार्चनपद्धतिः ।

श्रीमन्तं दलितेन्द्रनीलमणिभं भग्नेशकोदण्डकं
रामं निर्जितभार्गवं जनकजापाङ्गेक्षितं राघवम् ।
शश्वत्पैत्र्यनिदेशपालनपरं रक्षोऽरिकक्षानलं
पूजापद्धतिमर्चितुं वितनुते स्मृत्वा यतिक्ष्मापतिम् ॥१॥

श्री सीतादेव्यै नमः ।

श्रीमते रामानुजाय नमः । श्रीमते रामायनन्दाय नमः ।

जयत्याश्रित-संत्रास-ध्वान्त-विध्वंसनोदयः ।
प्रभावान् सीतया देव्या परमव्योमभास्करः ॥

(वे० दे०)

अन्वयप्र०—शश्वत्पैत्र्यनिदेशपालनपरम् (सर्वदा पितुराज्ञापालने तत्परम्) रक्षोऽरिकक्षानलम् (राक्षसादिशत्रुरूपतृणपुञ्जानामनलम्) दलितेन्द्रनीलमणिभम् (स्वकान्त्या इन्द्रनीलमणेराभां दलितवन्तम्) भग्नेशकोदण्डकम् (शङ्करचापं भग्नवन्तम) निर्जितभार्गवम् (परशुरामं निर्जितवन्तम्) जनकजाऽपाङ्गेक्षितम् (जानक्या नेत्रकोणाभ्यां दृष्टम्) श्रीमन्तम् (सीतासहितम्) राघवम् (रघुकुलतिलकम् अथवा चतुर्विधानां रघूणां जीवानां नियामकम्) रामम् श्रुतिस्मृतिषु परब्रह्मत्वेन प्रसिद्धम्) अर्चितुम् (पूजितुम्) यतिक्ष्मापतिम् (यतिराजं श्रीरामानुजाचार्य्यम्) स्मृत्वा (स्वयोगमहिम्ना श्रीरामानुजाचार्य्यस्य रहस्यभूतां पूजापद्धतिं स्वबुद्धिविषयां कृत्वेतिस्मरणप्रयोजनम्) पूजापद्धतिम् (पूजायाः सरणिम् क्रमम् वा) वितनुते (अयं श्रीरामानन्दाचार्यः आनुपूर्वीशं श्रीरामानुजाचार्य्यस्य पूजापद्धतिं विस्तारयति) 'तनु' इत्यस्य

विस्तारार्थत्वम् अत्र वीत्युपसर्गस्य विशेषत्वं नाम आनुपूर्वीयत्वं ज्ञातव्य-मिति तत्त्वम् ॥ १ ॥

भाषा०—निरन्तर पिता की आज्ञा पालन करनेमें तत्पर, राक्षसादि शत्रु रूप तृणपुञ्ज का नाश करने में अनलरूप, अपनी कान्ति से इन्द्रनील मणि की आभा को दलन करने वाले, श्रीशङ्करचाप को भग्न करने वाले, परशुरामजी को परास्त करने वाले, श्रीसीताजी के नेत्र कोण से देखे जाने वाले श्री सीताजी के सहित रघुकुल तिलक, अथवा अण्डज पिण्डज, ऊष्मज और स्थावर जीवों के एक मात्र नियमन कर्ता श्री-रामजी की पूजा करने के लिये; यतिराज श्रीरामानुजाचार्य्य का स्मरण कर अर्थात् अपने योग महिमा से श्रीरामानुजाचार्य्य की रहस्य पूजा-पद्धति को स्वबुद्धि विषय कर श्रीरामानन्दाचार्य्य आनुपूर्वीय श्री-रामार्चनपद्धति का विस्तार करते है। 'तनु' धातु विस्तार अर्थ में है और 'वि' उपसर्ग का विशेष अर्थ है। यहाँ पर विशेषत्व माने आनु पूर्वीयत्व है अर्थात् श्री रामानन्दाचार्य्यजी ने अपने योग बलसे श्रीरामा-नुजाचार्य्यजी की पूजा पद्धति जैसी पाई उसको वैसाही लोक हित के लिये विस्तार किया।

यह पद्धति श्रीरामानन्दाचार्य्यजी के समय में लुप्त थी। उस समय दूसरी ही पूजापद्धति से लोक काम लेते थे। जब यह पूजा पद्धति प्रकट हुई तब परमैकान्तिक श्रीवैष्णवगण इसको अपनाया और कुछ परमैकान्तिक वैष्णवगण इसका विरोध करने लगे और पुरानी पद्धति वालों की दल बन्दी कर नयी पद्धति का अनुमोदन, समर्थन और अनुसरण करने वालों का बहिष्कार करते हुए अपने दल को सुदृढ़ बनाने लगे यही कारण है कि परमैकान्तिक बहुतेरे बड़गल और तिङ्गल भी इस दल में आमिले। अतः श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवों में आज अनेकों स्थान धारी महन्त और सन्त बड़गल देख पड़ते हैं। तिङ्गल तो इनके तिङ्गल होने के कारण बिलकुल इन्ही में मिलकर

एक होगये। यह उक्त परामर्श 'स्मृत्वा यतिश्नापतिम्' के स्मृत्वा पद से और साम्प्रतिक समाज की स्थिति से सिद्ध होता है। 'स्मृत्वा' के स्थान में 'नत्वा' आदि प्रयोग न कर 'स्मृत्वा' प्रयोग करने का सबसे उत्तम तात्पर्य्य इसके सिवा और क्या हो सकता है कि जब श्रीमान् ग्रन्थकार पूजा पद्धति लिखने बैठे उस समय श्रीरामानुजाचार्य्यजी का स्मरण उनकी बनायी पूजा सम्बन्धी पद्धति के अनुकूल पद्धति रचने के लिये किया। इस प्रकार स्मरण कर आपने अपने योग बलसे श्री भाष्यकार का रहस्य पूजा पद्धति जानली इस में किसी को रञ्च मात्र भी सन्देह नहीं हो सकता कारण कि आपकी योग महिमा सभी पर विदित है जो अद्यावधि योगबल से धरातल में वर्तमान रहने वाले श्रीअनन्तानन्दजी, श्रीसुरसुरानन्दजी, श्रीकबीरदासजी, आदि त्रिकाल दर्शी शिष्यों और श्रीकृष्णदासजी पयोहारी आदि प्रशिष्यों से सेवित थे ॥१॥

श्रीनारायण कृष्ण माधव हरे गोविन्द दामोदर
श्रीराम क्षणदाचरान्तक विभो लक्ष्मीपते वामन।
विष्णोऽधोक्षज वासुदेव नृहरे श्रीकेशवानन्त हे
श्रीवैकुण्ठ भवाब्धिमग्नमिह मा शीघ्रं चिरायोद्धर॥ २॥

अन्वयप्र०-हे श्रीनारायण! हे कृष्ण! हे माधव! हे हरे! हे गोविन्द हे दामोदर! हे श्रीराम! हे क्षणदाचरान्तक! हे विभो! हे लक्ष्मीपते! हे वामन! हे विष्णो हे अधोक्षज! हे वासुदेव! हे नृहरे! हे अनन्त! हेश्री वैकुण्ठ! चिराय (चिरकालतः) भवाब्धिमग्नम् (संसारसागरे निमग्नम्) मामिह (जन्मनि) शीघ्रमुद्धर॥ २॥

भाषा०-हे नाराय! हे कृष्ण! हे माधव! हे हरि! हे गोविन्द! हे दामोदर! हे राम! हे निशाचरान्तक! हे विभु! हे लक्ष्मीपति! हे वामन हे विष्णु! हे अधोक्षज! हे वासुदेव! हे नरसिंह! हे केशव! हे अनन्त! हे वैकुण्ठ! चिरकाल से संसार सागर में निमग्न मुझको शीघ्र इसी जन्म में उद्धार करो॥२॥

रामानन्दबुधो दयाजलनिधिं श्रीराघवानन्दनं
श्रीमन्तं मुनिपुङ्गवं च हरियानन्दं श्रियानन्दकम्।
देवानन्दमथो सदागुणगणैराढ्यं मुनीशं वरं
द्वारानन्दमुनिं मुनीश्वरवरं रामेश्वरं सद्वरम्॥ ३ ॥

१—सोऽहं श्री बलभद्रदासविनयी, श्रीमन्तमाचार्य्यकं
गङ्गादास मुनिं * यतीन्द्रमतदं पौहारिनाम्ना श्रुतम्।
दासान्तं पवहारिणं परगुरुं रामस्वरूपं मुनिं
ऽऽ गायत्रीजपनिर्मलं गुरुवरं श्री कृष्णदासाभिधैः॥ १ ॥
धृत्वा हस्तिवपुः सुदीक्षणपरैः पौहारिभिः स्थापितं
पैकौली नगरात्सुदूर विजने सान्द्रे सुरम्ये वटे।
श्रीलक्ष्मीपदपूर्वकं बुधवरं नारायणं सद्गुरुं
श्रीमन्तं मुनिराजमार्त्तिहरणेऽयोध्याप्रसादं प्रभुम्॥ २ ॥
श्रीमन्तं हि प्रसादकं बुधवरं, श्री जानकी पूर्वकं
प्रासादं रघुनाथपूर्वमज + नुद्रामप्रसादं गुरुम्।
योगीन्द्रं हरिदासकं चरणदा,-सं नन्दलालं मुनिं
लक्ष्मीराम मथो रमेश्वरलिदं, श्री मस्तरामं गुरुम्॥ ३ ॥
श्री मल्लक्ष्मणदासकं श्रुतिधरं, विद्यातपो वारिधिं
श्रीकं श्रीगुरुवर्य्य—रामभगवद्, दासं हरिस्तावकम्।
श्रीमंतं गुरुमग्रदासममृतं, श्री कृष्णदासं गुरुं
पौहारीत्युपनामकं, गुरुमनन्तानन्दकं सद्गुरुम्॥ ४ ॥

एवं सर्वैः श्रीरामानन्दीयैः श्रीवैष्णवैः स्वगुरोरारभ्य श्रीमद्—रामानन्द स्वामिपर्य्यन्तं सर्वाणि श्रीगुरूणां नामानि पद्ये निबध्य मूल उक्तायां श्री रामनन्दाचार्य्यविरचितपद्यबद्धगुरुपरम्परायां सम्बध्य "रामनन्दमथो" इति पूर्वाचार्य्य परिवर्त्तितपाठमनुसृत्यैव गुरुपरम्परा स्मर्त्तव्येत्युचितं प्रतिभाति।

२—जयपुर राजधानीस्थ श्री १०८ युत स्वामि श्रीबालानन्द महाराज-सिंहासनासीन श्री १०८ युत स्वामी श्रीरामकृष्णानन्दजी महाराज सन्निधौ

---

* यतीन्द्रस्य श्रीरामानुजाचार्य्यस्य मत सिद्धान्त ददातीति यतिन्द्रमतदस्तम्।

× अज विष्णुं नौतीति अजनुत् "अजो हरौ हरे कामे विधौ छागे रघोः सुते" इति विश्वकोषात्।

ऽऽ विदित होकि मैंने पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय अयोध्या वासी १०८श्रीयुत

श्रीमन्तं मुनिवर्यमेव च सदाचार्य्य च गङ्गाधरं
वन्द्य त पुरुषोत्तम च सदय देवाधिपं सद्वरम् ।
वैराग्यादिनिधिं गुणैकनिलयं श्रीवोपदेवं कविम्
श्रीविद्यागुणवारिधिं मुनिवरं श्रीमाधवाचार्य्यकम् ॥ ४ ॥
कूरेशं यतिराजमद्भुतगुणं रामानुजं सद्वरं
पूर्णं श्रीमुनियामुनं मुनिवरं श्रीराममिश्र तथा ।
श्रीमन्तं मुनिपुण्डरीकनयनं नाथं मुनिं श्रीशठ—
द्वेषं श्रीपृतनापतिं जनकजां रामं सदा संश्रये ॥ ५ ॥

अन्वयप्र०—अहं रामानन्दबुधः, दयाजलनिधिं श्रीराघवानन्दनम्, श्रीमन्तं मुनिपुङ्गवं हरियानन्दम्, श्रीयानन्दकम्, देवानन्दञ्च, अथो सदागुणगणैराढ्यं वरं मुनीशं द्वारानन्दमुनिम्, मुनीश्वरवर सद्वरं रामेश्वरम् ॥ ३ ॥

अन्व०—सदाचार्य्यम् (सतां देशिकम्) मुनिवर्य्यम् (मुनिश्रेष्ठम्) श्रीमन्तं गङ्गाधरञ्च, वन्द्यम् (जगद्वन्दनीयम्) तम् (जगद्वन्दनीयत्वात्प्रसिद्धम्) पुरुषोत्तमञ्च, सदयम् सद्वरम् (परदुःखापनोदनेच्छाविशिष्टत्वात् सतां श्रेष्ठम्) देवाधिपम्, वैराग्यादिनिधिं गुणैकनिलयं कविं श्रीवोपदेवम्, श्रीविद्यागुणवारिधिं मुनिवरं श्रीमाधवाचार्य्यकम् ॥४॥

अन्व०—कूरेशम्, अद्भुतगुण यतिराजं रामानुजम्, सद्वरं पूर्णम्, श्रीमुनियामुनम्, तथामुनिवर श्रीराममिश्रम्, श्रीमन्तं मुनिपुण्डरीकनयनम्, नाथंमुनिम्; श्रीशठद्वेषम्; श्रीपृतनापतिम्, जनकजाम्, रामम्; सदासंश्रये ॥५॥

१६२१ विक्रमाब्दलिखितपुस्तके "रामानन्द बुधो" इति पाठः । १९६५ विक्रमाब्दे काश्यां लीथो मुद्रिते पुस्तके "रामनन्दमथो" इति पाठश्च विद्यते । तत्र 'बुधो' इत्येवपाठः श्रीमद्ग्रन्थ काराणां प्रतिभाति । प्राचीन लीपीनिबद्धत्वात् । "आश्रये" इति क्रियायां समन्वयात् । 'मथो' पाठस्तु श्रीमद्ग्रन्थकारशिष्य प्रभृतिभिः स्वाचार्य्यस्मरणार्थं परिवर्तितः । एतादृश्याः प्राचां शैल्याः सम्प्रदाये जागरूकत्वात् । तथाहि दृश्यते-

लोकगुरुं गुरुभिः सह पूर्वं कूरकुलोत्तमदासमुदारम् ।
श्रीनगपत्यभिरामवरेशौ. दीप्रशयान गुरुञ्च भजेऽहम् ॥

पवाहारी श्री अवधकिशोर दासजी महाराज के मुख से सुना था कि १०८ श्रीयुत पवाहारी श्रीकृष्णदास जी महाराज हाथी का शरीर धारण कर, गायत्री जपसे

भावार्थ– मैं श्री रामानन्दाचार्य्य, दयासागर श्री राघवानन्दाचार्य्य; श्रीहरियानन्दाचार्य्य, श्री श्रियानन्दाचार्य्य; श्रीदेवानन्दाचार्य्य, श्रीद्वारानन्दाचार्य्य; श्रीरामेश्वराचार्य्य; श्रीगंगाधराचार्य्य; श्रीपुरुषोत्तमाचार्य्य; श्रीदेवाधिपाचार्य्य; श्रीवोपदेवाचार्य्य; श्रीमाधवाचार्य्य; श्रीकूरेशाचार्य्य; श्रीरामानुजाचार्य्य; श्रीमहापूर्णाचार्य्य, श्रीयामुनाचार्य्य; श्रीराममिश्राचार्य्य श्रीपुण्डरीकाक्षाचार्य्य; श्रीनाथमुनि स्वामी; श्रीशठकोप स्वामी; श्रीविष्वक्सेनजी, श्रीसीताजी श्रीरामजी तक उक्त सभी गुरुओं का सर्वदा सम्यक् आश्रयण करता हूँ (शास्त्रोक्त रीति से कायिक वाचिक मानसिक सेवा करता हूँ)॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

इति स्त्वय श्रीववरमुनिभी रहस्यत्रयपरम्परानुसन्धायि । पश्चात्प्रतिवादिभयङ्करगुरुणा 'दीप्रयाय वरयोगिनमीडे, इति तुरीयचरणे मन्त्रेऽस्मिन् ऊहाँ कारीति सम्प्रदायः । अतः मथो इति पाठपरिवर्त्तनं समीचीनम् अस्माभिस्तथैव स्मर्त्तव्यम् ।

विमलान्तः करण श्री १०८ लक्ष्मीनारायणजी महाराज का पकड़ कर पैंकौली नगर से कुछ दूर पर एक सघन रमणीय वटवृक्ष के नीचे रख पुनः पूर्व शरीरको धारण कर सुदीक्षित कर पवाहार का आदेश और पवाहारी पदवी दे आप यथेच्छ स्थान में चले गये। कुछ दिन बाद् श्री १०८ लक्ष्मी नारायणजी पवाहारीजी महाराज के भजन भास्कर का प्रकाश दिग्दिगन्तरमें फैल जाने पर इतः ततः से साधुसन्त आने जाने लग गये और परस्पर वार्त्तालाप होते २ किसीसे वाकायदे गुरुद्वारे का परिचय पूछे जाने पर आपने श्री १०८ कृष्णदास पवाहारीजी का नाम बतलाया। इस पर पूछने वाले महात्मा जी ने आपको बड़ी फटकार सुनाई कि–आप चारसौ वष के चिर जीवी योगीराज श्रीपवाहारीजी के शिष्य बनते हो केवल लोक में प्रतिष्ठा पूर्वक पुजाने के लिये, यह केवल ढोंङ् मात्र है, इस पर किसी को विश्वास नहीं हो सकता। क्योंकि वह अब किसी से मिलते नहीं, अतः आप मन्मुखी सिद्ध हो और मन्मुखी सम्प्रदाय चलाना चाहते हो, यह ठीक नहीं इत्यादि, फटकार सुना कर महात्मालोग आसन बांध चलते हुए। और इधर १०८ श्री लक्ष्मीनारायण पवाहारीजी महाराज नितान्त खेद खिन्न हो अपने आचार्य्य चरण के ध्यान में लग गये और उसी क्षण श्रीपवाहारी जी महाराज आ पहुँचे। आपके प्राण भीतर से लौट आये. आप जगद्गुरु श्री

गाढाज्ञानतमोनिरासतरणिं त ब्रह्मनिष्ठं तपः—
स्वाध्यायव्रतशालिनं पटुतरं मध्येवरं वाग्विदाम्।
सद्वन्द्यं सदयं सदा सहृदयैरर्च्यं कविं सद्गुणै—
राचार्य्यं शरणं शरण्यमनघस्वीयं प्रपद्येऽनिशम् ॥६॥

अन्वयप्र०—अनघम् (मृगया-द्यूत-परस्त्री सङ्ग-राग-द्वेषादिरूपव्यसन रहितम्। अतएव) सदयम् (परदुःखप्रहाणेच्छावन्तम्। अतएव) कविम् (पण्डितम् अनेकजन्मान्तरीयपुण्यपुञ्जोदयजन्यपरदुःख—प्रहाणेच्छावत. पुरुषस्य सदसद्विवेक-बुद्धिरुत्पद्यते तस्मात्सद्वान् भवतीति भावः। अतएव) वाग्विदां मध्ये वरम् (विद्वद्वरेण्यम्) तपः स्वाध्याय व्रतशालिनम् (तपआदि साधनैः सुशोभमानम्। अतएव) पटुतरम् (उभयलोकसाधनचातुर्य्यवन्तम्। अतएव) ब्रह्मनिष्ठम् (अतएव) गाढ़ाज्ञानतमोनिरासतरणिम् (नितान्ताज्ञानान्धकारस्य निवर्तकार्कम्। अतएव) सद्व द्यम् (सद्भिवन्दनीयम्) सद्गुणैः सहृदयैः (प्रवीणैः) सदाऽर्च्यम् (सर्वदा पूजनीयम्) शरणम् (रक्षितारम्) शरण्यम् (शरणागतवत्सलम्) स्वीयम् (स्वकीयम्) आचार्य्यम् (श्रीराघवानन्दाचार्य्यम्) अनिशम् (अनवरतम् यथास्यात्तथा) प्रपद्ये (अहं श्रीरामानन्दाचार्य्य उक्तगुणगणविशिष्टस्य गुरोरनवरतं यथास्यात्तथा प्रणतिं कुर्वे इति भावः) तपः स्वाध्याय व्रतशालिनं वाग्विदां वरिष्ठं बुधं सेवमानो जनः सेवया, 'अयं मामुद्धरिष्यति' इति तदीयां स्वोद्धरणशक्तिमवगम्य कायिक वाचिक मानसिक-प्रपत्तिं करोति तत आचार्यो भगवत्प्रपत्तिं कारयतीति सतां सरणिं दर्शयितुं पूर्व श्लोके 'सश्रये' (सम्यक् सेवे) इति क्रियापदम् अस्मिन् पद्ये 'प्रपद्ये' इति च क्रिया पदं प्रदाय एतत्पद्यघटकस्वीयमितिपदेन श्रीमदाचार्य्यः स्वयमनन्तगुणविशिष्ट स्वाचार्यप्रपत्तिं कुर्वन् स्वशिष्याद्युपदेशाथमेतत्पद्य ग्रन्थघटकीकृतआऽऽचार्य्यलक्षणज्ञान्तर्गर्भतया प्रदर्श्य पद्यप्रतिपादितार्थ विशिष्टस्वाचार्य्यं प्रदर्शितवानितिसम्प्रदायमर्मज्ञानां हृदयं वेदितव्यम् ॥६॥

पवाहारी जी के चरण में गिर गये। श्रीपवाहारीजी महाराज ने आपको आश्वासन दे कहा कि—लोकमे रहने पर तो लोक रीति निबाहनी ही पड़ेगी अतः आप अयोध्या जाओ और बड़े स्थान के वर्त्तमान महन्त श्री अयोध्याप्रसाद से कहकर लोक रीति निबाहने के लिये उनका शिष्यत्व स्वीकार करो पूछने पर लोगों को उक्तस्थान और उक्त गुरु का परिचय दो। इस आज्ञा के अनुसार आप रश्म अदा कर अपनी प्रसिद्धि वैसीही की। उक्त कारण सेही पैकौली के पवाहारी वंश मे अद्यावधि हाथी रूप से पवाहारी श्री १०८ कृष्णदासजी महाराज की पूजा होती है। इसी आशय का प्रबोधक "गायत्रीजपनिर्मलम्" यह पद्य है।

भाषा०—इस श्लोक से श्रीमान् ग्रन्थ कारने परमै कान्तिक पद के प्रपित्सु श्री वैष्णव मात्र के आचार्यों के साधारण लक्षण और स्वाचार्य्य स्वरूप प्रदर्शन पुरस्सर आचार्य्य शरणागति कर मनुष्यमात्र को उपदेश दिया है कि— जीवहिंसा, पर स्त्री सङ्ग, किसी में राग, किसी से द्वेष आदि शास्त्र निषिद्ध व्यसन से रहित पुरुष के हृदय मे दया (दूसरों के दुःखों की मिटाने की प्रबल इच्छा) का उदय होता है और वही पुरुष कवि (पण्डित)होता है याने उसी पुरुष के हृदय में सत् और असत् की विवेचना करने वाली बुद्धि उत्पन्न होती है । अतएव वही पुरुष निखिल निगमागम निष्णात विद्वानों में श्रेष्ठ और तप स्वाध्याय व्रतादि से सुशोभमान, उभय लोक साधिका चतुरता से युक्त होता है । अतः वही ब्रह्मनिष्ठ होने के कारण अज्ञान रूप सघन अन्धकार के निवर्तक सूर्य्य का काम करता है ऐसे ही महात्मा के लिये श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है कि—

"मुख देखत पातक हरै, पर सत पाप बिलाहि ।
वचन सुनत मन मोहगत पूरण भाग्य मिलाहिं ॥"

अतएव सदसद विवेक शाली पुरुषों से वन्दनीय और समीचीन गुणवान् सहृदयों से सर्वदा पूजनीय, संसार सागर से जीवों की रक्षा करने में समर्थ होने के कारण शरणागत वत्सल निजगुरु श्रीराघवानन्दाचार्य्यजी महाराजकी शरणागति निरन्तर करता हूँ ।

यह सनातन वैदिक धर्मावलम्बी सज्जनो की रीति है कि—प्रथम तप स्वाध्याय व्रतादि से सुशोभित श्रेष्ठ विद्वान् की सेवा द्वारा यह समझलेते है कि यह विद्वान् मेरे उद्धार मे समर्थ है, इसप्रकार अपनी उद्धार करने वालि उनकी शक्ति को समझ कर कायिक वाचिक मानसिक प्रपत्ति करते है और तब उन्हें आचार्य्य भगवत् प्रपत्ति कराते हैं । इसी बात को समझाने के लिये श्रीमान् ग्रन्थकार स्वामी ने उक्त श्लोक में 'संश्रये' (सम्यक सेवा करता हूं) यह क्रिया पद और इस श्लोक में "प्रपद्ये" क्रिया पद रखा हैं ।।६॥

उपासकोऽथापि मुहूर्त्तमात्रावशिष्टरात्रौ प्रतिबुध्यनित्यम्।
प्रातःसमुत्थाय निरालसोऽसौ प्रक्षालयेत्पादयुगं च हस्तौ॥७॥

अन्व०-अथ (गुरुप्रपत्त्यनन्तरम्) असौ उपासकः (गुरोःप्रसादात्प्रज्ञातोपासनाप्रकारतया गुरोराज्ञयोपासनायां तत्परः साधक.) नित्यम् (प्रतिदिनम्) निरालसः (सन्) प्रातः प्रतिबुध्य (त्रिदण्डात्मकरात्रिशेषे जागृत्वा) मुहूर्त्तमात्रावशिष्टरात्रौ समुत्थाय (शय्यातः समुत्थाय) पादयुगं हस्तौ चापि प्रक्षालयेत् अपिशब्दात् मुखमपि प्रक्षालयेत् ॥७॥

भाषा०—इस प्रकार आचार्य्य की शरणागति करने के बाद आचार्य्य मुख से भगवत् उपसना का प्रकार को अच्छी तरह समझ कर आचार्य्यके उपदेशानुसार भगवत् उपासना में तत्पर वैष्णव, निरालस हो प्रति दिन प्रातः काल जाग एक मुहूर्त्त रात्रि रहने पर शय्या (आसन) से उठकर—मलमूत्रादि का वेग हो तो उससे निवृत्त हो—दोनों हाथ पैर और मुख को धोवे ॥ ७ ॥

स प्राङ्मुखोऽहर्दिवमित्थमेव ध्यायन्मुमुक्षुर्विगतस्पृहः फले।
स्थित्वा मुनिर्निश्चलमानसःपरव्यूहादिकं चाप्यनुसंदधीत॥८॥

मुमुक्षुः (प्राकृतबन्धन हातुमिच्छु) फले विगतस्पृहः (परब्रह्मप्राप्तीतरफले स्पृहाशून्यः) मुनिः (परतत्त्वमननशीलः) सः (प्रक्षालितहस्तपादो वैष्णवः) प्राङ्मुखः (पूर्वाभिमुखः) स्थित्वा निश्चलमानसः (परमात्मेतरतत्त्व चिन्ता-शून्यमनाः सन्) परव्यूहादिकं चापि अनुसंदधीत। इत्थमेवाहर्दिवम् (उक्त-रीत्या प्रतिदिनमनुसदधीत) चापिशब्दाभ्यां परात्परवासुदेव स्वाचार्य्यञ्चानु-संदधीतेत्युक्तवान् श्रीमान् ग्रन्थकारः। अर्थात् सुप्तोत्थितः साधकः प्रथमं गुरुं स्मरेत् पश्चात् परात्परवासुदेव ततः परवासुदेवं ततो वासुदेव ततो व्यूहवासु-देवं ततः संकर्षणादि व्यूहं ततो वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्नानिरुद्धेभ्यो जातानि चतुर्विधकेशवादिव्यूहानि ततः चप्रथमव्यूहगताऽनिरुद्धाज्जात पद्मनाभविष्णुं ततो भगवदात्मकचतुर्मुखादिलीलाविभूतिञ्चानुसंदधीतेत्यादिपदेन 'पाद्म संहिता' 'बृहद्ब्रह्म संहिता' दिषूक्तरीत्यानुसंधेयमिति श्रीमद्ग्रन्थ काराणामाशयः प्रतिभा-तीति नारदपञ्चरात्रविद्भिः सम्प्रदायज्ञैरेव विवेक्तुं शक्यते ॥८॥

मुमुक्षु (प्रकृति बन्धन से छुटकारा पा जाने की इच्छा

वाले) परब्रह्म श्रीरामजी की पाप्ति से भिन्न फल को नही चाहने वाले एक मात्र परात्पर श्रीरामतत्त्व की चिन्ता में ही दत्तमना (संलग्न मन वाले) हाथ पैर धोये हुए पूर्वोक्त श्रीवैष्णवगण पूरब मुँह बैठकर परब्रह्म श्रीरामजी से भिन्न जड़ चेतन वस्तु मात्र से मन को हटाते हुए पर व्यूहादि का अनुसन्धान करै। उक्त श्लोक के "व्यूहादिकं चाप्यनुसंदधीत" इस अन्तिम चरण में 'च, शब्द से परात्पर वासुदेव का अनुसन्धान करना और 'अपि, शब्द से स्व आचार्यका अनुसन्धान करना बतलाया है और व्यूह शब्दसे व्यूह वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न अनिरुद्ध का अनुसन्धान करना। और आदि शब्द से अनिरुद्ध से उत्पन्न पद्मनाभ विष्णु और विष्णु के नाभि कमल से उत्पन्न चतुर्मुख ब्रह्मा आदि समस्त लीला विभूति को अनुसन्धान कर तदात्मक परब्रह्म का अनुसन्धान करना अर्थात् परात्पर वासुदेव, (श्रीराम) परवासुदेव, वासुदेव, व्यूह वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध का अनुसन्धान स समस्त त्रिप द्विभूति को भगवदात्मक अनुसन्धान करना बतलाया है और आदि शब्द प्रतिपाद्य पद्मनाभ विष्णु चतुर्मुख ब्रह्मा आदि के अनुसन्धान से समस्त लीला विभूति को भगवदात्मक अनुसन्धान करने का आदेश श्रीमान् ग्रन्थकार स्वामी ने किया है जैसा कि पाद्मसंहिता, बृहद् ब्रह्मसंहिता आदि ग्रन्थों में लिखा है ॥८॥

सत्सङ्गाद्भवनिस्पृहो गुरुमुखाच्छ्रीशं प्रपद्यात्मवान्
प्रारब्धं परिभुज्य कर्मसकलं प्रक्षीणकर्मान्तरः।
न्यासादेव निरङ्कुशेश्वरदया–निर्लूनमायान्वयो
हार्दानुग्रहलब्धमध्यधमनिद्वाराद्व बहिर्निर्गतः॥ ९ ॥
मुक्तोऽर्चिर्दिनपूर्वपक्षषडुदङ् मासाब्दवातांशुमद्
ग्लौविद्युद्वरुणेन्द्रधातृमहितः सीमान्तसिन्ध्वाप्लुतः।
श्रीवैकुण्ठमुपेत्य नित्यमजडं तस्मिन्परब्रह्मणः

सायुज्यं समवाप्य नन्दति समं तेनैव धन्यः पुमान् ॥ १० ॥

अन्वयप्र० -सत्सङ्गात् (भगवत्तत्त्वानुभविमहात्मनां परमैकान्तिनां सङ्गात भवनिस्पृहः (उत्पद्यमान विपद्यमान निखिल पदार्थानामाकाङ्क्षाशून्यो जनः) आत्मवान् (प्रकृतिपुरुषविवेकवान् अर्थादस्मात्प्राकृतशरीरादहं जीवो भिन्न इत्यनुभूतवान् एकान्तिको वैष्णवः) गुरुमुखात् (आचार्य्योपदेशेन) श्रीशं प्रपद्य (स्वान्तारमणशीलश्रीरामप्रपत्ति विधाय प्रपत्तिविधानानन्तरम्) प्रक्षीणकर्मान्तरः (विनष्टप्रारब्धेतरनिखिलसञ्चितक्रियमाणकर्म्मा भवतीति प्रपत्तेः पूर्वफलम् । उत्तरफलन्तु न्यासादेव इत्यादिना प्रदर्शितं श्रीमता ग्रन्थकारेण) सकलं प्रारब्धं कर्म परिभुज्य न्यासादेव (स्वभरण्न्यासादेव अर्थात् प्रपत्तेरनन्तरं स्वान्तर्यामिनः परस्य ब्रह्मण. "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इत्यादि श्रुतिप्रतिपादितां स्वाभाविकीं भगवतः स्वभरणपोषणादिशक्तिमवगम्य स्वभरणपोषणादिचिन्तां विमुञ्चति तस्मात्) निरङ्कुशेश्वरदयानिर्लूनमायान्वयः (नियन्त्रणशून्यस्य सर्वेश्वरस्य सङ्कल्पविशेषेणोच्छिन्नमायाजालः) हार्दानुग्रहलब्धमध्यधमनिद्वाराद्वहिर्निगतः (अन्तर्यामिनोऽनुग्रहादेव जीवः स्वशरीरे विद्यमानसुषुम्नामार्गमुपलभ्य ततो बहिर्भवतीतिभावः । तत;) मुक्तः प्रकृतिबन्धनाद्विनिर्मुक्तः) अर्चिर्दिनपूर्वपक्षषडुदङ्मासाब्दवातांशुमद्ग्लौविद्युद्वरुणेन्द्रधातृमहितः (अर्चिरादिमार्गाभिमानिदेवैः पूजितोभूत्वा सीमान्तसिन्ध्वाप्लुतः(त्रिपाद्विभूतिलीलाविभूत्योः सीम्नोमध्ये विरजानाम्नी नदी तस्यां स्नातो जीवः) अजडम् (स्वयं प्रकाशकम्) नित्यं (त्रिकालाऽबाध्यम्) श्रीवैकुण्ठमुपेत्य ("अष्ट - चक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या" अथ०वेदस्यइत्यादिश्रुतिप्रतिपादितस्थानमुपगम्य) परब्रह्मणः (समस्तश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणसंहितादिप्रतिपादितपरात्परवासुदेव श्रीरङ्गनाथस्य) सायुज्यम् (सह युनक्तीति सयुग् तस्य भावः सायुज्यम् अर्थात् "योऽयं मम तनौ भाति विशेषोऽङ्गिरसमुद्भवे । नित्यो वा मम भक्तो वा मद्योग प्राप्य तिष्ठति॥२१७॥क्व चायं प्राकृतोजीवो मायया मलिनी कृतः । क्वेयं भक्त्यभिवाद्गुती यथाऽहं सम्पुटीकृतः ॥२१८॥ बृ०ब्र० स० १ पा०१६अ० इत्युक्तत्वात् परात्परवासुदेवाख्यस्य श्रीरामस्याङ्गे कामपि विशेषताम्) समवाप्य तेनैव पर ब्रह्मणैव) समम् (सह) नन्दति भगवत्प्राप्तिरूपां सर्वत उत्कृष्टां सिद्धिं यः प्राप्नोति स) पुमान् (जीवः) धन्यः) पुण्यवान् "सुकृती पुण्यवान् धन्य." ३-का० विशे० ३ श्लो० इत्यमरकोषात् । अथवा परब्रह्मरूपधनं लब्धवान् धन्यः, । नत्वन्यो धन्यपदाभिलप्यो भवितुमर्हतीति भावः) ॥९॥१०॥

भाषा०—तदनन्तर परमैकान्तिक (भगवत्तत्त्व के अनुभवी) महात्माओं

के सङ्ग से उत्पत्ति विनाश शाली प्राकृतिक पदार्थों की आकाङ्क्षा से रहित होने वाले पुरुष आत्मवान् (चौवीस तत्त्वों के बने हुए प्राकृतिक त्रिविध शरीर से भिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप अणुपरिमाण भगवन्नियाम्य ज्ञानादिगुणवान् जीव स्वरूप में निष्ठा वाले एकान्तिक) होते है। वहीअपनेआचार्य केउपदेश से श्रीपति श्रीरामजी की प्रपत्ति (शरणागति) कर समस्त प्रालब्ध कर्मों को भोग और प्रालब्धेतर (सञ्चित क्रियमाण) कर्म से छुटकारा पा जाते है। केवल परमात्मा केही भरोसे स्वभरण पोषणादि चिन्ता का त्यागरूप न्यास के अनन्तर ही सर्वतन्त्र स्वतंत्र परमात्मा की दया से समस्त माया जाल से छुटकारा पा जाते है। तब वह जीव अन्तर्यामी परमात्मा की दया से ईड़ा पीङ्गला नाड़ी के मध्यवर्ती सुषुम्ना नाड़ी द्वारा शरीर से बाहर निकल प्राकृतिक बन्धन से मुक्त हो अर्चि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण छ मास, सम्वत्सर के अभिमानी देवता और सूर्य्य, चन्द्र, विद्युत, वरुण, इन्द्र, ब्रह्मा स पूजित हो उभय विभूति (लीला विभूति त्रिपाद् विभूति) की सीमा विरजा नदी में स्नान किया हुआ स्वयं प्रकाश, नित्य (तीनों काल में विद्यमान) 'अष्टा चक्रा" इत्यादि श्रुति प्रतिपादित, श्रीवैकुण्ठ में उपस्थित हो श्रीरङ्गनाथजी की सायुज्य मुक्ति का लाभ करता है। अर्थात् श्रीरङ्गनाथजी के अङ्गों में कौस्तुभादि भूषण रूप से युक्त हो उन्ही के साथ उनके ऐश्वर्य्य और सौन्दर्य्य माधुर्य्य लावण्य वात्सल्य कारुण्यादि गुणो के अनुभव से परमानन्द को प्राप्त होता है। वही जीवात्मा धन्य (पुण्यवान्) है।

तदित्थं मुमुक्षुरूपासको मुहूर्तमात्रावशिष्टायां रात्रौ प्रतिबुध्य निरालसः प्रातः समुत्थाय धौतपाणिपादः प्राङ्मुखः स्थित्वा प्रागुक्त"श्रीनारायण कृष्ण"इत्यादिकमनुसंधाय बहिर्निर्गत्य दक्षिण-कर्णे यज्ञसूत्र संवेष्ट्य उत्तराभिमुखो भूत्वा मूत्रपुरीषोत्सर्जनं कुर्य्यात्।ततोऽतन्द्रितोगन्धलेपकर शौच विधाय सप्तकृत्वः सजला-मलकमात्रमृत्तिकाभिर्गुदप्रक्षालनं कुर्य्यात्। त्रिःसजलमृत्तिकाभि-

लिङ्गशौचं च ततोदक्षिणवामहस्तौ प्रत्येकं दशकृत्वः सजलं मृत्तिकाभिः प्रक्षाल्य दक्षिणवामपादौ च पञ्चकृत्वः ताभिः प्रक्षाल्य षोडशकृत्वो गण्डूषमाचरेत् । ततोद्विराचम्य शरीरशुद्धये स्नानं प्रोक्षणादिकं वा यथाशक्ति विधाय गुरुपरम्परानुसन्धान-पूर्वक तत्तन्मन्त्रानुचार्य्योर्द्ध्वपुण्ड्रान्धृत्वा पुनः स्वाचार्य्यं ध्यात्वा गुरुपरम्परानुसन्धानपूर्वकं रहस्यत्रयं चानुसन्धाय पश्चात्सन्ध्या-वन्दनादिनित्यकर्म तत्प्रयोगविधिना भगवदाज्ञया भगवत्कैङ्कर्यत्वेन च कुर्य्यात् ।

भाषा०–मुक्ति की इच्छा वाले पुरुष, इस प्रकार दो घडी रात शेष (बाकी) रहते प्रातःकाल आलस्य रहित हो उठकर, हाथ पैर धोकर पूरब मुख बैठ पूर्व-कथित "श्रीनारायण कृष्ण" इत्यादिकका अनुसन्धान करें, और बाहर जाकर मल-मूत्र का त्याग करें । पुन: दुर्गन्ध निवारणार्थ आलस्य-रहित होकर प्रतिबार आँवले के बराबर मिट्टी और जल से सात बार गुदा को, तीन बार लिंग को विधिवत् धोकर पुनः उसी प्रकार दश बार दोनो हाथ और पाँच बार दोनों पैर का प्रक्षालन कर—विधिवत् धोकर—जल से सोलह कुल्ले कर शुद्ध हों । पश्चात् दो बार आचमन कर शरीर-शुद्धि के लिये यथा शक्ति स्नान प्रोक्षण इत्यादिक करें और (पूर्व कथित एवं तदति-रिक्त) गुरु-परम्परा के अनुसन्धान पूर्वक द्वादश अङ्गों में तत्तन्मन्त्रों का उच्चारण करते हुए एवं ऊर्ध्व पुण्ड्र धारण कर पुनः अपने आचार्य्य, (गुरुपरम्परा) एव रहस्य–त्रय का अनुसन्धान युक्त भगवान् की आज्ञा से भगवत् कैंकर्य समझ विधिवत सन्ध्या वन्दनादिक नित्य-कर्म का आचरण करें ।

ततोदिव्यमङ्गलविग्रहस्य साङ्गसायुधसपरिवारस्य श्रीसीता-लक्ष्मणसमेतस्य भगवतो रामभद्रस्य मनसैव एकैकमङ्गं ब्रह्मप्रभृतिलोकोत्तरसौन्दर्यलावण्याढ्यं ध्यायन् दिव्यैः षोड–शोपचारैरर्चनं विदध्यात् ।

भाषा०—तदनन्तर अङ्ग, आयुध,परिवार, श्रीसीताजी एवं श्रीलक्ष्मण जी सेयुक्त दिव्य-मंगल विग्रह भगवान् श्रीरामचन्द्रजी के लोकोत्तर सौन्दर्य्य-लावण्य युक्त एक एक अंग का मन से ध्यान करते हुए दिव्य षोडशो-पचार से मानसिक-पूजा करें ।

माध्याह्निकानुष्ठानसमयेपि भगवच्चरणारविन्दं स्वाचार्य्य-चरणारविन्दं च ध्यायन् स्नात्वा भगवद्विभूती भगवच्छरीरभूतान् देवर्षिपितॄन् ध्यात्वा संतर्प्य च धौतवस्त्रादिकं परिधायाचम्य पूर्ववदेवोर्ध्वपुण्ड्रादिकं विधायैवमेव भगवदाराधनत्वेनैव माध्याह्निकानुष्ठानमपि कुर्य्यात् ।

भाषा०—पुनः मध्याह्न क्रिया के समय भी श्री रामजी के चरण कमल और श्रीगुरुदेव के चरणारविन्द का ध्यान करते हुए स्नान कर श्रीभगवान् की विभूति और शरीर-भूत देवताओं और पितरों का ध्यान पूर्वक तर्पण करें । तदनन्तर निर्मल वस्त्र पहिन, आचमन कर पूर्ववत, ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करे, इस प्रकार भगवान् की आराधना रूप मध्याह्न क्रिया करे ।

श्रीरामचन्द्रस्य आराधना-विधिः ।

अथैवमर्चनयोग्यो मुमुक्षुरुपासको भगवन्मन्दिरं प्रविश्य गुरु-परम्परादिकमनुसन्दधत्साष्टाङ्गत्वेन दण्डवद्भगवन्तं प्रणम्य अर्चन-पात्रादीनि संमृज्य शुद्धजलेन संप्रक्षाल्य समर्चनीयदेवस्य दक्षिण-पार्श्वे समुपविश्य पूर्वदिनसमर्पितगन्धमाल्यतुलसीदलादिकमपनीय पीठोपरि सन्निवेश्य आग्नेयादारभ्य प्रदक्षिणक्रमेण अर्घ्यपाद्याचमन-स्नानपात्राणि संस्थाप्य तेषां मध्ये शुद्धजलपात्रं निधाय,

भाषा०—उपर्युक्त क्रियाओं से इस प्रकार अर्चना योग्य हुए मोक्ष की इच्छावाले उपासक, भगवान् के मन्दिर में प्रवेश कर गुरुपरम्परादिक

का अनुसन्धान पूर्वक भगवान् को साष्टाङ्गदण्डवत् प्रणाम कर पूजा के पात्रों को मलकर शुद्ध जल से धो अर्चनीय-देव (श्रीरामजी) के दहिने बगल में बैठ, पहिले दिन के चढ़े हुए पुष्प, गन्ध माला और तुलसीदल इत्यादिक को उतार कर एक पीढ़े पर रख, अग्निकोण से आरम्भ कर प्रदक्षिणा—क्रम से अर्घपात्र, पाद्यपात्र, आचमनीय पात्र और स्नान पात्र की स्थापना करे और बीच में शुद्ध-जल का पात्र रखे।

तत्रार्घ्यपात्रे सिद्धार्थाक्षतकुशाग्रतिलयवगन्धफलपुष्पसहितजलं निक्षिपेत् १। दूर्वाविष्णुपर्णीपद्मश्यामाकसहितं जलं पाद्यपात्रे निक्षिपेत २। एलालवङ्गकङ्कोलजातिसहितं जलमाचमनपात्रे निक्षिपेत् ३। कोष्टमाजिष्ठहरिद्रामुस्ताशैलेयचम्पकवचाकर्पूरलामज्जकसहितं जलं स्नानपात्रे निक्षिपेत् ४।

भाषा०—फिर अर्घपात्र में सरसों, अक्षत, कुशाग्र, तिल, यव, गन्ध, फल फूल से युक्त जल डाले, पाद्यपात्र में दूब, विष्णुपर्णी, कमल और श्यामाक से युक्त जल डाले, आचमनीय-पात्र में इलायची, लवंग, कङ्कोल और जायफल युक्त जल दे और स्नानीय-पात्र में कूठ, मजीठ, हल्दी, मोथा, छड़ीला, चम्पा, बच, कपूर और लामज्जक युक्त जल डाले।

तदेतदभावे तु तद्वाक्योच्चारणपूर्वकं तुलसीदलमेव तत्तत्तोय-पात्रे निक्षिपेत्। श्रीमन्त्रराजेन प्रत्येकं तत्तत्पात्रं संमन्त्र्य सुरभिमुद्रां च प्रदर्श्य वामपार्श्वे पूर्णकुम्भं निधाय अन्यानि पूजाद्रव्याणि दक्षिणपार्श्वे च निधाय मनसा स्वाचार्य्यमर्घ्यादिभिः संपूज्य तद्धस्तेनैवाराधनं स्वीकार्य्यमिति भगवते विज्ञाप्य प्राणायामत्रयं च कृत्वा भगवदुत्थापनाय भगवन्तं प्रार्थयेत्—

भाषा०—इन वस्तुओं के अभाव में उनके नाम ही लेलेकर अर्घादि पात्र में केवल तुलसीदल युक्त जल डाले। तदनन्तर इन सभी पात्रों को तारक मंत्र से अभिमन्त्रित कर सुरभि-मुद्रा दिखा, अपनी बाँयी ओर पूर्णकुम्भ

(जल भरा पात्र), और अन्य पूजा-सामग्री को दहिनी ओर रख, अपने गुरुदेव की अर्घ्यादिसे मानसिक-पूजा कर आचार्य्य (गुरु देव) के हाथ सेही सभी पूजा-सामग्री को मानसिक भावना से भगवान को अर्पण करें अर्थात "अस्मदाचार्यहस्तेनैव ममाराधनं स्वीकुरु" यह वाक्य उच्चारण कर तीन प्राणायाम कर भगवान को शयन से उठाने के लिये निचे लिखे--

"कौशल्या सुप्रजा राम ।" सेलेकर "प्राणप्रियतरप्रभो !" तक पाँचो श्लोकों को अर्थानुसन्धान पूर्वक पढ़ते हुए प्रार्थना करे ।

कौशल्या सुप्रजा राम ! पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते
उत्तिष्ठ नरशार्दूल ! कर्तव्य दैवमाह्निकम् ॥ १ ॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते त्यज निद्रां जगत्पते ! ।
त्वदीयोत्थानमात्रेण उत्थितं भुवनत्रयम् ॥ २ ॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ श्रीराम ! भद्रं ते करुणानिधे !
उत्तिष्ठ जानकीकान्त ! त्रैलोक्यमङ्गलं कुरु ॥ ३ ॥
अप्रमेयकृपासिन्धुस्वरूपे ! रामसुप्रिये !
सुप्रभातानिशा सीते ! श्रीरामाभिमुखीभव ॥ ४ ॥
लक्ष्मणोत्तिष्ठ भद्रं ते रामकैङ्कर्यतत्पर !
सौमित्रे ! वीररामस्य प्राणप्रियतरप्रभो ! ॥ ५ ॥

श्रीभगवद्रामचन्द्राभिमतानुरूपगुणविभवैश्वर्यशीलाद्यनवधिकातिसयासंख्येयकल्याणगुणगणां पद्मवनालयां पद्माननां पद्मदलायताक्षीं नित्यानपायिनीं भगवतीं निरवद्यां श्रीसीतां श्रीरामदिव्यमहिषीमखिलजगन्मातरमशरणशरण्यामनन्यशरणः शरणमहं प्रपद्ये।

स्वशेषभूतेन मया स्वीयैः सर्वपरिच्छदैः ।
विधातुं प्रीतमात्मानं देवः प्रक्रमते स्वयम ।

इतिश्लोकं चानुसन्धाय पञ्चोपनिषन्न्यासं कुर्य्यात ।

भाषा०--"श्री भगवद्रामचन्द्राभिमतानुरूप" से आरम्भकर "शरणमहंप्रपद्ये"

तक के गद्य और "स्वशेषभूतेन मया......स्वयम्" इस श्लोकका अनुसन्धान कर इस प्रकार पचोपनिषद् का न्यास करे—

ॐ षां नमः पराय परमेष्ठ्यात्मने नमः इति शिरसि ॥ १ ॥
ॐ यां नमः पराय पुरुषात्मने नमः इति नासाग्रे ॥ २ ॥
ॐ रां नमः पराय विश्वात्मने नमः इति हृदये ॥ ३ ॥
ॐ वां नमः पराय निवृत्यात्मने नमः इति गुह्यप्रदेशे ॥ ४ ॥
ॐ लां नमः पराय सर्वात्मने नमः इति पादयोः ॥ ५ ॥
न्यसेदिति

भाषा-०"ॐ यां नमः पराय परमेष्ठ्यात्मनेनमः १" इस मंत्रसे शिरको स्पर्श करे। ॐ "यां नमः पराय पुरुषात्मने नमः" इससे नासिकाग्र को स्पर्श करे। ॐ रां नमः पराय विश्वात्मने नमः" इससे हृदय को स्पर्श करे। "ॐ वा नमः पराय निवृत्यात्मने नम" इससे गुह्येन्द्रियको स्पर्श करे। "ॐ ला नमः पराय सर्वात्मने नमः" इससे दोनों पैरों को स्पर्श करे।

पञ्चोपनिषन्न्यासं विधाय, श्रीमन्त्रराजन्यासं कुर्यात्। ॐरां ज्ञानाय हृदयाय नमः। ॐ नमः ऐश्वर्य्याय शिरसेस्वाहा। ॐ रामाय शक्त्यै नमः शिखायै वषट्। ॐ बलाय कवचाय हुम्। ॐ तेजसे नेत्राभ्यां वौषट्। ॐ रामाय वीर्यायास्त्राय फट्।

भाषा०-इस प्रकार पञ्चोपनिषद् का न्यास करके निम्न रीति से श्रीमन्त्रराज का न्यास करे-"ॐ रां ज्ञानायहृदयायनमः" यह पढकर हृदय को स्पर्श करे। "ॐ नमः ऐश्वर्य्याय शिरसे स्वाहा" यह पढ़कर शिरको स्पर्श करे। "ॐ रामाय शक्त्यै नमः शिखायै वषट्" यह पढ़कर शिखाको स्पर्श करे। "ॐ बलाय कवचाय हु" यह पढ़कर दोनों पखुरे को स्पर्श करे। "ॐ तेजसे नेत्राभ्यां वौषट्" यह पढ़कर दोनों नेत्र को स्पर्श करे। "ॐ रामाय वीर्य्यायास्त्राय फट्" यह पढ़कर चुटकी बजावै या ताली बजावे।

इति मन्त्रराजन्यासमनुष्ठाय पूर्वस्थापितस्ववामपार्श्वस्थपूर्णकुम्भे राममन्त्रोच्चारपूर्वक तुलसीदलं निक्षिप्य श्रीमन्त्रराजेनैवाभिमन्त्र्यो

तज्जलेनार्घ्यादिपञ्च-पात्राणि क्रमेण षडक्षरमन्त्रोच्चारणपूर्वकं प्रपूर्य उद्धरण्यार्घ्यादिपञ्चपात्रेभ्यः किञ्चित्किञ्चित्तोयं समुद्धृत्य पूर्णकुम्भे निक्षिपेत्। तत उद्धरण्यार्घ्यसलिलमादाय नासाग्र-पर्यन्तमुद्धृत्य ॐ विरजे आगच्छागच्छेति सप्तकृत्वा उक्त्वा तत्तोये नात्मानं पूजोपकरणानि यागभूमिं च प्रोक्ष्यावशिष्टमन्यत्र प्रक्षिपेत्।

भाषा०-इस प्रकार मन्त्रराज का न्यासकर पूर्व स्थापित अपने वाम भागस्थ पूर्णकुम्भ में राममन्त्र के उच्चारण पूर्वक तुलसीदल छोड़े। मन्त्रराज-सेही अभिमन्त्रित कर उसी जल से अर्घादि पाँचो पात्रों को क्रमसे षडक्षर मन्त्रोच्चारण पूर्वक भर कर फिर उद्धरणी (आचमनी) से पाँचो पात्र से किञ्चत् २ जल निकाल कर पूर्णकुम्भ में रखे। बाद आचमनी द्वारा अर्घ पात्र से जल ले अपने नासाग्र पर्य्यन्त ऊपर को उठा "ॐ विरजे आगच्छागच्छ" यह सात वार पढ़कर उस जल से अपने शरीर, पूजन की सभी सामग्री, और पूजास्थान (मन्दिर) को प्रोक्षण कर शेष जल अन्यत्र फेंक दे।

ततस्तुलसीदलं समादाय हरिरोंम्-

कूर्मादीन् दिव्यलोकं तदनुमणिमयं मण्डपं तत्र शेषं
तस्मिन्धर्मादिपीठं तदुपरिकमलं चामरग्राहिणीञ्च।
विष्णुं देवीं विभूषायुधगणमुरगं पादुके वैनतेयं
सेनेशं द्वारपालान् कुमुदमुखगणान् विष्णुभक्तान्प्रपद्ये॥ १॥

सव्यं पादं प्रसार्य्याश्रितदुरितहरं दक्षिणं कुञ्चयित्वा
जानुन्यादाय सव्येतरमितरभुजं शेषभोगे निधाय।
पश्चाद् बाहुद्वयेन प्रतिभटदमने धारयन् शङ्खचक्रे
देवीभूषादिजुष्टो जनयतु जगतां शर्म वैकुण्ठनाथः॥ २॥

साकेतं दिव्यलोकं सुरतरुमतुलं तत्र रत्नालिगर्भं
हैमं सिंहासनं तच्छुभरुचिनिचयं भानुकोटिप्रकाशम्।
पद्मं चानेकपत्रं कपिनिकरपतिं पादुके वातजातं
सेनेशान् द्वारपालान् नलगवयमुखान् रामभक्तान्प्रपद्ये॥१॥

वामं पादं प्रसार्य्याश्रितकलुषहरं दक्षिणं कुञ्चयित्वा
जानुन्याधाय दिव्ये रिपुकुलदमने बाणचापे दधत्सः
रामः पाणिद्वयेन प्रतिभटभयदः पद्मगर्भारुणाक्षो
देवीभूषादिजुष्टो वितरतु जगतां शर्म साकेतनाथः ॥२॥

इतिपद्यैरित्थमनुसन्धाय सीतालक्ष्मणसमेतभगवच्छ्रीरामचन्द्रचरणारविन्दे तत्प्रक्षिपेत्।

भाषा०—इसके बाद, तुलसीदल हाथमे ले "हरिः ॐ कूर्म दिव्यलोकं" इत्यादि श्लोक द्वय अथवा "साकेतं दिव्यलोक" इत्यादि दोनो श्लोकों का अर्थानुसन्धान कर श्रीसीता जी श्रीलक्ष्मण जी के सहित श्रीरामजी के चरण कमल में अपने हाथ में लिये हुए तुलसीदल को समर्पण करदे।

अथैवमासनं कल्पयित्वा—

अर्घ्यादिकं तत्र समर्पयाम्योमाधारशक्त्यै नम इत्युदीर्य।
वदेत्प्रकृत्यै नम इत्थमेवाथाकूर्मरूपाय च विष्णवेऽर्चकः॥१॥
ततस्त्वनन्ताय तथैव भूम्यै वैकुण्ठलोकाय च दिव्यधाम्ने।
सद्दिव्यरत्नाङ्कितमण्डपाय शेषाय चाप्यास्तरणाय तस्मै॥२॥
अग्नेरथार्चेद्दिशि धर्मपीठं तं ज्ञानपीठं त्वथनिर्ऋतेरपि।
वैराग्यपीठं पवनस्य शम्भोरैश्वर्यपीठन्तु तथा समर्चकः॥३॥
प्राच्यामधर्मं दिशि पीठगात्रमज्ञानपीठं त्वथ दक्षिणस्याम्।
अर्चेदवैराग्यमुपश्चिमायां तथाप्यनैश्वर्यमथोत्तरस्याम्॥४॥
वेदास्तथार्चेच्चतुरोपितैस्तैः पूजोपहारैरथ पीठवाहकान्।
तत्रोपरीत्थं त्वथ नागराजमनन्तमस्योपरिपद्ममेव ॥ ५ ॥
दलेषु सूर्य्यं त्वथकेशरेषु सोमं समर्चेदथ कर्णिकायाम्।
तस्यार्चकस्तत्खलुवह्निमण्डलं पूर्वादितश्चामरधारिणी र्दले॥६॥
तत्कर्णिकायामपि योगपीठं पर्यङ्कमत्राथ ततोऽप्यनन्तम्।
तत्पादपीठं खलु राजमाने तस्योपरीत्थं मणिपादुके ते ॥७॥
अर्चेत्तथा श्रीप्रभृतीर्विभूषणं दिव्यायुधानि क्षतदैत्यकानि।

पतत्रिराजं विनतात्मज तं सेनेश्वर द्वारपतींस्तथैव ॥ ८ ॥

भाषा०–इसके बाद "अर्घ्यादिकं" से "द्वार पतीस्तथैव" तक उक्त आठ श्लोकों में कही हुई क्रम विधिके अनुसार भगवान् के आसन की कल्पना कर अङ्कानुक्रमसे मन्त्रोंके उच्चारण पूर्वक अर्घ-पाद्य आचमनीय गन्ध-पुष्प-धूप-दीप-नैवेद्य आदि से आधार शक्ति आदि का पूजन करें।

ओमाधारशक्त्यै नम इति आधारशक्त्यै ÷ अर्घ्यादीनि समर्पयामि। ओं प्रकृत्यै नम इति प्रकृत्यै अर्घ्यादीनि समर्पयामि। ओमखिलजगदाधाराय कूर्मरूपिणे नारायणाय नम इति तस्मै अ०। ओंभगवते ऽनन्ताय नागराजाय नम इति तस्मै अ०। ॐभूम्यै नम इति तस्यै अ०। ॐश्रीवैकुण्ठाय दिव्यलोकाय नम इति तस्मै अ०।ॐ श्रीवैकुण्ठाय दिव्यनगराय नम इति तस्मै अ०।ॐश्रीसाकेताय दिव्य नगराय नमः इति तस्मै अ०। ॐश्रीवैकुण्ठाय दिव्यविमानाय नमः इतितस्मै अ०।ॐश्रीवैकुण्ठायदिव्यजनपदायनमःअ०।ॐआनन्दमयाय दिव्यरत्नमण्डपाय नमः अ०।ॐआस्तरणभूताय अनन्ताय नागराजाय नमः अ०।

यथा १ "ॐआधारशक्त्यै नमः अर्घ्यादीनिसमर्पयामि" इस मन्त्र से आधार शक्ति का अर्घादि से पूजन करे। एवं २ "ॐ प्रकृत्यै नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मन्त्र से प्रकृति का अर्घादि से पूजन करें। ३ "ॐ अखिलजगदाधाराय कूर्मरूपिणे नारायणाय नमः अर्घ्यादीनि

नोटः—÷ इस मंत्र में तथा आगे भी इसी प्रकार जिन मन्त्रों के अन्त में 'अर्घ्यादीनि समर्पयामि' आया है, इससे अर्घ्य के अतिरिक्त पाद्य, आचमन, नैवेद्य आदि षोडशोपचार पूजा का संकेत समझना चाहिये और तब हरेक मंत्र के अन्त में अर्घ्यादीनि समर्पयामि के स्थान में पूजा की प्रत्येक वस्तु के अनुसार प्रति मंत्र के अन्त में 'अर्घ्यं समर्पयामि' 'पाद्यं समर्पयामि,' 'नैवेद्यं समर्पयामि' आचमनीयं समर्पयामि इत्यादि कहकर अलग अलग उस वस्तु को अर्पण करना चाहिये। षोडशोपचार का क्रमशः नाम श्री वैष्णवमताब्ज भास्कर के १७७, ११८ वाँ श्लोक में आया है। यदि षोडशोपचारपूजा न हो सके, तो गन्ध पुष्प धूप-दीप-नैवेद्यादि पञ्चमोपचार से समन्त्रक पूजा करे।

सर्मर्पयामि" इस मन्त्र से समस्त ब्रह्माण्ड के आधार कूर्मजी का पूजन करे। ४ "ॐ भगवतेऽनन्ताय नागराजाय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मन्त्र से नागराज का पूजन करे। ५ "ॐ भूम्यै नमः" अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मन्त्र से भूमि का पूजन करे। ६ "श्रीवैकुण्ठदिव्य-लोकायनमः" इस मन्त्र से वैकुण्ठ लोक की पूजा करे। ७ "श्रीवैकुण्ठ-दिव्य नगराय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मन्त्र से वैकुण्ठलोक मध्यवर्ती वैकुण्ठ नगर की पूजा करे। ८ "श्रीसाकेताय दिव्यनगराय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मन्त्रसे वैकुण्ठ नगर के अभ्यन्तर श्रीसाकेत नगर की पूजा करे। ९ "श्रीवैकुण्ठाय दिव्य विमानाय नम अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मन्त्रसे वैकुण्ठ नामक दिव्यविमान (मन्दिर) की पूजा करे। १० "श्रीवैकुण्ठाय दिव्य जनपदाय नम अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मन्त्र से वैकुण्ठ नामक जनपद की पूजा करे॥ ११ 'आनन्दमयाय दिव्य-रत्नमण्डपाय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मन्त्र से दिव्य रत्न मण्डप की पूजा करे। १२ "आस्तरणभूताय अनन्ताय नागराजाय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मन्त्र से आस्तरणभूत (ऊपर के चद्दर रूप) शेष भगवान् की पूजा करे।

आग्नेय्यां दिशि—ॐ धर्माय पीठपादाय नमः अ०। नैर्ऋत्याम्-ॐज्ञानाय पीठपादाय नमः अ०।वायव्याम्—ॐवैराग्याय पीठपादाय नमः अ०। ऐशान्याम—ॐऐश्वर्य्याय पीठपादाय नमः अ०। ॐ पीठभूताय अनन्ताय नागराजाय नमः अ०। प्राच्याम् ॐअधर्माय पीठगात्राय नमः अ०। दक्षिणस्याम् ॐ अज्ञानाय पीठ गात्राय नमः अ०। पश्चिमायाम्—ॐ अवैराग्याय पीठगा-त्राय नमः अ०। उत्तरस्याम्—ॐ अनैश्वर्याय पीठगात्राय नमः अ०। एभिः परिच्छिन्नतत्त्वमदसदात्मकाय नमः अ०। ॐ ऋग्वेदाय पीठवाहकाय नमः अ०। ॐ यजुर्वेदाय पीठवाहकाय नमः अ०। ओम् सामवेदाय पीठवाहकाय नमः अ०।ॐ अथर्वणवेदाय पीठवाहकाय नमः अ०। इत्थं गन्धपुष्पादिभिस्तानभ्यर्च्य प्रणमेत्।

भाषा०—बाद इसके सिंहासन के चारो कोने में सबसे पहले अग्निकोण में "ॐ धर्माय पीठपादाय नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे धर्मपीठ की पूजा करे । नैर्ऋत्य कोण में "ॐ ज्ञानाय पीठपादाय नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे ज्ञानपीठ की पूजा करे । वायव्य कोण में "ॐ वैराग्याय पीठपादाय नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे वैराग्यपीठ की पूजा करे । ईशान कोणमें "ॐऐश्वर्य्याय पीठपादाय नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे ऐश्वर्य्य पीठ की पूजा करे । मध्य में भगवान् के बैठने का स्थान को "ॐ पीठभूताय अनन्ताय नागराजाय नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इस मन्त्र से पीठ स्वरूप नागराजकी पूजा करे । इसके बाद सिंहासन से पूर्व भाग में "ॐ अधर्माय पीठगात्राय नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इस मन्त्र से अधर्मपीठ की पूजा करे । दक्षिण दिशा में "ॐ अज्ञानाय पीठगात्राय नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे अज्ञान पीठ की पूजा करे । पश्चिम दिशा में "ॐ अवैराग्याय पीठगात्राय नम अर्घादीनि समर्पयामि" इस मन्त्र से अवैराग्य पीठ की पूजा करे । उत्तर दिशा में "ॐ अनैश्वर्य्याय पीठगात्राय नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे अनैश्वर्य रूप पीठकी पूजा करे ।

'ॐ एभिः परिच्छिन्नतत्वसदसदात्मकाय नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इस से परिछिन्न (अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, और अनैश्वर्य्य रूप गात्र से युक्त) कार्य्यकारणात्मक पीठ तत्व की पूजा करे । बाद इसके पूर्वदिशा में "ॐ ऋग्वेदाय पीठवाहकाय नमः अर्घादीनि समर्पायामि" इससे ऋग्वेद की पूजा करे । दक्षिणमे "ॐ यजुर्वेदाय पीठवाहकाय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि"इससे यजुर्वेद की पूजा करे । पश्चिम में ॐ "सामवेदाय पीठवाहकाय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मत्र से सामवेद की पूजा करे । उत्तर में "ॐ अथर्वण वेदाय पीठवाहकाय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मंत्र से अथर्ववेद की पूजा करे । चारोवेद भगवान् के सिंहासन (पीठ) के ढोनेवाले हैं, अतः पीठ वाहक वेद सिंहासन के चारो

तरफ रहते है, यह समझ अर्चक अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय, स्नानीय गन्ध-पुष्पादि से पूजन कर प्रणाम करे।

अथ पीठवाहकोपरि—ॐ परिच्छिन्नतनवे पीठभूताय शुद्धात्मकायाऽनन्ताय नागराजाय नमः इति तस्मै अ०।तत्रानन्तोपरि"ॐअष्टदलपद्माय नमः इति तस्मै अ०। तद्दलेषु-ॐ सं सूर्य्याय नमः अ०। केशरेषु-ॐ सं सोममण्डलाय नमः अ०। कर्णिकायाम्-ॐ रं वह्निमण्डलाय नमः अ०।

भाषा० बाद इसके पीठवाहक चारो वेद के उपर 'ॐ परिछिन्न तनवे पीठभूताय शुद्धात्मकायानन्ताय नागराजाय नमः अर्घादीनि समपयामि" इससे पीठ रूप शेष भगवान की पूजा करे। फिर शेष के ऊपर "ॐ अष्टदलपद्माय नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे अष्टदल कमल की पूजा करे। फिर अष्टदल कमल के दलोंपर "ॐ सं सूर्य्याय नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे सूर्य्यमण्डल की पूजा करे। फिर अष्टदल कमल के केसरों पर "ॐ सं सोममण्डलाय नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे चन्द्रमण्डल की पूजा करे।

पुनः इसके बाद अष्टदल कमल की कर्णिका पर "ॐरं वह्निमण्डलाय नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे अग्निमण्डल की पूजा करे।

इति मण्डलत्रयं ध्यात्वा पद्मस्य पूर्व पार्श्वदले-ॐ विमलायै चामरहस्तायै नमःइति तस्यै अ०। पद्ममस्याग्निकोणे-ॐ उत्कर्षिण्यै चामरहस्तायै नमः अ०। पद्ममस्य दक्षिणदले ॐ ज्ञानरूपायै चामरहस्तायै नमः अ० ॐ पद्मस्यनैर्ऋत्यदले ॐ क्रियायै चामरहस्तायै नमः अ०। पद्ममस्य पश्चिमदले ॐयोगायै चामरहस्तायै नमः अ०।पद्ममस्य वायव्यदले ॐसत्यायै चामरहस्तायै नमः अ०। पद्ममस्योत्तरदले ॐप्रव्है चामरहस्तायै नमः अ०। पद्ममस्यैशानदले ॐ ऐशानायै चामरहस्तायै नमः अ०

भाषा०-इस प्रकार अष्टदल कमलपर उक्त तीनो मण्डल का ध्यान पूर्वक पूजन कर अष्टदल कमल के पूर्व भाग के दल में "ॐविमलायै चामरहस्तायै नम

अर्घादीनि समर्पयामि" इससे पूजन विमलाका करे। अष्टदल कमल के अग्निकोण के दल में "ॐ उत्कर्षिण्यै चामरहस्तायै नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे उत्कर्षिणी का पूजन करे। कमल के दक्षिण भागमें "ॐ ज्ञानरूपायै चामरहस्तायै नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे हाथमें चामर लिये हुई ज्ञानरूपा की पूजा करे। कमल के नैऋत्य कोण वाले दलमें "ॐ क्रियायै चामरहस्तायै नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे क्रिया शक्ति की पूजा करे। कमल के पश्चिमवाले दलमें "ॐ योगायै चामरहस्तायै नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे योग शक्ति की पूजा करे। कमल के वायव्य कोण वाले दलमें "ॐ सत्यायै चामरहस्तायै नम. अर्घादीनि समर्पयामि" इससे सत्यात्मिकाशक्तिकी पूजा करे। कमल के उत्तर वालेदलमें "ॐ प्रह्व्यै चामर-हस्तायै नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे प्रह्वी शक्ति की पूजा करे। कमल के ईशान कोण वाले दलमें "ॐ ऐशानायै चामरहस्तायै नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे ऐशानी शक्ति की पूजा करै।

भगवतोऽग्रे कर्णिकायाः पूर्वभागे ॐ अनुग्रहायै नमः अ० । पद्मस्य कर्णिकायाम् ॐ जगत्प्रकृतये दिव्ययोगपीठवाहकाय नमः अ० । दिव्ययोगपीठवाहकोपरि ॐ दिव्ययोगपीठाय अ० । योगपीठे ॐ दिव्ययोगपर्यङ्काय नमः अ० । ॐ सहस्रफणा-शोभिताय नागराजाय नमः अ० । पुरो ॐ भगवत्पादपीठाय नमः अ० । तदुपरि ॐ भगवत्पादुकाभ्यां नमः अ० ।

भाषा०—बाद इसके भगवान् के सामने अष्टदल कमल की कर्णिका के पूर्व भागमें "ॐ अनुग्रहायै चामरहस्तायै नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे भगवान् की अनुग्रहा शक्ति का पूजन करे। इसके बाद अष्टदल—कमल की कर्णिका पर "ॐ जगत्प्रकृतये दिव्ययोगपीठवाहकाय नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे लीलाविभूति के कारण दिव्ययोगपीठ के वाहक की पूजा करे। दिव्ययोग पीठवाहक पर "ॐ दिव्ययोगपीठाय नमः अर्घादीनी समर्प—यामि" इससे दिव्य योगपीठ की पूजा करे। इसके पश्चात् योगपीठपर "ॐ दिव्ययोगपर्य्यङ्काय नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे योगरूपपर्य्यङ्क

की पूजा करे। इसके पश्चात् पर्यङ्क के ऊपर "ॐ सहस्रफणाशोभिताय नागराजाय नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे नागराज की पूजा करे। इसके पश्चात् भगवान् के सामने "भगवत्पादपीठाय नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे भगवान् की पादुका-पीठ की पूजाकरे। उसपर "ॐभगवत्पादुकाभ्यां नमः अर्घादीनि समर्पयामि" इससे भगवत् पादुकाकी पूजा करे।

अथ तादृशाष्टदलपद्मस्थपर्यङ्कस्थितानन्तोपरि-

प्रपन्नाभीष्टसंदोह श्रीराम करुणानिधे।
शिवशेषाद्यविज्ञेयाशेषमाहात्म्य राघव ॥ १ ॥
तादृश्या सीतयाऽऽगच्छ लक्ष्मणेन सह प्रभो
आज्ञा क्रियस्व दासस्य प्रपन्नस्यार्चनाय मे ॥२॥

इति सीतालक्ष्मणसहितम् अप्रमेयकृपारत्नाकरं भगवन्तं साङ्गं सायुधं सपरिवारं सवाहनं स्वशक्तियुक्तं श्रीरामचन्द्रमावाह्य पुष्पाञ्जलिं च तस्मै प्रदाय पूर्वस्थापितार्घ्यपात्रादुद्धरण्यार्घ्यजलमादाय ॐ सीतालक्ष्मणसमेतायाप्रमेयकृपारत्नाकराय भगवते श्रीरामचन्द्राय नमः। मध्ये-रां रामाय नमः। वामे-श्रीं सीतायै नमः। दक्षिणे-लं लक्ष्मणाय नमः। इति तत्तन्मन्त्रैः पृथक् पृथग्वा अर्घ्यं समर्पयामीत्युक्त्वा भगवतो दक्षिणहस्तं प्रोक्षन्निव विभाव्य तज्जलं पतनपात्रे प्रक्षिपेत्।

इसके बाद पूर्वोक्त अष्टदल कमल पर स्थित पर्य्यङ्क पर विद्यमान शेष के ऊपर "प्रपन्नाभीष्ट सन्दोह" इत्यादि दोनों श्लोकों से श्री सीता जी एवं श्रीलक्ष्मण जी के सहित साङ्ग सायुध सपरिवार सवाहन एवं स्वशक्तियों से संयुक्त अप्रमेय कृपारत्नाकर भगवान् श्रीराम-चन्द्र जीका आवाहन कर पुष्पाञ्जलि दे पूर्वस्थापित अर्घपात्र से उद्धरणी (आचमनी) द्वारा जल ले "ॐसीतालक्ष्मण-समेतायाऽप्रमेय-कृपारत्नाकराय श्रीरामचन्द्राय नमः अर्घ्यं समर्पयामि" यह पढ़कर भगवान् का दाहिना हाथ धोने की भावना करते हुए पूर्वगृहीत जलको पतन पात्र में गिरादे। अथवा मध्य में "रां रामायनमः अर्घ्यं समर्पयामि" यह पढ़कर आचमनी

द्वारा पूर्वस्थापित अर्घ-पात्र से गृहीत जलको, भगवान् का हाथ धोने की भावना करते हुए पतन-पात्रमे गिरादे। फिर शुद्ध जलपात्र के जल से आचमनी को धोकर श्रीराम जी के बाये भाग में स्थित श्री सीताजी का दाहिना हाथ पोछने(धोने)की भावना करते हुए इस अर्घ पात्र से आचमनी द्वारा गृहीत जलको "श्री सीतायै नमः अर्घं समर्पयामि" यह पढ़कर पतन पात्रमें गिरादे। इसी तरह श्री राम जीके दाहिने पार्श्वमें स्थित श्री लक्ष्मण जीका दाहिना हाथ धोने की भावना करते हुये अर्घपात्र से आचमनी द्वारा गृहीत जलको "लं लक्ष्मणाय नमः अर्घं समर्पयामि" यह पढकर पतन पात्रमें गिरादे। इस प्रकार तत् तत् मन्त्र से पृथकर अर्घादि समर्पण करै। अथवा उक्त मन्त्र से एक साथही तीनो मूर्तियों का अर्घादि षोडशोपचार से पूजन करे।

तत उद्धरणीं शुद्धजलपात्रजलेन संप्रक्षाल्य ततस्तया पाद्यजलपात्रात् पाद्यजलमादाय तदेव वाक्यं समुच्चार्य्य पाद्यं समर्पयामीति वदन् भगवतः पादौ प्रक्षालयेव त्रिभाव्य तज्जलं पतनपात्रे द्विः प्रक्षिपेत्। शुद्धजलपात्रस्थजलेनोद्धरणीं प्रक्षाल्य आचमनपात्रात्तज्जलमादाय तदेव वाक्यं समुच्चार्य आचमनं तस्मै समर्पयामीति वदन् भगवतो मुखकमलसमीपे प्रदर्श्य तज्जलं पतनपात्रे त्रिःप्रक्षिपेत्।

फिर शुद्ध जलपात्रके जलसे आचमनी को धोकर इसी प्रकार पाद्यपात्र से आचमनी द्वारा गृहीत जल से श्री सीताजी और श्री लक्ष्मणजी के सहित श्रीरामजी के चरण कमल को धोने की भावना करते हुए "ॐ सीता लक्ष्मण समेताया ऽप्रमेयाय कृपारत्नाकराय भगवते श्रीरामचन्द्राय नमः पाद्यं समर्पयामि" यह पढ़कर पतन पात्रमें दो बार पाद्यजलको गिरादे। पुनः शुद्ध जलसे आचमनी को धोकर उसीसे (आचमन-पात्र से) जल लेकर "ॐ सीता लक्ष्मण०" इस ऊपर कहे हुए मन्त्र को पढ़ते हुए 'आचमनं समर्पयामि' यह कहकर भगवान् के मुखके सामने दिखाकर आचमन जलको पतन पात्र मे तीनबार गिरावे।

उद्धरणीं पूर्ववदेव प्रक्षाल्य शुभ्रवस्त्रेण हस्तकमलमुखकमले संमृज्य, शाटिकोत्तराग्रेण पादौ च प्रत्येकं संमृज्य, षोडशोपचारान् समर्पयामीति पुष्पाञ्जलिं प्रदाय, उद्धरण्या पूर्णकुम्भात्सलिलमुद्धृत्य क्षीरफलगुडपूर्णं ध्यात्वा तदेव वाक्यं समुच्चार्य मधुपर्कं समर्पयामीति वदन् निवेद्य पतनपात्रे प्रक्षिप्य, पूर्ववदुद्धरणीं प्रक्षाल्य पूर्ववदेवाचमनं प्रदाय शाट्या पूर्ववत्संमृज्य स्नानार्थं पादुके समर्पयामीति पुष्पाञ्जलिं भगवते प्रदाय, पूर्ववदेव चार्घ्याद्युपचारान् प्रदाय स्नानशाटीं मनसा ध्यात्वा तुलसीकाष्ठेन तद्वाक्योच्चारणपूर्वकं दन्तधावनमाचरन्निव विभाव्य स्वहस्तं प्रक्षाल्य शुद्धजलपात्रतोयेन मन्त्रोच्चारणपूर्वकं गण्डूषं समर्पयामिति तज्जलं षट्कृत्वः पतनपात्रे प्रक्षिप्य पुनरपि तज्जलेन मुखशोधनं समर्पयामीति मुखाम्बुजशोधनमाचरन्निव विभाव्य तज्जलं पतनपात्रे प्रक्षिप्य पूर्ववत्पाद्याचमने प्रदाय ताम्बूलं च प्रदाय अभ्यङ्गोद्वर्तनचूर्णं प्रदाय अभ्यङ्गस्नानमाचरन्निव विभाव्य स्नानपात्रं मूर्ध्नि निधाय स्नानीयपात्रजलेन पुरुष-सूक्तादिकमनुसंदधत् भगवन्तं स्नापयित्वा स्नानशाट्या संमृज्य सिंहासने स्थापयित्वा तद्वाक्येनैव गन्धपुष्पधूपदीपादिकं समर्पयामीति वदन् गन्धादिकं भगवते समर्पयेत्।

आचमनी को पूर्ववत् शुद्ध जल से धोकर रखदे और एक सफेद साफी को आधेसे कुछ ही कम भागमें एक गाँठ लगादे और जिसतरफ ज्यादा है उसी भागसे भगवान् के हस्त-कमल और मुख-कमल को पोंछने की भावना करते हुए उस साफी को भगवान् के हस्त और मुख के सामने घुमावे और जिसतरफ साफीका कम भाग है उस भाग से भगवान् के दोनो चरण कमल को पोंछने की भावना करते हुए पैरके सामने साफीको घुमाकर हाथ में तुलसी पुष्प ले "ॐ सीता लक्ष्मण" इत्यादि मन्त्र को पढ़ "षोडशोपचारान् समर्पयामि" अन्त में यह भी जोड़कर चरण कमल में षोडशोपचार समर्पण करने की भावना करते हुए पुष्पाञ्जलि समर्पण करे।

पश्चात् आचमनी द्वारा पूर्ण कुम्भ से जल ले दूध फल और गुड़ से पूर्ण ध्यान कर "ॐसीतालक्ष्मण समे०" इत्यादि मन्त्र पढ अन्त में "मधुपर्कं समर्पयामि" यह भी पढ़ पतन पात्र में गिरा कर पूर्ववत् आचमनीय को धोकर पूर्ववत् आचमन कराकर, साफी से पूर्ववत् मुख हाथ पैर पोछने की भावना कर; हाथ में पुष्पले अन्जलि बाँध मनही मन यह भावना करै कि भगवान् को स्नान करने के लिये पादुका देता हूँ यह भावना करते हुए भगवान् के चरण में पुष्पाञ्जलि समर्पण कर; पूर्ववत् अर्घ पाद्य, आचमन कराकर; मनही मन स्नान के लिये अङ्ग पोछा (अंगोछा)का ध्यान कर तुलसी काष्ठ से "ओं सीता लक्ष्मण-समेताय" इत्य दि उच्चारण पूर्वक 'दन्तधावनं समर्पयामि" अन्त में इतना और जोड़कर दन्तधावन कराने की भावना कर अपने हाथ को धो, शुद्ध जल पात्र जल से आचमनी द्वारा जलले 'ॐसीतालक्ष्मणसमे०"इत्यादि वाक्यो-च्चारण पूर्वक 'गण्डूषं समर्पयामि" अन्त में इतना और पढ़ कर पतन-पात्र में छौ वार गिरावे। फिर शुद्धोदक से "ॐ सीतालक्ष्मणसमेताय" इत्यादि पढ़कर अन्तमे"मुखशोधनं समर्पयामि"इतना और पढकर जल से मुख धोने की भावना कर उस जल को पतन पात्र में गिराकर पूर्ववत् अर्घपाद्य आचमन करा "ॐ सीतालक्ष्मणसमेताय" इ यादि मन्त्र पढकर "ताम्बूलं समर्पयामि अन्त में इतना और भी पढकर ताम्बूल समर्पण करे।फिर अभ्यङ्ग के लिये तेल और उबटन लेकर मनही मन यह भावना करे कि मै भगवान् के अङ्गो में सुगन्ध उपटन और सुगन्ध तेल लगा रहा हूँ। इस क्रिया के सम्पन्न होने पर भगवान् को अभ्यङ्ग स्नान कराने की भावना कर, स्नान-पात्र को मस्तक पर रख कर उसके जल से ॐ 'सहस्र शीर्षा" इत्यादि पुरुष सूक्त को पढ़ते हुए भगवान् को स्नान कराकर अँगोछा (तउलिआ) से अङ्गों को पोछकर सिंहासन पर बैठाकर "ॐसीतालक्ष्मणसमे०" इत्यादि वाक्य के अन्त में "गन्धं समर्पयामि" "पुष्पं समर्पयामि" 'धूपं समर्पयामि" "दीपं समर्पयामि" "नैवेद्यं समर्पया-मि" "ताम्बूलं समर्पमि" "एलालवङ्गादि फलं समर्पयामि"सुगन्धद्रव्यं सम-

र्पयामि" इत्यादि वाक्योंको पृथक२ जोड़कर गन्ध धूप दीप-नैवेद्य—ताम्बूल—इलायची लवङ्ग-आदि फल, अतर आदि सुगन्ध द्रव्य श्रीभगवान्‌कोसमर्पणकरे।

ततः पात्रावशिष्टजलेन श्रीं श्रियै नमः लीं लीलायै नमः भूं भूम्यै नम इति मन्त्रोच्चारणेनार्घ्यादिकं प्रदाय ततः ओं किरीटाय मुकुटाधिपतये नमः अ०। ओं दक्षिणकुण्डलाय मकरात्मने नमः अ०। ओं वामकुण्डलाय मकरात्मने नमः अ०। ओं वैजयन्ती-मालायै श्रीतुलस्यै नमः अ०। ओंश्रीवत्साय श्रीनिवासाय नमः अ०। ओं कौस्तुभाय रत्नाधिपतये नमः अ०। ओं काञ्चीगुणोज्ज्वलाय दिव्यपीताम्बराय नमः अ०। ओंसर्वेभ्योभगवद्दिव्यविभूषणेभ्यो नमः अ०। इति भगवद्भूषणानि अर्घ्यादिभिरभ्यर्चेत् ।

तदनन्तर अर्घपाद्य-आचमनीय स्नानीय और मध्य में शुद्ध जलपात्र के अवशिष्ट (बचे हुए) अर्घ पाद्यादि जलसे "श्री श्रियैनमः" "ली लीलायै नमः" "भूं भूम्यै नमः" इन तीनों मन्त्रों से श्री (सीता) जी लीला देवी और भूमि देवी का पूजन करे। फिर उसी अर्घपात्रादि के अर्घादि जल से "ॐ किरीटाय मुकुटाधिपतये नमः" यह पढकर अन्त में "अर्घं समर्पयामि" "पाद्यं समर्पयामि" "आचमनीयं समपयामि" "स्नाननीयं समर्पयामि" इत्यादि को पृथक २ उक्तवाक्य के साथ जोड़कर अर्घ, पाद्य, आचमनीय, स्नानीय आदि से पुजन करे । ऐसाही "ॐ दक्षिणकुण्डलाय मकरात्मने नमः" पढकर अर्घादि समर्पक वाक्यों को जोड़कर पूर्ववत् दक्षिण कुण्डल का पूजन करे। फिर "ॐवामकुण्डालाय मकरात्मने नमः" के अन्त में अर्घादि समर्पक वाक्यों को पूर्ववत् जोड़कर बामकुण्डल का पूजन करे। इसके बाद 'ॐवैजयन्ती मालायै श्रीतुलस्यै नमः अर्घादीनि समर्पयामि" से अर्घादि समपण करे। एवं पाद्यादि भी समर्पण करे। पुनः "ॐ वत्साय श्रीनिवासाय नमः" इसके अन्त में अर्घ पाद्यादि समर्पक वाक्यों को जोड़कर भगवान् के वक्षस्थल में अखिल ब्रह्माण्ड नायिका श्री रामजी

की पराशक्ति स्वरूपा सीताजी के निवास चिन्ह श्रीवत्स की पूजा करे। पुनः "ॐ कौस्तुभाय रत्नाधिपतये नमः" के अन्त में अर्घ पाद्यादि समर्पक वाक्यों को पृथक २ जोड़कर भगवान् के कण्ठभूषण कौस्तुभ मणि की पूजा करे। बाद "ॐ काञ्चिगुणोज्वलाय दिव्यपीताम्बराय नम" पढ़कर अन्त में अर्घादि समर्पक वाक्यों को पृथक २ जोकड़र भगवान् के कमर की करधनी और पीताम्बर की पूजा करे। पुनः "ॐ सेर्वेभ्यो भगवद्दिव्यभूषणेभ्यो नमः" के अन्तमें अर्घादि समर्पक वाक्यों को पृथक २ जोड़कर एकही साथ भगवान् के समस्त विभूषणों का पूजन करे।

ततोऽर्घ्याद्येकैकपात्रस्थजलेन क्रमशः ॐ सुदर्शनाय हेतिराजाय नमः अ० । ॐ पाञ्चजन्याय शङ्खाधिपतये नमः अ० । ॐ कौमोदक्यै गदाधिपतये नमः अ० । ॐ नन्दकाय खड्गाधिपतये नमः अ० । ॐ शार्ङ्गाय चापाधिपतये नमः अ० । इति भगवतोदिव्यायुधानि अर्घ्यादिभिरभ्यर्चेत् ।

इस प्रकार अर्घादिसे भगवान् के विभूषणो को पूजा कर, उसी अर्घपात्र पाद्यपात्र आदिके बचे अर्घ्य आदि जल से क्रम से "ॐ सुदर्शनाय हेतिराजाय नमः" "ॐ पाञ्चजन्याय शङ्खाधिपतये नमः" 'ॐ कौमोदक्यै गदाधिपतये नम" "ॐ नन्दकाय खड्गाधिपतये नमः" "ॐ शारङ्गाय चापाधिपतये नम." "इन पाँच मन्त्रों के अन्त में 'अर्घ्य समर्पयामि" "पाद्यं समर्पयामि" "आचमनीयं समर्पयामि" "स्नानीयं समर्पयामि" "चन्दनं समर्पयामि" इत्यादि को पृथक २ जोड़ कर भगवान् के पञ्चायुधों (चक्र-शङ्ख-गदा-खड्ग-धनुषबाण) को अर्घ्यादि से पृथक २ पूजन करे।

ततस्तथैव ॐ अं अनन्ताय नमः अ० । ॐ गं गरुडाय नमः अ० । ॐ विं विष्वक् सेनाय नमः अ०। ॐ ग गजाननाय नमः अ० । ॐ जं जयत्सेनाय नमः अ० । ॐ हं हरिवक्राय नमः अ०। ॐ कं कालप्रकृत्यै संज्ञिकाय नमः अ० । ॐ सर्वेभ्यो भगवद्विष्वक्से-

नपरिजनेभ्यो नमः अ०। इतिभगवत्परिजनानर्घ्यादिभिरभ्यर्चेत्।

पुनः उसी प्रकार "ॐ अं अनन्ताय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मन्त्र से अनन्तजी का अर्घ्यादिसे पूजन करे, "ॐ गं गरुडाय नमः अर्घ्यादीनि अपर्पयामि" इस मन्त्र से गरुड़जी का, "ॐ वि विष्वक् सेनाय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि," इस मंत्र के विष्वक् सेनजी का, "ॐ गं गजाननाय नम. अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मत्र से गजाननजी का, "ॐ जं जयत्सेनाय नमः अर्घ्यादोनि समर्पयामि" इस मंत्र से जयत्सेनजी का, "ॐ हं हरीवक्राय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मत्र से हरिवक्र जी का, "ॐ कं कालप्रकृत्यै संज्ञिकाय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मत्र से काल प्रकृति का और "ॐ सर्वेभ्यो भगवद्विष्वक्सेन परिजनेभ्यो नमः अर्घ्यदीनि समर्पमामि" इस मंत्र से सभी भगवान् विष्वद्सेन के परिजनों का अर्घ्यादि से पूजन करे।

ततस्तथैव भगवतः पूर्वे ॐ चण्डाय नमः अ०। ॐ प्रचण्डाय नमः अ०। दक्षिणे ॐ भद्राय नमः अ०। ॐ सुभद्राय नमः अ०। पश्चिमे ॐ जयाय नमः अ०। ॐ विजयायः नमः अ०। उत्तरे ॐ धात्रे नमः अ०। ॐ विधात्रे नमः अ० भगवतोऽग्रे ॐ आञ्जनेयाय महाबलाय हं हनुमते नमः अ०। ॐ सर्वेभ्यो भगवद्द्वारपालेभ्यो नमः अ०। इति भगवतोद्वारपालानर्घ्यादिभिरभ्यर्चेत्।

तदनन्तर उसी प्रकार भगवान् के द्वारपालों का क्रमशः पूजन करे। भगवान् के पूरब में "ॐ चण्डायनमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मंत्र से चण्ड का ॐ प्रचाण्डायनमः अर्घादीनि अर्घादीनि समर्ययामि इससे प्रचण्ड का अर्घ्यादि से पूजन करे। भगवान्के दक्षिण में "ॐ भद्राय नमः अर्घ्यादीनि समयर्यामि" इस मत्र से भद्र का और "ॐ सुभद्राय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" मन्त्र से सुभद्र का अर्घ्यादि से पूजन करे। भगवान् के प.श्चिम में, "ॐजयाय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मंत्र से जय का और "ॐविजयाय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मंत्र से विजय का अर्घ्यादि से पूजन करे। भगवान् के उत्तर में "ॐ धात्रे नमः

श्रीरामपादाब्जनिविष्टमानसं द्विडन्तकं श्रीहनुमन्तमीडे ॥६।
कौमोदकीनन्दकपाञ्चजन्यान् सुदर्शनं शार्ङ्गधनुः ससायकम्
एतान्यहं विष्णुवरायुधानि नमामि युद्धे विजयावहानि ॥७।
सेनेशमुख्यान्परितोजनान्विभोःसद्वारपालानपिचण्डमुख्यान
गणाधिपान्देववरस्यविष्णोर्नमाम्यहं नित्यमशेषपार्षदान् ॥८।

इत्यभिष्टुवन् पुष्पाञ्जलिं सगणभगवद्रामचन्द्रपदारविन्दे प्रदाय साष्टाङ्गप्रणामं कुर्यात् ।

पश्चात्, उसी प्रकार, "ॐकुमुदाय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मंत्र से कुमुद का, 'ॐ कुमुदाक्षाय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मन्त्र से कुमुदाक्ष का, "ॐशङ्कुकर्णाय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मंत्र से शङ्कुकर्ण का, 'ॐ वामनाय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मंत्र से वामन का, "ॐ पुण्डरीकाय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मंत्र से पुण्डरीक का, "ॐ सर्वनेत्राय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मंत्र से सर्वनेत्र का, "ॐ सुमुखाय नमः अर्घ्यादीनि समपयामि" इस मंत्र से सुमुख का, "ॐ सुप्रतिष्ठाय नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मन्त्र से सुप्रतिष्ठ का, और "ॐ सर्वेभ्यो भगवद् गणाधिपेभ्यो नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मन्त्र से भगवान् के सभी गणाधिपों का, ॐसर्वेभ्यो भगवत्पार्षदेभ्यो नमःअर्घ्यादीनि समर्पयामि"इस मंत्र से भगवान् के सभी पार्षदों का, और "ॐ सर्वेभ्यो भगवत्परिजनेभ्यो नमः अर्घ्यादीनि, समर्पयामि" इस मंत्रसे भगवान के सभी परिजनों का अर्घ्यादि-पूर्वक पूजन करे। "ॐनीत्यै नमः अर्घ्यादीनि समर्पयायि" इस मंत्र से नीति का, "ॐ मुक्त्यै नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि"इस मंत्र से मुक्ति का, और "ॐ साङ्ग सायुधसपरिवारसमहिषीकाय दिव्यमङ्गलमूर्त्तये नमः अर्घ्यादीनि समर्पयामि" इस मंत्र से अङ्गों आयुधों परिवारों और श्रीसीताजी से युक्त दिव्यमङ्गलमूर्ति श्रीरामजी का अर्घ्यादि से पूजन करे।

पुनः इस प्रकार उपर्युक्त अङ्गों, आयुधों, परिवारों, गणों और श्रीसीताजी से युक्त श्रीरामजी का पूजन कर उनके चरणारविन्द में "सुरासुरेन्द्रादि मनोमधुव्रतै... नमाम्यहं नित्यमशेषपार्षदान्" इन आठो श्लोकों द्वारा पुष्पाञ्जलि समर्पण कर साष्टाङ्ग प्रणाम करे।

अथ महानैवेद्यसमये पात्राणि प्रक्षाल्य पूर्ववत्पूर्णकुम्भजलेन पात्राणि पूरयित्वा भोज्याशनार्थं पादुके प्रसार्घ्यार्घ्या-दिभिरभ्यर्च्य मधुपर्कं च प्रदाय भगवतः श्रीरामचन्द्रस्य पुर-स्ताच्छुचिप्रदेशे यथाशक्ति संपादितचतुर्विधभोज्यादीन्युपहृत्य ।

दोषाकरं नीचमथाल्पशक्तिं चैतन्यहीनं त्वशुचिं त्वनर्हम्
त्वद्भृत्यकर्मण्यपराधभाजनम्परं दुरात्मानमितीत्थमेव ॥१॥
सुचिन्तयन्मामपि मत्समर्पितमशेषपापापहनामधेय ! ।
उपेक्षितुं त्वच्चरणावलम्बिनं न चार्हसि त्वंजगदीशराघव !!२।
कौशल्याजनकात्मजावरगुणश्रीलक्ष्मणैरर्पितं
पंपायां शबरीसमर्पितमहोदिव्याद्भुतस्वादरुम् ।
भारद्वाजसमर्पितं च सरसं क्षीरं व्रजे यत्स्वयं
तद्धैयज्ञवमर्जितं सहघृतं यद्यज्ञपत्न्यर्पितम् ॥ ३ ॥
अन्यैर्मुक्तजनैः कुचैलविदुराद्यैरर्पितं त्वत्प्रियम्
पथ्यं पाकविशेषसंयुतमथो दृष्टिप्रियं राघव!॥
रुच्यं दोषविवर्जितं सह यथाऽशेषः प्रभो ! भोक्तृभिः
स्वीकर्तुश्च तथार्हसि त्वमधुना भक्त्यार्पितं ते मया ॥४॥

इतिविज्ञाप्यार्घ्यजलेन प्रोक्ष्य श्रीमन्त्रराजेनाभिमन्त्र्य सुरभि-मुद्रां प्रदर्श्य गुरुपरम्परामनुसन्धाय निवेदयेत् ।

पुनः राजभोग के समय अर्घ्य, पाद्य और आचमनीय आदि पात्रों को धोकर, पहिले के ही समान पूर्णकुम्भ के जल से उनको भर दे, और भोजन करने को जाने के लिये खड़ाऊँ आगे बढ़ाकर उसी प्रकार अर्घ्यादि से पूजाकर मधुपर्क निवेदन करे। पुनः स्वच्छ पवित्रस्थान में यथाशक्ति जुटाई—तैयार की हुई—सारी भोज्य-सामग्री को श्रीरामजी के लिये लाकर रखे और "दोषाकरं नीचमथाल्पशक्ति......भक्त्या पिंतं ते मया" इन चारो श्लोकों को (अर्थानुसन्धान पूर्वक) पढता हुआ भोजन करने के लिये निवेदन (ज्ञापित) कर, अर्घ के जल से प्रोक्षण करे। भोज्य-पात्रके चारो ओर जल गिरा कर ऊपर भी कुछ बूंदे डालकर

सिञ्चन करदे और तारकमन्त्र से अभिमंत्रित कर सुरभिमुद्रा दिखा-अपनी गुरुपरम्परा का अनुसन्धान कर राजभोग निवेदन करे।

ततो जलपानहस्तशोधनगण्डूषपाद्याचमनादिभिरभ्यर्च्य स्तोत्रादिकं पठन प्रदक्षिणनमस्कारादिभिः संपूज्य भगवन्तं सीतासमेतं श्रीरामचन्द्रं पर्यङ्के निवेशय।

पर्यङ्कासनमारुह्य सीतया सहितः प्रभो!।
निद्रां कुरुष्व भगवन्पार्षदैरभिरक्षितः ॥ १ ॥

इति प्रार्थयेत्।

.. तत्पश्चात्, जलपान कराना, हाथ धुलाना, कुल्ला कराना, आचमन कराना और चरण-प्रक्षालन करना आदि क्रियाओं द्वारा पूजन कर स्तोत्र पाठ करता हुआ प्रदक्षिणा और-नमस्कार से पूजन कर, श्रीसीताजीसेयुक्त भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को "पर्यङ्कासन मारुह्य" इस श्लोक से शयन करने के लिये प्रार्थना करे।

ततो निवेदितनैवेद्यं मनसा चतुर्भागं परिकल्प्य हनुमद्विष्वक्सेनानन्तगरुड़सुदर्शनेभ्यो निवेद्यानन्तरं पराङ्कुशादिभ्यः स्वाचार्येभ्यश्च निवेद्य शेषं भागवतैः सह भुञ्जीत ॥

पुनः निवेदित राजभोग को मनसे * चार भाग कल्पना करे। और श्रीहनुमान्जी, श्रीविष्वक्सेनजी, श्री अनन्तजी, श्रीगरुडजी एवं श्रीसुदर्शनजी को, पूर्वोक्त पाँचो मन्त्रों से पृथक्२ निवेदन कर "ॐ पराङ्कुश परकालयतिवरादिभ्यो दिव्यसूरिभ्यो नमः महानैवेद्यं समर्पयामि" पढ़कर पराङ्कुशादि दिव्यसूरिओं को राजभोग समर्पण कर "श्रीनाथयामुनयतिवरादिस्व-पूर्वाचार्य्येभ्योः महानैवेद्यं समर्पयामि" यह पढकर स्वपूर्वाचार्यों को राज-

---

* यहां निवेदित राजभोग को मानसिक चारभाग कल्पित कर श्रीहनुमानजी, श्रीविष्वक्सेनजी, श्रीअनन्तजी, श्रीगरुडजीऔरश्रीसुदर्शनजीकोनिवेदितकरनेकोकहा गयाहै; किन्तु चार भाग, पाँच व्यक्तियो को किस प्रकार निवेदितहोसकता है? क्योंकि कोई भागकिसी के निवेदित हो जाने पर दूसरे को निवेदित हो ही नहीं सकता। अतः मालूम पडता है कि यहाँ 'चतुर्भाग' के स्थान में 'पञ्च भागं' ऐसा पाठ होना चाहिये था, फिर भी सभी उपलब्ध प्रतियों में 'चतुर्भागं' ही पाठ रहने के कारण यहाँ भी वैसा ही रहने दिया गया है।

भोग समर्पण कर भागवतों के साथ प्रसाद सेवन करे । इस प्रकार जब २ कुछ भोग लगावे, उक्त सभी श्रीहनुमदादिपार्षद, दिव्यसूरि और स्वपूर्वाचार्य्यों को समर्पण करके ही प्रसाद सेवन करे ।

रामानन्दकृतासेयं श्रीरामार्चनपद्धतिः ।
मुमुक्षूणां मुदे भूयाच्छ्रीरामप्रीतिकारिणी ॥ १ ॥
अर्चको यः समभ्यर्चेदास्थायेमामहर्दिवम् ।
प्रासाद्य सगणं रामं लभते गतिमुत्तमाम् ॥ २ ॥

इति श्रीरामानन्दकृतसाङ्गसायुधसभूषणसपार्षदसगण-श्रीरामार्चनपद्धतिः समाप्ता ॥ *

मुक्त रामानन्द की (श्रीयुतस्वामीरामानन्दाचार्य्यजीकी) बनाई हुई श्रीराम जी में प्रेम कराने वाली, यह श्रीरामार्चनपद्धति, मुमुक्षुओं के कल्याण (मुक्ति) के लियेहो॥ १ ॥ जो अर्चक (पुजारी) इस श्रीरामार्चनपद्धति के अनुसार प्रतिदिन त्रिकाल, श्रीरामजी की सम्यक् (विधिपूर्वक) पूजा करेगा, वह गणों के सहित श्रीरामजी को प्रसन्नकर उत्तमा (सायुज्य) मुक्ति का लाभ करेगा ॥ २ ॥

श्रीस्वामीरामानन्दाचार्य्य ग्रन्थ के अन्त में यह आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण कर ग्रन्थ समाप्त करते हैं ।

इतिश्रीमद्भगवत्पूज्यपाद श्री १०८स्वामिरामानन्दाचार्य्य विरचित श्रीरामा-र्चनपद्धतिः सारण्य (छपरा) मण्डलान्तर्गत सेमरिआग्रामस्थपीठधर्म-निर्वाहकाचार्य्य श्री १०८ स्वामिगङ्गादासप्रवाहाचरणा-श्रित बलभद्रदासकृत प्रदर्शिका भाषाटीका समलङ्कृता समाप्ता ।

---

* श्रीरामानन्दस्वामीजी ने, श्रीवैष्णव-मताब्ज-भास्कर में अर्चन का जैसा विधान किया है, श्रीरामार्चनपद्धति भी ठीक उसी के अनुकूल बनाई है, इसी कारण 'भास्कर' में षोडशोपचार-पूजा की विधि में आरती की गणना नहीं की है तो 'पद्धति' में लिखा भी नहीं है, और वैदिक-अर्चन-विधि में आरती का विधान है भी नहीं; किन्तु, पौराणिक-पद्धतियों में आरती भी सम्मिलित है, और सम्प्रदाय में इसका प्रचार भी है, अतः इसमें (श्रीरामार्चनपद्धति में) नहीं रहने पर भी आरती करने में कोई हर्ज नहीं समझना चाहिये ।

श्री·।

ग्रन्थ की आकृति बढ जाने के कारण और प्रथमवार के चन्दा
ओसल नहीं होने के कारण पुन चन्दा करना पड़ा, उन—

द्रव्य-सहायकों की उपकार-स्मृति।

श्रीमान्महन्त श्रीवासुदेवाचार्य्यजी मु० भोरी पो० ऑ० टेकारी, जि० गया २५)
श्रीमानमहन्त पराङ्कुशाचार्य्यजी मु०सरौती पो०ऑ० अरवलजि०गया २५)
श्रीयुत बाबू वेणीमाधवसिंहजी मु० महद्दीपुर, पो०ऑ० गोह जि०गया१५०)
श्रीयुत बाबू राघव प्रसादजी, मु० दोर्गी जि० गया। ७५)
,, श्रीरामनारायणसिंहजी, मु०तेरा पो०ऑ० भदासी, जि०गया५)
,, श्रीदेवनारायणसिंहजी, मु० तेरा पो०ऑ० भदासी जि०गया५)
,, भोरी ग्राम से, पो० टेकारी जि० गया। २१)
,, श्रीश्यामलालसिंह शर्म्मा मु०अँवारी, पो०ऑ० गोह जि०गया१५)
,, श्रीजगदम्बसहायसिंह, मु०कसौटी, पो०ऑ०उसरी, जि०गया५)
,, श्रीव्रजनन्दनप्रसाद शर्मा, मु०बम्भई पो०ऑ० उसरी जि०गया५)
,, पं० श्रीलक्ष्मी प्रपन्न जी०मु०पाली पो०ऑ०नौबतपुर जि०पटना१०)
श्रीयुत् बाबू श्रीरामखेलावनसिंह, मु०चेसी पो०ऑ०नौबतपुर जि०पटना ५)
,, श्रीकैलासपति शर्मा, मु०पाली, पो०ऑ०नौबतपुरजि०पटना२)
,, श्रीसागर शर्मा मु०आरोपुर पो०ऑ० नौबतपुर, जि० पटना ५)
,, श्रीशिवनन्दनसिंह, मु०अभरनपुर पो०ऑ०नौबतपुर, जि०पट.२)
,, श्रीजयनारायणसिंह, मु० पाली, पटना १)
,, श्रीबीरबलसिंह, मु० हदसपुरा, पो० ऑ० नौबतपुर, जि०पटना१)
,, श्रीपारससिंह, मु० हदसपुरा, पो०ऑ० नौबतपुर, जि०पटना१)
,, श्रीगंगा प्रसादसिंह ,, ,, ,, ,, १)
,, श्रीहरिदेव शर्मा, मु० नरेत, पो०ऑ० नौबतपुर, जि० पटना१)
,, श्रीरामलखन शर्मा ,, ,, ,, ,, १)